प्रकाशक—सेठ मणीलाल, रेवाशंकर जगजीवन जौह
ऑनरेरी व्यवस्थापक परमश्रुतप्रभावकमण्डल,
खाराकुवा जौहरी बाजार, बम्बई

श्रीमद् राजचन्द्र-वचनामृत

मूळ तत्त्वमें कहीं भी भेद नहीं, मात्र दृष्टिमें भेद है, यह मानकर आशय समझ पवित्र धर्ममें प्रवर्त्तन करना (पुष्पमाला १४).

जिनेश्वरके कहे हुए धर्म-तत्त्वोंसे किसी भी प्राणीको लेशमात्र भी खेद उत्पन्न नहीं होता इसमें सब आत्माओंकी रक्षा और सर्वात्मशक्तिका प्रकाश सन्निहित है। इन भेदोंके पढ़नेसे, समझनेसे और उनपर अत्यंत सूक्ष्म विचार करनेसे आत्मशक्ति प्रकाश पाती है, और वह जैनदर्शनको सर्वोत्कृष्ट सिद्ध करती है (मोक्षमाला ६०).

'धर्म' बहुत गुप्त वस्तु है। वह बाहर ढूँढनेसे नहीं मिलती। वह तो अपूर्व अंतर्संशोधनसे ही प्राप्त होती है (२६).

सब शास्त्रोंको जाननेका, क्रियाका, ज्ञानका, योगका और भक्तिका प्रयोजन निज-स्वरूपकी प्राप्ति करना ही है। जिस अनुप्रेक्षासे, जिस दर्शनसे, जिस ज्ञानसे, आत्मत्व प्राप्त होता हो, वही अनुप्रेक्षा, वही दर्शन और वही ज्ञान सर्वोपरि है (४४).

हे जीव! तू भूल मत। कभी कभी उपयोग चूककर किसीके रंजन करनेमें, किसीके द्वारा रंजित होनेमें, अथवा मनकी निर्बलताके कारण दूसरेके पास जो तू मंद हो जाता है, यह तेरी भूल है; उसे न कर (८६).

हमें तो ब्राह्मण, वैष्णव चाहे जो हो सब समान ही हैं। कोई जैन कहा जाता हो और मतसे ग्रस्त हो तो वह अहितकारी है, मतरहित ही हितकारी है। वैष्णव, बौद्ध, श्वेताम्बर, दिगम्बर जैन आदि चाहे कोई भी हो, परन्तु जो कदाग्रहरहितभावसे शुद्ध समतासे आवरणोंको घटावेगा, उसीका कल्याण होगा (उपदेशछाया).

जैनधर्मका आशय, दिगम्बर तथा श्वेताम्बर आचार्योंका आशय, और द्वादशांगीका आशय मात्र आत्माका सनातन धर्म प्राप्त करानेका है, और वही सारभूत है (व्याख्यानसार-प्रश्नसमाधान).
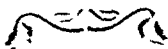
प्रकाशकका निवेदन

वि० सं० १९६१ में मूल गुजराती 'श्रीमद्राजचन्द्र' प्रकाशित हुआ था। उसी समय इसका हिन्दी अनुवाद निकालनेका विचार था। इसके लिए सम्वत् १९७५ में अहमदाबादके स्व० सेठ पुंजाभाई हीराचन्दजीने पाँच हजार रुपयेकी सहायता भी परमश्रुतप्रभावक मंडलको दी। उसके बाद सं० १९८२ में 'श्रीमद्राजचन्द्र' की दूसरी आवृत्ति भी निकल गई, पर हिन्दी अनुवाद न निकल सका। मेरे पिताजीने इसके लिए बहुत कुछ प्रयत्न किया, एक दो विद्वानोंसे कुछ काम भी कराया, पर अनुवाद संतोषप्रद न होनेसे रोक देना पड़ा, और इस तरह समय बीतता ही गया। भाषान्तर-कार्यमें कई कठिनाइयाँ थी, जिनमेंसे एक तो यह थी कि अनुवादकर्त्ताको जैनसिद्धान्त-ग्रन्थों तथा अन्य दर्शनोंका मर्मज्ञ होना चाहिये, दूसरे गुजराती भाषा खासकर श्रीमद्राज-चन्द्रकी भाषाकी अच्छी जानकारी होनी चाहिए, तीसरे उसमें इतनी योग्यता चाहिये कि विषयको हृदयंगम करके हिन्दीमें उत्तम शैलीमें लिख सके। इतने लम्बे समयके बाद उक्त गुणोंसे विशिष्ट विद्वानकी प्राप्ति हुई, और यह विशाल ग्रन्थ राष्ट्रभाषा हिन्दीमें प्रकाशित हो रहा है। इस बीचमें मेरे पूज्य पिता और सेठ पुंजाभाईका स्वर्गवास हो गया, और वे अपने जीवन-कालमें इसका हिन्दी अनुवाद न देख सके। फिर भी मुझे हर्ष है कि मैं अपने पूज्य पिताकी और स्व० सेठ पुंजाभाईकी एक महान् इच्छाकी पूर्ति कर रहा हूँ।

पं० जगदीशचन्द्रजीने इसके अनुवाद और सम्पादनमें अत्यन्त परिश्रम किया है। इसके लिये हम उन्हें धन्यवाद देते हैं। वास्तवमें, स्वर्गीय सेठ पुंजाभाईकी आर्थिक सहायता, मेरे स्वर्गीय पूज्य पिताजीकी प्रेरणा, महात्मा गांधीजीके अत्यधिक आग्रह और पंडितजीके परिश्रमसे ही यह कार्य अपने वर्त्तमान रूपमें पूर्ण हो रहा है।

पिछले तीन-चार वर्षोंमें रायचन्द्रजैनशास्त्रमालामें कई बड़े बड़े ग्रन्थ सुसम्पादित होकर निकले हैं, जिनकी प्रशंसा विद्वानोंने मुक्तकंठसे की है। भविष्यमें भी अत्यन्त उपयोगी और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निकालनेका आयोजन किया जा रहा है, कई अपूर्व ग्रन्थोंका हिन्दी अनुवाद भी हो रहा है, जो यथासमय प्रकाशित होंगे। पाठकोंसे निवेदन है कि वे इस ग्रंथका और पूर्व प्रकाशित ग्रंथोंका पठन-पाठन और खूब प्रचार करें जिससे हम ग्रन्थो-द्धारके महान् पुण्य-कार्यमें सफल हो सकें। इस ग्रन्थका सर्वसाधारणमें खूब प्रचार हो इसीलिए मूल्य भी बहुत ही कम रक्खा गया है।

फाल्गुन,
महाशिवरात्रि सं. १९९४

निवेदक—
मणीलाल
रेवाशंकर जगजीवन जौहरी

प्रास्ताविक निवेदन

दो वर्षसे भी अधिक हुए, जब मैंने 'श्रीमद् राजचन्द्र' के हिन्दी अनुवादका काम हाथमें लिया था. उस समय मेरी कल्पना थी कि यह काम सुलभ ही होगा और इतने अधिक श्रम और समयकी आवश्यकता न पड़ेगी। पर ज्यों ज्यों मैं आगे बढ़ा, त्यों त्यों मुझे इसकी गहराईका अधिकाधिक अनुभव होता गया। एक तो प्राचीन और संस्कृतमिश्रित गुजराती भाषा, धाराप्रवाह लम्बे लम्बे वाक्योंका विन्यास, भावपूर्ण गंभीर शब्द और उनमें फिर अध्यात्मतत्त्वका स्वानुभूत विवेचन आदि बातोंसे इस कार्यकी कठिनताका अनुभव मुझे दिनपर दिन बढ़ता ही गया। पर अब कोई उपायान्तर न था। मैंने इस समुद्रमें खूब ही गोते लगाये। अपने जीवनकी अनेक घड़ियाँ इसके एक एक शब्द और वाक्यके चिन्तन-मनन करनेमें बिताईं। अनेक स्थलोंके चक्कर लगाये, और बहुतलोंकी खुशामदें भी करनी पड़ी। आज अढ़ाई बरसके अनवरत कठिन परिश्रमके पश्चात् मैं इस अनुवादको पाठकोंके समक्ष लेकर उपस्थित हुआ हूँ। यद्यपि मुझे मालूम है कि दर्शन भावनाभाव आदिके कारणोंसे इस अनुवादमें स्खलनायें भी हुई हैं (वे सब 'संशोधन और परिवर्तन' में सुधार दी गई हैं), पर इस संबंधमें इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि मैंने अपनी योग्यता और शक्तिको न छिपाकर इसे परिपूर्ण और निर्दोष बनानेमें पूर्ण परिश्रम और सचाईसे काम किया है।

'श्रीमद् राजचन्द्र' के कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत हिन्दी अनुवादमें प्राकृतकी गाथायें आदिके संशोधनके साथ [illegible] ग्रन्थका [illegible] भी अनेक स्थलोंपर संशोधन किया गया है। मुझे स्वयं राजचन्द्रजीके हस्तलिखित मूल पत्रों आदिके संग्रहके देखनेका अवसर नहीं मिल सका, इसलिये इन पत्रों आदिकी 'नकल' [illegible] प्रकाशित 'श्रीमद् राजचन्द्र' के गुजराती संस्करणोंको ही आधार मानकर काम चलाना पड़ा है। [illegible] राजचन्द्रजीके [illegible] लेखों और पत्रों आदिका [illegible] संग्रह [illegible] पत्रोंमें आदि-अन्तका और बहुतसी जगह बीचका भाग भी छोड़ दिया गया है [illegible] नाम आता है, वहाँ बिन्दु.........लगा दिये गये हैं। [illegible] अनुवाद किया गया है। अनुवाद करते समय [illegible] किया है, पर यह अनुवाद खास करके [illegible] गुजराती संस्करण-(विक्रम संवत् [illegible]) [illegible]। अनुवादके अन्तमें छह परिशिष्ट हैं, [illegible] जीवन परिचय, दूसरेमें उद्धरणों [illegible] शब्दोंकी वर्णानुक्रमणिका, [illegible] ग्रन्थोंके नामोंकी सूची, और छठे [illegible] ग्रंथका 'संशोधन और परिवर्तन' [illegible]

गया है। पाठकोंसे प्रार्थना है कि ग्रन्थको शुद्ध करनेके पश्चात् ग्रंथका अध्ययन करें। आदिमें विषय-सूची और राजचन्द्रजीका संक्षिप्त परिचय है। ये भी बिलकुल स्वतंत्र और मौलिक हैं।

इस महाभारत-कार्यमें अनेक महानुभावोंने मेरी अनेक प्रकारसे सहायता की है। सर्वप्रथम मैं परमश्रुतप्रभावकमण्डलके व्यवस्थापक श्रीयुत सेठ मणीलाल, रेवाशंकर जगजीवन जौहरीका बहुत कृतज्ञ हूँ। ग्रंथके आरंभसे लेकर इसकी समाप्तितक उन्होंने मेरे प्रति पूर्ण सहानुभूतिका भाव रक्खा है। विशेष करके राजचन्द्रजीका संक्षिप्त परिचय आपकी प्रेरणासे ही लिखा गया है। श्रीयुत दामजी केशवजी बम्बई, राजचन्द्रजीके खास मुमुक्षुओंमेंसे हैं। आपकी कृपासे ही मुझे राजचन्द्रजीके मूल पत्रों आदिकी नकलें और तत्संबंधी और बहुतसा साहित्य देखनेको मिला है। सचमुच आपके इस सहयोगके बिना मेरा यह कार्य बहुत अधिक कठिन हो जाता। श्रीयुत सुरेन्द्रनाथ साहित्यरत्न बम्बई और श्रीयुत पंडित गुणभद्रजी अगासने मुझे कुछ प्रूफोंके देखने आदिमें मेरी सहायता की है। बम्बईके श्रीयुत डाक्टर भगवानदास मनसुखलाल मेहता, श्रीयुत मोहनलाल दलीचन्द देसाई वकील, और मणिलाल केशवलाल परीख सुपरिटेंडेण्ट हीराचन्द गुमानजी जैन बोर्डिङ्ग बम्बईने अपना बहुत कुछ समय इस विषयकी चर्चामें दिया है। मेरे मित्र श्रीयुत दलसुखभाई मालवणीयाने इस ग्रंथका 'संशोधन परिवर्त्तन' तैय्यार किया है। परमश्रुत-प्रभावकमण्डलके मैनेजर श्रीयुत कुन्दनलालजीने मुझे अनेक प्रकारसे सहयोग दिया है। मेरी जीवन-संगिनी सौभाग्यवती श्रीमती कमलश्रीने अनेक प्रसंगोंपर कर्मणा और मनसा अनेक तरहसे अपना सहकार देकर इस काममें बहुत अधिक हाथ बँटाया है। वडवा, खंभात, अगास और सिद्धपुरके आश्रमवासी और मुमुक्षुजनोंने अवसर आनेपर मेरे प्रति अपना सौहार्द अभिव्यक्त किया है। मुनि मोहनलाल सेंट्रल जैन लायब्रेरीके कर्मचारियोंने तथा न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेसके अध्यक्षों और कम्पोजीट-रोंने समय समयपर मेरी मदद की है। इन सब महानुभावोंका मैं हृदयसे आभार मानता हूँ। अन्तमें, धर्म और व्यवहारका सुन्दर बोध प्रदान, कर मेरे जीवनमें नई स्फूर्तिका संचार करनेवाले श्रीमद् राजचन्द्रका परम उपकार मानता हुआ मैं इस कार्यको समाप्त करता हूँ। आशा है विद्वान् पाठक मेरी कठिनाइयोंका अनुभव करते हुए मेरे इस प्रयत्नका आदर करेंगे।

जुबिलीबाग
तारदेव
१-१-३८

जगदीशचन्द्र

विषय-सूची*

पत्रांक	पृष्ठ
प्रकाशकका निवेदन	
प्रास्ताविक निवेदन	
राजचन्द्र और उनका संक्षिप्त परिचय	१-४५
१६ वें वर्षसे पहिले	
१ पुष्पमाला	१—६
२ काल किसीको नहीं छोड़ता (कविता)	६—७
३ धर्मविषयक (कविता)	८—९
१७ वाँ वर्ष	
४ मोक्षमाला—	१०—५६
१ वाचकको अनुरोध	१०
२ सर्वमान्यधर्म (कविता)	१०-११
३ कर्मका चमत्कार	११-१२
४ मानवदेह	१२-१३
५ अनाथी मुनि (१)	१३
६ अनाथी मुनि (२)	१३-१५
७ अनाथी मुनि (३)	१५
८ सद्देवतत्त्व	१५-१६
९ सद्धर्मतत्त्व	१६-१७
१० सद्गुरुतत्त्व (१)	१७
११ सद्गुरुतत्त्व (२)	१८
१२ उत्तम गृहस्थ	१८-१९
१३ जिनेश्वरकी भक्ति (१)	१९-२०
१४ जिनेश्वरकी भक्ति (२)	२०-२१
१५ भक्तिका उपदेश (कविता)	२१
१६ वास्तविक महत्ता	२२
१७ बाहुबल	२२-२३
१८ चारगति	२३-२४
१९ संसारकी चार उपमायें (१)	२४-२५
२० संसारकी चार उपमायें (२)	२५-२६
२१ बारह भावना	२६
२२ कामदेव श्रावक	२७
२३ सत्य	२७-२८
२४ सत्संग	२८-२९
२५ परिग्रहका मर्यादित करना	३०
२६ तत्त्व समझना	३०-३१
२७ यतना	३१-३२
२८ रात्रिभोजन	३२
२९ सब जीवोंकी रक्षा (१)	३३
३० सब जीवोंकी रक्षा (२)	३३-३४
३१ प्रत्याख्यान	३४-३५
३२ विनयसे तत्त्वकी सिद्धि है	३५-३६
३३ सुदर्शन सेठ	३६-३७
३४ ब्रह्मचर्यके विषयमें सुभाषित (कविता)	३७-३८
३५ नमस्कारमंत्र	३८-३९
३६ अनुपूर्वी	३९-४०
३७ सामायिकविचार (१)	४०-४१
३८ सामायिकविचार (२)	४१-४२
३९ सामायिकविचार (३)	४२-४३
४० प्रतिक्रमणविचार	४३
४१ भिखारीका खेद (१)	४३-४४
४२ भिखारीका खेद (२)	४४-४५
४३ अनुपम क्षमा	४५-४६
४४ राग	४६
४५ सामान्य मनोरथ (कविता)	४६-४७
४६ कपिलमुनि (१)	४७-४८
४७ कपिलमुनि (२)	४८
४८ कपिलमुनि (३)	४९-५०
४९ तृष्णाकी विचित्रता (कविता)	५०-५१
५० प्रमाद	५१-५२
५१ विवेकका अर्थ	५२
५२ ज्ञानियोंने वैराग्यका उपदेश क्यों दिया ?	५२-५३
५३ महावीरशासन	५३-५४
५४ अशुचि किसे कहते हैं ?	५५
५५ सामान्य नित्यनियम	५५-५६
५६ क्षमापना	५६
५७ वैराग्य धर्मका स्वरूप है	५६-५७

* इस विषय-सूचीमें ग्रन्थके केवल मुख्य मुख्य विषयोंकी ही सूची दी गई है। जिन अंकों पर * ऐसा चिन्ह है उन्हें राजचन्द्रजीकी प्राइवेट डायरीके नोट्स (हाथनोंध) समझना चाहिये।

पत्रांक	पृष्ठ
५८ धर्मके मतभेद (१)	५७-५८
५९ धर्मके मतभेद (२)	५८-५९
६० धर्मके मतभेद (३)	५९-६०
६१ सुखके विषयमें विचार (१)	६०-६१
६२ सुखके विषयमें विचार (२)	६१-६२
६३ सुखके विषयमें विचार (३)	६२-६३
६४ सुखके विषयमें विचार (४)	६३-६४
६५ सुखके विषयमें विचार (५)	६४-६५
६६ सुखके विषयमें विचार (६)	६५-६६
६७ अमूल्य तत्त्वविचार (कविता)	६६-६७
६८ जितेन्द्रियता	६७-६८
६९ ब्रह्मचर्यकी नौ बाड़	६८-६९
७० सनत्कुमार (१)	६९-७०
७१ सनत्कुमार (२)	७०-७१
७२ बत्तीस योग	७१-७२
७३ मोक्षसुख	७२-७३
७४ धर्मध्यान (१)	७३-७४
७५ धर्मध्यान (२)	७४-७५
७६ धर्मध्यान (३)	७५-७६
७७ ज्ञानके संबंधमें दो शब्द (१)	७६
७८ ज्ञानके संबंधमें दो शब्द (२)	७६-७७
७९ ज्ञानके संबंधमें दो शब्द (३)	७७-७८
८० ज्ञानके संबंधमें दो शब्द (४)	७८
८१ पंचमकाल	७८-७९
८२ तत्त्वावबोध (१)	८०
८३ तत्त्वावबोध (२)	८०-८१
८४ तत्त्वावबोध (३)	८१-८२
८५ तत्त्वावबोध (४)	८२
८६ तत्त्वावबोध (५)	८२-८३
८७ तत्त्वावबोध (६)	८३
८८ तत्त्वावबोध (७)	८४
८९ तत्त्वावबोध (८)	८४-८५
९० तत्त्वावबोध (९)	८५-८६
९१ तत्त्वावबोध (१०)	८६
९२ तत्त्वावबोध (११)	८७
९३ तत्त्वावबोध (१२)	८७-८८
९४ तत्त्वावबोध (१३)	८८
९५ तत्त्वावबोध (१४)	८८-८९
९६ तत्त्वावबोध (१५)	८९-९०
९७ तत्त्वावबोध (१६)	९०
९८ तत्त्वावबोध (१७)	९०-९१
९९ समाजकी आवश्यकता	९१
१०० मनोनिग्रहके विघ्न	९१-९२
१०१ स्मृतिमें रखने योग्य महावाक्य	९२
१०२ विविध प्रश्न (१)	९२-९३
१०३ विविध प्रश्न (२)	९३-९४
१०४ विविध प्रश्न (३)	९४
१०५ विविध प्रश्न (४)	९५
१०६ विविध प्रश्न (५)	९५-९६
१०७ जिनेश्वरकी वाणी (कविता)	९६
१०८ पूर्णमालिका मंगल (कविता)	९६
१८ वाँ वर्ष	
५ भावनाबोध—	९७-१२०
उपोद्घात	९७-१००
प्रथमदर्शन—बारह भावनायें	१००-१०१
प्रथम चित्र—अनित्य भावना —भिखारीका खेद	१०१-१०२
द्वितीय चित्र—अशरण भावना —अनाथी मुनि	१०२
तृतीय चित्र—एकत्व भावना —नमिराजर्षि	१०३-१०७
चतुर्थ चित्र—एकत्व भावना —भरतेश्वर	१०७-१११
पंचम चित्र—अशुचि भावना —सनत्कुमार	१११-११२
अंतर्दर्शन—	
षष्ठ चित्र—निवृत्तिबोध —मृगापुत्र	११२-११७
सप्तम चित्र—आश्रव भावना —कुंडरीक	११८
अष्टम चित्र—संवर भावना —पुंडरीक	११८
—वज्रस्वामी	११९
नवम चित्र—निर्जरा भावना —दृढ़प्रहारी	११९-१२०
दशम चित्र—लोकस्वरूप भावना	१२०
१९ वाँ वर्ष	
६ एकांतवाद ज्ञानकी अपूर्णताकी निशानी है	१२१
७ वचनामृत	१२१-६
८ हितवचन	१२६-७

पत्रांक	पृष्ठ
९ क्षमापना	१२७–९
१० जीवतत्त्वके संबंधमें विचार	१२९
११ जीवाजीवविभक्ति	१३०
१२ चित्रपटसंबंधी	१३०–१
२० वाँ वर्ष	
१३ अमूल्य लाभ	१३२
१४ एक अद्भुत बात	१३२
१५ आत्मशांतिमें वैराग्य	१३२
१६ अर्थकी वेदकता न रक्खो	१३२
१७ सम्यक्‌का अभाव	१३२–३
१८ आत्माका स्वरूप	१३३
१९ आत्माके ज्ञान होनेपर विधान	१३३
२० तत्त्व पानेके लिये उत्तम पात्र	१३३
जैनदर्शनमें भिन्न भिन्न मत प्रचलित होनेके कारण	१३४
धर्मक्रान्तिकी कठिनता	१३५
प्रतिमाकी सिद्धि	१३५–९
२१ वाँ वर्ष	
२१ सद्गुरुकी इच्छा	१४०
२२ आत्मा अनादिसे भटकी है	१४०
२३ मैत्री और मोहदशा न रक्खो	१४०
२४ लोककी न्यूनता और पुरुषार्थकी अधिकता	१४०
२५ आत्मशांतिके मार्गकी खोज	१४०
२६ धर्म गुप्त वस्तु है	१४१
२७ व्यवहारशुद्धि	१४१–२
२८ आशीर्वाद देते रहो	१४२
२९ वैराग्यविषयक आत्मवृत्ति	१४३
३० सद्गुरुओंका उपदेश	१४४
३१ निर्ग्रन्थप्रणीत धर्म	१४४
३२ मोक्षके मार्ग दो नहीं	१४४–५
३३ मोक्ष हथेलीमें	१४५
३४ मैत्री आदि चार भावनायें	१४६
३५ शास्त्रमें मार्ग कहा है, मर्म नहीं	१४६
३६ देहत्यागका भय न समझो	१४६–७
३७ संयति मुनिधर्म	१४७–५०
३८ पुनर्जन्मका निश्चय	१५०–१
३९ राजमार्ग धर्मध्यान	१५१–२
४० जिससे आत्मत्व, सम्यग्ज्ञान और यथार्थदृष्टि मिले, वही मार्ग मान्य करना चाहिये	१५३
पुनर्जन्मसंबंधी	१५३–५
४१ पुनर्जन्म	१५६
४२ दर्शनोंका तात्पर्य समझनेके लिये यथार्थ दृष्टि	१५६
४३ मोक्षमाला	१५७
४४ समस्त शास्त्रोंको जाननेका, क्रियाका, ज्ञानका, और मोक्ष आदि सबका प्रयोजन निज स्वरूपकी प्राप्ति	१५७
४५ जगत्‌में निर्वैर रहो	१५८
४६ मेरे ऊपर समभावसे शुद्ध राग रक्खो	१५८
४७ मतभेदके कारण आत्माकी निजधर्मकी अप्राप्ति	१५८
४८ अल्पायु एक भी भव सुन्दर हो जाय तो अनंत भवकी कसर निकल जाय	१५९
जैनसंबंधी विचार सूत्रपर सद्गुरुओंके चारित्रमें उपयोग	१५९
मैं किसी गच्छमें नहीं—आत्मामें हूँ	१६०
४९ सद्गुरु कौन	१६०
५० पुनर्जन्मकी सिद्धि (कविता)	१६०–१
५१ मोक्षसंबंधी विचार	१६१–२
५२ जगत्‌के भिन्न भिन्न मत और दर्शन दृष्टिका भेदमात्र है (कविता)	१६२
५३ प्रशस्त पुरुष	१६२
५४ कर्मकी विचित्र स्थिति	१६३
५५ दुखियाओंमें सबसे अग्रणी	१६३–४
५६ गृहस्थाश्रमसंबंधी	१६४–५
तत्त्वज्ञानकी गुफाका दर्शन	१६५
अंतर्ज्योति	१६५
२२ वाँ वर्ष	
५७ इतना अवश्य करना	१६६
५८ जगत्‌की मोहिनी	१६७
*५९ निजस्वरूपके दर्शनकी अप्राप्ति	१६७
*६० सद्गुरु	१६७–८
*६१ आध्यात्मिक विकासक्रम (गुणस्थान)	१६८–७१
६२ जैनधर्म भी पवित्र दर्शन है	१७१
६३ वेदान्तकी असंगति	१७१–२
२३ वाँ वर्ष	
६४ आत्मचर्या	१७२–५
६५ दो प्रकारका धर्म	१७५–६
६६ किस दृष्टिसे सिद्धि होती है	१७६
६७ बाल, युवा, और वृद्ध तीन अवस्थायें	१७७
६८ तीव्र बंधका अभाव	१७७–८
६९ सब दर्शनोंसे उच्च गति	१७८

पत्रांक	पृष्ठ
७० नवपद-ध्यानियोंकी वृद्धि	१७८
७१ भगवतीका एक वाक्य	१७८
७२ जिस तरह यह बंधन छूट सके उस तरह छुड़ाना	१७८
७३ ध्यान देने योग्य नियम	१७९
७४ सर्व गुणोंका समावेश	१७९
७५ चार पुरुषार्थ	१७९
७६ चार पुरुषार्थ	१७९-८०
७७ चार आश्रम	१८०
७८ चार आश्रम और चार पुरुषार्थ	१८०-१
७९ प्रयोजन	१८१
८० महावीरके उपदेशका पात्र	१८१-२
*८१ प्रकाश भुवन	१८२
८२ [illegible] संसारकी वृद्धि	१८२
८३ जिनकथित पदार्थोंकी यथार्थता	१८२
८४ [illegible]	१८२-३
८५ [illegible] प्रकाश (कविता)	१८३-४
८६ हितवचन	१८५-७
८७ हितवचन	१८७-८
८८ हितवचन	१८८
८९ आज मने उछरंग (कविता)	१८८
*९० [illegible] (कविता)	१८८-९
*९१ [illegible] (कविता)	१८९
९२ इच्छा रहित कोई भी प्राणी नहीं	१८९-९०
९३ [illegible]	१९०-१
९४ [illegible]	१९१
९५ [illegible] विचारोंका मनन	१९१
९६ [illegible]	१९२
९७ अपने अस्तित्वकी शंका	१९२
९८ [illegible]	१९२
९९ [illegible]	१९२
१०० [illegible]	१९२
[illegible]	१९३
१०१ [illegible]	१९३
[illegible]	१९४
[illegible]	१९४
१०२ [illegible]	१९४-५
१०३ [illegible]	१९५
१०४ [illegible]	१९५
१०५ काल और कर्मकी विचित्रता	१९५
१०६ दृष्टिकी स्वच्छता	१९६
१०७ उपाधि शमन करनेके लिये शीतल चन्दन 'योगवासिष्ठ'	१९६
जैनधर्मके आग्रहसे मोक्ष नहीं	१९६
१०८ उदासीनता, वैराग्य और चित्तके स्वस्थ करनेवाली पुस्तकें पढ़नेका अनुरोध	१९७
१०९ भगवतीका वाक्य	१९७
११० महावीरका मार्ग	१९७
१११ मार्ग खुला है	१९८
११२ दो पर्यूषण	१९८
११३ कलिकालकी विषमता	१९८
सत्संगका अभाव	१९८
*११३ (२) अन्तिम समझ	१९८
११४ दो पर्यूषण	१९९
११५ दोषोंकी क्षमा और आत्मशुद्धि	२००-१
११६ बम्बईकी उपाधि	२०१
११७ छह महा प्रवचन	२०१-२
११८ भगवतीके पाठसंबंधी चर्चा	२०२-३
११९ महात्मा शंकराचार्यजीका वाक्य	२०३
१२० ईश्वरपर विश्वास	२०३
रातदिन परमार्थविषयका मनन	२०३
दुःखका कारण विषम आत्मा	२०४
ज्योतिष, सिद्धि आदिकी ओर अरुचि	२०४
१२१ इस क्षेत्रमें इस कालमें इस देहधारीका जन्म	२०४
१२२ सम्यक्दृष्टिके पाँच लक्षण	२०५
१२३ आत्मशांतिकी दुर्लभता	२०५
१२४ आत्मशांति	२०५
१२५ आठ रुचक प्रदेश	२०६
चौदह पूर्वधारी और अनंत निगोद	२०६-७
१२६ व्यास भगवानका वचन	२०८
१२७ अभ्यास करने योग्य बातें	२०८
१२८ यथायोग्य पात्रतामें आवरण	२०९
१२९ 'तू ही तू' का अस्खलित प्रवाह	२०९
१३० राग हितकारी नहीं	२०९
१३१ परमार्थ मार्गकी दुर्लभता	२०९
१३२ आत्माको हरिभक्तिकी प्राप्ति	२१०
१३३ मोक्षकी औषधि	२१०
१३४ तीन प्रकारका वीर्य	२१०-१
१३५ जिनवचनोंकी अद्भुतता	२११
*१३५ (२) स्वमुक्त	२११

पत्रांक — पृष्ठ

१३६ अपूर्व आनन्द — २११-२
*१३६ (२) जीवका अस्तित्व नित्यत्व आदि — २१२
१३७ उदासीनता अध्यात्मकी जननी है — २१२
१३८ बीजा साधन बहु कर्यां (कविता) — २१२
१३९ जहाँ उपयोग वहाँ धर्म — २१३
१४० नित्यस्मृति — २१३
१४१ सहज प्रकृति — २१३
१४२ आत्मानन्द वार्ते — २१४
१४३ महावीरको जगत्का ज्ञान — २१४-५
१४४ सर्वगुणसम्पन्न भगवान्‌में दोष — २१५
मोक्षकी आवश्यकता — २१५
१४५ मंगलरूप वाक्य — २१५
१४६ मुक्तानन्दजीका वाक्य — २१६

२४ वाँ वर्ष

१४७ आत्मज्ञान पा लिया — २१७
उन्मत्त दशा — २१८-९
*१४७ (२) महान् पुरुषोंके गुण — २१८-९
*१४७ (३) वीतरागदर्शन — २१९-२०
*१४८ उपशम भाव — २२०
*१४८ (२) दशा क्यों घट गई — २२०
१४९ आत्मविषयक भ्रांति होनेका कारण — २२०-१
१५० हरिकृपा — २२१
१५१ दुःखोंका अपूर्व हित — २२१
१५२ संतकी शरणमें जा — २२१
१५३ अद्भुतदशा — २२१
१५४ जो छूटनेके लिये ही जीता है वह बंधनमें नहीं आता — २२२
१५५ मन प्रश्न आदिका बंधनरूप होना — २२३
१५६ स्वरूपसे धर्मोपदेश देनेकी अयोग्यता — २२३
१५७ ‘इस कालमें मोक्ष नहीं’ इसका स्याद्वादपूर्वक विवेचन — २२३-४
१५८ तीनों कालकी समानता — २२४
१५९ कालकी दुष्मता — २२४
१६० आत्माको छुड़ानेके लिये सब कुछ — २२५
१६१ अन्तिम स्वरूपकी समझ — २२५
संगहीन होनेके लिये वनवास — २२५-६
भोजा भगत, निरांत कोली आदिका परम योगीपना — २२६
१६२ बम्बई उपाधिका योग्यस्थान — २२६
१६३ “अलख नाम धुनि लगी गगनमें” (कवित) — २२६
१६४ हरिजनकी संगतिका अभाव — २२६
१६५ हमारी वृत्ति जो करना चाहती है वह एक निष्कारण परमार्थ है — २२७
१६६ मुमुक्षुओंके दासत्वकी प्रियता — २२७
१६७ मार्गकी सरलता — २२७-८
१६८ अनंतकालसे जीवका परिभ्रमण — २२८
१६९ जीवके दो बंधन — २२८
१७० एकांतवाससे पड़देका दूर होना — २२९
१७१ जीवको सत्‌की अप्राप्ति — २२९
१७२ मनुष्यत्वकी सफलताके लिये जीना — २३०
१७३ वचनावली — २३०-१
भागवतमें प्रेमभक्तिका वर्णन — २३०-१
१७४ भागवतकी आख्यायिका — २३१-२
भक्ति सर्वोपरि मार्ग — २३३
*१७४ (२) “ कोई ब्रह्मरसना भोगी ” — २३३
१७५ संतके अद्भुत मार्गका प्रदर्शन — २३३
१७६ ज्ञानीको सर्वत्र मोक्ष — २३३
१७७ मौन रहनेका कारण परमात्माकी इच्छा — २३४
१७८ ईश्वरेच्छाकी सम्मति — २३४
१७९ वैराग्यवर्धक वचनोंका अध्ययन — २३४
१८० ज्ञानीकी वाणीकी नयमें उदासीनता — २३५
नयके आग्रहसे विरस फलकी प्राप्ति — २३५
*१८० (२) नय आदिका लक्ष सच्चिदानन्द — २३६
१८१ सत् दूर नहीं — २३६
१८२ धर्म-जीवोंका दासत्व — २३६
१८३ सजीवनमूर्तिकी पहिचान — २३७
१८४ सत्पुरुष ही शरण है — २३८
इस कालमें मोक्ष हो सकता है — २३८
परमात्मा और सत्पुरुषमें अभिन्नता — २३८
ईश्वरीय इच्छा — २३९
१८५ जगत्के प्रति परम उदासीनभाव — २३९
१८६ वनवासके संबंधमें — २३९-४०
१८७ सत् सबका अधिष्ठान — २४०
महात्माओंका लक्ष एक सत् ही है — २४०
मोक्षकी व्याख्या — २४१
१८८ भागवतमें प्रेमभक्तिका वर्णन — २४१
१८९ ज्योतिष आदिका कल्पितपना — २४१
१९० ईश्वरका अनुग्रह — २४१
१९१ अधिष्ठानकी व्याख्या — २४२
१९२ पंचमकालमें सत्संग और सत्पात्रकी दुर्लभता — २४२

पत्रांक	पृष्ठ
३८१ आत्माका धर्म आत्मामें	३५४
ध्यान देने योग्य बात	३५५
३८२ ज्ञानी पुरुषके प्रति अधूरा निश्चय	३५६
३८३ सच्ची ज्ञानदशासे दुःखकी निवृत्ति	३५६
३८४ सबके प्रति समदृष्टि	३५७
३८५ महान् पुरुषोंका अभिप्राय	३५७
३८६ बीजज्ञान	३५८
३८७ सुधारसके संबंधमें	३५८–९
३८८ ईश्वरेच्छा और यथायोग्य समझकर मौनभाव	३६०
३८९ "आतमभावना भावतां"	३६०
३९० सुधारसका माहात्म्य	३६१
३९१ गाथाओंका शुद्ध अर्थ	३६१
३९२ स्वरूप सरल है	३६१
२७ वाँ वर्ष	
३९३ शालिभद्र धनाभद्रका वैराग्य	३६२
३९४ वाणीका संयम	३६२
३९५ चित्तका संक्षेपभाव	३६२
३९६ कविताका आत्मार्थके लिये आराधन	३६३
३९७ उपाधिकी विशेषता	३६४
३९८ संसारस्वरूपका वेदन	३६४
३९९ सब धर्मोंका आधार शांति	३६४
४०० कर्मके भोगे बिना निवृत्ति नहीं	३६५
४०१ सुदर्शन सेठ	३६५
४०२ 'सिद्धागम'	३६५
४०३ दो प्रकारका पुरुषार्थ	३६५
४०४ तीर्थंकरका उपदेश	३६६
४०५ व्यावहारिक प्रसंगोंकी चित्र-विचित्रता	३६७
४०६ पद्-पद	३६७–९
*४०६ (२) हर पद	३६९
४०७ दो प्रकारके कर्म	३७०–१
४०८ संसारमें अधिक व्यवहार करना योग्य नहीं	३७१
*४०८ (२,३,४) यह त्यागी भी नहीं	३७२
४०९ व्यापारमें नीतिपूर्वक चलना	३७२
४१० उपदेशकी आकांक्षा	३७३
४११ 'योगबिन्दु'	३७३
४१२ व्यवसायकी घटना	३७३
४१३ वैराग्य उपशमकी प्रधानता	३७४
उपदेशज्ञान और सिद्धांतज्ञान	३७४–५
*४१३ (२) एक वेदान्तमें पर किस तरह घटता है !	३७५
४१४ साधुको पत्र समाचार आदि लिखनेका विधान	३७६–९
४१५ साधुको पत्र समाचार आदि लिखनेका विधान	३७९–८१
४१६ पंचमकाल—असंयती पूजा	३८२
४१७ नित्यनियम	३८२
४१८ सिद्धांतबोध और उपदेशबोध	३८३–५
४१९ संसारमें कठिनाईका अनुभव	३८६
*४१९ (२) आत्मपरिणामकी स्थिरता	३८६
४२० जीव और कर्मका संबंध	३८६–७
संसारी और सिद्ध जीवोंकी समानता	३८७
*४२० (२) जैनदर्शन और वेदान्त	३८८
४२१ वृत्तियोंके उपशमके लिये निवृत्तिकी आवश्यकता	३८८
४२२ ज्ञानी पुरुषकी आज्ञाका आराधन	३८९
अज्ञानकी व्याख्या	३८९–९०
*४२२ (२) "नमो जिणाणं जिदभवाणं"	३९०–१
४२३ सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवोंके व्याघातसंबंधी प्रश्न	३९१
४२४ वेदांत और जिनसिद्धांतकी तुलना	३९२
४२५ व्यवसायका प्रसंग	३९३
४२६ सत्संग—सद्वाचन	३९३
४२७ व्यवसाय उपाधिका कारण	३९३
*४२८ सद्गुरुकी उपासना	३९४
४२९ सत्संगमें भी प्रतिबद्ध बुद्धि	३९४
४३० वैराग्य उपशम आनेके पश्चात् आत्माके कर्तृत्व अकर्तृत्व आदिका विचार	३९४
४३१ पत्रलेखन आदिकी असमर्थता	३९४
४३२ चित्तकी अस्थिरता	३९५
बनारसीदासको आत्मानुभव	३९५
प्रारब्धका वेदन	३९६
४३३ सद्गुरुकी पहिचान	३९७
४३४ पद आदिके बाँचने विचारनेमें उपयोगका अभाव	३९८
४३५ बाह्य माहात्म्यकी अनिच्छा	३९९
सिद्धोंकी अवगाहना	३९९–४००
*४३६ दिगम्बर और निर्ग्रन्थमतसंबंधी विचार	४००
*४३७ स्वरूपका निर्णय	४०१
*४३८ समाधान	४०२
*४३९ देहके ममत्वका अभाव	४०२
*४४० जैन दर्शनका मंडन	४०३

पत्रांक	पृष्ठ
*४४१ व्यवसायसे निवृत्ति	४०३
*४४२ एकदेश संगनिवृत्ति	४०३
४४३ निवृत्तिकी भावना	४०४
४४४ योगवासिष्ठ आदि श्रेष्ठ पुरुषोंके वचन	४०४
४४५ आत्महितमें प्रमाद न करना	४०५
४४६ सद्जनोंका वचन	४०६
*४४६(१,२) प्राप्त करने योग्य स्थान—सर्वज्ञ-पदका ध्यान	४०६
४४७ गांधीजीके २७ प्रश्नोंके उत्तर	४०६–१५
४४८ मतिज्ञान आदिसंबंधी प्रश्न	४१६
४४९ वैराग्य उपशमकी वृद्धिके लिये ही शास्त्रोंका मनन	४१६
४५० श्रीकृष्णकी आत्मदशा	४१७
४५१ मुमुक्षुकी दो प्रकारकी दशा	४१७
४५२ विचारवानको भय	४१७
जीवको व्रत, पत्र नियम आदिसे निवृत्ति	४१८
४५३ योगवासिष्ठका वाचन	४१८
४५४ इच्छानिरोध करनेका अनुरोध	४१९
४५५ ज्ञानीकी भक्ति	४१९
*४५५ (२) हे जीव ! अंतरंगमें देख	४१९
वर्ष २८ वाँ	
४५६ परमपद-प्राप्तिकी भावना (कविता)	४२०–३
*४५७ *गुणस्थान*	४२३
४५८ ब्रह्मरसकी स्थिरतासे संयमकी प्राप्ति	४२३
*४५९ निवृत्तिकी भावना	४२३
*४६० अपूर्व संयम	४२४
४६१ चौभंगीका उत्तर	४२४
४६२ तादात्म्यभावकी निवृत्तिसे मुक्ति	४२४
४६३ प्रवृत्तिमें सावधानी	४२४
४६४ परमाणुकी व्याख्या	४२५
४६५ निवृत्त होनेकी भावना	४२६
४६६ प्रारब्धका भोग	४२७
स्त्र्यादिकी इच्छासे मुमुक्षुताका नाश	४२७
४६७ दुःखको धैर्यपूर्वक सहन करना	४२८–९
४६८ समाधि-असमाधि	४२९
४६९ दुषमकालके कारण सकामवृत्ति	४३०
४७० उदयके कारण व्यवहारोपाधि	४३१
४७१ जीव विचारोंको कैसे दूर करे	४३१
*४७२ द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसंबंधी	४३१
४७३ असंगभाव	४३२
४७४ व्यापार आदि प्रसंगसे निवृत्ति	४३३
४७५ मुख्य विचार	४३३
४७६ महापुरुषोंका वचन	४३४
*४७७ जीवनकाल किस तरह भोगा जाय	४३४
४७८ उदास भावना	४३४
४७९ छूटनेका मार्ग	४३४
४८० प्रेम और द्वेषसे संसारका प्रवाह	४३४
४८१ बंध-मोक्षकी व्यवस्थाका हेतु	४३५
४८२ छह पद (गांधीजीको)	४३५
४८३ बंधमोक्षकी व्यवस्था	४३६
४८४ तीव्रज्ञान दशा	४३७
४८५ आत्मस्वभावकी प्राप्ति	४३८
४८६ तृष्णा घटाना	४३८
४८७ तीर्थंकरोंका कथन	४३८
४८८ मोतीका व्यापार	४३९
४८९ आचारांग आदिका वाचन	४३९
४९० पदार्थकी स्थिति	४३९
४९१ व्यवहारोदय	४४०
*४९२ लोकव्यवहारमें अरुचि	४४०
कुन्दकुन्द और आनंदघन	४४१
* ४९३ " जेम निर्मळता रे "	४४१
४९४ प्रारब्धोदयकी निवृत्तिका विचार	४४२
४९५ केवलज्ञान	४४३
४९६ आत्मस्वरूपके निश्चयमें भूल	४४४
४९७ वैराग्य उपशमकी वृद्धि	४४४
४९८ जिनभगवान्‌का अभिमत	४४४
४९९ ज्ञानदशा	४४५
५०० मोहनीयका बल	४४५
*५०१ कार्यक्रम	४४५
५०२ धर्मको नमस्कार	४४६
*५०२ (२) " सो धम्मो जत्थ दया "	४४६
५०३ अमुनि, त्याग आदिके विषयमें	४४६–७
५०४ क्षणभंगुर देह	४४८
५०५ समस्त ज्ञानका सार	४४८
५०६ ज्ञानका निर्णय	४४८
५०७ सर्व विचारणाका फल	४४९
५०८ श्रीजिनकी सर्वोत्कृष्टता	४४९
५०९ वेदान्त और जैनदर्शनकी तुलना	४४९–५०
५१० उपाधिविषयक प्रश्न	४५०
५११ अस्थिर परिणामका उपशम	४५१
५१२ स्वपरिणतिमें स्थिर रहना	४५१

पत्रांक	पृष्ठ
*६५६ अमूर्तत्व आदिकी व्याख्या	५८३
*६५७ केवलदर्शन और श्रद्धा	५८३
*६५८ आत्माका मध्यम परिमाण आदि	५८४
*६५९ वेदान्तकी असंगति	५८४
६६० आत्मसिद्धि—	५८५–६२२
क्रियाजड और शुष्कज्ञानीका लक्षण	५८५–६
आत्मार्थीका लक्षण	५८७
ठाणांगसूत्रकी चौभंगी	५८८–९
सद्गुरुसे बोधकी प्राप्ति	५९०–१
उत्तम सद्गुरुका लक्षण	५९२
स्वच्छंदनिरोधका स्पष्टीकरण	५९२–३
सद्गुरुसे निजस्वरूपकी प्राप्ति	५९४
समकित किसे कहते हैं	५९५
विनयमार्गका उपयोग	५९५
मतार्थीके लक्षण	५९६
आत्मार्थीके लक्षण	५९७–८
षट्पदनाम कथन	५९९
आत्माके अस्तित्वमें शंका—पहिली शंका	५९९
शंकाका समाधान	६१–००
आत्मा नित्य नहीं—दूसरी शंका	६०२
शंकाका समाधान	६०२–५
आत्मा कर्मकी कर्त्ता नहीं—तीसरी शंका	६०६
शंकाका समाधान	६०७
—जगत् अथवा कर्मका कर्त्ता ईश्वर नहीं	६०७–१०
जीव कर्मका भोक्ता नहीं—चौथी शंका	६१०–१
शंकाका समाधान	६११–३
कर्मसे मोक्ष नहीं—पाँचवी शंका	६१३
शंकाका समाधान	६१३–४
मोक्षका उपाय नहीं—छट्ठी शंका	६१४–५
शंकाका समाधान	६१५–७
—मोक्षमें ऊँच नीचका भेद नहीं	६१७
केवलज्ञान किसे कहते हैं	६१८
शिष्यको बोधबीजकी प्राप्ति	६१९–२०
उपसंहार	६२०–२
*६६१ बंधके मुख्य हेतु	६२१
*६६२ "बंधविहाण विमुक्कं"	६२१
६६३ आत्मसिद्धिशास्त्र	६२१–४
६६४ [illegible]	६२४
६६५ निर्ग्रंथका हेतु ज्ञान	६२४

३० वाँ वर्ष

पत्रांक	पृष्ठ
६६६ मोतेश्वरीको ज्वर	६२५
६६७ ज्ञानीकी दृष्टिका माहात्म्य	६२५
६६८ परमपदपथ अथवा वीतरागदर्शन (कविता)	६२५–६
६६९ मनुष्यभव चिंतामणिके समान	६२६
६७० संतोषपूर्वक आत्महितका विचार	६२६,
६७१ मार्गप्राप्तिकी कठिनता	६२७
६७२ जीवोंकी अशरणता	६२७
६७३ पंचीकरण, दासबोध आदि ग्रंथोंका मनन	६२७
६७४ सफलताका मार्ग	६२७
६७५ शुभाशुभ प्रारब्ध	६२८
६७६ बाह्यसंयमका उपदेश	६२८
६७७ वैराग्य उपशमकी वृद्धिके लिये पंचीकरण आदिका मनन	६२८
६७८ ज्ञानी पुरुषको नमस्कार	६२८
६७९ महानिर्जरा	६२८
६८० आरम्भ-परिग्रहका प्रसंग	६२९
६८१ निर्ग्रंथको अप्रतिबंध भाव	६२९
६८२ सत्संग	६२९
६८३ निर्मलभावकी शुद्धि	६२९
६८४ "सकळ संसारी इन्द्रियरामी"	६२९
६८५ "ते माटे उभा कर जोडी"	६३०
६८६ श्रुतज्ञान और केवलज्ञान	६३०
६८७ "पढे पार कहाँ पामवो"	६३०
६८८ ज्ञानका फल विरति	६३१
६८९ तीन प्रकारका समकित	६३१
६९० लेश्या आदिके लक्षण	६३२
* ६९० (२) शुद्ध चैतन्य	६३२
* ६९० (३) जैनमार्ग	६३२–३
* ६९० (४) कर्मव्यवस्था	६३३
६९१ सत्पुरुष	६३४
६९२ आनन्दघनचौबीसी-विवेचन	६३५–४०
६९३ कालकी बलिहारी	६४१
६९४ दुःख किस तरह मिट सकता है	६४१–२
महात्मा पुरुषका योग मिलना	६४३–५
दिगम्बर और श्वेताम्बर	६४५–६
जैनमार्ग विवेक	६४७
मोक्षसिद्धांत	६४७–८
द्रव्यप्रकाश	६४९
जीवके लक्षण	६५०–१

पत्रांक	पृष्ठ
सम्यक्त्व और केवलज्ञान	७००
मतिज्ञान और श्रुतज्ञान	७०१
क्षेत्रसंबंधी विषय	७०२
दिगम्बर आचार्योंकी शुद्ध निश्चयनयकी मान्यता	७०२
निगोदमें अनंत जीव	७०२
जीवमें संकोच-विस्तार	७०३
थोड़ेसे आकाशमें अनंत परमाणु	७०३
परद्रव्यका समझना क्यों उपयोगी है	७०३-४
विरति और अविरति	७०५
व्यक्त और अव्यक्त क्रियायें	७०६
बंधके पाँच भेद	७०६
कारुण्य	७०७
असंख्यात किसे कहते हैं	७०८
नय और प्रमाण	७०८
केवलज्ञान	७०८
गुणगुणीका भेद	७०९
जैनमार्ग	७०९
सिद्धांत गणितकी तरह प्रत्यक्ष हैं	७०९-१०
राग द्वेषके क्षयसे केवलज्ञान	७१०
पुरुषार्थसे सातवें गुणस्थानककी प्राप्ति	७११
जैनमार्गमें अनेक गच्छ	७१२
उदय, उदीरणा आदिका वर्णन करनेवाला ईश्वरकोटिका पुरुष	७१३
उपदेशके चार भेद	७१४
तैजस और कार्मणशरीर	७१४
धर्मके मुख्य चार अंग	७१५
गुणस्थान	७१६
दिगम्बर श्वेताम्बरोंमें मतभेद	७१६
कषाय और उसके असंख्यात भेद	७१७
घातियाकर्म	७१८
जीव और परमाणुओंका संयोग	७१९
समदर्शिता	७२०-२
७५४ दुःषमकालमें परम शांतिके मार्गकी प्राप्ति	७२२
*७५५ केवलज्ञान	७२३
*७५६ मैं केवलज्ञानस्वरूप हूँ	७२३
*७५७ आकाशवाणी	७२३
*७५८ मैं एक हूँ असंग हूँ	७२३
७५९ सर्वोत्कृष्ट आत्मामें निमग्न होओ	७२४
७६० परम पुरुषोंको नमस्कार	७२४-५
७६१ श्रीडूंगरका देहत्याग	७२५
७६२ सत्शास्त्रका परिचय	७२५
७६३ नमो वीतरागाय	७२५
७६४ श्रीभगवान्‌को नमस्कार	७२६
७६५ द्रव्यमनकी दिगम्बर-श्वेताम्बरोंकी मान्यता	७२६
७६६ आत्मा अपूर्व वस्तु है	७२६
छह दर्शनोंके ऊपर दृष्टांत	७२७
७६७ देह आदि संबंधी हर्ष विषाद करना योग्य नहीं	७२८
*७६८ इस तरह काल व्यतीत होने देना योग्य नहीं	७२८
*७६९ तीव्र वैराग्य आदि	७२९
*७७० जिनचैतन्यप्रतिमा	७२९
*७७१ आश्चर्यकारक भेद पड़ गये हैं	७३०
*७७२ कारुण्यभावसे धर्मका उद्धार	७३०
*७७३ प्रथम चैतन्यजिनप्रतिमा हो	७३०
*७७४ हे काम ! हे मान !	७३०
*७७५ हे सर्वोत्कृष्ट सुखके हेतुभूत सम्यग्दर्शन	७३१
*७७६ समाधिमार्गकी उपासना	७३१
*७७७ " एगे समणे भगवं महावीरे "	७३१
७७८ सन्यासी गोसाईं आदिका लक्षण	७३२
*७७९ " इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्च "	७३३-४
७८० " अहो जिणेहिऽसावज्जा "	७३४
*७८१ सर्वविकल्पोंका, तर्कका त्याग करके	७३५
*७८२ भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान	७३५
७८३ हे जीव ! संसारसे निवृत्त हो	७३६
७८४ आत्माविषयक प्रश्नोत्तर	७३६
३२ वाँ वर्ष	
*७८५ ॐ नमः	७३७
७८६ प्रमाद परम रिपु	७३७
७८७ ज्ञानी पुरुषका समागम	७३७
७८८ सद्देव, सद्गुरु और सत्शास्त्रकी उपासना	७३८
*७८९ मैं प्रत्यक्ष निज अनुभवस्वरूप हूँ	७३८
७९० प्रायश्चित्त आदि	७३८
*७९१ प्रवृत्ति-कार्योंके प्रति विरति	७३८
७९२ घाति अघाति प्रकृतियाँ	७३८-३९
७९३ " नाकरूप निहाळता "	७३९
७९४ असद् वृत्तियोंका निरोध	७३९
७९५ " चरमावर्त हो चरमकरण "	७४०
७९६ " उवसंतखीणमोहो "	७४०

पत्रांक	पृष्ठ
७९७ द्रव्यानुयोगकी प्राप्ति	७४०
७९८ भव स्वयंभूरमण पार होओ	७४१
* ७९९ स्वपर उपकारके महान् कार्यको कर ले	७४१
८०० ज्ञानियोंका सदाचरण	७४२
८०१ शास्त्र अर्थात् आप्तपुरुषके वचन	७४२
८०२ आत्महितकी दुर्लभता	७४२
८०३ अणु और स्कंध	७४३
८०४ मोक्षमालाके विषयमें	७४३
८०५ "तरतम योग रे तरतम वासना रे"	७४४
८०६ हेमचन्द्र आचार्य और आनंदघन	७४५
८०७ क्या भारतवर्षकी अधोगति जैनधर्मसे हुई है	७४६
८०८ ज्योतिषकी कल्पितता	७४७
८०९ वीतराग सन्मार्गकी उपासना	७४७
८१० सदाचरणपूर्वक रहना	७४७
८११ 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा'	७४८
*८१२ ब्रह्मचर्य	७४८
८१३ 'क्रियाकोष'	७४८
*८१४ ईश्वर किसे कहते हैं	७४८
८१५ "मंत्र तंत्र औषध नहीं"	७४८
८१६ अहो ! सत्पुरुषके वचनामृत	७४९
८१७ "जेनो काळ ते किंकर थई रह्यो"	७४९
८१८ ज्ञान	७४९
८१९ स्वरूपनिष्ठवृत्ति	७४९
८२० 'क्रियाकोष'	७४९
८२१ उपदेश कार्यकी महत्ता	७५०
८२२ 'विना नयन पावे नहीं'	७५०
८२३ परम पुरुषकी मुख्य भक्ति	७५०
८२४ 'पद्मनन्दि शास्त्र'	७५१
८२५ सच्ची मुमुक्षुताकी दुर्लभता	७५१
८२६ क्षमापना	७५१
८२७ सत्पुरुषार्थता	७५२
८२८ परमशांत श्रुतका मनन	७५३
८२९ प्रवृत्ति व्यवहारमें स्वरूपनैष्ठिकताकी कठिनता	७५३
८३० परस्पर एकताका व्यवहार	७५४
८३१ प्रतिकूल मार्गमें प्रवास	७५४
३३ वाँ वर्ष	
८३२ "गुरु गुणधर गणधर अधिक"	७५५
*८३२ (२) हे मुनियो	७५५
*८३२ (३) परमगुणमय चारित्र	७५६
८३३ वीतरागदर्शन-संक्षेप	७५६
*८३३ (२) स्वरूपबोध	७५७
८३४ अवगाहना	७५७
८३५ "जड ने चैतन्य बंने द्रव्य तो स्वभाव भिन्न"	७५७
८३६ महात्माओंकी टीका	७५८
८३७ मुनिवरोंकी चरणोपासना	७५९
८३८ "धन्य ते मुनिवरा जे चाले समभावे"	७५९
८३९ आज्ञाकी मुख्यता	७५९–६०
उपशम क्षायिक आदि भाव	७६१
८४० 'चतुरंगुल है दृगसे मिल है'	७६२
८४१ भगवद्गीतामें पूर्वापरविरोध	७६२
८४२ वर्तमान कालमें क्षयोपशमकी वृद्धि	७६२
८४३ यथार्थ ज्ञानदशा	७६२
८४४ प्रश्नोत्तर	७६३
परमपुरुषका समागम	७६४
८४५ मोक्षमालाके संबंधमें	७६४
८४६ आर्य पुरुषोंको धन्य है	७६५
८४७ विनयमादि मुमुक्षुओंका धर्म	७६५
आत्मार्थीका कर्त्तव्य	७६५
८४८ आर्य त्रिभुवनका देहोत्सर्ग	७६६
८४९ मुक्तिकी सम्यक् प्रतीति	७६६
८५० व्यसन	७६६
८५१ शरीर प्रकृति स्वस्थास्वस्थ	७६७
८५२ उत्तरोत्तर दुर्लभ वस्तुएं	७६७
८५३ ग्यारहवाँ आश्चर्य	७६७
८५४ पद्मनन्दि आदिका अवलोकन	७६८
८५५ परमधर्म	७६८
८५६ "प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं"	७६९
८५७ आत्मशुद्धि	७६९
८५८ शरीरमें सबल असातनाका उदय	७६९
८५९ "नमो दुर्वाररागादिवैरिवारनिवारिणे"	[illegible]
८६० ज्ञानीकी प्रधान आज्ञा	[illegible]
८६१ 'योगशास्त्र'	[illegible]
८६२ पर्युषण आराधन	[illegible]
८६३ व्याख्यानसार और प्रश्नसमाधान—	[illegible]
शैलेशीकरण	[illegible]
वेदकसम्यक्त्व	[illegible]
प्रदेशोदय और विपाकोदय	[illegible]
आयुकर्म	[illegible]
द्रव्य और पर्याय	[illegible]

पत्रांक	पृष्ठ
जैन शब्दका अर्थ	७७५
जैनधर्मका आशय	७७५
ज्ञानी और वैश्य	७७५
पुरुषार्थकी हीनता	७७६
जीवोंके भेद	७७६-७
जातिस्मरणज्ञान	७७७-८
आत्माकी नित्यतामें प्रमाण	७७८
आयुकर्म	७७८-९
पातंजलयोगके कर्त्ताकी मार्गानुसारिता	७७९
जिनमुद्रा	७८०
'भगवतीआराधना'	७८०
मोक्षमार्ग	७८१
यशोविजयजीकी छद्मस्थ अवस्था	७८२
लेश्या	७८२
बंध	७८३
'देवागमस्तोत्र'	७८४
आप्तके लक्षण	७८५
स्थविरकल्पी और जिनकल्पी	७८६
सत्तागत, पार्थिवनाक आदि शब्द	७८७
पर्यायत्याग	७८८
केवलज्ञानके विषयमें दिगम्बर श्वेताम्बरमें मतभेद	७८८
सल्लेखना	७८९
परिणामप्रतीति	७८९
परीक्षा करनेके तीन प्रकार	७९०
"धम्मोमंगलमुक्किट्ठं"	७९०
स्थविरकल्प जिनकल्प	७९१
जैनधर्मकी सर्वोत्कृष्टता	७९१-२
एक समयमें कितनी प्रकृतियोंका बंध	७९२-३
आयुका बंध	७९३
अन्तर्मुहूर्त चयोपचय, पल्याद आदि शब्दोंका अर्थ	७[illegible]-१

पत्रांक	
विपाक, कषाय, बंध आदिके विषयमें उपाधिमें उपाधि, समाधिमें समाधि-अंग्रेजोंका दृष्टांत	
८६४ मोक्षमालाके प्रज्ञावबोध भागकी संकलना	७[illegible]

३४ वाँ वर्ष

८६५ दुःषमकाल	
८६६ 'शांतसुधारस'	
८६७ "देवागमनभोयान"	
८६८ मदनरेखा अधिकार	
८६९ अधिकारीको दीक्षा	
८७० बहुत त्वरासे प्रवास	
८७१ शरीरमें अप्राकृत क्रम	
८७२ वेदनीयका वेदन करनेमें हर्ष शोक नहीं	
८७३ अंतिम संदेश (कविता)	
परिशिष्ट (१)	८०२-[illegible]
'श्रीमद् राजचन्द्र' में आये हुए ग्रंथ, ग्रन्थकार आदि विशिष्ट शब्दोंका संक्षिप्त परिचय	८०५-८४०
परिशिष्ट (२)	
'श्रीमद् राजचन्द्र' में आये हुए उद्धरणोंकी वर्णानुक्रमसूची	८४१-८५४
परिशिष्ट (३)	
'श्रीमद् राजचन्द्र' के विशिष्ट शब्दोंकी वर्णानुक्रमणिका	८५५-८६०
परिशिष्ट (४)	
'श्रीमद् राजचन्द्र' में आये हुए ग्रन्थ और ग्रंथकारोंकी वर्णानुक्रमणिका	८६१-८६५
परिशिष्ट (५)	
'श्रीमद् राजचन्द्र' में आये हुए मुमुक्षुओंके नामोंकी सूची	८६
परिशिष्ट (६)	
आत्मसिद्धिके पद्योंकी वर्णानुक्रमणिका	८६६-८६७
संशोधन और परिवर्तन	८६८-८७४

५७० सेठ पूंजाभाई

*प्रस्तावना

श्रीमद् राजचन्द्रके पत्रों और लेखोंकी इस आवृत्तिकी प्रस्तावना लिखनेके लिये मुझे श्रीरेवाशंकर जगजीवनने जिन्हें मैं अपने बड़े भाईके समान समझता हूँ, कहा, जिसके लिये मैं इन्कार न कर सका। श्रीमद् राजचन्द्रके लेखोंकी प्रस्तावनामें क्या लिखूँ, यह विचार करते हुए मैंने सोचा कि मैंने जो उनके संस्मरणोंके थोड़ेसे प्रकरण यरवदा जेलमें लिखे हैं, यदि उन्हें दूँ तो दो काम सिद्ध होंगे। एक तो यह कि जो प्रयास मैंने जेलमें किया है वह अधूरा होनेपर भी केवल धर्मवृत्तिसे लिखा गया है, इसलिये उसका मेरे जैसे मुमुक्षुको लाभ होगा; और दूसरा यह है कि जिन्हें श्रीमद्का परिचय नहीं उन्हें उनका कुछ परिचय मिलेगा और उससे उनके बहुतसे लेखोंके समझनेमें मदद मिलेगी।

नीचेके प्रकरण अधूरे हैं, और मैं नहीं समझता कि मैं उन्हें पूर्ण कर सकूँगा। क्योंकि जो मैंने लिखा है, अवकाश मिलनेपर भी उससे आगे बहुत जानेकी मेरी इच्छा नहीं होती। इस कारण अपूर्ण अन्तिम प्रकरणको पूर्ण करके उसमें ही कुछ बातोंका समावेश कर देना चाहता हूँ।

इन प्रकरणोंमें एक विषयका विचार नहीं हुआ। उसे पाठकोंके समक्ष रख देना उचित समझता हूँ। कुछ लोग कहते हैं कि श्रीमद् पच्चीसवें तीर्थंकर हो गये हैं। कुछ ऐसा मानते है कि उन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है। मैं समझता हूँ कि ये दोनों ही मान्यतायें अयोग्य हैं। इन बातोंको माननेवाले या तो श्रीमद्को ही नहीं पहचानते, अथवा तीर्थंकर या मुक्त पुरुषकी वे व्याख्या ही दूसरी करते हैं। अपने प्रियतमके लिये भी हम सत्यको हल्का अथवा सस्ता नहीं कर देते हैं। मोक्ष अमूल्य वस्तु है। मोक्ष आत्माकी अंतिम स्थिति है। मोक्ष बहुत मँहगी वस्तु है। उसे प्राप्त करनेमें, जितना प्रयत्न समुद्रके किनारे बैठकर एक सींक लेकर उसके ऊपर एक एक बूँद चढ़ा चढ़ाकर समुद्रको खाली करनेवालेको करना पड़ता है और धीरज रखना पड़ता है, उससे भी विशेष प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है। इस मोक्षका संपूर्ण वर्णन असम्भव है। तीर्थंकरको मोक्षके पहलेकी विभूतियाँ सहज ही प्राप्त होती हैं। इस देहमें मुक्त पुरुषको रोगादि कभी भी नहीं होते। निर्विकारी शरीरमें रोग नहीं होता। रागके बिना रोग नहीं होता। जहाँ विकार है वहाँ

* यह प्रस्तावना महात्मा गांधीने परमश्रुतप्रभावकमण्डलद्वारा संवत् १९८२ में प्रकाशित श्रीमद् राजचन्द्रकी द्वितीय आवृत्तिके लिये गुजरातीमें लिखी थी। यह उसीका अनुवाद है।—अनुवादकर्ता.

*प्रस्तावना

श्रीमद् राजचन्द्रके पत्रों और लेखोंकी इस आवृत्तिकी प्रस्तावना लिखनेके लिये मुझे श्रीरेवाशंकर जगजीवनने जिन्हें मैं अपने बड़े भाईके समान समझता हूँ, कहा, जिसके लिये मैं इन्कार न कर सका। श्रीमद् राजचन्द्रके लेखोंकी प्रस्तावनामें क्या लिखूँ, यह विचार करते हुए मैंने सोचा कि मैंने जो उनके संस्मरणोंके थोड़ेसे प्रकरण यरवडा जेलमें लिखे हैं, यदि उन्हें दूँ तो दो काम सिद्ध होंगे। एक तो यह कि जो प्रयास मैंने जेलमें किया है वह अधूरा होनेपर भी केवल धर्मवृत्तिसे लिखा गया है, इसलिये उसका मेरे जैसे मुमुक्षुको लाभ होगा; और दूसरा यह है कि जिन्हें श्रीमद्का परिचय नहीं उन्हें उनका कुछ परिचय मिलेगा और उससे उनके बहुतसे लेखोंके समझनेमें मदद मिलेगी।

नीचेके प्रकरण अधूरे हैं, और मैं नहीं समझता कि मैं उन्हें पूर्ण कर सकूँगा। क्योंकि जो मैंने लिखा है, अवकाश मिलनेपर भी उससे आगे बहुत जानेकी मेरी इच्छा नहीं होती। इस कारण अपूर्ण अन्तिम प्रकरणको पूर्ण करके उसमें ही कुछ बातोंका समावेश कर देना चाहता हूँ।

इन प्रकरणोंमें एक विषयका विचार नहीं हुआ। उसे पाठकोंके समक्ष रख देना उचित समझता हूँ। कुछ लोग कहते हैं कि श्रीमद् पच्चीसवें तीर्थंकर हो गये हैं। कुछ ऐसा मानते हैं कि उन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है। मैं समझता हूँ कि ये दोनों ही मान्यतायें अयोग्य हैं। इन बातोंको माननेवाले या तो श्रीमद्को ही नहीं पहचानते, अथवा तीर्थंकर या मुक्त पुरुषकी वे व्याख्या ही दूसरी करते हैं। अपने प्रियतमके लिये भी हम सत्यको हलका अथवा सस्ता नहीं कर देते हैं। मोक्ष अमूल्य वस्तु है। मोक्ष आत्माकी अंतिम स्थिति है। मोक्ष बहुत मँहगी वस्तु है। उसे प्राप्त करनेमें, जितना प्रयत्न समुद्रके किनारे बैठकर एक सींक लेकर उसके ऊपर एक एक बूँद चढ़ा चढ़ाकर समुद्रको खाली करनेवालेको करना पड़ता है और धीरज रखना पड़ता है, उससे भी विशेष प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है। इस मोक्षका संपूर्ण वर्णन असम्भव है। तीर्थंकरको मोक्षके पहलेकी विभूतियाँ सहज ही प्राप्त होती हैं। इस देहमें मुक्त पुरुषको रोगादि कभी भी नहीं होते। निर्विकारी शरीरमें रोग नहीं होता। रागके बिना रोग नहीं होता। जहाँ विकार है वहाँ

* यह प्रस्तावना [illegible] अनुवादक.

राग रहता ही है; और जहाँ राग है वहाँ मोक्ष संभव नहीं। मुक्त पुरुषके योग्य वीतरागता या तीर्थंकरकी विभूतियाँ श्रीमद्को प्राप्त नहीं हुई थीं। परन्तु सामान्य मनुष्योंकी अपेक्षा श्रीमद्की वीतरागता और विभूतियाँ बहुत अधिक थीं, इसलिये हम उन्हें लौकिक भाषामें वीतराग और विभूतिमान कहते हैं। परन्तु मुक्त पुरुषके लिये मानी हुई वीतरागता और तीर्थंकरकी विभूतियोंको श्रीमद् न पहुँच सके थे, यह मेरा दृढ मत है। यह कुछ मैं एक महान् और पूज्य व्यक्तिके दोष बतानेके लिये नहीं लिखता। परन्तु उन्हें और सत्यको न्याय देनेके लिये लिखता हूँ। यदि हम संसारी जीव हैं तो श्रीमद् असंसारी थे। हमें यदि अनेक योनियोंमें भटकना पड़ेगा तो श्रीमद्को शायद एक ही जन्म बस होगा। हम शायद मोक्षसे दूर भागते होंगे तो श्रीमद् वायुवेगसे मोक्षकी ओर धँसे जा रहे थे। यह कुछ थोड़ा पुरुषार्थ नहीं। यह होनेपर भी मुझे कहना होगा कि श्रीमद्ने जिस अपूर्व पदका स्वयं सुंदर वर्णन किया है, उसे वे प्राप्त न कर सके थे। उन्होंने ही स्वयं कहा है कि उनके प्रवासमें उन्हें सहाराका मरुस्थल बीचमें आ गया और उसका पार करना बाकी रह गया। परन्तु श्रीमद् राजचन्द्र असाधारण व्यक्ति थे। उनके लेख उनके अनुभवके बिंदुके समान हैं। उनके पढ़नेवाले, विचारनेवाले और तदनुसार आचरण करनेवालोंको मोक्ष सुलभ होगा, उनकी कषायें मंद पड़ेंगी, और वे देहका मोह छोड़ कर आत्मार्थी बनेंगे।

इसके ऊपरसे पाठक देखेंगे कि श्रीमद्के लेख अधिकारीके लिये ही योग्य हैं। सब पाठक तो उसमें रस नहीं ले सकते। टीकाकारको उसकी टीकाका कारण मिलेगा। परन्तु श्रद्धावान तो उसमेंसे रस ही लूटेगा। उनके लेखोंमें सत् नितर रहा है, यह मुझे हमेशा भास हुआ है। उन्होंने अपना ज्ञान बतानेके लिये एक भी अक्षर नहीं लिखा। लेखकका अभिप्राय पाठकोंको अपने आत्मानंदमें सहयोगी बनानेका था। जिसे आत्मक्लेश दूर करना है, जो अपना कर्त्तव्य जाननेके लिये उत्सुक है, उसे श्रीमद्के लेखोंमेंसे बहुत कुछ मिलेगा, ऐसा मुझे विश्वास है, फिर भले ही कोई हिन्दूधर्मका अनुयायी हो या अन्य किसी दूसरे धर्मका।

ऐसे अधिकारीके, उनके थोड़ेसे संस्मरणोंकी तैयार की हुई सूची उपयोगी होगी, इस आशासे उन संस्मरणोंको इस प्रस्तावनामें स्थान देता हूँ।

आफ्रिकामें मैं कुछ क्रिश्चियन सज्जनोंके विशेष संबंधमें आया। उनका जीवन स्वच्छ था। वे चुस्त धर्मात्मा थे। अन्य धर्मियोंको क्रिश्चियन होनेके लिये समझाना उनका मुख्य व्यवसाय था। यद्यपि मेरा और उनका संबंध व्यावहारिक कार्यको लेकर ही हुआ था तो भी उन्होंने मेरी आत्माके कल्याणके लिये चिंता करना शुरू कर दिया। उस समय मैं अपना एक ही कर्त्तव्य समझ सका कि जबतक मैं हिन्दूधर्मके रहस्यको पूरी तौरसे न जान लूँ और उससे मेरी आत्माको असंतोष न हो जाय, तबतक मुझे अपना कुलधर्म कभी न छोड़ना चाहिये। इसलिये मैंने हिन्दूधर्म और अन्य धर्मोंकी पुस्तकें पढ़ना शुरू कर दीं। क्रिश्चियन और मुसलमानी पुस्तकें पढ़ीं। विलायतके अंग्रेज़ मित्रोंके साथ पत्रव्यवहार किया। उनके समक्ष अपनी शंकायें रक्खीं। तथा हिंदुस्तानमें जिनके ऊपर मुझे कुछ भी श्रद्धा थी उनसे पत्र-व्यवहार किया। उनमें रायचंद भाई मुख्य थे। उनके साथ तो मेरा अच्छा संबंध हो चुका था। उनके प्रति मान भी था, इसलिये उनसे जो मिल सके उसे लेनेका मैंने विचार किया। उसका फल यह हुआ कि मुझे शांति मिली। हिन्दूधर्ममें मुझे जो चाहिये वह मिल सकता है, ऐसा मनको विश्वास हुआ। मेरी इस स्थितिके जवाबदार रायचंद भाई हुए, इससे मेरा उनके प्रति कितना अधिक मान होना चाहिये, इसका पाठक लोग कुछ अनुमान कर सकते हैं।

इतना होनेपर भी मैंने उन्हें धर्मगुरु नहीं माना। धर्मगुरुकी तो मैं खोज किया ही करता हूँ, और अबतक मुझे सबके विषयमें यही जवाब मिला है कि 'ये नहीं'। ऐसा संपूर्ण गुरु प्राप्त करनेके लिये तो अधिकार चाहिये, वह मैं कहाँसे लाऊँ !

प्रकरण दूसरा

रायचन्द भाईके साथ मेरी भेंट जौलाई सन् १८९१ में उस दिन हुई जब मैं विलायतसे बम्बई वापिस आया। इन दिनों समुद्रमें तूफान आया करता है, इस कारण जहाज़ रातको देरीसे पहुँचा। मैं डाक्टर—बैरिस्टर—और अब रंगूनके प्रख्यात झवेरी प्राणजीवनदास मेहताके घर उतरा था। रायचन्द भाई उनके बड़े भाईके जमाई होते थे। डाक्टर साहबने ही परिचय कराया। उनके दूसरे बड़े भाई झवेरी रेवाशंकर जगजीवनदासकी पहिचान भी उसी दिन हुई। डाक्टर साहबने रायचन्द भाईका 'कवि' कहकर परिचय कराया और कहा—'कवि होते हुए भी आप हमारे साथ व्यापारमें हैं, आप ज्ञानी और शतावधानी हैं'। किसीने सूचना की कि मैं उन्हें कुछ शब्द सुनाऊँ, और वे शब्द चाहे किसी भी भाषाके हों, जिस क्रमसे मैं बोलूँगा उसी क्रमसे वे दुहरा जायेंगे। मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ। मैं तो उस समय जवान और विलायतसे लौटा था; मुझे भाषा-ज्ञानका भी अभिमान था। मुझे विलायतकी हवा भी कुछ कम न लगी थी। उन दिनों विला-यतसे आया मानों आकाशसे उतरा। मैंने अपना समस्त ज्ञान उलट दिया, और अलग अलग भाषाओंके शब्द पहले तो मैंने लिख लिये—क्योंकि मुझे वह क्रम कहाँ याद रहता था ! और बादमें उन शब्दोंको मैं बाँच गया। उसी क्रमसे रायचन्द भाईने धीरेसे

एकके बाद एक सब शब्द कह सुनाये। मैं राजी हुआ, चकित हुआ और कविकी स्मरण-शक्तिके विषयमें मेरा उच्च विचार हुआ। विलायतकी हवा कम पड़नेके लिये यह सुन्दर अनुभव हुआ कहा जा सकता है।

कविको अंग्रेजी ज्ञान बिलकुल न था। उस समय उनकी उमर पच्चीससे अधिक न थी। गुजराती पाठशालामें भी उन्होंने थोड़ा ही अभ्यास किया था। फिर भी इतनी शक्ति, इतना ज्ञान और आसपाससे इतना उनका मान! इससे मैं मोहित हुआ। स्मरणशक्ति पाठशालामें नहीं बिकती, और ज्ञान भी पाठशालाके बाहर, यदि इच्छा हो—जिज्ञासा हो—तो मिलता है, तथा मान पानेके लिये विलायत अथवा कहीं भी नहीं जाना पड़ता; परन्तु गुणको मान चाहिये तो मिलता है—यह पदार्थपाठ मुझे बंबई उतरते ही मिला।

कविके साथ यह परिचय बहुत आगे बढ़ा। स्मरणशक्ति बहुत लोगोंकी तीव्र होती है, इसमें आश्चर्यकी कुछ बात नहीं। शास्त्रज्ञान भी बहुतोंमें पाया जाता है। परन्तु यदि वे लोग संस्कारी न हों तो उनके पास फूटी कौड़ी भी नहीं मिलती। जहाँ संस्कार अच्छे होते हैं, वहीं स्मरणशक्ति और शास्त्रज्ञानका संबंध शोभित होता है, और जगत्‌को शोभित करता है। कवि संस्कारी ज्ञानी थे।

प्रकरण तीसरा

वैराग्य

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे, क्यारे थईशुं बाह्यान्तर निर्ग्रंथ जो,
सर्व संबंधनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने, विचरशुं कब महत्पुरुषने पंथजो!
सर्व भावथी औदासीन्य वृत्ति करी, मात्र देह ते संयमहेतु होय जो;
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहि, देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो—अपूर्व०

रायचन्द भाईकी १८ वर्षकी उमरके निकले हुए अपूर्व उद्गारोंकी ये पहली दो कड़ियाँ हैं।

जो वैराग्य इन कड़ियोंमें छलक रहा है, वह मैंने उनके दो वर्षके गाढ़ परिचयसे प्रत्येक क्षणमें उनमें देखा है। उनके लेखोंकी एक असाधारणता यह है कि उन्होंने स्वयं जो अनुभव किया वही लिखा है। उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं। दूसरेके ऊपर छाप डालनेके लिये उन्होंने एक लाइन भी लिखी हो यह मैंने नहीं देखा। उनके पास हमेशा कोई न कोई धर्मपुस्तक और एक कोरी कापी पड़ी ही रहती थी। इस कापीमें वे अपने मनमें जो विचार आते उन्हें लिख लेते थे। ये विचार कभी गद्यमें और कभी पद्यमें होते थे। इसी तरह 'अपूर्व अवसर' आदि पद भी लिखा हुआ होना चाहिये।

खाते, बैठते, सोते और प्रत्येक क्रिया करते हुए उनमें वैराग्य तो होता ही था। किसी समय उन्हें इस जगत्‌के किसी भी वैभवपर मोह हुआ हो यह मैंने नहीं देखा।

उनका रहन-सहन मैं आदरपूर्वक परन्तु सूक्ष्मतासे देखता था। भोजनमें जो मिले वे उसीसे संतुष्ट रहते थे। उनकी पोशाक सादी थी। कुर्ता, अंगरखा, खेस, सिल्कका दुपट्टा और धोती यही उनकी पोशाक थी। तथा ये भी कुछ बहुत साफ या इस्त्री किये हुए

रहते हों, यह मुझे याद नहीं। ज़मीनपर बैठना और कुरसीपर बैठना उन्हें दोनों ही समान थे। सामान्य रीतिसे अपनी दुकानमें वे गद्दीपर बैठते थे।

उनकी चाल धीमी थी, और देखनेवाला समझ सकता था कि चलते हुए भी वे अपने विचारमें मग्न हैं। आँखमें उनकी चमत्कार था। वे अत्यंत तेजस्वी थे। विह्वलता ज़रा भी न थी। आँखमें एकाग्रता चित्रित थी। चेहरा गोलाकार, होंठ पतले, नाक न नोकदार और न चपटी, शरीर दुर्बल, कद मध्यम, वर्ण श्याम, और देखनेमें वे शान्त मूर्ति थे। उनके कंठमें इतना अधिक माधुर्य था कि उन्हें सुननेवाले थकते न थे। उनका चेहरा हँसमुख और प्रफुल्लित था। उसके ऊपर अंतरानंदकी छाया थी। भाषा उनकी इतनी परिपूर्ण थी कि उन्हें अपने विचार प्रगट करते समय कभी कोई शब्द ढूँढ़ना पड़ा हो, यह मुझे याद नहीं। पत्र लिखने बैठते तो शायद ही शब्द बदलते हुए मैंने उन्हें देखा होगा। फिर भी पढ़नेवाले को यह न मालूम होता था कि कहीं विचार अपूर्ण हैं, अथवा वाक्य-रचना त्रुटित है, अथवा शब्दोंके चुनावमें कमी है।

यह वर्णन संयमीके विषयमें संभव है। बाह्याडंबरसे मनुष्य वीतरागी नहीं हो सकता। वीतरागता आत्माकी प्रसादी है। यह अनेक जन्मोंके प्रयत्नसे मिल सकती है, ऐसा हर मनुष्य अनुभव कर सकता है। रागोंको निकालनेका प्रयत्न करनेवाला जानता है कि राग रहित होना कितना कठिन है। यह राग रहित दशा कविकी स्वाभाविक थी, ऐसी मेरे ऊपर छाप पड़ी थी।

मोक्षकी प्रथम सीढ़ी वीतरागता है। जबतक जगतकी एक भी वस्तुमें मन रमा है तबतक मोक्षकी बात कैसे अच्छी लग सकती है? अथवा अच्छी लगती भी हो तो केवल कानोंको ही—ठीक वैसे ही जैसे कि हमें अर्थके समझे बिना किसी संगीतका केवल स्वर ही अच्छा लगता है। ऐसी केवल कर्णप्रिय क्रीड़ामेंसे मोक्षका अनुसरण करनेवाले आचरणके आनेमें बहुत समय बीत जाता है। आतर वैराग्यके बिना मोक्षकी लगन नहीं होती। ऐसे वैराग्यकी लगन कविमें थी।

प्रकरण चौथा

व्यापारी जीवन

*"वणिक तेहनुं नाम जेह जूठुं नव बोले, वणिक तेहनुं नाम, तोल ओछुं नव तोले,
वणिक तेहनुं नाम बापे बोल्युं ते पाळे, वणिक तेहनुं नाम व्याजसहित धन वाळे,
विवेक तोल ए वणिकनुं, सुलतान तोल ए शाह छे,
वेपार चूके जो वाणीओ, दुःख दावानळ थाय छे।"

—सामळभट्ट

* बनिया उसे कहते हैं जो कभी झूठ नहीं बोलता, बनिया उसे कहते हैं जो कम नहीं तोलता; बनिया उसका नाम है जो अपने पिताका वचन निभाता है; बनिया उसका नाम है जो ब्याजसहित मूलधन चुकाता है। बनियेकी तोल विवेक है; शाह सुल्तानकी तोलका होता है। यदि बनिया अपने बनिजको चूक जाय तो संसारकी स्थिति बिगड़ जाय।

—अनुवादक.

सामान्य मान्यता ऐसी है कि व्यवहार अथवा व्यापार और परमार्थ अथवा धर्म ये दोनों अलग अलग विरोधी वस्तुएँ हैं। व्यापारमें धर्मको घुसेड़ना पागलपन है। ऐसा करनेसे दोनों बिगड़ जाते हैं। यह मान्यता यदि मिथ्या न हो तो अपने भाग्यमें केवल निराशा ही लिखी है, क्योंकि ऐसी एक भी वस्तु नहीं, ऐसा एक भी व्यवहार नहीं जिससे हम धर्मको अलग रख सकें।

धार्मिक मनुष्यका धर्म उसके प्रत्येक कार्यमें झलकना ही चाहिये, यह रायचंद भाईने अपने जीवनमें बताया था। धर्म कुछ एकादशीके दिन ही, पर्यूषणमें ही, ईदके दिन ही, या रविवारके दिन ही पालना चाहिये; अथवा उसका पालन मंदिरोंमें, देरासरोंमें, और मस्जिदोंमें ही होता है और दूकान या दरबारमें नहीं होता, ऐसा कोई नियम नहीं। इतना ही नहीं, परन्तु यह कहना धर्मको न समझनेके बराबर है, यह रायचन्द भाई कहते, मानते और अपने आचारमें बताते थे।

उनका व्यापार हीरे जवाहरातका था। वे श्रीरेवाशंकर जगजीवन झवेरीके साझी थे। साथमें वे कपड़ेकी दुकान भी चलाते थे। अपने व्यवहारमें सम्पूर्ण प्रकारसे वे प्रामाणिकता बताते थे, ऐसी उन्होंने मेरे ऊपर छाप डाली थी। वे जब सौदा करते तो मैं कभी अनायास ही उपस्थित रहता। उनकी बात स्पष्ट और एक ही होती थी। 'चालाकी' सरीखी कोई वस्तु उनमें मैं न देखता था। दूसरेकी चालाकी वे तुरंत ताड़ जाते थे; वह उन्हें असह्य मालूम होती थी। ऐसे समय उनकी भ्रकुटि भी चढ़ जाती, और आँखोंमें लाली आ जाती, यह मैं देखता था।

धर्मकुशल लोग व्यवहारकुशल नहीं होते, इस वहमको रायचंद भाईने मिथ्या सिद्ध करके बताया था। अपने व्यापारमें वे पूरी सावधानी और होशियारी बताते थे। हीरे जवाहरातकी परीक्षा वे बहुत बारीकीसे कर सकते थे। यद्यपि अंग्रेजीका ज्ञान उन्हें न था फिर भी पेरिस वगैरहके अपने आढ़तियोंकी चिट्ठियों और तारोंके मर्मको वे फौरन समझ जाते थे, और उनकी कला समझनेमें उन्हें देर न लगती। उनके जो तर्क होते थे, वे अधिकांश सच्चे ही निकलते थे।

इतनी सावधानी और होशियारी होनेपर भी वे व्यापारकी उद्विग्नता अथवा चिंता न रखते थे। दुकानमें बैठे हुए भी जब अपना काम समाप्त हो जाता, तो उनके पास पड़ी हुई धार्मिक पुस्तक अथवा कापी, जिसमें वे अपने उद्गार लिखते थे, खुल जाती थी।। मेरे जैसे जिज्ञासु तो उनके पास रोज आते ही रहते थे और उनके साथ धर्म-चर्चा करनेमें हिचकते न थे। 'व्यापारके समयमें व्यापार और धर्मके समयमें धर्म' अर्थात् एक समयमें एक ही काम होना चाहिये, इस सामान्य लोगोंके सुन्दर नियमका कवि पालन न करते थे। वे शतावधानी होकर इसका पालन न करें तो यह हो सकता है, परन्तु यदि और लोग उसका उल्लंघन करने लगें तो जैसे दो घोड़ोंपर सवारी करनेवाला गिरता है, वैसे ही वे भी अवश्य गिरते। सम्पूर्ण धार्मिक और वीतरागी पुरुष भी जिस क्रियाको जिस समय करता हो, उसमें ही लीन हो जाय, यह योग्य है; इतना ही नहीं परन्तु उसे यही शोभा देता है। यह उसके योगकी निशानी है। इसमें धर्म है। व्यापार अथवा इसी तरहकी जो कोई

श्रीमद् राजचंद्र.

जन्म, ववाणीआ | देहविलय, राजकोट

राजचन्द्र और उनका संक्षिप्त परिचय

राजचन्द्रजीका जन्म संवत् १९२४ (सन् १८६७) कार्तिक सुदी पूर्णिमा रविवारके दिन, काठियावाड़—मोरवी राज्यके अन्तर्गत ववाणीआ गाँवमें, दशाश्रीमाली वैश्य जातिमें हुआ था। इनके पिताका नाम रवजीभाई पंचाण और माताका नाम देवबाई था। राजचन्द्रके एक भाई, चार बहन, दो पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। भाईका नाम मनसुखलाल; बहनोंका नाम शिवकुँवरबाई, झबकबाई, मनाबाई, और जीजीबाई; पुत्रोंका नाम छगनलाल और रतिलाल; तथा पुत्रियोंका नाम जवलबाई और काशीबाई था। ये सब लोग राजचन्द्रजीकी जीवित अवस्थामें मौजूद थे। इस समय उनकी केवल एक बहन झबकबाई और एक पुत्री जवलबाई मौजूद हैं।

तेरह वर्षकी वयचर्या

बालक राजचन्द्रकी सात वर्षतककी बाल्यावस्था नितान्त खेलकूदमें बीती थी। उस दशाका दिग्दर्शन कराते हुए उन्होंने स्वयं अपनी आत्मचर्यामें लिखा है:—"उस समयका केवल इतना मुझे याद पड़ता है कि मेरी आत्मामें विचित्र कल्पनायें (कल्पनाके स्वरूप अथवा हेतुको समझे बिना ही) हुआ करती थीं। खेलकूदमें भी विजय पानेकी और राजाके समान ऊँची पदवी प्राप्त करनेकी मेरी परम अभिलाषा रहा करती थी। वस्त्र पहिननेकी, स्वच्छ रहनेकी, खाने पीनेकी, सोने बैठनेकी मेरी सभी दशायें विदेही थीं, फिर भी मेरा हृदय कोमल था। वह दशा अब भी मुझे याद आती है। यदि आजका विवेकयुक्त ज्ञान मुझे उस अवस्थामें होता तो मुझे मोक्षके लिए बहुत अधिक अभिलाषा न रह जाती। ऐसी निरपराध दशा होनेसे वह दशा मुझे पुनः पुनः याद आती है।"

राजचन्द्रजीका सात वर्षसे ग्यारह वर्षतकका समय शिक्षा ग्रहण करनेमें बीता था। उनकी स्मृति इतनी विशुद्ध थी कि उन्हें एक बार ही पाठका अवलोकन करना पड़ता था। [illegible]

जुदे जुदे अवतारसम्बन्धी चमत्कारोंको सुना था। जिससे इनकी उन अवतारोंमें भक्ति और प्रीति उत्पन्न हो गई थी; और इन्होंने रामदासजी नामक साधुसे बालकंठी बँधवाई थी। ये नित्य ही कृष्णके दर्शन करने जाते; उनकी कथाएँ सुनते; उनके अवतारोंके चमत्कारोंपर बारबार मुग्ध होते और उन्हें परमात्मा मानते थे। " इस कारण उनके रहनेका स्थल देखनेकी मुझे परम उत्कंठा थी। मैं उनके सम्प्रदायका महंत अथवा त्यागी होऊँ तो कितना आनन्द मिले, बस यही कल्पना हुआ करती थी। तथा जब कभी किसी धन-वैभवकी विभूति देखता तो समर्थ वैभवशाली होनेकी इच्छा हुआ करती थी। उसी बीचमें प्रवीणसागर नामक ग्रन्थ भी मैं पढ़ गया था। यद्यपि उसे अधिक समझा तो न था, फिर भी स्त्रीसम्बन्धी सुखमें लीन होऊँ और निरुपाधि होकर कथाएँ श्रवण करता होऊँ, तो कैसी आनन्द दशा हो! यही मेरी तृष्णा रहा करती थी। "[1]

गुजराती भाषाकी पाठमालामें राजचन्द्रजीने ईश्वरके जगत्कर्तृत्वके विषयमें पढ़ा था। इससे उन्हें यह बात दृढ हो गई थी कि जगत्का कोई भी पदार्थ बिना बनाये नहीं बन सकता। इस कारण उन्हें जैन लोगोंसे स्वाभाविक जुगुप्सा रहा करती थी। वे लिखते हैं:—" मेरी जन्मभूमिमें जितने वणिक् लोग रहते थे उन सबकी कुल-श्रद्धा यद्यपि भिन्न भिन्न थी, फिर भी वह थोड़ी बहुत प्रतिमापूजनके अभावके ही समान थी। इस कारण उन लोगोंको ही मुझे सुधारना था। लोग मुझे पहिलेसे ही समर्थ शक्तिवाला और गाँवका प्रसिद्ध विद्यार्थी गिनते थे, इसलिये मैं अपनी प्रशंसाके कारण जानबूझकर ऐसे मंडलमें बैठकर अपनी चपलशक्ति दिखानेका प्रयत्न करता था। वे लोग कण्ठी बाँधनेके कारण बारबार मेरी हास्यपूर्वक टीका करते, तो भी मैं उनसे वादविवाद करता और उन्हें समझानेका प्रयत्न किया करता था। "[2]

धीरे धीरे राजचन्द्रजीको जैन लोगोंके प्रतिक्रमणसूत्र इत्यादि पुस्तकें पढ़नेको मिलीं। 'उनमें बहुत विनयपूर्वक जगत्के समस्त जीवोंसे मित्रताकी भावना व्यक्त की गई थी।' इससे उनकी प्रीति उनमें भी हो गई और पहलेमें भी रही। धीरे धीरे यह समागम बढ़ता गया। फिर भी आचार-विचार तो उन्हें वैष्णवोंके ही प्रिय थे, और साथ ही जगत्कर्त्ताकी भी श्रद्धा थी। यह राजचन्द्रजीकी तेरह वर्षकी वयचर्या है। इसके बाद, वे लिखते हैं:—"मैं अपने पिताकी दुकानपर बैठने लगा था। अपने अक्षरोंकी छटाके कारण कच्छ दरबारके महलमें लिखनेके लिये जब जब बुलाया जाता था, तब तब वहाँ जाता था। दुकानपर रहते हुए मैंने नाना प्रकारकी मौज-मजायें की हैं, अनेक पुस्तकें पढ़ी हैं, राम आदिके चरित्रोंपर कवितायें रची हैं, सांसारिक तृष्णायें की हैं, तो भी किसीको मैंने कम अधिक भाव नहीं कहा, अथवा किसीको कम ज्यादा तोलकर नहीं दिया; यह मुझे बराबर याद आ रहा है "।[3]

लघुवयमें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति

राजचन्द्र विशेष पढ़े लिखे न थे। उन्होंने संस्कृत, प्राकृत आदिका कोई नियमित अभ्यास नहीं किया था; परंतु वे जैन आगमोंके एक असाधारण वेत्ता और मर्मज्ञ थे। उनकी क्षयोपशमशक्ति इतनी

१ ६४-१७४-२३. २ वही. ३ ६४-१७५-२३.

४ राजचन्द्रजीने जोग्यता (योग्यता), दुलभ (दुर्लभ), सजित (सर्जित), अभिलाषा (जिज्ञासाके स्थानपर), इत्त (मन) आदि अनेक अशुद्ध शब्दोंका अपने लेखोंमें प्रयोग किया है। इसके अलावा उन्होंने जो प्राकृत अथवा संस्कृतकी गाथायें आदि उद्धृत की हैं, वे भी बहुतसे स्थलोंपर अशुद्ध हैं। इससे भी मालूम होता है कि राजचन्द्रजीका संस्कृत और प्राकृतका अभ्यास बहुत साधारण होना चाहिये.

५ एक जगह राजचन्द्र यशोविजयजीकी छद्मस्थ अवस्थाके विषयमें लिखते हैं:—" यशोविजयजीने ग्रंथ लिखते हुए इतना अखंड उपयोग रक्खा था कि वे प्रायः किसी जगह भी न भूले थे। तो भी छद्मस्थ अवस्थाके कारण डेढ़सौ गाथाके स्तवनमें ७ वें ठाणांगसूत्रकी जो साक्षी दी है, वह मिलती नहीं। वह श्रीभगवतीजीके पाचवें शतकको लक्ष्य करके दी हुई मालूम होती है— ८६४-७८२-३१.

प्रधान ही होती थीं[1]। 'अमूल्यतत्त्वविचार' नामक काव्यमें राजचन्द्रजीने समस्त तत्त्वज्ञानका रहस्य निम्न पदमें कितनी सुन्दरतासे अभिव्यक्त किया है:—

लक्ष्मी अने अधिकार वधतां शुं वध्युं ते तो कहो ! शुं कुटुंब के परिवारथी वधवापणुं ए नय ग्रहो।
वधवापणुं संसारनुं नरदेहने हारी जवो। एनो विचार नहीं अहो हो ! एक पळ तमने हवो॥

—अर्थात् यदि तुम्हारी लक्ष्मी और सत्ता बढ़ गई, तो कहो तो सही कि तुम्हारा बढ़ ही क्या गया ? क्या कुटुम्ब और परिवारके बढ़नेसे तुम अपनी बढ़ती मानते हो ? हर्गिज़ ऐसा मत मानो, क्योंकि संसारका बढ़ना मानों मनुष्यदेहको हार जाना है। अहो ! इसका तुमको एक पलभर भी विचार नहीं होता !

निस्पृहता

इतना सब होनेपर भी राजचन्द्रजीको मान, लौकिक बड़ाई आदि प्राप्त करनेकी थोड़ी भी महत्त्वाकांक्षा न थी। यदि वे चाहते तो अवधान, ज्योतिष आदिके द्वारा अवश्य ही धन और यशके यथेच्छ भोगी हो सकते थे, अपनी प्रतिभासे जरूर "एक प्रतिभाशाली जज अथवा वाइसरॉय बन सकते थे;"[2] पर इस ओर उनका किंचिन्मात्र भी लक्ष न था। इन बातोंको आत्मोन्नतिके सामने वे 'अति तुच्छ' समझते थे। वे तो 'चाहे समस्त जगत् सोनेका क्यों न हो जाय, उसे तृणवत् ही मानते थे।'[3] 'सिद्धियोग आदिसे निज अथवा परसंबंधी सांसारिक साधन न करनेकी उन्होंने प्रतिज्ञा ले रक्खी थी।'[4] उनका दृढ़ निश्चय था कि 'जो कोई अपनी जितनी पौद्गलिक बड़ाई चाहता है, उसकी उतनी ही अधोगति होती है'[5]।

गृहस्थाश्रममें प्रवेश

राजचन्द्रजीने संवत् १९४४ माघ सुदी १२ को उन्नीस वर्षकी अवस्थामें गांधीजीके परममित्र स्वर्गीय रेवाशंकर जगजीवनदास मेहताके बड़े भाई पोपटलालकी पुत्री झबकबाईके साथ विवाह किया। दुर्भाग्यसे राजचन्द्रजीके विवाहविषयक कुछ विशेष विगत नहीं मालूम होती। केवल इतना ही ज्ञात होता है कि राजचन्द्र कन्यापक्षवालोंके 'आग्रहसे' उनके प्रति 'सम्यभाव' होनेके कारण 'सब कुछ पड़ा छोड़कर' पौषकी १३ या १४ के दिन 'ववाणिया'से बम्बईसे पाणिग्रहण करनेके लिये रवाना होते हैं। तथा इसी पत्रमें राजचन्द्र अपने विवाहमें पुरानी रूढ़ियोंका अनुकरण न करनेके लिये दृढ़तापूर्वक भार देते हुए पूछते हैं—"क्या उनके हृदयमें ऐसी योजना है कि वे शुभ प्रसंगमें सद्विवेकी और सद्रीतिसे प्रतिकूल रह सकते हैं, जिससे परस्पर कुटुम्बमें क्लेश उत्पन्न हो

---

१ कविताके विषयमें राजचन्द्रजीने लिखा है:—कविताका कविताके लिये आराधन करना योग्य नहीं—संसारके लिये आराधन करना योग्य नहीं। यदि उसका प्रयोजन भगवान्के भजनके लिये—आत्मकल्याणके लिये हो तो जीवको उस गुणकी क्षयोपशमताका फल मिलता है—३०६–३६३–२७.

२ ४–६७–१६.

३ अहमदाबादमें राजचन्द्र-जयंतीके अवसरपर गांधीजीके उद्गार.

४ वे लिखते हैं:—उसके यथार्थ बोधकी उत्पत्ति हुई है तबसे किसी भी प्रकारके सिद्धियोगसे निजसंबंधी अथवा परसंबंधी सांसारिक साधन न करनेकी प्रतिज्ञा ले रक्खी है, और यह याद नहीं पड़ता कि इस प्रतिज्ञामें अबतक एक पलके लिये भी मंदता आई हो—३७०–२८०–२५.

५ अपनी डायरीमें उन्होंने अपनी निस्पृहताका निम्न शब्दोंमें वर्णन किया है:—

Away ye thoughts, ye desires which concern the transient, evanescent fame or riches of this world. Whatever be the state of this body, it concerns Me not.—अर्थात् हे अनित्य और क्षणभंगुर कीर्ति और सम्पत्ति सम्बन्धिक इच्छाओ ! दूर हटो। इस शरीरकी कैसी भी दशा क्यों न हो, उससे मेरा कोई संबंध नहीं.

सके ? क्या आप ऐसी योजना करेंगे ? क्या कोई दूसरा ऐसा करेगा ? यह विचार पुनः पुनः हृदयमें आया करता है। इसलिये साधारण विवेकी जिन विचारोंको हवाई समझते हैं, तथा जिस वस्तु और जिस पदकी प्राप्ति आज राज्यश्री चक्रवर्ती विक्टोरियाको भी दुर्लभ और सर्वथा असंभव है, उन विचारोंकी, उस वस्तुकी और उस पदकी ओर सम्पूर्ण इच्छा होनेके कारण यह लिखा है। यदि इससे कुछ लेशमात्र भी प्रतिकूल हो तो उस पदाभिलाषी पुरुषके चरित्रको बड़ा कलंक लगता है।"[1] इससे इतना तो अवश्य मालूम होता है कि राजचन्द्रजी केवल एक अध्यात्मज्ञानी ही नहीं, परन्तु एक महान् सुधारक भी थे।

गृहस्थाश्रममें उदासीनभाव

यहाँ यह बात खास लक्ष्यमें रखने योग्य है कि राजचन्द्रजीके गृहस्थाश्रममें पदार्पण करनेपर भी, उन्हें स्त्री आदि पदार्थ जरा भी आकर्षित नहीं कर सके। उनकी अभी भी यही मान्यता रही कि "कुटुम्बरूपी काजलकी कोठड़ीमें निवास करनेसे संसार बढ़ता है। उसका कितना भी सुधार करो तो भी एकांतवाससे जितना संसारका क्षय हो सकता है, उसका सौंवा भाग भी उस काजलके घरमें रहनेसे नहीं हो सकता; क्योंकि वह कषायका निमित्त है और अनादिकालसे मोहके रहनेका पर्वत है।"[2] अतएव श्रीमद् राजचन्द्र विरक्तभावसे, उदासीनभावसे, नववधूमें रागद्वेषरहित होकर, 'सामान्य प्रीति-अप्रीति' पूर्वक, पूर्वोपार्जित कर्मोंका भोग समझकर ही अपना गृहस्थाश्रम चलाते हैं। अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—"'यदि दुखिया मनुष्योंका प्रदर्शन किया जाय तो निश्चयसे मैं उनके सबसे अग्रभागमें आ सकता हूँ।' मेरे इन वचनोंको पढ़कर कोई विचारमें पड़कर भिन्न भिन्न कल्पनायें न करने लग जाय, अथवा इसे मेरा भ्रम न मान बैठे, इसलिए इसका समाधान यहीं संक्षेपमें लिखे देता हूँ।

तुम मुझे स्त्रीसंबंधी दुःख नहीं मानना, लक्ष्मीसंबंधी दुःख नहीं मानना, पुत्रसंबंधी दुःख नहीं मानना, कीर्तिसंबंधी दुःख नहीं मानना, भयसंबंधी दुःख नहीं मानना, शरीरसंबंधी दुःख नहीं मानना, अथवा अन्य सर्व वस्तुसंबंधी दुःख नहीं मानना; मुझे किसी दूसरी ही तरहका दुःख है। वह दुःख वातका नहीं, कफका नहीं, पित्तका नहीं, शरीरका नहीं, वचनका नहीं, मनका नहीं, अथवा गिनो तो इन सभीका है, और न गिनो तो एकका भी नहीं। परन्तु मेरी विज्ञप्ति उस दुःखको न गिननेके लिए ही है, क्योंकि इसमें कुछ और ही मर्म अन्तर्हित है।

इतना तो तुम जरूर मानना कि मैं बिना दिवानापनेके यह कलम चला रहा हूँ। मैं राजचन्द्र नामसे कहा जानेवाला ववाणीआ नामके एक छोटेसे गाँवका रहनेवाला, लक्ष्मीमें साधारण होनेपर भी आर्यरूपसे माना जानेवाला दशाश्रीमाली वैश्यका पुत्र गिना जाता हूँ। मैंने इस देहमें मुख्यरूपसे दो भव किये हैं, गौणका कुछ हिसाब नहीं।

छुटपनकी समझमें कौन जाने कहाँसे ये बड़ी बड़ी कल्पनायें आया करती थीं। सुखकी अभिलाषा भी कुछ कम न थी, और सुखमें भी महल, बाग, बगीचे, स्त्री तथा रागरंगोंके भी कुछ कुछ ही मनोरथ थे, किंतु सबसे बड़ी कल्पना तो इस बातकी थी कि यह सब क्या है ? इस कल्पनाका एक बार तो ऐसा फल निकला कि न पुनर्जन्म है, न पाप है, और न पुण्य है। सुखसे रहना और संसारका भोग करना, बस यही कृतकृत्यता है। इसमेंसे दूसरी झंझटोंमें न पड़कर धर्मकी वासनायें भी निकाल डालीं। किसी भी धर्मके लिए थोड़ा बहुत भी मान अथवा श्रद्धाभाव न रहा, किंतु थोड़ा समय बीतनेके बाद इसमेंसे कुछ और ही हो गया। जैसा होनेकी मैंने कल्पना भी न की थी, तथा जिसके लिए मेरे विचारमें आनेवाला मेरा कोई प्रयत्न भी न था, तो भी अचानक फेरफार हुआ। कुछ दूसरा ही

---

१ १२-१२०,१-१९.
२ ८१-१८२-२३.

अनुभव हुआ; और यह अनुभव ऐसा था जो प्रायः न शास्त्रोंमें ही लिखा था, और न जड़वादियोंकी कल्पनामें ही था। यह अनुभव क्रमसे बढ़ा, और बढ़कर अब एक 'तू ही तू ही' की जाप करता है।

अब यहाँ समाधान हो जायगा। यह बात अवश्य आपकी समझमें आ जायगी कि मुझे भूतकालमें न भोगे हुए अथवा भविष्यकालीन भय आदिके दुःखमेंसे एक भी दुःख नहीं है। स्त्रीके सिवाय कोई दूसरा पदार्थ खास करके मुझे नहीं रोक सकता। दूसरा ऐसा कोई भी संसारी पदार्थ नहीं है, जिसमें मेरी प्रीति हो, और मैं किसी भी भयसे अधिक मात्रामें घिरा हुआ भी नहीं हूँ। स्त्रीके संबंधमें मेरी अभिलाषा कुछ और है, और आचरण कुछ और है। यद्यपि एक तरहसे कुछ कालतक उसका सेवन करना मान्य रक्खा है, फिर भी मेरी तो वहाँ सामान्य प्रीति-अप्रीति है। परन्तु दुःख यही है कि अभिलाषा न होनेपर भी पूर्वकर्म मुझे क्यों घेरे हुए हैं? इतनेसे ही इसका अन्त नहीं होता। परन्तु इसके कारण अच्छे न लगनेवाले पदार्थोंको देखना, सूँघना और स्पर्श करना पड़ता है, और इसी कारणसे प्रायः उपाधिमें रहना पड़ता है। महारंभ, महापरिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा ऐसी ही अन्य बातें जगतमें कुछ भी नहीं, इस प्रकारका इनको भुलादेनेका ध्यान करनेसे परमानंद रहता है। उसको उपरोक्त कारणोंसे देखना पड़ता है। यही महाखेदकी बात है। अंतरंगचर्या भी कहीं प्रगट नहीं की जा सकती, ऐसे पात्रोंकी मुझे दुर्लभता हो गई है। यही बस मेरा दुःखीपना कहा जा सकता है।"[1]

स्त्रीसंबंधी विचार

एक दूसरी बात यहाँ खास ध्यान आकर्षित करनेवाली यह है कि राजचन्द्र गृहस्थाश्रममें उदासीन रहते हुए भी भारतके बहुसंख्यक ऋषि मुनियोंकी तरह स्त्रीको हेय अथवा तुच्छ नहीं समझते। परन्तु वे 'गृहस्थाश्रमको विवेकी और कुटुम्बको स्वर्ग बनाने' की भावना रखते हुए स्त्रीके प्रति पर्याप्त सम्मान प्रकट करते हैं, और उसे सहधर्मिणी समझकर सदाचारी-ज्ञान देनेका अनुरोध करते हैं[2]। वे लिखते हैं—"स्त्रीमें कोई दोष नहीं। परन्तु दोष तो अपनी आत्मामें है।...स्त्रीको सदाचारी-ज्ञान देना चाहिये। उसे एक सत्संगी समझना चाहिये। उसके साथ धर्म-बहनका संबंध रखना चाहिये। अंतःकरणसे किसी भी तरह मा बहनमें और उसमें अन्तर न रखना चाहिये। उसके शारीरिक भागका किसी भी तरह मोहनीय कर्मके वशसे उपभोग किया जाता है। उसमें योगकी ही स्मृति रखनी चाहिये। 'यह है तो मैं कैसे सुखका अनुभव करता हूँ!' यह भूल जाना चाहिये (तात्पर्य यह है कि यह मानना असत् है)। जैसे दो मित्र परस्पर साधारण चीजका उपभोग करते हैं, वैसे ही उस वस्तु (पत्नी) का अभेद उपभोग कर पूर्वबंधनसे छूट जाना चाहिये। उसके साथ जैसे बने वैसे निर्विकारी बात करना चाहिये—विकार चेष्टाका कायासे अनुभव करते हुए भी उपयोग निर्मलतर ही रखना चाहिये। उससे कोई संतानोत्पत्ति हो तो वह एक साधारण वस्तु है—यह समझकर ममत्व न करना चाहिये।"[3]

---

१ ५५-१६३-२१.

२ स्त्रियोंके लिये राजचन्द्रजीने स्त्रीनीतिबोधक नामक स्वतंत्र पद्यग्रंथ भी लिखा है, जिसमें उन्होंने स्त्रीशिक्षा आदि विषयोंका प्रतिपादन किया है—देखो आगे.

३ गुजराती मूल पत्र इस तरह है:—"स्त्रीने सदाचारी ज्ञान आपवुं। एक सत्संगी तेने गणवी। तेनाथी धर्मबहेननो संबंध राखवो। अंतःकरणथी कोईपण प्रकारे मा बहेन अने तेमां अंतर न राखवो। तेना शारीरिक भागनो कोईपण रीते मोहकर्मने वशे उपभोग लेवाय छे, त्यां योगनीज स्मृति राखी 'आ छे तो हुं केवुं सुख अनुभवुं छुं' ए भूली जवुं (तात्पर्य ते मानवुं असत् छे)। मित्र मित्र साधारण चीजनो परस्पर उपयोग लईए छीए, तेम ते वस्तु (ते पत्नी) नो अभेद उपभोग लई पूर्वबन्धनथी छूटी जवुं। तेनाथी जेम बने तेम निर्विकारी वात करवी—विकारचेष्टानो कायाए अनुभव करतां पण उपयोग निर्मळ ज राखवो। तेनाथी कंई संतानोत्पत्ति थाय तो ते एक साधारण वस्तु छे एम समजी ममत्व न करवुं"—यह पत्र मनसुख कीरतचंदके ५१ वें पत्रका एक अंश है। 'श्रीमद् राजचन्द्र' के अबतक प्रकाशित किसी भी संस्करणमें यह अंश नहीं दिया गया। उक्त पत्रका यह अंश मुझे श्रीयुत दामजी केशवजीकी कृपासे प्राप्त हुआ है, इसके लिये लेखक उनका बहुत आभारी है.

इतना ही नहीं, आत्मज्ञानकी उच्च दशाको प्राप्त राजचन्द्र अपनी स्त्रीसे कितनी समानता और प्रेमका बर्ताव रखते थे, यह उनके निम्न पत्रसे मालूम होता है । यह पत्र राजचन्द्रजीने अपनी स्त्रीको लक्ष्य करके लिखा है:—

"हे धर्मपत्नी ! तुम्हें मैं अनुरोध करता हूँ कि तुम अपनेमें योग्य होनेकी इच्छा उत्पन्न करो । मैं उस इच्छाको पूर्ण करनेमें सहायक होऊँगा ।

तुम मेरे अनुयायी हो, और उसमें जन्मांतरके योगसे मुझे प्रधानपद मिला है, इस कारण तुमने मेरी आज्ञाका अवलंबन करके आचरण करना उचित माना है ।

और मैं भी तुम्हारे साथ उचितरूपसे ही व्यवहार करनेकी इच्छा करता हूँ, किसी दूसरे प्रकारसे नहीं।

यदि तुम पहिले जीवनस्थितिको पूर्ण करो, तो धर्मके लिये ही मेरी इच्छा करो । ऐसा करना मैं उचित समझता हूँ; और यदि मैं करूँ तो धर्मपात्रके रूपमें मेरा स्मरण रहे, ऐसा होना चाहिये ।

हम तुम दोनों ही धर्ममूर्ति होनेका प्रयत्न करें । बड़े हर्षसे प्रयत्न करें । तुम्हारी गतिकी अपेक्षा मेरी गति श्रेष्ठ होगी, ऐसा अनुमान कर लिया है—"मतिमें"।

मैं तुम्हें उसका लाभ देना चाहता हूँ, क्योंकि तुम बहुत ही निकटके संबंधी हो ।

यदि तुम उस लाभको उठानेकी इच्छा करते हो तो दूसरी कलममें कहे अनुसार तुम जरूर करोगे, ऐसी मुझे आशा है ।

तुम स्वच्छताको बहुत अधिक चाहना, वीतराग भक्तिको बहुत ही अधिक चाहना । मेरी भक्तिको मामूली तौरसे चाहना । तुम जिस समय मेरी संगतिमें रहो, उस समय जिस तरह सब प्रकारसे मुझे आनन्द हो उस तरहसे रहना ।

विद्याभ्यासी होना ।

मुझसे विद्यायुक्त विनोदपूर्ण संभाषण करना ।

मैं तुम्हें योग्य उपदेश दूँगा । तुम उससे रूपसंपन्न, गुणसंपन्न और ऋद्धि तथा बुद्धिसंपन्न होगे । बादमें इस दशाको देखकर मैं परम प्रसन्न होऊँगा ।"[1]

गृहस्थाश्रमसे विरक्त होनेकी सूझ

गृहस्थकी उपाधिमें रहते हुए भी राजचन्द्रजी सत्स्वरूपकी ओर बढ़ते ही चले जाते हैं । तथा आश्चर्यकी बात तो यह है कि अभी उनके विवाहको हुए तीन-चार बरस भी नहीं हो पाये, और उनका वैराग्य इतना तीव्र हो उठता है कि उन्हें 'गृहस्थाश्रमसे अधिकतर विरक्त होनेकी ही बात सूझा करती है'। उनका यह निश्चय हो जाता है कि 'गृहस्थाश्रमीसे सम्पूर्ण धर्म-साधन नहीं बन सकता—उसके लिये तो सर्वसंगपरित्याग ही आवश्यक है।' तथा 'सहजसमाधिकी प्राप्ति केवल निर्जन स्थान अथवा वनवाससे नहीं हो सकती, वह सर्वसंग-परित्याग करनेसे ही संभव है।' राजचन्द्रजीकी यह भावना इतनी प्रबल हो जाती है कि उन्हें 'विदेही दशाके बिना, यथायोग्य जीवन्मुक्त दशाके बिना, निर्ग्रंथ दशाके बिना, एक क्षणभरका भी जीवन देखना कठिन हो जाता है, और उसके बाद अनंतकी विडंबना आ खड़ी होती है'। इस समय जो राजचन्द्रजीके मनमें इस विषयमें मंथन चल रहा है, उसे उन्हींके शब्दोंमें सुनिये.—"रात दिन एक परमार्थ विषयका ही मनन रहा करता है । आहार भी यही है, निद्रा भी यही है, शयन भी यही है, स्वप्न भी यही है, भय भी यही है, भोग भी यही है, परिग्रह भी यही है, चलना भी यही है, और आसन भी यही है । अधिक क्या कहा जाय ? हाड़, माँस और उसकी मज्जाको एक इसी रंगमें रंग दिया है । रोम रोममें भी मानों इसीका विचार रहा करता है, और उसके कारण न कुछ देखना अच्छा लगता है, न कुछ सूँघना अच्छा लगता है, न कुछ सुनना अच्छा लगता है, न कुछ चखना अच्छा लगता है, न कुछ छूना अच्छा लगता है, न कुछ बोलना अच्छा लगता है, न मौन रहना अच्छा लगता है, न बैठना अच्छा लगता है, न उठना अच्छा

[1] [illegible]

लगता है, न सोना अच्छा लगता है, न जागना अच्छा लगता है, न खाना अच्छा लगता है, न भूखे रहना अच्छा लगता है, न असंग अच्छा लगता है, न संग अच्छा लगता है, न लक्ष्मी अच्छी लगती है, और न अलक्ष्मी ही अच्छी लगती है—ऐसी दशा हो गई है। तो भी उसके प्रति आशा या निराशा कुछ भी उदय होती हुई नहीं मालूम होती। वह हो तो भी ठीक, और न हो तो भी ठीक, यह कुछ दुःखका कारण नहीं है। दुःखका कारण केवल एक विषम आत्मा ही है, और वह यदि सम है तो सब सुख ही है। इस वृत्तिके कारण समाधि रहती है, तो भी बाहरसे गृहस्थपनेकी प्रवृत्ति करनेमें बहुतसे अन्तराय हैं। तो फिर अब क्या करें? क्या पर्वतकी गुफामें चले जाँय, और अदृश्य हो जाँय? यही रटन रहा करती। तो भी बाह्यरूपसे कुछ संसारी प्रवृत्ति करनी पड़ती है, उसके लिये शोक तो नहीं है, तो भी उसे सहन करनेके लिये जीव इच्छा नहीं करता। परमानन्दको त्यागकर इसकी इच्छा करे भी कैसे? और इसी कारण ज्योतिष आदिकी ओर हालमें चित्त नहीं है—किसी भी तरहके भविष्यज्ञान अथवा सिद्धियोंकी इच्छा नहीं है। तथा उनके उपयोग करनेमें भी उदासीनता रहती है, उसमें भी हालमें तो और भी अधिक रहती है।"[1]

कुशल व्यापारी

तत्त्वज्ञानी होकर भी राजचन्द्र एक बड़े भारी व्यापारी थे। वे जवाहरातका धंधा करते थे। सन् १९४६ में, बाईस वर्षकी अवस्थामें राजचन्द्रजीने श्रीयुत रेवाशंकर जगजीवनदासके साझेमें बम्बईमें व्यापार आरंभ किया था। प्रारंभमें दोनोंने मिलकर कपड़ा, किराना, अनाज वगैरह बाहर भेजनेकी आड़तका काम शुरु किया। तथा बादमें चलकर बड़ौदाके श्रीयुत माणिकलाल घेलाभाई और सूरतके नगीनचंद आदिके साथ मोतियोंका व्यापार चलाया। राजचन्द्रजीने अपनी कम्पनीके नियम बनाकर एक छोटीसी पुस्तक भी प्रकाशित की थी। कहनेकी आवश्यकता नहीं, श्रीमद् राजचन्द्र व्यापारमें अत्यन्त कुशल थे। अंग्रेजी भाषाका ज्ञान न होनेपर भी वे विलायतके तार आदिका मर्म अच्छी तरह समझ सकते थे[2]। वे व्यापारसंबंधी कामोंको बहुत उपयोगपूर्वक खूब सोच विचार कर करते थे। यही कारण था कि उस समय मोतियोंके बाजारमें श्रीयुत रेवाशंकर जगजीवनदासकी पेढ़ी बम्बईकी नामी पेढ़ियोंमें एक गिनी जाने लगी थी। स्वयं राजचन्द्रजीके भागीदार श्रीयुत माणेकलाल घेलाभाईको राजचन्द्रजीकी व्यापार-कुशलताके लिए बहुत सन्मान था। उन्होंने एक जगह कहा है:—"श्रीमान् राजचन्द्रके साथ मेरा लगभग पन्द्रह वर्षका परिचय था, और उसमें सात आठ वर्ष तो मेरा उनके साथ एक भागीदारके रूपमें संबंध रहा था। दुनियाका अनुभव है कि अति परिचयसे परस्परका महत्त्व कम हो जाता है। किन्तु मुझे आपको कहना पड़ेगा कि उनकी दशा ऐसी आत्ममय थी कि उनके प्रति मेरा भक्तिभाव दिन प्रतिदिन बढ़ता ही गया। आपमेंसे जो व्यापारी लोग हैं, उनको अनुभव है कि व्यापारके काम ऐसे होते हैं कि बहुत बार भागीदारोंमें मतभेद हो जाता है, अनेक बार परस्परके हितमें बाधा पहुँचती है। परन्तु मुझे कहना होगा कि श्रीमान् राजचन्द्रके साथ मेरा भागीदारका जितने वर्ष संबंध रहा, उसमें उनके प्रति किंचि-

---

१ १२०-२०३-२२.

२ अपने अंग्रेजी आदिके अभ्यासके विषयमें राजचन्द्र लिखते हैं—शिशुवयमेंसे ही इस वृत्तिके उदय होनेसे किसी भी प्रकारका परमार्थका अभ्यास नहीं हो सका। अमुक संप्रदायके कारण शास्त्राभ्यास न हो सका। संसारके बंधनसे ऊहापोहाभ्यास भी न हो सका; और वह नहीं हो सका, इसके लिए कैसा भी खेद अथवा चिन्ता नहीं है। क्योंकि इससे आत्मा और भी अधिक विकल्पमें पड़ जाती (इस विकल्पकी बात मैं सबके लिए नहीं कह रहा, परन्तु मैं केवल अपनी अपेक्षासे ही कहता हूँ); और विकल्प आदिका क्लेश तो नाश ही करनेकी इच्छा की थी, इसलिए जो हुआ वह कल्याणकारक ही हुआ—११२-१९९-२३.

जिसने जैनतत्त्वको जाना और सेवन किया, वह केवल वीतरागी और सर्वज्ञ हो जाता है। इसके प्रवर्त्तक कैसे पवित्र पुरुष थे! इसके सिद्धांत कैसे अखण्ड, सम्पूर्ण और दयामय हैं! इसमें दूषण तो कोई है ही नहीं! सर्वथा निर्दोष तो केवल जैनदर्शन है! ऐसा एक भी तत्त्व नहीं कि जो जैनदर्शनमें न हो। एक विषयको अनंत भेदोंसे परिपूर्ण करनेवाला जैनदर्शन ही है। इसके समान प्रयोजनभूत तत्त्व अन्यत्र कहीं भी नहीं है। जैसे एक देहमें दो आत्मायें नहीं होतीं, उसी तरह समस्त सृष्टिमें दो जैन अर्थात् जैनके तुल्य दूसरा कोई दर्शन नहीं। ऐसा कहनेका कारण क्या? केवल उसकी परिपूर्णता, वीतरागिता, सत्यता, और जगद्धितैषिता।"[1]

जैनधर्मका तुलनात्मक अभ्यास

आगे चलकर तो राजचन्द्रजीने जैनदर्शन, वेदान्त, रामानुज, सांख्य आदि दर्शनोंका तुलनात्मक अभ्यास किया, और इसी निष्कर्षको मान्य रक्खा कि 'आत्मकल्याणका जैसा निर्धारण श्रीवर्धमानस्वामीने किया है, वैसा दूसरे सम्प्रदायोंमें नहीं है।' वे लिखते हैं:—"वेदान्त आदि दर्शनका लक्ष भी आत्मज्ञानकी और सम्पूर्ण मोक्षकी ओर जाता हुआ देखनेमें आता है, परन्तु उसमें सम्पूर्णतया उसका यथायोग्य निर्धारण मालूम नहीं होता—अंशसे ही मालूम होता है, और कुछ कुछ उसका भी पर्यायान्तर मालूम होता है। यद्यपि वेदान्तमें जगह जगह आत्मचर्याका विवेचन किया गया है, परन्तु वह चर्या स्पष्टरूपसे अविरुद्ध है, ऐसा अभीतक मालूम नहीं हो सका। यह भी होना संभव है कि कदाचित् विचारके किसी उदयभेदसे वेदान्तका आशय भिन्नरूपसे समझमें आता हो, और उससे विरोध मालूम होता हो—ऐसी आशंका भी फिर फिरसे चित्तमें की है, विशेष अतिविशेष परिणमाकर उसे अविरोधी देखनेके लिये विचार किया गया है। फिर भी ऐसा मालूम होता है कि वेदान्तमें जिस प्रकारसे आत्मस्वरूप कहा है, उस प्रकारसे वेदान्त सर्वथा अविरोधभावको प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि जिस तरह वह कहता है, आत्मस्वरूप उसी तरह नहीं—उसमें कोई बड़ा भेद देखनेमें आता है। और उस उस प्रकारसे सांख्य आदि दर्शनोंमें भी भेद देखा जाता है।

मात्र एक श्रीजिनने जो आत्मस्वरूप कहा है, वह विशेषातिविशेष अविरोधी देखनेमें आता है—उस प्रकारसे वेदन करनेमें आता है। जिनभगवान्‌का कहा हुआ आत्मस्वरूप सम्पूर्णतया अविरोधी ही है, ऐसा जो नहीं कहा जाता उसका हेतु केवल इतना ही है कि अभी सम्पूर्णतया आत्मावस्था प्राप्त नहीं हुई। इस कारण जो अवस्था अप्राप्त है, उस अवस्थाका वर्तमानमें अनुमान करते हैं, जिससे उस अनुमानको उसपर अत्यन्त भार न देने योग्य मानकर वह विशेषातिविशेष अविरोधी है, ऐसा कहा है—वह सम्पूर्ण अविरोधी होने योग्य है, ऐसा लगता है।

सम्पूर्ण आत्मस्वरूप किसी भी पुरुषमें तो प्रगट होना चाहिये—इस प्रकार आत्मामें निश्चय प्रतीतिभाव आता है। और वह कैसे पुरुषमें प्रगट होना चाहिये, यह विचार करनेसे वह जिनभगवान् जैसे पुरुषको प्रगट होना चाहिये, यह स्पष्ट मालूम होता है। इस सृष्टिमंडलमें यदि किसीमें भी सम्पूर्ण आत्मस्वरूप प्रगट होने योग्य हो तो वह सर्वप्रथम श्रीवर्धमानस्वामीमें प्रगट होने योग्य लगता है।"[2]

मतमतांतरकी आवाजसे आँखोंमें आँसू

यह सब होते हुए भी, जैनसमाजके अनुयायियोंको देखकर राजचन्द्रजीका कोमल हृदय दयासे उमड़ आता था, और उनकी आँखोंसे अश्रुधारा बहने लगती थी। प्रचलित मतमतांतरोंकी बात सुनकर उन्हें 'ज्वरसे भी अधिक वेदना होती थी।' राजचन्द्र कहते थे:—"महावीर भगवान्‌के शासनमें जो बहुतसे मतमतांतर पड़ गये हैं, उसका मुख्य कारण यही है कि तत्त्वज्ञानकी ओरसे उपासकवर्गका लक्ष फिर गया है। तीन लाख जैन लोगोंमें दो हजार पुरुष भी मुश्किलसे ही नवतत्त्वको पढ़ना जानते

---

१ ४–८९–२२.

२ ५०६–४४६–२८.

होनेसे उनका कुछ मूल मार्गपर लक्ष आया, और इस ओर तो सैकड़ों और हज़ारों मनुष्य समागममें आये, जिनमेंसे कुछ समझवाले तथा उपदेशकके प्रति आस्थावाले ऐसे सौ-एक मनुष्य निकलेंगे। इससे अन्तमें यह देखनेमें आया कि लोग पार होनेकी इच्छा करनेवाले तो बहुत हैं, परन्तु उन्हें वैसा संयोग नहीं मिलता। यदि सच्चे सच्चे उपदेशक पुरुषका संयोग मिले तो बहुतसे जीव मूल मार्गको पा सकते हैं, और दया आदिका विशेष उद्योत होना संभव है। ऐसा मालूम होनेसे कुछ चित्तमें आता है कि यदि इस कार्यको कोई करे तो अच्छा है। परन्तु दृष्टि डालनेसे वैसा कोई पुरुष ध्यानमें नहीं आता। इसलिये लिखनेवालेकी ओर ही कुछ दृष्टि आती है। परन्तु लिखनेवालेका जन्मसे ही लक्ष इस तरहका रहा है कि इस पदके समान एक भी जोखम-भरा पद नहीं है, और जहाँतक उस कार्यकी अपनी जैसी चाहिये वैसी योग्यता न रहे, वहाँतक उसकी इच्छा मात्र भी न करनी; और प्रायः अबतक उसी तरह प्रवृत्ति करनेमें आई है। मार्गका थोड़ा बहुत स्वरूप भी किसी किसीको समझाया है, फिर भी किसीको एक व्रत—पच्चक्खाणतक—भी नहीं दिया; अथवा तुम मेरे शिष्य हो, और हम गुरु हैं, यह भेद प्रायः प्रदर्शित नहीं किया।"[1] इससे स्पष्ट है कि धर्मके उद्धार करनेमें—उसके पुनः स्थापित करनेमें—राजचन्द्रजीका कोई आग्रह अथवा मान-बड़ाईरूप आकांक्षा कारण नहीं; केवल 'पर-अनुकंपा आदिसे ही मतसे ग्रस्त दुनियामें सत्य सुख और सत्य आनन्द स्थापित करनेके लिये',[2] उनमें यह वृत्ति उदित हुई थी। वे स्पष्ट लिखते हैं:—"उसका वास्तविक आग्रह नहीं है, मात्र अनुकंपा आदि तथा ज्ञान-प्रभाव रहता है, इससे कभी कभी वह वृत्ति उठती है, अथवा अल्पांशसे ही अंगमें वह वृत्ति है, फिर भी वह स्वाधीन है। हम समझते हैं कि यदि उस तरह सर्वसंग-परित्याग हो तो हज़ारों लोग उस मूल मार्गको प्राप्त करें। और हज़ारों लोग उस सन्मार्गका आराधन कर सद्गतिको पावें, ऐसा हमारेसे होना संभव है। हमारे संगसे त्याग करनेके लिये अनेक जीवोंकी वृत्ति हो, ऐसा अंगमें त्याग है।

धर्म स्थापित करनेका मान बड़ा है। उसकी स्पृहासे भी कदाचित् ऐसी वृत्ति रह सकती है, परन्तु आत्माको अनेकबार देखनेपर उसकी संभवता, इस समयकी दशामें कम ही मालूम होती है। और वह कुछ कुछ दशामें रहेगी तो वह भी क्षीण हो जायगी, ऐसा अवश्य मालूम होता है। क्योंकि जैसी चाहिये वैसी योग्यताके बिना देह छूट जाय, वैसी दृढ़ कल्पना हो, तो भी मार्गका उपदेश नहीं करना, ऐसा आत्मनिश्चय नित्य रहता है। एक इस बलवान कारणसे ही परिग्रह आदिके त्याग करनेका विचार रहा करता है।"[2]

---

१ ६३६-५१५-२९.

२ राजचन्द्र कहते हैं—"हुं बीजो महावीर छुं, एम मने आत्मिक शक्तिवडे जणायुं छे। मारा ग्रह दश विद्वानोए मळी परमेश्वर ग्रह ठराव्या छे। सत्य कहुं छुं के हुं सर्वज्ञ समान स्थितिमां छुं। वैराग्यमां झीलुं छुं। दुनिया मतभेदना बंधनथी तत्त्व पामी शकी नथी। सत्य सुख अने सत्य आनन्द ते आमां नथी। ते स्थापवा एक खरो धर्म चलाववा माटे आत्माए झंपलाव्युं छे। जे धर्म प्रवर्तावीश ज। महावीर तेना समयमां मारो धर्म केटलाक अंशे चालतो कर्यो हतो। हवे तेवा पुरुषोना मार्गने ग्रहण करी श्रेष्ठ धर्म स्थापन करीश। अत्र ए धर्मना शिष्य कर्या छे। अत्र ए धर्मनी स्थापना करी दीधी छे—" यह लेख श्रीयुत दामजी केशवजीके संग्रहमें एक तुटकतुटक राजचन्द्रजीके वृत्तांतके आधारसे यहाँ दिया गया है।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारतीय साहित्यमें इस प्रकारके उद्गारोंकी कमी नहीं है। स्वामी रामतीर्थ अपनेको 'राम बादशाह' कह कर अपने 'हुक्मनामे' निकाला करते थे। वे कहते थे कि 'प्रकृतिमें जो सौन्दर्य और आकर्षण देखा जाता है, और सूर्य और चन्द्रमें जो कान्ति देख पड़ती है वह सब मेरे ही प्रभावके कारण है:—

There is not a diamond, there is not a sun or star which shines, but to me is due its lustre. To me is due the glory of all the heavenly bodies. To me is due all the attractive nature, all the charms of the things desired.

२ ६३६-५१५-२९.

व्यवहारोपाधिकी प्रबलता

यहाँ यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि राजचन्द्रजीकी धर्मका उद्धार करनेकी अत्यन्त तीव्र अभिलाषा होनेपर भी वे व्यवहारोपाधिमें इतने अधिक फँसे हुए थे कि उन्हें उसमेंसे निकलना अत्यन्त कठिन हो रहा था। राजचन्द्र लिखते हैं—"ऐसे उपाधिप्रसंगमें तीर्थंकर जैसे पुरुषके विषयमें भी कुछ निर्णय करना हो तो कठिन हो जाय। तथा यदि भगवत्कृपा न हो तो इस कालमें उस प्रकारके उपाधियोगमें धड़के ऊपर सिरका रहना भी कठिन हो जाय, ऐसा होते हुए भी बहुतबार देखा है; और जिसने आत्मस्वरूप जान लिया ऐसे पुरुषका और इस संसारका मेल नहीं खाता, यही अधिक निश्चय हुआ है"[1]। वे अच्छी तरह समझते थे कि जबतक उनका गृहस्थावास है और व्यापार प्रवृत्ति चालु है, तबतक जनसमुदायको उनकी प्रतीति होना अत्यंत दुर्लभ है,[2] और फिर जीवोंको परमार्थ-प्राप्ति भी होना संभव नहीं। इस समय राजचन्द्रजीको बड़ी कठिन अवस्थाका अनुभव हो रहा था। एक ओर तो उनकी निर्ग्रन्थभावसे रहनेवाले चित्तकी व्यवहारमें यथोचित प्रवृत्ति न होती थी, और दूसरी ओर व्यवहारमें चित्त लगानेसे निर्ग्रंथभावकी हानि होनेकी संभावना थी।

अन्तर्द्वन्द्व

राजचन्द्रजीके इस अन्तर्द्वन्द्वको उन्हींके शब्दोंमें सुनिये:—"वैश्य-वेषसे और निर्ग्रंथभावसे रहते हुए कोटाकोटि विचार हुआ करते हैं। वेष और उस वेषसंबंधी व्यवहारको देखकर लोकदृष्टि उस प्रकारसे माने यह ठीक है, और निर्ग्रंथभावसे रहनेवाला चित्त उस व्यवहारसे प्रवृत्ति न कर सके यह भी सत्य है। इसलिये इस तरहसे दो प्रकारकी एक स्थितिपूर्वक बर्त्ताव नहीं किया जा सकता। क्योंकि प्रथम प्रकारसे रहते हुए निर्ग्रंथभावसे उदास रहना पड़े तो ही यथार्थ व्यवहारकी रक्षा हो सकती है, और यदि निर्ग्रंथभावसे रहें तो फिर वह व्यवहार चाहे जैसा हो उसकी उपेक्षा करनी ही योग्य है। यदि उपेक्षा न की जाय तो निर्ग्रंथभावकी हानि हुए बिना न रहे।

उस व्यवहारके त्याग किये बिना, अथवा अत्यंत अल्प किये बिना यथार्थ निर्ग्रंथता नहीं रहती, और उदयरूप होनेसे व्यवहारका त्याग नहीं किया जाता। इस सब विभाव-योगके दूर हुए बिना हमारा चित्त दूसरे किसी उपायसे संतोष प्राप्त करे, ऐसा नहीं लगता।"[3]

हृदयमंथनकी इस अवस्थामें राजचन्द्रजीको कुछ निश्चित मार्ग नहीं सूझ पड़ता। वे अनेक विकल्प उठाते हुए लिखते हैं:—

"तो क्या मौनदशा धारण करनी चाहिये। व्यवहारका उदय ऐसा है कि यदि वह धारण किया जाय तो वह लोगोंको कषायका निमित्त हो, और इस तरह व्यवहारकी प्रवृत्ति नहीं होती।

तब क्या उस व्यवहारको छोड़ देना चाहिये? यह भी विचार करनेसे कठिन मालूम होता है। क्योंकि उस तरहकी कुछ स्थितिके वेदन करनेका चित्त रहा करता है। फिर वह चाहे शिथिलतासे हो, परेच्छासे हो, अथवा जैसा सर्वज्ञने देखा है उससे हो। ऐसा होनेपर भी अल्प कालमें व्यवहारके घटानेमें ही चित्त है। वह व्यवहार किस प्रकारसे घटाया जा सकेगा?

---

[1] ३८०-३५३-२६.

[2] वे लिखते हैं—'जिससे लोगोंको अंदेशा हो इस तरहके बाह्य व्यवहारका उदय है। वैसे व्यवहारके साथ बलवान निर्ग्रंथ पुरुषके समान उपदेश करना यह मार्गके विरोध करनेके समान है। हम [illegible] समझना कि इस व्यवहारका बंधन उदयकालमें न होता तो यह दूसरे बहुतसे मनुष्योंको अपूर्व हितका देनेवाला होता। प्रवृत्तिके कारण कुछ असमता नहीं, परन्तु निवृत्ति होती तो दूसरी आत्माओंको मार्ग मिलनेका कारण होता.'

[3] ४१६-४००-२७.

इसमें किसी प्रकारकी हमारी सकामता नहीं है। " इसलिये राजचन्द्र निरुपाय होकर अदीनमावसे प्रारब्धके ऊपर सब कुछ छोड़कर सर्वसंग-परित्याग कर उपदेश करनेके विचारको, ३६ वें वर्षके लिये स्थगित कर देते हैं।

जैनधर्मका गंभीर आलोडन

राजचन्द्रजीने थोड़े ही समयमें जैन शास्त्रोंका असाधारण परिचय प्राप्त कर लिया था। उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, भगवती, सूत्रकृतांग आदि आगमग्रन्थोंको तो वे सोलह बरसकी उम्रमें ही देख गये थे। तथा आगे चलकर कुन्दकुन्द, सिद्धसेन, समंतभद्र, हरिभद्र, हेमचन्द्र, यशोविजय, बनारसीदास, आनन्दघन, देवचन्द्र आदि दिगम्बर और श्वेताम्बर सभी विद्वानोंके मुख्य मुख्य ग्रन्थोंका राजचन्द्रजी गंभीर चिन्तन और मनन कर गये थे। ज्यों ज्यों राजचन्द्रजीकी स्मृति, अवधान आदिकी ख्याति, धीरे धीरे लोगोंमें फैलने लगी, ज्यों ज्यों उनके उज्वल ज्ञानका प्रकाश गुजरात आदि प्रदेशोंमें फैलता गया, त्यों त्यों बहुतसे लोग प्रत्यक्ष परोक्षरूपसे उनकी ओर आकर्षित होने लगे। बहुतसे गृहस्थ और मुनियोंने उनका सत्संग किया; उनसे जैनधर्म-प्रश्नोत्तरसंबंधी पत्रव्यवहार चलाया; और आगे चलकर तो राजचन्द्रजीका बहुत कुछ समय प्रश्नोत्तरोंमें ही बीतने लगा। राजचन्द्रजीने जैनधर्मविषयक अनेक प्रश्नोंका जैन शास्त्रोंके आधारसे अथवा अपनी स्वतंत्र बुद्धिसे विशद स्पष्टीकरण किया है। निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंका राजचन्द्रजीने जो समाधान किया है, उससे मालूम होता है कि राजचन्द्रजीने जैनधर्मका विशाल गंभीर मनन किया था, वे एक बड़े भारी महान् विचारक थे, और जैनधर्मको तर्ककी कसौटीपर कसकर उसे पुनरुज्जीवित बनानेकी उनमें अत्यंत प्रबल भावना थी।

कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर

भवांतरका ज्ञान

(१) प्रश्नः—क्या भवांतरका ज्ञान हो सकता है?

उत्तरः—भगवती आदि सिद्धान्तोंमें जो किन्हीं किन्हीं जीवोंके भवांतरका वर्णन किया है, उसमें कुछ संशय होने जैसी बात नहीं। तीर्थंकर तो भला पूर्ण आत्मस्वरूप हैं; परन्तु जो पुरुष केवल योग, ध्यान आदिके अभ्यासके बलसे रहते हों, उन पुरुषोंमेंके भी बहुतसे पुरुष भवांतरको जान सकते हैं; और ऐसा होना कुछ कल्पित बात नहीं है। जिस पुरुषको आत्माका निश्चयात्मक ज्ञान है, उसे भवांतरका ज्ञान होना योग्य है—होता है। क्वचित् ज्ञानके तारतम्य—क्षयोपशम—भेदसे वैसा कभी नहीं भी होता, परन्तु जिसकी आत्मामें पूर्ण शुद्धता रहती है, वह पुरुष तो निश्चयसे उस ज्ञानको जानता है—भवांतरको जानता है। आत्मा नित्य है, अनुभवरूप है, वस्तु है—इन सब प्रकारोंके अत्यंतरूपसे दृढ़ होनेके लिए शास्त्रमें वे प्रसंग कहे गये हैं।

यदि किसीको भवांतरका स्पष्ट ज्ञान न होता हो तो यह यह कहनेके बराबर है कि किसीको आत्माका स्पष्ट ज्ञान भी नहीं होता; परन्तु ऐसा तो है नहीं। आत्माका स्पष्ट ज्ञान तो होता है, और भवांतर भी स्पष्ट मालूम होता है। अपने तथा परके भव जाननेके ज्ञानमें किसी भी प्रकारका विसंवाद नहीं'।

सुवर्णवृष्टि

(२) प्रश्नः—क्या तीर्थंकरको भिक्षाके लिए जाते समय सुवर्णवृष्टि होती है?

उत्तरः—तीर्थंकरको भिक्षाके लिए जाते समय प्रत्येक स्थानपर सुवर्ण-वृष्टि इत्यादि हो ही हो—ऐसा शब्दके कहनेका अर्थ नहीं समझना चाहिये। अथवा शास्त्रमें कहे हुए वाक्योंका यदि उस प्रकारका अर्थ होता हो तो सापेक्ष ही है। यह वाक्य लोकभाषाका ही समझना चाहिये। जैसे यदि किसीके घर किसी सज्जन पुरुषका आगमन हो तो वह कहता है कि 'आज अमृतका मेघ बरसा—' जैसे उसका यह कहना सापेक्ष है—यथार्थ है, शब्दके मूल अर्थमें यथार्थ नहीं। इसी तरह तीर्थंकर आदिकी भिक्षाके विषयमें भी है। फिर भी ऐसा ही मानना योग्य है कि 'आत्मस्वरूपमें पूर्ण ऐसे पुरुषके प्रभावके बलसे

१ ११७–२२१, २२२–२५.

यह होना अत्यंत संभवित है'। ऐसा कहनेका प्रयोजन नहीं कि सर्वत्र ऐसा ही हुआ है, परन्तु कहनेका अभिप्राय यह है कि ऐसा होना संभव है—ऐसा होना योग्य है। जहाँ पूर्ण आत्मस्वरूप है वहाँ सर्व महत्-प्रभाव-योग आश्रितरूपसे रहता है, यह निश्चयात्मक सत्य है—निस्सन्देह अंगीकार करने योग्य बात है।

उस आत्मस्वरूपसे कोई भी महान् नहीं है। जो प्रभाव-योग पूर्ण आत्मस्वरूपको भी प्राप्त न हो, इस प्रकारका इस सृष्टिमें कोई प्रभाव-योग उत्पन्न हुआ नहीं, वर्तमानमें है नहीं, और आगे उत्पन्न होगा नहीं। परन्तु इस प्रभाव-योगविषयक आत्मस्वरूपकी कोई प्रवृत्ति कर्तव्य नहीं है, यह बात तो अवश्य है; और यदि उसे उस प्रभावयोगविषयक कोई कर्तव्य मालूम होता है तो वह पुरुष आत्मस्वरूपके अत्यंत अज्ञानमें ही रहता है, ऐसा मानते हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि आत्मरूप महाभाग्य तीर्थंकरमें सब प्रकारका प्रभाव होना योग्य है—होता है; परन्तु उसके एक अंशका भी प्रकट करना उन्हें योग्य नहीं। किसी स्वाभाविक पुण्यके प्रभावसे सुवर्ण-वृष्टि इत्यादि हो, ऐसा कहना असंभव नहीं, और वह तीर्थंकरपदको बाधाकारक भी नहीं। परन्तु जो तीर्थंकर हैं वे आत्मस्वरूपके सिवाय कोई अन्य प्रभाव आदि नहीं करते, और जो करते हैं वे आत्मरूप तीर्थंकर कहे जाने योग्य नहीं ऐसा मानते हैं, और ऐसा ही है।'

क्षायिक समकित

(३) प्रश्नः—इस कालमें क्षायिक समकित होना संभव है या नहीं?

उत्तरः—कदाचित् ऐसा मान लो कि 'इस कालमें क्षायिक समकित नहीं होता,' ऐसा जिनागममें स्पष्ट लिखा है। अब उस जीवको विचार करना योग्य है कि क्षायिक समकितका क्या अर्थ है? जिसके एक नवकारमंत्र जितना भी व्रत-प्रत्याख्यान नहीं होता, फिर भी वह जीव अधिकसे अधिक तीन भवमें और नहीं तो उसी भवमें परमपदको प्राप्त करता है, ऐसी महान् आश्चर्य करनेवाली उस समकितकी व्याख्या है। फिर अब ऐसी वह कौनसी दशा समझनी चाहिये कि जिसे क्षायिक समकित कहा जाय? 'यदि तीर्थंकर भगवान्‌की दृढ श्रद्धाका नाम' क्षायिक समकित मानें तो वैसी कौनसी श्रद्धा समझनी चाहिये; जिसे कि हम समझें कि यह तो निश्चयसे इस कालमें होती ही नहीं। यदि ऐसा मालूम नहीं होता कि अमुक दशा अथवा अमुक श्रद्धाको क्षायिक समकित कहा है तो फिर हम कहते हैं कि जिनागमके शब्दोंका केवल यही अर्थ हुआ कि क्षायिक समकित होता ही नहीं। अब यदि ऐसा समझो कि ये शब्द किसी दूसरे आशयसे कहे गये हैं, अथवा किसी पीछेके कालके विसर्जन दोषसे लिख दिये गये हैं, तो जिस जीवने इस विषयमें आग्रहपूर्वक प्रतिपादन किया हो, वह जीव कैसे दोषको प्राप्त होगा, यह सखेद करुणापूर्वक विचारना योग्य है।

कालमें जिन्हें जिनसूत्रोंके नामसे कहा जाता है, उन सूत्रोंमें 'क्षायिक समकित नहीं है,' ऐसा स्पष्ट नहीं लिखा है, तथा परम्परागत और दूसरे भी बहुतसे ग्रंथोंमें यह बात चली आती है, ऐसा हमने पढ़ा है, और सुना भी है। और यह वाक्य मिथ्या है अथवा मृषा है, ऐसा हमारा अभिप्राय नहीं है; तथा यह वाक्य जिस प्रकारसे लिखा है, वह एकांत अभिप्रायसे ही लिखा है, ऐसा भी हमें नहीं लगता; कदाचित् ऐसा समझो कि वह वाक्य एकांतरूपसे ऐसा ही हो तो भी किसी भी प्रकारसे व्याकुल होना योग्य नहीं। कारण कि यदि इन सब व्याख्याओंको सत्पुरुषके आशयपूर्वक नहीं जाना तो फिर वे सफल होने संभव नहीं हैं। कदाचित् समझो कि इसके स्थानमें, जिनागममें लिखा हो कि चौथे कालकी तरह पाँचवें कालमें भी बहुतसे जीवोंको मोक्ष होगा, तो इस बातका श्रवण करना कोई तुम्हारे और हमारे लिये कल्याणकारी नहीं हो सकता, अथवा मोक्ष-प्राप्तिका कारण नहीं हो सकता। क्योंकि जिस दशामें वह मोक्षगति कही है, उस दशाकी प्राप्ति ही इष्ट है, उपयोगी है और कल्याणकारी है।

अन्तमें क्षायिक समकितकी पुष्टिका उपसंहार करते हुए राजचन्द्र कहते हैं—'तीर्थंकरने भी ऐसा ही कहा है; और वह इस कालमें उसके आगममें भी है, ऐसा ज्ञात है। कदाचित् यदि ऐसा कहा हुआ अर्थ

१ ३३७–३३२–२५.

आगममें न भी हो तो भी जो शब्द ऊपर कहे हैं वे आगम ही हैं—जिनागम ही हैं। ये शब्द राग, द्वेष और अज्ञान इन तीनों कारणोंसे रहित प्रकटरूपसे लिखे गये हैं, इसलिए सेवनीय हैं।''

इस कालमें मोक्ष

(४) प्रश्नः—क्या इस कालमें मोक्ष हो सकता है?

उत्तरः—इस कालमें सर्वथा मुक्तपना न हो, यह एकान्त कहना योग्य नहीं। अशरीरीभावरूपसे सिद्धपना है, और यह अशरीरीभाव इस कालमें नहीं—ऐसा कहें तो यह यह कहनेके तुल्य है कि हम ही स्वयं मौजूद नहीं।[२]

राजचन्द्र दूसरी जगह लिखते हैं—'हे परमात्मन्! हम तो ऐसा मानते हैं कि इस कालमें भी जीवको मोक्ष हो सकता है। फिर भी जैसा कि जैनग्रंथोंमें कहीं कहीं प्रतिपादन किया गया है कि इस कालमें मोक्ष नहीं होता, तो इस प्रतिपादनको इस क्षेत्रमें तू अपने ही पास रख, और हमें मोक्ष देनेकी अपेक्षा, हम सत्पुरुषके ही चरणका ध्यान करें, और उसीके समीप रहें—ऐसा योग प्रदान कर।'[३]

'हे पुरुषपुराण! हम तुझमें और सत्पुरुषमें कोई भी भेद नहीं समझते। तेरी अपेक्षा हमें तो सत्पुरुष ही विशेष मालूम होता है। क्योंकि तू भी उसीके आधीन रहता है, और हम सत्पुरुषको पहिचाने बिना तुझे नहीं पहिचान सके। तेरी यह दुर्घटता हमें सत्पुरुषके प्रति प्रेम उत्पन्न करती है। क्योंकि तुझे वश करनेपर भी वे उन्मत्त नहीं होते; और वे तुझसे भी अधिक सरल हैं। इसलिये अब तू जैसा कहे वैसा करें।

हे नाथ! तू बुरा न मानना कि हम तुझसे भी सत्पुरुषका ही अधिक स्तवन करते हैं। समस्त जगत् तेरा ही स्तवन करता है; तो फिर हम भी तेरे ही सामने बैठे रहेंगे, फिर तुझे स्तवनकी कहाँ चाहना है, और उसमें तेरा अपमान भी कहाँ हुआ'?[४]

साधुको पत्रव्यवहारकी आज्ञा

(५) प्रश्नः—क्या सर्वविरति साधुको पत्र-व्यवहार करनेकी जिनागममें आज्ञा है?

उत्तरः—प्रायः जिनागममें सर्वविरति साधुको पत्र-समाचार आदि लिखनेकी आज्ञा नहीं है, और यदि वैसी सर्वविरति भूमिकामें रहकर भी साधु पत्र-समाचार लिखना चाहे तो वह अतिचार समझा जाय। इस तरह साधारणतया शास्त्रका उपदेश है, और वह मुख्य मार्ग तो योग्य ही मालूम होता है, फिर भी जिनागमकी रचना पूर्वापर अविरुद्ध मालूम होती है, और उस अविरोधकी रक्षाके लिये पत्र-समाचार आदि लिखनेकी आज्ञा भी किसी प्रकारसे जिनागममें है।

जिनभगवान्‌की जो जो आज्ञायें हैं, वे सब आज्ञायें, जिस तरह सर्व प्राणी अर्थात् जिनकी आत्माके कल्याणके लिए कुछ इच्छा है, उन सबको, यह कल्याण प्राप्त हो सके, और जिससे वह कल्याण वर्धित हो, तथा जिस तरह उस कल्याणकी रक्षा की जा सके, उस तरह की गई हैं। यदि जिनागममें कोई ऐसी आज्ञा कही हो कि वह आज्ञा अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके संयोगसे न पल सकती हुई आत्माको बाधक होती हो तो वहाँ उस आज्ञाको गौण करके—उसका निषेध करके—श्रीतीर्थंकरने दूसरी आज्ञा की है।

उदाहरणके लिये 'मैं सब प्रकारके प्राणातिपातसे निवृत्त होता हूँ' इस तरह पच्चक्खाण होनेपर

१ ३१२-३११, १, ३-२५.

२ ३१७-३१३-२५.

३ तुलना करो—वीरशैव सम्प्रदायके संस्थापक महात्मा बसवेश्वर लिखते हैं:—ब्रह्माकी पदवी मुझे नहीं चाहिये। विष्णुकी पदवी भी मैं नहीं चाहता। शिवकी पदवी प्राप्त करनेकी भी इच्छा मुझे नहीं है। और किसी दूसरी पदवीको मैं नहीं चाहता। देव! मुझे केवल यही पदवी दीजिये कि मैं तुम्हारे सच्चे सेवकोंका बड़प्पन समझ सकूँ—बसवेश्वरके वचन, हिन्दी अनुवाद पृ. ११, बेंगलोर १९३६.

४ १८४-२१८,९-२४.

भी नदीको पार करने जैसे प्राणातिपातरूप प्रसंगकी आज्ञा करनी पड़ी है। जिस आज्ञाको, यदि लोक-समुदायका विशेष समागम करके, साधु आराधन करेगा, तो पंच महाव्रतोंके निर्मूल होनेका समय आवेगा—यह जानकर भगवान्‌ने नदी पार करनेकी आज्ञा दी है। वह आज्ञा, प्रत्यक्ष प्राणातिपातरूप होनेपर भी पाँच महाव्रतोंकी रक्षाका हेतुरूप जो कारण है, वह प्राणातिपातकी निवृत्तिका ही हेतु है। यद्यपि प्राणातिपात होनेपर भी नदीके पार करनेकी अप्राणातिपातरूप आज्ञा होती है, फिर भी 'सब प्रकारके प्राणातिपातसे निवृत्त होता हूँ'—इस वाक्यको एक बार क्षति पहुँचती है। परन्तु यह क्षति फिरसे विचार करनेपर तो उसकी विशेष दृढ़ताके लिये ही मालूम होती है। इसी तरह दूसरे व्रतोंके लिये भी है। 'मैं परिग्रहकी सर्वथा निवृत्ति करता हूँ'—इस प्रकारका व्रत होनेपर भी वस्त्र पात्र और पुस्तकका संबंध देखा जाता है—इन्हें अंगीकार किया जाता है। उसको, परिग्रहकी सर्वथा निवृत्तिके कारणका किसी प्रकारसे रक्षणरूप होनेसे विधान किया है, और उससे परिणाममें अपरिग्रह ही होता है। मूर्छारहित भावसे नित्य आत्मदशाकी वृद्धि होनेके लिये ही पुस्तकका अंगीकार करना बताया है। तथा इस कालमें शरीरके संहननकी हीनता देखकर पहिले चित्तकी स्थितिके समभाव रहनेके लिये ही वस्त्र, पात्र आदिका ग्रहण करना बताया है, अर्थात् जब आत्महित देखा तो परिग्रह रखनेकी आज्ञा दी।

मैथुनत्यागमें जो अपवाद नहीं है, उसका कारण यह है कि उसका रागद्वेषके बिना भंग नहीं हो सकता; और रागद्वेष आत्माको अहितकारी है; इससे भगवान्‌ने उसमें कोई अपवाद नहीं बताया। नदीका पार करना रागद्वेषके बिना हो सकता है; पुस्तकका ग्रहण करना भी रागद्वेषके बिना होना संभव है; परन्तु मैथुनका सेवन रागद्वेषके बिना संभव नहीं हो सकता। इसलिये भगवान्‌ने इस व्रतको अपवादरहित कहा है, और दूसरे व्रतोंमें आत्माके हितके लिए ही अपवाद कहा है। इस कारण जिस तरह जीवका—संयमका—रक्षण हो, उसी तरह कहनेके लिये जिनागमकी रचना की गई है।

पत्र लिखने अथवा समाचार आदि कहनेका जो निषेध किया है, उसका भी यही हेतु है। जिससे लोक-समागमकी वृद्धि न हो, प्रीति-अप्रीतिके कारणकी वृद्धि न हो, स्त्रियों आदिके परिचयमें आनेका प्रयोजन न हो, संयम शिथिल न हो जाय, उस उस प्रकारका परिग्रह बिना कारण ही स्वीकृत न हो जाय—इस प्रकारके सम्मिलित अनंत कारणोंको देखकर पत्र आदिका निषेध किया है, परन्तु वह भी अपवादसहित है। जैसे बृहत्कल्पमें अनार्यभूमिमें विचरनेकी मना की है, और वहाँ क्षेत्रकी मर्यादा बाँधी है, परन्तु ज्ञान दर्शन और संयमके कारण वहाँ भी विचरनेका विधान किया गया है। इसी अर्थके ऊपरसे मालूम होता है कि यदि कोई ज्ञानी पुरुष दूर रहता हो—उनका समागम होना मुश्किल हो, और यदि पत्र-समाचारके सिवाय दूसरा कोई उपाय न हो तो फिर आत्महितके सिवाय दूसरी सब प्रकारकी बुद्धिका त्याग करके उस ज्ञानी पुरुषकी आज्ञासे, अथवा किसी मुमुक्षु-सत्संगीकी सामान्य आज्ञासे वैसा करनेका जिनागमसे निषेध नहीं होता, ऐसा मालूम होता है[1]।

केवलज्ञान

(६) प्रश्नः—क्या भूत, भविष्य और वर्तमानकालकी अनन्त पर्यायोंके युगपत् ज्ञान होनेको केवलज्ञान कहते हैं?

उत्तरः—(क) सर्व देश, काल आदिका ज्ञान केवलज्ञानीको होता है, ऐसा जिनागमका वर्तमानमें रूढ़ि अर्थ है। यदि वही केवलज्ञानका अर्थ हो तो उसमें बहुतसा विरोध दिखाई देता है।[2] यदि जिनसम्मत केवलज्ञानको लोकालोकज्ञायक मानें तो उस केवलज्ञानमें आहार, निहार, विहार आदि क्रियायें किस तरह हो सकती हैं?[3]

योगधारिता अर्थात् मन, वचन और कायासहित स्थिति होनेसे, आहार आदिके लिये प्रवृत्ति होते समय उपयोगांतर हो जानेसे उसमें कुछ भी वृत्तिका अर्थात् उपयोगका निरोध होना संभव है। एक समयमें

१ ४१४-३३६, ७-२७.
२ ५११-४९२-२९.
३ ६१०-४९०-२९.

(१२) द्रव्य किसे कहते हैं ? गुण-पर्यायके बिना उसका दूसरा क्या स्वरूप है ?

(१३) संकोच-विकासवाली जो आत्मा स्वीकार की है, वह संकोच विकास क्या अरूपीमें हो सकता है ? तथा वह किस तरह हो सकता है ?

(१४) निगोद अवस्थाका क्या कुछ विशेष कारण है ?

(१५) सर्व द्रव्य, क्षेत्र आदिकी जो प्रकाशकता है, आत्मा तद्रूप केवलज्ञान-स्वभावी है, या निजस्वरूपमें अवस्थित निजज्ञानमय ही केवलज्ञान है ?

(१६) चेतन हीनाधिक अवस्थाको प्राप्त करे, उसमें क्या कुछ विशेष कारण है ? निजस्वभावका ? पुद्गलसंयोगका ? अथवा उससे कुछ भिन्न ही ?

(१७) जिस तरह मोक्षपदमें आत्मभाव प्रगट हो यदि उस तरह मूलद्रव्य मानें, तो आत्माके लोकव्यापक-प्रमाण न होनेका क्या कारण है ?

(१८) ज्ञान गुण है और आत्मा गुणी है, इस सिद्धान्तको घटाते हुए आत्माको ज्ञानसे कथंचित् भिन्न किस अपेक्षासे मानना चाहिये ? जड़त्वभावसे अथवा अन्य किसी गुणकी अपेक्षासे ?

(१९) मध्यम-परिमाणवाली वस्तुकी नित्यता किस तरह संभव है ?

(२०) शुद्ध चेतनमें अनेककी संख्याका भेद कैसे घटित होता है ?

(२१) जीवकी व्यापकता, परिणामीपना, कर्मसंबंध, मोक्षक्षेत्र—ये किस किस प्रकारसे घट सकते हैं ? उनके विचारे बिना तथारूप समाधि नहीं होती ।

(२२) केवलज्ञानका जिनागममें जो प्ररूपण किया है, वह यथायोग्य है ? अथवा वेदान्तमें जो प्ररूपण किया है वह यथायोग्य है ?

(२३) मध्यम परिमाणकी नित्यता, क्रोध आदिका पारिणामिक भाव—ये आत्मामें किस तरह घटते हैं ?

(२४) मुक्तिमें आत्मा घन-प्रदेश किस तरह है ?

(२५) अभव्यत्व पारिणामिक भावमें किस तरह घट सकता है ?

(२६) लोक असंख्य प्रदेशी है और द्वीप समुद्र असंख्यातों हैं, इत्यादि विरोधका किस तरह समाधान हो सकता है ?[१]

कुछ प्रश्नोंका समाधान

इनमेंसे बहुतसे विकल्पोंके ऊपर, मालूम होता है राजचन्द्रजी 'जैनमार्ग' नामक निबंधमें (६९०-६९२-१०) विचार करना चाहते थे । कुछ विकल्पोंका उन्होंने समाधान भी किया है:—

भगवान् जिनके कहे हुए लोकसंस्थान आदि भाव आध्यात्मिक दृष्टिसे सिद्ध हो सकते हैं ।

चक्रवर्ती आदिका स्वरूप भी आध्यात्मिक दृष्टिसे ही समझमें आ सकता है ।

मनुष्यकी ऊँचाई प्रमाण आदिमें भी ऐसा ही है । काल प्रमाण आदि भी उसी तरह घट सकते हैं । सिद्धस्वरूप भी इसी भावसे मनन करने योग्य मालूम होता है ।

निगोद आदि भी उसी तरह घट सकते हैं । लोक शब्दका अर्थ आध्यात्मिक है । सर्वज्ञ शब्दका समझना बहुत गूढ है । धर्मकथारूप चरित्र आध्यात्मिक परिभाषासे अलंकृत मालूम होते हैं । जम्बूद्वीप आदिका वर्णन भी आध्यात्मिक परिभाषासे निरूपित किया मालूम होता है[२] ।

इसी तरह राजचन्द्रजीने आठ रुचक प्रदेश, चौदह पूर्वधारीका ज्ञान, प्रत्याख्यान-दुष्प्रत्याख्यान, सम्यक्त्व और बारह्वें, कर्म और ओसंनसार, टाणांगके आठ वादी आदि अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंका स्वतंत्र बुद्धिसे मंथन करके अपने जैनदर्शनके असाधारण पाण्डित्य और विचारकताका परिचय दिया है ।

---

१ देखो ६०१-०१६, १-२९, ६११,१४-४१७,८,१-२९;६५४,५६,५८-५८३,४-२९.

२ ५४१-५३०-२१

मूर्तिपूजनका समर्थन

इस संबंधमें यह बात अवश्य ध्यानमें रखने योग्य है कि यद्यपि राजचन्द्रजीके जैनतत्त्वज्ञानका सम्मान जैन स्थानकवासी सम्प्रदायसे शुरू होता है, परन्तु ज्यों ज्यों उन्हें श्वेताम्बर मूर्तिपूजक और दिगम्बर सम्प्रदायका साहित्य देखनेको मिलता गया, त्यों त्यों उनमें उत्तरोत्तर उदारताका भाव आता गया। उदाहरणके लिये प्रारंभमें राजचन्द्र मूर्तिपूजाके विरोधी थे, परन्तु आगे चलकर वे प्रतिमाको मानने लगे थे। राजचन्द्रजीके इन प्रतिमापूजनसंबंधी विचारोंके कारण बहुतसे लोग उनके विरोधी भी हो गये थे। परन्तु उन्हें तो किसीकी प्रसन्नता-अप्रसन्नताका विचार किये बिना ही, जो उन्हें उचित और न्याय-संगत जान पड़ता था, उसीको स्वीकार करना था। राजचन्द्रजीने स्वयं इस संबंधमें अपने निम्नरूपसे विचार प्रकट किये हैं:—" मैं पहिले प्रतिमाको नहीं मानता था, और अब मानने लगा हूँ, इसमें कुछ पक्षपातका कारण नहीं, परन्तु मुझे उसकी सिद्धि मालूम हुई, इसलिये मानता हूँ। उसकी सिद्धि होनेपर भी इसे न माननेसे पहिलेकी मान्यता भी सिद्ध नहीं रहती, और ऐसा होनेसे आराधकता भी नहीं रहती। मुझे इस मत अथवा उस मतकी कोई मान्यता नहीं, परन्तु रागद्वेषरहित होनेकी परमाकांक्षा है, और इसके लिये जो जो साधन हों उन सबकी मनसे इच्छा करना, उन्हें कायसे करना, ऐसी मेरी मान्यता है, और इसके लिये महावीरके वचनोंपर पूर्ण विश्वास है।" अन्तमें राजचन्द्र अनेक प्रमाणोंसे प्रतिमा-पूजनकी सिद्धि करनेके बाद, ग्रन्थके 'अन्तिम अनुरोधमें' अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—" अब इस विषयको मैंने संक्षेपमें पूर्ण किया। केवल प्रतिमासे ही धर्म है, ऐसा कहनेके लिये अथवा प्रतिमापूजनकी सिद्धिके लिये मैंने इस लघुग्रंथमें कलम नहीं चलाई। प्रतिमा-पूजनके लिये मुझे जो जो प्रमाण मालूम हुए थे मैंने उन्हें संक्षेपमें कह दिया है। उसमें उचित और अनुचित देखनेका काम शास्त्र-विचक्षण और न्याय-संपन्न पुरुषोंका है। और बादमें जो प्रामाणिक मालूम हो उस तरह स्वयं चलना और दूसरोंको भी उसी तरह प्ररूपण करना यह उनकी आत्माके ऊपर आधार रखता है। इस पुस्तकको मैं प्रसिद्ध नहीं करता; क्योंकि जिस मनुष्यने एकबार प्रतिमा-पूजनका विरोध किया हो, फिर यदि वही मनुष्य उसका समर्थन करे तो इससे प्रथम पक्षवालोंके लिये बहुत खेद होता है, और यह कटाक्षका कारण होता है। मैं समझता हूँ कि आप भी मेरे प्रति थोड़े समय पहिले ऐसी ही स्थितिमें आ गये थे। यदि उस समय इस पुस्तकको मैं प्रसिद्ध करता तो आपका अंतःकरण अधिक दुखता और उसके दुखानेका निमित्त मैं ही होता, इसलिये मैंने ऐसा नहीं किया। कुछ समय बीतनेके बाद मेरे अंतःकरणमें एक ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि तेरे लिये उन भाइयोंके मनमें संक्लेश विचार आते रहेंगे, तथा तूने जिस प्रमाणसे इसे माना है, वह भी केवल एक तेरे ही हृदयमें रह जायगा, इसलिये उसकी सत्यतापूर्वक प्रसिद्धि अवश्य करनी चाहिये। इस विचारको मैंने मान लिया। तब उसमेंसे बहुत ही निर्मल जिस विचारकी प्रेरणा हुई, उसे संक्षेपमें कह देता हूँ। प्रतिमाको मानो, इस आग्रहके लिये यह पुस्तक बनानेका कोई कारण नहीं है; तथा उन लोगोंके प्रतिमाको माननेसे मैं कुछ धनवान तो हो ही नहीं जाऊँगा।" [1]

दिगम्बर-श्वेताम्बरका समन्वय

राजचन्द्रजीने दिगम्बर-श्वेताम्बरका भी समन्वय किया था। उनका स्पष्ट कहना था कि दिग-म्बर-श्वेताम्बर आदि मतदृष्टिसे सब कल्पना मात्र है। राग, द्वेष और अज्ञानका नष्ट होना ही जैनमार्ग है। कविवर बनारसीदासजीके शब्दोंमें राजचन्द्र कहते थेः—

घट घट अन्तर जिन बसै घट घट अन्तर जैन।
मति-मदिराके पानसौं मतवारा समुझै न॥

—अर्थात् घट घटमें जिन बसते हैं और घट घटमें जैन बसते हैं, परन्तु मतरूपी मदिराके पानसे मत्त हुआ जीव इस बातको नहीं समझता। वे लिखते हैं:—'जिससे मतरहित—कदाग्रहरहित—हुआ

१ २०-१२६-२०.

जाता हो—सधा आत्मज्ञान प्रकट होता हो, वही जैनमार्ग है।' 'जैनधर्मका आशय-दिगम्बर तथा श्वेताम्बर आचार्योंका आशय-द्वादशांगीका आशय—मात्र आत्माका सनातन धर्म प्राप्त करना ही है।' 'दिगम्बर और श्वेताम्बरमें तत्वदृष्टिसे कोई भेद नहीं, जो कुछ भेद है वह मतदृष्टिसे ही है। उनमें कोई ऐसा भेद नहीं जो प्रत्यक्ष कार्यकारी हो सके। दिगम्बरत्व श्वेताम्बरत्व आदि देश, काल और अधिकारीके संबंधसे ही उपकारके कारण हैं। शरीर आदिके बल घट जानेसे सब मनुष्योंसे सर्वथा दिगम्बर वृत्तिसे रहते हुए चारित्रका निर्वाह संभव नहीं इसलिये ज्ञानीद्वारा उपदेश किया हुआ मर्यादापूर्वक श्वेताम्बर वृत्तिसे आचरण करना बताया गया है। तथा इसी तरह वस्त्रका आग्रह रखकर दिगम्बर वृत्तिका एकांत निषेध करके वस्त्र-मूर्च्छा आदि कारणोंसे चारित्रमें शिथिलता करना भी योग्य नहीं, इसलिये दिगम्बर वृत्तिसे आचरण करना बताया गया है।'[1]

राजचन्द्रजी कहा करते थे कि, 'जैनशास्त्रोंमें नय, प्रमाण, गुणस्थान, अनुयोग, जीवराशि आदिकी चर्चा परमार्थके लिये ही बताई है।' परन्तु होता है क्या कि लोग नय आदिकी चर्चा करते हुए नय आदिमें ही गुँथ जाते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि शास्त्रोंमें जो सात अथवा अनंत नय बताये हैं वे सब एक आत्मार्थ ही के लिये हैं। यदि नय आदिका परमार्थ जीवमेंसे निकल जाय तो ही फल होता है, नहीं तो जीवको नय आदिका ज्ञान जालरूप ही हो जाता है, और वह फिर अहंकार बढ़नेका स्थान होता है। अतएव वास्तवमें नय प्रमाण आदिको लक्षणारूप ही समझना चाहिये, लक्ष तो केवल एक सच्चिदानन्द है।'[2][3]

वेदान्त आदि दर्शनोंका अभ्यास

राजचन्द्रजीका ज्ञान जैनशास्त्रोंतक ही सीमित न रहा, परन्तु उन्होंने योगवासिष्ठ, भागवत, विचारसागर, मणिरत्नमाला, पंचीकरण, शिक्षापत्र, वैराग्यशतक, दासबोध, सुंदरविलास, मोहमुद्गर, प्रबोधशतक आदि वेदान्त आदि ग्रंथोंका भी खूब मनन—निदिध्यासन किया था। यद्यपि जान पड़ता है कि राजचन्द्रजीने बौद्ध,[4] सांख्य, पातंजल, न्याय, वैशेषिक, रामानुज आदि दर्शनोंका सामान्य परिचय षड्दर्शनसमुच्चय आदि जैन पुस्तकोंसे ही प्राप्त किया था; परन्तु उनका वेदान्त दर्शनका अभ्यास बहुत अच्छा था। इतना ही नहीं, वेदान्त दर्शनकी ओर राजचन्द्र अमुक अंशमें बहुत कुछ आकर्षित भी हुए थे, और बहुतसे जैनसिद्धान्तोंके साथ वेदान्त दर्शनकी उन्होंने तुलना भी की थी।[5] जैन और वेदान्तकी तुलना करते हुए वे लिखते हैं:—वेदांत और जिनसिद्धांत इन दोनोंमें अनेक प्रकारसे भेद है। वेदान्त एक ब्रह्मस्वरूपसे सर्वस्थितिको कहता है, जिनागममें उससे भिन्न ही स्वरूप कहा गया है।

---

१ देखो ६९४-६४८-३०; ७३३-६८५-३०.

२ यशोविजयजी भी लिखते हैं:—

> जिहा लगि आतमद्रव्यनुं लक्षण नवि जाण्युं।
> तिहा लगि गुणठाणु भलु केम आवे ताण्युं॥
> आतमतत्त्व विचारिए ए आंकणी।
>
> —आत्मतत्त्वविचार नयरहस्य सीमंधर जिनस्तवन ३-१.

३ ६४१-५५७,५६६-२९; १८०-२१६-२४.

४ राजचन्द्रजीका बौद्धधर्मका ज्ञान भ्रान्त मालूम होता है। बौद्धधर्मके चार भेद बताते हुए राजचन्द्रजीने माध्यमिक और शून्यवादीको भिन्न भिन्न गिनाया है; जब कि ये दोनों वस्तुतः एक ही हैं। इसी तरह वे लिखते हैं कि 'शून्यवादी बौद्धके मतानुसार आत्मा विज्ञानमात्र है,' परन्तु विज्ञानमात्रको विज्ञानवादी बौद्ध ही स्वीकार करते हैं, शून्यवादी तो सब शून्य ही मानते हैं—देखो पृ. ५१८ पर अनुवादकका फुटनोट.

५ देखो ४०७-४१९-२८; ५१०-४७५-२९; ५१६-४९१-२९; ६१४-४९८-२९; ६३३-५११-२९; ६५०,६५८-५८३, ४-२९.

समयसार पढ़ते हुए भी बहुतसे जीवोंका एक ब्रह्मकी मान्यतारूप सिद्धांत हो जाता है। बहुत सत्संगसे तथा वैराग्य और उपशमका बल विशेषरूपसे बढ़नेके पश्चात् सिद्धांतका विचार करना चाहिये। यदि ऐसा न किया जाय तो जीव दूसरे मार्गमें आरूढ होकर वैराग्य और उपशमसे हीन हो जाता है। एक 'ब्रह्मरूप'के विचार करनेमें बाधा नहीं, अथवा 'अनेक आत्मा'के विचार करनेमें बाधा नहीं। तुम्हें तथा दूसरे किसी मुमुक्षुको मात्र अपने स्वरूपका जानना ही मुख्य कर्त्तव्य है; और उसके जाननेके शम, संतोष, विचार और सत्संग ये साधन हैं। उन साधनोंके सिद्ध हो जानेपर और वैराग्य उपशमके परिणामकी वृद्धि होनेपर ही 'आत्मा एक है,' अथवा 'आत्मा अनेक हैं' इत्यादि भेदका विचार करना योग्य है।' [1]

जैनधर्मके आग्रहसे मोक्ष नहीं

इससे स्पष्ट मालूम होता है कि अब धीरे धीरे राजचन्द्रजीका लक्ष साम्प्रदायिक आग्रहसे हटकर आत्मज्ञानकी ओर बढ़ता जा रहा है। इसीलिये राजचन्द्रजीने जगह जगह वैराग्य और उपशमके कारणभूत योगवासिष्ठ आदि सद्ग्रंथोंके वाचन मनन करनेका अनुरोध किया है। वे साफ लिख देते हैं कि 'जब हम वेदान्तके ग्रंथोंका अवलोकन करनेके लिये कहते हैं तब वेदान्ती होनेके लिये नहीं कहते; जब जैन ग्रंथोंका अवलोकन करनेके लिये कहते हैं तब जैन होनेके लिये नहीं कहते। किन्तु वेदान्त और जिनागम सबके अवलोकन करनेका उद्देश एक मात्र ज्ञान-प्राप्ति ही है। हालमें जैन और वेदांती आदिके भेदका त्याग करो। आत्मा वैसी नहीं है' [2]। तथा जबतक आत्मामें वैराग्य-उपशम दृढरूपसे नहीं आते तबतक जैन वेदांत आदिके उक्त विचारोंसे चित्तका समाधान होनेके बदले उल्टी चंचलता ही होती है, और उन विचारोंका निर्णय नहीं होता, तथा चित्त विक्षिप्त होकर बादमें यथार्थरूपसे वैराग्य-उपशमको धारण नहीं कर सकता [3]। इतना ही नहीं, इस समय राजचन्द्र सूत्रकृतांग आदि जैन शास्त्रोंको भी कुलधर्मकी वृद्धिके लिये पढ़नेका निषेध करते हैं। और वे इन ग्रंथोंके भी उसी भागको विशेषरूपसे पठन करनेके लिये कहते हैं जिनमें सत्पुरुषोंके चरित अथवा वैराग्य-कथा आदिका वर्णन किया गया हो; और वे यहाँतक लिख देते हैं कि 'जिस पुस्तकसे वैराग्य-उपशम हो, वे ही समकितदृष्टिकी पुस्तकें हैं।'

धीरे धीरे राजचन्द्रजीको अखा, छोटम, प्रीतम, कबीर, सुन्दरदास, मुक्तानन्द, धीरा, सहजानन्द, आनन्दघन, बनारसीदास आदि संत कवियोंकी वाणीका रसस्वादन करनेको मिला [4] और इससे उनका माध्यस्थभाव—समभाव—इतना बढ़ गया कि उन्होंने यहाँ तक लिख दिया—'मैं किसी गच्छमें नहीं, परन्तु आत्मामें हूँ।' [5] तथा 'जैनधर्मके आग्रहसे ही मोक्ष है, इस मान्यताको आत्मा बहुत समयसे भूल चुकी है।' [6] 'सब शास्त्रोंको जाननेका, क्रियाका, ज्ञानका, योगका और भक्तिका प्रयोजन निजस्वरूपकी प्राप्ति करना ही है। चाहे जिस मार्गसे और चाहे जिस दर्शनसे कल्याण होता हो, तो फिर मतमतांतरकी किसी अपेक्षाकी शोध करना योग्य नहीं।' 'मतभेद रखकर किसीने मोक्ष नहीं पाया;' इसलिये "जिस अनुप्रेक्षासे, जिस दर्शनसे और ज्ञानसे आत्मत्व प्राप्त हो वही अनुप्रेक्षा, वही दर्शन और वही ज्ञान सर्वोपरि है।" [7] प्रत्येक सम्प्रदाय अथवा दर्शनके महात्माओंका लक्ष एक 'सत्' ही है। वाणीसे अकथ्य होनेसे वह गूँगेकी श्रेणीसे समझाया गया है; जिससे उनके कथनमें कुछ भेद मालूम होता

---

१ ४२४–३९२–२७.

२ २९६–२९२–२५.

३ ४१३–३७४–२७.

४ राजचन्द्रजीने अवधू, अलखलय, सुधारस, ब्रह्मरस अणछतुं, अनहद, पराभक्ति, हरिजन आदि संत साहित्यके अनेक शब्दोंका जगह जगह प्रयोग किया है, इससे स्पष्ट मालूम होता है कि राजचन्द्रजीने इस साहित्यका खूब मनन किया था.

५ ४८–१६०–२१.

६ १०७–१९६–२४.

७ ४४–१५७–२१.

है; वास्तवमें उसमें भेद नहीं। जबतक जीवको अपने मनका आग्रह है, तबतक उसका कल्याण नहीं होता। कोई जैन कहा जाता हो, और मतसे ग्रस्त हो तो यह अहितकारी है--मतरहित ही हितकारी है। वैष्णव, बौद्ध, श्वेताम्बर, दिगम्बर चाहे कोई भी हो, परन्तु जो कदाग्रहरहित भावसे, शुद्ध समतासे आवरणोंको घटावेगा कल्याण उसीका होगा, इत्यादि विचारोंको राजचन्द्रजीने जगह जगह प्रकट किया है।

सब धर्मोंका मूल आत्मधर्म

इस समय राजचन्द्र सब धर्मोंका मूल आत्मधर्म बताते हैं, और वे स्पष्ट कह देते हैं:—

भिन्न भिन्न मत देखिये भेद दृष्टिनो एह। एक तत्त्वना मूळमां व्याप्या मानो तेह॥

तेह तत्त्वरूप वृक्षनुं आत्मधर्म छे मूळ। स्वभावनी सिद्धि करे, धर्म तेज अनुकूळ॥[1]

—अर्थात् जगत्‌में जो भिन्न भिन्न मत दिखाई देते हैं, वह केवल दृष्टिका भेद मात्र है। इन सबके मूलमें एक ही तत्त्व रहता है, और वह तत्त्व आत्मधर्म है। अतएव जो निजभावकी सिद्धि करता है, वही धर्म उपादेय है। विशालदृष्टि राजचन्द्र कहा करते थे "विचारवुं जिन जेवुं, रहेवुं वेदाती जेवुं"—अर्थात् जिनके समान विचारना चाहिये और वेदांतीके समान रहना चाहिये[2]। एकबार राजचन्द्रजीने वेदमत और जैनमतकी तुलना करते हुए निम्न शब्द कहे थेः—"जैन स्वमत अने वेद परमत एवुं अमारी दृष्टिमां नथी। जैनने संक्षेपीए तो ते वेदज छे। अने अमने तो कंई लाबो भेद जणातो नथी"—[3] अर्थात् जैन स्वमत है और वेद परमत है, यह हमारी दृष्टिमें नहीं है। जैनको संक्षिप्त करें तो वह वेदमत है, और वेदमतको विस्तृत करें तो वह जैनमत है। हमें तो दोनोंमें कोई बड़ा भेद मालूम नहीं होता। इन्हीं माध्यस्थ सम्प्रदायातीत विचारोंके कारण राजचन्द्रजीने सब संतोंके साथ मिलकर उच्च स्वरसे गाया था कि 'ऊँच नीचनो अंतर नथी समज्या ते पाम्या सद्गति'—अर्थात् सद्गति प्राप्त करनेमें—मोक्ष प्राप्त करनेमें—ऊँचनीचका, गच्छ-मतका, तथा जाति और वेषका कोई भी अंतर नहीं;[4] वहाँ तो जो हरिको निष्काम-भावसे भजता है, वह हरिका हो जाता है। इसलिये राजचन्द्रजीने कहा भी हैः—

"निर्दोष सुख निर्दोष आनंद ल्यो गमे त्यांथी भळे।

ए दिव्यशक्तिमान जेथी जंजीरेथी नीकळे॥[5]

—अर्थात् जहाँ कहींसे भी हो सके निर्दोष सुख और निर्दोष आनन्दको प्राप्त करो। लक्ष्य केवल यही रक्खो जिससे यह दिव्यशक्तिमान आत्मा जञ्जीरोंसे—बंधनसे—निकल सके।

ईश्वरभक्ति सर्वोत्तममार्ग

यहाँ यह बात विशेष ध्यानमें रखने योग्य है कि राजचन्द्रजीकी विचारोत्क्रान्तिकी यहीं इतिश्री नहीं हो जाती। परन्तु वे इससे भी आगे बढ़ते हैं। और इस समय 'ईश्वरेच्छा,' 'हरिकृपा,'

---

१ ५२-१६६-२१.

२ हरिभद्रसूरिने भी इसी तरहके मिलते जुलते विचार प्रकट किये हैं:—

श्रोतव्यो सौगतो धर्मः कर्तव्यः पुनरार्हतः।

वैदिको व्यवहर्तव्यो ध्यातव्यः परमः शिवः॥

—अर्थात् बौद्धधर्मका श्रवण करना चाहिये, जैनधर्मका आचरण करना चाहिये, वैदिकधर्मको व्यवहारमें लाना चाहिये, और शैवधर्मका ध्यान करना चाहिये.

३ श्रीयुत दामजी केशवजीके संग्रहमें एक मुमुक्षुके लिखे हुए राजचन्द्र-वृत्तांतके आधारसे। ये विचार राजचन्द्रजीने कुछ जैन साधुओंके समक्ष प्रकट किये थे; ये साधु एकदम आकर जैनधर्मकी निन्दा करने लगे थे.

४ जाति वेष दर्शन तणो आग्रह तेम विकल्प। कह्यो मार्ग आ साधशे जन्म तेहना अल्प॥

जाति वेषनो भेद नहीं कह्यो मार्ग जो होय। साधे ते मुक्ति लहे एमां भेद न कोय॥

आत्मसिद्धि १०५-७. पृ. ६१७.

५ ४-६०-१६.

की वृत्ति रक्खी है। इसके कारण यद्यपि कोई भेद तो नहीं, परन्तु भेदका प्रकाश नहीं किया जा सक
यही चिन्ता निरंतर रहा करती है।

अनेक अनेक प्रकारसे मनन करनेपर हमें यही दृढ़ निश्चय हुआ कि भक्ति ही सर्वोपरि म
है; और यह ऐसी अनुपम वस्तु है कि यदि उसे सत्पुरुषके चरणोंके समीप रहकर की जाय तो यह क्षण
में मोक्ष दे सकती है।"[1]

जगत्का अधिष्ठान हरि

राजचन्द्र यहींतक नहीं ठहरते। वे तीर्थंकरतकको नहीं छोड़ते, और जैनदर्शनके म
उपासक होनेपर भी वे स्पष्ट लिखते हैं कि 'इस जगत्का कोई अधिष्ठान, अर्थात् 'जिसमेंसे वस्तु उत्पन्न
हो, जिसमें वह स्थिर रहे, और जिसमें वह लय पावे'—अवश्य होना चाहिये। यह रहा वह अन
पत्रः— "जैनकी बाह्य शैली देखनेपर तो हम 'तीर्थंकरको सम्पूर्ण ज्ञान हो' यह कहते हुए भ्र
पड़ जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि जैनकी अंतर्शैली दूसरी होनी चाहिये। कारण कि इस जग
'अधिष्ठान' के बिना वर्णन किया है, और वह वर्णन अनेक प्राणी—विचक्षण आचार्योंको भी भ्रां
कारण हुआ है। तथापि यदि हम अपने अभिप्रायके अनुसार विचार करते हैं तो ऐसा लगता है
तीर्थंकरदेवकी आत्मा ज्ञानी होनी चाहिये। परन्तु तत्कालविषयक जगतके रूपका वर्णन किया है
लोग सर्व कालमें ऐसा मान बैठे हैं, जिससे भ्रान्तिमें पड़ गये हैं। चाहे जो हो परन्तु इस कालमें जैनधर्ममें
करके मार्गको जाननेकी आकांक्षावाले प्राणियोंका होना दुर्लभ है। कारण कि एक तो चट्टानपर चढ़ा
जहाज—और वह भी पुराना—यह भयंकर है। उसी तरह जैनदर्शनकी कथनी घिस जानेसे—'अधि
विषयक भ्रान्तिरूप चट्टानपर वह जहाज चढ़ा है—जिससे वह सुखरूप नहीं हो सकता। यह हमारी
प्रत्यक्ष प्रमाणसे मालूम होगी। तीर्थंकरदेवके संबंधमें हमें बारंबार विचार रहा करता है कि उ
इस जगत्का 'अधिष्ठान' के बिना वर्णन किया है—उसका क्या कारण? क्या उसे 'अधिष्ठान' का
नहीं हुआ होगा? अथवा 'अधिष्ठान' होगा ही नहीं? अथवा किसी उद्देशसे छिपाया होगा? अ
कथनभेदसे परंपरासे समझमें न आनेसे अधिष्ठानविषयक कथन लय हो गया होगा? यह विचार
करता है। यद्यपि तीर्थंकरको हम महान् पुरुष मानते हैं; उसे नमस्कार करते हैं; उसके अपूर्व
ऊपर हमारी परम भक्ति है; और उससे हम समझते हैं कि अधिष्ठान तो उनका जाना हुआ था,
लोगोंने परंपरासे मार्गकी भूलसे लय कर डाला है। जगत्का कोई अधिष्ठान होना चाहिये—ऐसा
महात्माओंका कथन है, और हम भी यही कहते हैं कि अधिष्ठान है—और वह अधिष्ठान हरि भगवान्
हैं—जिसे फिर फिरसे हृदयदेशमें चाहते हैं।

तीर्थंकरदेवके लिये सख्त शब्द लिखे गये हैं, इसके लिये उसे नमस्कार।"[2]

---

१ १७४-२३२-२४.

१ अखाने भी ईश्वरको अधिष्ठान बताते हुए 'अखे गीता' में लिखा है:—

अधिष्ठान ते तमे स्वामी तेणे ए चाल्युं जाय।
अणछतो जीव हु हुं करे पण भेद न भीछे माय॥ कडवुं १९-९.

२ जैननी बाह्य शैली जोता तो अमे तीर्थंकरने सम्पूर्ण ज्ञान होय एम कहेता भ्रांतिमां पडीए
छीए. आनो अर्थ एवो छे के जैननी अंतर्शैली बीजी जोइए. कारणके 'अधिष्ठान' वगर आ जगतने
वर्णव्युं छे, अने ते वर्णन अनेक प्राणीओ—विचक्षण आचार्योने पण भ्रांतिनुं कारण थयुं छे, तथापि
अमे अमारा अभिप्रायप्रमाणे विचारीए छीए तो एम लागे छे के तीर्थंकरदेव तो ज्ञानी आत्मा होवा
जोइए, परन्तु ते काळपरत्वे जगतनुं रूप वर्णव्युं छे, अने लोको सर्वकाळ एवुं मानी बेठा छे; जेथी भ्रांतिमां
पड्या छे. गमे तेम हो पण आ काळमां जैनमां तीर्थंकरना मार्गने जाणवानी आकांक्षावाळो प्राणी थवो
दुर्लभ संभवे छे; कारणके खराबे चडेलुं वहाण—अने ते पण जूनुं—ए भयकर छे. तेमज जैननी कथनी
घसाई जई—'अधिष्ठान' विषयनी भ्रांतिरूप खराबे ते वहाण चडयुं छे—जेथी सुखरूप थवुं संभवे नहीं.

आत्मविकासकी उच्च दशा

राजचन्द्रजी इस समय ' अथाह भारी वेदना ' का अनुभव करते हैं। तत्त्वज्ञानकी गुफाका दर्शन कर'[1] वे अलखलय '—' ब्रह्मसमाधि ' में लीन हो जाते हैं। धर्मेच्छुक लोगोंका पत्रव्यवहार उन्हें बंधनरूप हो उठता है; स्याद्वाद, गुणस्थान आदिकी ' सिर घुमा देनेवाली ' चर्चाओंसे उनका चित्त विरक्त हो जाता है; और तो और वे अपना निजका भान भूल बैठते हैं; अपना मिथ्यानामधारी, निमित्तमात्र, अव्यक्तदशा, सहजस्वरूप आदि शब्दोंसे उल्लेख करते हैं; और कभी तो उल्लासमें आकर अपने आपको ही नमस्कार[2] कर लेते हैं। आत्मदशामें राजचन्द्र इतने उन्मत्त हो जाते हैं कि वे सर्वगुणसम्पन्न भगवान्‌तकमें भी दोष[3] निकालते हैं; और तीर्थंकर बननेकी, केवलज्ञान पानेकी, और मोक्ष प्राप्त करनेतककी इच्छासे निस्पृह हो जाते हैं। कबीर आदि संतोंके शब्दोंमें राजचन्द्रकी यह ' अकथ कथा कहनेसे कही नहीं जाती और लिखनेसे लिखी नहीं जाती'। उनके चित्तकी दशा एकदम निरंकुश हो जाती है। इस अलक्ष दशामें 'उन्हें सब कुछ अच्छा लगता है और कुछ भी अच्छा नहीं लगता।' उन्हें किसी भी कामकी स्मृति अथवा खबर नहीं रहती, किसी काममें यथोचित उपयोग नहीं रहता, यहाँतक कि उन्हें अपने तनकी भी सुध बुध नहीं रहती। कबीर साहबने इसी दशाका " हरिरस पीया जानिये कबहुँ न जाय खुमार। मैमन्ता घूमत फिरे नाहीं तनकी सार "—कहकर वर्णन किया है। राजचन्द्रजीकी यह दशा जरा उन्हींके शब्दोंमें सुनियेः—
" एक पुराण-पुरुष और पुराण-पुरुषकी प्रेम संपत्ति बिना हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता। हमें किसी भी पदार्थमें बिलकुल भी रुचि नहीं रही; कुछ भी प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं होती; व्यवहार कैसे चलता है, इसका भी भान नहीं; जगत् किस स्थितिमें है, इसकी भी स्मृति नहीं रहती; शत्रु-मित्रमें कोई भी भेदभाव नहीं रहा; कौन शत्रु और कौन मित्र है, इसकी भी खबर रक्खी नहीं जाती; हम देहधारी हैं या और कुछ, जब यह याद करते हैं तब मुश्किलसे जान पाते हैं; हमें क्या करना है, यह किसीकी भी

आ अमारी वात प्रत्यक्ष प्रमाणे देख शो. तीर्थंकरदेवना संबंधमां अमने वारंवार विचार रह्या करे छे के तेमणे ' अधिष्ठान ' वगर आ जगत् वर्णव्युं छे—तेनुं शुं कारण ? शुं तेने ' अधिष्ठान ' नुं ज्ञान नहीं थयुं होय ? अथवा ' अधिष्ठान ' नहीं ज होय—अथवा कोई उद्देशे छुपाव्युं हशे ? अथवा कथनभेदे परंपराए नहीं समजवाथी ' अधिष्ठान ' विषेनुं कथन लय पाम्युं हशे ? आ विचार थया करे छे. जोके तीर्थंकरने अमे मोटा पुरुष मानीए छीए; तेने नमस्कार करीए छीए; तेना अपूर्व गुण उपर अमारी परम भक्ति छे; अने तेथी अमे धारीए छीए के अधिष्ठान तो तेमणे जाणेलुं—पण लोकोए परंपराए मार्गनी भूलथी लय करी नाख्युं। जगत्नुं कोई अधिष्ठान होवुं जोईए—एम घणा खरा महात्माओनुं कथन छे, अने अमे पण एमज कहीए छीए के अधिष्ठान छे—अने ते अधिष्ठान हरि भगवान् छे—जेने फरी फरी हृदयदेवना जोईए छीए.

तीर्थंकरदेवने माटे सखत शब्दो लखाया छे, माटे तेने नमस्कार.

—यह पत्र, पत्रांक १९१ का ही अंश है। इस पत्रका यह भाग ' श्रीमद् राजचन्द्र ' के अबतक प्रकाशित किसी भी संस्करणमें नहीं छपा। यह मुझे एक सज्जन मुमुक्षुकी कृपासे प्राप्त हुआ है—इसके लिये लेखक उनका बहुत आभारी है। इस पत्रसे राजचन्द्रजीके विचारोंके संबंधमें बहुत कुछ स्पष्टीकरण होता है।

१ देखो ५६-१६४-२१, ९३-१९०-२३.

२ आनन्दघनजीने भी अपने आपको आनन्दघनचौबीसी (१६-१३) में इस तरह नमस्कार किया है:—

अहो अहो हुं मुजने कहुं नमो मुज नमो मुज रे।
अमित फल दान दातारनी जेहनी भेट थई तुज रे॥

३ १४४-२१६-३१.

४ देखो १६१-२३६-२४; १८१-२४९-२४; २२९-२६४-२४.

समझमें आने जैसा नहीं है। हम सभी पदार्थोंसे उदास हो जानेसे चाहे जैसे प्रवर्तते हैं, मन नियमका भी कोई नियम नहीं रक्खा; भेदभावका कोई भी प्रसंग नहीं; हमने अपनेसे विमुख जगत्में कुछ भी माना नहीं; हमारे सन्मुख ऐसे सत्संगीके न मिलनेसे खेद रहा करता है; संपत्ति भरपूर है, इसलिये संपत्तिकी इच्छा नहीं, शब्द आदि अनुभव किये हुए विषय स्मृतिमें आ जानेके कारण—अथवा चाहे उसे ईश्वरेच्छा कहो—परन्तु उसकी भी अब इच्छा नहीं रही; अपनी इच्छासे ही थोड़ी ही प्रवृत्ति की जाती है; हरिकी इच्छाका क्रम जैसे चलाता है वैसे ही चलते चले जाते हैं। हृदय प्रायः शून्य जैसा हो गया है; पाँचों इन्द्रियाँ शून्यरूपसे ही प्रवृत्ति करती हैं; नय-प्रमाण वगैरह शास्त्र-भेद याद नहीं आते; कुछ भी बाँचनेमें चित्त नहीं लगता; खानेकी, पीनेकी, बैठनेकी, सोनेकी, और बोलनेकी वृत्तियाँ सब अपनी अपनी इच्छानुसार होती हैं; तथा हम अपने स्वाधीन हैं या नहीं, इसका भी यथायोग्य भान नहीं रहा।

इस प्रकार सब तरहसे विचित्र उदासीनता आ जानेसे चाहे जैसी प्रवृत्ति हो जाया करती है। एक प्रकारसे पूर्ण पागलपन है; एक प्रकारसे उस पागलपनको कुछ छिपाकर रखते हैं; और जितनी मात्रामें उसे छिपाकर रखते हैं, उतनी ही हानि है। योग्यरूपसे प्रवृत्ति हो रही है अथवा अयोग्यरूपसे, इसका कुछ भी हिसाब नहीं रक्खा। आदि-पुरुषमें एक अखंड प्रेमके सिवाय दूसरे मोक्ष आदि पदार्थोंकी भी आकांक्षाका नाश हो गया है। इतना सब होनेपर भी संतोषजनक उदासीनता नहीं आई, ऐसा मानते हैं। अखंड प्रेमका प्रवाह तो नशेके प्रवाह जैसा प्रवाहित होना चाहिये। परन्तु वैसा प्रवाहित नहीं हो रहा, ऐसा हम जान रहे हैं; ऐसा करनेसे वह अखंड नशेका प्रवाह प्रवाहित होगा ऐसा निश्चयरूपसे समझते हैं। परन्तु उसे करनेमें काल कारणभूत हो गया है। और इन सबका दोष हमपर है अथवा हरिपर, उसका ठीक ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता। इतनी अधिक उदासीनता होनेपर भी व्यापार करते हैं, लेते हैं, देते हैं, लिखते हैं, बाँचते हैं, निभाते जा रहे हैं, खेद पाते हैं, हँसते भी हैं, जिसका ठिकाना नहीं, ऐसी हमारी दशा है; और उसका कारण केवल यही है कि जबतक हरिकी सुखद इच्छा नहीं मानी तबतक खेद मिटनेवाला नहीं। यह बात समझमें आ रही है, समझ भी रहे हैं, और समझेंगे भी, परन्तु सर्वत्र हरि ही कारणरूप है।

हमारा देश हरि है, जाति हरि है, काल हरि है, देह हरि है, रूप हरि है, नाम हरि है, दिशा हरि है, सब कुछ हरि ही हरि है। और फिर भी हम इस प्रकार कारबारमें लगे हुए हैं। यह इसीकी इच्छाका कारण है।"[1]

इससे मालूम होता है कि राजचन्द्र एक पहुँचे हुए संत (Mystic) थे। उन्होंने कबीर, दादू, प्रीतम, आनन्दघन आदि संतोंकी तरह उस 'अवाङ्मानसगोचर' सहजानन्दकी उच्च दशाका अनुभव किया था, जिसका उपनिषद्के ऋषियों-मुनियोंसे लगाकर पूर्व और पश्चिमके अनेक संतों और विचारकोंने जगह जगह बखान किया है। स्वामी विवेकानन्दने इस दशाका निम्न प्रकारसे वर्णन किया है:—

There is no feeling of I, and yet the mind works, desireless, free from restlessness, objectless, bodiless. Then the truth shines in its full effulgence, and we know ourselves—for Samādhi lies potential in us all—for what we truly are, free, immortal omnipotent, loosed from the finite and its contrasts of good and evil altogether, and identical with the Atman or Universal Soul—अर्थात् उस दशामें अहंभावका विचार नहीं रहता, परन्तु मन इच्छारहित होकर, चंचलतारहित होकर, प्रयोजनरहित होकर और शरीररहित होकर काम करता है। उस समय सत्य अपने पूर्ण तेजसे देदीप्यमान होता है, और हम अपने आपको जान लेते हैं। क्योंकि समाधि हम सबमें

[1] २१७–२५४–२४; तुलना करो:—
हरिमय सर्व देखे ते भक्त, ज्ञानी आगे छे अव्यक्त।
अहर्निश मन श्री वेष्णु रहे, सो कोण नंदे ने कोने कहे॥
बस पावे रसवादस करे गळे गर्वना भला उतरे—अखाना छप्पा वेषविचार अंग ४५५.

अव्यक्तरूपसे मौजूद रहती है। क्योंकि हम वास्तवमें स्वाधीन हैं, अमर हैं, सर्वशक्तिमान हैं, परिमितसे पृथक् हैं, सत् और असत्के भेदसे पर हैं, तथा आत्मा और परमात्मासे अभिन्न हैं।[1] बौद्ध, जैन, ईसाई, मुसलमान आदि सभी धर्मोंके ग्रन्थकारोंने इस दशाका भिन्न भिन्न रूपमें वर्णन किया है।[2] निस्सन्देह राजचन्द्र आत्मविकासकी उच्च दशाको पहुँचे हुए थे; और जान पड़ता है इसी दशाको उन्होंने 'शुद्धसमकित' के नामसे उल्लेख किया है। वे लिखते हैं:—

ओगणीसें ने सुडतालीसे समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे।
श्रुत अनुभव वधती दशा निजस्वरूप अवभास्युं रे॥

इस पद्यमें उन्होंने संवत् १९४७ में, अपनी २४ वर्षकी अवस्थामें श्रुत-अनुभव, बढ़ती हुई दशा, और निजस्वरूपके भास होनेका स्पष्ट उल्लेख किया है।

राजचन्द्रजीका लेखसंग्रह

श्रीमद् राजचन्द्रने अपने ३३ वर्षके छोटेसे जीवनमें बहुत कुछ बाँचा और बहुत ही कुछ लिखा। यद्यपि राजचन्द्रजीके लेखों, पत्रों आदिका बहुत कुछ संग्रह 'श्रीमद् राजचन्द्र' नामक ग्रंथमें आ गया है। परन्तु यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि अभी राजचन्द्रजीके पत्रों आदिका बहुतसा भाग और भी मौजूद है[3]। और इस भागमें कुछ भाग तो ऐसा है जिससे राजचन्द्रजीके विचारोंके संबंधमें बहुतसी नई बातोंपर प्रकाश पड़ता है, और तत्संबंधी बहुतसी गुत्थियाँ सुलझती हैं। राजचन्द्रजीके लेखोंको सामान्यतया तीन विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है। प्रथम भागमें राजचन्द्रजीके विविध पत्रोंका संग्रह आता है; जिन्हें राजचन्द्रजीने भिन्न भिन्न अवसरोंपर मुमुक्षुओंकी तत्त्वज्ञानकी पिपासा शान्त करनेके लिये लिखा था। इन पत्रोंमेंसे कुछ थोड़ेसे खास खास पत्र पहिले उद्धृत किये जा चुके हैं। राजचन्द्रजीके पत्रोंसे—खासकर जिनमें गांधीजीने राजचन्द्रजीसे सत्ताईस प्रश्नोंका उत्तर माँगा है—गांधीजीको बहुत शांति मिली थी, और वे हिन्दुधर्ममें स्थिर रह सके थे, यह बात बहुतसे लोग जानते हैं। राजचन्द्रजीके लेखोंका दूसरा भाग निजसंबंधी है। इन पत्रोंके पढ़नेसे मालूम होता है कि राजचन्द्र अपना सतत आत्मनिरीक्षण (Self analysis) करनेमें कितने सतर्क रहते थे। कहीं कहीं तो उनका आत्मनिरीक्षण इतना स्पष्ट और सूक्ष्म होता था कि उसके पढ़नेसे सामान्य लोगोंको उनके विषयमें भ्रम हो जानेकी संभावना थी। इसी कारण राजचन्द्रजीको अपना अंतःकरण खोलकर रखनेके लिये कोई योग्य स्थल नहीं मिलता था। बहुत करके राजचन्द्रजीने इन पत्रोंको अपने महान् उपकारक सायला निवासी श्रीयुत सौभागभाईको ही लिखा था। इस प्रकारका साहित्य अपनी भाषाओंमें बहुत ही कम है। इसमें सन्देह नहीं ये समस्त पत्र अत्यंत उपयोगी हैं, और राजचन्द्रजीको समझनेके लिये पारदर्शकका काम करते हैं। अनेक स्थलोंपर राजचन्द्रजीने अपनी निजकी दशाका पद्यमें भी वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त इस संबंधमें राजचन्द्रजीकी जो 'प्राइवेट डायरी' (नोंधपोथी) है—जिन्हें राजचन्द्रजी व्यावहारिक कामकाजसे अवकाश मिलते ही लिखने बैठ जाते थे—बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। राजचन्द्रजीको जो समय समयपर नाना तरहकी

---

1 विवेकानन्दःराजयोग लन्डन १८९६.

2 देखो अमेरिकाके प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्सकी The Varieties of Religious Experiences नामक पुस्तकमें Mysticism नामक प्रकरण; तथा रिचर्ड मौरिस ब्युककी Cosmic Consciousness १९०५.

3 इस भागमेंसे दो महत्त्वपूर्ण पत्रोंके अंश पहिले उद्धृत किये जा चुके हैं। इन पत्रोंका कुछ भाग मुझे दो मुमुक्षुओंकी कृपासे पढ़नेको मिला। एक पत्रमें दस या बारह सूत्रोंमें राजचन्द्रजीने अपनी जैनतत्त्वज्ञानसंबंधी आलोचनाका निचोड़ लिखा है। मुझे इस पत्रसे राजचन्द्रजीका दृष्टिबिन्दु समझनेमें बहुत मदद मिली है। इसके लिये उक्त मुमुक्षुओंका मैं बहुत कृतज्ञ हूँ।

विचारधारायें उदित होती थीं, उन्हें वे अपनी डायरीमें नोट कर लेते थे। यद्यपि राजचन्द्रजीके पत्रोंकी तरह उनकी प्राइवेट डायरी भी अपूर्ण ही है, फिर भी जो कुछ है, वे बहुत महत्त्वकी हैं। राजचन्द्रजीके लेखोंका तीसरा भाग उनकी मौलिक अथवा अनुवादात्मक और विवेचनात्मक रचनायें हैं।

मौलिक रचनायें

स्त्रीनीतिबोध प्रथम भाग, राजचन्द्रजीकी १६ वर्षसे पहिलेकी रचनाओंमें प्रथम रचना गिनी जाती है। यह ग्रंथ पद्यात्मक है, और यह सं. १९४० में प्रकाशित हुआ है[1]। राजचन्द्रजीने इस ग्रंथको तीन भागोंमें बनानेका विचार किया था। मालूम होता है राजचन्द्र शेष दो भागोंको लिख नहीं सके। ग्रंथके मुखपृष्ठके ऊपर स्त्रीशिक्षाकी आवश्यकताके विषयमें निम्न पद्य दिया गया है:—

मथा देश आबाद सौ होंश धारो, भणावी गणावी वनिता सुधारो।
थनी आर्यभूमि विषे जेह हानि, करो दूर तेने तमे हित मानी॥

राजचन्द्रजीने इस ग्रंथकी छोटीसी प्रस्तावना भी लिखी है। उसमें स्त्रीशिक्षाके ऊपर जो पुराने विचारके लोग आक्षेप करते हैं, उनका निराकरण किया है। तथा स्त्रियोंको सुधारनेके लिये बाललग्न, अनमेल विवाह आदि कुप्रथाओंको दूर करनेका लोगोंसे अनुरोध किया है। इस पुस्तकके राजचन्द्रजीने चार भाग किये हैं। प्रथम भागमें ईश्वरप्रार्थना, क्षणभंगुर देह, माताकी पुत्रीको शिक्षा, समयको व्यर्थ न खोना आदि; दूसरे भागमें शिक्षा, शिक्षाके लाभ, अनपढ़ स्त्रीको धिक्कार आदि; तीसरे भागमें सुधार, सद्गुण, सुनीति, सत्य, परपुरुष, आदि; तथा चौथे भागमें 'सद्गुणसज्जनी' और 'सद्बोधशतक' इस तरह सब मिलाकर चौबीस गरबी हैं।

राजचन्द्रजीका दूसरा ग्रंथ काव्यमाला है। 'स्त्रीनीतिबोध' के अन्तमें दिये हुए विज्ञापनमें राजचन्द्रजीने काव्यमाला नामक एक सुनीतिबोधक पुस्तक बनाकर तैय्यार करनेकी सूचना की है। इससे मालूम पड़ता है कि काव्यमाला कोई नीतिसंबंधी पुस्तक होनी चाहिये। इस पुस्तकमें एकसौ आठ काव्य हैं, जिनके चार भाग किये गये हैं। इस पुस्तकके विषयमें कुछ विशेष ज्ञात नहीं हो सका।

राजचन्द्रजीकी तीसरी पुस्तक है वचनसप्तशती। राजचन्द्रजीने वचनसप्तशतीको पुनः पुनः स्मरण रखनेको लिखा है। इस ग्रंथमें सातसौ वचन गूँथे गये हैं[2]। उनमेंसे कुछ वचन निम्न प्रकारसे हैं:—

सिर चला जाय पर प्रतिज्ञा भंग न करना (१९). किसी दर्शनकी निन्दा न करूँ (६७). अधिक ब्याज न लूँ (३३५). दीर्घशंकामें अधिक समय न लगाऊँ (३९०). आजीविकाकी विद्याका सेवन न करूँ (४१५). फोटो न खिंचवाऊँ (४५३). क्षौरकर्मके समय मौन रहूँ (५१५). पुत्रीको पढ़ाये बिना न रहूँ (५४५). कुटुंबको स्वर्ग बनाऊँ (५६१).

राजचन्द्रजीकी १६ वर्षसे पूर्वकी चौथी रचना पुष्पमाला है। जिस तरह जापमालामें एकसौ आठ दाने होते हैं, उसी तरह राजचन्द्रजीने सुबह शाम निवृत्तिके समय पाठ करनेके लिए एकसौ आठ वचनोंमें पुष्पमालाकी रचना की है। इसमें राजा, वकील, श्रीमंत, बालक, युवा, वृद्ध, धर्माचार्य, कृपण, दुराचारी, कमाई आदि सभी तरहके लोगोंके लिये हितवचन लिखे गये हैं। सोलह वर्षसे कम अवस्थामें इतने गंभीर और मार्मिक वचनोंका लिखा जाना, सचमुच बहुत आश्चर्यकारक है! इनमेंसे कुछ वाक्य यहाँ दिये जाते हैं:—

यदि तुझे धर्मका अस्तित्व अनुकूल न आता हो तो जो नीचे कहता हूँ उसे विचार जाना।—

---

[1] छपा हुआ ग्रंथ मुझे देखनेको नहीं मिला। मैंने यह विवेचन श्रीयुत दामजी केशवजीके कब्जेमें हस्तलिखित स्त्रीनीतिबोधके ऊपरसे लिखा है।

[2] श्रीयुत गोपालदास जीवाभाई पटेल 'श्रीमदनी जीवनयात्रा' में लिखते हैं कि राजचन्द्रजीने वचन सप्तशतीके अलावा 'महानीति' के सातसौ वचन अलग लिखे हैं। परन्तु एक सज्जनके कथनानुसार महानीतिके सातसौ वचन और वचनसप्तशती एक ही हैं, अलग अलग नहीं।

आत्मसिद्धिमें १४२ पद्य हैं। पहिले ४२ पद्योंमें प्रास्ताविक विवेचनके पश्चात् शेष पद्योंमें 'आत्मा है, वह नित्य है, वह निज कर्मकी कर्त्ता है, वह भोक्ता है, मोक्ष है, और मोक्षका उपाय है'—इन 'छह पदोंकी' [1] सिद्धि की गई है। प्रास्ताविक विवेचनमें राजचन्द्रजीने शुष्कज्ञानी, क्रियाजड़, मतार्थी, आत्मार्थी, सद्गुरु, असद्गुरु आदिका विवेचन किया है। शुष्कज्ञानी और क्रियाजड़का लक्षण लिखते हुए राजचन्द्रजी कहते हैं—

बाह्यक्रियामां राचतां अंतर्भेद न कांइ। ज्ञानमार्ग निषेधतां तेह क्रियाजड आंहि॥
बंध मोक्ष छे कल्पना भाखे वाणीमांहि। वर्त्ते मोहावेशमां शुष्कज्ञानी ते आंहि॥

—जो मात्र बाह्यक्रियामें रचे पचे पड़े हैं, जिनके अंतरमें कोई भी भेद उत्पन्न नहीं हुआ, और जो ज्ञानमार्गका निषेध करते हैं, उन्हें यहां क्रियाजड़ कहा है। बंध और मोक्ष केवल कल्पनामात्र है—इस निश्चय-वाक्यको जो केवल वाणीसे ही बोला करता है, और तथारूप दशा जिसकी हुई नहीं, और जो मोहके प्रभावमें ही रहता है, उसे यहाँ शुष्कज्ञानी कहा है।

सद्गुरुके विषयमें राजचन्द्र लिखते हैं—

आत्मज्ञान समदर्शिता विचरे उदय प्रयोग। अपूर्व वाणी परमश्रुत सद्गुरु लक्षण योग्य॥

—आत्मज्ञानमें जिनकी स्थिति है, अर्थात् परभावकी इच्छासे जो रहित हो गये हैं; तथा शत्रु, मित्र, हर्ष, शोक, नमस्कार, तिरस्कार आदि भावके प्रति जिन्हें समता रहती है; केवल पूर्वमें उत्पन्न हुए कर्मोंके उदयके कारण ही जिनकी विचरण आदि क्रियायें हैं; जिनकी वाणी अज्ञानीसे प्रत्यक्ष भिन्न है; और जो षट्दर्शनके तात्पर्यको जानते हैं—वे उत्तम सद्गुरु हैं।

तत्पश्चात् ग्रन्थकार गुरु-शिष्यके शंका-समाधानरूपमें 'षट्पद'का कथन करते हैं। प्रथम ही शिष्य आत्माके अस्तित्वके विषयमें शंका करता है और कहता है कि "न आत्मा देखनेमें आती है, न उसका कोई रूप मालूम होता है, और स्पर्श आदि अनुभवसे भी उसका ज्ञान नहीं होता। यदि आत्मा कोई वस्तु होती तो घट, पट आदिकी तरह उसका ज्ञान अवश्य होना चाहिये था"! इस शंकाका उत्तर गुरु दस पद्योंमें देकर अन्तमें लिखते हैं—

आत्मानी शंका करे आत्मा पोते आप। शंकानो करनार ते अचरज एह अमाप॥

—आत्मा स्वयं ही आत्माकी शंका करती है। परन्तु जो शंका करनेवाला है, वही आत्मा है—इस बातको आत्मा जानती नहीं, यह एक असीम आश्चर्य है।

आगे चलकर आत्माके नित्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, मुक्ति और उसके साधनपर विवेचन किया गया है। आत्माके कर्तृत्वका विचार करते समय राजचन्द्रजीने ईश्वरकर्तृत्वके विषयमें अनेक विकल्प उठाकर उसका खंडन किया है। तत्पश्चात् मोक्षके उपायके संबंधमें शिष्य शंका करता है कि "संसारमें अनेक मत और दर्शन मौजूद हैं। ये सब मत और दर्शन भिन्न भिन्न प्रकारसे मोक्षके उपाय बताते हैं। इसलिये किस जातिसे और किस वेषसे मोक्ष हो सकता है, इस बातका निश्चय होना कठिन है। अतएव मोक्षका उपाय नहीं बन सकता"! इस शंकाका गुरुने नीचे लिखा समाधान किया है:—

छोडी मत दर्शनतणो आग्रह तेम विकल्प। कह्यो मार्ग आ साधशे जन्म तेहना अल्प॥
जाति वेषनो भेद नहीं कह्यो मार्ग जो होय। साधे ते मुक्ति लहे एमां भेद न कोय॥

—यह मेरा मत है, इसलिये मुझे इसी मतमें लगे रहना चाहिये; अथवा यह मेरा दर्शन है, इसलिये चाहे जिस तरह भी हो मुझे उसीकी सिद्धि करनी चाहिये—इस आग्रह अथवा विकल्पको छोड़कर जो ऊपर कहे हुए मार्गका साधन करेगा, उसे ही मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। तथा मोक्ष किसी भी जाति अथवा वेषसे

[1] उपाध्याय यशोविजयजीने 'सम्यक्त्वना षट्स्थान स्वरूपनी चौपाई'में इन छह पदोंका निम्न गाथामें उल्लेख किया है:—

अत्थि जीवो तहा निच्चं कत्ता भुत्ता य पुण्णपावाणं।
अत्थि धुवं निव्वाणं तस्सोवाओ अ छट्ठाणा॥

हो सकता है—इसमें कुछ भी भेद नहीं। मोक्षमें ऊँच नीचका कोई भी भेद नहीं; जो उसकी साधना करता है, वह उसे पाता है।

अन्तमें ग्रन्थकार उपसंहार करते हुए लिखते हैं:—

आत्मभ्रांतिसम रोग नहीं सद्गुरु वैद्य सुजान। गुरुआज्ञासम पथ्य नहीं औषध विचार ध्यान।
जो इच्छो परमार्थ तो करो सत्य पुरुषार्थ। भवस्थिति आदि नाम लइ छेदो नहीं आत्मार्थ॥
गच्छमतनी जे कल्पना ते नहीं सद्व्यवहार। भान नहीं निजरूपनुं ते निश्चय नहीं सार।
आगळ ज्ञानी थई गया वर्त्तमानमां होय। थाशे काळ भविष्यमां मार्गभेद नहीं कोय॥

—आत्माको जो अपने निजस्वरूपका भान नहीं—इसके समान दूसरा कोई भी रोग नहीं; सद्गुरुके समान उसका कोई भी सच्चा अथवा निपुण वैद्य नहीं; सद्गुरुकी आज्ञापूर्वक चलनेके समान दूसरा कोई भी पथ्य नहीं; और विचार तथा निदिध्यासनके समान उसकी दूसरी कोई भी औषध नहीं। यदि परमार्थकी इच्छा करते हो तो सच्चा पुरुषार्थ करो, और भवस्थिति आदिका नाम लेकर आत्मार्थका छेदन न करो। गच्छ-मतकी जो कल्पना है वह सद्व्यवहार नहीं। जीवको अपने स्वरूपका तो भान नहीं—जिस तरह देह अनुभवमें आती है, उस तरह आत्माका अनुभव तो हुआ नहीं—बल्कि देहाध्यास ही रहता है—और वह वैराग्य आदि साधनके प्राप्त किये बिना ही निश्चय निश्चय चिल्लाया करता है, किन्तु वह निश्चय सारभूत नहीं है। भूतकालमें जो ज्ञानी-पुरुष हो गये हैं, वर्तमानकालमें जो मौजूद हैं, और भविष्यकालमें जो होंगे, उनका किसीका भी मार्ग भिन्न नहीं होता।

आत्मसिद्धिशास्त्रका नाम यथार्थ ही है। इससे राजचन्द्रजीके गंभीर और विशाल चिन्तनकी थाह मिलती है। सोभागभाईने आत्मसिद्धिके विषयमें एक जगह लिखा है:—"उस उत्तमोत्तम शास्त्रके विचार करनेसे मन, वचन और काययोग सहज आत्मविचारमें प्रवृत्ति करते थे। बाह्य प्रवृत्तिमें मेरी चित्तवृत्ति सहज ही रुक गई—आत्मविचारमें ही रहने लगी। बहुत परिश्रमसे मेरे मन, वचन, काय जो अपूर्व आत्मपदार्थमें परम प्रेमसे स्थिर न रह सके, सो इस शास्त्रके विचारसे सहज स्वभावमें, आत्मविचारमें तथा सद्गुरुचरणमें स्थिरभावसे रहने लगे।"

आत्मसिद्धिके अंग्रेजी, मराठी, संस्कृत और हिन्दी भाषान्तर भी हुए हैं। इसका अंग्रेजी अनुवाद स्वयं गांधीजीने दक्षिण अफ्रिकासे करके श्रीयुत मनसुखराम रवजीभाईके पास भेजा था, परन्तु असावधानीसे वह कहीं गुम गया।

इसके बाद, तीसवें वर्षमें राजचन्द्रजी जैनमार्गविवेक, मोक्षसिद्धांत और द्रव्यप्रकाश नामक निबंध भी लिखना चाहते थे। राजचन्द्रजीके ये तीनों लेख ६९४-६४७, ९-२० में अपूर्णरूपसे दिये गये हैं।

इसके अतिरिक्त राजचन्द्रजीने सद्बोधसूचक प्रास्ताविक काव्य, स्वदेशीओने विनंति (सौराष्ट्रदर्पण अक्टोबर १८८५ में प्रकाशित), श्रीमंतजनोने शिखामण (सौराष्ट्रदर्पण अक्टोबर १८८५), हुन्नर कला वधारवाविषे (नवम्बर १८८५), आर्यप्रजानी पडती (विज्ञानविलास अक्टोबर, नवम्बर, दिसम्बर १८८५), खर्वीरस्मरण (बुद्धिप्रकाश दिसम्बर १८८५), खरो श्रीमंत कोण (बुद्धिप्रकाश दिसम्बर १८८५), वीरस्मरण (बुद्धिप्रकाश),[1] तथा १६ वर्षसे पूर्व और अवधानमें रचे हुए आदि अनेक काव्योंकी रचना की है। राजचन्द्रजीने हिन्दीमें भी काव्य लिखे हैं। इनके गुजराती और हिन्दी काव्य प्रस्तुत ग्रंथमें अमुक अमुक स्थलोंपर हिन्दी अनुवादसहित दिये गये हैं। इन काव्योंमें 'अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे' आदि काव्य गांधीजीकी आश्रम-भजनावलिमें भी लिया गया है। राजचन्द्रजीका 'निरखीने नवयौवना' आदि काव्य भी गांधीजीको बहुत प्रिय है। 'नमिराज' नामका एक स्वतंत्र काव्य-ग्रंथ भी राजचन्द्रजीका बनाया हुआ कहा जाता है। इस काव्यमें पाँच हजार पद्य हैं, जिन्हें राजचन्द्रजीने कुल छह दिनमें लिखा था।

अनुवादात्मक रचनायें

राजचन्द्रजीके अनुवादात्मक ग्रंथोंमें कुन्दकुन्दका पंचास्तिकाय और दशवैकालिक सूत्रकी कुछ

१ ये सब काव्य मुझे श्रीयुत दामजी केशवजीकी कृपासे देखनेको मिले हैं।

गाथायें मुख्य हैं। ये दोनों प्रस्तुत ग्रंथमें क्रमसे ७००-६५७-३० और ३७-१४७-२१ में दिये गये हैं। इसके अलावा श्रीमद् राजचन्द्रने द्रव्यसंग्रह, बनारसीदासका समयसारनाटक, मणिरत्नमाला आदि बहुतसे ग्रंथोंके अंशोंका भाव अथवा शब्दशः अनुवाद अनेक स्थलोंपर दिया है। गुणभद्रसूरिके आत्मानुशासन और समंतभद्रके रत्नकरण्डश्रावकाचारके कुछ अंशका अनुवाद भी राजचन्द्रजीने किया था।

विवेचनात्मक रचनायें

राजचन्द्रजीने अनेक ग्रन्थोंका विवेचन भी लिखा है। इनमें बनारसीदास, आनंदघन, चिदानन्द, यशोविजय आदि विद्वानोंके ग्रन्थोंके पद्य मुख्य हैं। राजचन्द्रजीने बनारसीदासके समयसारनाटकका खूब मनन किया था। वे बनारसीदासके समयसारके पद्योंको पढ़कर आत्मानंदसे उन्मत्त हो जाते थे। समयसारके पद्योंको राजचन्द्रजीने जगह जगह उद्धृत किया है। कुछ पद्योंका राजचन्द्रजीने विवेचन भी लिखा है। बनारसीदासजीकी तरह आनन्दघनजीको भी राजचन्द्र बहुत आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। उनकी आनन्दघनचौबीसीका राजचन्द्रजीने विवेचन लिखना आरंभ किया था, परन्तु वे उसे पूर्ण न कर सके। यह अपूर्ण विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थमें ६९२-६३५-३० में दिया गया है। आनन्दघनचौबीसीके अन्य भी अनेक पद्य राजचन्द्रजीने उद्धृत किये हैं। राजचन्द्रजीने 'स्वरोदयज्ञान' का विवेचन लिखना भी शुरु किया था। यह विवेचन अपूर्णरूपसे ९-१२८,९-१९ में दिया गया है। यशोविजयजीकी आठ दृष्टिनी सज्झायके 'मन महिलानुं वहाला उपरे' आदि पद्यका भी राजचन्द्रजीने विवेचन लिखा है। इसके अतिरिक्त राजचन्द्रजीने उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र, स्वामी समंतभद्रकी आप्तमीमांसा और हेमचन्द्रके योगशास्त्रके मंगलाचरणका सामान्य अर्थ भी लिखा है।

उपसंहार

राजचन्द्र अलौकिक क्षयोपशमके धारक एक असाधारण पुरुष थे। त्याग और वैराग्यकी वे मूर्ति थे। अपनी वैराग्यधारामें वे अत्यंत मस्त रहते थे, यहाँतक कि उन्हें खाने, पीने, पहिनने, उठने, बैठने आदितककी भी सुध न रहती थी। हरिदर्शनकी उन्हें अतिशय लगन थी। मुक्तानन्दजीके शब्दोंमें उनकी यही रटन थी:—

> हसतां रमतां प्रगट हरि देखुं रे मारुं जीव्युं सफळ तव लेखुं रे।
> मुक्तानंदनो नाथ विहारी रे ओधा जीवनदोरी अमारी रे॥[1]

'अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे'—आदि पदकी रचना भी राजचन्द्रजीने इसी अतिशय वैराग्य भावनासे प्रेरित होकर की थी। राजचन्द्रजीका वैराग्य सच्चा वैराग्य था। उनमें दंभ अथवा बनावटका तो लेश भी न था। जो कुछ उनके अनुभवमें आता, उसे वे अत्यन्त स्पष्टता और निर्भयतापूर्वक दूसरोंके समक्ष रखनेमें सदा तैय्यार रहते थे। प्रतिमापूजन, [illegible], केवलज्ञान आदि सैद्धान्तिक प्रश्नोंके ऊपर अपने स्वतंत्रतापूर्वक विचार प्रकट करनेमें राजचन्द्रजीने कभी जरा भी संकोच अथवा भय प्रदर्शित नहीं किया। अपनी आत्मदशाका वे सदा निरीक्षण करते रहते थे, और अपनी जैसीकी तैसी दशा पत्रोंद्वारा मुमुक्षुओंको लिख भेजते थे। 'निर्विकल्प समाधि पाना अभी बाकी है,' 'अपनी न्यूनताको पूर्ण किये बैठा हूं,' 'मैं अभी आश्चर्यकारक उपाधिमें पड़ा हूं,' 'मैं यथायोग्य दशाका अभी मुमुक्षु हूं' इत्यादि रूपमें वे अपनी अपूर्णताको मुमुक्षुओंको सदा लिखते ही रहते थे।[2]

---

१ श्रीमद्नी जीवनयात्रा पृ. ८८

२ राजचन्द्रजीने अपनी अपूर्ण अवस्थाका जगह जगह निम्न शब्दोंमें प्रदर्शन किया है:— "अहो ! अनंत भवके पर्यटनमें किसी सत्पुरुषके प्रतापसे इस दशाको प्राप्त इस देहधारीको तुम चाहते हो और उससे धर्मकी इच्छा करते हो। परन्तु वह तो अभी किसी आश्चर्यकारक उपाधिमें पड़ा है ! यदि वह

समय नहीं। तुम पुरुषार्थ करना।' रातके अढ़ाई बजे उन्हें अत्यंत सरदी हुई। उस समय उन्होंने कहा, 'निश्चिंत रहना। भाईकी समाधि मृत्यु है।' उपाय करनेपर सरदी दूर हो गई। सवेरे पौने आठ बजे उन्हें दूध दिया। उनके मन, वचन और काय बिलकुल सम्पूर्ण शुद्धिमें थे। पौने नौ बजे उन्होंने कहा—'मनसुख! दुःखी न होना। मांको ठीक रखना। मैं अपने आत्मस्वरूपमें लीन होता हूँ'। (उनके कहनेसे उन्हें दूसरे कोचपर लिटाया, वहाँ) वह पवित्र देह और आत्मा समाधिस्थ भावसे छूट गये। लेशमात्र भी आत्माके छूट जानेके चिह्न मालूम न हुए। लघुशंका, दीर्घशंका, मुँहमें पानी, आँखमें पानी अथवा पसीना कुछ भी न था।" इस तरह संवत् १९५७ में चैत्रवदी ५ मंगलवार दोपहरके दो बजे राजकोटमें राजचन्द्रजीने इस नाशमान शरीरका त्याग किया। उस समय राजचन्द्रजीका समस्त कुटुम्ब तथा गुजरात काठियावाड़के बहुतसे मुमुक्षु वहाँ उपस्थित थे।

राजचन्द्रजीकी सेवायें

यद्यपि राजचन्द्र इस समय अपनी देहसे मौजूद नहीं है, परन्तु वे परोक्षरूपसे बहुत कुछ छोड़ गये हैं। उनके पत्र-साहित्यमें उनका मूर्तिमानरूप जगह जगह दृष्टिगोचर होता है। गांधीजीके शब्दोंमें "उनके लेखोंमें सत् नितर रहा है। उन्होंने जो कुछ स्वयं अनुभव किया वही लिखा है। उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं। दूसरेके ऊपर छाप डालनेके लिये एक लाइन भी उन्होंने लिखी हो, यह मैंने नहीं देखा।" निम्न-लिखित कुछ उद्धरण गांधीजीके उक्त वाक्योंकी साक्षी देनेके लिये पर्याप्त हैं:—

"हे जीव! तू भ्रममें मत पड़; तुझे हितकी बात कहता हूँ। सुख तो तेरे अन्तरमें ही है, वह बाहर ढूँढनेसे नहीं मिलेगा।

अंतरमें सुख है। बाहर नहीं। तुझे सत्य कहता हूँ।

हे जीव! भूल मत, तुझे सत्य कहता हूँ।

सुख अंतरमें ही है, वह बाहर ढूँढनेसे नहीं मिलेगा।

हे जीव! तू भूल मत। कभी कभी उपयोग चूककर किसीके रंजन करनेमें, किसीके द्वारा रंजित होनेमें, अथवा मनकी निर्बलताके कारण दूसरेके पास जो तू मंद हो जाता है, यह तेरी भूल है। उसे न कर।

संतोषवाला जीव सदा सुखी, तृष्णावाला जीव सदा भिखारी।"

इत्यादि अन्तस्तलस्पर्शी हार्दिक उद्गारोंसे राजचन्द्रजीका वचनामृत भरा पड़ा है।

स्वयं महात्मा गांधीके जीवनपर जो राजचन्द्रजीकी छाप पड़ी है, उसे उन्होंने अनेक स्थलोंपर स्वीकार किया है। एक जगह गांधीजीने अपनी आत्मकथामें लिखा है—"इसके बाद कितने ही धर्माचार्योंके सम्पर्कमें मैं आया हूँ, प्रत्येक धर्मके आचार्योंसे मिलनेका मैंने प्रयत्न किया है, पर जो छाप मेरे दिलपर रायचंदभाईकी पड़ी है, वह किसीकी न पड़ सकी। उनकी कितनी ही बातें मेरे ठेठ अन्तस्तलतक पहुँच जातीं। उनकी बुद्धिको मैं आदरकी दृष्टिसे देखता था। उनकी प्रामाणिकतापर भी मेरा उतना ही आदरभाव था। और इससे मैं जानता था कि ये मुझे जान बूझकर उल्टे रास्ते नहीं ले जावेंगे, एवं मुझे वही बात कहेंगे जिसे वे अपने जीमें ठीक समझते होंगे। इस कारण मैं अपनी आध्यात्मिक कठिनाइयोंमें उनका आश्रय लेता।" "मेरे जीवनपर तीन पुरुषोंने गहरी छाप डाली है। टाल्सटाय, रस्किन और रायचंदभाई। टाल्सटायकी उनकी अमुक पुस्तकद्वारा और उनके साथ थोड़े पत्र-व्यवहारसे, रस्किनकी उनकी एक ही पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' से—जिसका गुजराती नाम मैंने सर्वोदय रक्खा है—और रायचंदभाईकी उनके साथ गाढ़ परिचयसे। हिंदुधर्ममें जब मुझे शंका पैदा हुई तब उसके निवारण करनेमें मदद करनेवाले रायचंदभाई थे।" राजचन्द्रजी गुजरात काठियावाड़में मुमुक्षु लोगोंका एक वर्ग भी तैय्यार कर गये हैं, जिसमें जैन सम्प्रदायके तीनों फिरकोंके लोग शामिल हैं। इन लोगोंमें जो कुछ भी विचारसहिष्णुता और मध्यस्थभाव देखनेमें आता है, उसे राजचन्द्रजीकी सत्कृपाका ही फल समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त राजचन्द्र अपनी मौजूदगीमें जैन ग्रंथोंके उद्धारके लिये परमश्रुतप्रभावकमण्डलकी भी स्थापना कर गये हैं। यह मण्डल आजकल रेवाशंकर जगजीवनदास झवेरीके सुयोग्य पुत्र श्रीयुत सेठ

मणिलाल रेवाशंकर झवेरीकी देखरेखमें अपनी सेवा बजा रहा है। इस मण्डलने दिगम्बर और श्वेताम्बर शास्त्रोंके उद्धारके लिये जो प्रयत्न किया है, और वर्तमानमें कर रहा है, उससे जैन समाज काफी परिचित है। यह मण्डल भी श्रीमद् राजचन्द्रका अमुक अंशमें एक जीवंतरूप कहा जा सकता है।

तत्त्वज्ञानका रहस्य

प्रत्येक मनुष्यके जीवनकालमें उत्क्रांति हुआ करती है। बड़े बड़े महान् पुरुषोंके जीवन इसी तरह बनते हैं। राजचन्द्रजीके जीवनमें भी महान् उत्क्रांति हुई थी। पहले पहल हम उनका कृष्णभक्तके रूपमें दर्शन करते हैं। तत्पश्चात् वे जैनधर्मकी ओर आकर्षित होते हैं, और स्थानकवासी जैन सम्प्रदायकी मान्यताओंका पालन करते हैं। क्रमशः उनके दृष्टि-बिन्दुमें परिवर्तन होता है, और हम देखते हैं कि जो राजचन्द्र जैनधर्मके प्रति अपना एकान्त आग्रह बतलाते थे वे ही अब कहते हैं कि 'जैनधर्मके आग्रहसे ही मोक्ष है, इस बातको आत्मा बहुत समयसे भूल गई है; तथा जहाँ कहींसे भी वैराग्य और उपशम प्राप्त हो सके, वहींसे प्राप्त करना चाहिये'। इसके कुछ समय बीतनेके पश्चात् तो हम राजचन्द्रजीको और भी आगे बढ़े हुए देखते हैं। भागवतकी आख्यायिका पढ़कर वे आनन्दसे उन्मत्त हो जाते हैं, और हरि दर्शनके लिये अत्यंत आतुर दिखाई देते हैं—यहाँ तक कि इसके बिना उन्हें खाना, पीना, उठना, बैठना कुछ भी अच्छा नहीं लगता, और वे अपना भी भान भूल जाते हैं। तात्पर्य यह है कि राजचन्द्रजीको जहाँ कहींसे भी जो उत्तम वस्तु मिली, उन्होंने उसे वहींसे ग्रहण किया—उनको अपने और परायेका जरा भी आग्रह न था। सचमुच राजचन्द्रजीके जीवनकी यह बड़ी विशेषता थी। संतकवि आनन्दघनजीके शब्दोंमें राजचन्द्रजीका कथन था:—

दरशन ज्ञान चरण थकी अलख स्वरूप अनेक रे।
निर्विकल्प रस पीजिये शुद्ध निरंजन एक रे॥

राजचन्द्रजीने इस निर्विकल्प रसका पान किया था। उपनिषदोंके शब्दोंमें उनकी दृढ़ मान्यता थी:—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यं।

—'जैसे भिन्न भिन्न नदियाँ अपना नामरूप छोड़कर अन्तमें जाकर एक समुद्रमें प्रविष्ट हो जाती हैं, उसी तरह विद्वान् नामरूपसे मुक्त होकर दिव्य परमपुरुषको प्राप्त करता है'। अतएव जो संसारमें भिन्न भिन्न मत और दर्शन देखनेमें आते हैं, वे सब भिन्न भिन्न देश काल आदिके अनुसार लोगोंकी भिन्न भिन्न रुचिके कारण ही उद्भूत हुए हैं। 'हजारों क्रियाओं और हजारों शास्त्रोंका उपदेश एक उसी आत्मतत्त्वको प्राप्त करनेका है, और वही सब धर्मोंका मूल है'। जिसको अनुभवज्ञान हो गया है, वह षड्दर्शनके वाद-विवादसे दूर ही रहता है। राजचन्द्रजी तो स्पष्ट लिख गये हैं:—

जे गायो ते सघळे एक सकल दर्शने एज विवेक।
समजाव्यानी शैली करी स्याद्वाद समजण पण खरी॥

—अर्थात् जो गाया गया है वह सबमें एक ही है, और समस्त दर्शनोंमें यही विवेक है। समस्त दर्शन समझानेकी भिन्न भिन्न शैलियाँ हैं। इनमें स्याद्वाद भी एक शैली है।

निस्सन्देह राजचन्द्र एक पहुँचे हुए उच्च कोटिके संत थे। वे किसी बाड़ेमें नहीं थे, और न वे बाड़ेसे कल्याण मानते थे। सचमुच वे जैनधर्मकी ही नहीं, वरन् भारतवर्षकी एक महान् विभूति थे।

जुबिलीबाग, तारदेव बम्बई
१-१२-३७

जगदीशचंद्र

११ सब प्राणियोंमें समदृष्टि,—

१२ अथवा किसी प्राणीको जीवितव्य रहित नहीं करना, शक्तिसे अधिक उनसे काम नहीं लेना।

१३ अथवा सत्पुरुष जिस रस्तेसे चले वह।

१४ मूलतत्त्वमें कहीं भी भेद नहीं, मात्र दृष्टिमें भेद है, यह मानकर आशय समझ पवित्र धर्ममें प्रवर्त्तन करना।

१५ तू किसी भी धर्मको मानता हो, उसका मुझे पक्षपात नहीं, मात्र कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस राहसे संसार-मलका नाश हो उस भक्ति, उस धर्म और उस सदाचारको तू सेवन करना।

१६ कितना भी परतंत्र हो तो भी मनसे पवित्रताको विस्मरण किये विना आजका दिन रमणीय करना।

१७ आज यदि तू दुष्कृतमें प्रेरित होता हो तो मरणको याद कर।

१८ अपने दुःख-सुखके प्रसंगोंकी सूची, आज किसीको दुःख देनेके लिये तत्पर हो तो स्मरण कर।

१९ राजा अथवा रंक कोई भी हो, परन्तु इस विचारका विचार कर सदाचारकी ओर आना कि इस कायाका पुद्गल थोड़े वक्तके लिये मात्र साढ़े तीन हाथ भूमि माँगनेवाला है।

२० तू राजा है तो फिकर नहीं, परन्तु प्रमाद न कर। कारण कि नीचसे नीच, अधमसे अधम, व्यभिचारका, गर्भपातका, निर्वंशका, चांडालका, कसाईका और वेश्या आदिका कण तू खाता है। तो फिर!

२१ प्रजाके दुख, अन्याय और कर इनकी जाँच करके आज कम कर। तू भी हे राजन्! कालके घर आया हुआ पाहुना है।

२२ वकील हो तो इससे आधे विचारको मनन कर जाना।

२३ श्रीमंत हो तो पैसेके उपयोगको विचारना। उपार्जन करनेका कारण आज ढूँढ़कर कहना।

२४ धान्य आदिमें व्यापारसे होनेवाली असंख्य हिंसाको स्मरणकर न्यायसंपन्न व्यापारमें आज अपना चित्त खींच।

२५ यदि तू कसाई हो तो अपने जीवके सुखका विचार कर आजके दिनमें प्रवेश कर।

२६ यदि तू समझदार बालक हो तो विद्याकी ओर और आज्ञाकी ओर दृष्टि कर।

२७ यदि तू युवा हो तो उद्यम और ब्रह्मचर्यकी ओर दृष्टि कर।

२८ यदि तू वृद्ध हो तो मौतकी तरफ दृष्टि करके आजके दिनमें प्रवेश कर।

२९ यदि तू स्त्री हो तो अपने पतिके ओरकी धर्मकरणीको याद कर, दोष हुए हों तो उनकी क्षमा माँग और कुटुम्बकी ओर दृष्टि कर।

३० यदि तू कवि हो तो असंभवित प्रशंसाको स्मरण कर आजके दिनमें प्रवेश कर।

३१ यदि तू कृपण हो तो,—(अपूर्ण)

३२ यदि तू सत्तामें मग्न हो तो नेपोलियन बोनापार्टको दोनों स्थितिसे स्मरण कर।

३३ कल कोई कृत्य अपूर्ण रहा हो तो पूर्ण करनेका सुविचार कर आजके दिनमें प्रवेश कर।

३४ आज किसी कृत्यके आरंभ करनेका विचार हो तो विवेकसे समय शक्ति और परिणामका विचार कर आजके दिनमें प्रवेश करना।

३५ पग रखनेमें पाप है, देखनेमें जहर है, और सिरपर मरण खड़ा है; यह विचारकर आजके दिनमें प्रवेश कर।

३६ अघोर कर्म करनेमें आज तुझे पड़ना हो तो राजपुत्र हो, तो भी भिक्षाचरी मान्य कर आजके दिनमें प्रवेश करना।

३७ भाग्यशाली हो तो उसके आनंदमें दूसरोंको भाग्यशाली बनाना, परन्तु दुर्भाग्यशाली हो तो अन्यका बुरा करनेसे रुक कर आजके दिनमें प्रवेश करना।

३८ धर्माचार्य हो तो अपने अनाचारकी ओर कटाक्ष दृष्टि करके आजके दिनमें प्रवेश करना।

३९ अनुचर हो तो प्रियसे प्रिय शरीरके निभानेवाले अपने अधिराजकी नमकहलाली चाहकर आजके दिनमें प्रवेश करना।

४० दुराचारी हो तो अपनी आरोग्यता, भय, परतंत्रता, स्थिति और सुख इनको विचार कर आजके दिनमें प्रवेश करना।

४१ दुखी हो तो आजीविका (आजकी) जितनी आशा रखकर आजके दिनमें प्रवेश करना।

४२ धर्मकरणीका अवश्य वक्त निकालकर आजकी व्यवहार-सिद्धिमें तू प्रवेश करना।

४३ कदाचित् प्रथम प्रवेशमें अनुकूलता न हो तो भी रोज जाते हुए दिनका स्वरूप विचार कर आज कभी भी उस पवित्र वस्तुका मनन करना।

४४ आहार, विहार, निहारके संबंधमें अपनी प्रक्रिया जाँच करके आजके दिनमें प्रवेश करना।

४५ तू कारीगर हो तो आलस और शक्तिके दुरुपयोगका विचार करके आजके दिनमें प्रवेश करना।

४६ तू चाहे जो धंधा करता हो, परन्तु आजीविकाके लिये अन्यायसंपन्न द्रव्यका उपार्जन नहीं करना।

४७ यह स्मरण किये बाद शौचक्रियायुक्त होकर भगवद्भक्तिमें लीन होकर क्षमा माँग।

४८ संसार-प्रयोजनमें यदि तू अपने हितके वास्ते किसी समुदायका अहित कर डालता हो तो अटकना।

४९ जुल्मीको, कामीको, अनाड़ीको उत्तेजन देते हो तो अटकना।

५० कमसे कम आधा पहर भी धर्म-कर्तव्य और विद्या-संपत्तिमें लगाना।

५१ जिन्दगी छोटी है और लंबी जंजाल है, इसलिये जंजालको छोटी कर, तो सुखरूपसे जिन्दगी लम्बी मालूम होगी।

५२ स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, लक्ष्मी इत्यादि सभी सुख तेरे घर हों तो भी इस सुखमें गौणतासे दुख है ऐसा समझकर आजके दिनमें प्रवेश कर।

५३ पवित्रताका मूल सदाचार है।

५४ मनके दुरंगी हो जानेको रोकनेके लिये,—(अपूर्ण)

५५ वचनोंके शांत मधुर, कोमल, सत्य और शौच बोलनेकी सामान्य प्रतिज्ञा लेकर आजके दिनमें प्रवेश करना।

५६ काया मल-मूत्रका अस्तित्व है, इसलिये मैं यह क्या अयोग्य प्रयोजन करके आनंद मानता हूँ ! ऐसा आज विचारना।

५७ तेरे हाथसे आज किसीकी आजीविका टूटती हो तो,—(अपूर्ण)

५८ आहार-क्रियामें अब तूने प्रवेश किया। मिताहारी अकबर सर्वोत्तम बादशाह गिना गया।

५९ यदि आज दिनमें तेरा सोनेका मन हो तो उस समय ईश्वरभक्तिपरायण हो अथवा सद्-शास्त्रका लाभ ले लेना।

६० मैं समझता हूँ कि ऐसा होना दुर्घट है तो भी अभ्यास सबका उपाय है।

६१ चला आता हुआ बैर आज निर्मूल किया जाय तो उत्तम, नहीं तो उसकी सावधानी रखना।

६२ इसी तरह नया बैर नहीं बढ़ाना, कारण कि बैर करके कितने कालका सुख भोगना है! यह विचार तत्त्वज्ञानी करते हैं।

६३ महारंभी–हिंसायुक्त–व्यापारमें आज पड़ना पड़ता हो तो अटकना।

६४ बहुत लक्ष्मी मिलनेपर भी आज अन्यायसे किसीका जीव जाता हो तो अटकना।

६५ वक्त अमूल्य है, यह बात विचार कर आजके दिनकी २१६००० विपलोंका उपयोग करना।

६६ वास्तविक सुख मात्र विरागमें है, इसलिये जंजाल-मोहिनीसे आज अभ्यंतर-मोहिनी नहीं बढ़ाना।

६७ अवकाशका दिन हो तो पहले कही हुई स्वतंत्रतानुसार चलना।

६८ किसी प्रकारका निष्पाप विनोद अथवा अन्य कोई निष्पाप साधन आजकी आनंदनीयताके लिये ढूँढ़ना।

६९ सुयोजक कृत्य करनेमें प्रेरित होना हो तो विलंब करनेका आजका दिन नहीं, कारण कि आज जैसा मंगलदायक दिन दूसरा नहीं।

७० अधिकारी हो तो भी प्रजा-हित भूलना नहीं। कारण कि जिसका (राजाका) तू नमक खाता है, वह भी प्रजाका सन्मानित नौकर है।

७१ व्यवहारिक-प्रयोजनमें भी उपयोगपूर्वक विवेकी रहनेकी सत्प्रतिज्ञा लेकर आजके दिनमें लगना।

७२ सायंकाल होनेके पीछे विशेष शान्ति लेना।

७३ आजके दिनमें इतनी वस्तुओंको बाधा न आवे, तभी वास्तविक विचक्षणता गिनी जा सकती है—१ आरोग्यता २ महत्ता ३ पवित्रता ४ फरज।

७४ यदि आज तुझसे कोई महान् काम होता हो तो अपने सर्व सुखका बलिदान कर देना।

७५ करज नीच रज (क+रज) है, करज यमके हाथसे उत्पन्न हुई वस्तु है, (कर+ज) कर यह राक्षसी राजाका जुल्मी कर वसूल करने वाला है। यह हो तो आज उतारना और नया करज करते हुए अटकना।

७६ दिनके कृत्यका हिसाब अब देख जाना।

७७ सुबह स्मृति कराई है, तो भी कुछ अयोग्य हुआ हो तो पश्चात्ताप कर और शिक्षा ले।

७८ कोई परोपकार, दान, लाभ अथवा अन्यका हित करके आया हो तो आनंद मान कर निरभिमानी रह।

७९ जाने अजाने भी विपरीत हुआ हो तो अब उससे अटकना।

८० व्यवहारके नियम रखना और अवकाशमें संसारकी निवृत्ति खोज करना।

८१ आज जिस प्रकार उत्तम दिन भोगा, वैसे अपनी जिन्दगी भोगनेके लिये तू आनंदित हो तो ही यह० ।—(अपूर्ण)

८२ आज जिस पलमें तू मेरी कथा मनन करता है, उसीको अपनी आयुष्य समझकर सद्वृत्तिमें प्रेरित हो ।

८३ सत्पुरुष विदुरके कहे अनुसार आज ऐसा कृत्य करना कि रातमें सुखसे सो सके ।

८४ आजका दिन सुनहरी है, पवित्र है—कृतकृत्य होनेके योग्य है, यह सत्पुरुषोंने कहा है, इसलिये मान्य कर ।

८५ आजके दिनमें जैसे बने तैसे स्वपत्नीमें विषयासक्त भी कम रहना ।

८६ आत्मिक और शारिरिक शक्तिकी दिव्यताका वह मूल है, यह ज्ञानियोंका अनुभवसिद्ध वचन है।

८७ तमाखू सूँघने जैसा छोटा व्यसन भी हो तो आज पूर्ण कर ।—(०) नया व्यसन करनेसे अटक ।

८८ देश, काल, मित्र इन सबका विचार सब मनुष्योंको इस प्रभातमें स्वशक्ति समान करना उचित है ।

८९ आज कितने सत्पुरुषोंका समागम हुआ, आज वास्तविक आनंदस्वरूप क्या हुआ? यह चिंतवन विरले पुरुष करते हैं ।

९० आज तू चाहे जैसे भयंकर परन्तु उत्तम कृत्यमें तत्पर हो तो नाहिम्मत नहीं होना ।

९१ शुद्ध, सच्चिदानन्द, करुणामय परमेश्वरकी भक्ति यह आजके तेरे सत्कृत्यका जीवन है ।

९२ तेरा, तेरे कुटुम्बका, मित्रका, पुत्रका, पत्नीका, माता पिताका, गुरुका, विद्वान्का, सत्पुरुषका यथाशक्ति हित, सन्मान, विनय और लाभका कर्तव्य हुआ हो तो आजके दिनकी वह सुगंध है।

९३ जिसके घर यह दिन क्लेश बिना, स्वच्छतासे, शौचतासे, ऐक्यसे, संतोषसे, सौम्यतासे, स्नेहसे, सभ्यतासे और सुखसे बीतेगा उसके घर पवित्रताका वास है।

९४ कुशल और आज्ञाकारी पुत्र, आज्ञावलम्बी धर्मयुक्त अनुचर, सद्गुणी सुन्दरी, मेलवाला कुटुम्ब, सत्पुरुषके तुल्य अपनी दशा, जिस पुरुषकी होगी उसका आजका दिन हम सबको वंदनीय है ।

९५ इन सब लक्षणोंसे युक्त होनेके लिये जो पुरुष विचक्षणतासे प्रयत्न करता है, उसका दिन हमको माननीय है ।

९६ इससे उलटा वर्तन जहाँ मच रहा है, वह घर हमारी कटाक्ष दृष्टिकी रेखा है ।

९७ भले ही अपनी आजीविका जितना तू प्राप्त करता हो परन्तु निरुपाधिमय हो तो उपाधिमय राज-सुख चाहकर अपने आजके दिनको अपवित्र नहीं करना ।

९८ किसीने तुझे कड़आ वचन कहा हो तो उस वक्तमें सहनशीलता—निरुपयोगी भी, (अपूर्ण)

९९ दिनकी भूलके लिये रातमें हँसना, परन्तु वैसा हँसना फिरसे न हो यह ध्यानमें रखना।

१०० आज कुछ बुद्धि-प्रभाव बढ़ाया हो, आत्मिक शक्ति उज्ज्वल की हो, पवित्र कृत्यकी वृद्धि की हो तो वह,— (अपूर्ण) .

१०१ अयोग्य रीतिसे आज अपनी किसी शक्तिका उपयोग नहीं करना,—मर्यादा-लोपनसे करना पड़े तो पापभीरु रहना ।

१०२ सरलता धर्मका बीजस्वरूप है। प्रज्ञासे सरलता सेवन की हो तो आजका दिन सर्वोत्तम है।

१०३ बहन, राजपत्नी हो अथवा दीनजनपत्नी हो, परन्तु मुझे उसकी कोई दरकार नहीं। मर्यादासे चलनेवालीकी मैं तो क्या किन्तु पवित्र ज्ञानियोंने भी प्रशंसा की है।

१०४ सद्गुणसे जो तुम्हारे ऊपर जगत्का प्रशस्त मोह होगा तो हे बहन, तुम्हें मैं वंदन करता हूँ।

१०५ बहुमान, नम्रभाव, विशुद्ध अंतःकरणसे परमात्माके गुणोंका चिंतवन-श्रवण-मनन, कीर्तन, पूजा-अर्चा इनकी ज्ञानी पुरुषोंने प्रशंसा की है, इसलिये आजका दिन शोभित करना।

१०६ सत्शीलवान सुखी है। दुराचारी दुखी है। यह बात यदि मान्य न हो तो अभीसे तुम लक्ष रखकर इस बातको विचार कर देखो।

१०७ इन सबोंका सहज उपाय आज कह देता हूँ कि दोषको पहचान कर दोषको दूर करना।

१०८ लम्बी, छोटी अथवा क्रमानुक्रम किसी भी स्वरूपसे यह मेरी कही हुई पवित्रताके पुष्पोंसे गूँथी हुई माला प्रभातके वक्तमें, सायंकालमें अथवा अन्य अनुकूल निवृत्तिमें विचारनेसे मंगलदायक होगी। विशेष क्या कहूँ !

२

काल किसीको नहीं छोड़ता

जिनके गलेमें मोतियोंकी मूल्यवान मालायें शोभती थीं, जिनकी कंठ-कांति हीरेके शुभ हारसे अत्यन्त देदीप्यमान थी, जो आभूषणोंसे शोभित होते थे, वे भी मरणको देखकर भाग गये। हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छोड़ता ॥ १ ॥

जो मणिमय मुकुट सिरपर धारण करके कानोंमें कुण्डल पहनते थे, और जो हाथोंमें सोनेके कड़े पहनकर शरीरको सजानेमें किसी भी प्रकारकी कमी नहीं रखते थे, ऐसे पृथ्वीपति भी अपना भान खोकर पल भरमें भूतलपर गिरे। हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छोड़ता ॥२॥

जो दसों उँगलियोंमें माणिक्यजड़ित मांगलिक मुद्रा पहनते थे, जो बहुत शौकके साथ बारीक

काळ कोईने नहि मूके

हरिगीत.

मोती तणी माळा गळामां मूल्यवंती मलकती,
हीरा तणा शुभ हारथी बहु कंठकांति झळकती,
आभूषणोथी ओपता भाग्या मरणने जोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ १ ॥
मणिमय मुगट माथे धरीने कर्ण कुंडळ नाखता,
कांचन कडां करमां धरी कशीए कचाश न राखता;
पळमां पड्या पृथ्वीपति ए भान भूतळ खोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ २ ॥
दश आंगळीमां मांगळिक मुद्रा जडित माणिक्यथी,
जे परम प्रेमे पे'रता पोंची कळा बारीकथी;

नक्सीवाली पोंची धारण करते थे, वे भी मुद्रा आदि सब कुछ छोड़कर मुँह धोकर चल दिये, हे मनुष्यो; जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छोड़ता ॥ ३ ॥

जो मूँछें बांकीकर अलबेला बनकर मूँछोंपर नींबू रखते थे, जिनके कटे हुए सुन्दर केश हर किसीके मनको हरते थे, वे भी संकटमें पड़कर सबको छोड़कर चले गये, हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छोड़ता ॥ ४ ॥

जो अपने प्रतापसे छहों खंडका अधिराज बना हुआ था, और ब्रह्माण्डमें बलवान होकर बड़ा भारी राजा कहलाता था, ऐसा चतुर चक्रवर्ती भी यहाँसे इस तरह गया कि मानों उसका कोई अस्तित्व ही नहीं था, हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छोड़ता ॥ ५ ॥

जो राजनीतिनिपुणतामें न्यायवाले थे, जिनके उलटे डाले हुए पासे भी सदा सीधे ही पड़ते थे, ऐसे भाग्यशाली पुरुष भी सब खटपटें छोड़कर भाग गये। हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छोड़ता ॥ ६ ॥

जो तलवार चलानेमें बहादुर थे, अपनी टेकपर मरनेवाले थे, सब प्रकारसे परिपूर्ण थे, जो हाथसे हाथीको मारकर केसरीके समान दिखाई देते थे, ऐसे सुभटवीर भी अंतमें रोते ही रह गये। हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छोड़ता ॥ ७ ॥

ए वेड वींटी सर्व छोडी चालिया मुख धोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ ३ ॥

मुछ वांकडी करी फांकडा थई लींबु धरता ते परे,
कापेल राखी कातरा हरकोईनां हैयां हरे;
ए सांकडीमां आविया छटक्या तजी सहु सोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ ४ ॥

छो खंडना अधिराज जे चंडे करीने नीपज्या,
ब्रह्मांडमां बळवान थइने भूप भारे ऊपज्या;
ए चतुर चक्री चालिया होता नहोता होईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ ५ ॥

जे राजनीतिनिपुणतामां न्यायवंता नीवड्या,
अवळा कर्ये जेना बधा सवळा सदा पासा पड्या;
ए भाग्यशाळी भागिया ते खटपटो सौ खोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ ६ ॥

तरवार बहादुर टेक धारी पूर्णतामां पेखिया,
हाथी हणे हाथे करी ए केसरी सम देखिया;
एवा भला भडवीर ते अंते रहेला रोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ ७ ॥

३
धर्मविषयक

जिसप्रकार दिनकरके विना दिन, शशिके विना शर्वरी, प्रजापतिके विना पुरकी प्रजा, सुरसके विना कविता, सलिलके विना सरिता, भर्ताके विना भामिनी सारहीन दिखाई देते हैं, उसी तरह, रायचन्द्र वीर कहते हैं, कि सद्धर्मको धारण किये विना मनुष्य महान् कुकर्मी कहा जाता है ॥ १ ॥

धर्म विना धन, धाम और धान्यको धूलके समान समझो, धर्म विना धरणीमें मनुष्य तिरस्कारको प्राप्त होता है, धर्म विना धीमंतोंकी धारणाये धोखा खाती हैं, धर्म विना धारण किया हुआ धैर्य धुँवेके समान धुँधाता है, धर्म विना राजा लोग ठगाये जाते है (!), धर्म विना ध्यानीका ध्यान ढोंग समझा जाता है, इसलिये सुधर्मकी धवल धुरंधताको धारण करो धारण करो, प्रत्येक धाम धर्मसे धन्य धन्य माना जाता है ॥२॥

प्रेमपूर्वक अपने हाथसे मोह और मानके दूर करनेको, दुर्जनताके नाश करनेको और जाळके फन्दको तोडनेको; सकल सिद्धांतकी सहायतासे कुमतिके काटनेको, सुमतिके स्थापित करनेको और ममत्वके मापनेको; भली प्रकारसे महामोक्षके भोगनेको, जगदीशके जाननेको, और अजन्मताके प्राप्त करनेको; तथा अलौकिक, अनुपम सुखका अनुभव करनेको यथार्थ अध्यवसायसे धर्मको धारण करो ॥ ३ ॥

धर्म विषे.

कवित्त.

दिनकर विना जेवो, दिननो देखाव दीसे,
शशि विना जेवी रीते, शर्वरी सुहाय छे;
प्रजापति विना जेवी, प्रजा पुरतणी पेखो,
सुरस विनानी जेवी, कविता कहाय छे;
सलिल विहीन जेवी, सरीतानी शोभा अने,
भर्तार विहीन जेवी, भामिनी भळाय छे;
वदे रायचंद वीर, सद्धर्मने धार्या विना,
मानवी महान तेम, कुकर्मी कळाय छे ॥ १ ॥
धर्म विना धन धाम, धान्य धुळधाणी धारो,
धर्म विना धरणीमा, धिक्कता धराय छे,
धर्म विना धीमतनी, धारणाओ धोखो धरे,
धर्म विना धर्यु धैर्य, धुम्र थै धमाय छे;
धर्म विना धराधर, धुताये, न धामधुमे,
धर्म विना ध्यानी ध्यान, ढोंग ढगे धाय छे;
धारो धारो धवळ, सुधर्मनी धुरधरता,
धन्य धन्य धामे धाम, धर्मथी धराय छे ॥ २ ॥
मोह मान मोडवाने, फेलपणु फोडवाने,
जाळफंद तोडवाने, हेते निज हाथथी,
कुमतिने कापवाने, सुमतिने स्थापवाने,
ममत्वने मापवाने, सकल सिद्धांतथी;
महा मोक्ष माणवाने, जगदीश जाणवाने,
अजन्मता आणवाने, वळी भली भातथी,
अलौकिक अनुपम, सुख अनुभववाने,
धर्म धारणाने धारो, खरेखरी खांतथी ॥ ३ ॥

यदि द्रव्य भिन्न हो और गुण भिन्न हो, तो एक द्रव्यके अनंत द्रव्य हो जाँय, अथवा द्रव्यका ही अभाव हो जाय ॥ ४४ ॥

द्रव्य और गुण अभिन्नरूपसे रहते हैं—दोनोंमें प्रदेशभेद नहीं है। उनमें ऐसी एकता है कि द्रव्यके नाशसे गुणका नाश हो जाता है, और गुणके नाशसे द्रव्यका नाश हो जाता है ॥ ४५ ॥

व्यपदेश (कथन), संस्थान, संख्या और विषय इन चार प्रकारकी विवक्षाओंसे द्रव्य और गुणके अनेक भेद हो सकते हैं, परन्तु परमार्थनयसे तो इन चारोंका अभेद ही है ॥ ४६ ॥

जिस तरह किसी पुरुषके पास यदि धन हो तो वह धनवान कहा जाता है, उसी तरह आत्माको ज्ञान होनेसे वह ज्ञानवान कही जाती है। इस तरह तत्त्वज्ञ पुरुष भेद-अभेदके स्वरूपको दोनों प्रकारोंसे जानते हैं ॥ ४७ ॥

यदि आत्मा और ज्ञानका सर्वथा भेद हो तो फिर दोनों अचेतन ही हो जाँय—यह वीतराग सर्वज्ञका सिद्धान्त है ॥ ४८ ॥

यदि ऐसा मानें कि ज्ञानका संबंध होनेसे ही आत्मा ज्ञानी होती है, तो फिर आत्मा और अज्ञान (जडत्व) दोनों एक ही हो जाँयगे ॥ ४९ ॥

समवृत्तिको समवाय कहते हैं। वह अपृथक्भूत और अयुतसिद्ध है, इसलिये वीतरागियोंने द्रव्य और गुणके संबंधको अयुतसिद्ध कहा है ॥ ५० ॥

परमाणुके वर्ण, रस, गंध और स्पर्श ये चार गुण पुद्गलद्रव्यसे अभिन्न हैं। व्यवहारसे ही वे पुद्गल द्रव्यसे भिन्न कहे जाते हैं ॥ ५१ ॥

इसी तरह दर्शन और ज्ञान भी जीवसे अभिन्न हैं। व्यवहारसे ही उनका आत्मासे भेद कहा जाता है ॥ ५२ ॥

आत्मा (वस्तुरूपसे) अनादि-अनंत है, और संतानकी अपेक्षा सादि-सांत है, इसी तरह वह सादि-अनंत भी है। पाँच भावोंकी प्रधानतासे ही ये सब भंग होते हैं। सत्तारूपसे तो जीव द्रव्य अनंत हैं ॥ ५३ ॥

इस तरह सत्का विनाश और असत् जीवका उत्पाद परस्पर विरुद्ध होने पर भी, जिस तरह अविरोधरूपसे सिद्ध होता है, उस तरह सर्वज्ञ वीतरागने कहा है ॥ ५४ ॥

नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये नामकर्मकी प्रकृतियाँ सत्का विनाश और असत्भावका उत्पाद करती हैं ॥ ५५ ॥

उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और पारिणामिक भावोंसे जीवके गुणोंका बहुत विस्तार है ॥ ५६ ॥

द्रव्यकर्मका निमित्त पाकर उदय आदि भावोंसे जीव परिणमन करता है, और भावकर्मका निमित्त पाकर द्रव्यकर्म परिणमन करता है; द्रव्यभाव कर्म एक दूसरेके भावके कर्ता नहीं हैं, तथा वे किसी कर्त्ताके बिना नहीं होते ॥ ५७ ॥

सब अपने अपने स्वभावके कर्ता हैं; उसी तरह आत्मा भी अपने ही भावकी कर्त्ता है; आत्मा पुद्गलकर्मकी कर्त्ता नहीं है—ये वीतरागके वाक्य समझने चाहिये ॥ ५८ ॥

संवत् उन्नीससौ इकतालीसमें अपूर्व क्रम प्राप्त हुआ; और उन्नीससौ बियालिसमें अद्भुत वैराग्य धारा प्रकाशित हुई। अहा ! इस दिनको धन्य है ॥ २ ॥

संवत् उन्नीससौ सैंतालीसमें शुद्ध समकितका प्रकाश हुआ; श्रुतका अनुभव, बढ़ती हुई दशा और निजस्वरूपका भास हुआ। अहा ! इस दिनको धन्य है ॥ ३ ॥

इस समय एक भयानक उदय आया। उस उदयसे परिग्रह-कार्यके प्रपंचमें पड़ना पड़ा। ज्यों ज्यों उसे धक्का मारकर भगाते थे, त्यों त्यों वह उल्टा बढ़ता ही जाता था और रंचमात्र भी कम न होता था। अहा ! इस दिनको धन्य है ॥ ४ ॥

इस तरह यह दशा क्रमसे बढ़ती चली गई। इस समय वह कुछ क्षीण मालूम होती है। मनमें ऐसा भासित होता है कि वह क्रमसे क्रमसे दूर हो जायगी। अहा ! इस दिनको धन्य है ॥ ५ ॥

जो कारणपूर्वक मनमें सत्यधर्मके उद्धार करनेका भाव है, वह इस देहसे अवश्य होगा—ऐसा निश्चय हो गया है। अहा ! इस दिनको धन्य है ॥ ६ ॥

अहा ! यह कैसी अपूर्व वृत्ति है, इससे अप्रमत्तयोग होगा, और लगभग केवलभूमिकाको स्पर्श करके देहका वियोग होगा। अहा ! इस दिनको धन्य है ॥ ७ ॥

कर्मका जो भोग बाकी रहा है, उसे अवश्य ही भोगना है। इस कारण एक ही देह धारण करके निजरूप निजदेशको जाऊँगा। अहा ! इस दिनको धन्य है ॥ ८ ॥

---

७०३ — ववाणीआ, चैत्र सुदी ३ रवि. १९५१

रहस्यदृष्टि अथवा समिति-विचार

परमभक्तिसे स्तुति करनेवालेके प्रति भी जिसे राग नहीं, और परमद्वेषसे परिषह-उपसर्ग करनेवालेके प्रति जिसे द्वेष नहीं, उस पुरुषरूप भगवान्‌को बारम्बार नमस्कार हो !

द्वेषरहित वृत्तिसे प्रवृत्ति करना योग्य है, धीरज रखना चाहिये।

ओगणीसें ने एकतालीसे, आव्यो अपूर्व अनुसार रे,
ओगणीसें ने बेतालीसे, अद्भुत वैराग्य धार रे। धन्य० ॥ २ ॥
ओगणीसें ने सुडतालीसे, समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे,
श्रुत अनुभव वधती दशा, निजस्वरूप अवभास्युं रे। धन्य० ॥ ३ ॥
त्यां आव्यो रे उदय कारमो, परिग्रह कार्य प्रपंच रे,
जेम जेम ते हडसेलीए, तेम वधे न घटे एक रंच रे। धन्य० ॥ ४ ॥
वधतुं एम ज चालियुं, हवे दीसे क्षीण काई रे,
क्रमे करीने रे ते जशे, एम भासे मनमांहि रे। धन्य० ॥ ५ ॥
यथाहेतु जे चित्तनो, सत्यधर्मनो उद्धार रे,
थशे अवश्य आ देहथी, एम थयो निरधार रे। धन्य० ॥ ६ ॥
आवी अपूर्व वृत्ति अहो, थशे अप्रमत्त योग रे,
केवळ लगभग भूमिका, स्पर्शीने देह वियोग रे। धन्य० ॥ ७ ॥
अवश्य कर्मनो भोग छे, बाकी रह्यो अवशेष रे,
तेथी देह एक ज धारिने, जाशुं स्वरूप स्वदेश रे। धन्य० ॥ ८ ॥

जो विवक्षासे मूर्त है और चार धातुओंका कारण है, उसे परमाणु समझना चाहिये। व परिणमन-स्वभावसे युक्त है, स्वयं शब्दरहित है परन्तु शब्दका कारण है ॥ ७५ ॥

स्कंधसे शब्द उत्पन्न होता है। अनंत परमाणुओंके मिलाप (संघात) के समूहको स्कंध कह हैं। इन स्कंधोंके परस्पर स्पर्श होनेसे (संबद्ध होनेसे) निश्चयसे शब्द उत्पन्न होता है ॥७६॥

वह परमाणु नित्य है, अपने रूप आदि गुणोंको अवकाश (आश्रय) प्रदान करता है, स एकप्रदेशी होनेसे एक प्रदेशके बाद अवकाशको प्राप्त नहीं होता, दूसरे द्रव्यको (आकाशकी तरह अवकाश प्रदान नहीं करता, स्कंधके भेदका कारण है, स्कंधके खंडका कारण है, स्कंधका कर्ता है और कालके परिमाण (माप) और संख्या (गणना) का हेतु है ॥ ७७ ॥

जो एक रस, एक वर्ण, एक गंध और दो स्पर्शसे युक्त है, शब्दकी उत्पत्तिका कारण है, ए प्रदेशात्मक शब्दरहित है, जिसका स्कंधरूप परिणमन होनेपर भी जो उससे भिन्न है, उसे परमा समझना चाहिये ॥ ७८ ॥

जो इन्द्रियोंद्वारा उपभोग्य हैं, तथा काया मन और कर्म आदि जो जो अनंत अमूर्त पदार्थ हैं उन सबको पुद्गलद्रव्य समझना चाहिये ॥ ७९ ॥

धर्मास्तिकाय द्रव्य अरस, अवर्ण, अगंध, अशब्द और अस्पर्श है, सकल लोक-प्रमाण है, अ अखंड, विस्तीर्ण और असंख्यात प्रदेशात्मक है ॥ ८० ॥

वह निरंतर अनंत अगुरुलघु गुणरूपसे परिणमन करता है, गति-क्रियायुक्त पदार्थोंको कारणभू है, स्वयं कार्यरहित है, अर्थात् वह द्रव्य किसीसे भी उत्पन्न नहीं होता ॥ ८१ ॥

जिस तरह मछलीको गमन करनेमें जल उपकारक होता है, उसी तरह जो जीव और पुद्ग द्रव्यकी गतिका उपकार करता है, उसे धर्मास्तिकाय समझना चाहिये ॥ ८२ ॥

जैसे धर्मास्तिकाय द्रव्य है, उसी तरह अधर्मास्तिकाय भी स्वतन्त्र द्रव्य है। यह पृथ्वीकी तर स्थिति-क्रियायुक्त जीव और पुद्गलको कारणभूत है ॥ ८३ ॥

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायसे लोक अलोकका विभाग होता है। ये धर्म और अध द्रव्य अपने अपने प्रदेशोंकी अपेक्षा जुदे जुदे हैं, स्वयं हलन-चलन क्रियासे रहित हैं, और लोक प्रमाण हैं ॥ ८४ ॥

धर्मास्तिकाय कुछ जीव और पुद्गलको स्वयं चलाता है, यह बात नहीं है। परन्तु जीव पुद्ग स्वयं ही गति करते हैं, वह उन्हें केवल सहायकमात्र होता है ॥ ८५ ॥

जो सब जीवोंको और शेष पुद्गलोंको सम्पूर्ण अवकाश प्रदान करता है, उसे लोकाका कहते हैं ॥ ८६ ॥

जीव, पुद्गलसमूह, धर्म और अधर्मद्रव्य लोकसे अभिन्न हैं, अर्थात् वे लोकमें ही हैं–लोकसे बाहर नहीं हैं। आकाश लोकसे भी बाहर है, और वह अनंत है, उसे अलोक कहते हैं ॥ ८७ ॥

यदि आकाश गमन और स्थितिका कारण होता, तो धर्म और अधर्म द्रव्यके अभावके कारण सिद्धभगवान्‌का अलोकमें भी गमन हो जाता ॥ ८८ ॥

इस कारण सर्वज्ञ वीतरागदेवने सिद्धभगवान्‌का स्थान ऊर्ध्वलोकके अन्तमें बताया है इ कारण आकाशको गमन और स्थानका कारण नहीं समझना चाहिये ॥ ८९ ॥

संवत् उन्नीससौ इकतालीसमें अपूर्व क्रम प्राप्त हुआ; और उन्नीससौ बियालिसमें अद्भुत वैराग्य-धारा प्रकाशित हुई। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ २ ॥

संवत् उन्नीससौ सैंतालीसमें शुद्ध समकितका प्रकाश हुआ; श्रुतका अनुभव, बढ़ती हुई दशा और निजस्वरूपका भास हुआ। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ३ ॥

इस समय एक भयानक उदय आया। उस उदयसे परिग्रह-कार्यके प्रपंचमें पड़ना पड़ा। मैं ज्यों ज्यों उसे धक्का मारकर भगाते थे, त्यों त्यों वह उल्टा बढ़ता ही जाता था और रंचमात्र भी कम न होता था। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ४ ॥

इस तरह यह दशा क्रमसे बढ़ती चली गई। इस समय वह कुछ क्षीण मालूम होती है। मुझे ऐसा भासित होता है कि यह क्रमसे क्रमसे दूर हो जायगी। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ५ ॥

जो कारणपूर्वक मनमें सत्यधर्मके उद्धार करनेका भाव है, वह इस देहसे अवश्य होगा—ऐसा निश्चय हो गया है। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ६ ॥

अहा! यह कैसी अपूर्व वृत्ति है, इससे अप्रमत्तयोग होगा, और लगभग केवलभूमिकाको स्पर्श करके देहका वियोग होगा। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ७ ॥

कर्मका जो भोग बाकी रहा है, उसे अवश्य ही भोगना है। इस कारण एक ही देह धारण करके निजरूप निजदेशको जाऊँगा। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ८ ॥

७०३

वढवाणीआ, चैत्र सुदी २ रवि. १९५३

रहस्यदृष्टि अथवा समिति-विचार

परमभक्तिसे स्तुति करनेवालेके प्रति भी जिसे राग नहीं, और परमद्वेषसे परिषह-उपसर्ग करनेवालेके प्रति जिसे द्वेष नहीं, उस पुरुषरूप भगवान्को बारम्बार नमस्कार हो।

द्वेषरहित वृत्तिसे प्रवृत्ति करना योग्य है, धीरज रखना चाहिये।

ओगणीसें ने एकताळीसे, आव्यो अपूर्व अनुसार रे,
ओगणीसें ने बेताळीसे, अद्भुत वैराग्य धार रे। धन्य० ॥ २ ॥
ओगणीसें ने सुडताळीसे, समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे,
श्रुत अनुभव वधती दशा, निजस्वरूप अवभास्युं रे। धन्य० ॥ ३ ॥
त्यां आव्यो रे उदय कारमो, परिग्रह कार्य प्रपंच रे,
जेम जेम ते हडसेलीए, तेम वधे न घटे एक रंच रे। धन्य० ॥ ४ ॥
वधतुं एम ज चालियुं, हवे दीसे क्षीण कांई रे,
क्रमे करीने रे ते जशे, एम भासे मनमांहि रे। धन्य० ॥ ५ ॥
यथाहेतु जे चित्तनो, सत्यधर्मनो उद्धार रे,
थशे अवश्य आ देहथी, एम थयो निरधार रे। धन्य० ॥ ६ ॥
आवी अपूर्व वृत्ति अहो, थशे अप्रमत्त योग रे,
केवळ लगभग भूमिका, स्पर्शीने देह वियोग रे। धन्य० ॥ ७ ॥
अवश्य कर्मनो भोग छे, बाकी रह्यो अवशेष रे,
तेथी देह एक ज धारीने, जाशुं स्वरूप स्वदेश रे। धन्य० ॥ ८ ॥

जीव, अजीव, पुन्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नौ पदार्थ हैं ॥ ४ ॥

जीव दो प्रकारके होते हैं:—संसारी और असंसारी। दोनोंका लक्षण चैतन्योपयोग है। संसारी जीव देहसहित और असंसारी देहरहित होते हैं ॥ ५ ॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये जीवोंसे युक्त हैं। इन जीवोंको मोहकी प्रबलता रहती है, और उन्हें स्पर्शन इन्द्रियके विषयका ज्ञान मौजूद रहता है ॥ ६ ॥

उनमें तीन प्रकारके जीव स्थावर हैं। अल्प योगवाले अग्निकाय और वायुकाय जीव त्रस हैं। उन सबको मनके परिणामसे रहित एकेन्द्रिय जीव समझना चाहिये ॥ ७ ॥

ये पाँचों प्रकारके जीव मन-परिणामसे रहित और एकेन्द्रिय हैं, ऐसा सर्वज्ञने कहा है ॥ ८ ॥

जिस तरह अण्डेमें पक्षीका गर्भ बढ़ता है, जिस तरह मनुष्यके गर्भमें मूर्च्छागत अवस्था होनेपर भी जीवत्व मौजूद है, उसी तरह एकेन्द्रिय जीवोंको भी समझना चाहिये ॥ ९ ॥

शंबूक, शंख, सीप, कृमि इत्यादि जो जीव रस और स्पर्शको जानते हैं, उन्हें दो इन्द्रिय जीव समझना चाहिये ॥ १० ॥

जूँ, मकड़ी, चींटी, बिच्छू इत्यादि, और अनेक प्रकारके दूसरे भी जो कीड़े रस स्पर्श और गंधको जानते हैं, उन्हें तीन इन्द्रिय जीव समझना चाहिये ॥ ११ ॥

डाँस, मच्छर, मक्खी, भ्रमरी, भ्रमर, पतंग इत्यादि जो रूप, रस, गंध और स्पर्शको जानते हैं, उन्हें चार इन्द्रिय जीव समझना चाहिये ॥ १२ ॥

देव, मनुष्य, नारक, तिर्यंच (जलचर, स्थलचर और खेचर) ये वर्ण, रस, स्पर्श, गंध और शब्दको जानते हैं। ये बलवान पाँच इन्द्रियोंवाले जीव हैं ॥ १३ ॥

देवताओंके चार निकाय होते हैं। मनुष्य कर्म और अकर्मभूमिके भेदसे दो प्रकारके हैं। तिर्यंच अनेक प्रकारके हैं। नारकी जीवोंकी जितनी पृथिवी-योनियाँ हैं, उतनी ही उनकी जाति है ॥ १४ ॥

पूर्वमें बाँधी हुई आयुके क्षीण हो जानेसे जीव गति नामकर्मके कारण आयु और लेश्याके वश होकर दूसरी देहमें जाता है ॥ १५ ॥

इस तरह देहाश्रित जीवोंके स्वरूपके विचारका निर्णय किया। उनके भव्य और अभव्यके भेदसे दो भेद हैं। देहरहित सिद्धभगवान् हैं ॥ १६ ॥

जो सब कुछ जानता है, देखता है, दुःखका नाश करके सुखकी इच्छा करता है, शुभ और अशुभ कर्म करता है और उसके फलको भोगता है, वह जीव है ॥ १७ ॥

आकाश, काल, पुद्गल और धर्म अधर्म द्रव्यमें जीवत्व गुण नहीं है, उन्हें अचेतन कहते हैं और जीवको सचेतन कहते हैं ॥ १८ ॥

सुख-दुःखका वेदन, हितमें प्रवृत्ति, अहितमें भीति, ये तीनों कालमें जिसे नहीं हैं, उसे सर्वज्ञ अजीव कहते हैं ॥ १९ ॥

संस्थान, संघात, वर्ण, रस, स्पर्श, गंध और शब्द इस तरह पुद्गलद्रव्यसे उत्पन्न होनेवाले अनेक गुण-पर्याय हैं ॥ २० ॥

संवत् उन्नीससौ इकतालीसमें अपूर्व क्रम प्राप्त हुआ; और उन्नीससौ बियालिसमें अद्भुत वैरा-
धारा प्रकाशित हुई। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ २ ॥

संवत् उन्नीससौ सैंतालीसमें शुद्ध समकितका प्रकाश हुआ; श्रुतका अनुभव, बढ़ती हुई द-
और निजस्वरूपका भास हुआ। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ३ ॥

इस समय एक भयानक उदय आया। उस उदयसे परिग्रह-कार्यके प्रपंचमें पड़ना पड़ा। ज्यों
ज्यों उसे धक्का मारकर भगाते थे, त्यों त्यों वह उलटा बढ़ता ही जाता था और रंचमात्र भी कम
होता था। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ४ ॥

इस तरह यह दशा क्रमसे बढ़ती चली गई। इस समय वह कुछ क्षीण मालूम होती है। मनमें
ऐसा भासित होता है कि वह क्रमसे क्रमसे दूर हो जायगी। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ५ ॥

जो कारणपूर्वक मनमें सत्यधर्मके उद्धार करनेका भाव है, वह इस देहसे अवश्य होगा—ऐसा
निश्चय हो गया है। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ६ ॥

अहा! यह कैसी अपूर्व वृत्ति है, इससे अप्रमत्तयोग होगा, और लगभग केवलभूमिकाको
स्पर्श करके देहका वियोग होगा। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ७ ॥

कर्मका जो भोग बाकी रहा है, उसे अवश्य ही भोगना है। इस कारण एक ही देह धारण
करके निजरूप निजदेशको जाऊँगा। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ८ ॥

७०३

ववाणीआ, चैत्र सुदी ३ शनि. १९५१

रहस्यदृष्टि अथवा समिति-विचार

परमभक्तिसे स्तुति करनेवालेके प्रति भी जिसे राग नहीं, और परमद्वेषसे परिषह-उपसर्ग
करनेवालेके प्रति जिसे द्वेष नहीं, उस पुरुषरूप भगवान्‌को बारम्बार नमस्कार हो!

द्वेषरहित वृत्तिसे प्रवृत्ति करना योग्य है, धीरज रखना चाहिये।

ओगणीसें ने एकतालीसे, आव्यो अपूर्व अनुसार रे,
ओगणीसें ने बेतालीसे, अद्भुत वैराग्य धार रे। धन्य० ॥ २ ॥
ओगणीसें ने सुडतालीसे, समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे,
श्रुत अनुभव वधती दशा, निजस्वरूप अवभास्युं रे। धन्य० ॥ ३ ॥
त्यां आव्यो रे उदय कारमो, परिग्रह कार्य प्रपंच रे,
जेम जेम ते हडसेलीए, तेम वधे न घटे एक रंच रे। धन्य० ॥ ४ ॥
वधतुं एम ज चालियुं, हवे दीसे क्षीण कांई रे,
क्रमे करीने रे ते जशे, एम भासे मनमांहि रे। धन्य० ॥ ५ ॥
यथाहेतु जे चित्तनो, सत्यधर्मनो उद्धार रे,
थशे अवश्य आ देहथी, एम थयो निरधार रे। धन्य० ॥ ६ ॥
आवी अपूर्व वृत्ति अहो, थशे अप्रमत्त योग रे,
केवळ लगभग भूमिका, स्पर्शीने देह वियोग रे। धन्य० ॥ ७ ॥
अवश्य कर्मनो भोग छे, बाकी रह्यो अवशेष रे,
तेथी देह एक ज धारीने, जाशुं स्वरूप स्वदेश रे। धन्य० ॥ ८ ॥

अरस, अरूप, अगंध, अशब्द, अनिर्दिष्ट संस्थान, और वचनके अगोचर जिसका चैतन्य गुण है, वह जीव है ॥ २१ ॥

जो निश्चयसे संसारमें स्थित जीव है, उसके दो प्रकारके परिणाम होते हैं। परिणामसे कर्म उत्पन्न होता है, और उससे अच्छी और बुरी गति होती है ॥ २२ ॥

गतिकी प्राप्तिसे देह उत्पन्न होती है, देहसे इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंसे विषय ग्रहण होता है, और उससे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं ॥ २३ ॥

संसार-चक्रवालमें उन भावोंसे परिभ्रमण करते हुए जीवोंमें किसी जीवका संसार अनादि-सांत है, और किसीका अनादि-अनंत है—ऐसा भगवान् सर्वज्ञने कहा है ॥ २४ ॥

जिसके भावोंमें अज्ञान, राग, द्वेष और चित्तकी प्रसन्नता रहती है, उसके शुभ-अशुभ परिणाम होते हैं ॥ २५ ॥

जीवको शुभ परिणामसे पुण्य होता है, और अशुभ परिणामसे पाप होता है। उससे शुभाशुभ पुद्गलके ग्रहणरूप कर्मावस्था प्राप्त होती है ॥ २६ ॥

तृषातुरको, क्षुधातुरको, रोगीको अथवा अन्य किसी दुःखी चित्तवाले जीवको, उसके दुःख दूर करनेके उपायकी क्रिया करनेको अनुकंपा कहते हैं ॥ २७ ॥

जीवको क्रोध, मान, माया, और लोभकी मिठास क्षुभित कर देती है, और वह पाप-भावकी उत्पत्ति करती है ॥ २८ ॥

बहुत प्रमादवाली क्रिया, चित्तकी मलिनता, इन्द्रियके विषयोंमें लुब्धता, दूसरे जीवोंको दुःख देना, उनकी निन्दा करनी इत्यादि आचरणोंसे जीव पापाश्रव करता है ॥ २९ ॥

चार संज्ञायें, कृष्ण आदि तीन लेश्यायें, इन्द्रियाधीनत्व, आर्त्त और रौद्र ध्यान, और दुष्टभाववाली क्रियाओंमें मोह होना—यह भावपापाश्रव है ॥ ३० ॥

जीवको, इन्द्रियाँ कषाय और संज्ञाका जय करनेवाला कल्याणकारी मार्ग जिस कालमें रहता है, उस कालमें जीवको पापाश्रवरूप छिद्रका निरोध हो जाता है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ३१ ॥

जिसे किसी भी द्रव्यके प्रति राग द्वेष और अज्ञान नहीं रहता, ऐसे सुख-दुःखमें समदृष्टिके स्वामी निर्ग्रन्थ महात्माको शुभ-अशुभ आश्रव नहीं होता ॥ ३२ ॥

योगका निरोध करके जो तपश्चर्या करता है, वह निश्चयसे बहुत प्रकारके कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥ ३३ ॥

जिस संयमीको जिस समय योगमें पुण्य-पापकी प्रवृत्ति नहीं होती, उस समय उसे शुभ और अशुभ कर्मके कर्तृत्वका भी संवर—निरोध—हो जाता है ॥ ३४ ॥

जो आत्मार्थका साधन करनेवाला, संवरयुक्त होकर, आत्मस्वरूपको जानकर तद्रूप ध्यान करता है, वह महात्मा साधु कर्म-रजको झाड़ डालता है ॥ ३५ ॥

जिसे राग, द्वेष, मोह और योगका व्यापार नहीं रहता, उसे शुभाशुभ कर्मको जलाकर भस्म कर देनेवाली ध्यानरूपी अग्नि प्रगट होती है ॥ ३६ ॥

जो, दर्शन-ज्ञानसे भरपूर और अन्य द्रव्यके संसर्गसे रहित ऐसे ध्यानको, निर्जराके हेतुसे क है, वह महात्मा स्वभावसहित है ॥ ३७ ॥

जो संवरयुक्त होकर सर्व कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ वेदनीय और आयुकर्मसे रहित होता वह महात्मा उसी भवसे मोक्ष जाता है ॥ ३८ ॥

जीवका स्वभाव अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन है। उसके अभिन्नस्वरूप आचरण करनेको (: निश्चयमय स्थिर स्वभावको) सर्वज्ञ वीतरागदेवने निर्मल चारित्र कहा है ॥ ३९ ॥

वस्तुतः आत्माका स्वभाव निर्मल ही है; परन्तु गुण और पर्याययुक्त होकर उसने पर परिणामसे अनादिसे परिणमन किया है, इसलिये वह अनिर्मल है। यदि वह आत्मा स्व-सम प्राप्त कर ले तो कर्म-बंधसे रहित हो जाय ॥ ४० ॥

जो पर-द्रव्यमें शुभ अथवा अशुभ राग करता है, वह जीव स्व-चारित्रसे भ्रष्ट होता है, वह पर-चारित्रका आचरण करता है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ४१ ॥

जिस भावसे आत्माको पुण्य और पाप-आश्रवकी प्राप्ति हो, उसमें प्रवृत्ति करनेवाली अ पर-चारित्रमें आचरण करती है, ऐसा वीतराग सर्वज्ञने कहा है ॥ ४२ ॥

जो सर्व संगसे मुक्त होकर, अभिन्नरूपसे आत्म-स्वभावमें स्थित है, निर्मल ज्ञाता द्रष्टा है, जीव स्व-चारित्रका आचरण करनेवाला है ॥ ४३ ॥

पर-द्रव्यमें भावसे रहित, निर्विकल्प ज्ञान-दर्शनमय परिणामयुक्त जो आत्मा है, वह स्व-चा आचरण है ॥ ४४ ॥

जिसे सम्यक्त्व, आत्मज्ञान, राग-द्वेषसे रहित चारित्र और सम्यक्बुद्धि प्राप्त हो गई है, भव्य जीवको मोक्षमार्ग होता है ॥ ४५ ॥

तत्त्वार्थमें प्रतीति होना सम्यक्त्व है। तत्त्वार्थका ज्ञान होना ज्ञान है; और विषयके मोह मार्गके प्रति शांतभाव होना चारित्र है ॥ ४६ ॥

धर्मास्तिकाय आदिके स्वरूपकी प्रतीति होना सम्यक्त्व है, बारह अंग और चौदह पू जानना ज्ञान है, तथा तपश्चर्या आदिमें प्रवृत्ति करना व्यवहार मोक्षमार्ग है ॥ ४७ ॥

जहाँ सम्यग्दर्शन आदिसे एकाग्रभावको प्राप्त आत्मा, एक आत्माके सिवाय अन्य कुछ भी न करती, केवल अभिन्न आत्मामय ही रहती है, वहाँ सर्वज्ञ वीतरागने निश्चय मोक्षमार्ग कहा है ॥४८

जो आत्मा आत्म-स्वभावमय ज्ञान-दर्शनका अभेदरूपसे आचरण करती है, वह स्वयं निश्चय ज्ञान दर्शन और चारित्र है ॥ ४९ ॥

जो इस सबको जानेगा और देखेगा, वह अव्याबाध सुखका अनुभव करेगा। इन भावोंकी प्रतीति भव्यको ही होती है, अभव्यको नहीं होती ॥ ५० ॥

दर्शन ज्ञान और चारित्र यह मोक्षमार्ग है; उसके सेवन करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है; और (अमुक कारणसे) उससे बंध भी होता है, ऐसा मुनियोंने कहा है ॥ ५१ ॥

अर्हंत, सिद्ध, चैत्य, प्रवचन, गण और ज्ञानमें भक्तिसंपन्न जीव बहुत पुण्यका उपार्जन करता है, परन्तु वह सब कर्मोंका क्षय नहीं करता ॥ ५२ ॥

संवत् उन्नीससौ इकतालीसमें अपूर्व क्रम प्राप्त हुआ; और उन्नीससौ बियालिसमें अद्भुत वैराग्य-धारा प्रकाशित हुई। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ २ ॥

संवत् उन्नीससौ सैंतालीसमें शुद्ध समकितका प्रकाश हुआ; श्रुतका अनुभव, बढ़ती हुई दशा और निजस्वरूपका भास हुआ। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ३ ॥

इस समय एक भयानक उदय आया। उस उदयसे परिग्रह-कार्यके प्रपंचमें पड़ना पड़ा। ज्यों ज्यों उसे धक्का मारकर भगाते थे, त्यों त्यों वह उल्टा बढ़ता ही जाता था और रंचमात्र भी कम नहीं होता था। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ४ ॥

इस तरह यह दशा क्रमसे बढ़ती चली गई। इस समय वह कुछ क्षीण मालूम होती है। मनमें ऐसा भासित होता है कि वह क्रमसे क्रमसे दूर हो जायगी। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ५ ॥

जो कारणपूर्वक मनमें सत्यधर्मके उद्धार करनेका भाव है, वह इस देहसे अवश्य होगा—ऐसा निश्चय हो गया है। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ६ ॥

अहा! यह कैसी अपूर्व वृत्ति है, इससे अप्रमत्तयोग होगा, और लगभग केवलभूमिकाको स्पर्श करके देहका वियोग होगा। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ७ ॥

कर्मका जो भोग बाकी रहा है, उसे अवश्य ही भोगना है। इस कारण एक ही देह धारण करके निजरूप निजदेशको जाऊँगा। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ८ ॥

---

७०३ ववाणीआ, चैत्र सुदी २ रवि. १९५६

रहस्यदृष्टि अथवा समिति-विचार

परमभक्तिसे स्तुति करनेवालेके प्रति भी जिसे राग नहीं, और परमद्वेषसे परिषह-उपसर्ग करनेवालेके प्रति जिसे द्वेष नहीं, उस पुरुषरूप भगवान्‌को बारम्बार नमस्कार हो।

द्वेषरहित वृत्तिसे प्रवृत्ति करना योग्य है, धीरज रखना चाहिये।

ओगणीसें ने एकतालीसे, आव्यो अपूर्व अनुसार रे,
ओगणीसें ने बेतालीसे, अद्भुत वैराग्य धार रे। धन्य० ॥ १ ॥
ओगणीसें ने सुडतालीसे, समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे,
श्रुत अनुभव वधती दशा, निजस्वरूप अवभास्युं रे। धन्य० ॥ ३ ॥
त्यां आव्यो रे उदय कारमो, परिग्रह कार्य प्रपंच रे,
जेम जेम ते हडसेलीए, तेम वधे न घटे एक रच रे। धन्य० ॥ ४ ॥
वधतुं एम ज चालियुं, हवे दीसे क्षीण काई रे,
क्रमे करीने रे ते जशे, एम भासे मनमांहि रे। धन्य० ॥ ५ ॥
यथाहेतु जे चित्तनो, सत्यधर्मनो उद्धार रे,
थशे अवश्य आ देहथी, एम थयो निरधार रे। धन्य० ॥ ६ ॥
आवी अपूर्व वृत्ति अहो, थशे अप्रमत्त योग रे,
केवळ लगभग भूमिका, स्पर्शीने देह वियोग रे। धन्य० ॥ ७ ॥
अवश्य कर्मनो भोग छे, बाकी रह्यो अवशेष रे,
तेथी देह एक ज धारीने, जाशुं स्वरूप स्वदेश रे। धन्य० ॥ ८ ॥

जिसके हृदयमें पर-द्रव्यके प्रति अणुमात्र भी राग रहता है, वह यदि सब आगमोंका जाननेवाला हो तो भी वह स्व-समयको नहीं जानता, ऐसा जानना चाहिये ॥ ५३ ॥

इसलिये सब इच्छाओंसे निवृत्त होकर निःसंग और निर्ममत्व होकर जो सिद्धस्वरूपकी भक्ति करता है वह निर्वाणको प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

परमेष्ठीपदमें जिसे तत्त्वार्थकी प्रतीतिपूर्वक भक्ति है, और जिसकी बुद्धि निर्ग्रंथ-प्रवचनमें रुचिपूर्वक प्रविष्ट हुई है, तथा जो संयम-तपसहित आचरण करता है, उसे मोक्ष कुछ भी दूर नहीं है ॥५५॥

जो अर्हंतकी, सिद्धकी, चैत्यकी और प्रवचनकी भक्तिसहित तपश्चर्या करता है, वह नियमसे देवलोकको प्राप्त करता है ॥ ५६ ॥

इस कारण इच्छामात्रकी निवृत्ति करो। कहीं भी किंचिन्मात्र भी राग मत करो। क्योंकि वीतराग भव-सागरको पार हो जाता है ॥ ५७ ॥

मैंने प्रवचनकी भक्तिसे उत्पन्न प्रेरणासे, मार्गकी प्रभावनाके लिये, प्रवचनके रहस्यभूत पंचास्तिकायके संग्रहरूप इस शास्त्रकी रचना की है ॥ ५८ ॥

इति पंचास्तिकाय समाप्त.

---

७०१ ववाणीआ, फाल्गुन वदी ११॥ मंगल १९५३

संवत् १९५३ की फाल्गुन वदी १२ सोमवार—

जिन	मुख्य	आचार्य.
सिद्धांत	पद्धति	धर्म.
शांतरस	अहिंसा	मुख्य.
लिंगादि	व्यवहार	जिनमुद्रासूचक.
मतांतर	समावेश	
शांतरस	प्रधान	
जिन	आज्ञा	धर्मवाणि.
लोक आदि स्वरूप—	रहस्यको	निवृत्ति—समाधान.
जिन	प्रतिमा	कारण.

कुछ गृह-व्यवहारको शांत करके परिग्रह आदि कार्यसे निवृत्त होना चाहिये।

अप्रमत्त गुणस्थानक पहुँचना चाहिये। केवल भूमिकाका सहजपरिणामी ध्यान—

---

७०२ ववाणीआ, फाल्गुन वदी १२ सोम. १९५३

श्रीमद्‌राजचन्द्र-स्व-आत्मदशा-प्रकाश

अहो ! इस दिनको धन्य है, जो अपूर्व शान्ति जाग्रत हुई है। दस वर्षमें यह धारा उल्लसित हुई और उदय कर्मका गर्व दूर हो गया। अहो ! इस दिनको धन्य है ॥ १ ॥

७०२

धन्य रे दिवस आ अहो, जागी रे शांति अपूर्व रे,
दश वर्षे रे धारा उल्लसी, मटयो उदय कर्मनो गर्व रे। धन्य० १

संवत् उन्नीससौ इकतालीसमें अपूर्व क्रम प्राप्त हुआ; और उन्नीससौ बियालीसमें अद्भुत वैराग्य-धारा प्रकाशित हुई। अहा ! इस दिनको धन्य है ॥ २ ॥

संवत् उन्नीससौ सैंतालीसमें शुद्ध समकितका प्रकाश हुआ; श्रुतका अनुभव, बढ़ती हुई दशा और निजस्वरूपका भास हुआ। अहा ! इस दिनको धन्य है ॥ ३ ॥

इस समय एक भयानक उदय आया। उस उदयसे परिग्रह-कार्यके प्रपंचमें पड़ना पड़ा। ज्यों ज्यों उसे धक्का मारकर भगाते थे, त्यों त्यों वह उल्टा बढ़ता ही जाता था और रंचमात्र भी कम न होता था। अहा ! इस दिनको धन्य है ॥ ४ ॥

इस तरह यह दशा क्रमसे बढ़ती चली गई। इस समय वह कुछ क्षीण मालूम होती है। मनमें ऐसा भासित होता है कि यह क्रमसे क्रमसे दूर हो जायगी। अहा ! इस दिनको धन्य है ॥ ५ ॥

जो कारणपूर्वक मनमें सत्यधर्मके उद्धार करनेका भाव है, वह इस देहमें अवश्य होगा—ऐसा निश्चय हो गया है। अहा ! इस दिनको धन्य है ॥ ६ ॥

अहा ! यह कैसी अपूर्व वृत्ति है, इससे अप्रमत्तयोग होगा, और लगभग केवलभूमिकाको स्पर्श करके देहका वियोग होगा। अहा ! इस दिनको धन्य है ॥ ७ ॥

कर्मका जो भोग बाकी रहा है, उसे अवश्य ही भोगना है। इस कारण एक ही देह धारण करके निजस्वरूप निजदेशको जाऊँगा। अहा ! इस दिनको धन्य है ॥ ८ ॥

७०३

ववाणीआ, चैत्र सुदी २ शी. १९५१

रहस्यदृष्टि अथवा समिति-विचार

परमभक्तिसे स्तुति करनेवालेके प्रति भी जिसे राग नहीं, और परमद्वेषसे परिषह-उपसर्ग करनेवालेके प्रति जिसे द्वेष नहीं, उस पुरुषरूप भगवान्‌को बारम्बार नमस्कार हो !

द्वेषरहित वृत्तिसे प्रवृत्ति करना योग्य है, धीरज रखना चाहिये।

ओगणीसें ने एकतालीसे, आव्यो अपूर्व अनुसार रे,
ओगणीसें ने बेतालीसे, अद्भुत वैराग्य धार रे। धन्य० ॥ २ ॥
ओगणीसें ने सुडतालीसे, समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे,
श्रुत अनुभव वधती दशा, निजस्वरूप अवभास्युं रे। धन्य० ॥ ३ ॥
त्यां आव्यो रे उदय कारमो, परिग्रह कार्य प्रपंच रे,
जेम जेम ते हडसेलीए, तेम वधे न घटे एक रंच रे। धन्य० ॥ ४ ॥
वधतुं एम ज चालियुं, हवे दीसे क्षीण कांई रे,
क्रमे करीने रे ते जशे, एम भासे मनमांहि रे। धन्य० ॥ ५ ॥
यथाहेतु जे चित्तनो, सत्यधर्मनो उद्धार रे,
थशे अवश्य आ देहथी, एम थयो निरधार रे। धन्य० ॥ ६ ॥
आवी अपूर्व वृत्ति अहो, थशे अप्रमत्त योग रे,
केवळ लगभग भूमिका, स्पर्शीने देह वियोग रे। धन्य० ॥ ७ ॥
अवश्य कर्मनो भोग छे, बाकी रह्यो अवशेष रे,
तेथी देह एक ज धारीने, जाशुं स्वरूप स्वदेश रे। धन्य० ॥ ८ ॥

संवत् उन्नीससौ इकतालीसमें अपूर्व क्रम प्राप्त हुआ; और उन्नीससौ बियालिसमें अद्भुत वैराग्य धारा प्रकाशित हुई। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ २ ॥

संवत् उन्नीससौ सैंतालीसमें शुद्ध समकितका प्रकाश हुआ; श्रुतका अनुभव, बढ़ती हुई दशा और निजस्वरूपका भास हुआ। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ३ ॥

इस समय एक भयानक उदय आया। उस उदयसे परिग्रह-कार्यके प्रपंचमें पड़ना पड़ा। मैं ज्यों उसे धक्का मारकर भगाते थे, त्यों त्यों वह उल्टा बढ़ता ही जाता था और रंचमात्र भी कम होता था। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ४ ॥

इस तरह यह दशा क्रमसे बढ़ती चली गई। इस समय वह कुछ क्षीण मालूम होती है। मनमें ऐसा भासित होता है कि वह क्रमसे क्रमसे दूर हो जायगी। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ५ ॥

जो कारणपूर्वक मनमें सत्यधर्मके उद्धार करनेका भाव है, वह इस देहसे अवश्य होगा—ऐसा निश्चय हो गया है। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ६ ॥

अहा! यह कैसी अपूर्व वृत्ति है, इससे अप्रमत्तयोग होगा, और लगभग केवलभूमिको स्पर्श करके देहका वियोग होगा। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ७ ॥

कर्मका जो भोग बाकी रहा है, उसे अवश्य ही भोगना है। इस कारण एक ही देह धारण करके निजरूप निजदेशको जाऊँगा। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ८ ॥

---

७०३ ववाणीआ, चैत्र सुदी ३ रवि. १९५१

रहस्यदृष्टि अथवा समिति-विचार

परमभक्तिसे स्तुति करनेवालेके प्रति भी जिसे राग नहीं, और परमद्वेषसे परिषह-उपसर्ग करनेवालेके प्रति जिसे द्वेष नहीं, उस पुरुषरूप भगवान्‌को बारम्बार नमस्कार हो!

द्वेषरहित वृत्तिसे प्रवृत्ति करना योग्य है, धीरज रखना चाहिये।

ओगणीसें ने एकतालीसे, आव्यो अपूर्व अनुसार रे,
ओगणीसें ने बेतालीसे, अद्भुत वैराग्य धार रे। धन्य० ॥ २ ॥
ओगणीसें ने सुडतालीसे, समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे,
श्रुत अनुभव वधती दशा, निजस्वरूप अवभास्युं रे। धन्य० ॥ ३ ॥
त्यां आव्यो रे उदय कारमो, परिग्रह कार्य प्रपंच रे,
जेम जेम ते हडसेलीए, तेम वधे न घटे एक रंच रे। धन्य० ॥ ४ ॥
वधतुं एम ज चालियुं, हवे दीसे क्षीण कांई रे,
क्रमे करीने रे ते जशे, एम भासे मनमांहि रे। धन्य० ॥ ५ ॥
यथाहेतु जे चित्तनो, सत्यधर्मनो उद्धार रे,
थशे अवश्य आ देहथी, एम थयो निरधार रे। धन्य० ॥ ६ ॥
आवी अपूर्व वृत्ति अहो, थशे अप्रमत्त योग रे,
केवळ लगभग भूमिका, स्पर्शीने देह वियोग रे। धन्य० ॥ ७ ॥
अवश्य कर्मनो भोग छे, बाकी रह्यो अवशेष रे,
तेथी देह एक ज धारीने, जाशुं स्वरूप स्वदेश रे। धन्य० ॥ ८ ॥

धर्मके विना प्रीति नहीं, धर्मके विना रीति नहीं, धर्मके विना हित नहीं, यह मैं हितकी बात कहता हूँ; धर्मके विना टेक नहीं, धर्मके विना प्रामाणिकता नहीं, धर्मके विना ऐक्य नहीं, धर्म रामका धाम है; धर्मके विना ध्यान नहीं, धर्मके विना ज्ञान नहीं, धर्मके विना सच्चा भान नहीं, इसके विना जीना किस कामका है ! धर्मके विना तान नहीं, धर्मके विना प्रतिष्ठा नहीं, और धर्मके विना किसी भी वचनका गुनगान नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

सुख देनेवाली सम्पत्ति हो, मानका मद हो, क्षेम क्षेमके उद्गारोंसे बधाई मिलती हो, यह सब किसी कामका नहीं; जवानीका जोर हो, ऐशका उत्साह हो, दौलतका दौर हो, यह सब केवल नामका सुख है; वनिताका विलास हो, प्रौढ़ताका प्रकाश हो, दक्षके समान दास हों, धामका सुख हो, परन्तु रायचन्द्र कहते हैं कि सद्धर्मको विना धारण किये यह सब सुख दो ही कौड़ीका समझना चाहिये॥५॥

जिसे चतुर लोग प्रीतिसे चाहकर चित्तमें चिन्तामणि रत्न मानते हैं, जिसे प्रेमसे पंडित लोग पारसमणि मानते हैं, जिसे कवि लोग कल्याणकारी कल्पतरु कहते हैं, जिसे साधु लोग शुभ क्षेमसे सुधाका सागर मानते हैं, ऐसे धर्मको, यदि उमंगसे आत्माका उद्धार चाहते हो, तो निर्मल होनेके लिये नीति नियमसे नमन करो। रायचन्द्र वीर कहते हैं कि इस प्रकार धर्मका रूप जानकर धर्मवृत्तिमें ध्यान रक्खो और वहमसे लक्ष्यच्युत न होओ ॥ ६ ॥

धर्म विना प्रीत नहीं, धर्म विना रीत नहीं,
धर्म विना हित नहीं, कथुं जन कामनुं;
धर्म विना टेक नहीं, धर्म विना नेक नहीं,
धर्म विना ऐक्य नहीं, धर्म धाम रामनुं;
धर्म विना ध्यान नहीं, धर्म विना ज्ञान नहीं,
धर्म विना भान नहीं, जीव्युं कोना कामनुं !
धर्म विना तान नहीं, धर्म विना सान नहीं,
धर्म विना गान नहीं, वचन तमामनुं ॥ ४ ॥

साहबी सुखद होय, मानतणो मद होय,
खमा खमा खुद होय, ते ते कशा कामनुं:
जुवानीनुं जोर होय, एशनो अंकोर होय,
दोलतनो दोर होय, ए ते सुख नामनुं:
वनिता विलास होय, प्रौढ़ता प्रकाश होय,
दक्ष जेवा दास होय, होय सुख धामनुं;
वदे रायचंद एम, सद्धर्मने धार्या विना,
जाणी लेजे सुख एवुं, बेएज बदामनुं ! ॥ ५ ॥

चातुरो चौंपथी चाही चिंतामणी चित्त गणे,
पंडितो प्रमाणे छे पारसमणी प्रेमथी;
कवियो कल्याणकारी कल्पतरु कथे जेने,
सुधानो सागर कथे, साधु शुभ क्षेमथी;
आत्मना उद्धारने उमंगथी अनुसरो जो,
निर्मळ थवाने काजे, नमो नीति नेमथी;
वदे रायचंद वीर, एवुं धर्मरूप जाणी,
" धर्मवृत्ति ध्यान धरो, विलखो न वेमथी " ॥ ६ ॥

ॐ

श्रीमोक्षमाला

"जिसने आत्मा जान ली उसने सब कुछ जान लिया"

(निर्ग्रंथप्रवचन)

१ वाचकको अनुरोध

वाचक! यह पुस्तक आज तुम्हारे हस्त-कमलमें आती है। इसे ध्यानपूर्वक बाँचना; इसमें कहे हुए विषयोंको विवेकसे विचारना, और परमार्थको हृदयमें धारण करना। ऐसा करोगे तो तुम नीति, विवेक, ध्यान, ज्ञान, सद्गुण और आत्म-शांति पा सकोगे।

तुम जानते होगे कि बहुतसे अज्ञान मनुष्य न पढ़ने योग्य पुस्तकें पढ़कर अपना अमूल्य समय वृथा खो देते हैं। इससे वे कुमार्ग पर चढ़ जाते हैं, इस लोकमें अपकीर्ति पाते हैं, और परलोकमें नीच गतिमें जाते हैं।

भाषा-ज्ञानकी पुस्तकोंकी तरह यह पुस्तक पठन करनेकी नहीं, परन्तु मनन करनेकी है। इससे इस भव और परभव दोनोंमें तुम्हारा हित होगा। भगवान्के कहे हुए वचनोंका इसमें उपदेश किया गया है।

तुम इस पुस्तकका विनय और विवेकसे उपयोग करना। विनय और विवेक ये धर्मके मूल हेतु हैं।

तुमसे दूसरा एक यह भी अनुरोध है कि जिनको पढ़ना न आता हो, और उनकी इच्छा हो, तो यह पुस्तक अनुक्रमसे उन्हें पढ़कर सुनाना।

तुम्हें इस पुस्तकमें जो कुछ समझमें न आवे, उसे सुविचक्षण पुरुषोंसे समझ लेना योग्य है।

तुम्हारी आत्माका इससे हित हो; तुम्हें ज्ञान, शांति और आनन्द मिले; तुम परोपकारी, दयालु, क्षमावान, विवेकी और बुद्धिशाली बनो; अर्हत् भगवान्से यह शुभ याचना करके यह पाठ पूर्ण करता हूँ।

२ सर्वमान्य धर्म

जो धर्मका तत्त्व मुझसे पूँछा है, उसे तुझे स्नेहपूर्वक सुनाता हूँ। यह धर्म-तत्त्व सकल सिद्धांतका सार है, सर्वमान्य है, और सबको हितकारी है ॥ १ ॥

भगवान्ने भाषणमें कहा है कि दयाके समान दूसरा धर्म नहीं है। दोषोंको नष्ट करनेके लिये अभयदानके साथ प्राणियोंको संतोष प्रदान करो ॥ २ ॥

धर्मतत्त्व जो पूछ्युं मने तो संभळावुं स्नेहे तने;
जे सिद्धांत सकळनो सार सर्वमान्य सहुने हितकार ॥ १ ॥
भाख्युं भाषणमां भगवान, धर्म न बीजो दया समान;
अभयदान साथे संतोष, द्यो प्राणीने दळवा दोष ॥ २ ॥

(१) शंकाः—मुनि……को आचारांग पढ़ते हुए शंका हुई है कि साधुको दीर्घशंका आदि कारणोंमें भी बहुत सख्त मार्गका प्ररूपण देखनेमें आता है, तो ऐसी ऐसी अल्प क्रियाओंमें भी इतनी अधिक सख्ती रखनेका क्या कारण होगा?

समाधानः—सतत अन्तर्मुख उपयोगमें स्थिति रखना ही निर्ग्रंथका परम धर्म है। एक समय भी उस उपयोगको बहिर्मुख न करना चाहिये, यही निर्ग्रंथका मुख्य मार्ग है। परन्तु उस संयमके लिये जो देह आदि साधन बताये हैं, उनके निर्वाहके लिये सहज ही प्रवृत्ति भी होना उचित है। तथा उस तरहकी कुछ भी प्रवृत्ति करते हुए उपयोग बहिर्मुख होनेका निमित्त हो जाता है। इस कारण उस प्रवृत्तिके इस तरह ग्रहण करनेकी आज्ञा दी है कि जिससे वह प्रवृत्ति अन्तर्मुख उपयोगके प्रति रहा करे। यद्यपि केवल और सहज अन्तर्मुख उपयोग तो मुख्यतया केवलभूमिका नामके तेरहवें गुणस्थानमें ही होता है; किन्तु अनिर्मल विचारधाराकी प्रबलतासहित अंतर्मुख उपयोग तो सातवें गुणस्थानमें भी होता है। वहाँ वह उपयोग प्रमादसे स्खलित हो जाता है, और यदि वह उपयोग वहाँ कुछ विशेष अंशमें स्खलित हो जाय तो उपयोगके विशेष बहिर्मुख हो जानेसे उसकी असंयम-भावसे प्रवृत्ति होती है। उसे न होने देनेके लिये, और देह आदि साधनोंके निर्वाहकी प्रवृत्ति भी ऐसी है जो छोड़ी नहीं जा सकती इस कारण, जिससे वह प्रवृत्ति अन्तर्मुख उपयोगसे हो सके, ऐसी अद्भुत संकलनासे उस प्रवृत्तिका उपदेश किया है। इसे पाँच समितिके नामसे कहा जाता है।

जिस तरह आज्ञा की है उस तरह आज्ञाके उपयोगपूर्वक चलना पड़े तो चलना; जिस तरह आज्ञा की है उस तरह आज्ञापूर्वक बोलना पड़े तो बोलना; जिस तरह आज्ञा की है उस तरह आज्ञाके उपयोग-पूर्वक आहार आदि ग्रहण करना; जिस तरह आज्ञा की है उस तरह आज्ञाके उपयोगपूर्वक वस्त्र आदिको लेना रखना; जिस तरह आज्ञा की है उस तरह आज्ञाके उपयोगपूर्वक दीर्घशंका आदि त्याग करने योग्य शरीरके मलका त्याग करना—इस प्रकार प्रवृत्तिरूप पाँच समितियाँ कहीं हैं। संयममें प्रवृत्ति करनेके जो जो दूसरे प्रकारोंका उपदेश दिया है, उन सबका इन पाँच समितियोंमें समावेश हो जाता है। अर्थात् जो कुछ निर्ग्रंथको प्रवृत्ति करनेकी आज्ञा की है वह, जिस प्रवृत्तिका त्याग करना अशक्य है, उसी प्रवृत्तिको करनेकी आज्ञा की है; और वह इस प्रकारसे ही की है कि जिस तरह मुख्य हेतु जो अंतर्मुख उपयोग है उसमें अस्खलित भाव रहे। यदि इसी तरह प्रवृत्ति की जाय तो उपयोग सतत जाग्रत रह सकता है, और जिस जिस समय जीवकी जितनी जितनी ज्ञान-शक्ति और वीर्य-शक्ति है वह सब अप्रमत्त रह सकती है।

दीर्घशंका आदि क्रियाओंको करते हुए भी जिससे अप्रमत्त संयमदृष्टि विस्मृत न हो जाय, इसलिये उन सख्त क्रियाओंका उपदेश किया है, परन्तु वे सत्पुरुषकी दृष्टि बिना समझमें नहीं आतीं। यह रहस्यदृष्टि संक्षेपमें लिखी है, उसपर अधिकाधिक विचार करना चाहिये। किसी भी क्रियामें प्रवृत्ति करते हुए इस दृष्टिको स्मरणमें रखनेका लक्ष रखना योग्य है।

जो जो ज्ञानीकी आज्ञारूप क्रियायें हैं, उन सब क्रियाओंमें यदि तथारूप भावसे प्रवृत्ति की जाय तो वह अप्रमत्त उपयोग होनेका साधन है। इस आशययुक्त इस पत्रका ज्यों ज्यों विशेष विचार करोगे, त्यों त्यों अपूर्व अर्थका उपदेश मिलेगा।

साथ साथ, कुछ सावधानीपूर्वक, परमार्थमें अति उत्साहसहित, प्रवृत्ति करके निजस्थितिस्थानका नित्य ही अभ्यास करते रहना चाहिये।

७१३

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १९५२

स्वभाव-जाग्रतदशा

(१)

चित्रसारी न्यारी परजंक न्यारौ सेज न्यारी, चादरि भी न्यारी इहाँ झूठी मेरी थपना।
अतीत अवस्था सैन निद्रावाहि कोउ पै न, विद्यमान पलक न यामें अब छपना॥
स्वास औ सुपन दोऊ निद्राकी अलंग बूझे, सूझे सब अंग लखि आतम दरपना।
त्यागी भयौ चेतन अचेतनता भाव त्यागि, भालै दृष्टि खोलिकै संभालै रूप अपना॥

(२)

अनुभव-उत्साहदशा

जैसौ निरभेदरूप निहचै अतीत हुतौ, तैसौ निरभेद अब भेद कौन कहैगौ।
दीसै कर्मरहित सहित सुख समाधान, पायौ निजथान फिर बाहरि न बहैगौ॥
कबहूँ कदाचि अपनौ सुभाव त्यागि करि, राग रस राचिकै न परवस्तु गहैगौ।
अमलान ज्ञान विद्यमान परगट भयौ, याही भांति आगम अनंतकाल रहैगौ॥

(३)

स्थितिदशा

एक परिनामके न करता दरब दोइ, दोइ परिनाम एक दर्व न धरतु है।
एक करतूति दोइ दर्व कबहूँ न करै, दोइ करतूति एक दर्व न करतु है॥
जीव पुदगल एक खेत-अवगाही दोउ, अपनें अपनें रूप दोउ कोउ न टरतु है।
जड़ परिनामनिकौ करता है पुदगल, चिदानन्द चेतन सुभाव आचरतु है॥

(४)

ॐ सर्वज्ञ

आत्मा सर्व अन्यभावसे रहित है, जिसे सर्वथा इसी तरहका अनुभव रहता है वह मुक्त है।

जिसे अन्य सब द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे सर्वथा असंगता रहती है, वह मुक्त है।

अटल अनुभवस्वरूप आत्मा जहाँसे सब द्रव्योंसे प्रत्यक्ष भिन्न भासित हो वहींसे मुक्तदशा रहती है। वह पुरुष मौन हो जाता है, वह पुरुष अप्रतिबद्ध हो जाता है, वह पुरुष असंग हो जाता है, वह पुरुष निर्विकल्प हो जाता है, और वह पुरुष मुक्त हो जाता है।

जिन्होंने इस तरहकी असंगदशा उत्पन्न की है कि तीनों कालमें देह आदिसे उनका कोई भी संबंध न था, उन भगवान्‌रूप सत्पुरुषोंको नमस्कार है।

(५)

तिथि आदिके विकल्पको छोड़कर निज विचारमें आचरण करना ही कर्तव्य है। शुद्ध सहज आत्मस्वरूप.

(२) हमेशा अमुक शास्त्राध्ययन करनेके पश्चात् इस पत्रके विचार करनेसे स्पष्ट हो सकता है।

(३) कर्मग्रन्थका बाँचन करना चाहिये। उसके पूरे होनेपर उसका फिरसे अनुप्रेक्षण करना योग्य है।

---

७०४ वत्राणीआ, चैत्र सुदी ४, १९५

(१)

१. एकेन्द्रिय जीवको जो अनुकूल स्पर्श आदिकी अव्यक्तरूपसे प्रियता है, वह मैथुनसंज्ञा है।

२. एकेन्द्रिय जीवको जो देह और देहके निर्वाह आदि साधनोंमें अव्यक्त मूर्च्छा है, वह परिग्रह संज्ञा है। वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीवोंमें यह संज्ञा कुछ विशेष व्यक्त है।

(२)

(१) तीनों प्रकारके समकितमेंसे चाहे किसी भी प्रकारका समकित आविर्भूत हो, तो भी इतनेसे अधिक पन्द्रह भवमें मोक्ष हो जाती है; और यदि समकित होनेके पश्चात् जीव उसका वमन कर दे तो उसे अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल-परावर्त्तनतक संसारमें परिभ्रमण होकर मोक्ष हो सकती है।

(२) तीर्थंकरके निर्ग्रंथ, निर्ग्रंथिनी, श्रावक और श्राविका—इन सबको जीव-अजीवका ज्ञान था, इसलिये उन्हें समकित कहा हो, यह बात नहीं है। उनमेंसे बहुतसे जीवोंको तो केवल सच्चे अंतरंग भावसे तीर्थंकरकी और उनके उपदेश दिए हुए मार्गकी प्रतीति थी, इस कारण भी उन्हें समकित कहा है। इस समकितके प्राप्त करनेके पश्चात् जीवने यदि उसे वमन न किया हो तो अधिकसे अधिक उसके पन्द्रह भव होते हैं। सिद्धांतमें अनेक स्थलोंपर यथार्थ मोक्षमार्गको प्राप्त सत्पुरुषकी यथार्थ प्रतीतिको समकित कहा है। इस समकितके उत्पन्न हुए बिना, जीवको प्रायः जीव और अजीवका यथार्थ ज्ञान भी नहीं होता। जीव और अजीवके ज्ञान प्राप्त करनेका मुख्य मार्ग यही है।

(३) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान, इन आठोंको जीवके उपयोगस्वरूप होनेसे अरूपी कहा है। ज्ञान और अज्ञान इन दोनोंमें इतना ही मुख्य अंतर है कि जो ज्ञान समकितसहित है वह ज्ञान है, और जो ज्ञान मिथ्यात्वसहित है, वह अज्ञान है; वस्तुतः दोनों ही ज्ञान हैं।

(४) ज्ञानावरणीय कर्म और अज्ञान दोनों एक नहीं हैं। ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञानको आवरण-स्वरूप है, और अज्ञान ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमस्वरूप अर्थात् आवरण दूर होनेरूप है।

(५) अज्ञान शब्दका अर्थ साधारण भाषामें ज्ञानरहित होता है—उदाहरणके लिये यह ज्ञानसे रहित कहा जाता है; परन्तु निर्ग्रंथ-भाषामें तो मिथ्यात्वसहित ज्ञानका नाम ही अज्ञान है; अतएव उस दृष्टिसे अज्ञानको अरूपी कहा है।

(६) यहाँ शंका हो सकती है कि यदि अज्ञान अरूपी हो तो वह फिर सिद्धमें भी होना चाहिये। उसका समाधान इस प्रकारसे है:—मिथ्यात्वसहित ज्ञानको ही अज्ञान कहा है। उनमेंसे मिथ्यात्व नष्ट हो जानेसे ज्ञान बाकी बच जाता है। वह ज्ञान सम्पूर्ण शुद्धतासहित सिद्धभगवान्‌में रह

७१४

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी ८ सोम.

जिसे किसीके प्रति राग और द्वेष नहीं रहा, उस महात्माको नमस्कार है।

१. परमयोगी श्रीऋषभदेव आदि पुरुष भी जिस देहका रक्षण नहीं कर सके, विशेषता यह है कि जबतक जीवको उसका संबंध रहे तबतक जीवको असंगता करके, अबाध्य अनुभवरूप निजस्वरूपको जानकर, अन्य सब भावोंसे व्यावृत्त (मुक्त) चाहिये, जिससे फिरसे जन्म-मरणका आवागमन न रहे।

२. उस देहको छोड़ते समय जितने अंशमें असंगता—निर्मोहिता—यथार्थ रहता है, उतना ही मोक्षपद पासमें रहता है, ऐसा परमज्ञानी पुरुषका निश्चय है।

३. इस देहमें करने योग्य कार्य तो एक ही है कि किसीके प्रति किंचित् भी राग और द्वेष न रहे—सर्वत्र समदशा ही रहे—यही कल्याणका मुख्य निश्चय है।

४. कुछ भी मन वचन और कायाके योगसे जाने या बिना जाने कोई अपराध हुआ हो वे उसकी विनयपूर्वक क्षमा माँगता हूँ—अत्यन्त नम्रभावसे क्षमा माँगता हूँ।

७१५

बम्बई, ज्येष्ठ वदी ६ रवि.

परमपुरुष-दशा-वर्णन

१. कीचसौ कनक जाकै नीचसौ नरेस पद, मीचसी मिताई गरुवाई जाकै गारसी।
जहरसी जोग-जाति कहरसी करामाति, हहरसी हौस पुद्गल-छबि छारसी॥
जालसौ जग-विलास भालसौ भुवनवास, कालसौ कुटुंबकाज लोक-लाज लारसी।
सीठसौ सुजसु जानै बीठसौ बखत मानै, ऐसी जाकी रीति ताहि बंदत बनारसी॥

जो कंचनको कीचड़के समान मानता है, राजगद्दीको नीचपदके समान समझता है, किसीसे मित्रता करनेको मरणके समान समझता है, बड़प्पनको लीपनेके गोबरके समान मानता है, कीमियां आदिको जो ज़हरके समान गिनता है, सिद्धि आदि ऐश्वर्यको जो असाताके समान समझता है, जगत्में पूज्यता होने आदिकी हविसको अनर्थके समान गिनता है, पुद्गलकी छवि ऐसी औदारिक शरीरकी कायाको राखके समान समझता है, जगत्के भोग-विलासको जंजालके समान मानता है, गृहवासको भालेके समान समझता है, कुटुम्बके कार्यको काल—मृत्यु—के समान गिनता है, लोकमें लाज बढ़ानेकी इच्छाको मुखकी लारके समान समझता है, कीर्तिकी इच्छाको नाकके मैलके समान समझता है, और पुण्यके उदयको जो विष्टाके समान समझता है—ऐसी जिसकी रीति है, उसे बनारसीदास नमस्कार करते हैं।

२. किसीके लिये कुछ विकल्प न करते हुए असंगभाव ही रखना। ज्यों ज्यों वे मुमुक्षु इन वचनोंकी प्रतीति करेंगे, ज्यों ज्यों उनकी आज्ञापूर्वक उनकी अस्थि-मज्जा रँगी जायगी, त्यों त्यों वे इन और आत्म-कल्याणको सुगमतासे प्राप्त करेंगे—इसमें सन्देह नहीं है।

ही है। सिद्धका केवलज्ञानीका और सम्यक्दृष्टिका ज्ञान मिथ्यात्वरहित है। जीवको मिथ्यात्व भ्रांतिस्वरूप है। उस भ्रांतिके यथार्थ समझमें आ जानेपर उसकी निवृत्ति हो सकती है। मिथ्यात्व दिशाकी भ्रांतिरूप है।

(२)

ज्ञान जीवका स्वभाव है इसलिये वह अरूपी है, और ज्ञान जबतक विपरीतरूपसे जाननेका कार्य करता है, तबतक उसे अज्ञान ही कहना चाहिये, ऐसी निर्ग्रंथकी परिभाषा है। परन्तु यहाँ ज्ञानके दूसरे नामको ही अज्ञान समझना चाहिये।

शंकाः—यदि ज्ञानका ही दूसरा नाम अज्ञान हो तो जिस तरह ज्ञानसे मोक्ष होना कहा है, उसी तरह अज्ञानसे भी मोक्ष होनी चाहिये। तथा जिस तरह मुक्त जीवोंमें ज्ञान बताया गया है, उसी तरह उनमें अज्ञान भी कहना चाहिये।

समाधानः—जैसे कोई डोरा गाँठके पड़नेसे उलझा हुआ और गाँठके खुल जानेसे उलझन-रहित कहा जाता है; यदि देखा जाय तो डोरे दोनों ही हैं, फिर भी गाँठके पड़ने और खुल जानेकी अपेक्षा ही उन्हें उलझा हुआ और उलझनरहित कहा जाता है; उसी तरह मिथ्यात्वज्ञानको 'अज्ञान' और सम्यग्ज्ञानको 'ज्ञान' कहा गया है। परन्तु मिथ्यात्वज्ञान कुछ जड़ है और सम्यग्ज्ञान चेतन है, यह बात नहीं है। जिस तरह गाँठवाला डोरा और बिना गाँठका डोरा दोनों ही डोरे हैं, उसी तरह मिथ्यात्वज्ञानसे संसार-परिभ्रमण और सम्यग्ज्ञानसे मोक्ष होती है। जैसे यहाँसे पूर्व दिशामें दस कोसपर किसी गाँवमें जानेके लिये प्रस्थित कोई मनुष्य, यदि दिशाके भ्रमसे पूर्वके बदले पश्चिम दिशामें चला जाय, तो वह पूर्व दिशावाले गाँवमें नहीं पहुँच सकता; परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसने कुछ चलने-रूप ही क्रिया नहीं की; उसी तरह देह और आत्माके भिन्न भिन्न होनेपर भी, जिसने देह और आत्माको एक समझ लिया है, वह जीव देह-बुद्धिसे संसार-परिभ्रमण करता है; परन्तु उससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसने कुछ जाननेरूप ही कार्य नहीं किया। उक्त जीव जो पूर्वसे पश्चिमकी ओर गया है—यह जिस तरह पूर्वको पश्चिम मान लेनेरूप भ्रम है; उसी तरह देह और आत्माके भिन्न भिन्न होनेपर भी दोनोंको एक मानना भ्रम ही है। परन्तु पश्चिमकी ओर जाते हुए—चलते हुए—जिस तरह चलनेरूप स्वभाव तो रहता ही है, उसी तरह देह और आत्माको एक समझनेमें भी जाननेरूप स्वभाव तो रहता ही है। जिस तरह यहाँ पूर्वकी जगह पश्चिमको ही पूर्व मान लेनेरूप जो भ्रम है वह भ्रम, तथारूप सामग्रीके मिलनेसे समझमें आ जानेसे जब पूर्व पूर्व समझमें आता है और पश्चिम पश्चिम समझमें आता है, उस समय दूर हो जाता है, और पथिक पूर्वकी ओर चलने लगता है; उसी तरह जिसने देह और आत्माको एक मान रक्खा है, वह सद्गुरु-उपदेश आदि सामग्रीके मिलनेपर, जब यह बात यथार्थ समझमें आ जाती है कि वे दोनों भिन्न भिन्न हैं, उस समय उसका भ्रम दूर होकर आत्माके प्रति ज्ञानोपयोग होता है। जैसे भ्रममें पूर्वको पश्चिम और पश्चिमको पूर्व मान लेनेपर भी, पूर्व पूर्व ही था और पश्चिम पश्चिम ही था, केवल भ्रमके कारण ही वह विपरीत भासित होता था; उसी तरह अज्ञानमें भी, देह देह और आत्मा आत्मा होनेपर भी वे उस तरह भासित नहीं होते, यह विपरीत ज्ञान है। उसके यथार्थ समझनेमें आनेपर, भ्रमके निवृत्त हो जानेसे देह देह भासित होती है और आत्मा

(२) हमेशा अमुक शास्त्राध्ययन करनेके पश्चात् इस पत्रके विचार करनेसे हो सकता है ।

(३) कर्मग्रन्थका बाँचन करना चाहिये । उसके पूरे होनेपर उसका फिरसे अनुप्रेक्षण करना योग्य है ।

७०४

ववाणीआ, चैत्र सुदी ४, १९५

(१)

१. एकेन्द्रिय जीवको जो अनुकूल स्पर्श आदिकी अव्यक्तरूपसे प्रियता है, वह मैथुनसंज्ञा है।

२. एकेन्द्रिय जीवको जो देह और देहके निर्वाह आदि साधनोंमें अव्यक्त मूर्छा है, वह परिग्रह संज्ञा है । वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीवोंमें यह संज्ञा कुछ विशेष व्यक्त है ।

(२)

(१) तीनों प्रकारके समकितमेंसे चाहे किसी भी प्रकारका समकित आविर्भूत हो, तो भी अधिकसे अधिक पन्द्रह भवमें मोक्ष हो जाती है; और यदि समकित होनेके पश्चात् जीव उसका वमन कर दे तो उसे अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल-परावर्त्तनतक संसारमें परिभ्रमण होकर मोक्ष हो सकती है।

(२) तीर्थंकरके निर्ग्रंथ, निर्ग्रंथिनी, श्रावक और श्राविका—इन सबको जीव-अजीवका ज्ञान था, इसलिये उन्हें समकित कहा हो, यह बात नहीं है। उनमेंसे बहुतसे जीवोंको तो केवल सच्चे अंतरंग भावसे तीर्थंकरकी और उनके उपदेश दिए हुए मार्गकी प्रतीति थी, इस कारण भी उन्हें समकित कहा है। इस समकितके प्राप्त करनेके पश्चात् जीवने यदि उसे वमन न किया हो तो अधिकसे अधिक उसके पन्द्रह भव होते हैं । सिद्धांतमें अनेक स्थलोंपर यथार्थ मोक्षमार्गको प्राप्त सत्पुरुषकी यथार्थ प्रतीतिको समकित कहा है । इस समकितके उत्पन्न हुए बिना, जीवको प्रायः जीव और अजीवका यथार्थ ज्ञान भी नहीं होता । जीव और अजीवके ज्ञान प्राप्त करनेका मुख्य मार्ग यही है ।

(३) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान, इन आठोंको जीवके उपयोगस्वरूप होनेसे अरूपी कहा है । ज्ञान और अज्ञान इन दोनोंमें इतना ही मुख्य अंतर है कि जो ज्ञान समकितसहित है वह ज्ञान है, और जो ज्ञान मिथ्यात्वसहित है, वह अज्ञान है; वस्तुतः दोनों ही ज्ञान हैं ।

(४) ज्ञानावरणीय कर्म और अज्ञान दोनों एक नहीं हैं । ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञानको आवरण-स्वरूप है, और अज्ञान ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमस्वरूप अर्थात् आवरण दूर होनेरूप है ।

(५) अज्ञान शब्दका अर्थ साधारण भाषामें ज्ञानरहित होता है—उदाहरणके लिये जड ज्ञानसे रहित कहा जाता है; परन्तु निर्ग्रंथ-भाषामें तो मिथ्यात्वसहित ज्ञानका नाम ही अज्ञान है; अतएव उस दृष्टिसे अज्ञानको अरूपी कहा है ।

(६) यहाँ शंका हो सकती है कि यदि अज्ञान अरूपी हो तो वह फिर सिद्धमें भी रहना चाहिये । उसका समाधान इस प्रकारसे है:—मिथ्यात्वसहित ज्ञानको ही अज्ञान कहा है । उसमेंसे मिथ्यात्व नष्ट हो जानेसे ज्ञान बाकी बच जाता है। वह ज्ञान सम्पूर्ण शुद्धतासहित सिद्धभगवान्में पर

ही है। सिद्धका केवलज्ञानीका और सम्यक्दृष्टिका ज्ञान मिथ्यात्वरहित है। जीवको मिथ्यात्व भ्रांतिस्वरूप है। उस भ्रांतिके यथार्थ समझमें आ जानेपर उसकी निवृत्ति हो सकती है। मिथ्यात्व दिशाकी भ्रांतिरूप है।

(३)

ज्ञान जीवका स्वभाव है इसलिये वह अरूपी है, और ज्ञान जबतक विपरीतरूपसे जाननेका कार्य करता है, तबतक उसे अज्ञान ही कहना चाहिये, ऐसी निर्ग्रंथकी परिभाषा है। परन्तु यहाँ ज्ञानके दूसरे नामको ही अज्ञान समझना चाहिये।

शंका:—यदि ज्ञानका ही दूसरा नाम अज्ञान हो तो जिस तरह ज्ञानसे मोक्ष होना कहा है, उसी तरह अज्ञानसे भी मोक्ष होनी चाहिये। तथा जिस तरह मुक्त जीवोंमें ज्ञान बताया गया है, उसी तरह उनमें अज्ञान भी कहना चाहिये।

समाधान:—जैसे कोई डोरा गाँठके पड़नेसे उलझा हुआ और गाँठके खुल जानेसे उलझन-रहित कहा जाता है; यद्यपि देखा जाय तो डोरे दोनों ही हैं, फिर भी गाँठके पड़ने और खुल जानेकी अपेक्षा ही उन्हें उलझा हुआ और उलझनरहित कहा जाता है; उसी तरह मिथ्यात्वज्ञानको 'अज्ञान' और सम्यग्ज्ञानको 'ज्ञान' कहा गया है। परन्तु मिथ्यात्वज्ञान कुछ जड़ है और सम्यग्ज्ञान चेतन है, यह बात नहीं है। जिस तरह गाँठवाला डोरा और बिना गाँठका डोरा दोनों ही डोरे हैं, उसी तरह मिथ्यात्वज्ञानसे संसार-परिभ्रमण और सम्यग्ज्ञानसे मोक्ष होती है। जैसे यहाँसे पूर्व दिशामें दस कोसपर किसी गाँवमें जानेके लिये प्रस्थित कोई मनुष्य, यदि दिशाके भ्रमसे पूर्वके बदले पश्चिम दिशामें चला जाय, तो वह पूर्व दिशावाले गाँवमें नहीं पहुँच सकता; परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसने कुछ चलने-रूप ही क्रिया नहीं की; उसी तरह देह और आत्माके भिन्न भिन्न होनेपर भी, जिसने देह और आत्माको एक समझ लिया है, वह जीव देहबुद्धिसे संसार-परिभ्रमण करता है; परन्तु उससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसने कुछ जाननेरूप ही कार्य नहीं किया। उक्त जीव जो पूर्वसे पश्चिमकी ओर गया है—यह जिस तरह पूर्वको पश्चिम मान लेनेरूप भ्रम है; उसी तरह देह और आत्माके भिन्न भिन्न होनेपर भी दोनोंको एक मानना भ्रम ही है। परन्तु पश्चिमकी ओर जाते हुए—चलते हुए—जिस तरह चलनेरूप स्वभाव तो रहता ही है, उसी तरह देह और आत्माको एक समझनेमें भी जाननेरूप स्वभाव तो रहता ही है। जिस तरह यहाँ पूर्वकी जगह पश्चिमको ही पूर्व मान लेनेरूप जो भ्रम है वह भ्रम, यथार्थ कारणोंके मिलनेसे समझमें आ जानेसे जब पूर्व पूर्व समझमें आता है और पश्चिम पश्चिम समझमें आता है, उस समय दूर हो जाता है, और पथिक पूर्वकी ओर चलने लगता है; उसी तरह जिसने देह और आत्माको एक मान रक्खा है, वह सद्गुरु-उपदेश आदि साधनोंके मिलनेपर, जब यह बात यथार्थ समझमें आ जाती है कि ये दोनों भिन्न भिन्न हैं, उस समय उसका भ्रम दूर होकर आत्माके प्रति ज्ञानोपयोग होता है। जैसे भ्रमसे पूर्वको पश्चिम और पश्चिमको पूर्व मान लेनेपर भी, पूर्व पूर्व ही था और पश्चिम पश्चिम ही था, केवल भ्रमके कारण ही वह विपरीत भासित होता था; उसी तरह अज्ञानमें भी, देह देह और आत्मा आत्मा होनेपर भी वे उस तरह भासित नहीं होते, यह विपरीत ज्ञान है। उसके यथार्थ समझनेसे अनंतर, भ्रमके निवृत्त हो जानेसे देह देह भासित होती है और आत्मा

आत्मा भासित होती है; और जो जाननेरूप स्वभाव विपरीत-भावको प्राप्त होता था, वह अब सम्यक्स्वभावको प्राप्त होता है। जिस तरह वास्तवमें दिशा-भ्रम कुछ भी वस्तु नहीं है, और केवल गमनरूप क्रियासे इष्ट गाँवकी प्राप्ति नहीं होती; उसी तरह वास्तवमें मिथ्यात्व भी कोई चीज नहीं है, और उसके साथ जाननेरूप स्वभाव भी रहता है; परन्तु बात इतनी ही है कि साथमें मिथ्यात्वरूप भ्रम होनेसे निजस्वरूपभावमें परम स्थिति नहीं होती। दिशा-भ्रमके दूर हो जानेसे इच्छित गाँवकी ओर फिरनेके बाद मिथ्यात्व भी दूर हो जाता है, और निजस्वरूप शुद्ध ज्ञानात्मपदमें स्थिति हो सकती है, इसमें किसी भी सन्देहको कोई अवकाश नहीं है।

---

७०५ ववाणीआ, चैत्र सुदी ५, १९५१

तीनों समकितोंमेंसे किसी भी एक समकितको प्राप्त करनेसे जीव अधिकसे अधिक पन्द्रह भवमें मोक्ष प्राप्त करता है; और कमसे कम उसे उसी भवमें मोक्ष होती है; और यदि वह उस समकितका वमन कर दे तो वह अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल-परावर्त्तन कालतक संसार परिभ्रमण करके मोक्ष प्राप्त करता है। समकित प्राप्त करनेके पश्चात् अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल-परावर्त्तन संसार होता है।

यदि क्षयोपशम अथवा उपशम समकित हो तो जीव उसका वमन कर सकता है, परन्तु यदि क्षायिक समकित हो तो उसका वमन नहीं किया जाता। क्षायिकसमकिती जीव उसी भवमें मोक्ष प्राप्त करता है; यदि वह अधिक भव करे तो तीन भव करता है, और किसी जीवको अपेक्षासे कभी चार भव भी होते हैं। युगलियोंकी आयुके बंध होनेके पश्चात् यदि क्षायिक समकित उत्पन्न हुआ हो तो चार भव होने संभव हैं—प्रायः किसी जीवको ही ऐसा होता है।

भगवान्‌के तीर्थंकर निर्ग्रंथ, निर्ग्रंथिनी, श्रावक और श्राविकाको कुछ सबको ही जीव-अजीवका ज्ञान था, और इस कारण उन्हें समकित कहा है, यह शास्त्रका अभिप्राय नहीं है। उनमेंसे बहुतसे जीवोंको तो, 'तीर्थंकर सच्चे पुरुष हैं, सच्चे मोक्षमार्गके उपदेष्टा हैं, और वे जिस तरह कहते हैं मोक्षमार्ग उसी तरह है,' ऐसी प्रतीतिसे, ऐसी रुचिसे, श्रीतीर्थंकरके आश्रयसे और निश्चयसे समकित कहा गया है। ऐसी प्रतीति, ऐसी रुचि और ऐसे आश्रयका तथा ऐसी आज्ञाका जो निश्चय है, वह भी एक तरहसे जीव अजीवका ज्ञान ही है। 'पुरुष सच्चे मिले हैं और उनकी प्रतीति भी ऐसी सच्ची हुई है कि जिस तरह ये परमकृपालु कहते हैं, मोक्षमार्ग उसी तरह है—मोक्षमार्ग उसी तरह हो सकता है; इस पुरुषके लक्षण आदि भी वीतरागताकी सिद्धि करते हैं। तथा जो वीतराग होता है वह पुरुष यथार्थ वक्ता होता है, और इसी पुरुषकी प्रतीतिसे मोक्षमार्ग स्वीकार किया जा सकता है'—ऐसी सुविचारणा भी एक तरहसे गौणरूपसे जीव-अजीवका ही ज्ञान है।

इस प्रतीतिसे, इस रुचिसे और इस आश्रयसे बादमें जीवाजीवका स्पष्ट विस्तारसहित ज्ञान होता है। तथारूप पुरुषकी आज्ञाकी उपासना करनेसे, राग-द्वेषका क्षय होकर वीतराग-दशा होती है। तथारूप सत्पुरुषका प्रत्यक्ष योग हुए बिना यह समकित होना कठिन है। हाँ, उस पुरुषके वचनरूप शास्त्रोंसे पूर्वमें आराधक किसी जीवको समकित होना संभव है, अथवा कोई कोई आचार्य प्रत्यक्षरूपसे उस वचनके कारणसे किसी जीवको समकित प्राप्त कराते हैं।

---

७२० बम्बई, आषाढ वदी १ गुरु. १९

(१) * सकळ संसारी इंद्रियरामी, मुनि गुण आतमरामी रे,
मुख्यपणे जे आतमरामी, ते कहिये निःकामी रे।

(२) हे मुनियो! तुम्हें आर्य सोभागकी अंतरदशाकी और देह-मुक्त समयकी दशाकी बारम्बार अनुप्रेक्षा करना चाहिये।

(३) हे मुनियो! तुम्हें द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे--असंगभावसे--विचरण करते सतत उपयोगको सिद्ध करना चाहिये। जिसने जगत्के सुखकी स्पृहाको छोड़कर ज्ञानीके मार्गका आश्रय ग्रहण किया है, वह अवश्य उस असंग उपयोगको पाता है। जिस श्रुतसे असंगता उत्पन्न हो उस श्रुतका परिचय करना योग्य है।

---

७२१ बम्बई, आषाढ वदी ११ री. १९

परम संयमी पुरुषोंको नमस्कार हो.

असारभूत व्यवहारको सारभूत प्रयोजनकी तरह करनेका उदय मौजूद रहनेपर भी, जो पुरुष उस उदयसे क्षोभ न पाकर सहजभाव--स्वधर्ममें निश्चलभावसे रहे हैं, उन पुरुषोंके भीष्म-व्रतको हम बारम्बार स्मरण करते हैं।

---

७२२ बम्बई, श्रावण सुदी ३ री. १९

(१) परम उत्कृष्ट संयम जिनके लक्षमें निरन्तर रहा करता है, उन सत्पुरुषोंके समागमका निरंतर ध्यान है।

(२) प्रतिष्ठित (निर्ग्रंथ) व्यवहारकी श्री······की जिज्ञासामें भी अनंतगुण विशिष्ट निवृत्ति रहती है। उदयके बलवान और वेदन किये बिना अटल होनेसे, अंतरंग खेदका समतासहित वेदन करते हैं। दीर्घकालको अत्यन्त अल्पभावमें लानेके ध्यानमें वर्तन करते हैं।

(३) यथार्थ उपकारी पुरुषकी प्रत्यक्षतामें एकत्वभावना आत्मशुद्धिकी उत्कृष्टता करती है।

---

७२३ बम्बई, श्रावण सुदी १५ शुक्र. १९

(१) जिसकी दीर्घकालकी स्थिति है, उसे अल्पकालकी स्थितिमें लाकर जिन्होंने कर्मोंका क्षय किया है, उन महात्माओंको नमस्कार है!

(२ सदाचरण सद्ग्रंथ और सत्समागममें प्रमाद नहीं करना चाहिये।

---

* अर्थके लिये देखो अंक ६८४. --अनुवादक.

७२४ बम्बई, श्रावण सुदी १५ गुरु. १९५२

(१) मोक्षमार्गप्रकाश ग्रंथका मुमुक्षु जीवको विचार करना योग्य है।

उसका अवलोकन करते हुए यदि किसी विचारमें कुछ मतांतर जैसा माळूम हो तो व्याकुल न होकर उस स्थलको अधिक मनन करना चाहिये, अथवा उस स्थलको सत्समागममें समझना चाहिये।

(२) परमोत्कृष्ट संयममें स्थितिकी बात तो दूर रही, परन्तु उसके स्वरूपका विचार होना भी कठिन है।

---

७२५ बम्बई, श्रावण सुदी १५ गुरु. १९५२

'क्या सम्यग्दृष्टि अभक्ष्य आहार कर सकता है'? इत्यादि जो प्रश्न लिखे हैं उन प्रश्नोंके हेतुको विचारनेसे कहना योग्य होगा कि प्रथम प्रश्नमें किसी दृष्टांतको लेकर जीवको शुद्ध परिणामकी हानि करनेके ही समान है। मतिकी अस्थिरतासे जीव परिणामका विचार नहीं कर सकता।

यद्यपि किसी जगह किसी ग्रंथमें श्रेणिक आदिके संबंधमें ऐसी बात कही है, परन्तु वह किसीके द्वारा आचरण करनेके लिये नहीं कही; तथा वह बात उसी तरह यथार्थ है, यह बात भी नहीं है।

सम्यग्दृष्टि पुरुषको अल्पमात्र भी व्रत नहीं होता, तो भी सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् उसका यदि जीव वमन न करे तो वह अधिकसे अधिक पन्द्रह भवमें मोक्ष प्राप्त कर सकता है, ऐसा सम्यग्दर्शनका बल है—इस हेतुसे कही हुई बातको अन्यथारूपमें न ले जानी चाहिये। सत्पुरुषकी वाणी, विषय और कषायके अनुमोदनसे अथवा राग-द्वेषके पोषणसे रहित होती है—यह निश्चय रखना चाहिये; और चाहे कैसा भी प्रसंग हो उसका उसी दृष्टिसे अर्थ करना उचित है।

---

७२६ बम्बई, श्रावण वदी ८ शुक्र. १९५२

(१) मोहमुद्गर और मणिरत्नमाला इन दो पुस्तकोंका हालमें बाँचनेका परिचय रखना। इन दोनों पुस्तकोंमें मोहके स्वरूपके तथा आत्म-साधनके बहुतसे उत्तम भेद बताये हैं।

(२) पारमार्थिक करुणाबुद्धिसे निष्पक्षभावसे कल्याणके साधनके उपदेष्टा पुरुषका समागम, उपासना और उसकी आज्ञाका आराधन करना चाहिये। तथा उस समागमके वियोगमें सच्छास्त्रका बुद्धि-अनुसार परिचय रखकर सदाचारसे प्रवृत्ति करना ही योग्य है।

---

७२७ बम्बई, श्रावण वदी १० रवि. १९५२

मोक्षमार्गप्रकाश श्रवण करनेकी जिन जिज्ञासुओंको अभिलाषा है, उनको उसे श्रवण कराना—अधिक स्पष्टीकरणपूर्वक और धीरजसे श्रवण कराना। श्रोताको यदि किसी स्थलपर विशेष संशय हो तो उसका समाधान करना उचित है। तथा किसी स्थानपर यदि समाधान होना असंभव जैसा माळूम हो तो उसे किसी महात्माके संयोगसे समझनेके लिये कहकर श्रवणको रोकना नहीं चाहिये। तथा उस संशयको किसी महात्माके सिवाय अन्य किसी स्थानमें पूँछनेसे वह विशेष भ्रमका ही कारण होगा, और

३. त्याग-व्यवहारमें भी ज्ञानीने एकांतसे उपचार आदिका निषेध नहीं किया। निर्ग्रन्थको यदि स्व-परिग्रहीत शरीरमें रोग आदि हो जाँय, तो औषध आदिके ग्रहण करनेके संबंधमें ऐसी आज्ञा है कि जबतक आर्त्तध्यान उत्पन्न न होने योग्य दृष्टि रहे, तबतक औषध आदि ग्रहण न करनी चाहिये; और यदि औषध ग्रहण करनेका कोई विशेष कारण दिखाई दे तो निरवद्य औषध आदि ग्रहण करनेमें आज्ञाका अतिक्रम नहीं होता, अथवा यथाशुभ औषध आदि ग्रहण करनेसे आज्ञाका अतिक्रम नहीं होता। तथा दूसरे निर्ग्रंथको यदि शरीरमें रोग आदि हुआ हो, तो जहाँ उसकी वैयावृत्य आदिके करनेका क्रम प्रदर्शित किया है, वहाँ भी उसे इसी तरह प्रदर्शित किया है कि जिससे कुछ विशेष अनुकंपा आदि दृष्टि रहे। अर्थात् इससे यह बात समझमें आ जायगी कि उसका गृहस्थ-व्यवहारमें एकांतसे त्याग करना असंभव है।

४. वे औषध आदि यदि कुछ भी पाप-क्रियासे उत्पन्न हुई हों, तो जिस तरह वे अपने औषध आदिके गुणको बिना दिखाये नहीं रहतीं, उसी तरह उसमें होनेवाली पाप-क्रिया भी अपने गुणको बिना दिखाये नहीं रहती। अर्थात् जिस तरह औषध आदिके पुद्गलोंमें रोग आदि पुद्गलोंके पराभव करनेका गुण मौजूद है, उसी तरह उसके लिये की जानेवाली पाप-क्रियामें भी पापरूपसे परिणमन करनेका गुण मौजूद है; और उससे कर्म-बंध होकर यथावसर उस पाप-क्रियाका फल उदयमें आता है। उस पाप-क्रियावाली औषध आदिके करनेमें, करानेमें और अनुमोदन करनेमें, उस ग्रहण करनेवाले जीवकी जैसी देह आदिके प्रति मूर्छा है, जैसी मनकी आकुलता व्याकुलता है, जैसा आर्तध्यान है, तथा उस औषध आदिकी जैसी पाप-क्रिया है, वे सब अपने अपने स्वभावसे परिणमन कर यथावसर फल देते हैं। जैसे रोग आदिका कारणरूप कर्म-बंध, जैसा अपना स्वभाव होता है, उसे वैसा ही प्रदर्शित करता है, और जैसे औषध आदिके पुद्गल अपने स्वभावको दिखाते हैं; उसी तरह औषध आदिकी उत्पत्ति आदिमें होनेवाली क्रिया, उसके कर्ताकी ज्ञान आदि वृत्ति, तथा उसके ग्रहण करनेवालेके जैसे परिणाम हैं, उसका जैसा ज्ञान आदि है, वृत्ति है, तदनुसार उसे अपने स्वभावका प्रदर्शित करना योग्य ही है। तथारूप शुभ शुभस्वरूपसे और अशुभ अशुभस्वरूपसे फलदायक होता है।

५. गृहस्थ-व्यवहारमें भी अपनी देहमें रोग आदि हो जानेपर जितनी मुख्य आत्मदृष्टि रह सके उतनी रखनी चाहिये, और यदि योग्य दृष्टिसे देखनेसे अवश्य ही आर्तध्यानका परिणाम आने योग्य दिखाई दे तो, अथवा आर्तध्यान उत्पन्न होता हुआ दिखाई दे तो, औषध आदि व्यवहारको ग्रहण करते हुए निरवद्य (निष्पाप) औषध आदिकी वृत्ति रखनी चाहिये। तथा कचित् अपने आपके लिये अथवा अपने आश्रित अथवा अनुकंपा-योग्य किन्हीं दूसरे जीवोंके लिये यदि सावद्य औषध आदिका ग्रहण हो तो यह लक्ष रखना उचित है कि उसका सावद्यपना निर्ध्वंस—क्रूर—परिणामके हेतुके समान, अथवा अधर्म मार्गको पोषण करनेवाला न होना चाहिये।

६. सब जीवोंको हितकारी ऐसी ज्ञानी-पुरुषकी वाणीको किसी भी एकांतदृष्टिसे ग्रहण करके उसे अहितकारी अर्थमें न उतारनी चाहिये, इस उपयोगको निरंतर स्मरणमें रखना उचित है।

उसमें निस्सन्देह श्रवण किया हुआ श्रवणका लाभ व्यर्थ ही चला जायगा। यह दृष्टि यदि शोभको हो जाय तो यह अधिक हितकारी हो सकती है।

---

७२८ बम्बई, श्रावण वदी १२, १९५१

ॐ

१. सर्वोत्कृष्ट भूमिकामें स्थिति होनेतक, श्रुतज्ञानका अवलंबन लेकर सत्पुरुष भी स्वरूपमें स्थिर रह सकते हैं, ऐसा जो जिनभगवान्‌का अभिमत है, वह प्रत्यक्ष सत्य दिखाई देता है।

२. सर्वोत्कृष्ट भूमिकापर्यंत श्रुतज्ञान (ज्ञानी-पुरुषके वचन) का अवलंबन जब जब मंद पड़ता है, तब तब सत्पुरुष भी कुछ कुछ अस्थिर हो जाते हैं; तो फिर सामान्य मुमुक्षु जीव अथवा जिन्हें विपरीत समागम—विपरीत श्रुत आदि अवलंबन—रहते आये हैं, उन्हें तो बारम्बार विशेष अति विशेष अस्थिरता होना संभव है। ऐसा होनेपर भी जो मुमुक्षु, सत्समागम सदाचार और सत्शास्त्रके विचाररूप अवलंबनमें दृढ़ निवास करते हैं, उन्हें सर्वोत्कृष्ट भूमिकापर्यंत पहुँच जाना कठिन नहीं है—कठिन होनेपर भी कठिन नहीं है।

---

७२९ बम्बई, श्रावण वदी १२ बुध. १९५१

ॐ

द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे जिन पुरुषोंको प्रतिबंध नहीं,
उन सत्पुरुषोंको नमस्कार है!

सत्समागम सत्शास्त्र और सदाचारमें दृढ़ निवास होना यह आत्मदशा होनेका प्रबल अवलंबन है। यद्यपि सत्समागमका योग मिलना दुर्लभ है, तो भी मुमुक्षुओंको उस योगकी तीव्र जिज्ञासा रखनी चाहिये, और उसकी प्राप्ति करना चाहिये। तथा उस योगके अभावमें तो जीवको अवश्य ही सत्शास्त्र विचारके अवलंबनसे सदाचारकी जागृति रखनी योग्य है।

७३० बम्बई, भाद्रपद सुदी ५ बुध. १९५१

परम कृपालु पूज्य श्रीपिताजी!

आजतक मैंने आपकी कुछ भी अविनय असभक्ति अथवा अशातना किये हों, तो वे दोनों हाथ जोड़कर मस्तक नवाकर शुद्ध अन्तःकरणसे क्षमा माँगता हूँ। कृपा करके आप क्षमा प्रदान करें। माताजीसे भी मैं इसी तरह क्षमा माँगता हूँ। इसी प्रकार अन्य दूसरे साथियोंके प्रति भी मैंने किसी भी प्रकारका अपराध अथवा अविनय—जाने या बिना जाने—किये हों, तो उनकी भी शुद्ध अन्तःकरणसे क्षमा माँगता हूँ। कृपा करके सब क्षमा करनाजी।

---

७०८ ववाणीआ, चैत्र सुदी १५ शनि. १९५३

१. जो औषध वेदनीयके ऊपर असर करती है, वह औषध वास्तवमें वेदनीयके बंधको ही निवृत्त कर सकती है—ऐसा नहीं कहा है। क्योंकि यह औषध यदि कर्मरूप वेदनीयका नाश करनेवाली हो तो फिर अशुभ कर्म ही निष्फल हो जाय, अथवा स्वयं औषध ही शुभ कर्मरूप कही जाय। परन्तु यहाँ यह समझना चाहिये कि यह अशुभ वेदनीयकर्म इस प्रकारका है कि उसका अन्यथाभाव होनेमें औषध आदि निमित्त-कारणरूप हो सकती हैं। मंद अथवा मध्यम और शुभ अथवा अशुभ बंधको किसी सजातीय कर्मके मिलनेसे वह उत्कृष्ट बंध भी हो सकता है। तथा जिस तरह मंद अथवा मध्यम बाँधे हुए कितने ही शुभ बंधका किसी अशुभ कर्मविशेषके पराभवसे अशुभ परिणमन होता है; उसी तरह उस अशुभ बंधका किसी शुभ कर्मके योगसे शुभ परिणमन भी होता है।

२. मुख्यरूपसे तो बंध परिणामके अनुसार ही होता है। उदाहरणके लिये यदि कोई मनुष्य किसी मनुष्यका तीव्र परिणामसे नाश करनेके कारण निकाचित कर्म बाँधे, परन्तु बहुतसे बचावके कारणोंसे और साक्षी आदिके अभावसे, राजनीतिके नियमोंके अनुसार, उस कर्मको करनेवाला मनुष्य यदि छूट जाय, तो यह नहीं समझना चाहिये कि उसका बंध निकाचित नहीं होता। क्योंकि उसके विपाकके उदयका समय दूर होनेके कारण भी ऐसा हो सकता है। तथा बहुतसे अपराधोंमें राजनीतिके नियमानुसार जो दंड होता है वह भी कर्त्ताके परिणामके अनुसार ही होता हो, यह एकांतिक बात नहीं है। अथवा वह दंड किसी पूर्वमें उत्पन्न किये हुए अशुभ कर्मके उदयसे भी होता है; और वर्तमान कर्मबंध सत्तामें पड़ा रहता है, जो यथावसर विपाक देता है।

३. सामान्यरूपसे असत्य आदिकी अपेक्षा हिंसाका पाप विशेष होता है। परन्तु विशेषरूपसे तो हिंसाकी अपेक्षा असत्य आदिका पाप एकांतरूपसे कम ही है, यह नहीं समझना चाहिये; अथवा वह अधिक ही है, ऐसा भी एकांतसे न समझना चाहिये। हिंसाके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और उसके कर्त्ताके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका अवलंबन लेकर ही कर्त्ताको उसका बंध होता है। इसी तरह असत्य आदिके संबंधमें भी यही समझना चाहिये। किसी अमुक हिंसाकी अपेक्षा किसी अमुक असत्य आदिका फल एकगुना दोगुना अथवा अनंतगुना विशेषतक होता है। इसी तरह किसी असत्य आदिकी अपेक्षा किसी हिंसाका फल भी एकगुना दोगुना अथवा अनंतगुना विशेषतक होता है।

४. त्यागकी बारम्बार विशेष जिज्ञासा होनेपर भी, संसारके प्रति विशेष उदासीनता होनेपर भी, किसी पूर्वकर्मके प्राबल्यसे जो जीव गृहस्थावासको नहीं छोड़ सकता, वह पुरुष गृहस्थावासमें कुटुम्ब आदिके निर्वाहके लिये जो कुछ प्रवृत्ति करता है, उसमें उसके जैसे जैसे परिणाम रहते हैं, उसे तदनुसार ही बंध आदि होता है। मोहके होनेपर भी अनुकंपा माननेसे, अथवा प्रमाद होनेपर भी उदय माननेसे कर्म-बंध धोखा नहीं खाता। उसका तो परिणामके अनुसार ही बंध होता है। कर्मके सूक्ष्म भेदोंका यदि बुद्धि विचार न कर सके तो भी शुभ और अशुभ कर्म तो फलसहित ही होता है, इस निश्चयको जीवको भूलना नहीं चाहिये।

५. अर्हत्के प्रत्यक्ष परम उपकारी होनेसे तथा उनके सिद्धपदके प्ररूपक होनेके कारण भी सिद्धकी अपेक्षा अर्हत्को ही प्रथम नमस्कार किया है।

---

७३१ बम्बई, भाद्रपद सुदी ९ रवि. १९५२

१. बाह्यक्रिया और गुणस्थान आदिमें रहनेवाली क्रियाके स्वरूपकी चर्चा करना, हालमें प्रायः अपने और परके लिये उपकारी नहीं होगा।

२. इतना ही कर्त्तव्य है कि तुच्छ मतमतांतरपर दृष्टि न डालते हुए, असद्वृत्तिका निरोध करनेके लिये, जीवको सत्शास्त्रके परिचय और विचारमें ही स्थिति करनी चाहिये।

---

७३२ बम्बई, भाद्रपद वदी ८ रवि. १९५२

जीवको परमार्थके प्राप्त करनेमें अपार अंतराय हैं; उसमें भी इस कालमें तो अंतरायोंका अवर्णनीय बल रहता है। शुभेच्छासे लगाकर कैवल्यपर्यंत भूमिकाके पहुँचनेमें जगह जगह ये अंतराय देखनेमें आते हैं, और वे अंतराय जीवको बारम्बार परमार्थसे च्युत कर देते हैं। जीवको महान् पुण्यके उदयसे यदि सत्समागमका अपूर्व लाभ रहा करे, तो वह निर्विघ्नतया कैवल्यपर्यंत भूमिकाको पहुँच जाता है। सत्समागमके वियोगमें जीवको आत्मबलको विशेष जाग्रत रखकर सत्शास्त्र और शुभेच्छासंपन्न पुरुषोंके समागममें ही रहना उचित है।

---

७३३ बम्बई, भाद्रपद वदी १५ रवि. १९५२

ॐ

१. शरीर आदि बलके घटनेसे सब मनुष्योंसे सर्वथा दिगम्बरवृत्तिसे रहते हुए चारित्रका निर्वाह नहीं हो सकता; इसलिये वर्तमानकाल जैसे कालमें चारित्रका निर्वाह करनेके लिये, ज्ञानीद्वारा उपदेश किया हुआ मर्यादापूर्वक श्वेताम्बरवृत्तिसे जो आचरण है, उसका निषेध करना उचित नहीं। तथा इसी तरह वस्त्रका आग्रह रखकर दिगम्बरवृत्तिका एकांत निषेध करके वस्त्र-मूर्च्छा आदि कारणोंसे चारित्रमें शिथिलता करना भी उचित नहीं है।

दिगम्बरत्व और श्वेताम्बरत्व, देश काल और अधिकारीके संबंधसे ही उपकारके कारण हैं। अर्थात् जहाँ ज्ञानीने जिस प्रकार उपदेश किया है, उस तरह प्रवृत्ति करनेसे आत्मार्थ ही होता है।

२. मोक्षमार्गप्रकाशमें, श्वेताम्बर सम्प्रदायद्वारा मान्य वर्तमान जिनागमका जो निषेध किया है, वह निषेध योग्य नहीं। यद्यपि वर्तमान आगमोंमें अमुक स्थल अधिक संदेहास्पद हैं, परन्तु सत्पुरुषकी दृष्टिसे देखनेपर उसका निराकरण हो जाता है, इसलिये उपशमदृष्टिसे उन आगमोंके अवलोकन करनेमें संशय करना उचित नहीं है।

---

७३४ बम्बई, आसोज सुदी ८ रवि. १९५२

ॐ

(१)

(१) सत्पुरुषोंके अगाध गंभीर संयमको नमस्कार हो!

(२) अविषम परिणामसे जिन्होंने कालकूट विषको पी लिया है, ऐसे श्रीऋषभ आदि परम पुरुषोंको नमस्कार हो !

(३) जो परिणाममें तो अमृत ही है, परन्तु प्रारंभिक दशामें जो कालकूट विषकी तरह व्याकुल कर देता है, ऐसे श्रीसंयमको नमस्कार हो !

(४) उस ज्ञानको उस दर्शनको और उस चारित्रको बारम्बार नमस्कार हो !

(२)

जिनकी भक्ति निष्काम है ऐसे पुरुषोंका सत्संग अथवा दर्शन महान् पुण्यरूप समझना चाहिये।

(३)

(१) पारमार्थिक हेतुविशेषसे पत्र आदिका लिखना नहीं हो सकता।

(२) जो अनित्य है, जो असार है और जो अशरणरूप है, वह इस जीवकी प्रतीतिका कारण क्यों होता है ? इस बातका रात-दिन विचार करना चाहिये।

(३) लोकदृष्टि और ज्ञानीकी दृष्टिको पूर्व और पश्चिम जितना अन्तर है। ज्ञानीकी दृष्टि प्रथम तो निरालंबन ही होती है, वह रुचि उत्पन्न नहीं करती, और जीवकी प्रकृतिको अनुकूल नहीं आती; और इस कारण जीव उस दृष्टिमें रुचियुक्त नहीं होता। परन्तु जिन जीवोंने परिषह सहन करके थोड़े समयतक भी उस दृष्टिका आराधन किया है, उन्होंने सर्व दुःखोंके क्षयरूप निर्वाणको प्राप्त किया है—उन्होंने उसके उपायको पा लिया है।

जीवको प्रमादमें अनादिसे रति है, परन्तु उसमें रति करने योग्य तो कुछ दिखाई देता नहीं।

७३५

बम्बई, आसोज सुदी ८ रवि. १९५१

ॐ

(१) सब जीवोंके प्रति हमारी तो क्षमादृष्टि ही है।

(२) सत्पुरुषका योग तथा सत्समागमका मिलना बहुत कठिन है, इसमें संदेह नहीं। ग्रीष्म ऋतुके तापसे तप्त प्राणीको शीतल वृक्षकी छायाकी तरह, मुमुक्षु जीवको सत्पुरुषका योग तथा सत्समागम उपकारी है। सब शास्त्रोंमें उस योगका मिलना दुर्लभ ही कहा गया है।

(३) शान्तसुधारस और योगदृष्टिसमुच्चय ग्रंथोंका हालमें विचार करना।

७३६

बम्बई, आसोज सुदी ८ रवि. १९५१

ॐ

(१) विशेष उच्च भूमिकाको प्राप्त मुमुक्षुओंको भी सत्पुरुषोंका योग अथवा सत्समागम आधारभूत है, इसमें संदेह नहीं। निवृत्तिमान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका योग होनेसे जीव उत्तरोत्तर उच्च भूमिकाको प्राप्त करता है।

सत्य, शील और सब प्रकारके दान, दयाके होनेपर ही प्रमाण माने जाते हैं। जिसप्रकार सूर्यके विना किरणें दिखाई नहीं देतीं, उसी प्रकार दयाके न होनेपर सत्य, शील और दानमेंसे एक भी गुण नहीं रहता ॥ ३ ॥

जहाँ पुष्पकी एक पँखड़ीको भी क्लेश होता है, वहाँ प्रवृत्ति करनेकी जिनवरकी आज्ञा नहीं। सब जीवोंके सुखकी इच्छा करना, यही महावीरकी मुख्य शिक्षा है ॥ ४ ॥

यह उपदेश सब दर्शनोंमें है। यह एकांत है, इसका कोई अपवाद नहीं है। सब प्रकारसे जिनभगवानका यही उपदेश है कि विरोध रहित दया ही निर्मल दया है ॥ ५ ॥

यह संसारसे पार करनेवाला सुंदर मार्ग है, इसे उत्साहसे धारण करके संसारको पार करना चाहिये। यह सकल धर्मका शुभ मूल है, इसके विना धर्म सदा प्रतिकूल रहता है ॥ ६ ॥

जो मनुष्य इसे तत्त्वरूपसे पहचानते हैं, वे शाश्वत सुखको प्राप्त करते हैं। राजचन्द्र कहते हैं कि शान्तिनाथ भगवान् करुणासे सिद्ध हुए हैं, यह प्रसिद्ध है ॥ ७ ॥

३ कर्मका चमत्कार

मैं तुम्हें बहुतसी सामान्य विचित्रतायें कहता हूँ। इनपर विचार करोगे तो तुमको परभवकी श्रद्धा दृढ़ होगी।

एक जीव सुंदर पलंगपर पुष्पशय्यामें शयन करता है और एकको फटीहुई गूदड़ी भी नहीं मिलती। एक भाँति भाँतिके भोजनोंसे तृप्त रहता है और एकको काली ज्वारके भी लाले पड़ते हैं। एक अगणित लक्ष्मीका उपभोग करता है और एक फूटी बादामके लिये घर घर भटकता फिरता है। एक मधुर वचनोंसे मनुष्यका मन हरता है और एक अवाचक जैसा होकर रहता है। एक सुंदर वस्त्रालंकारसे विभूषित होकर फिरता है और एकको प्रखर शीतकालमें फटा हुआ कपड़ा भी ओढ़नेको नहीं मिलता। कोई रोगी है और कोई प्रबल है। कोई बुद्धिशाली है और कोई जड़ है। कोई मनोहर नयनवाला है और कोई अंधा है। कोई लूला-लँगड़ा है और किसीके हाथ और पैर रमणीय हैं। कोई कीर्तिमान है और कोई अपयश भोगता है। कोई लाखों अनुचरोंपर हुक्म चलाता है और कोई लाखोंके ताने सहन करता है। किसीको देखकर आनन्द होता है और किसीको देखकर वमन होता है। कोई सम्पूर्ण इन्द्रियोंवाला है और कोई अपूर्ण इन्द्रियोंवाला है। किसीको दीन-दुनियाका लेश भी भान नहीं और किसीके दुखका पार भी नहीं।

सत्य शीलने सघळां दान, दया होइने रह्यां प्रमाण;
दया नहीं तो ए नहीं एक, विना सूर्य किरण नहीं देख ॥ ३ ॥
पुष्पपांखडी ज्यां दूभाय, जिनवरनी त्यां नहीं आज्ञाय;
सर्व जीवनुं इच्छो सुख, महावीरकी शिक्षा मुख्य ॥ ४ ॥
सर्व दर्शने ए उपदेश: ए एकांते, नहीं विशेष;
सर्व प्रकारे जिननो बोध, दया दया निर्मळ अविरोध ॥ ५ ॥
ए भवतारक सुंदर राह, धरिये तरिये करी उत्साह;
धर्म सकळनुं ए शुभ मूळ, ए वण धर्म सदा प्रतिकूळ ॥ ६ ॥
तत्त्वरूपथी ए ओळखे, ते जन पहोंचे शाश्वत सुखे;
शांतिनाथ भगवान प्रसिद्ध, राजचन्द्र करुणाए सिद्ध ॥ ७ ॥

कोई गर्भाधानमें आते ही मरणको प्राप्त हो जाता है। कोई जन्म लेते ही तुरत मर जाता है। कोई मरा हुआ पैदा होता है और कोई सौ वर्षका वृद्ध होकर मरता है।

किसीका मुख, भाषा और स्थिति एकसी नहीं। मूर्ख राज्यगद्दीपर क्षेम क्षेमके उद्गारोंमे बधाई दिया जाता है और समर्थ विद्वान् धक्का खाते हैं।

इस प्रकार समस्त जगत्की विचित्रता भिन्न भिन्न प्रकारसे तुम देखते हो। क्या इसके ऊपरसे तुम्हें कोई विचार आता है ? मैंने जो कहा है यदि उसके ऊपरसे तुम्हें विचार आता हो, तो कहो कि यह विचित्रता किस कारणसे होती है ?

अपने बाँधे हुए शुभाशुभ कर्मसे। कर्मसे समस्त संसारमें भ्रमण करना पड़ता है। परभव नहीं माननेवाले स्वयं इन विचारोंको किस कारणसे करते हैं, इसपर यथार्थ विचार करें, तो वे भी इस सिद्धांतको मान्य रक्खें।

४ मानवदेह

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, विद्वान् इस मानवदेहको दूसरी सब देहोंसे उत्तम कहते हैं। उत्तम कहनेके कुछ कारणोंको हम यहाँ कहेंगे।

यह संसार बहुत दुःखसे भरा हुआ है। इसमेंसे ज्ञानी तैरकर पार पानेका प्रयत्न करते हैं। मोक्षको साधकर वे अनंत सुखमें विराजमान होते हैं। यह मोक्ष दूसरी किसी देहसे नहीं मिलती। देव, तिर्यंच और नरक इनमेंसे किसी भी गतिसे मोक्ष नहीं; केवल मानवदेहसे ही मोक्ष है।

अब तुम कहोगे, कि सब मानवियोंको मोक्ष क्यों नहीं होता ? उसका उत्तर यह है कि जो मानवपना समझते हैं, वे संसार-शोकसे पार हो जाते हैं। जिनमें विवेक-बुद्धि उदय हुई हो, और उससे सत्यासत्यके निर्णयको समझकर, जो परम तत्त्व-ज्ञान तथा उत्तम चारित्ररूप सद्धर्मका सेवन करके अनुपम मोक्षको पाते हैं, उनके देहधारीपनेको विद्वान् मानवपना कहते हैं। मनुष्यके शरीरकी बनावटके ऊपरसे विद्वान् उसे मनुष्य नहीं कहते, परन्तु उसके विवेकके कारण उसे मनुष्य कहते हैं। जिसके दो हाथ, दो पैर, दो आँख, दो कान, एक मुख, दो होठ, और एक नाक हों उसे मनुष्य कहना, ऐसा हमें नहीं समझना चाहिये। यदि ऐसा समझें, तो फिर बंदरको भी मनुष्य गिनना चाहिये। उसने भी इस तरह हाथ, पैर आदि सब कुछ प्राप्त किया है। विशेषरूपसे उसके एक पूँछ भी है, तो क्या उसको महामनुष्य कहना चाहिये ? नहीं, नहीं। जो मानवपना समझता है वही मानव कहला सकता है।

ज्ञानी लोग कहते हैं, कि यह भव बहुत दुर्लभ है, अति पुण्यके प्रभावसे यह देह मिलती है, इस लिये इससे शीघ्रतासे आत्मसिद्धि कर लेना चाहिये। अयमंतकुमार, गजसुकुमार जैसे छोटे बालकोंने भी मानवपनेको समझनेसे मोक्ष प्राप्त की। मनुष्यमें जो विशेष शक्ति है, उस शक्तिसे वह मदोन्मत्त हाथी जैसे प्राणीको भी वशमें कर लेता है। इस शक्तिसे यदि वह अपने मनरूपी हाथीको वश कर ले, तो कितना कल्याण हो !

किसी भी अन्य देहमें पूर्ण सद्विवेकका उदय नहीं होता, और मोक्षके राज-मार्गमें प्रवेश नहीं हो सकता। इस लिये हमें मिले हुए इस बहुत दुर्लभ मानवदेहको सफल कर लेना आवश्यक है।

३४. जीवको समझ आ जाय तो समझ आनेके बाद सम्यक्त्व बहुत सुगम हो जाता है। परन्तु समझ आनेके लिये जीवने आजतक सच्चा सच्चा लक्ष नहीं दिया। जीवको सम्यक्त्व प्राप्त होनेका जब जब योग मिला है, तब तब उसने उसपर बराबर ध्यान नहीं दिया। कारण कि जीवको अनेक अन्तराय मौजूद हैं। उनमें बहुतसे अन्तराय तो प्रत्यक्ष हैं, फिर भी वे जाननेमें नहीं आते। यदि कोई उन्हें बतानेवाला मिल जाय तो भी अंतरायके योगसे उनका ध्यानमें लेना नहीं बनता। तथा बहुतसे अंतराय अव्यक्त हैं, जिनका ध्यानमें आना भी मुश्किल है।

३५. सम्यक्त्वका स्वरूप केवल वचनयोगसे ही कहा जा सकता है। यदि वह एकदम कहा जाय तो उससे जीवको उल्टा ही भाव मालूम होने लगे; तथा सम्यक्त्वके ऊपर उल्टी अरुचि ही हो जाय। परन्तु यदि वही स्वरूप अनुक्रमसे ज्यों ज्यों दशा बढ़ती जाती है, त्यों त्यों कहा जाय, अथवा समझाया जाय तो वह समझमें आ सकता है।

३६. इस कालमें मोक्ष है—यह दूसरे मार्गोंमें कहा गया है। यद्यपि जैनमार्गमें इस कालमें अमुक क्षेत्रमें मोक्ष होना नहीं कहा जाता, फिर भी उसमें यह कहा गया है कि उसी क्षेत्रमें इस कालमें सम्यक्त्व हो सकता है।

३७. ज्ञान दर्शन और चारित्र ये तीनों इस कालमें मौजूद हैं। प्रयोजनभूत पदार्थोंके जाननेको ज्ञान कहते हैं। उसकी सुप्रतीतिको दर्शन कहते हैं, और उससे होनेवाली जो क्रिया है उसे चारित्र कहते हैं। यह चारित्र इस कालमें जैनमार्गमें सम्यक्त्व होनेके बाद सातवें गुणस्थानतक प्राप्त किया जा सकता है, यह स्वीकार किया गया है।

३८. कोई सातवेंतक पहुँच जाय तो भी बड़ी बात है।

३९. यदि कोई सातवेंतक पहुँच जाय तो उसमें सम्यक्त्व समाविष्ट हो जाता है; और यदि कोई वहाँतक पहुँच जाय तो उसे विश्वास हो जाता है कि आगेकी दशा किस तरहकी है? परन्तु सातवेंतक पहुँचे बिना आगेकी बात ध्यानमें नहीं आ सकती।

४०. यदि बढ़ती हुई दशा होती हो तो उसे निषेध करनेकी जरूरत नहीं, और यदि बढ़ती हुई दशा न हो तो उसे माननेकी जरूरत नहीं। निषेध किये बिना ही आगे बढ़ते जाना चाहिये।

४१. सामायिक छह और आठ कोटिका विचार छोड़ देनेके पश्चात् नवकोटि बिना नहीं होता; और अन्तमें नवकोटिसेभी वृत्ति छोड़े बिना मोक्ष नहीं है।

४२. ग्यारह प्रकृतियोंके क्षय किये बिना सामायिक नहीं आता। जिसे सामायिक होना है उसकी दशा तो अद्भुत होती है। वहाँसे जीव छठे सातवें और आठवें गुणस्थानमें जाता है, और वहाँसे दो घड़ीमें मोक्ष हो सकती है।

४३. मोक्षमार्ग तलवारकी धारके समान है, अर्थात् वह एकधारा—एकप्रवाहरूप—है। तीनों कालमें जो एकधारासे अर्थात् एक समान रहे वही मोक्षमार्ग है; प्रवाहमें जो अखंड है वही मोक्षमार्ग है।

४४. पहिले दो बार कहा जा चुका है फिर भी यह तीसरी बार कहा जाता है कि कहीं भी

रहेगी, अर्थात् जबतक यह व्यावहारिक वृत्ति रहेगी, तबतक यह समझना कि वह आत्महितके लिये बलवान प्रतिबंध है; और स्वप्नमें भी उस प्रतिबंधमें न रहा जाय, इस बातका लक्ष रखना।

हमने जो यह अनुरोध किया है, उसके ऊपर तुम यथाशक्ति पूर्ण विचार करना और उस वृत्तिके मूलको ही अंतरसे सर्वथा निवृत्त कर देना। अन्यथा समागमका लाभ मिलना असंभव है। यह बात शिथिलवृत्तिसे नहीं परन्तु उत्साहवृत्तिसे मस्तकपर चढ़ानी उचित है।

७४७

आनन्द, पौष वदी १३ गुरु. १९५२

(१) श्रीसोभागकी मौजूदगीमें कुछ पहिलेसे सूचित करना था, और हालमें वैसा नहीं बन [illegible] देखें, किसी भी लोकदृष्टिमें जाना उचित नहीं।

(२) अविषमभावके बिना हमें भी अबंधताके लिये दूसरा कोई अधिकार नहीं है। मौन रहना ही योग्य मार्ग है।

७४८

मोरबी, माघ सुदी ४ बुध. १९५२

मुनिश्रीको आगाकर श्रीसमोहतक सत्श्रुत और सत्समागमका सेवन करना ही योग्य है। सर्व कालमें इस साधनकी जीवको कठिनता है। उसमें फिर यदि इस तरहके कालमें वह कठिनता रहे, तो वह ठीक ही है।

दुःषमकाल और हुंडावसर्पिणी नामका आश्चर्यरूप अनुभवसे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। आत्मकल्याणके इच्छुक पुरुषको उससे क्षोभ न पाकर, वारम्वार उस योगपर पैर रखकर, सत्समागम और सद्वृत्तिको बलवान बनाना उचित है।

७४९

मोरबी, माघ सुदी ४ बुध. १९५२

आत्मस्वभावकी निर्मलता होनेके लिये मुमुक्षु जीवको दो साधनोंका अवश्य ही सेवन करना चाहिये:—एक सत्श्रुत और दूसरा सत्समागम।

प्रत्यक्ष सत्पुरुषोंका समागम जीवको कभी कभी ही प्राप्त होता है; परन्तु और यदि सद्दृष्टिवान हो तो वह सत्श्रुतके बहुत समयके सेवनसे होनेवाले लाभको, प्रत्यक्ष सत्पुरुषके समागमसे बहुत ही अल्पकालमें प्राप्त कर सकता है। क्योंकि वहाँ प्रत्यक्ष गुणातिशयवान निर्मल चेतनके प्रभावयुक्त वचन और वृत्तिकी सक्रियता रहती है। जीवको जिससे उस समागमका योग मिले, उस तरह विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

उस योगके अभावमें सत्श्रुतका अवश्य अवश्य परिचय करना चाहिये। जिसमें शान्तरस मुख्य है, शान्तरसके हेतुसे जिसका समस्त उपदेश है और जिसमें समस्त रस शान्तरसगर्भित है—ऐसे शास्त्रके परिचयको सत्श्रुतका परिचय कहा है।

---

६२. आत्मज्ञान अथवा आत्मासे भिन्न कर्मस्वरूप अथवा पुद्गलास्तिकाय वगैरहका जो भिन्न भिन्न प्रकारसे, भिन्न भिन्न प्रसंगपर, अत्यन्त सूक्ष्मसे सूक्ष्म और अति विस्तृत स्वरूप ज्ञानीद्वारा प्रकाशित हुआ है, उसमें कोई हेतु गर्भित है या नहीं ? और यदि गर्भित है तो वह कौनसा है ? उस संबंधी विचार करनेसे उसमें सात कारण गर्भित मालूम पड़ते हैं:—सद्भूतार्थप्रकाश, उसका विचार, उसकी प्रतीति, जीव-संरक्षण वगैरह । उन सात हेतुओंका फल मोक्षकी प्राप्ति होना है । तथा मोक्षकी प्राप्तिका जो मार्ग है वह इन हेतुओंसे सुप्रतीत होता है ।

६३. कर्मके अनंत भेद हैं । उनमें मुख्य १५८ हैं । उनमें मुख्य आठ कर्म प्रकृतियोंका वर्णन किया गया है । इन सब कर्मोंमें मुख्य कर्म मोहनीय है; इसकी सामर्थ्य दूसरोंकी अपेक्षा अत्यंत है, और उसकी स्थिति भी सबकी अपेक्षा अधिक है ।

६४. आठ कर्मोंमें चार कर्म घनघाती हैं । उन चारोंमें भी मोहनीय अत्यन्त प्रबलरूपसे घाती है । मोहनीय कर्मके सिवाय जो बाकीके सात कर्म हैं वे मोहनीय कर्मके प्रतापसे ही प्र[illegible] हैं । यदि मोहनीय दूर हो जाय तो दूसरे कर्म भी निर्बल हो जाते हैं । मोहनीयके दू[illegible] दूसरोंका पैर नहीं टिक सकता ।

६५. कर्मबंधके चार प्रकार हैं:—प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और रसबंध । प्रदेश स्थिति और रस इन तीन बंधोंके ऐक्यका नाम प्रकृतिबंध रक्खा गया है । आत्माके प्रदेशोंकी साथ पुद्गलके जमाव—संयोग—को प्रदेशबंध कहते हैं । वहाँ उसकी प्रबलता नहीं उसे दूर करना चाहें तो दूर कर सकते हैं । तथा मोहके कारण स्थिति और रसका बंध प[illegible] और उस स्थिति तथा रसका जो बंध है, उसे जीव यदि बदलना चाहे तो उसका बदला जा[illegible] असंभव है । ऐसे मोहके कारण इस स्थिति और रसकी प्रबलता है ।

६६. सम्यक्त्व अन्योक्तिसे अपना दूषण बताता है:—

'मुझे ग्रहण करनेके बाद यदि ग्रहण करनेवालेकी इच्छा न हो तो भी मुझे उसे बरबस मोक्षमें ले ही जाना पड़ता है । इसलिये मुझे ग्रहण करनेके पहिले यह विचार करना चाहिये कि यदि मोक्ष न जानेकी इच्छाको बदलना होगा तो भी वह कुछ काम आनेवाली नहीं । क्योंकि मुझे ग्रहण करनेके बाद थोड़े समयमें मुझे उसे मोक्षमें पहुँचाना ही चाहिये । यदि ग्रहण करनेवाला कदाचित् शिथिल हो जाय तो भी हो सके तो उसी भवमें और नहीं तो अधिकसे अधिक पन्द्रह भवोंमें, मुझे उसे अवश्य मोक्षमें पहुँचाना चाहिये । यदि कदाचित् वह मुझे छोड़कर मेरेसे विरुद्ध आचरण करे अथवा प्रबल मोहको धारण कर ले, तो भी अर्धपुद्गल-परावर्तनके भीतर तो मुझे उसे अवश्य मोक्ष पहुँचाना ही ही—यह मेरी प्रतिज्ञा है ' ।

अर्थात् यहाँ सम्यक्त्वकी महत्ता बताई है ।

६७. सम्यक्त्व केवलज्ञानसे कहता है:—

'मैं इतनातक कर सकता हूँ कि जीवको मोक्ष पहुँचा दूँ, और तू उससे कुछ विशेष कार्य नहीं कर सकता । तो फिर तेरे मुकाबलेमें मुझमें किस बातकी न्यूनता है ? इतना ही नहीं किन्तु तुझे प्राप्त करनेमें मेरी जरूरत रहती है ।

९. श्रीजिनका अभिमत है कि प्रत्येक द्रव्य अनंत पर्यायोंसे युक्त है। जीवकी अनंत पर्याय हैं। परमाणुकी भी अनंत पर्याय हैं। जीवके चेतन होनेके कारण उसकी पर्याय भी चेतन है, और परमाणुके अचेतन होनेसे उसकी पर्याय भी अचेतन हैं। जीवकी पर्याय अचेतन नहीं, और परमाणुकी पर्याय सचेतन नहीं—ऐसा श्रीजिनने निश्चय किया है; तथा वैसा ही योग्य भी है। क्योंकि प्रत्यक्ष पदार्थका स्वरूप भी विचार करनेसे वैसा ही प्रतीत होता है।

७५१

ववाणीआ, माघ वदी ४ गुरु. १९५४

इस जीवको उत्तापनाका मूल हेतु क्या है, तथा उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती, और वह निवृत्ति किस तरह हो सकती है? इस प्रश्नका विशेषरूपसे विचार करना योग्य है—अंतरमें उतारकर विचार करना योग्य है।

जबतक इस क्षेत्रमें रहना हो तबतक चित्तको अधिक दृढ़ बनाकर प्रवृत्ति करना चाहिये।

७५२

मोरबी, माघ वदी १५, १९५४

जिस तरह मुमुक्षुवृत्ति दृढ़ बने उस तरह करो। हार जाने अथवा निराश होनेका कोई कारण नहीं है। जब जीवको दुर्लभ योग ही मिल गया तो फिर थोड़ेसे प्रमादके छोड़ देनेमें उसे घबराने जैसी अथवा निराश होने जैसी कुछ भी बात नहीं है।

७५३

* व्याख्यानसार.

१. प्रथम गुणस्थानकमें जो ग्रंथि है उसका भेदन किये बिना, आत्मा आगेके गुणस्थानकमें नहीं जा सकती। कभी योगानुयोगके मिलनेसे जीव अकामनिर्जरा करता हुआ आगे बढ़ता है, और ग्रंथिभेद करनेके पास आता है; परन्तु यहाँ ग्रंथिकी इतनी अधिक प्रबलता है कि जीव यह ग्रंथिभेद करनेमें शिथिल होकर—असमर्थ हो जानेके कारण—वापिस लौट आता है। वह हिम्मत करके आगे बढ़ना चाहता है, परन्तु मोहनीयके कारण विपरीतता समझमें आनेसे, वह ऐसा समझता है कि वह स्वयं ग्रंथिभेद कर रहा है, किन्तु उल्टा वह इस तरह समझनेरूप मोहके कारण ग्रंथिकी निविड़ता ही करता है। उनमेंसे कोई ही जीव योगानुयोग प्राप्त होनेपर अकामनिर्जरा करते हुए, अति बलवान होकर, उस ग्रंथिको शिथिल करके अथवा ढीली करके आगे बढ़ता है। यह अविरतिसम्यग्दृष्टि नामक चौथा गुणस्थानक है। यहाँ मोक्षमार्गकी सुप्रतीति होती है। इसका दूसरा नाम बोधबीज भी है। यहाँ आत्माके अनुभवकी शुरुआत होती है, अर्थात् मोक्ष होनेके बीजका यहाँ रोपण होता है।

२. इस बोधबीज गुणस्थानक (चौथा गुणस्थानक) से तेरहवें गुणस्थानक तक आत्मानुभव ...

---

* श्रीमद् राजचन्द्रने ये व्याख्यान संवत् १९५४ में [illegible] व्याख्यान दिये थे। यह व्याख्यानसार एक मुमुक्षुकी स्मृतिके आधारसे यहाँ दिया गया है। [illegible] लिख लिया था। यह [illegible] है। —अनुवादक

७६. क्षेत्रसमासमें क्षेत्रसंबंधी जो जो बातें हैं उन्हें अनुमानसे माननी चाहिये। उनमें अनुभव नहीं होता। परन्तु उन सबका कारणपूर्वक ही वर्णन किया जाता है। उसकी श्रद्धापूर्वक मानना रखना चाहिये। मूल श्रद्धामें फेर हो जानेसे आगे चलकर समझनेमें ठेठतक भूल चली जाती है, जैसे गणितमें यदि पहिलेसे भूल हो गई हो तो वह भूल अन्ततक चली जाती है।

७७. ज्ञान पाँच प्रकारका है। वह ज्ञान यदि सम्यक्त्वके बिना, मिथ्यात्वसहित हो तो मति अज्ञान श्रुत अज्ञान और अवधि अज्ञान कहा जाता है। उन्हें मिलाकर ज्ञानके कुल आठ भेद होते हैं।

७८. मति श्रुत और अवधि यदि मिथ्यात्वसहित हों तो वे अज्ञान हैं, और सम्यक्त्वसहित हों तो ज्ञान हैं। इसके सिवाय उनमें कोई दूसरा भेद नहीं।

७९. जीव राग आदिपूर्वक जो कुछ भी प्रवृत्ति करता है, उसका नाम कर्म है। शुभ अथवा अशुभ अध्यवसायवाले परिणमनको कर्म कहते हैं; और शुद्ध अध्यवसायवाला परिणमन कर्म नहीं, किन्तु निर्जरा है।

८०. अमुक आचार्य ऐसा कहते हैं कि दिगम्बर आचार्योंकी मान्यता है कि "जीवको मोक्ष नहीं होती, किन्तु मोक्ष समझमें आती है। वह इस तरह कि जीव शुद्धस्वरूपवाला है; इसलिये उसे बंध ही नहीं हुआ, तो फिर उसे मोक्ष कहाँसे हो सकती है? परन्तु जीवने यह मान रक्खा है कि 'मैं बँधा हुआ हूँ।' यह मान्यता शुद्धस्वरूप समझ लेनेसे नहीं रहती—अर्थात् मोक्ष समझमें आ जाता है।" परन्तु यह बात शुद्धनयकी अथवा निश्चयनयकी ही है। यदि पर्यायार्थिक नयवाले इस नयमें संलग्न रहकर आचरण करें तो उन्हें भटक भटक कर मरना है।

८१. ठाणांगसूत्रमें कहा गया है कि जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये पदार्थ सद्भाव हैं, अर्थात् उनका अस्तित्व मौजूद है—उनकी कुछ कल्पना की गई है यह बात नहीं।

८२. वेदान्त शुद्धनय-आभासी है। शुद्धनयाभास मतवाले निश्चयनयके सिवाय किसी दूसरे नयको—व्यवहारनयको—नहीं मानते। जिनदर्शन अनेकान्तिक है—स्याद्वादी है।

८३. कोई नवतत्त्वोंकी, कोई षट्द्रव्यों की, कोई षट्पदोंकी और कोई दो राशिकी बात कहता है, परन्तु वह सब जीव अजीव इन दो राशिमें—दो तत्त्वोंमें—दो द्रव्योंमें ही समाविष्ट हो जाता है।

८४. निगोदमें अनन्त जीव रहते हैं इस बातमें, तथा कंदमूलमें सुईकी नोक जितने सूक्ष्म भागमें अनन्त जीव रहते हैं इस बातमें, शंका नहीं करना चाहिये। ज्ञानीने जैसा स्वरूप देखा वैसा ही कहा है। यह जीव, जो स्थूल देहके प्रमाण होकर रहता है, और जिसे अभी भी अपना स्वरूप समझनेमें नहीं आया, उसे ऐसी सूक्ष्म बातें समझमें न आवें तो यह सच है। परन्तु उसमें शंका करनेका कोई कारण नहीं है। इस बातको इस तरह समझना चाहिये:—

वैद्यकके मतसे किसी रोगके बाद आँखमें जो बहुतसी हरियाली देखनेमें आती है, उस [illegible] एक रोगको हरियालीमें भी जब अनन्त जीव होते हैं, तो यदि इस तरहके अनेक [illegible] विचार करें [illegible] जीवोंकी स्थितिके प्रमाणका अनुभव न होनेपर भी, उसका बुद्धिबलसे विचार करनेसे उसका प्रमाण [illegible]

९. श्रीजिनका अभिमत है कि प्रत्येक द्रव्य अनंत पर्यायोंसे युक्त है। जीवकी अनंत पर्याय हैं। परमाणुकी भी अनंत पर्याय हैं। जीवके चेतन होनेके कारण उसकी पर्याय भी चेतन हैं, और परमाणुके अचेतन होनेसे उसकी पर्याय भी अचेतन हैं। जीवकी पर्याय अचेतन नहीं, और परमाणुकी पर्याय सचेतन नहीं—ऐसा श्रीजिनने निश्चय किया है; तथा वैसा ही योग्य भी है। क्योंकि प्रत्यक्ष पदार्थका स्वरूप भी विचार करनेसे वैसा ही प्रतीत होता है।

७५१

ववाणीआ, माघ वदी ४ गुरु. १९५५

इस जीवको उदासीनताका मूल हेतु क्या है, तथा उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती, और वह निवृत्ति किस तरह हो सकती है? इस प्रश्नका विशेषरूपसे विचार करना योग्य है—अंतरमें उसका विचार करना योग्य है।

जबतक इस क्षेत्रमें रहना हो तबतक चित्तको अधिक दृढ़ बनाकर प्रवृत्ति करना चाहिये।

७५२

मोरबी, माघ वदी १५, १९५५

जिस तरह मुमुक्षुवृत्ति दृढ़ बने उस तरह करो। हार जाने अथवा निराश होनेका कोई कारण नहीं है। जब जीवको दुर्लभ योग ही मिल गया तो फिर थोड़ेसे प्रमादके छोड़ देनेमें उसे घबराने जैसी अथवा निराश होने जैसी कुछ भी बात नहीं है।

७५३

* व्याख्यानसार.

१. प्रथम गुणस्थानकमें जो ग्रंथि है उसका भेदन किये बिना, आत्मा आगेके गुणस्थानकमें नहीं जा सकती। कभी योगानुयोगके मिलनेसे जीव अकामनिर्जरा करता हुआ आगे बढ़ता है, और ग्रंथिभेद करनेके पास आता है; परन्तु यहाँ ग्रंथिकी इतनी अधिक प्रबलता है कि जीव यह ग्रंथिभेद करनेमें शिथिल होकर—असमर्थ हो जानेके कारण—वापिस लौट आता है। वह हिम्मत करके आगे बढ़ना चाहता है, परन्तु मोहनीयके कारण विपरीतताके समझमें आनेसे, वह ऐसा समझता है कि वह स्वयं ग्रंथिभेद कर रहा है; किन्तु उल्टा वह उस तरह समझनेरूप मोहके कारण ग्रंथिकी निबिड़ता ही करता है। उनमेंसे कोई जीव ही योगानुयोग प्राप्त होनेपर अकामनिर्जरा करते हुए, अति बलवान होकर, उस ग्रंथिको शिथिल करके अथवा बलहीन करके आगे बढ़ता है। यह अविरतसम्यग्दृष्टि नामक चौथा गुणस्थानक है। यहाँ मोक्षमार्गकी सुप्रतीति होती है। इसका दूसरा नाम बोधबीज भी है। यहाँ आत्माके अनुभवकी शुरुआत होती है, अर्थात् मोक्ष होनेके बीजका यहाँ रोपण होता है।

२. इस बोधबीज गुणस्थानक (चौथे गुणस्थानक) से तेरहवें गुणस्थानकतक [illegible]

* श्रीमद् राजचन्द्रने ये व्याख्यान संवत् १९५५ में [illegible] मोरबीमें दिये थे। यह व्याख्यानसार एक मुमुक्षुकी स्मृतिके [illegible] लिखा गया है। [illegible] यह उसीका सार है। —अनुवादक.

निजस्वरूप समझ लेनेके पश्चात्, उससे प्रादुर्भूत ज्ञानसे उसका वही विषय हो जानेके कारण, अथवा उसे अमुक अंशमें समझनेसे उसका उतना ही विषय रहनेके कारण, वृत्ति बलपूर्वक बाहर निकलकर परपदार्थोंमें रमण करनेके लिये दौड़ जाती है। उस समय जाने हुए परद्रव्यको फिरसे सूक्ष्मभावसे समझते हुए वृत्तिको फिरसे अंतरंगमें लाना पड़ता है; और इस तरह उसे अंतरंगमें लानेके पश्चात् उसका विशेषरूपसे स्वरूप समझनेसे, ज्ञानके द्वारा उसका केवल उतना ही विषय हो जानेके कारण, वृत्ति फिरसे बाहर दौड़ने लगती है। उस समय जितना समझा हो उससे भी विशेष सूक्ष्मभावसे फिरसे विचार करते हुए वृत्ति फिरसे अंतरंगमें प्रेरित होती है। इस तरह करते करते वृत्तिको बारम्बार अंतरंगभावमें लाकर शांत की जाती है; और इस तरह वृत्तिको अंतरंगमें लाते लाते कदाचित् आत्माका अनुभव भी हो जाता है; और जब यह अनुभव हो जाता है तो वृत्ति फिर बाहर नहीं जाती; परन्तु आत्मामें ही शुद्ध परिणतिरूप होकर परिणमन करती है; और तदनुसार परिणमन करनेसे बाह्य पदार्थोंका दर्शन सहज हो जाता है। इन कारणोंसे परद्रव्यका विवेचन उपयोगी अथवा हेतुभूत होता है।

९२. जीवको अपने आपको जो अल्पज्ञान होता है, उसके द्वारा वह बड़े बड़े ज्ञेय पदार्थोंके स्वरूपको जाननेकी इच्छा करता है, सो यह कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। जब जीवको ज्ञेय पदार्थोंके स्वरूपका ज्ञान नहीं हो सकता, तो वहाँ जीव अपने अल्पज्ञानको उसे न समझ सकनेका कारण न मानता हुआ, अपनेसे बड़े ज्ञेय पदार्थोंमें दोष निकालता है। परन्तु सीधी तरहसे इस अपनी अल्पज्ञताको, उसे न समझ सकनेका कारण नहीं मानता।

९३. जीव जब अपने ही स्वरूपको नहीं जान सकता तो फिर वह जो परके स्वरूपको जाननेकी इच्छा करता है, उसे तो वह किस तरह जान (समझ) सकता है? और जबतक वह समझमें नहीं आता तबतक वह वहीं गुँथा रहकर डोलायमान हुआ करता है। श्रेयकारी निजस्वरूपका ज्ञान जबतक प्रगट नहीं किया, तबतक परद्रव्यका चाहे कितना भी ज्ञान प्राप्त कर लो, फिर भी वह किसी कामका नहीं। इसलिये उत्तम मार्ग तो दूसरी समस्त बातोंको छोड़कर अपनी आत्माको पहिचाननेका प्रयत्न करना ही है। जो सारभूत है उसे देखनेके लिये, 'यह आत्मा सद्भाववाली है,' 'वह कर्मकी कर्त्ता है,' और उससे (कर्मसे) उसे बंध होता है, 'वह बंध किस तरह होता है,' 'वह बंध किस तरह निवृत्त हो सकता है,' 'और उस बंधसे निवृत्त हो जाना ही मोक्ष है'—इत्यादिके विषयमें बारम्बार और प्रत्येक क्षणमें विचार करना योग्य है; और इस तरह बारम्बार विचार करनेसे विचार वृद्धिगत होता है, और उसके कारण निजस्वरूपका अंश अंशसे अनुभव होता है। ज्यों ज्यों निजस्वरूपका अनुभव होता है, त्यों त्यों द्रव्यकी अचिन्त्य सामर्थ्य जीवके अनुभवमें आती जाती है। इससे ऊपर बताई हुई शंकाओंके (उदाहरणके लिये थोड़ेसे आकाशमें अनंत जीवोंका समा जाना अथवा उसमें अनंत पुद्गल परमाणुओंका समाना) करनेका अवकाश नहीं रहता, और उनकी यथार्थता समझमें आती है। यह होनेपर भी यदि उसे न माना जाता हो, अथवा उसमें शंका करनेका कारण रहता हो, तो ज्ञानी कहते हैं कि वह ऊपर कहे हुए पुरुषार्थ करनेसे अनुभवसे सिद्ध होगा।

९४. जीव जो कर्मबंध करता है, वह देहस्थित आकाशमें रहनेवाले सूक्ष्म पुद्गलोंमेंसे ही ग्रहण करके करता है। कुछ वह बाहरसे लेकर कर्मोंको नहीं बाँधता।

१३. अकामनिर्जरा औदयिक भावसे होती है। इस निर्जराको जीवने अनंतोंबार किया है, और वह कर्म-बंधकी ही कारण है।

१४. सकामनिर्जरा क्षायोपशमिक भावसे होती है। यह कर्मके अबंधका कारण है। जितने अंशोंमें सकामनिर्जरा (क्षायोपशमिक भावसे) होती है उतने ही अंशोंमें आत्मा प्रगट होती है। यदि अकाम (-विपाक) निर्जरा हो तो वह औदयिक भावसे होती है, और वह कर्म-बंधका कारण है। यहाँ भी कर्मकी निर्जरा तो होती है, परन्तु उससे आत्मा प्रगट नहीं होती।

१५. अनंतवार चारित्र प्राप्त करनेसे जो निर्जरा हुई है, वह औदयिक भावसे (जो भाव बंधरहित नहीं है) ही हुई है; क्षायोपशमिक भावसे नहीं हुई। यदि वह क्षायोपशमिक भावसे हुई होती, तो इस तरह भटकना न पड़ता।

१६. मार्ग दो प्रकारके हैं:—एक लौकिक मार्ग और दूसरा लोकोत्तर मार्ग। ये दोनों एक दूसरेसे विरुद्ध हैं।

१७. लौकिक मार्गसे विरुद्ध लोकोत्तर मार्गके पालन करनेसे उसका फल लौकिक नहीं होता। जैसा कृत्य होता है वैसा ही उसका फल होता है।

१८. इस संसारमें जीवोंकी संख्या अनंत कोटी है। व्यवहार आदि प्रसंगमें अनंत जीव क्रोध आदिसे प्रवृत्ति करते हैं। चक्रवर्ती राजा आदि क्रोध आदि भावोंसे संग्राम करते हैं, और लाखों मनुष्योंका घात करते हैं, तो भी उनमेंसे किसी किसीको तो उसी कालमें मोक्ष हुई है।

१९. क्रोध, मान, माया और लोभकी चौकड़ीको कषायके नामसे कहा जाता है। यह कषाय अत्यंत क्रोधादिवाली है। यदि यह अनंत कषाय संसारका कारण होकर अनंतानुबन्धी कषाय होती है, तो फिर चक्रवर्ती आदिको अनंत संसारकी वृद्धि होनी चाहिए, और इस हिसाबसे तो अनंत संसारके व्यतीत होनेके पहिले उन्हें किस तरह मोक्ष हो सकती है? यह बात विचारने योग्य है।

२०. तथा जिस क्रोध आदिसे अनंत संसारकी वृद्धि हो वही अनंतानुबंधी कषाय है, यह भी निस्सन्देह है। इस हिसाबसे ऊपर कहे हुए क्रोध आदिको अनंतानुबंधी नहीं कहा जा सकता। इसलिये अनंतानुबंधीकी चौकड़ी किसी अन्य प्रकारसे ही होना संभव है।

२१. सम्यक्ज्ञान दर्शन और चारित्र इन तीनोंकी एकताको मोक्ष कहते हैं। वह सम्यक्ज्ञान दर्शन चारित्र, वीतरागज्ञान दर्शन चारित्र ही है। उसीसे अनंत संसारसे मुक्ति होती है। यह वीतराग ज्ञान दर्शन चारित्र कर्मके अबंधका कारण है। वीतरागके मार्गमें चलना अथवा उनकी आज्ञानुसार चलना भी अबंधका ही कारण है। उसके प्रति जो क्रोध आदि कषाय हो उनसे विमुख होना, वही अनंत संसारसे अनंतरूपसे मुक्त होना है, अर्थात् यही मोक्ष है। जिससे मोक्षसे विपरीत ऐसे अनंत संसारकी वृद्धि होती है, उसे अनंतानुबंधी कहा जाता है; और बात भी ऐसी ही है। वीतरागज्ञान [illegible] उनकी आज्ञानुसार चलनेवालोंका कल्याण होता है; ऐसा जो बहुतसे जीवोंको कल्याणकारी [illegible] उसके प्रति क्रोध आदि भाव (जो महा विपरीतताके करनेवाले हैं) ही अनंतानुबंधी कषाय है।

२२. क्रोध आदि भाव लोकमें भी निष्फल नहीं जाते; तथा उनमें वीतरागदर्शन [illegible] वीतरागज्ञानका मोक्षधर्मका अथवा सत्धर्मका खंडन करना, अथवा उनके प्रति क्रोध [illegible]

पापक्रिया चालू रहेगी। उस विचार किये हुए पदार्थसे अव्यक्तरूपसे भी होनेवाली क्रियासे मु होना हो तो मोहभाव छोड़ना चाहिये। मोह छोड़नेसे अर्थात् विरतिभाव करनेसे पापक्रिया बंद हो है। उस विरतिभावको यदि उसी भवमें ग्रहण किया जाय तो वह पापक्रिया, जबसे जीव विरति ग्रहण करे, तभीसे आती हुई रुक जाती है। यहाँ जो पापक्रिया लगती है वह चारित्रमोह कारणसे ही लगती है; और वह मोहभावके क्षय होनेसे आती हुई रुक जाती है।

१०३. क्रिया दो प्रकारकी होती है—एक व्यक्त अर्थात् प्रगट, और दूसरी अव्यक्त अप्रगट। अव्यक्तरूपसे होनेवाली क्रिया यद्यपि सम्पूर्णरूपसे नहीं जानी जा सकती, परन्तु इससे होती ही नहीं, यह बात नहीं है।

१०४ पानीमें जो लहरें—हिलोरें—उठती हैं वे व्यक्तरूपसे मालूम होती हैं; परन्तु उस यदि गंधक अथवा कस्तूरी डाल दी हो, और वह पानी शान्त अवस्थामें हो तो भी उसमें जो अथवा कस्तूरीकी क्रिया है, वह यद्यपि दिखाई नहीं देती, तथापि वह उसमें अव्यक्तरूपसे मौजूद रह है। इस तरह अव्यक्तरूपसे होनेवाली क्रियाका यदि श्रद्धान न किया जाय, और केवल व्यक्तरूप क्रि ही श्रद्धान हो, तो जिसमें अविरतिरूप क्रिया नहीं होती ऐसे ज्ञानीकी क्रिया, और जो व्यक्त कुछ भी क्रिया नहीं करता ऐसे सोते हुए मनुष्यकी क्रिया, ये दोनों समान ही हो जाँयगी। वास्तवमें देखा जाय तो यह बात नहीं। सोते हुए मनुष्यको अव्यक्त क्रिया रहती ही है; तथा तरह जो मनुष्य (जो जीव) चारित्रमोहनीयकी निद्रामें सो रहा है, उसे अव्यक्त क्रिया न रहती यह बात नहीं है। यदि मोहभावका क्षय हो जाय तो ही अविरतिरूप चारित्रमोहनीयकी क्रिया होती है। उससे पहिले वह बंद नहीं होती।

क्रियासे होनेवाला बंध मुख्यतया पाँच प्रकारका है:—

मिथ्यात्व	अविरति	कषाय	प्रमाद	योग.
५	१२	२५		१५

१०५. जबतक मिथ्यात्वकी मौजूदगी हो तबतक अविरतिभाव निर्मूल नहीं होता—नाश न होता। परन्तु यदि मिथ्यात्वभाव दूर हो जाय तो अविरतिभावको दूर होना ही चाहिये, इसमें सं नहीं। कारण कि मिथ्यात्वसहित विरतिभावका ग्रहण करनेसे मोहभाव दूर नहीं होता। तथा जब मोहभाव कायम है तबतक अभ्यंतर विरतिभाव नहीं होता। और मुख्यरूपसे रहनेवाले मोहभा नाश होनेसे अभ्यंतर अविरतिभाव नहीं रहता; और यद्यपि बाह्य अविरतिभावका ग्रहण न किया ग हो, तो भी जो अभ्यंतर है वह सहज ही बाहर आ जाता है।

१०६. अभ्यंतर विरतिभावके प्राप्त होने पश्चात्, उदयाधीन बाह्यभावसे कोई विरतिभाव ग्रहण न कर सके, तो भी जब उदयकाल सम्पूर्ण हो जाय उस समय सहज ही विरतिभाव रहता है क्योंकि अभ्यंतर विरतिभाव तो पहिलेसे ही प्राप्त है। इस कारण अब अविरतिभाव नहीं है, अविरतिभावकी क्रिया कर सके।

१०७. मोहभावको लेकर ही मिथ्यात्व है। मोहभावका क्षय हो जानेसे मिथ्यात्वका प्रति सम्यक्भाव प्रगट होता है। इसलिये वहाँ मोहभाव कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं होता।

अर्थमें विरोध आता है । इस कारण यह सिद्ध होता है कि वहाँ बुद्धिबलसे ही सब पदार्थोंका, सब प्रकारसे, सब कालका ज्ञान होता है ।

२५. एक कालके कल्पित जो अनंत समय हैं, उनके कारण अनंतकाल कहा जाता है। तथा उसमेंके वर्तमानकालके पहिलेके जो समय व्यतीत हो गये हैं, वे फिरसे लौटकर आनेवाले नहीं यह बात न्याययुक्त है; फिर वह समय अनुभवगम्य किस तरह हो सकता है ? यह विचारणीय है।

२६. अनुभवगम्य जो समय हो गये हैं उनका जो स्वरूप है, उस स्वरूपको छोड़कर उनका कोई दूसरा स्वरूप नहीं होता; और इसी तरह अनादि अनंतकालके जो दूसरे समय हैं उनका भी वैसा ही स्वरूप है—यह बुद्धिबलसे निर्णीत हुआ मालूम होता है ।

२७. इस कालमें ज्ञान क्षीण हो गया है, और ज्ञानके क्षीण हो जानेसे अनेक मतभेद हो गये हैं । ज्यों ज्यों ज्ञान कम होता है त्यों त्यों मतभेद बढ़ते हैं, और ज्यों ज्यों ज्ञान बढ़ता है त्यों त्यों मतभेद कम होते हैं । उदाहरणके लिये, ज्यों ज्यों पैसा घटता है त्यों त्यों क्लेश बढ़ता है, और जहाँ पैसा बढ़ा कि क्लेश कम हो जाता है ।

२८. ज्ञानके बिना सम्यक्त्वका विचार नहीं सूझता । ' मतभेद मुझे उत्पन्न नहीं करना है, ' यह बात जिसके मनमें है, वह जो कुछ बाँचता और सुनता है वह सब उसको फलदायक ही होता है । मतभेद आदिके कारणको लेकर शास्त्र-श्रवण आदि फलदायक नहीं होते ।

२९. जैसे रास्तेमें चलते हुए किसी आदमीके सिरकी पगड़ी काँटोंमें उलझ जाय, और उसकी मुसाफिरी अभी बाकी रही हो; तो पहिले तो जहाँतक बने उसे काँटोंको हटाना चाहिये; किन्तु यदि काँटोंको दूर करना संभव न हो तो उसके लिये वहाँ ठहरकर, रातभर वहीं न बिता देनी चाहिये; परन्तु पगड़ीको वहीं छोड़कर आगे बढ़ना चाहिये । उसी तरह जिनमार्गके स्वरूप और उसके रहस्यको समझे बिना अथवा उसका विचार किये बिना छोटी छोटी शंकाओंके लिये वहीं बैठ जाना और आगे न बढ़ना उचित नहीं । जिनमार्ग वास्तविक रीतिसे देखनेसे तो जीवको कर्मोंके क्षय करनेका उपाय है, परन्तु जीव तो अपने मतमें गुँथा हुआ है ।

३०. जीव प्रथम गुणस्थानसे निकलकर ग्रंथिभेद होनेतक अनंतबार आया, और वहाँसे पीछे फिर गया है ।

३१. जीवको ऐसा भाव रहता है कि सम्यक्त्व अनायास ही आ जाता होगा, परन्तु वह तो प्रयास (पुरुषार्थ) किये बिना प्राप्त नहीं होता ।

३२. कर्म प्रकृति १५८ हैं । सम्यक्त्वके आये बिना उनमेंसे कोई भी प्रकृति समूल क्षय नहीं होती । जीव अनादिसे निर्जरा करता है, परन्तु मूलमेंसे तो एक भी प्रकृति क्षय नहीं होती ! सम्यक्त्वमें ऐसी सामर्थ्य है कि वह प्रकृतिको मूलसे ही क्षय कर देता है । वह इस तरह कि वह अमुक प्रकृतिके क्षय होनेके पश्चात् आता है; और जीव यदि बलवान होता है तो वह धीरे धीरे सब प्रकृतियोंका क्षय कर देता है ।

३३. सम्यक्त्व सबको मालूम हो जाय, यह बात नहीं है । इसी तरह वह किसीको भी मालूम न पड़े, यह बात भी नहीं । विचारवानको वह मालूम पड़ जाता है ।

११९. एक अंगुलके असंख्यात भाग—अंश—प्रदेश—एक अंगुलमें असंख्यात होते हैं। लोकके भी असंख्यात प्रदेश होते हैं। उन्हें चाहे किसी भी दिशाकी समश्रेणीसे गिनो वे असंख्यात ही होते हैं। इस तरह एकके बाद एक दूसरी तीसरी समश्रेणीका योग करनेसे जो योगफल आता है वह एकगुना, दोगुना, तीनगुना, चारगुना होता है; परन्तु असंख्यातगुना नहीं होता। किन्तु एक समश्रेणी—जो असंख्यात प्रदेशवाली है—उस समश्रेणीकी दिशावाली समस्त समश्रेणियोंको—जो असंख्यातगुणी हैं—हरेकको असंख्यातसे गुणा करनेसे; इसी तरह दूसरी दिशाकी समश्रेणीका गुणा करनेसे, और इसी तरह उक्त रीतिसे तीसरी दिशाकी समश्रेणीका गुणा करनेसे असंख्यात होते हैं। इस असंख्यातके भागोंका जबतक परस्पर गुणाकार किया जा सके, तबतक असंख्यात होते हैं; और जब उस गुणाकारसे कोई गुणाकार करना बाकी न रहे, तब असंख्यात पूरे हो जानेपर उसमें एक मिला देनेसे जघन्यातिजघन्य अनंत होते हैं।

१२० नय प्रमाणका एक अंश है। जिस नयसे जो धर्म कहा गया है वहाँ उतना ही प्रमाण है। इस नयसे जो धर्म कहा गया है उसके सिवाय, वस्तुमें जो दूसरे और धर्म हैं उनका निषेध नहीं किया गया। क्योंकि एक ही समय वाणीसे समस्त धर्म नहीं कहे जा सकते। तथा जो जो प्रसंग होता है, उस उस प्रसंगपर वहाँ मुख्यतया वही धर्म कहा जाता है। उस उस स्थलपर उस उस नयसे प्रमाण समझना चाहिये।

१२१. नयके स्वरूपसे दूर जाकर जो कुछ कहा जाता है वह नय नहीं है; परन्तु नयाभास है; और जहाँ नयाभास है वहाँ मिथ्यात्व ठहरता है।

१२२. नय सात माने हैं। उनके उपनय सातसौ हैं, और विशेष भेदोंसे वे अनंत हैं, अर्थात् जितने वचन हैं वे सब नय ही हैं।

१२३. एकांत ग्रहण करनेका स्वच्छंद जीवको विशेषरूपसे होता है, और एकांत ग्रहण करनेसे नास्तिकभाव होता है। उसे न होने देनेके लिये इस नयका स्वरूप कहा गया है। इसके समझ जानेसे जीव एकांतभावको ग्रहण करता हुआ रुककर मध्यस्थ रहता है, और मध्यस्थ रहनेसे नास्तिकताको अवकाश नहीं मिल सकता।

१२४. नय जो कहनेमें आता है, सो नय स्वयं कोई वस्तु नहीं है। परन्तु वस्तुका स्वरूप समझने तथा उसकी सुप्रतीति होनेके लिये वह केवल प्रमाणका अंश है।

१२५. यदि अमुक नयसे कोई बात कही जाय, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि दूसरे नयसे प्रतीत होनेवाले धर्मका अस्तित्व ही नहीं है।

१२६. केवलज्ञान अर्थात् मात्र ज्ञान ही; इसके सिवाय दूसरा कुछ नहीं। फिर उसमें अन्य कुछ भी गर्भित नहीं होता। जब सर्वथा सर्व प्रकारसे राग-द्वेषका क्षय हो जाय, उसी समय केवलज्ञान कहा जाता है। यदि किसी अंशसे राग-द्वेष हों तो वह चारित्रमोहनीयके कारणसे ही होते हैं। जहाँ जितने अंशसे राग-द्वेष हैं, वहाँ उतने ही अंशसे अज्ञान है। इस कारण वे केवलज्ञानमें गर्भित नहीं हो सकते; अर्थात् वे केवलज्ञानमें नहीं होते। वे एक दूसरेके प्रतिपक्षी हैं। जहाँ केवलज्ञान है वहाँ राग-द्वेष नहीं, अथवा जहाँ राग-द्वेष हैं वहाँ केवलज्ञान नहीं है।

बहुतसे मूर्ख दुराचारमें, अज्ञानमें, विषयमें और अनेक प्रकारके मदमें इस मानव-देहको वृथा गुमाते हैं, अमूल्य कौस्तुभको खो बैठते हैं। ये नामके मानव गिने जा सकते हैं, बाकीके तो वानररूप ही है।

मौतकी पलको, निश्चयसे हम नहीं जान सकते। इस लिये जैसे बने वैसे धर्ममें त्वरासे सावधान होना चाहिये।

५ अनाथी मुनि
(१)

अनेक प्रकारकी ऋद्धिवाला मगध देशका श्रेणिक नामक राजा अश्वक्रीडाके लिये मंडिकुक्ष नामके वनमें निकल पड़ा। वनकी विचित्रता मनोहारिणी थी। वहाँ नाना प्रकारके वृक्ष खड़े थे, नाना प्रकारकी कोमल बेलें घटाटोप फैली हुई थीं। नाना प्रकारके पक्षी आनंदसे उनका सेवन कर रहे थे, नाना प्रकारके पक्षियोंके मधुर गान वहाँ सुनाई पड़ते थे, नाना प्रकारके फूलोंसे वह वन छाया हुआ था, नाना प्रकारके जलके झरने वहाँ बहते थे। संक्षेपमें, यह वन नंदनवन जैसा लगता था। इस वनमें एक वृक्षके नीचे महासमाधिवंत किन्तु सुकुमार और सुखोचित मुनिको उस श्रेणिकने बैठे हुए देखा। इसका रूप देखकर उस राजाको अत्यन्त आनन्द हुआ। उसके उपमारहित रूपसे विस्मित होकर वह मन ही मन उसकी प्रशंसा करने लगा। इस मुनिका कैसा अद्भुत वर्ण है! इसका कैसा मनोहर रूप है! इसकी कैसी अद्भुत सौम्यता है! यह कैसी विस्मयकारक क्षमाका धारक है! इसके अंगसे वैराग्यका कैसा उत्तम प्रकाश निकल रहा है! इसकी निर्लोभता कैसी दीखती है! यह संयति कैसी निर्भय नम्रता धारण किये हुए है! यह भोगसे कैसा विरक्त है! इस प्रकार चिंतवन करते करते, आनन्दित होते होते, स्तुति करते करते, धीरे धीरे चलते हुए, प्रदक्षिणा देकर उस मुनिको वंदन कर न अति समीप और न अति दूर वह श्रेणिक बैठा। बादमें दोनों हाथोंको जोड़ कर विनयसे उसने उस मुनिसे पूछा, "हे आर्य! आप प्रशंसा करने योग्य तरुण हैं। भोगविलासके लिये आपकी वय अनुकूल है। संसारमें नाना प्रकारके सुख हैं। ऋतु ऋतुके काम-भोग, जल संबंधी विलास, तथा मनोहारिणी स्त्रियोंके मुख-वचनके मधुर श्रवण होनेपर भी इन सबका त्याग करके मुनित्वमें आप महाउद्यम कर रहे हैं, इसका क्या कारण है, यह मुझे अनुग्रह करके कहिये।" राजाके ऐसे वचन सुनकर मुनिने कहा—"हे राजन्! मैं अनाथ था। मुझे अपूर्व वस्तुका प्राप्त करानेवाला, योग-क्षेमका करनेवाला, मुझपर अनुकंपा लानेवाला, करुणासे परम-सुखको देनेवाला कोई मेरा मित्र नहीं हुआ। यह कारण मेरे अनाथीपनेका था।"

६ अनाथी मुनि
(२)

श्रेणिक मुनिके भाषणसे स्मित हास्य करके बोला, "आप महाऋद्धिवंतका नाथ क्यों न होगा! यदि कोई आपका नाथ नहीं है तो मैं होता हूँ। हे भयत्राण! आप भोगोंको भोगें। हे संयति! मित्र, जातिसे दुर्लभ इस अपने मनुष्य भवको सफल करें।" अनाथीने कहा—"अरे श्रेणिक राजा! परन्तु तू तो स्वयं अनाथ है, तो मेरा नाथ क्या होगा! निर्धन धनाढ्य कहाँसे बना सकता है! अबुध बुद्धि-दान कहाँसे दे सकता है! अज्ञ विद्वत्ता कहाँसे दे सकता है! वंध्या संतान कहाँसे

१३५. जिसे गुणा और जोड़का ज्ञान हो गया है, वह कहता है कि नौको नौसे गुणा करने
८१ होते हैं। परन्तु जिसे जोड़ और गुणाका ज्ञान नहीं हुआ—क्षयोपशम नहीं हुआ—वह अनुमा
अथवा तर्कसे यदि ऐसा कहे कि 'नौको नौसे गुणा करनेसे कदाचित् ९८ होते हों, तो उसको कौ
मना कर सकता है?' तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। क्योंकि उसे ज्ञान न होनेके कारण वह ऐ
कहे तो यह स्वाभाविक ही है। परन्तु यदि उसे गुणाकी रीतिको अलग अलग करके, एकमें नौनक
बताकर नौ बार गिनाया जाय, तो उसे अनुभवमें आ जानेसे ९×९=८१ ही होते हैं, यह सिद्ध हो जा
है। कदाचित् उसका क्षयोपशम मंद होनेसे गुणाकी अथवा जोड़की पद्धतिसे, ९×९=८१ होते
यह उसे समझमें न भी आवे, तो भी नौको नौसे गुणा करनेपर तो ८१ ही होते हैं, इसमें कुछ
फरक नहीं है। इसी तरह यदि सिद्धांत भी आवरणके कारण समझमें न आवें, तो वे सिद्धांत असि
द्धांत नहीं हो जाते—इस बातकी निश्चय प्रतीति रखना चाहिये। फिर भी यदि प्रतीति करने
ज़रूरत हो तो सिद्धांतके कहे अनुसार चलनेसे प्रतीति होकर वह प्रत्यक्ष अनुभवका विषय होता है

१३६. जबतक वह अनुभवका विषय न हो तबतक उसकी सुप्रतीति रखनेकी ज़रूरत
और सुप्रतीतिसे क्रम क्रमसे वह अनुभवमें आ जाता है।

१३७. सिद्धांतके दृष्टान्तः—

(१) 'राग-द्वेषसे बंध होता है।'

(२) 'बंधका क्षय होनेसे मुक्ति होती है।'

यदि इस सिद्धान्तकी प्रतीति करना हो तो राग-द्वेष छोड़ो। यदि सब प्रकारसे राग-द्वेष छू
जाँय तो आत्माकी सब प्रकारसे मोक्ष हो जाती है। आत्मा बंधनके कारण मुक्त नहीं हो सकती
जहाँ बंधन छूटा कि वह मुक्त ही है। बंधन होनेके कारण राग-द्वेष हैं। जहाँ राग-द्वेष सब प्रकार
छूटे कि आत्माको बंधसे छूटी हुई ही समझनी चाहिये। उसमें कुछ भी प्रश्न अथवा शंका नहीं रहती

१३८. जिस समय जिसके राग-द्वेष सर्वथा क्षय हो जाते हैं, उसे दूसरे समयमें ही केवलज्ञान
हो जाता है।

१३९. जीव पहिले गुणस्थानकमेंसे आगे नहीं जाता—आगे जानेका विचार नहीं करता
तथा पहिलेसे आगे किस तरह बढ़ा जा सकता है? उसका क्या उपाय है? किस तरह पुरुषार्थ करन
चाहिये? उसका वह विचारतक भी नहीं करता; और जब बातें करने बैठता है तो ऐसी ऐसी बातें
करता है कि इस क्षेत्रमें इस कालमें तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त नहीं होता। ऐसी ऐसी गहन बातें, जो
अपनी शक्तिके बाहर हैं, उन्हें वह किस तरह समझ सकता है? अर्थात् जितना अपनेको क्षयोपशम
हो, उससे बाहरकी बातें यदि कोई करने बैठे तो वे कभी भी समझमें नहीं आ सकतीं।

१४०. जो पहिले गुणस्थानकमें ग्रंथि है, उसका भेदन करके आगे बढ़कर मंजली और ग्रं
तक नहीं पहुँचा। कोई कोई जीव निर्जरा करनेसे उच्च भावोंमें आते हुए, पहिलेसे निकलनेका भेद
करके, संधिनिरके मनोहर आता है; परन्तु वहाँपर उसके ऊपर मोहका इतना अधिक जोर होता
कि वह संधिनेद करनेमें शिथिल होकर रुक जाता है; और इस तरह वह शिथिल होकर फिर पाछ

सातां-असाता, जीवन-मृत्यु, सुगंध-दुर्गंध, सुस्वर-दुस्वर, रूप-कुरूप, शीत-उष्ण आदिमें ह
शोक, रति-अरति, इष्टानिष्टबुद्धि और आर्तध्यान न रहना ही समदर्शिता है।

समदर्शीमें हिंसा, असत्य, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रहका त्याग अवश्य होता है। य
अहिंसादि व्रत न हों तो समदर्शिता संभव नहीं। समदर्शिता और अहिंसादि व्रतोंका कार्यका
अविनाभावी और अन्योन्याश्रयसंबंध है। यदि एक न हो तो दूसरा नहीं होता, और यदि दूसरा
हो तो पहिला नहीं होता।

समदर्शिता हो तो अहिंसा आदि व्रत होते हैं।
समदर्शिता न हो तो अहिंसा आदि व्रत नहीं होते।
अहिंसा आदि व्रत न हों तो समदर्शिता नहीं होती।
अहिंसा आदि व्रत हों तो समदर्शिता होती है।

जितने अंशमें समदर्शिता होती है, उतने ही अंशमें अहिंसा आदि व्रत होते हैं, और
जितने अंशोंमें अहिंसा आदि व्रत होते हैं, उतने ही अंशमें समदर्शिता होती है।

सद्गुरुयोग्य लक्षणरूप समदर्शिता तो मुख्यतया सर्वविरति गुणस्थानकमें होती है। बा
गुणस्थानकोंमें वह उत्तरोत्तर वर्धमान होती जाती है—विशेष प्रगट होती जाती है। तथा क्षीण
गुणस्थानमें उसकी पराकाष्ठा, और बादमें सम्पूर्ण वीतरागता होती है।

समदर्शिताका अर्थ लौकिकभावमें समानभाव, अभेदभाव, एकसमान बुद्धि और निर्विशेषता न
है। अर्थात् काँच और हीरे दोनोंको एकसा समझना, अथवा सत्श्रुत और असत्श्रुतमें समानभाव मान
अथवा सद्धर्म और असद्धर्ममें अभेद समझना, अथवा सद्गुरु और असद्गुरुमें एकसी बुद्धि रखना, अ
सद्देव और असद्देवमें निर्विशेषभाव दिखाना—अर्थात् दोनोंको एकसमान समझना इत्यादि समानवृ
समदर्शिता नहीं कहते; यह तो आत्माकी मूढ़ता, विवेकशून्यता, और विवेकविकलता है। सम
सत्को सत् जानता है, सत्का बोध करता है; असत्को असत् जानता है, असत्का निषेध करता
सत्श्रुतको सत्श्रुत समझता है, उसका बोध करता है; कुश्रुतको कुश्रुत जानता है, उसका नि
करता है; सद्धर्मको सद्धर्म जानता है, उसका बोध करता है; असद्धर्मको असद्धर्म जानता है, उस
निषेध करता है; सद्गुरुको सद्गुरु समझता है, उसका बोध करता है; असद्गुरुको असद्गुरु समझता
उसका निषेध करता है; सद्देवको सद्देव समझता है, उसका बोध करता है; असद्देवको असद्देव सम
है, उसका निषेध करता है—इत्यादि जो जैसा होता है, जो उसे वैसा ही देखता है, जानता है, उस
प्ररूपण करता है, और उसमें राग-द्वेष इष्टानिष्टबुद्धि नहीं करता, उसे समदर्शी समझना चाहिये। अ

---

७५४ मोरबी, चैत्र वदी १२ रवि. १९५

(१) कर्मग्रन्थ, गोम्मटसार शास्त्र आदिसे अंततक विचारने योग्य हैं।

(२) दुःषमकालका प्रबल राज्य विद्यमान है। तो भी अडग निश्चयसे सत्पुरुषकी आ
वृत्ति लगाकर, जो पुरुष अगुप्त वीर्यसे सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्रकी उपासना करना चाहते हैं, उ
परमशांतिका मार्ग अभी भी प्राप्त हो सकता है।

---

१५१. मतभेद अथवा रूढ़ि आदि निर्जीव बातें हैं, अर्थात् उनमें मोक्ष नहीं है। इसलिये सच्चे प्रकारसे सत्यकी प्रतीति करनेकी आवश्यकता है।

१५२. शुभाशुभ और शुद्धाशुद्ध परिणामोंके ऊपर समस्त आधार रहता है। छोटी छोटी बातोंमें भी यदि दोष माना जाय तो वहाँ मोक्ष नहीं होती। लोक-रूढ़ि अथवा लोक-व्यवहारमें पड़ा हुआ जीव जो मोक्षतत्त्वका रहस्य नहीं जान सकता, उसका कारण यही है कि उसमें रूढ़िका अथवा लोकसंज्ञाका माहात्म्य मौजूद है। इससे बादर क्रियाका निषेध नहीं किया जाता। जो जीव कुछ भी न करते हुए एकदम अनर्थ ही अनर्थ किया करता है उसके लिये बादर क्रिया उपयोगी है। तो भी उससे यह कहनेका भी अभिप्राय नहीं है कि बादर क्रियासे आगे न बढ़ना चाहिये।

१५३. जीवको अपनी चतुराई और मरजीके अनुसार चलना मनको प्रिय लगता है, परन्तु वह जीवका बुरा करनेवाली वस्तु है। इस दोषके दूर करनेके लिये ज्ञानीका उपदेश है कि प्रथम किसीको उपदेश नहीं देना चाहिये, परन्तु पहिले तो स्वयं ही उपदेश लेनेकी ज़रूरत है। जिसके राग-द्वेष न हों, उसका संग हुए विना सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो सकता। सम्यक्त्व प्राप्त होनेमें जीव बदल जाता है—जीवकी दशा बदल जाती है; अर्थात् वह प्रतिकूल हो तो अनुकूल हो जाती है। जिनभगवान्की प्रतिमा (शांतभावके लिये) का दर्शन करनेसे सातवें गुणस्थानकमें रहनेवाले ज्ञानीकी जो शांतदशा है, उसकी प्रतीति होती है।

१५४. जैनमार्गमें वर्तमानमें अनेक गच्छ प्रचलित हैं। उदाहरणके लिये तपगच्छ, अंचलगच्छ, ढुंकागच्छ, खरतरगच्छ इत्यादि। ये प्रत्येक गच्छ अपनेसे भिन्न पक्षवालेको मिथ्यात्वी समझते हैं। इसी तरह दूसरे छहकोटि आठकोटि इत्यादि जो विभाग हैं, वे सब अपनेसे भिन्न कोटिवालेको मिथ्यात्वी मानते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो नौकोटि चाहिये। उसमेंसे जितनी कम हों उतना ही कम समझना चाहिये; और यदि उससे भी आगे जाँय तो समझमें आता है कि नौकोटिके भी छोड़े बिना रास्ता नहीं है।

१५५. तीर्थंकर आदिने जो मार्ग प्राप्त किया वह मार्ग पामर नहीं है। रूढ़ीका थोड़ा भी छोड़ देना यह अत्यंत कठिन लगता है, तो फिर जीव महान् और महाभारत मोक्षमार्गको किस तरह ग्रहण कर सकेगा? यह विचारणीय है।

१५६. मिथ्यात्व प्रकृतिके क्षय किये बिना सम्यक्त्व नहीं आता। जिसे सम्यक्त्व प्राप्त हो जाय उसकी दशा अद्भुत रहती है। वहाँसे ५, ६, ७ और ८ वें में जाकर दो घड़ीमें मोक्ष हो सकती है। एक सम्यक्त्वके प्राप्त कर लेनेसे कैसा अद्भुत कार्य बन जाता है। इससे सम्यक्त्वकी चमत्कृति अथवा उसका माहात्म्य किसी अंशमें समझमें आ सकता है।

१५७. दुर्धर पुरुषार्थसे प्राप्त करने योग्य मोक्षमार्ग अनायास ही प्राप्त नहीं हो जाता। आत्म-ज्ञान अथवा मोक्षमार्ग किसीके शापसे अप्राप्त नहीं होते, अथवा किसीके आशीर्वादसे वे प्राप्त नहीं हो जाते। वे पुरुषार्थके अनुसार ही होते हैं, इसलिये पुरुषार्थकी ज़रूरत है।

१५८. सूत्र-सिद्धांत-शास्त्र सत्पुरुषके उपदेशके विना फल नहीं देते। जो फेरफार है वह व्य-

साता-असाता, जीवन-मृत्यु, सुगंध-दुर्गंध, सुस्वर-दुस्वर, रूप-कुरूप, शीत-उष्ण आदिमें ह शोक, रति-अरति, इष्टानिष्टबुद्धि और आर्तध्यान न रहना ही समदर्शिता है।

समदर्शीमें हिंसा, असत्य, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रहका त्याग अवश्य होता है। अहिंसादि व्रत न हों तो समदर्शिता संभव नहीं। समदर्शिता और अहिंसादि व्रतोंका कार्यका अविनाभावी और अन्योन्याश्रयसंबंध है। यदि एक न हो तो दूसरा नहीं होता, और यदि दूसरा हो तो पहिला नहीं होता।

समदर्शिता हो तो अहिंसा आदि व्रत होते हैं।
समदर्शिता न हो तो अहिंसा आदि व्रत नहीं होते।
अहिंसा आदि व्रत न हों तो समदर्शिता नहीं होती।
अहिंसा आदि व्रत हों तो समदर्शिता होती है।

जितने अंशमें समदर्शिता होती है, उतने ही अंशमें अहिंसा आदि व्रत होते हैं, और जितने अंशोंमें अहिंसा आदि व्रत होते हैं, उतने ही अंशमें समदर्शिता होती है।

सद्गुरुयोग्य लक्षणरूप समदर्शिता तो मुख्यतया सर्वविरति गुणस्थानकमें होती है। बा गुणस्थानकोंमें वह उत्तरोत्तर वर्धमान होती जाती है—विशेष प्रगट होती जाती है। तथा क्षीण गुणस्थानमें उसकी पराकाष्ठा, और बादमें सम्पूर्ण वीतरागता होती है।

समदर्शिताका अर्थ लौकिकभावमें समानभाव, अभेदभाव, एकसमान बुद्धि और निर्विशेषता है। अर्थात् काँच और हीरे दोनोंको एकसा समझना, अथवा सत्श्रुत और असत्श्रुतमें समानभाव अथवा सद्धर्म और असद्धर्ममें अभेद समझना, अथवा सद्गुरु और असद्गुरुमें एकसी बुद्धि रखना, सद्देव और असद्देवमें निर्विशेषभाव दिखाना—अर्थात् दोनोंको एकसमान समझना इत्यादि समानवृत्ति समदर्शिता नहीं कहते; यह तो आत्माकी मूढ़ता, विवेकशून्यता, और विवेकविकलता है। सम सत्‌को सत् जानता है, सत्‌का बोध करता है; असत्‌को असत् जानता है, असत्‌का निषेध करता है; सत्श्रुतको सत्श्रुत समझता है, उसका बोध करता है; कुश्रुतको कुश्रुत जानता है, उसका नि करता है; सद्धर्मको सद्धर्म जानता है, उसका बोध करता है; असद्धर्मको असद्धर्म जानता है, उस निषेध करता है; सद्गुरुको सद्गुरु समझता है, उसका बोध करता है; असद्गुरुको असद्गुरु समझता उसका निषेध करता है; सद्देवको सद्देव समझता है, उसका बोध करता है; असद्देवको असद्देव समझ है, उसका निषेध करता है—इत्यादि जो जैसा होता है, जो उसे वैसा ही देखता है, जानता है, उस प्ररूपण करता है, और उसमें राग-द्वेष इष्टानिष्टबुद्धि नहीं करता, उसे समदर्शी समझना चाहिये।

७५४ मोरबी, चैत्र वदी १२ रवि. १९५

(१) कर्मग्रन्थ, गोम्मटसार शास्त्र आदिसे अंततक विचारने योग्य हैं।

(२) दुःषमकालका प्रबल राज्य विद्यमान है। तो भी अडग निश्चयसे सत्पुरुषकी आज्ञामें वृत्ति लगाकर, जो पुरुष अगुप्त वीर्यसे सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्रकी उपासना करना चाहते हैं, उन्हें परमशांतिका मार्ग अभी भी प्राप्त हो सकता है।

---

१८४. मिथ्यात्वके द्वारा मिथ्यात्व मंद पड़ता है, और इस कारण जहाँ ज़रा आगे चले कि जीव तुरत ही मिथ्यात्व गुणस्थानकमें आ जाता है।

१८५. गुणस्थानक आत्माके गुणको लेकर ही होता है।

१८६. मिथ्यात्वमेंसे जीव एकदम न निकला हो, परन्तु यदि थोड़ा भी निकल गया हो, तो भी उससे मिथ्यात्व मंद पड़ता है। यह मिथ्यात्व भी मिथ्यात्वके द्वारा मंद होता है। मिथ्यात्व गुणस्थानकमें भी मिथ्यात्वका अंश जो कषाय होती है, उस अंशसे भी मिथ्यात्वमेंसे मिथ्यात्व गुणस्थानक हुआ कहा जाता है।

१८७. प्रयोजनभूत ज्ञानके मूलमें—पूर्ण प्रतीतिमें—उसी तरहके मिलते जुलते अन्य मार्गकी सदृशताके अंशसे सदृशतारूप प्रतीति होना मिश्रगुणस्थानक है। परन्तु अमुक दर्शन सत्य है, और अमुक दर्शन भी सत्य है, इस तरह दोनोंके ऊपर एकसी प्रतीति रखना मिश्र नहीं, किन्तु मिथ्यात्व गुणस्थानक है। तथा अमुक दर्शनसे अमुक दर्शन अमुक अंशमें समान है--यह कहनेमें सम्यक्त्वको बाधा नहीं आती। कारण कि यहाँ तो अमुक दर्शनकी दूसरे दर्शनकी साथ समानता करनेमें पहिला दर्शन ही सम्पूर्णरूपसे प्रतीतिरूप होता है।

१८८. पहिले गुणस्थानकसे दूसरेमें नहीं जाते, परन्तु चौथेसे पीछे फिरते हुए जब पहिलेमें आना रहता है, तब बीचका अमुक काल दूसरा गुणस्थानक कहा जाता है। उसे यदि चौथेके बाद पाँचवाँ गुणस्थानक माना जाय, तो जीव चौथेसे पाँचवेंमें चढ़ जाय; और यहाँ तो सास्वादनको चौथेसे पतित हुआ माना गया है। अर्थात् वह नीचे उतरता हुआ ही है, उसे पाँचवाँ नहीं कहा जा सकता, इसलिये उसे दूसरा ही कहना ठीक है।

१८९. आवरण मौजूद है, यह बात तो सन्देहरहित है। इसे श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही कहते हैं। परन्तु आवरणको साथ लेकर कथन करनेमें एक दूसरेमें कुछ थोड़ासा भेद आता है।

१९०. दिगम्बर कहते हैं कि केवलज्ञान सत्तारूपसे नहीं, परन्तु शक्तिरूपसे रहता है।

१९१. यद्यपि सत्ता और शक्तिका सामान्य अर्थ एक ही है, परन्तु विशेषार्थकी दृष्टिसे उसमें कुछ थोड़ासा फेर है।

१९२. दृढ़रूपसे ओघ आस्थासे, विचारपूर्वक अभ्याससे 'विचारसहित आस्था' होती है।

१९३. तीर्थंकर जैसे भी संसारदशामें विशेष समृद्धिके स्वामी थे; फिर भी उन्हें त्याग करनेकी ज़रूरत पड़ी; तो फिर अन्य जीवोंको वैसा करनेके सिवाय कैसे छुटकारा हो सकता है?

१९४. त्याग दो प्रकारका है:—एक बाह्य और दूसरा अभ्यंतर। बाह्य त्याग अभ्यंतर त्यागका सहकारी है (त्यागके साथ वैराग्यको भी सम्मिलित किया जाता है, क्योंकि वैराग्य होनेपर ही त्याग होता है)।

१९५. जीव ऐसा समझता है कि 'मैं कुछ समझता हूँ, और जब मैं त्याग करनेका विचार करूँगा तब एकदम त्याग कर सकूँगा,' परन्तु यह मानना भूलसे भरा हुआ है। क्योंकि जबतक ऐसा प्रसंग नहीं आता, तबतक अपना ज़ोर रहता है। किन्तु जब ऐसा समय आता है तब जीव

७५९

वबाणीआ, ज्येष्ठ १९५

१. देहसे भिन्न स्वपरप्रकाशक परम ज्योतिस्वरूप ऐसी इस आत्मामें निमग्न होओ।

हे आर्यजनो! अंतर्मुख होकर, स्थिर होकर, उस आत्मामें ही रहो, तो अनंत अ आनन्दका अनुभव करोगे।

२. सर्व जगत्के जीव कुछ न कुछ पाकर सुख पानेकी ही इच्छा करते हैं। महान् च वर्ती राजा भी बढ़ते हुए वैभव और परिग्रहके संकल्पमें प्रयत्नशील रहते हैं; और वे उसके प्राप्त क नेमें ही सुख समझते हैं। परन्तु अहो! ज्ञानियोंने तो उससे विपरीत ही सुखका मार्ग निर्णय किय है, कि किंचित् मात्र भी ग्रहण करना यही सुखका नाश है।

३. विषयसे जिसकी इन्द्रियाँ आर्त हैं, उसे शीतल आत्मसुख—आत्मत्व—कहाँसे प्रती आ सकता है!

४. परमधर्मरूप चन्द्रके प्रति राहु जैसे परिग्रहसे अब मैं विरक्ति लेनेकी ही इच्छा करता हूँ। हमें परिग्रहका क्या करना है? हमें उसका कुछ भी प्रयोजन नहीं।

५. 'जहाँ सर्वोत्कृष्ट शुद्धि है वहाँ सर्वोत्कृष्ट सिद्धि है'—हे आर्यजनो! तुम इस प वाक्यका आत्मरूपसे अनुभव करो।

७६०

वबाणीआ, ज्येष्ठ सुदी ११ शनि.

१. सर्व द्रव्यसे, सर्व क्षेत्रसे, सर्व कालसे और सर्व भावसे जो सर्व प्रकारसे अप्रति निजस्वरूपमें स्थित हो गये, उन परम पुरुषोंको नमस्कार हो!

२. जिसे कुछ प्रिय नहीं, जिसे कुछ अप्रिय नहीं; जिसका कोई शत्रु नहीं; जि मित्र नहीं; जिसने मान, अपमान, लाभ, अलाभ, हर्ष शोक, जन्म, मृत्यु आदिके द्वंद्वका अ शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें स्थिति पाई है, पाता है और पावेगा, उसका अति उत्कृष्ट पराक्रम आन आश्चर्य उत्पन्न करता है।

३. देहके प्रति जैसा वस्त्रका संबंध है, वैसा ही आत्माके प्रति जिसने देहके संबंधको य देखा है; जैसे म्यानके प्रति तलवारका संबंध है, वैसा ही देहके प्रति जिसने आत्माके संबंध है; तथा जिसने आत्माको अबद्ध-स्पष्ट-अनुभव किया है, उन महान् पुरुषोंको जीवन औ दोनों समान हैं।

४. जो अचिन्त्य द्रव्यकी शुद्धचितिस्वरूप कांति, परम प्रगट होकर उसे अचिन्त्य क वह अचिन्त्य द्रव्य सहज स्वाभाविक निजस्वरूप है, ऐसा निश्चय जिस परम कृपालु प्रकाशित किया, उसका अपार उपकार है।

५. चन्द्र भूमिका प्रकाश करता है—उसकी किरणोंकी कांतिके प्रभावसे समस्त भूमि हो जाती है; परन्तु चन्द्र कभी भी भूमिरूप नहीं होता। इसी तरह समस्त विश्वकी प्र आत्मा कभी भी विश्वरूप नहीं होती, वह सदा—सर्वदा—चैतन्यरूप ही रहती है। विश्वमें जी अभेदबुद्धि मानता है, यही भ्रान्ति है।

वाली तो कषाय ही है, और उस कषायमें भी अनंतानुबंधी कषायके चार योद्धा तो
नेवाले हैं। इन चार योद्धाओंके बीचमें क्रोधका स्वभाव दूसरे अन्य तीनकी अपेक्षा कुछ जल्दी
हो जाता है। क्योंकि उसका स्वरूप सबकी अपेक्षा जल्दी ही मालूम हो सकता है। इस तरह
किसीका स्वरूप जल्दी मालूम हो जाय, तो उस समय उसकी साथ लड़ाई करनेमें, क्रोधीको
हो जानेसे, लड़नेकी हिम्मत होती है।

२०१. घनघाती चार कर्म—मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय—जो आत्माके
गुणोंको आवरण करनेवाले हैं, उनका एक तरह क्षय करना सरल भी है। तथा वेदनीय आदि कर्म
यद्यपि घनघाती नहीं हैं, तो भी उनका एक तरहसे क्षय करना दुष्कर है। वह इस तरह कि जब वेदनीय
कर्मका उदय आवे तो उसका क्षय करनेके लिये उसे भोगना ही चाहिये। उसे न भोगनेकी इच्छा होने
भी वह इच्छा निरुपयोगी ही है—क्योंकि उसे तो भोगना ही चाहिये; और यदि ज्ञानावरणीयका उदय हो
तो वह प्रयत्न करनेसे क्षय हो जाता है। उदाहरणके लिये, कोई श्लोक यदि ज्ञानावरणीयके उदयसे याद
न रहता हो तो उसे दोबार, चारबार, आठबार, सोलहबार, बत्तीसबार, चौंसठबार, सौबार, अथवा
उसे अधिकबार याद करनेसे ज्ञानावरणीयका क्षयोपशम अथवा क्षय होकर वह श्लोक याद रहता है,
अर्थात् बलवान होनेके कारण ज्ञानावरणीयका उसी भवमें अमुक अंशमें क्षय किया जा सकता है। यही
बात दर्शनवरणीय कर्मके संबंधमें भी समझनी चाहिये। महाबलवान मोहनीय कर्म भी इसी तरह शिथिल
होता है—उसका तुरत ही क्षय किया जा सकता है। जैसे उसका आगमन-प्रवाह-आनेमें जबर्दस्त है,
उसी तरह वह जल्दीसे दूर भी हो सकता है। मोहनीय कर्मका तीव्र बंध होता है, तो भी वह
प्रदेशबंध न होनेसे उसका तुरत ही क्षय किया जा सकता है। तथा नाम आयु आदि कर्मका जो
प्रदेशबंध होता है, वह केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पश्चात् अन्ततक भोगना पड़ता है; जब कि मोहनीय
आदि चार कर्म उसके पहिले ही क्षय हो जाते हैं।

२०२. उन्मत्तता यह चारित्रमोहनीयकी विशेष पर्याय है। वह कचित् हास्य, कचित् शोक,
कचित् रति, कचित् अरति, कचित् भय, और कचित् जुगुप्सारूपसे मालूम होती है। कुछ अंशमें
उसका ज्ञानावरणीयमें भी समावेश होता है। स्वप्नमें विशेषरूपसे ज्ञानावरणीय-पर्याय ही मालूम होती है।

२०३. 'संज्ञा' यह ज्ञानका भाग है। परन्तु परिग्रहसंज्ञा लोभप्रकृतिमें गर्भित होती है।
आहारसंज्ञा वेदनीयमें गर्भित होती है; और भयसंज्ञा भयप्रकृतिमें गर्भित होती है।

२०४. अनंत प्रकारके कर्म मुख्य आठ प्रकारसे प्रकृतिके नामसे कहे जाते हैं। वह इस तरह
कि अमुक अमुक प्रकृति, अमुक अमुक गुणस्थानकतक होती है। इस तरह माप तोलकर ज्ञानीने
दूसरोंके समझानेके लिये स्थूलरूपसे उसका विवेचन किया है। उसमें दूसरे कितने ही तरहके कर्म
अर्थात् 'कर्मप्रकृति'का समावेश होता है; अर्थात् जिस प्रकृतिके नाम कर्मग्रंथमें नहीं आते, वह प्रकृति ऊपर
बताई हुई प्रकृतिकी ही विशेष पर्याय है, अथवा वह ऊपर बताई हुई प्रकृतिमें गर्भित हो जाती है।

२०५. विभावका अर्थ विरुद्धभाव नहीं, किन्तु उसका अर्थ विशेषभाव होता है। आत्मा जो
आत्मारूपसे परिणमन करती है वह भाव अथवा स्वभाव है। तथा जब आत्मा और जड़का संयोग

७५९ ववाणीआ, ज्येष्ठ १

१. देहसे भिन्न स्वपरप्रकाशक परम ज्योतिस्वरूप ऐसी इस आत्मामें निमग्न होओ।

हे आर्यजनो ! अंतर्मुख होकर, स्थिर होकर, उस आत्मामें ही रहो, तो अनंत आनन्दका अनुभव करोगे ।

२. सर्व जगत्के जीव कुछ न कुछ पाकर सुख पानेकी ही इच्छा करते हैं। महान् वर्ती राजा भी बढ़ते हुए वैभव और परिग्रहके संकल्पमें प्रयत्नशील रहते हैं; और वे उसके प्राप्त नेमें ही सुख समझते हैं। परन्तु अहो ! ज्ञानियोंने तो उससे विपरीत ही सुखका मार्ग निर्णय है, कि किंचित् मात्र भी ग्रहण करना यही सुखका नाश है।

३. विषयसे जिसकी इन्द्रियाँ आर्त्त हैं, उसे शीतल आत्मसुख—आत्मतत्त्व—कहाँसे प्र आ सकता है ?

४. परमधर्मरूप चन्द्रके प्रति राहु जैसे परिग्रहसे अब मैं विरक्ति लेनेकी ही इच्छा करता हमें परिग्रहका क्या करना है! हमें उसका कुछ भी प्रयोजन नहीं।

५. 'जहाँ सर्वोत्कृष्ट शुद्धि है वहाँ सर्वोत्कृष्ट सिद्धि है'—हे आर्यजनो ! तुम इस वाक्यका आत्मरूपसे अनुभव करो।

---

७६० ववाणीआ, ज्येष्ठ सुदी १ शनि. १९

१. सर्व द्रव्यसे, सर्व क्षेत्रसे, सर्व कालसे और सर्व भावसे जो सर्व प्रकारसे अप्रतिबद्ध हैं निजस्वरूपमें स्थित हो गये, उन परम पुरुषोंको नमस्कार हो !

२. जिसे कुछ प्रिय नहीं, जिसे कुछ अप्रिय नहीं; जिसका कोई शत्रु नहीं; जिसका मित्र नहीं; जिसने मान, अपमान, लाभ, अलाभ, हर्ष शोक, जन्म, मृत्यु आदिके द्वंद्वका अभाव शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें स्थिति पाई है, पाता है और पावेगा, उसका अति उत्कृष्ट पराक्रम आनन्द आश्चर्य उत्पन्न करता है।

३. देहके प्रति जैसा वस्त्रका संबंध है, वैसा ही आत्माके प्रति जिसने देहके संबंधको देखा है; जैसे म्यानके प्रति तलवारका संबंध है, वैसा ही देहके प्रति जिसने आत्माके संबंधको है; तथा जिसने आत्माको अबद्ध—स्पष्ट—अनुभव किया है, उन महान् पुरुषोंको जीवन और म दोनों समान हैं।

४. जो अचिन्त्य द्रव्यकी शुद्धचितिस्वरूप कांति, परम प्रगट होकर उसे अचिन्त्य करती। वह अचिन्त्य द्रव्य सहज स्वाभाविक निजस्वरूप है, ऐसा निश्चय जिस परम कृपालु प्रकाशित किया, उसका अपार उपकार है।

५. चन्द्र भूमिको प्रकाश करता है—उसकी किरणोंकी कांतिके प्रभावसे समस्त भूमि हो जाती है; परन्तु चन्द्र कभी भी भूमिरूप नहीं होता। इसी तरह समस्त विश्वकी प्रका आत्मा कभी भी विश्वरूप नहीं होती, वह सदा—सर्वदा—चैतन्यरूप ही रहती है। विश्वमें अभेदबुद्धि मानता है, यही भ्रान्ति है।

होनेसे आत्मा स्वभावको छोड़कर आगे जाकर विशेषभावसे परिणमन करती है, वह विभाव है। इसी तरह जड़के लिये भी समझना चाहिये।

२०६. कालके अणु लोक-प्रमाण असंख्यात हैं। उस अणुमें रूक्ष अथवा स्निग्ध गुण नहीं हैं। इससे एक अणु दूसरेमें नहीं मिल जाता, और हरेक जुदा जुदा रहता है। परमाणुके पुद्गलमें वह गुण होनेसे मूलसत्ताके मौजूद रहनेके कारण उसका—परमाणु-पुद्गलका—स्कंध होता है।

(२)

उत्पाद.
व्यय.
ध्रुव.
} यह भाव एक वस्तुमें एक समयमें है।

जीव और परमाणुओंका

जीव

वर्त्त | जीव परमाणु | मान

भाव
परमाणु.
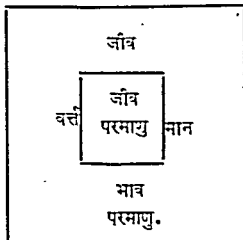
संयोग.

कोई जीव एकेन्द्रियरूपसे पर्याय है		
,, दो इन्द्रियरूपसे ,, है		
,, तीन इन्द्रियरूपसे ,, है	} वर्त्तमानभाव.	
,, चार इन्द्रियरूपसे ,, है		
,, पाँच इन्द्रियरूपसे ,, है		

सिद्धभाव

संज्ञी
असंज्ञी
पर्याप्त
अपर्याप्त
} वर्त्तमानभाव.

ज्ञानी
अज्ञानी
} वर्त्तमानभाव.

मिथ्यादृष्टि
सम्यग्दृष्टि
} वर्त्तमानभाव.

एक अंश क्रोध
यावत अनंत अंश क्रोध.
} वर्त्तमानभाव.

(३)

प्रश्नः— आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदयप्रयोग;
अपूर्ववाणी परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य।

(१) सद्गुरुके योग्य ये लक्षण मुख्यतया कौनसे गुणस्थानकमें संभव हैं ?

(२) समदर्शिता किसे कहते हैं ?

उत्तरः—(१) सद्गुरुके योग्य जो इन लक्षणोंको बताया है, ये लक्षण मुख्यतया—विशेषरूपसे—उपदेशक अर्थात् मार्गप्रकाशक सद्गुरुके ही लक्षण कहे हैं। तथा उपदेशक गुणस्थानक छट्ठा और तेरहवाँ है; बीचके सातवेंसे बारहतकके गुणस्थान अल्पकालवर्ती हैं; अर्थात् उनमें उपदेशक प्रवृत्ति संभव नहीं है। मार्गोपदेशक प्रवृत्ति छट्ठेसे आरंभ होती है।

छट्ठे गुणस्थानकमें संपूर्ण वीतरागदशा और केवलज्ञान नहीं है; वह तो तेरहवेंमें है; और यथावत् मार्गोपदेशकत्व तो तेरहवें गुणस्थानमें रहनेवाले सम्पूर्ण वीतराग और कैवल्यसंपन्न परमसद्गुरु श्रीजिनतीर्थंकर आदिमें ही घटता है। तथापि छट्ठे गुणस्थानमें रहनेवाला मुनि, जो सम्पूर्ण वीतराग और कैवल्यदशाका उपासक है, जिसकी उस दशाके लिये ही प्रवृत्ति-पुरुषार्थ-रहता है; जिसने उस दशाको यद्यपि सम्पूर्ण रूपसे नहीं पाया, फिर भी जिसने उस सम्पूर्ण दशाके पानेके मार्गसाधनको, परम सद्गुरु श्रीतीर्थंकर आदि आप्तपुरुषके आश्रय-वचनसे जाना है—उसकी प्रतीति की है, अनुभव किया है; और इस मार्ग-साधनकी उपासनासे जिसकी वह उत्तरोत्तर दशा विशेष प्रगट होती जाती है, तथा जिसके निमित्तसे श्रीजिनतीर्थंकर आदि परम सद्गुरुकी और उनके स्वरूपकी पहिचान होती है—उस सद्गुरुमें भी मार्गोपदेशकत्व अविरोधरूपसे रहता है।

उससे नीचेके पाँचवें और चौथे गुणस्थानकमें तो मार्गोपदेशकत्व संभव ही नहीं। क्योंकि वहाँ मार्गकी, आत्माकी, तत्त्वकी और ज्ञानकी पहिचान नहीं, प्रतीति नहीं, तथा सम्यक्विरति नहीं; और यह पहिचान—प्रतीति—और सम्यक्विरति न होनेपर भी उसकी प्ररूपणा करना, उपदेशक होना, यह प्रगट मिथ्यात्व, कुगुरुपना और मार्गका विरोधरूप है।

चौथे पाँचवें गुणस्थानमें यह पहिचान-प्रतीति-रहती है, और वहाँ आत्मज्ञान आदि गुण अंशसे ही रहते हैं; और पाँचवेंमें देशविरतिभावको लेकर यद्यपि चौथेकी अपेक्षा विशेषता है, तथापि वहाँ सर्वविरतिके जितनी विशुद्धि नहीं है।

आत्मज्ञान समदर्शिता आदि जो लक्षण बताये हैं, उन्हें मुख्यतासे संयतिधर्ममें स्थित, वीतराग-दशाके साधक, उपदेशक गुणस्थानमें रहनेवाले सद्गुरुको लक्ष करके ही बताया है; और उनमें वे गुण बहुत अंशोंसे रहते भी हैं। तथापि ये लक्षण सर्वांशसे-संपूर्णरूपसे-तो तेरहवें गुणस्थानमें रहनेवाले सम्पूर्ण वीतराग और कैवल्यसंपन्न जीवन्मुक्त सयोगकेवली परमसद्गुरु श्रीजिन अरहंत तीर्थंकरमें ही रहते हैं। क्योंकि उनमें आत्मज्ञान अर्थात् स्वरूपस्थिति संपूर्णरूपसे रहती है, जो उनकी ज्ञानदशा अर्थात् ज्ञानातिशयको सूचन करता है। तथा उनमें समदर्शिता सम्पूर्णरूपसे रहती है, जो उनकी वीतराग चारित्रदशा अर्थात् अपायागमातिशयको सूचित करता है। तथा वे सम्पूर्णरूपसे इच्छारहित हैं इसलिये उनकी विचरने आदिकी दैहिक आदि योगक्रियायें पूर्वप्रारब्धका वेदन करनेके लिये पर्याप्त ही हैं,

७६४ बम्बई, आषाढ सुदी ११ गुरु. १९५२

ॐ

अनंत अंतराय होनेपर भी धीर रहकर जिस पुरुषने अपार मोहजालको पार किया, उन श्री भगवान्को नमस्कार है !

अनंतकालसे जो ज्ञान संसारका हेतु होता था, उस ज्ञानको एक समयमात्रमें जात्यंतर करके, जिसने उसे भवनिवृत्तिरूप किया, उस कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शनको नमस्कार है !

निवृत्तियोगमें सत्समागमकी वृत्ति रखना योग्य है।

---

७६५ मोहमयी, श्रावण सुदी १५ सोम. १९५२

१. मोक्षमार्गप्रकाश ग्रंथके विचारनेके बाद कर्मग्रंथ विचारनेसे अनुकूल पड़ेगा।

२. दिगम्बर सम्प्रदायमें द्रव्यमनको आठ पांखडीका कहा है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें उस बातकी विशेष चर्चा नहीं की। योगशास्त्रमें उसके अनेक प्रसंग हैं। समागममें उसका स्वरूप जानना सुगम हो सकता है।

---

७६६ कविठा, श्रावण वदी १२ शनि. १९५२

ॐ नमः

तुमने अपनी वृत्ति हालमें समागममें आनेके संबंधमें प्रगट की, उसमें तुम्हें अंतराय जैसा हुआ; क्योंकि इस पत्रके पहुँचनेके पहिले ही लोगोंमें पर्यूषणका प्रारंभ हुआ समझा जायगा। इस कारण तुम यदि इस ओर आओ, तो गुण-अवगुणका विचार किये विना ही मताग्रही लोग निंदा करेंगे, और उस निमित्तको ग्रहण कर, वे बहुतसे जीवोंको उस निन्दाद्वारा, परमार्थकी प्राप्ति होनेमें अंतराय उत्पन्न करेंगे। इस कारण जिससे वैसा न हो उसके लिये, तुम्हें हालमें तो पर्यूषणमें बाहर न निकलनेरूप लोकपद्धतिकी ही रक्षा करना चाहिये।

वैराग्यशतक, आनंदघनचौबीसी, भावनाबोध आदि पुस्तकोंका जितना बाँचना विचारना बने, उतना निवृत्तिका लाभ लेना। प्रमाद और लोकपद्धतिमें ही कालको सर्वथा वृथा गुमा देना यह मुमुक्षु जीवका लक्षण नहीं।

(२)

(१) सत्पुरुष अन्याय नहीं करते। सत्पुरुष यदि अन्याय करें तो इस जगत्में वर्षा किसके लिये पड़ेगी ? सूर्य किसके लिये प्रकाशित होगा ? वायु किसके लिये बहेगी ?

(२) आत्मा कैसी अपूर्व वस्तु है ! जबतक वह शरीरमें रहती है—भले ही वह हजारों वर्ष रहे—तबतक शरीर नहीं सड़ता। आत्मा पारेके समान है। चेतन निकल जाता है और शरीर शव हो जाता है, और वह सड़ने लगता है !

(३) जीवमें जागृति और पुरुषार्थ चाहिये। कर्मबंध पड़नेके बाद उसमेंसे (उदयमें आनेके पहिले) छूटना हो तो अबाधाकाल पूर्ण होनेतक छूटा जा सकता है।

ना क्षय हो गई, और मैं निरोग हो गया। माता, पिता, स्वजन, बांधव आदिको पूँछकर प्रभातमें महाक्षमावंत इन्द्रियोंका निग्रह करनेवाले, और आरम्भोपाधिसे रहित अनगारपनेको धारण किया।

७ अनाथी मुनि

(३)

हे श्रेणिक राजा ! तबसे मैं आत्मा-परात्माका नाथ हुआ। अब मैं सब प्रकारके जीवोंका नाथ । तुझे जो शंका हुई थी वह अब दूर हो गई होगी। इस प्रकार समस्त जगत्–चक्रवर्ती पर्यंत–शरण और अनाथ है। जहाँ उपाधि है वहाँ अनाथता है। इस लिये जो मैं कहता हूँ उस कथनका मनन करना। निश्चय मानो कि अपनी आत्मा ही दुःखकी भरी हुई वैतरणीका कर्ता है; अपना आत्मा ही क्रूर शाल्मलि वृक्षके दुःखका उपजाने वाला है; अपना आत्मा ही वांछित वस्तुरूपी फलको देनेवाला कामधेनु-सुखका उपजानेवाला है; अपना आत्मा ही नंदनवनके समान आनंदकारी है; अपना आत्मा ही कर्मका करनेवाला है; अपना आत्मा ही उस कर्मका टालनेवाला है; अपना आत्मा ही दुखोपार्जन और अपना आत्मा ही और सुखोपार्जन करनेवाला है; अपना आत्मा ही मित्र, और अपना आत्मा ही वैरी है; अपना आत्मा ही कनिष्ठ आचारमें स्थित, और अपना आत्मा ही निर्मल आचारमें स्थित रहता है।

इस प्रकार श्रेणिकको उस अनाथी मुनिने आत्माके प्रकाश करनेवाले उपदेशको दिया। श्रेणिक राजाको बहुत संतोष हुआ। वह दोनों हाथोंको जोड़ कर इस प्रकार बोला—" हे भगवन् ! आपने मुझे भली भाँति उपदेश किया, आपने यथार्थ अनाथपना कह बताया। महर्षि ! आप सनाथ, आप सबांधव और आप सधर्म हैं। आप सब अनाथोंके नाथ हैं। हे पवित्र संयति ! मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ। आपकी ज्ञानपूर्ण शिक्षासे मुझे लाभ हुआ है। हे महाभाग्यवन्त ! धर्मध्यानमें विघ्न करनेवाले भोगोंके भोगनेका मैंने आपको जो आमंत्रण दिया, इस अपने अपराधकी मस्तक नमाकर मैं क्षमा माँगता हूँ।" इस प्रकारसे स्तुति करके राजपुरुषकेसरी श्रेणिक विनयसे प्रदक्षिणा करके अपने स्थानको गया।

महातपोधन, महामुनि, महाप्रज्ञावंत, महायशवंत, महानिर्ग्रंथ और महाश्रुत अनाथी मुनिने मगध देशके श्रेणिक राजाको अपने बीते हुए चरित्रसे जो उपदेश दिया है, वह सचमुच अशरण भावना सिद्ध करता है। महामुनि अनाथीसे भोगी हुई वेदनाके समान अथवा इससे भी अत्यन्त विशेष वेदनाको अनंत आत्माओंको भोगते हुए हम देखते हैं, यह कैसा विचारणीय है ! संसारमें अशरणता और अनंत अनाथता छाई हुई है। उसका त्याग उत्तम तत्त्वज्ञान और परम शीलके सेवन करनेसे ही होता है। यही मुक्तिका कारण है। जैसे संसारमें रहता हुआ अनाथी अनाथ था उसी तरह प्रत्येक आत्मा तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके बिना सदैव अनाथ ही है। सनाथ होनेके लिये सदेव, सद्धर्म और सद्गुरुको जानना और पहचानना आवश्यक है।

८ सद्देवतत्त्व

तीन तत्त्वोंको हमें अवश्य जानना चाहिये। जब तक इन तत्त्वोंके संबंधमें अज्ञानता रहती है तब तक आत्माका हित नहीं होता। ये तीन तत्त्व सद्देव, सद्धर्म, और सद्गुरु हैं। इस पाठमें हम सद्देवका स्वरूप संक्षेपमें कहेंगे।

चक्रवर्ती राजाधिराज अथवा राजपुत्र होनेपर भी जो संसारको एकांत अनंत शोकका कारण मानकर उसका त्याग करते हैं; जो पूर्ण दया, शांति, क्षमा, वीतरागता और आत्म-समृद्धिसे त्रिविध तापका लय करते हैं; जो महा उग्र तप और ध्यानके द्वारा आत्म-विशोधन करके कर्मोंके समूहको जला डालते हैं; जिन्हें चंद्र और शंखसे भी अत्यंत उज्ज्वल शुक्लध्यान प्राप्त होता है; जो सब प्रकारकी निद्राका क्षय करते हैं; जो संसारमें मुख्य गिने जानेवाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय इन चार कर्मोंको भस्मीभूत करके केवलज्ञान और केवलदर्शन सहित अपने स्वरूपसे विहार करते हैं; जो चार अघाती कर्मोंके रहने तक यथाख्यातचारित्ररूप उत्तम शीलका सेवन करते हैं; जो कर्म-ग्रीष्मसे अकुलाते हुए पामर प्राणियोंको परमशांति प्राप्त करानेके लिये शुद्ध सारभूत तत्त्वका निष्कारण करुणासे मेघधारावाणीसे उपदेश करते हैं; जिनके किसी भी समय किंचित् मात्र भी संसारी वैभव विलासका स्वप्नांश भी बाकी नहीं रहा; जो घनघाति कर्म क्षय करनेके पहले अपनी छद्मस्थता जानकर श्रीमुख-वाणीसे उपदेश नहीं करते; जो पाँच प्रकारका अंतराय, हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, शोक, मिथ्यात्व, अज्ञान, अप्रत्याख्यान, राग, द्वेष, निद्रा, और काम इन अठारह दूषणोंसे रहित हैं; जो सच्चिदानन्द स्वरूपसे विराजमान हैं; जिनके महाउद्योतकर बारह गुण प्रगट होते हैं; जिनके जन्म, मरण और अनंत संसार नष्ट हो गया है; उनको निर्ग्रंथ आगममें सदेव कहा है। इन दोषोंसे रहित शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त करनेके कारण वे पूजनीय परमेश्वर कहे जाने योग्य हैं। ऊपर कहे हुए अठारह दोषोंमेंसे यदि एक भी दोष हो तो सदेवका स्वरूप नहीं घटता। इस परमतत्त्वको महान् पुरुषोंसे विशेषरूपसे जानना आवश्यक है।

९. सद्धर्मतत्त्व

अनादि कालसे कर्म-जालके बंधनमें यह आत्मा संसारमें भटका करता है। क्षण मात्र भी उसे सच्चा सुख नहीं मिलता। यह अधोगतिका सेवन किया करता है। अधोगतिमें पड़ती हुई आत्माको रोककर जो सद्गतिमें ले जाता है उसका नाम धर्म कहा जाता है, और यही सत्य सुखका उपाय है। इस धर्म तत्त्वके सर्वज्ञ भगवान्ने भिन्न भिन्न भेद कहे हैं। उनमें मुख्य भेद दो हैं:—व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म।

व्यवहारधर्ममें दया मुख्य है। सत्य आदि बाकीके चार महाव्रत भी दयाकी रक्षाके लिये हैं। दयाके आठ भेद हैं —द्रव्यदया, भावदया, स्वदया, परदया, स्वरूपदया, अनुबंधदया, व्यवहारदया, निश्चयदया।

प्रथम द्रव्यदया—प्रत्येक कामको यत्नपूर्वक जीवोंकी रक्षा करके करना 'द्रव्यदया' है।

दूसरी भावदया—दूसरे जीवको दुर्गतिमें जाते देखकर अनुकंपा बुद्धिसे उपदेश देना 'भावदया' है।

तीसरी स्वदया—यह आत्मा अनादि कालसे मिथ्यात्वसे ग्रसित है, तत्त्वको नहीं पाता, जिनाज्ञा नहीं पाल सकता, इस प्रकार चिन्तन कर धर्ममें प्रवेश करना 'स्वदया' है।

चौथी परदया—छह कायके जीवोंकी रक्षा करना 'परदया' है।

पाँचवीं स्वरूपदया—सूक्ष्म विवेकसे स्वरूप विचार करना 'स्वरूपदया' है।

छठी अनुबंधदया—सद्गुरु अथवा सुशिक्षकका शिष्यको कड़वे वचनोंसे उपदेश देना, यद्यपि यह देखनेमें अयोग्य लगता है, परन्तु परिणाममें करुणाका कारण है—इसका नाम 'अनुबंधदया' है।

(४) पुण्य पाप और आयु ये एक दूसरेको नहीं दिये जा सकते। उन्हें हरेक अपने आप ही भोगता है।

(५) स्वच्छंदसे, अपनी मतिकी कल्पनासे और सद्गुरुकी आज्ञाके बिना ध्यान करना तरंग-रूप है, और उपदेश व्याख्यान करना अभिमानरूप है।

(६) देहधारी आत्मा पथिक है, और देह वृक्ष है। इस देहरूपी वृक्षमें (वृक्षके नीचे) जीवरूपी पथिक—रास्तागिर—विश्रान्ति लेने बैठा है। वह पथिक यदि वृक्षको ही अपना मानने लगे तो यह कैसे बन सकता है!

(७) सुंदरविलास सुंदर—श्रेष्ठ—ग्रंथ है। उसमें जहाँ कहीं कमी—भूल—है उसे हम जानते हैं। उस कमीको दूसरेको समझाना मुश्किल है। उपदेशके लिये यह ग्रन्थ उपकारी है।

(८) छह दर्शनोंके ऊपर दृष्टान्तः—छह भिन्न भिन्न वैद्योंकी दुकान लगी है। उनमें एक वैद्य सम्पूर्ण सच्चा है; और वह सब रोगोंको, उनके कारणोंको और उनके दूर करनेके उपायोंको जानता है। तथा उसकी निदान-चिकित्सा सच्ची होनेसे रोगीका रोग निर्मूल हो जाता है। वैद्य कमाता भी अच्छा है। यह देखकर दूसरे पाँच कुवैद्य भी अपनी अपनी दुकान खोलते हैं। परन्तु वहाँतक उनके पास सच्चे वैद्यके घरकी दवा होती है, वहाँतक तो वे रोगीका रोग दूर करते हैं; और जब वे अपनी अन्य किसी कल्पनासे अपने घरकी दवा देते हैं, तो उससे उल्टा रोग बढ़ जाता है। तथा वे सस्ती दवा देते हैं, इससे लोभके मारे लोग उसे लेनेके लिये बहुत ललचाते हैं, परन्तु उससे उन्हें उल्टा नुकसान ही होता है।

इसका उपनय यह है कि सच्चा वैद्य वीतरागदर्शन है; जो सम्पूर्ण सत्यस्वरूप है। वह मोहविषय आदिको राग-द्वेषको और हिंसा आदिको सम्पूर्णरूपसे दूर करनेके लिये कहता है; जो बात पराधीन रोगीको मँहगी पड़ती है—अच्छी नहीं लगती। तथा जो अन्य पाँच कुवैद्य हैं, वे कुदर्शन हैं। वे वहाँतक वीतरागके घरकी बातें करते हैं, वहाँतक तो उनकी रोग दूर करनेकी बात ठीक है; परन्तु साथ साथ वे जो हिंसा आदि धर्मके बहाने, मोहकी संसार-वृद्धिकी और मिथ्यात्वकी बातें करते हैं, वह उनकी अपनी निजी कल्पनाकी ही बात है; और वह संसाररूप रोग दूर करनेके बदले उसकी वृद्धिका ही कारण होती है। विषयमें रचे-पचे पामर संसारीको मोहकी बातें मीठी लगती हैं—सस्ती पड़ती हैं; इसलिये वह कुवैद्यकी तरफ आकर्षित होता है; परन्तु परिणाममें वह अधिक ही रोगी पड़ता है।

वीतरागदर्शन त्रिवैद्यके समान हैः—वह रोगीको दूर करता है, निरोगीको रोग होनेके लिये दवा देता नहीं, और आरोग्यकी पुष्टि करता है। अर्थात् वह जीवका सम्यग्दर्शनसे मिथ्यात्व दूर करता है, सम्यग्ज्ञानसे जीवको रोगका भोग होनेसे बचाता है, और सम्यक्चारित्रसे सम्पूर्ण शुद्ध चैतन्यरूप आरोग्यकी पुष्टि करता है।

---

७६७ वसो (गुजरात), प्रथम आसोज सुदी ६ बुध. १९५४

१. श्रीमद् वीतराग भगवंतोंका निश्चित किया हुआ अचिन्त्य चिन्तामणिस्वरूप, परम हित-

३२वाँ वर्ष

७८५

बम्बई, कार्तिक १९५५

ॐ नमः

(१)

संयम

(२)

आप्ततत्ता. गुरुकत्ता. आत्मस्वरूप.

(३)

सर्वज्ञोपदिष्ट आत्माको सद्गुरुकी कृपासे जानकर, निरंतर उसके ध्यानके लिये विचरना; संयम तपपूर्वक:—

(४)

अहो ! सर्वोत्कृष्ट शांतरसमय सन्मार्ग—

अहो ! उस सर्वोत्कृष्ट शांतरसप्रधान मार्गके मूल सर्वज्ञदेव—

अहो ! उस सर्वोत्कृष्ट शांतरसको जिसने सुप्रतीति कराई ऐसे परम कृपालु सद्गुरुदेव—

इस विश्वमें सर्वकाल तुम जयवंत वर्तो, जयवंत वर्तो ।

७८६

ईडर, मंगसिर सुदी १४ सोम. १९५५

ॐ नमः

जैसे बने वैसे वीतरागश्रुतका विशेष अनुप्रेक्षण (चिन्तवन) करना चाहिये । प्रमाद परम रिपु है—यह वचन जिसे सम्यक् निश्चित हो गया है, वे पुरुष कृतकृत्य होनेतक निर्भयतासे आचरण करनेके स्वप्नकी भी इच्छा नहीं करते । रायचन्द्र.

७८७

ईडर, मंगसिर वदी ४ शनि. १९५५

ॐ नमः

तुम्हें जो समाधानविशेषकी जिज्ञासा है, वह किसी निवृत्तियोगमें पूर्ण हो सकती है ।

जिज्ञासाबल, विचारबल, वैराग्यबल, ध्यानबल और ज्ञानबल वर्धमान होनेके लिये, आत्मार्थी जीवको तथारूप ज्ञानीपुरुषके सत्समागमकी विशेष करके उपासना करनी योग्य है ।

उसमें भी वर्तमानकालके जीवोंको उस बलकी दृढ़ छाप पड़नेके लिये अनेक अन्तराय देखनेमें आते हैं। इससे तथारूप शुद्ध जिज्ञासुवृत्तिसे दीर्घकालपर्यंत सत्समागमकी उपासना करनेकी आवश्यकता रहती है । सत्समागमके अभावमें वीतरागश्रुतकी परम शान्तरस-प्रतिपादक वीतरागवचनोंकी-अनुप्रेक्षा-बारंबार करनी चाहिये । चित्तकी स्थिरताके लिये वह परम औषध है ।

१२

कारी, परम अद्भुत, सर्व दुःखोंका निःसंशय आत्यंतिक क्षय करनेवाला, परम अमृतस्वरूप ऐसा सर्वोत्कृष्ट शाश्वत धर्म जयवंत वर्तो, त्रिकाल जयवंत वर्तो!

२. उन श्रीमत् अनंत चतुष्टयस्थित भगवंतका और उस जयवंत धर्मका आश्रय करना चाहिये। जिन्हें दूसरी कोई सामर्थ्य नहीं, ऐसे अबुध और अशक्त मनुष्योंने भी उस आश्रयके बलसे परम सुखके हेतु अद्भुत फलको पाया है, पाते हैं और पायेंगे। इसलिये उसका निश्चय और आश्रय अवश्य ही करना चाहिये, अधीरजसे खेद नहीं करना चाहिये।

३. चित्तमें देह आदि भयका विक्षेप भी करना उचित नहीं। जो पुरुष देहसंबंधी हर्ष-विषाद नहीं करते, वे पुरुष पूर्ण द्वादशांगको संक्षेपमें समझे हैं—ऐसा समझो। यही दृष्टि कर्त्तव्य है।

४. 'मैंने धर्म पाया नहीं, मैं धर्म कैसे पाऊँगा?' इत्यादि खेद न करते हुए, वीतराग-पुरुषोंका धर्म देहादिसंबंधी हर्ष-विषाद वृत्तिको दूरकर, 'आत्मा असंग शुद्ध चैतन्यस्वरूप है,' ऐसी जो वृत्ति है उसका निश्चय और आश्रय ग्रहण कर, उसी वृत्तिका बल रखना; और जहाँ मंद वृत्ति होती हो वहाँ वीतरागपुरुषोंकी दशाका स्मरण करना, और उस अद्भुत चरित्रपर दृष्टि प्रेरित कर वृत्तिको अप्रमत्त करना, यह सुगम और सर्वोत्कृष्ट उपकारक तथा कल्याणस्वरूप है। निर्विकल्प.

---

७६८ श्रीवसो, आसोज सुदी ७, १९५१

*७—१२—५४

३१—११—२२

इस तरह काल व्यतीत होने देना योग्य नहीं। प्रत्येक समय आत्मोपयोगको उपकारी हो, इस तरह निवृत्ति होने देना उचित है।

अहो इस देहकी रचना! अहो चेतन! अहो उसकी सामर्थ्य! अहो ज्ञानी! अहो उनकी गवेषणा! अहो उनका ध्यान! अहो उनकी समाधि! अहो उनका संयम! अहो उनका अप्रमत्त भाव! अहो उनकी परम जागृति! अहो उनका वीतरागस्वभाव! अहो उनका निरावरण ज्ञान! अहो उनके योगकी शांति! अहो वचन आदि योगका उदय!

हे आत्मन्! यह सब तुझे सुप्रतीत हो गया, फिर अप्रमत्तभाव क्यों? मंद प्रयत्न क्यों? जघन्य-मंद जागृति क्यों? शिथिलता क्यों? घबराहट क्यों? अंतरायका हेतु क्या?

अप्रमत्त हो, अप्रमत्त हो।

परम जाग्रत स्वभावको भज, परम जाग्रत स्वभावको भज।

---

*७-१२ ५४ अर्थात् ७वाँ दिन १२वाँ मास और ५४वाँ साल—अर्थात् आसोज सुदी ७, संवत् १९५१ तथा ३१-११-२२ अर्थात् ३१वाँ दिन ११वाँ मास और २२वाँ दिन—अर्थात् आसोज सुदी ७, संवत् १९५१ के दिन श्रीमद् राजचन्द्र ३१ वर्ष ११ मास और २२ दिनके थे। —अनुवादक.

७८८ ईडर, मंगसिर वदी १५ गुरुवारको सबेरे,१९५५

ॐ नमः

वनस्पतिसंबंधी त्यागमें, अमुक दससे पाँच वनस्पतियोंकी हालमें छूट रखकर, बाकीकी दूसरी वनस्पतियोंसे विरक्त होनेसे आज्ञाका अतिक्रम नहीं।

सदेव, सद्गुरु, सत्शास्त्रकी भक्ति अप्रमत्तरूपसे उपासनीय है। श्री ॐ.

७८९

मैं प्रत्यक्ष निज अनुभवस्वरूप हूँ, इसमें संशय ही क्या?

उस अनुभवमें जो विशेषविषयक न्यूनाधिकता होती है, वह यदि दूर हो जाय तो केवल अखंडाकार स्वानुभव स्थिति रहे।

अप्रमत्त उपयोगमें वैसा हो सकता है।

अप्रमत्त उपयोग होनेके हेतु सुप्रतीत हैं। उस तरह वर्त्तन किया जाता है, यह प्रत्यक्ष सुप्रतीत है।

वैसी अविच्छिन्न धारा रहे, तो अद्भुत अनंत ज्ञानस्वरूप अनुभव सुस्पष्ट समवस्थित रहे।

७९० ईडर, पौष सुदी १५ गुरु. १९५५

ॐ

(१) वर्षोंमें ग्रहण किये हुए नियमानुसार·······को हरियालीमें विरतिभावसे आचरण करना चाहिये। दो श्लोकोंके याद करनेके नियमको शारीरिक उपद्रवविशेषके बिना हमेशा निबाहना चाहिये। गेहूँ और घीको शारीरिक हेतुसे ग्रहण करनेमें आज्ञाका अतिक्रम नहीं।

(२) यदि कुछ दोष लग गया हो तो उसका प्रायश्चित्त श्री ·······मुनि आदिके समीप लेना योग्य है।

(३) मुमुक्षुओंको उन मुनियोंके समीप नियमादिका ग्रहण करना चाहिये।

७९१

प्रवृत्तिके कार्योंके प्रति विरति।

संग और स्नेह-पाशको तोड़ना (अतिशय कठिन होते हुए भी उसे तोड़ना, क्योंकि दूसरा कोई उपाय नहीं है)।

आशंका:—जो अपनेपर स्नेह रखता है, उसके प्रति ऐसी क्रूर दृष्टिसे वर्तन करना, क्या यह कृतघ्नता अथवा निर्दयता नहीं है?

समाधान:—

७९२ मोरबी, माघ वदी ९, सोम. (रात) १९५५

कर्मकी मूल प्रकृतियाँ आठ हैं। उनमें चार घातिकी और और चार अघातिकी कही जाती हैं।

७७१

स्वपर परमोपकारक परमार्थमय सत्यधर्म जयवंत वर्त्तो.

आश्चर्यकारक भेद पड़ गये हैं।

खंडित है।

सम्पूर्ण करनेके साधन कठिन माळूम होते हैं।

उस प्रभावमें महान् अंतराय हैं।

देश-काल आदि बहुत प्रतिकूल हैं।

वीतरागोंका मत लोक-प्रतिकूल हो गया है।

रूढ़ीसे जो लोग उसे मानते हैं, उनके लक्षमें भी वह प्रतीत माळूम नहीं होता; अथवा अन्यमतको ही वीतरागोंका मत समझकर प्रवृत्ति करते हैं।

यथार्थ वीतरागोंके मत समझनेकी उनमें योग्यताकी बहुत कमी है।

दृष्टिरागका प्रबल राज्य विद्यमान है।

वेष आदि व्यवहारमें बड़ी विडम्बना कर जीव मोक्षमार्गका अन्तराय कर बैठा है।

तुच्छ पामर पुरुष विराधक वृत्तिके बहुत अग्रभागमें रहते हैं।

किंचित् सत्य बाहर आते हुए भी उन्हें प्राणोंके घात होनेके समान दुःख माळूम होता है ऐसा दिखाई देता है।

७७२

फिर तुम किसलिये उस धर्मका उद्धार करना चाहते हो?

परम कारुण्य-स्वभावसे. उस सद्धर्मके प्रति परम भक्तिसे.

७७३

परानुग्रह परमकारुण्यवृत्ति करते हुए भी प्रथम चैतन्यजिनप्रतिमा हो, चैतन्यजिनप्रतिमा हो।

क्या वैसा काल है? उसमें निर्विकल्प हो।

क्या वैसा क्षेत्र योग है? खोजकर।

क्या वैसा पराक्रम है? अप्रमत्त शूरवीर बन।

क्या उतना आयुबल है? क्या लिखें? क्या कहें? अन्तर्मुख उपयोग करके देख।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः.

७७४

हे काम! हे मान! हे संगउदय!

हे वचनवर्गणा! हे मोह! हे मोहदया!

७९५ ववाणीआ, फाल्गुन वदी १५, १९५५

×चरमावर्त्त हो चरमकरण तथा, भवपरिणति परिपाक रे ।
दोष टळे ने दृष्टि खुले भली, प्रापति प्रवचनवाक रे ॥ १ ॥
परिचय पातिकघातक साधुशुं, अकुशल अपचय चेत रे ।
ग्रंथ अध्यातम श्रवण मनन करी, परिशीलन नय हेत रे ॥ २ ॥
मुग्ध सुगम करी सेवन लेखवे, सेवन अगम अनूप रे ।
देजो कदाचित सेवक याचना, आनंदघनरसरूप रे ॥ ३ ॥

संभवजिन-स्तवन —आनंदघन.

---

७९६ ववाणीआ, चैत्र सुदी १, १९५५

उवसंतखीणमोहो, मग्गे जिणभासिदेण समुवगदो ।
णाणाणुमग्गचारी, निव्वाणपुरं वज्जदि धीरो ॥

—जिसका दर्शनमोह उपशांत अथवा क्षीण हो गया है, ऐसा धीर पुरुष वीतरागोंद्वारा प्रदर्शित मार्गको अंगीकार कर, शुद्ध चैतन्यस्वभाव परिणामी होकर मोक्षपुरीको जाता है।

---

७९७ ववाणीआ, चैत्र सुदी ५, १९५५

ॐ. द्रव्यानुयोग परम गंभीर और सूक्ष्म है, निर्ग्रन्थ प्रवचनका रहस्य है, और शुक्लध्यानका अनन्य कारण है। शुक्लध्यानसे केवलज्ञान समुत्पन्न होता है। महाभाग्यसे ही उस द्रव्यानुयोगकी प्राप्ति होती है।

दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे अथवा नाश होनेसे, विषयोंके प्रति उदासीनतासे, और महान् पुरुषोंके चरण-कमलकी उपासनाके बलसे द्रव्यानुयोग फल देता है।

ज्यों ज्यों संयम वर्धमान होता है, त्यों त्यों द्रव्यानुयोग यथार्थ फल देता है। संयमकी वृद्धिका कारण सम्यग्दर्शनकी निर्मलता है। उसका कारण भी द्रव्यानुयोग होता है।

सामान्यरूपसे द्रव्यानुयोगकी योग्यता प्राप्त करना दुर्लभ है। आत्माराम-परिणामी, परम वीतराग-दृष्टिवंत और परमअसग ऐसे महात्मा पुरुष उसके मुख्य पात्र हैं।

×उसे (जिसे अभय और अखेद प्राप्त हो गये हैं) संसारमें भ्रमण करनेका अन्तिम फेरा ही बाकी रह जाता है, उसे अन्तिम अपूर्व और अनिवृत्ति नामके करण होते हैं, और उसकी भव-परिणतिका परिपाक हो जाता है। उसी समय दोष दूर होते हैं, उत्तम दृष्टि प्रकट होती है, तथा प्रवचन-वाणीकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

पापोंका नाश करनेवाले साधुओंका परिचय करनेसे चित्तके अकुशलभावका नाश होता है। तथा ऐसा होनेसे अध्यात्मग्रंथोंके श्रवण मननसे, नयोंका विचार करते हुए भगवान्के स्वरूपके साथ अपने आत्मस्वरूपकी समस्त प्रकारसे सदृशता होकर निजस्वरूपकी प्राप्ति होती है ॥ २ ॥

भोले लोग भगवान्की सेवाको सुगम समझकर उसका सेवन करते हैं, परन्तु वह सेवा तो अगम और अनुपम है। इसलिये हे आनंदघनरसरूप प्रभु! इस सेवकको भी कभी वह सेवा प्रदान करना! *यही याचना है* ॥ ३ ॥

हे शिथिलता! तुम क्यों अंतराय करती हो?

परम अनुग्रह कर अब अनुकूल हो! अनुकूल हो!

७७५

हे सर्वोत्कृष्ट सुखके हेतुभूत सम्यग्दर्शन! तुझे अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो!

इस अनादि अनंत संसारमें अनंतानंत जीव तेरे आश्रय विना अनंतानंत दुःखका अनुभव करते हैं।

तेरे परम अनुग्रहसे निजस्वरूपमें रुचि होकर, परम वीतराग स्वभावके प्रति परम निश्चय हुआ, कृतकृत्य होनेका मार्ग ग्रहण हुआ।

हे जिनवीतराग! तुम्हें अत्यंत भक्तिसे नमस्कार करता हूँ। तुमने इस पामरके प्रति अनंतानंत उपकार किया है।

हे कुंदकुंद आदि आचार्यो! तुम्हारे वचन भी निजस्वरूपकी खोज करनेमें इस पामरको परम उपकारी हुए हैं, इसलिये मैं तुम्हें अतिशय भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

हे श्रीसोभाग! तेरे सत्समागमके अनुग्रहसे आत्मदशाका स्मरण हुआ, इसलिये मैं तुझे नमस्कार करता हूँ।

७७६

जिस तरह भगवान् जिनने पदार्थोंका स्वरूप निरूपण किया है, उसी तरह सब पदार्थोंका स्वरूप है। भगवान् जिनके उपदेश किये हुए आत्माके समाधिमार्गको श्रीगुरुके अनुग्रहसे जानकर, उसकी परम प्रयत्नसे उपासना करो।

७७७

श्रीवसो, आसोज १९५४

(१)

ॐ

ठाणांगसूत्रमें नीचे बताया हुआ सूत्र क्या उपकार होनेके लिये लिखा है, उसका विचार करो।

***एगे समणे भगवं महावीरे इमीसेणं (इमीए) ओसप्पिणीए चउव्वीसाए तित्थयराणं चरिमतित्थयरे सिद्धे बुद्धे मुत्ते परिनिव्वुडे (जाव) सव्वदुक्खप्पहीणे।**

(२)

काल कराल! इस अवसर्पिणी कालमें चौबीस तीर्थंकर हुए। उनमें अन्तिम तीर्थंकर श्रमण भगवान्महावीर दीक्षित भी अकेले हुए! उन्होंने सिद्धि भी अकेले ही पाई! परन्तु उनका भी प्रथम उपदेश निष्फल गया!

---

* श्रमण भगवान्महावीर एक हैं। वे इस अवसर्पिणी कालमें चौबीस तीर्थंकरोंमें अन्तिम तीर्थंकर हैं; वे सिद्ध हैं, बुद्ध हैं, मुक्त हैं, परिनिर्वृत हैं और उनके सर्व दुःख परिक्षीण हो गये हैं।—अनुवादक.

किसी महत्पुरुषके मननके लिये पंचास्तिकायका संक्षिप्त स्वरूप लिखा था, उसे मनन करनेके लिये इसके साथ भेजा है।

हे आर्य! द्रव्यानुयोगका फल सर्वभावसे विराम पानेरूप संयम है—इस पुरुषके इस वचनको तू कभी भी अपने अंतःकरणमें शिथिल न करना। अधिक क्या? समाधिका रहस्य यही है। सर्व दुःखोंसे मुक्त होनेका उपाय यही है।

७९८

ववाणीआ, चैत्र वदी २ गुरु. १९५५

हे आर्य! जैसे रेगिस्तान उतर कर पार हुए, उसी तरह भव-स्वयंभूरमणको तैर कर पार होओ!

७९९

स्वपर उपकारके महान् कार्यको अब कर ले! शीघ्रतासे कर ले!

अप्रमत्त हो—अप्रमत्त हो!

क्या आर्यपुरुषोंने कालका क्षणभरका भी भरोसा किया है?

हे प्रमाद!! अब तू जा, जा!

हे ब्रह्मचर्य! अब तू प्रसन्न हो, प्रसन्न हो!

हे व्यवहारोदय! अब प्रबलतासे उदय आकर भी तू शांत हो, शांत!

हे दीर्घसूत्रता! तू सुविचारके, धीरजके और गंभीरताके परिणामकी क्यों इच्छा करती है?

हे बोधबीज! तू अत्यंत हस्तामलकवत् प्रवृत्ति कर, प्रवृत्ति कर!

हे ज्ञान! तू अब दुर्गमको भी सुगम स्वभावमें लाकर रख!

हे चारित्र! परम अनुग्रह कर, परम अनुग्रह कर!

हे योग! तुम स्थिर होओ, स्थिर होओ!

हे ध्यान! तू निजस्वभावाकार हो, निजस्वभावाकार हो!

हे व्यग्रता! तू दूर हो जा, दूर हो जा!

हे अल्प अथवा अल्प अल्प कषाय! अब तुम उपशान्त होओ! क्षीण होओ! हमें तुम्हारे प्रति कोई रुचि नहीं रही!

हे सर्वज्ञपद! यथार्थ सुप्रतीतिरूपसे तू हृदयमें प्रवेश कर!

हे असंग निर्ग्रंथपद! तू स्वाभाविक व्यवहाररूप हो!

हे परमकरुणामय सर्व परम हितके मूल वीतरागधर्म! प्रसन्न हो, प्रसन्न!

हे आत्मन्! तू निजस्वभावाकार वृत्तिसे ही अभिमुख हो, अभिमुख हो! ॐ.

हे वचनसमिति! हे कायअचपलता! हे एकांतवास! और असंगता! तुम भी प्रसन्न होओ, प्रसन्न होओ!

खलबली मचाती हुई जो आत्मवीर्यता है, या तो उसका अवश्य ही वेदन कर लेना चाहिये; अथवा उसे [illegible] देकर उसका उपशम कर देना चाहिये।

ज्यों ज्यों निस्पृहता [illegible] हो, त्यों त्यों [illegible] हो सकता है, [illegible] हो सकता है।

७७१

स्वपर परमोपकारक परमार्थमय सत्यधर्म जयवंत वर्त्तो.

आश्चर्यकारक भेद पड़ गये हैं।

खंडित है।

सम्पूर्ण करनेके साधन कठिन माळूम होते हैं।

उस प्रभावमें महान् अंतराय हैं।

देश-काल आदि बहुत प्रतिकूल हैं।

वीतरागोंका मत लोक-प्रतिकूल हो गया है।

रूढ़ीसे जो लोग उसे मानते हैं, उनके लक्षमें भी वह प्रतीत माळूम नहीं होता; अथवा वे अन्यमतको ही वीतरागोंका मत समझकर प्रवृत्ति करते हैं।

यथार्थ वीतरागोंके मत समझनेकी उनमें योग्यताकी बहुत कमी है।

दृष्टिरागका प्रबल राज्य विद्यमान है।

वेष आदि व्यवहारमें बड़ी विडम्बना कर जीव मोक्षमार्गका अन्तराय कर बैठा है।

तुच्छ पामर पुरुष विराधक वृत्तिके बहुत अग्रभागमें रहते हैं।

किंचित् सत्य बाहर आते हुए भी उन्हें प्राणोंके घात होनेके समान दुःख माळूम होता है, ऐसा दिखाई देता है।

७७२

फिर तुम किसलिये उस धर्मका उद्धार करना चाहते हो?

परम कारुण्य-स्वभावसे. उस सद्धर्मके प्रति परम भक्तिसे.

७७३

परानुग्रह परमकारुण्यवृत्ति करते हुए भी प्रथम चैतन्यजिनप्रतिमा हो, चैतन्यजिनप्रतिमा हो.

क्या वैसा काल है? उसमें निर्विकल्प हो।

क्या वैसा क्षेत्र योग है? खोजकर।

क्या वैसा पराक्रम है? अप्रमत्त शूरवीर बन।

क्या उतना आयुबल है? क्या लिखें? क्या कहें? अन्तर्मुख उपयोग करके देख।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः.

७७४

हे काम! हे मान! हे संगउदय!

हे वचनवर्गणा! हे मोह! हे मोहदया!

८००

मोरबी, चैत्र वदी ७, १९

(१) विशेष हो सके तो अच्छा। ज्ञानियोंको सदाचरण भी प्रिय है। विकल्प योग्य नहीं।

(२) 'जातिस्मरण' हो सकता है। पूर्वभव जाना जा सकता है। अवधिज्ञान है।

(३) तिथि पालना चाहिये।

(४) जैसेको तैसा मिलता है; जैसेको तैसा अच्छा लगता है।

* चाहे चकोर ते चंदने, मधुकर मालती भोगी रे।
तिम भवि सहजगुणे होवे, उत्तम निमित्तसंजोगी रे॥

(५) × चरमावर्त हो चरमकरण तथा, भवपरिणति परिपाक रे।
दोष टळे ने दृष्टि खुले अति भली, प्रापति प्रवचनवाक रे॥

८०१

मोरबी, चैत्र वदी ८, १९५

ॐ

(१) षड्दर्शनसमुच्चय और तत्त्वार्थसूत्रका अवलोकन करना। योगदृष्टिसमुच्चय (सज्झा… को मुखाग्र कर विचारना योग्य है। ये दृष्टियाँ आत्मदशा-मापक (थर्मामीटर) यंत्र हैं।

(२) शास्त्रको जाल समझनेवाले भूल करते हैं। शास्त्र अर्थात् शास्ता-पुरुषके वचन। … वचनोंको समझनेके लिये दृष्टि सम्यक् चाहिये। 'मैं ज्ञान हूँ, मैं ब्रह्म हूँ,' ऐसा मान लेनेसे, … चिल्लानेसे, तद्रूप नहीं हो जाते। तद्रूप होनेके लिये सत्शास्त्र आदिका सेवन करना चाहिये।

(३) सदुपदेष्टाकी बहुत जरूरत है। सदुपदेष्टाकी बहुत जरूरत है।

(४) पाँचसौ-हजार श्लोक कंठस्थ कर लेनेसे पंडित नहीं बन जाते। फिर भी थोड़ा जा… कर बहुतका ढोंग करनेवाले पंडितोंका टोटा नहीं है।

+(५) ऋतुको सन्निपात हुआ है।

८०२

मोरबी, चैत्र वदी ९ गुरु. १९५

(१)

ॐ नमः

(१) आत्महित अति दुर्लभ है—ऐसा जानकर विचारवान पुरुष उसकी अप्रमत्तभा… उपासना करते हैं।

(२) आचारांगसूत्रके एक वाक्यके संबंधमें चर्चापत्र आदि देखे हैं। बहुत करके दो… दिनोंमें किसी मुझकी तरफसे उसका समाधान प्रकट होगा। ॐ.

---

* जैसे चकोर चंद्रमाको चाहता है, भ्रमर मालतीको चाहता है; उसी तरह भव्यपुरुष उत्तम गुणोंके संयोग… इच्छा करते हैं।

×अर्थके लिये देखो अंक ७९५।

+संवत् १९५६ में भयकर दुष्काल पड़ा था।—अनुवादक.

हे शिथिलता ! तुम क्यों अंतराय करती हो ?

परम अनुग्रह कर अब अनुकूल हो ! अनुकूल हो !

७७५

हे सर्वोत्कृष्ट सुखके हेतुभूत सम्यग्दर्शन ! तुझे अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो !

इस अनादि अनंत संसारमें अनंतानंत जीव तेरे आश्रय बिना अनंतानंत दुःखका अनुभव करते हैं।

तेरे परम अनुग्रहसे निजस्वरूपमें रुचि होकर, परम वीतराग स्वभावके प्रति परम निश्चय हुआ, कृतकृत्य होनेका मार्ग ग्रहण हुआ।

हे जिनवीतराग ! तुम्हें अत्यंत भक्तिसे नमस्कार करता हूँ। तुमने इस पामरके प्रति अनंतानंत उपकार किया है।

हे कुंदकुंद आदि आचार्यो ! तुम्हारे वचन भी निजस्वरूपकी खोज करनेमें इस पामरको परम उपकारी हुए हैं, इसलिये मैं तुम्हें अतिशय भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

हे श्रीसोभाग ! तेरे सत्समागमके अनुग्रहसे आत्मदशाका स्मरण हुआ, इसलिये मैं तुझे नमस्कार करता हूँ।

७७६

जिस तरह भगवान् जिनने पदार्थोंका स्वरूप निरूपण किया है, उसी तरह सब पदार्थोंका स्वरूप है। भगवान् जिनके उपदेश किये हुए आत्माके समाधिमार्गको श्रीगुरुके अनुग्रहसे जानकर, उसकी परम प्रयत्नसे उपासना करो।

७७७

श्रीवसो, आसोज १९५४

(१)

ॐ

ठाणांगसूत्रमें नीचे बताया हुआ सूत्र क्या उपकार होनेके लिये लिखा है, उसका विचार करो।

***एगे समणे भगवं महावीरे इमीसेणं (इमीए) ओसप्पीणीए चउव्वीसाए तित्थयराणं चरिमतित्थयरे सिद्धे बुद्धे मुत्ते परिनिव्वुडे (जाव) सव्वदुखप्पहीणे।**

(२)

काल कराल ! इस अवसर्पिणी कालमें चौबीस तीर्थंकर हुए। उनमें अन्तिम तीर्थंकर श्रमण भगवान्महावीर दीक्षित भी अकेले हुए ! उन्होंने सिद्धि भी अकेले ही पाई ! परन्तु उनका भी प्रथम उपदेश निष्फल गया !

---

* श्रमण भगवान्महावीर एक हैं। वे इस अवसर्पिणी कालमें चौबीस तीर्थंकरोंमें अन्तिम तीर्थंकर हैं; वे सिद्ध हैं, बुद्ध हैं, मुक्त हैं, परिनिर्वृत हैं और उनके सर्व दुःख परिक्षीण हो गये है।—अनुवादक.

(२)

यदि परमसत्को पीड़ा पहुँचती हो, तो वैसे विशिष्ट प्रसंगके ऊपर देवता लोग रक्षण करते हैं, प्रत्यक्षरूपसे भी आते हैं। परन्तु बहुत ही थोड़े प्रसंगोंपर।

योगी अथवा वैसी विशिष्ट शक्तिवाला उस प्रसंगपर सहायता कर सकता है, परन्तु वह ज्ञानी ही नहीं है।

कितनेको मतिकल्पनासे ऐसा मालूम होता है कि मुझे देवताके दर्शन होते हैं, मेरे पास देवता आता है, मुझे उसका दर्शन होता है; परन्तु देवता इस तरह दिखाई नहीं देते।

८०३

मोरबी, चैत्र वदी १०, १९५५

(१) दूसरेके मनकी पर्याय जानी जा सकती है। परन्तु यदि अपने मनकी पर्याय जानी जा सके, तो दूसरेके मनकी पर्याय जानना सुलभ है। किन्तु अपने मनकी पर्याय जानना भी मुश्किल है। यदि स्वमन समझमें आ जाय तो वह वश हो सकता है। उसके समझनेके लिये सद्विचार और सतत एकाग्र उपयोगकी जरूरत है।

(२) आसनजयसे (स्थिर आसन दृढ़ करनेसे) उत्थानवृत्तिका उपशमन होता है; उपयोग चंचलतारहित हो सकता है; निद्रा कम हो सकती है।

(३) सूर्यके प्रकाशमें जो बारीक बारीक सूक्ष्म रजके समान मालूम होता है, वे अणु नहीं, परन्तु वे अनेक परमाणुओंके बने हुए स्कंध हैं। परमाणु चक्षुसे नहीं देखा जा सकता। वह चक्षु-इन्द्रियलब्धिके प्रबल क्षयोपशमवाले जीव अथवा दूरदेशीलब्धि-संपन्न योगी अथवा केवलीको ही दिखाई पड़ सकता है।

८०४

मोरबी, चैत्र वदी ११, १९५५

१. मोक्षमाला हमने सोलह बरस पाँच मासकी अवस्थामें तीन दिनमें बनाई थी। ६७वें पाठके ऊपर स्याही गिर जानेसे, उस पाठको फिरसे लिखना पड़ा था; और उस स्थानपर 'बहु पुण्यकेरा पुंजथी' इस अमूल्य तात्त्विक विचारका काव्य लिखा था।

२. उसमें जैनमार्गको यथार्थ समझानेका प्रयास किया है। उसमें जिनोक्तमार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक नहीं कहा। जिससे वीतरागमार्गपर आबालवृद्धकी रुचि हो, उसका स्वरूप समझमें आवे, उसके बीजका हृदयमें रोपन हो, इस हेतुसे उसकी बालावबोधरूप योजना की है। उस शैली तथा उस बोधका अनुसरण करनेके लिये यह एक नमूना उपस्थित किया है। इसका प्रज्ञावबोध नामका भाग भिन्न है, उसे कोई बनावेगा।

३. इसके छपनेमें विलम्ब होनेसे ग्राहकोंकी आकुलता दूर करनेके लिये, उसके बाद भावनाबोध रचकर, उसे ग्राहकोंको उपहारस्वरूप दिया था।

उपायसहित समस्त पदोंको, मोक्षप्राप्त जीवको, तथा जीव अजीव आदि सब तत्त्वोंको स्वीकार किया है। मोक्ष बंधकी अपेक्षा रखता है; तथा बंध, बंधके कारण आस्रव, पुण्य-पाप कर्म, और ... नित्य अविनाशी आत्माकी; मोक्षकी, मोक्षके मार्गकी, संवरकी, निर्जराकी और बंधके कारणोंके दूर करनेरूप उपायकी अपेक्षा रखता है। जिसने मार्ग देखा, जाना और अनुभव किया है, वह नेता हो सकता है। अर्थात् 'मोक्षमार्गका नेता' कहकर उसे परिप्राप्त ऐसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतरागको स्वीकार किया है। इस तरह 'मोक्षमार्गके नेता' इस विशेषणसे जीव अजीव आदि नव तत्त्व, छह द्रव्य, आत्माका अस्तित्व आदि छह पद, और मुक्त आत्माको स्वीकार किया गया है।

मोक्षमार्गके उपदेश करनेका—उस मार्गमें ले जानेका—कार्य देहधारी साकार मुक्त पुरुष ही कर सकता है, देहरहित निराकार जीव नहीं कर सकता। यह कहकर यह सूचित किया है कि आत्मा स्वयं परमात्मा हो सकती है—मुक्त हो सकती है। तथा इससे यह सूचित किया है कि ऐसे देहधारी मुक्त पुरुष ही बोध कर सकते हैं, इससे देहरहित अपौरुषेय बोधका निषेध किया गया है।

'कर्मरूपी पर्वतके भेदन करनेवाला' कहकर यह सूचित किया है कि कर्मरूप पर्वतोंके भेदन करनेसे मोक्ष होती है; अर्थात् जीवने कर्मरूपी पर्वतोंका स्ववीर्य द्वारा देहधारीरूपसे भेदन किया, और उससे वह जीवन्मुक्त होकर मोक्षमार्गका नेता—मोक्षमार्गका बतानेवाला हुआ। इससे यह सूचित किया है कि बार बार देह धारण करनेका, जन्म-मरणरूप संसारका कारण जो कर्म है, उसके समूल भेदन करनेसे—नाश करनेसे—जीवको फिर देहका धारण करना नहीं रहता। इससे यह बताया है कि मुक्त आत्मा फिरसे अवतार नहीं लेती।

'विश्वतत्त्वका ज्ञाता'—समस्त द्रव्यपर्यायात्मक लोकालोकका—विश्वका—जाननेवाला—कहकर, मुक्त आत्माका अखंड स्वपर ज्ञायकपना बताया है। इससे यह सूचित किया है कि मुक्त आत्मा सदा ज्ञानरूप ही है।

'जो इन गुणोंसे सहित है, उसे उन गुणोंकी प्राप्तिके लिये मैं वन्दन करता हूँ'—यह कहकर यह सूचित किया है कि परम आप्त, मोक्षमार्गके लिये विश्वास करने योग्य, वंदन करने योग्य, भक्ति करने योग्य तथा जिसकी आज्ञापूर्वक चलनेसे निःसंशय मोक्ष प्राप्त होती है—उनको प्रगट हुए गुणोंकी प्राप्ति होती है—वे गुण प्रगट होते हैं—ऐसा जो कोई भी हो, मैं उसे वंदन करता हूँ। इससे यह सूचित किया है कि उक्त गुणोंसे सहित मुक्त परम आप्त वंदनके योग्य हैं—उनका बताया हुआ वह मोक्षमार्ग है, और उनकी भक्तिसे मोक्षकी प्राप्ति होती है; तथा उनकी आज्ञापूर्वक चलनेसे भक्तिमानको, उनको जो गुण प्रगट हुए हैं वे गुण प्रगट होते हैं।

३. वीतरागके मार्गकी उपासना करनी चाहिये।

---

७८० वनक्षेत्र उत्तरसंडा, प्र. आसोज वदी ९ रवि. १९५२

ॐ नमः

अहो जिणेहिऽसावज्जा, वित्ती साहूण देसिया।
मोक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा॥

८००

मोरबी, चैत्र वदी ७, १९५

(१) विशेष हो सके तो अच्छा । ज्ञानियोंको सदाचरण भी प्रिय है । वि... योग्य नहीं ।

(२) 'जातिस्मरण' हो सकता है । पूर्वभव जाना जा सकता है । अवधिज्ञान है ।

(३) तिथि पालना चाहिये ।

(४) जैसेको तैसा मिलता है; जैसेको तैसा अच्छा लगता है ।

* चाहे चकोर ते चंदने, मधुकर मालती भोगी रे ।
तिम भवि सहजगुणे होवे, उत्तम निमित्तसंजोगी रे ॥

(५) × चरमावर्त हो चरमकरण तथा, भवपरिणति परिपाक रे ।
दोप टळे ने दृष्टि खुले अति भली, प्रापति प्रवचनवाक रे ॥

८०१

मोरबी, चैत्र वदी ८, १९५५

ॐ

(१) षड्दर्शनसमुच्चय और तत्त्वार्थसूत्रका अवलोकन करना । योगदृष्टिसमुच्चय (सज्झाय) को मुखाग्र कर विचारना योग्य है । ये दृष्टियाँ आत्मदशा-मापक (थर्मामीटर) यंत्र हैं ।

(२) शास्त्रको जाल समझनेवाले भूल करते हैं । शास्त्र अर्थात् शास्ता पुरुषके वचन । इन वचनोंको समझनेके लिये दृष्टि सम्यक् चाहिये । 'मैं ज्ञान हूँ, मैं ब्रह्म हूँ,' ऐसा मान लेनेसे, ऐसा चिल्लानेसे, तद्रूप नहीं हो जाते । तद्रूप होनेके लिये सत्शास्त्र आदिका सेवन करना चाहिये ।

(३) सदुपदेष्टाकी बहुत ज़रूरत है । सदुपदेष्टाकी बहुत ज़रूरत है ।

(४) पाँचसौ-हज़ार श्लोक कंठस्थ कर लेनेसे पंडित नहीं बन जाते । फिर भी थोड़ा जानकर बहुतका ढोंग करनेवाले पंडितोंका टोटा नहीं है ।

+(५) ऋतुको सन्निपात हुआ है ।

८०२

मोरबी, चैत्र वदी ९ गुरु. १९५५

(१)

ॐ नमः

(१) आत्महित अति दुर्लभ है—ऐसा जानकर विचारवान पुरुष उसकी अप्रमत्तभावसे उपासना करते हैं ।

(२) आचारांगसूत्रके एक वाक्यके संबंधमें चर्चापत्र आदि देखे हैं । बहुत करके थोड़े दिनोंमें किसी सुज्ञकी तरफसे उसका समाधान प्रकट होगा । ॐ.

* जैसे चकोर चन्द्रमाको चाहता है, भ्रमर मालतीको चाहता है; उसी तरह भव्यपुरुष उत्तम गुणोंके संयोगकी इच्छा करते हैं ।

× अर्थके लिये देखो अंक ७९५ ।

+ संवत् १९५६ में भयंकर दुष्काल पड़ा था ।—अनुवादक.

—भगवान् जिनने मुनियोंको आश्चर्यकारक निष्पापवृत्ति (आहारग्रहण) का उपदेश किया है। (वह भी किसलिये ?) केवल मोक्षसाधनके लिये—मुनिको जो देहकी आवश्यकता है उसके धारण करनेके लिये, (दूसरे अन्य किसी भी हेतुसे उसका उपदेश नहीं किया)।

अहो णिच्चं तवो कम्मं, सव्वजिणेहिं वण्णियं।
जाय लज्जासमा वित्ती, एगभत्तं च भोयणं॥

—सर्व जिन भगवंतोंने आश्चर्यकारक (अद्भुत उपकारभूत) तपकर्मको नित्य ही करनेके लिये उपदेश किया है। (वह इस तरह कि) संयमके रक्षणके लिये सम्यक्वृत्तिसे एक समय आहार लेना चाहिये।

—दशवैकालिकसूत्र.

तथारूप असंग निर्ग्रंथपदके अभ्यासको सतत बढ़ाते रहना। प्रश्नव्याकरण दशवैकालिक और आत्मानुशासनको हालमें सम्पूर्ण लक्ष रखकर विचार करना। एक शास्त्रको सम्पूर्ण बाँच लेनेपर दूसरा विचारना।

७८१

वनक्षेत्र, द्वि. आसोज सुदी १, १९५४

ॐ नमः

सर्व विकल्पोंका, तर्कका त्याग करके

मनका
वचनका
कायाका
इन्द्रियका
आहारका
निद्राका
} जय करके

निर्विकल्परूपसे अंतर्मुखवृत्ति करके आत्मध्यान करना चाहिये।
मात्र निराबाध अनुभवस्वरूपमें लीनता होने देनी चाहिये। दूसरी कोई चिंतना न करनी चाहिये।
जो जो तर्क आदि उठें, उन्हें दीर्घ कालतक न करते हुए शान्त कर देना चाहिये।

७८२

आभ्यंतर भान अवधूत,
विदेहीवत्,
जिनकल्पीवत्,
सर्व परभाव और विभावसे व्यावृत्त,

निजस्वभावके भानसहित, अवधूतवत्, विदेहीवत्, जिनकल्पीवत् विचरते हुए पुरुष भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करते हैं।

---

(२)

यदि परमसत्को पीड़ा पहुँचती हो, तो वैसे विशिष्ट प्रसंगके ऊपर देवता लोग रक्षण करते हैं, प्रगटरूपसे भी आते हैं। परन्तु बहुत ही थोड़े प्रसंगोंपर।

योगी अथवा वैसी विशिष्ट शक्तिवाला उस प्रसंगपर सहायता कर सकता है, परन्तु वह ज्ञानी तो नहीं है।

जीवको मतिकल्पनासे ऐसा मालूम होता है कि मुझे देवताके दर्शन होते हैं, मेरे पास देवता आता है, मुझे उसका दर्शन होता है; परन्तु देवता इस तरह दिखाई नहीं देते।

८०३

मोरबी, चैत्र वदी १०, १९५५

(१) दूसरेके मनकी पर्याय जानी जा सकती है। परन्तु यदि अपने मनकी पर्याय जानी जा सके, तो दूसरेके मनकी पर्याय जानना सुलभ है। किन्तु अपने मनकी पर्याय जानना भी मुश्किल है। यदि स्वमन समझमें आ जाय तो वह वश हो सकता है। उसके समझनेके लिये सद्विचार और सतत एकाग्र उपयोगकी जरूरत है।

(२) आसनजयसे (स्थिर आसन दृढ़ करनेसे) उत्थानवृत्तिका उपशमन होता है; उपयोग चपलतारहित हो सकता है; निद्रा कम हो सकती है।

(३) सूर्यके प्रकाशमें जो बारीक बारीक सूक्ष्म रजके समान मालूम होता है, वे अणु नहीं, परन्तु वे अनेक परमाणुओंके बने हुए स्कंध हैं। परमाणु चक्षुसे नहीं देखा जा सकता। वह चक्षुरिन्द्रियलब्धिके प्रबल क्षयोपशमवाले जीव अथवा दूरदेशीलब्धि-संपन्न योगी अथवा केवलीको ही दिखाई पड़ सकता है।

८०४

मोरबी, चैत्र वदी ११, १९५५

१. मोक्षमाला हमने सोलह बरस पाँच मासकी अवस्थामें तीन दिनमें बनाई थी। ६७वें पाठके ऊपर स्याही गिर जानेसे, उस पाठको फिरसे लिखना पड़ा था; और उस स्थानपर 'बहु पुण्यकेरा पुंजथी' इस अमूल्य तात्त्विक विचारका काव्य लिखा था।

२. उसमें जैनमार्गको यथार्थ समझानेका प्रयास किया है। उसमें जिनोक्तमार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक नहीं कहा। जिससे वीतरागमार्गपर आबालवृद्धकी रुचि हो, उसका स्वरूप समझमें आवे, उसके बीजका हृदयमें रोपण हो, इस हेतुसे उसकी बालावबोधरूप योजना की है। उस शैली तथा उस बोधका अनुसरण करनेके लिये यह एक नमूना उपस्थित किया है। इसका प्रज्ञावबोध नामका भाग भिन्न है, उसे कोई बनायेगा।

३. इसके छपनेमें विलम्ब होनेसे ग्राहकोंकी आकुलता दूर करनेके लिये, उसके बाद भावनाबोध रचकर, उसे ग्राहकोंको उपहारस्वरूप दिया था।

७८३ खेड़ा, द्वि. आसोज वदी १९५३

हे जीव ! इस क्लेशरूप संसारसे निवृत्त हो, निवृत्त हो।

वीतराग प्रवचन.

×७८४ श्रीखेड़ा, द्वि० आसोज वदी १९५३

प्रश्न—क्या आत्मा है ?

उत्तर—हाँ, आत्मा है।

प्र.—क्या आप अनुभवसे कहते हो कि आत्मा है ?

उ.—हाँ, हम अनुभवसे कहते हैं कि आत्मा है। जैसे मिश्रीके स्वादका वर्णन नहीं हो सकता, वह अनुभवगोचर है; इसी तरह आत्माका वर्णन नहीं हो सकता; वह भी अनुभवगोचर है। परन्तु वह है अवश्य।

प्र.—जीव एक है या अनेक ? आपके अनुभवका उत्तर चाहता हूँ।

उ.—जीव अनेक हैं।

प्र.—क्या जड़, कर्म वास्तवमें हैं, अथवा यह सब मायिक है ?

उ.—जड़, कर्म वास्तविक हैं, मायिक नहीं।

प्र.—क्या पुनर्जन्म है ?

उ.—हाँ, पुनर्जन्म है।

प्र.—क्या आप वेदान्तद्वारा मान्य मायिक ईश्वरका अस्तित्व मानते हैं ?

उ.—नहीं।

प्र.—क्या दर्पणमें पड़नेवाला प्रतिबिम्ब केवल ऊपरका दिखाव ही है, या वह किसी तत्त्वका बना हुआ है ?

उ.—दर्पणमें पड़नेवाला प्रतिबिम्ब केवल दिखाव ही नहीं, किन्तु वह अमुक तत्त्वका बना हुआ है।

(२)

मेरा चित्त—मेरी चित्तवृत्तियाँ—इतनी शांत हो जाओ कि कोई मृग भी इस शरीरको देखकर खड़ा हो जाय, भय पाकर भाग न जाय।

मेरी चित्तवृत्ति इतनी शांत हो जाओ कि कोई वृद्ध मृग, जिसके सिरमें खुजली आती हो, इस शरीरको जड़ पदार्थ समझकर, अपने सिरकी खुजली मिटानेके लिये इस शरीरको रगड़े।

× यह लेख श्रीमद्‌का स्वयंका लिखा हुआ नहीं है। खेड़ाके एक डिस्ट्रिक्ट जज साहबके साथ जो श्रीमद् राजचन्द्रका प्रश्नोत्तर हुआ था, उसे यहाँ दिया गया है।—अनुवादक.

८००

मोरबी, चैत्र वदी ७, १९५५

(१) विशेष हो सके तो अच्छा। ज्ञानियोंको सदाचरण भी प्रिय है। विकल्प करने योग्य नहीं।

(२) 'जातिस्मरण' हो सकता है। पूर्वभव जाना जा सकता है। अवधिज्ञान है।

(३) तिथि पालना चाहिये।

(४) जैसेको तैसा मिलता है; जैसेको तैसा अच्छा लगता है।

* चाहे चकोर ते चंदने, मधुकर मालती भोगी रे।
तिम भवि सहजगुणे होवे, उत्तम निमित्तसंजोगी रे॥

(५) × चरमावर्त हो चरमकरण तथा, भवपरिणति परिपाक रे।
दोष टळे ने दृष्टि खुले अति भली, प्रापति प्रवचनवाक रे॥

८०१

मोरबी, चैत्र वदी ८, १९५५

ॐ

(१) षड्दर्शनसमुच्चय और तत्त्वार्थसूत्रका अवलोकन करना। योगदृष्टिसमुच्चय (सज्झाय) को मुखाग्र कर विचारना योग्य है। ये दृष्टियाँ आत्मदशा-मापक (थर्मामीटर) यंत्र हैं।

(२) शास्त्रको जाल समझनेवाले भूल करते हैं। शास्त्र अर्थात् शास्ता पुरुषके वचन। इन वचनोंको समझनेके लिये दृष्टि सम्यक् चाहिये। 'मैं ज्ञान हूँ, मैं ब्रह्म हूँ,' ऐसा मान लेनेसे, ऐसा चिल्लानेसे, तद्रूप नहीं हो जाते। तद्रूप होनेके लिये सत्शास्त्र आदिका सेवन करना चाहिये।

(३) सदुपदेष्टाकी बहुत ज़रूरत है। सदुपदेष्टाकी बहुत ज़रूरत है।

(४) पाँचसौ-हज़ार श्लोक कंठस्थ कर लेनेसे पंडित नहीं बन जाते। फिर भी थोड़ा जानकर बहुतका ढोंग करनेवाले पंडितोंका टोटा नहीं है।

+(५) ऋतुको सन्निपात हुआ है।

८०२

मोरबी, चैत्र वदी ९ गुरु. १९५५

(१)

ॐ नमः

(१) आत्महित अति दुर्लभ है—ऐसा जानकर विचारवान पुरुष उसकी अप्रमत्तभावसे उपासना करते हैं।

(२) आचारांगसूत्रके एक वाक्यके संबंधमें चर्चापत्र आदि देखे हैं। बहुत करके दो दिनोंमें किसी मुझकी तरफसे उसका समाधान प्रकट होगा। ॐ.

---

* जैसे चकोर चद्रमाको चाहता है, भ्रमर मालतीको चाहता है; उसी तरह भव्यपुरुष उत्तम गुणोंके संयोगकी इच्छा करते हैं।

×अर्थके लिये देखो अंक ७९५।

+संवत् १९५६ में भयकर दुष्काल पड़ा था।—अनुवादक.

सातवीं व्यवहारदया—उपयोगपूर्वक और विधिपूर्वक दया पालनेका नाम 'व्यवहारदया' है।

आठवीं निश्चयदया—शुद्ध साध्य उपयोगमें एकता भाव और अभेद उपयोगका होना 'निश्चयदया' है।

इस आठ प्रकारकी दयाको लेकर भगवान्‌ने व्यवहारधर्म कहा है। इसमें सब जीवोंके सुख, संतोष और अभयदान ये सब विचारपूर्वक देखनेसे आ जाते हैं।

दूसरा निश्चयधर्म—अपने स्वरूपकी भ्रमणा दूर करनी, आत्माको आत्मभावसे पहचानना, 'यह संसार मेरा नहीं, मैं इससे भिन्न, परम असंग, सिद्ध सदृश शुद्ध आत्मा हूँ' इस तरह आत्मस्वभावमें प्रवृत्ति करना 'निश्चयधर्म' है।

जहाँ किसी प्राणीको दुःख, अहित अथवा असंतोष होता है, वहाँ दया नहीं; और जहाँ दया नहीं वहाँ धर्म नहीं। अर्हत भगवान्‌के कहे हुए धर्मतत्त्वसे सब-प्राणी भय रहित होते हैं।

१० सद्गुरुतत्त्व

(१)

पिता—पुत्र ! तू जिस शालामें पढ़ने जाता है उस शालाका शिक्षक कौन है ?

पुत्र—पिताजी ! एक विद्वान् और समझदार ब्राह्मण है।

पिता—उसकी वाणी, चालचलन आदि कैसे हैं ?

पुत्र—उसकी वाणी बहुत मधुर है। वह किसीको अविवेकसे नहीं बुलाता, और बहुत गंभीर है, जिस समय वह बोलता है, उस समय मानों उसके मुखसे फूल झरते हैं। वह किसीका अपमान नहीं करता; और जिससे हम योग्य नीतिको समझ सकें, ऐसी हमें शिक्षा देता है।

पिता—तू वहाँ किस कारणसे जाता है, सो मुझे कह।

पुत्र—आप ऐसा क्यों कहते हैं, पिताजी ! मैं संसारमें विचक्षण होनेके लिये पद्धतियोंको समझूँ और व्यवहारनीतिको सीखूँ, इसलिये आप मुझे वहाँ भेजते हैं।

पिता—तेरा शिक्षक यदि दुराचारी अथवा ऐसा ही होता तो ?

पुत्र—तब तो बहुत बुरा होता। हमें अविवेक और कुवचन बोलना आता। व्यवहारनीति तो फिर सिखलाता ही कौन ?

पिता—देख पुत्र ! इसके ऊपरसे मैं अब तुझे एक उत्तम शिक्षा कहता हूँ। जैसे संसारमें पढ़नेके लिये व्यवहारनीति सीखनेकी आवश्यकता है, वैसे ही परभवके लिये धर्मतत्त्व और धर्मनीतिमें प्रवेश करनेकी आवश्यकता है। जैसे यह व्यवहारनीति सदाचारी शिक्षकसे उत्तम प्रकारसे मिल सकती है, वैसे ही परभवमें श्रेयस्कर धर्मनीति उत्तम गुरुसे ही मिल सकती है। व्यवहारनीतिके शिक्षक और धर्मनीतिके शिक्षकमें बहुत भेद है। बिल्लौरके टुकड़ेके समान व्यवहार-शिक्षक है, और अमूल्य कौस्तुभके समान आत्मधर्म-शिक्षक है।

पुत्र—सिरछत्र ! आपका कहना योग्य है। धर्मके शिक्षककी सम्पूर्ण आवश्यकता है। आपने बार बार संसारके अनंत दुःखोंके संबंधमें मुझसे कहा है। संसारसे पार पानेके लिये धर्म ही सहायभूत है। इसलिये धर्म कैसे गुरुसे प्राप्त करनेसे श्रेयस्कर हो सकता है, यह मुझसे कृपा करके कहिये।

११ सद्गुरुतत्त्व
(२)

पिता—पुत्र! गुरु तीन प्रकारके कहे जाते हैं:—काष्ठस्वरूप, कागज़स्वरूप और पत्थरस्वरूप। काष्ठस्वरूप गुरु सर्वोत्तम हैं। क्योंकि संसाररूपी समुद्रको काष्ठस्वरूप गुरु ही पार होते हैं, और दूसरोंको पार कर सकते हैं। कागज़स्वरूप गुरु मध्यम है। ये संसार-समुद्रको स्वयं नहीं पार कर सकते, परन्तु कुछ पुण्य उपार्जन कर सकते हैं। ये दूसरेको नहीं पार कर सकते। पत्थरस्वरूप गुरु स्वयं डूबते हैं, और दूसरोंको भी डुबाते हैं। काष्ठस्वरूप गुरु केवल जिनेश्वर भगवान्के ही शासनमें हैं। बाकी दोनों प्रकारके गुरु कर्मावरणकी वृद्धि करनेवाले हैं। हम सब उत्तम वस्तुको चाहते हैं, और उत्तमसे उत्तम वस्तुएं मिल भी सकती हैं। गुरु यदि उत्तम हो तो वह भव-समुद्रमें नाविकरूप होकर सद्धर्म-नावमें बैठाकर पार पहुँचा सकता है। तत्त्वज्ञानके भेद, स्वस्वरूपभेद, लोकालोक विचार, संसार-स्वरूप यह सब उत्तम गुरुके विना नहीं मिल सकता। अब तुम्हें प्रश्न करनेकी इच्छा होगी कि ऐसे गुरुके कौन कौनसे लक्षण हैं? सो कहता हूँ। जो जिनेश्वर भगवान्की कही हुई आज्ञाको जानें, उसको यथार्थरूपसे पालें, और दूसरेको उपदेश करें, कंचन और कामिनीके सर्वथा त्यागी हों, विशुद्ध आहार-जल लेते हों, बाईस प्रकारके परीषह सहन करते हों, क्षांत, दांत, निरारंभी और जितेन्द्रिय हों, सैद्धान्तिक-ज्ञानमें निमग्न रहते हों, केवल धर्मके लिये ही शरीरका निर्वाह करते हों, निर्ग्रंथ-पंथको पालते हुए कायर न होते हों, सींक तक भी विना दिये न लेते हों, सब प्रकारके रात्रि भोजनके त्यागी हों, समभावी हों, और वीतरागतासे सत्योपदेशक हों; संक्षेपमें, उन्हें काष्ठस्वरूप सद्गुरु जानना चाहिये। पुत्र! गुरुके आचार और ज्ञानके संबंधमें आगममें बहुत विवेकपूर्वक वर्णन किया गया है। ज्यों ज्यों तू आगे विचार करना सीखता जायगा, त्यों त्यों पीछे मैं तुझे इन विशेष तत्त्वोंका उपदेश करता जाऊँगा।

पुत्र—पिताजी, आपने मुझे संक्षेपमें ही बहुत उपयोगी और कल्याणमय उपदेश दिया है। मैं इसका निरन्तर मनन करता रहूँगा।

१२ उत्तम गृहस्थ

संसारमें रहने पर भी उत्तम श्रावक गृहस्थाश्रमके द्वारा आत्म-कल्याणका साधन करते हैं, उनका गृहस्थाश्रम भी प्रशंसनीय है।

ये उत्तम पुरुष सामायिक, क्षमापना, चोविहार प्रत्याख्यान इत्यादि यम नियमोंका सेवन करते हैं।

पर-पत्नीको और मा-बहिनकी दृष्टि रखते हैं।

सत्पात्रको यथाशक्ति दान देते हैं।

शान्त, मधुर और कोमल भाषा बोलते हैं।

सत् शास्त्रोंका मनन करते हैं।

यथाशक्ति जीविकामें भी माया-कपट इत्यादि नहीं करते।

स्त्री, पुत्र, माता, पिता, मुनि और गुरु इन सबका यथायोग्य सन्मान करते हैं।

मा बापको धर्मका उपदेश देते हैं।

८००

मोरबी, चैत्र वदी ७, १९५५

(१) विशेष हो सके तो अच्छा। ज्ञानियोंको सदाचरण भी प्रिय है। विकल्प योग्य नहीं।

(२) 'जातिस्मरण' हो सकता है। पूर्वभव जाना जा सकता है। अवधिज्ञान है।

(३) तिथि पालना चाहिये।

(४) जैसेको तैसा मिलता है; जैसेको तैसा अच्छा लगता है।

* चाहे चकोर ते चंदने, मधुकर मालती भोगी रे।
तिम भवि सहजगुणे होवे, उत्तम निमित्तसंजोगी रे॥

(५) × चरमावर्त हो चरमकरण तथा, भवपरिणति परिपाक रे।
दोष टळे ने दृष्टि खुले अति भली, मापति प्रवचनवाक रे॥

८०१

मोरबी, चैत्र वदी ८, १९५५

ॐ

(१) षड्दर्शनसमुच्चय और तत्त्वार्थसूत्रका अवलोकन करना। योगदृष्टिसमुच्चय (सज्झाय) को मुखाग्र कर विचारना योग्य है। ये दृष्टियाँ आत्मदशा-मापक (थर्मामीटर) यंत्र हैं।

(२) शास्त्रको जाल समझनेवाले भूल करते हैं। शास्त्र अर्थात् शास्ता पुरुषके वचन। इन वचनोंको समझनेके लिये दृष्टि सम्यक् चाहिये। 'मैं ज्ञान हूँ, मैं ब्रह्म हूँ,' ऐसा मान लेनेसे, ऐसा चिल्लानेसे, तद्रूप नहीं हो जाते। तद्रूप होनेके लिये सत्शास्त्र आदिका सेवन करना चाहिये।

(३) सदुपदेष्टाकी बहुत ज़रूरत है। सदुपदेष्टाकी बहुत ज़रूरत है।

(४) पाँचसौ-हज़ार श्लोक कंठस्थ कर लेनेसे पंडित नहीं बन जाते। फिर भी थोड़ा जानकर बहुतका ढोंग करनेवाले पंडितोंका टोटा नहीं है।

+(५) ऋतुको सन्निपात हुआ है।

८०२

मोरबी, चैत्र वदी ९ गुरु. १९५५

(१)

ॐ नमः

(१) आत्महित अति दुर्लभ है—ऐसा जानकर विचारवान पुरुष उसकी अप्रमत्तभावसे उपासना करते हैं।

(२) आचारांगसूत्रके एक वाक्यके संबंधमें चर्चापत्र आदि देखे हैं। बहुत करके दो दिनोंमें किसी सुज्ञकी तरफसे उसका समाधान प्रकट होगा। ॐ.

---

* जैसे चकोर चन्द्रमाको चाहता है, भ्रमर मालतीको चाहता है; उसी तरह भव्यपुरुष उत्तम गुणोंके संयोगकी इच्छा करते हैं।

×अर्थके लिये देखो अंक ७९५।

+संवत् १९५६ में भयंकर दुष्काल पड़ा था।—अनुवादक.

(२)

जो वनवासी-शास्त्र (श्री पद्मनन्दि पंचविंशति) भेजा है, वह प्रबल निवृत्तिके योगमें इन्द्रियरूपसे मनन करनेसे अमृत है।

---

८२७ बम्बई, आसोज, १९५

(१)

ॐ. जिन ज्ञानी-पुरुषोंका देहाभिमान दूर हो गया है, यद्यपि उन्हें कुछ करना बाकी नहीं रहा, तो भी उन्हें सर्वसंगपरित्याग आदि सत्पुरुषार्थताको परमपुरुषने उपकारभूत कहा है।

(२)

श्री····के प्रति पत्र लिखाते हुए सूचित करना "विहार करके अहमदाबाद स्थिति करनेमें मनमें कोई भय, उद्वेग अथवा क्षोभ नहीं है; परन्तु हितबुद्धिसे विचार करनेसे हमारी दृष्टिमें यह आता है कि हालमें उस क्षेत्रमें स्थिति करना योग्य नहीं। यदि आप कहेंगे तो 'उसमें आत्महितको क्या बाधा होती है', इस बातको विदित करेंगे; और उसके लिये आप कहेंगे तो उस क्षेत्रमें समागममें आयेंगे। अहमदाबादका पत्र पढ़कर आप लोगोंको कोई भी उद्वेग अथवा क्षोभ न करना चाहिये—समता ही रखना चाहिये। लिखनेमें यदि कुछ भी अनम्रभाव हुआ हो तो क्षमा करना।"

यदि तुरत ही उनका समागम होनेवाला हो तो ऐसा कहना कि "आपने विहार करनेके संबंधमें जो लिखा, सो उस विषयमें आपका समागम होनेपर जैसा आप कहेंगे वैसा करेंगे;" और समागम होनेपर कहना कि "पहले की अपेक्षा यदि संयममें शिथिलता की हो, ऐसा आपको मालूम होता हो, तो आप उसे बतावें, जिससे उसकी निवृत्ति की जा सके; और यदि आपको वैसा न मालूम होता होता हो तो फिर यदि कोई जीव विषमभावके आधीन होकर वैसा कहे, तो उस बातके प्रति न जाकर, आत्मभावपर ही जाकर, प्रवृत्ति करना योग्य है। ऐसा जानकर हालमें अहमदाबाद क्षेत्रमें जानेकी वृत्ति हमें योग्य नहीं लगती। क्योंकि (१) रागदृष्टियुक्त जीवके पत्रकी प्रेरणासे, और (२) मानकी रक्षाके लिये ही उस क्षेत्रमें जाने जैसा होता है; जो बात आत्माके अहितकी कारण है। कदाचित् आप ऐसा समझते हों कि जो लोग असंभव बात कहते हैं, उन लोगोंके मनमें उनको अपनी निजकी भूल मालूम पड़ेगी, और धर्मकी हानि होती हुई रुक जावेगी, तो यह एक हेतु ठीक है। परन्तु उसके रक्षण करनेके लिये यदि उपरोक्त दो दोष न आते हों, तो किसी अपेक्षासे लोगोंकी भूल दूर करनेके लिये विहार करना उचित है। परन्तु एक बार तो अविषमभावसे उस बातको सहन करके, अनुक्रमसे स्वाभाविक विहार होते होते उस क्षेत्रमें जाना बने, और किन्हीं लोगोंको वहम हो तो जिससे वह वहम निवृत्त हो जाय, ऐसा करना चाहिये। परन्तु रागदृष्टिवानके वचनोंकी प्रेरणासे, तथा मानकी रक्षाके लिये अथवा अविषमता न रहनेसे उसे लोककी भूल मिटानेका निमित्त मानना, वह आत्महितकारी नहीं। इसलिये हालमें इस बातको उपशांत कर··········आप बताओ कि कचित्··········वगैरह मुनियोंके लिये किसीने कुछ कहा हो, तो उससे वे मुनि दोषके पात्र नहीं हैं। उनके समागममें आनेसे जिन लोगोंको वैसा संदेह होगा, वह सहज ही निवृत्त हो जायगा; अथवा किसी समझकी फेरसे संदेह हो, या दूसरा कोई

४. *हुं कोण छुं ? क्यांथी थयो ? शुं स्वरूप छे मारूं खरूं ?
कोना संबंधे वळगणा छे ? राखुं के ए परिहरूं ?

—इसपर जीव विचार करे, तो उसे नौ तत्त्वोंका–तत्त्वज्ञानका–संपूर्ण बोध प्राप्त हो जाता है। इसमें तत्त्वज्ञानका सम्पूर्ण समावेश हो जाता है। इसका शांतिपूर्वक विवेकसे विचार करना चाहिये।

५. बहुत बड़े लंबे लेखसे कुछ ज्ञानकी–विद्वत्ताकी–तुलना नहीं होती। परन्तु सामान्य जीवोंको इस तुलनाका विचार नहीं है।

६. प्रमाद बड़ा शत्रु है। हो सके तो जिनमंदिरमें नियमित पूजा करने जाना चाहिये। रात्रि भोजन न करना चाहिये। ज़रूरत हो तो गरम दूधका उपयोग करना चाहिये।

७. काव्य, साहित्य अथवा संगीत आदि कला यदि आत्मार्थके लिये न हों, तो वे कल्पित हैं। कल्पित अर्थात् निरर्थक—जो सार्थक न हो—वह जीवकी कल्पनामात्र है। जो भक्ति प्रयोजनरूप अथवा आत्मार्थके लिये न हो वह सब कल्पित ही है।

८०५

मोरबी, चैत्रवदी १२, १९५५

प्रश्नः—श्रीमद् आनन्दघनजीने श्रीअजितनाथजीके स्तवनमें कहा है—तरतम योग रे तरतम वासना रे, वासित बोध आधार। पंथडो॰ —इसका क्या अर्थ है?

उत्तरः—ज्यों ज्यों योगकी (मन वचन कायाकी) तरतमता अर्थात् अधिकता होती है, त्यों त्यों वासनाकी भी अधिकता होती है—यह ‘तरतम योग रे तरतम वासना रे’ का अर्थ है। अर्थात् यदि कोई पुरुष बलवान योगवाला हो, उसके मनोबल वचनबल आदि बलवान हों, और वह किसी पंथको चलाता हो; परन्तु जैसा बलवान उसका मन वचन आदि योग है, उसकी वैसी ही बलवान अपनेको मनवानेकी, पूजा करानेकी, मान सत्कार वैभव आदिकी वासना हो, तो उस वासनावाला बोध वासित बोध हुआ—कषाययुक्त बोध हुआ—वह विषय आदिकी लालसावाला बोध हुआ—वह मानके लिये बोध हुआ—आत्मार्थके लिये वह बोध न हुआ। श्रीआनंदघनजी श्रीअजितप्रभुका स्तवन करते हैं कि हे प्रभो! ऐसा आधाररूप जो वासित बोध है, वह मुझे नहीं चाहिये। मुझे तो कषायरहित, आत्मार्थसंपन्न और मान आदि वासनारहित बोधकी जरूरत है। ऐसे पथकी गवेषणा मैं कर रहा हूँ। मन वचन आदि बलवान योगवाले जुदे जुदे पुरुष बोधका प्ररूपण करते आये हैं, और प्ररूपण करते हैं; परन्तु हे प्रभो! वासनाके कारण वह बोध वासित है, और मुझे तो वासनारहित बोधकी जरूरत है। हे वासनाविषय कषाय आदि जीतनेवाले जिन वीतराग अजितदेव! ऐसा बोध तो तेरा ही है। उस तेरे पंथको मैं खोज रहा हूँ—देख रहा हूँ। वह आधार मुझे चाहिये।

(२) आनंदघनजीकी चौवीसी कंठस्थ करने योग्य है। उसका अर्थ विवेचनपूर्वक लिखने योग्य है। सो लिखना।

---

* मैं कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ, मेरा सच्चा स्वरूप क्या है, किसके संबंधसे यह बंधन है, इसे रखूँ या छोड़ दूँ। देखो मोक्षमाला पृष्ठ ६७ पाठ ६७. —अनुवादक.

८३० मोहमयी, कार्तिक सुदी ५, १९५५

ॐ

जिससे अविरोध और एकता रहे वैसा करना चाहिये; और इन सबका उपकारका मार्ग संभव है। भिन्नता मानकर प्रवृत्ति करनेसे जीव उल्टा चलता है। वास्तवमें तो अभिन्नता है—एकता है—इसमें सहज समझका फेर होनेसे ही तुम भिन्नता समझते हो, ऐसी उन जीवोंको यदि शिक्षा मिले, तो सन्मुखवृत्ति हो सकती है।

जबतक परस्पर एकताका व्यवहार रहे तबतक वह सर्वथा कर्त्तव्य है। ॐ.

---

८३१ मोहमयी क्षेत्र, कार्तिक सुदी १४ गुरु. १९५५

हालमें मैं अमुक मासपर्यंत यहाँ रहनेका विचार रखता हूँ। अपनेसे बनता ध्यान दूँगा। आप मनमें निश्चिंत रहना।

केवल अन्नवस्त्र हो तो भी बहुत है। परन्तु व्यवहारप्रतिबद्ध मनुष्यको कुछ संयोगोंके कारण थोड़ा बहुत चाहिये, इसलिये यह प्रयत्न करना पड़ा है। इसलिये धर्मकीर्तिपूर्वक वह संयोग जबतक उदयमान हो, तबतक जितना बन पड़े उतना बहुत है।

हालमें मानसिक वृत्तिसे बहुत ही प्रतिकूल मार्गमें प्रवास करना पड़ा है। तप्त-हृदयसे और शांत आत्मासे सहन करनेमें ही हर्ष मानता हूँ। ॐ शान्तिः।

(२) ईडर, पौष १९५

> मा मुज्झइ मा रज्जइ मा दुस्सइ इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
> थिरमिच्छइ जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए॥
> पणतीससोलछप्पणचउदुगमेगं च जवह झाएह।
> परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण॥

—यदि तुम स्थिरताकी इच्छा करते हो, तो प्रिय अथवा अप्रिय वस्तुमें मोह न करो, राग न करो, द्वेष न करो। अनेक प्रकारके ध्यानकी प्राप्तिके लिये पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक—इस तरह परमेष्ठीपदके वाचक मंत्रोंका जपपूर्वक ध्यान करो। इसका विशेष स्वरूप श्रीगुरुके उपदेशसे समझना चाहिये।

> जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
> लद्धूणय एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्चयं झाणं॥

—ध्यानमें एकाग्रवृत्ति रखकर जो साधु निस्पृह-वृत्तिमान् अर्थात् सर्व प्रकारकी इच्छासे रहित होता है, उसे परमपुरुष निश्चय ध्यान कहते हैं।

लोग धर्मको अथवा आनंदघनजीको पहिचान न सके—समझ न सके। अन्तमें ... कि प्रबलरूपसे व्याप्त विषमताके योगमें लोकोपकार, परमार्थप्रकाश करनेमें असरकारक नहीं होता, आत्महित गौण होकर उसमें बाधा आती है; इसलिये आत्महितको मुख्य करके उसमें ही ... करना योग्य है। इस विचारणासे अन्तमें वे लोकसंगको छोड़कर वनमें चल दिये। वनमें ... हुए भी वे अप्रगटरूपसे रहकर चौबीसपद आदिके द्वारा लोकोपकार तो कर ही गये हैं। निष्... लोकोपकार यह महापुरुषोंका धर्म है।

प्रगटरूपसे लोग आनंदघनजीको पहिचान न सके। परन्तु आनंदघनजी अप्रगट रहकर उनका हित ही करते रहे।

इस समय तो श्रीआनंदघनजीके समयकी अपेक्षा भी अधिक विषमता—वीतरागमार्ग-विमुखता—व्याप्त हो रही है।

(२) श्रीआनंदघनजीको सिद्धांतबोध तीव्र था। वे श्वेताम्बर सम्प्रदायमें थे। यदि 'चूर्णि भाष्य सूत्र निर्युक्ति, वृत्ति परंपर अनुभव रे' इत्यादि पंचांगीका नाम उनके श्रीनमिनाथजीके स्तवनमें न आया होता, तो यह भी खबर न पड़ती कि वे श्वेताम्बर सम्प्रदायके थे या दिगम्बर सम्प्रदायके।

८०७

मोरबी चैत्र वदी १५, १९५५

'इस भारतवर्षकी अधोगति जैनधर्मसे हुई है—' ऐसा महीपतराम रूपराम कहते थे—लिखते थे। करीब दस बरस हुए उनका अहमदाबादमें मिलाप हुआ, तो उनसे पूँछा:—

प्रश्नः—भाई! जैनधर्म क्या अहिंसा, सत्य, मेल, न्याय, नीति, आरोग्यप्रद आहार-पान, अव्यसन, और उद्यम आदिका उपदेश करता है?

उत्तरः—हाँ (महीपतरामने उत्तर दिया)।

प्रश्नः—भाई! जैनधर्म क्या हिंसा, असत्य, चोरी, फूट, अन्याय, अनीति, विरुद्ध आहार-विहार, विषयलालसा, आलस-प्रमाद आदिका निषेध करता है?

महीपतराम—हाँ!

प्रश्नः—देशकी अधोगति किससे होती है? क्या अहिंसा, सत्य, मेल, न्याय, नीति, तथा जो आरोग्य प्रदान करे और उसकी रक्षा करे ऐसा शुद्ध सादा आहार-पान, और अव्यसन, उद्यम आदिसे देशकी अधोगति होती है? अथवा उससे विपरीत हिंसा, असत्य, फूट अन्याय, अनीति, तथा जो आरोग्यको बिगाड़े और शरीर-मनको अशक्त करे ऐसा विरुद्ध आहार-विहार, और व्यसन, मौज शौक, आलस-प्रमाद आदिसे देशकी अधोगति होती है।

उत्तरः—दूसरेसे; अर्थात् विपरीत हिंसा, असत्य, फूट, प्रमाद आदिसे!

प्रश्नः—तो फिर क्या इनसे उल्टे अहिंसा, सत्य, मेल, अव्यसन, उद्यम आदिसे देशकी उन्नति होती है?

उत्तरः—हाँ।

प्रश्नः—तो क्या जैनधर्म ऐसा उपदेश करता है कि जिससे देशकी अधोगति हो? या ऐसा उपदेश करता है कि जिससे देशकी उन्नति हो?

श्रीमद् राजचंद्र
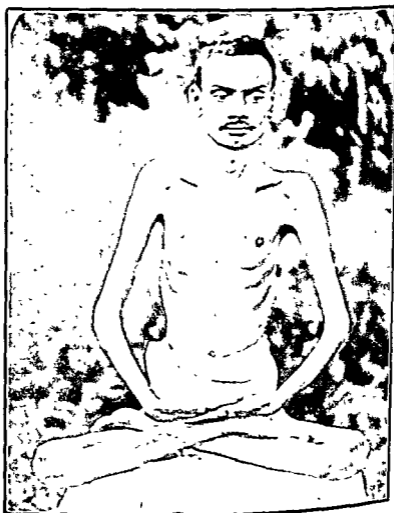
वर्ष ३३ मुं.   वि सं. १९५६

आत्मगुणोंके प्राप्त करनेका अधिकार उत्पन्न होता है। यदि इस प्रथम नियमके ऊपर ध्यान रक्खा जाय और उस नियमको अवश्य सिद्ध किया जाय, तो कषाय आदि स्वभावसे मंद पड़ने योग्य हो जाते हैं अथवा ज्ञानीका मार्ग आत्म-परिणामी होता है। उसके ऊपर ध्यान देना योग्य है।

८११

ईडर, वैशाख वदी ६ मंगल. १९५३

ॐ

उस क्षेत्रमें यदि निवृत्तिका विशेष योग हो, तो कार्त्तिकेयानुप्रेक्षाका बारम्बार निदिध्यासन करना चाहिये—ऐसा मुनिश्रीको विनयपूर्वक कहना योग्य है।

जिन्होंने बाह्याभ्यंतर असंगता प्राप्त की है, ऐसे महात्माओंको संसारका अंत समीप है—ऐसा निस्सन्देह ज्ञानीका निश्चय है।

८१२

सर्व चारित्र वशीभूत करनेके लिये, सर्व प्रमाद दूर करनेके लिये, आत्मामें अखंडवृत्ति रहनेके लिये, मोक्षसंबंधी सब प्रकारके साधनोंका जय करनेके लिये, 'ब्रह्मचर्य' अद्भुत अनुपम सहकारी है, अथवा मूलभूत है।

८१३

ईडर, वैशाख वदी १० शनि. १९५३

ॐ. किसनदासजीकृत क्रियाकोष नामक पुस्तक मिली होगी। उसका आदिसे लगाकर अंततक अध्ययन करनेके पश्चात्, सुगम भाषामें एक तद्विषयक निबंध लिखनेसे विशेष अनुप्रेक्षा होगी, और वैसी क्रियाका आचरण भी सुगम है—यह स्पष्टता होगी, ऐसा संभव है।

राजनगरमें परम तत्त्वदृष्टिका प्रसंगोपात्त उपदेश हुआ था; उसे अप्रमत्त चित्तसे बारंबार एकांत-योगमें स्मरण करना उचित है।

८१४

ॐ नमः

सर्वज्ञ वीतरागदेव.

सर्व द्रव्य क्षेत्र काल भावका सर्व प्रकारसे जाननेवाला, और राग-द्वेष आदि सर्व विभाव जिसके क्षीण हो गये हैं, वह ईश्वर है।

वह पद मनुष्यदेहमें प्राप्त हो सकता है। जो सम्पूर्ण वीतराग हो वह सम्पूर्ण सर्वज्ञ होता है।

सम्पूर्ण वीतराग हुआ जा सकता है, ऐसे हेतु सुप्रतीत होते हैं।

८१५

नडियाद, ज्येष्ठ १९५३

मंत्र तंत्र औषध नहीं, जेथी पाप पलाय।
वीतरागवाणी विना अवर न कोई उपाय॥

---

२. शुद्ध आत्मस्थितिके पारमार्थिक श्रुत और इन्द्रियजय ये दो मुख्य अवलंबन हैं। सुदृढतापूर्वक उपासना करनेसे उनकी सिद्धि होती है।

हे आर्य! निराशाके समय महात्मा पुरुषोंका अद्भुत चारित्र स्मरण करने योग्य है। वीतराग, परमतत्त्वकी उपासना करनेका मुख्य अधिकारी है।

३. अप्रमत्त स्वभावका बारम्बार स्मरण करते हैं। शान्तिः.

८२१

बम्बई, आषाढ वदी ८ शौ. १९५४

ॐ. मुमुक्षु तथा दूसरे जीवोंके उपकारके निमित्त जो उपकारशील बाह्य प्रवृत्तिकी सूचना—लिपि—की है, वह अथवा दूसरे कोई कारण किसी अपेक्षासे उपकारशील होते हैं।

हालमें वैसे प्रवृत्ति-स्वभावके प्रति उपशांत वृत्ति है। प्रारब्धयोगसे जो बने वह भी शुद्ध स्वभावके अनुसंधानपूर्वक ही होना योग्य है।

महात्माओंने निष्कारण करुणासे परमपदका उपदेश किया है। उससे यह मालूम होता है कि उस उपदेशका कार्य परम महान् ही है। सब जीवोंके प्रति बाह्य दयामें भी अप्रमत्त रहनेका जिनके योगका स्वभाव है, उसका आत्मस्वभाव सब जीवोंको परमपदके उपदेशका आकर्षक हो—ऐसी निष्कारण करुणावाला हो—यह यथार्थ है।

८२२

बम्बई, आषाढ वदी ८ शौ. १९५४

ॐ नमः

बिना नयन पावे नहीं, बिना नयनकी बात.

इस वाक्यका मुख्य हेतु आत्मदृष्टिसंबंधी है। यह वाक्य स्वाभाविक उत्कर्षके लिये है। सत्समागमके योगमें इसका यथार्थ समझमें आ सकता है। तथा दूसरे प्रश्नोंके समाधानके लिये हालमें बहुत ही अल्प प्रवृत्ति रहती है। सत्समागमके योगमें उनका सहज ही समाधान हो सकता है।

'बिना नयन' आदि वाक्यका अपनी निजकल्पनासे कुछ भी विचार न करते हुए, अथवा जिससे शुद्ध चैतन्यदृष्टिके प्रति जो वृत्ति है वह विक्षेप प्राप्त न करे, इस तरह आचरण करना चाहिये। कार्तिकेयानुप्रेक्षा अथवा दूसरे सत्शास्त्र बहुत करके थोड़े समयमें मिलेंगे।

दुःषम काल है, आयु अल्प है, सत्समागम दुर्लभ है, महात्माओंके प्रत्यक्ष वाक्य चरण और आज्ञाका योग मिलना कठिन है। इस कारण बलवान अप्रमत्त प्रयत्न करना चाहिये। शांतिः.

८२३

बम्बई, श्रावण सुदी ३, १९५४

ॐ. परमगुरुकी मुख्य भक्ति, ऐसे सदाचरणसे प्राप्त होती है जिससे उत्तरोत्तर गुणोंकी वृद्धि हो।

चरणप्रतीति (शुद्ध आचरणकी उपासना) रूप सदाचरण ज्ञानीकी मुख्य आज्ञा है; जो आज्ञा परमगुरुकी मुख्य भक्ति है।

(२)

× देह जीव एकरूपे भासे छे अज्ञान वडे, क्रियानी प्रवृत्ति पण तेथी तेम थाय छे;
जीवनी उत्पत्ति अने रोग शोक दुःख मृत्यु, देहनो स्वभाव जीवपदमां जणाय छे।
एवो जे अनादि एकरूपनो मिथ्यात्वभाव, ज्ञानिनां वचन वडे दूर थई जाय छे;
भासे जड चैतन्यनो प्रगट स्वभाव भिन्न, बंने द्रव्य निज निजरूपे स्थित थाय छे।

(३)

* जन्म जरा ने मृत्यु मुख्य दुःखना हेतु।
कारण तेनां बे कह्यां रागद्वेष अणहेतु॥

(४)

+ वचनामृत वीतरागनां परम शांतरस मूळ।
औषध जे भवरोगनां, कायरने प्रतिकूळ॥

(५)

प्राणीमात्रका रक्षक, बांधव और हितकारी, यदि ऐसा कोई उपाय हो तो वह वीतरागका धर्म ही है।

(६)

संतजनो! जिनेन्द्रवरोंने लोक आदि जो स्वरूप वर्णन किया है, वह अलंकारिक भाषामें योगाभ्यास और लोक आदिके स्वरूपका निरूपण है; यह पूर्ण योगाभ्यासके बिना ज्ञानगोचर नहीं हो सकता। इसलिये तुम अपने अपूर्ण ज्ञानके आधारसे वीतरागके वाक्योंका विरोध करते हो नहीं, परन्तु योगका अभ्यास करके पूर्णतासे उस स्वरूपके ज्ञाता होना।

---

८३६ बम्बई, कार्तिक वदी १२, १९५५

(१) इनॉक्युलेशन—महामारीका टीका। टीकेके नामपर, देखो, डाक्टरोंने यह तूफान खड़ा किया है। बिचारे घोड़े आदिको टीकेके बहाने वे क्रूरतासे मार डालते हैं, हिंसा करके पापका पोषण करते हैं—पाप उपार्जन करते हैं। पूर्वमें पापानुबंधी जो पुण्य उपार्जन किया है, उसके योगसे ही वे वर्तमानमें पुण्यको भोगते हैं, परन्तु परिणाममें वे पाप ही इकट्ठा करते हैं—इसकी बिचारे डाक्टरोंको खबर भी नहीं है। टीका लगानेसे जब रोग दूर हो जाय तबकी बात तो तब रही, परन्तु इस समय तो उसमें हिंसा प्रगट है। टीका लगानेसे एक रोग दूर करते हुए दूसरा रोग भी खड़ा हो जाता है।

× देह और जीव अज्ञानसे ही एकरूप भासित होते हैं। उससे क्रियाकी प्रवृत्ति भी वैसी ही होती है। जीवकी उत्पत्ति और रोग, शोक, दुःख मृत्यु यह जो देहका स्वभाव है, वह अज्ञानसे ही जीवपदमें समझा जाता है। ऐसा जो अनादिका जीव और देहको एकरूप माननेका मिथ्यात्वभाव है, वह ज्ञानीके वचनसे दूर हो जाता है। उस समय जड़ और चैतन्यका स्वभाव स्पष्ट भिन्न भिन्न मालूम होने लगता है, और दोनों द्रव्य अपने अपने स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं।

* जन्म जरा और मृत्यु ये दुःखके मुख्य हेतु हैं। उनके राग और द्वेष ये दो कारण हैं।

+ वीतरागके वचनामृत परम शान्तरसके मूल हैं। यह भवरोगकी औषध है, जो कायर पुरुषको प्रतिकूल होती है।

यत्नसे घरकी स्वच्छता, भोजन पकाना, शयन इत्यादि कराते हैं।

स्वयं विचक्षणतासे आचरण करते हुए स्त्री और पुत्रको विनयी और धर्मात्मा बनाते हैं।

कुटुम्बमें ऐक्यकी वृद्धि करते हैं।

आये हुए अतिथिका यथायोग्य सन्मान करते हैं।

याचकको क्षुधातुर नहीं रखते।

सत्पुरुषोंका समागम, और उनका उपदेश धारण करते हैं।

निरंतर मर्यादासे और संतोषयुक्त रहते हैं।

यथाशक्ति घरमें शास्त्र-संचय रखते हैं।

अल्प आरंभसे व्यवहार चलाते हैं।

ऐसा गृहस्थावास उत्तम गतिका कारण होता है, ऐसा ज्ञानी लोग कहते हैं।

१३ जिनेश्वरकी भक्ति

(१)

जिज्ञासु—विचक्षण सत्य ! कोई शंकरकी, कोई ब्रह्माकी, कोई विष्णुकी, कोई सूर्यकी, कोई अग्निकी, कोई भवानीकी, कोई पैगम्बरकी और कोई क्राइस्टकी भक्ति करता है। ये लोग इनकी भक्ति करके क्या आशा रखते होंगे ?

सत्य—प्रिय जिज्ञासु ! ये भक्त लोग मोक्ष प्राप्त करनेकी परम आशासे इन देवोंको भजते हैं।

जिज्ञासु—तो कहिये, क्या आपका मत है कि इससे वे उत्तम गति पा सकेंगे ?

सत्य—इनकी भक्ति करनेसे वे मोक्ष पा सकेंगे, ऐसा मैं नहीं कह सकता। जिनको ये लोग परमेश्वर कहते हैं उन्होंने कोई मोक्षको नहीं पाया, तो ये फिर उपासकको मोक्ष कहाँसे दे सकते हैं ! शंकर वगैरह कर्मोंका क्षय नहीं कर सके, और वे दूषणोंसे युक्त हैं, इस कारण वे पूजने योग्य नहीं।

जिज्ञासु—ये दूषण कौन कौनसे हैं, यह कहिये।

सत्य—अज्ञान, निद्रा, मिथ्यात्व, राग, द्वेष, अविरति, भय, शोक, जुगुप्सा, दानांतराय, लाभांतराय, वीर्यांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय, काम, हास्य, रति और अरति इन अठारह दूषणोंमेंसे यदि एक भी दूषण हो तो भी वे अपूज्य हैं। एक समर्थ पंडितने भी कहा है कि 'मैं परमेश्वर हूँ' इस प्रकार मिथ्या रीतिसे मनानेवाले पुरुष स्वयं अपने आपको ठगते हैं। क्योंकि पासमें स्त्री होनेसे वे विषयी ठहरते हैं, शस्त्र धारण किये हुए होनेसे वे द्वेषी ठहरते हैं, जपमाला धारण करनेसे उनके चित्तका व्यग्रता सूचित होता है, 'मेरी शरणमें आ, मैं सब पापोंको हर लूँगा' ऐसा कहनेवाले अभिमानी और नास्तिक ठहरते हैं। ऐसी दशामें फिर दूसरोंको वे कैसे पार कर सकते हैं ? तथा बहुतसे अवतार लेनेके कारण परमेश्वर कहलाते हैं, तो इससे सिद्ध होता है कि उन्हें किसी कर्मका भोगना अभी बाकी है।

जिज्ञासु—भाई ! तो पूज्य कौन है, और किसकी भक्ति करनी चाहिये, जिससे आत्म-स्वशक्तिका प्रकाश करे ?

समयके अनुसार मनुष्यकी प्रकृति न हो तो मनुष्यका वजन नहीं पड़ता। तथा वजनरहित मनुष्य इस जगत्में किसी कामका नहीं।

अपनेको मिली हुई मनुष्यदेह भगवान्की भक्ति और अच्छे काममें व्यतीत करनी चाहिये।

---

८५१ ववाणीआ, ज्येष्ठ वदी १०, १९५६

ॐ. पत्र मिला। शरीर-प्रकृति स्वस्थास्वस्थ रहती है, विक्षेप करना योग्य नहीं।

हे आर्य! अंतर्मुख होनेका अभ्यास करो। शांतिः।

---

८५२ ववाणीआ, ज्येष्ठ वदी १५ बुध. १९५६

ॐ. परम पुरुषको अभिमत अभ्यंतर और बाह्य दोनों संयमको उल्लासित भक्तिसे नमस्कार हो!

मोक्षमालाके संबंधमें जैसे तुम्हें सुख हो वैसा करो।

मनुष्यता, आर्यता, ज्ञानीके वचनोंका श्रवण, उसके प्रति आस्तिक्यभाव, संयम, उसके प्रति वीर्यप्रवृत्ति, प्रतिकूल योगोंमें भी स्थिति होना, अंतपर्यंत सम्पूर्ण मार्गरूप समुद्रका पार हो जाना—ये उत्तरोत्तर दुर्लभ और अत्यंत कठिन हैं; इसमें सन्देह नहीं।

शरीर-प्रकृति क्वचित् ठीक देखनेमें आती है, और क्वचित् उससे विपरीत भी देखनेमें आती है। इस समय कुछ असाताकी मुख्यता देखनेमें आती है। ॐ शान्तिः.

(२)

ॐ. चक्रवर्तीकी समस्त संपत्तिकी अपेक्षा भी जिसका एक समयमात्र भी विशेष मूल्यवान है, ऐसी इस मनुष्यदेहका, और परमार्थको अनुकूल योग प्राप्त होनेपर यदि जन्म मरणसे रहित परमपदका ध्यान न रहा, तो इस मनुष्यजन्मको अधिष्ठित इस आत्माको अनंतबार धिक्कार हो।

जिन्होंने प्रमादका जय किया, उन्होंने परमपदका जय किया। शांतिः.

(३)

शरीर-प्रकृतिकी अनुकूल-प्रतिकूलताके आधीन उपयोग करना उचित नहीं। शान्तिः.

८५३

जिससे मनचिन्ता प्राप्त हो, उस मणिको चिंतामणि कहा है। यह यही मनुष्य देह है कि जिस देहमें—योगमें—आत्यंतिक सर्व दुःखके क्षय करनेका चिन्तन किया हो तो पार पड़ती है।

जिसका अचिन्त्य माहात्म्य है, ऐसा सत्संगरूपी कल्पवृक्ष प्राप्त होनेपर भी जीव दरिद्र बना रहे, तो इस जगत्में यह ग्यारहवाँ आश्चर्य है।

---

८५४ ववाणीआ, आषाढ़ सुदी १ गुरु. १९५६

(१)

ॐ. दो समय उपदेश और एक समय आहार-ग्रहण, तथा निद्राके समयको छोड़कर बाकीका

वियोग करनेके मार्गको गवेषण करनेके लिये तत्पर हुए; और उस सन्मार्गका गवेषण कर, प्रतीति कर, उसका यथायोग्य आराधन कर, अव्याबाध सुखस्वरूप आत्माके सहज शुद्ध स्वभावरूप मोक्ष पदमें लीन हो गये।

साता असाताका उदय अथवा अनुभव प्राप्त होनेके मूल कारणोंकी गवेषणा करनेवाले ऐसे उन महान् पुरुषोंको ऐसी विलक्षण सानंद आश्चर्यकारक वृत्ति उद्भूत होती थी कि साताकी अपेक्षा असाताका उदय प्राप्त होनेपर, और उसमें भी तीव्रतासे उस उदयके प्राप्त होनेपर, उनका वीर्य विशेष रूपसे जाग्रत होता था, उल्लासित होता था, और वह समय अधिकतासे कल्याणकारी समझा जाता था। कितने ही कारणविशेषके योगसे व्यवहारदृष्टिसे, वे ग्रहण करने योग्य औषध आदिको आत्ममर्यादामें रहकर ग्रहण करते थे, परन्तु मुख्यतया वे उस परम उपशमकी ही सर्वोत्कृष्ट औषधरूपसे उपासना करते थे।

(१) उपयोग लक्षणसे सनातन स्फुरित ऐसी आत्माको देहसे (तैजस और कार्माण शरीर) भी भिन्न अवलोकन करनेकी दृष्टिको साध्य कर; (२) वह चैतन्यात्मक स्वभाव—आत्मा—निरंतर वेदक स्वभाववाली होनेसे, अबंधदशाको जबतक प्राप्त न हो, तबतक साता-असातारूप अनुभवका वेदन हुए बिना रहनेवाला नहीं, यह निश्चय कर; (३) जिस शुभाशुभ परिणामधाराकी परिणतिसे वह साता असाताका बंध करती है, उस धाराके प्रति उदासीन होकर; (४) देह आदिसे भिन्न और स्वरूप मर्यादामें रहनेवाली उस आत्मामें जो चल स्वभावरूप परिणाम-धारा है, उसका आत्यंतिक वियोग करनेका सन्मार्ग ग्रहण कर; (५) परम शुद्ध चैतन्यस्वभावरूप प्रकाशमय वह आत्मा कर्मयोगसे जो सकलंक परिणाम प्रदर्शित करती है, उससे उपशम प्राप्त कर; जिस तरह उपशमयुक्त हुआ जाय, उस उपयोगमें और उस स्वरूपमें स्थिर हुआ जाय, अचल हुआ जाय, वही लक्ष, वही भावना, वही चिंतवना और वही सहज परिणामरूप स्वभाव करना उचित है। महात्माओंकी बारम्बार यही शिक्षा है।

उस सन्मार्गकी गवेषणा करते हुए, प्रतीति करनेकी इच्छा करते हुए, उसे प्राप्त करनेकी इच्छा करते हुए, आत्मार्थी जनको परमवीतरागस्वरूप देव, स्वरूपनैष्ठिक निस्पृह निर्ग्रंथरूप गुरु, परमदयामूल धर्मव्यवहार, और परमशांतरस रहस्यवाक्यमय सत्शास्त्र, सन्मार्गकी सम्पूर्णता होनेतक, परम भक्तिसे उपासना करने योग्य हैं; जो आत्माके कल्याणका परम कारण है।

भीसण नरयगईए, तिरियगईए कुदेवमणुयगईए।
पत्तोसि तिव्वदुःखं, भावहि जिणभावणा जीव ॥

—भयंकर नरकगतिमें, तिर्यंचगतिमें, और कुदेव तथा मनुष्यगतिमें, हे जीव! तूने तीव्र दुःखको पाया, इसलिये अब तू जिनभावनाका (जिनभगवान् जो परम शांतरससे परिणमकर स्वरूपस्थ हुए उस परमशांतस्वरूप चिंतवनाका) भाव न कर—चिंतवन कर (जिससे उन अनंत दुःखोंका आत्यंतिक वियोग होकर, परम अव्याबाध सुख-सम्पत्ति प्राप्त हो)। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

(२)

जहाँ जनवृत्ति असंकुचित भावसे संभव होती हो, और जहाँ निवृत्तिके योग्य विशेष कारण हैं, ऐसे क्षेत्रमें महान् पुरुषोंको विहार चातुर्मासरूप स्थिति करनी चाहिये। शांतिः।

अवकाश मुख्यतया आत्म-विचारमें, पद्मनन्दि आदि शास्त्रोंके अवलोकनमें, और आत्मध्यानमें व्यतीत करना उचित है। कोई बाई या भाई कभी कुछ प्रश्न आदि करें तो उनका उचित समाधान करना चाहिये, जिससे उनकी आत्मा शांत हो। अशुद्ध क्रियाके निषेधक वचन उपदेशरूपसे न कहो; जिस तरह शुद्ध क्रियामें लोगोंकी रुचि बढ़े, उस तरह क्रिया कराते रहना चाहिये।

उदाहरणके लिये, जैसे कोई मनुष्य अपनी रूढ़ीके अनुसार सामायिक व्रत करता है, तो उसका निषेध न करते हुए, जिससे उसका वह समय उपदेशके श्रवणमें, सत्शास्त्रके अध्ययनमें अथवा कायोत्सर्गमें व्यतीत हो, उस तरह उसे उपदेश करना चाहिये। किंचित्मात्र आभासरूपसे भी सामायिक व्रत आदिका निषेध हृदयमें भी न आवे, उसे ऐसी गंभीरतासे शुद्ध क्रियाकी प्रेरणा करनी चाहिये।

स्पष्ट प्रेरणा करते हुए भी क्रियासे रहित होकर जीव उन्मत्त हो जाता है; अथवा 'तुम्हारी यह क्रिया बराबर नहीं'—इतना कहनेसे भी, तुम्हें दोष देकर वह उस क्रियाको छोड़ देता है—ऐसा प्रमत्त जीवोंका स्वभाव है; और लोगोंकी दृष्टिमें ऐसा आता है कि तुमने ही क्रियाका निषेध किया है। इसलिये मतभेदसे दूर रहकर, मध्यस्थवत् रहकर, अपनी आत्माका हित करते हुए, ज्यों ज्यों दूसरेकी आत्माका हित हो, त्यों त्यों प्रवृत्ति करनी चाहिये; और ज्ञानीके मार्गका, ज्ञान-क्रियाका समन्वय स्थापित करना चाहिये, यही निर्जराका सुन्दर मार्ग है।

स्वात्महितमें जिससे प्रमाद न हो, और दूसरेको अविक्षेपभावसे आस्तिक्यवृत्ति बँधे, वैसा उसका श्रवण हो, क्रियाकी वृद्धि हो, तथा कल्पित भेदोंकी वृद्धि न हो, और अपनी और परकी आत्माको शान्ति हो, इस तरह प्रवृत्ति करानेमें उल्लासित वृत्ति रखना। सत्शास्त्रके प्रति जिससे रुचि बढ़े वैसा करना। ॐ शान्तिः.

(२)

१. × ते माटे उभा कर जोडी, जिनवर आगळ कहिये रे।
समयचरण सेवा शुद्ध देजो, जेम आनंदघन लहिये रे॥

२. मुमुक्षु भाईयोंको, जिस तरह लोक-विरुद्ध न हो, उस तरह तीर्थके लिये गमन करनेमें आज्ञाका अतिक्रम नहीं। ॐ. शान्तिः.

---

८५५ मोरबी, आषाढ वदी ९ गुरु. १९५५

(१)

१. सम्यक् प्रकारसे वेदना सहन करनेरूप परमधर्म परमपुरुषोंने कहा है।

२. तीक्ष्ण वेदनाका अनुभव करते हुए स्वरूप-भ्रंशवृत्ति न हो, यही शुद्ध चारित्रका मार्ग है।

३. उपशम ही जिस ज्ञानका मूल है, उस ज्ञानमें तीक्ष्ण वेदना परम निर्जरारूप भासने योग्य है। ॐ शान्तिः.

(२)

ॐ. [illegible] किंचित् भी अपराध हुआ हो, उसकी नम्रतासे क्षमा माँगता हूँ।

× [illegible]

अवकाश मुख्यतया आत्म-विचारमें, पद्मनन्दि आदि शास्त्रोंके अवलोकनमें, और आत्मध्यानमें व्यतीत करना उचित है। कोई बाई या भाई कभी कुछ प्रश्न आदि करें तो उनका उचित समाधान करना चाहिये, जिससे उनकी आत्मा शांत हो। अशुद्ध क्रियाके निषेधक वचन उपदेशरूपसे न कहते हुए, जिस तरह शुद्ध क्रियामें लोगोंकी रुचि बढ़े, उस तरह क्रिया कराते रहना चाहिये।

उदाहरणके लिये, जैसे कोई मनुष्य अपनी रूढीके अनुसार सामायिक व्रत करता है, तो उसका निषेध न करते हुए, जिससे उसका वह समय उपदेशके श्रवणमें, सत्शास्त्रके अध्ययनमें अथवा कायोत्सर्गमें व्यतीत हो, उस तरह उसे उपदेश करना चाहिये। किंचित्मात्र आभासरूपसे भी सामायिक व्रत आदिका निषेध हृदयमें भी न आवे, उसे ऐसी गंभीरतासे शुद्ध क्रियाकी प्रेरणा करनी चाहिये।

स्पष्ट प्रेरणा करते हुए भी क्रियासे रहित होकर जीव उन्मत्त हो जाता है; अथवा 'तुम्हारी यह क्रिया बराबर नहीं'—इतना कहनेसे भी, तुम्हें दोष देकर वह उस क्रियाको छोड़ देता है—ऐसा प्रायः जीवोंका स्वभाव है; और लोगोंकी दृष्टिमें ऐसा आता है कि तुमने ही क्रियाका निषेध किया है। इसलिये मतभेदसे दूर रहकर, मध्यस्थवत् रहकर, अपनी आत्माका हित करते हुए, ज्यों ज्यों दूसरेकी आत्माका हित हो, त्यों त्यों प्रवृत्ति करनी चाहिये; और ज्ञानीके मार्गका, ज्ञान-क्रियाका समन्वय स्थापित करना चाहिये, यही निर्जराका सुन्दर मार्ग है।

स्वात्महितमें जिससे प्रमाद न हो, और दूसरेको अविक्षेपभावसे आस्तिक्यवृत्ति बँधे, वैसा उसका श्रवण हो, क्रियाकी वृद्धि हो, तथा कल्पित भेदोंकी वृद्धि न हो, और अपनी और परकी आत्माको शांति हो, इस तरह प्रवृत्ति करानेमें उल्लासित वृत्ति रखना। सत्शास्त्रके प्रति जिससे रुचि बढ़े वैसे करना। ॐ शान्तिः.

(२)

१. × ते माटे उभा कर जोडी, जिनवर आगळ कहिये रे।
समयचरण सेवा शुद्ध देजो, जेम आनंदघन लहिये रे॥

२. मुमुक्षु भाईयोंको, जिस तरह लोक-विरुद्ध न हो, उस तरह तीर्थके लिये गमन करनेमें आज्ञाका अतिक्रम नहीं। ॐ. शान्तिः.

८५५

मोरबी, आषाढ वदी ९ शुक्र. १९५५

(१)

१. सम्यक् प्रकारसे वेदना सहन करनेरूप परमपुरुषोंने परमधर्म कहा है।

२. तीक्ष्ण वेदनाका अनुभव करते हुए स्वरूप-भ्रंशवृत्ति न हो, यही शुद्ध चारित्रका मार्ग है।

३. उपशम ही जिस ज्ञानका मूल है, उस ज्ञानमें तीक्ष्ण वेदना परम निर्जरा भासने योग्य है। ॐ शान्तिः.

(२)

ॐ. आषाढ पूर्णिमा तक चातुर्माससंबंधी जो किंचित् भी अपराध हुआ हो, उसकी नम्रतासे क्षमा माँगता हूँ।

× अर्थके लिये देखो. अंक ६८९.

भावसे तो भोग करते जाना और कहना कि आत्माको कर्म लगते नहीं, तो यह ज्ञानीकी दृष्टि नहीं—यह केवल वचन-ज्ञानीका ही वचन है।

(११) प्रश्नः—जैनदर्शन कहता है कि पुद्गलभावके कम होनेपर आत्मध्यान फलीभूत होगा, तो क्या यह ठीक है ?

उत्तरः—वह यथार्थ कहता है।

(१२) प्रश्नः—स्वभावदशा क्या फल देती है ?

उत्तरः—वह तथारूप सम्पूर्ण हो तो मोक्ष होती है।

(१३) प्रश्नः—विभावदशा क्या फल देती है ?

उत्तरः—जन्म, जरा मरण आदि संसार।

(१४) प्रश्नः—वीतरागकी आज्ञासे यदि पोरसीकी स्वाध्याय करे तो उसमे क्या फल होता है ?

उत्तरः—वह तथारूप हो तो यावत् काल मोक्ष होती है।

(१५) प्रश्नः—वीतरागकी आज्ञासे यदि ×पोरसीका ध्यान करे तो क्या फल होता है ?

उत्तरः—वह तथारूप हो तो यावत् काल मोक्ष होती है।

—इस तरह तुम्हारे प्रश्नोंका संक्षेपसे उत्तर लिखता हूँ।

३. लौकिकभाव छोड़कर, वचनज्ञान छोड़कर, कल्पित विधिनिषेधका त्यागकर, जो जीव प्रत्यक्ष ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन कर, तथारूप उपदेश लेकर, तथारूप आत्मार्थमें प्रवृत्ति करता है, उसका अवश्य कल्याण होता है।

निजकल्पनासे ज्ञान दर्शन चारित्र आदिका स्वरूप चाहे जिस तरह समझकर, अथवा निश्चयनयके बोल सीखकर, जो सद्व्यवहारके लोप करनेमें प्रवृत्ति करे, उससे आत्माका कल्याण होना संभव नहीं। अथवा कल्पित व्यवहारके दुराग्रहमें रुके रहकर, प्रवृत्ति करते हुए भी जीवका कल्याण होना संभव नहीं।

* ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहां समजवुं तेह।

त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह॥

एकान्त क्रिया-जड़तामें अथवा एकान्त शुष्कज्ञानसे जीवका कल्याण नहीं होता।

८४४ ववाणीआ, वैशाख वदी ८ मंगल. १९५६

ॐ. प्रमत्त अर्थात् प्रमत्त ऐसे आजकलके जीव हैं, और परमपुरुषोंने अप्रमत्तमें सहज आत्मशुद्धि कही है। इसलिये उस विरोधके शान्त होनेके लिये परमपुरुषका समागम-चरणका योग परम हितकारी है। ॐ शान्तिः.

---

८४५ ववाणीआ, वैशाख वदी ९ बुध. १९५६

ॐ. मोहमयीसे जन्मान्तर अथवा धर्मार्थिताने कोई बाह्यान्तर करनेकी वृत्ति हो तो बताना। उपदेशज्ञान आदि लिखनेकी वृत्ति हो तो लिखना। जीवनचरित्रकी वृत्ति उपशान्त करना।

× यह एक प्रकारका स्वाध्याय है। इसमें प्रथम प्रहरमें मात्र [illegible] लिया जाता है। —अनुवादक.

* आत्मसिद्धि ८.

अवकाश मुख्यतया आत्म-विचारमें, पद्मनन्दि आदि शास्त्रोंके अवलोकनमें, और
करना उचित है। कोई बाई या भाई कभी कुछ प्रश्न आदि करें तो उनका उचित समाधान
चाहिये, जिससे उनकी आत्मा शांत हो। अशुद्ध क्रियाके निषेधक वचन उपदेशरूपसे न कहते
जिस तरह शुद्ध क्रियामें लोगोंकी रुचि बढ़े, उस तरह क्रिया कराते रहना चाहिये।

उदाहरणके लिये, जैसे कोई मनुष्य अपनी रूढ़िके अनुसार सामायिक व्रत करता है, तो
निषेध न करते हुए, जिससे उसका वह समय उपदेशके श्रवणमें, सत्शास्त्रके अध्ययनमें अथवा
कायोत्सर्गमें व्यतीत हो, उस तरह उसे उपदेश करना चाहिये। किंचित्मात्र आभासरूपसे भी सामा-
यिक व्रत आदिका निषेध हृदयमें भी न आवे, उसे ऐसी गंभीरतासे शुद्ध क्रियाकी प्रेरणा करनी चाहिये।

स्पष्ट प्रेरणा करते हुए भी क्रियासे रहित होकर जीव उन्मत्त हो जाता है; अथवा 'तुम्हारी यह
क्रिया बराबर नहीं'—इतना कहनेसे भी, तुम्हें दोष देकर वह उस क्रियाको छोड़ देता है—ऐसा प्रमत्त
जीवोंका स्वभाव है; और लोगोंकी दृष्टिमें ऐसा आता है कि तुमने ही क्रियाका निषेध किया है। इस-
लिये मतभेदसे दूर रहकर, मध्यस्थवत् रहकर, अपनी आत्माका हित करते हुए, ज्यों ज्यों दूसरेकी
आत्माका हित हो, त्यों त्यों प्रवृत्ति करनी चाहिये; और ज्ञानीके मार्गका, ज्ञान-क्रियाका समन्वय स्थापित
करना चाहिये, यही निर्जराका सुन्दर मार्ग है।

स्वात्महितमें जिससे प्रमाद न हो, और दूसरेको अविक्षेपभावसे आस्तिक्यवृत्ति बँधे, वैसा उसका
श्रवण हो, क्रियाकी वृद्धि हो, तथा कल्पित भेदोंकी वृद्धि न हो, और अपनी और परकी आत्माको
शांति हो, इस तरह प्रवृत्ति करानेमें उल्लासित वृत्ति रखना। सत्शास्त्रके प्रति जिससे रुचि बढ़े वैसा
करना। ॐ शान्तिः.

(२)

१. × ते माटे उभा कर जोडी, जिनवर आगळ कहिये रे।
समयचरण सेवा शुद्ध देजो, जेम आनंदघन लहिये रे॥

२. मुमुक्षु भाईयोंको, जिस तरह लोक-विरुद्ध न हो, उस तरह तीर्थके लिये जाना
करनेमें आज्ञाका अतिक्रम नहीं। ॐ. शांतिः.

---

८५५ मोरबी, आषाढ़ वदी ९ शुक्र. १९५६

(१)

१. सम्यक् प्रकारसे वेदना सहन करनेरूप परमपुरुषोंने परमधर्म कहा है।

२. तीक्ष्ण वेदनाका अनुभव करते हुए स्वरूप-भ्रंशवृत्ति न हो, यही शुद्ध चारित्रका मार्ग है।

३. उपशम ही जिस ज्ञानका मूल है, उस ज्ञानमें तीक्ष्ण वेदना परम निर्जरा भासने
योग्य है। ॐ शान्तिः.

(२)

ॐ. आषाढ़ पूर्णिमातक चातुर्माससंबंधी जो किंचित् भी अपराध हुआ हो, उसकी नम्रतासे
क्षमा माँगता हूँ।

× अर्थके लिये देखो. अंक ६८९.

भावसे तो भोग करते जाना और कहना कि आत्माको कर्म लगते नहीं, तो वह ज्ञानीकी दृष्टिका वचन नहीं—वह केवल वचन-ज्ञानीका ही वचन है ।

(११) प्रश्नः—जैनदर्शन कहता है कि पुद्गलभावके कम होनेपर आत्मध्यान फलेगा होगा, तो क्या यह ठीक है ?

उत्तरः—वह यथार्थ कहता है ।

(१२) प्रश्नः—स्वभावदशा क्या फल देती है ?

उत्तरः—वह तथारूप सम्पूर्ण हो तो मोक्ष होती है ।

(१३) प्रश्नः—विभावदशा क्या फल देती है ?

उत्तरः—जन्म, जरा मरण आदि संसार ।

(१४) प्रश्नः—वीतरागकी आज्ञासे यदि पोरसीकी स्वाध्याय करे तो उससे क्या फल होता है ?

उत्तरः—वह तथारूप हो तो यावत् काल मोक्ष होती है ।

(१५) प्रश्नः—वीतरागकी आज्ञासे यदि ×पोरसीका ध्यान करे तो क्या फल होता है ?

उत्तरः—वह तथारूप हो तो यावत् काल मोक्ष होती है ।

—इस तरह तुम्हारे प्रश्नोंका संक्षेपसे उत्तर लिखता हूँ ।

३. लौकिकभाव छोड़कर, वचनज्ञान छोड़कर, कल्पित विधिनिषेधका त्यागकर, जो जीव प्रत्यक्ष ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन कर, तथारूप उपदेश लेकर, तथारूप आत्मार्थमें प्रवृत्ति करता है, उसका अवश्य कल्याण होता है ।

निजकल्पनासे ज्ञान दर्शन चारित्र आदिका स्वरूप चाहे जिस तरह समझकर, अथवा निश्चयात्मक बोल सीखकर, जो सद्व्यवहारके लोप करनेमें प्रवृत्ति करे, उससे आत्माका कल्याण होना संभव नहीं। अथवा कल्पित व्यवहारके दुराग्रहमें रुके रहकर, प्रवृत्ति करते हुए भी जीवका कल्याण होना संभव नहीं ।

* ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहां समजवुं तेह ।
त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह ॥

एकांत क्रिया-जड़त्वमें अथवा एकांत शुष्कज्ञानसे जीवका कल्याण नहीं होता ।

८४४ ववाणीआ, वैशाख वदी ८ मंगल. १९५६

ॐ. प्रमत्त अत्यंत प्रमत्त ऐसे आजकलके जीव हैं, और परमपुरुषोंने अप्रमत्तमें सहज आत्मशुद्धि कही है । इसलिये उस विरोधके शांत होनेके लिये परमपुरुषका समागम—चरणका योग—परम हितकारी है । ॐ शान्तिः.

८४५ ववाणीआ, वैशाख वदी ९ बुध. १९५६

ॐ. मोक्षमालामें शब्दांतर अथवा प्रसंगविशेषमें कोई वाक्यांतर करनेकी वृत्ति हो तो करना। उपोद्घात आदि लिखनेकी वृत्ति हो तो लिखना । जीवनचरित्रकी वृत्ति उपशांत करना ।

× यह एक प्रकारका तपविशेष है । इसमें प्रथम प्रहरतक भोजन आदिका त्याग किया जाता है। —अनुवादक.
* आत्मसिद्धि ८.

मैं शरीर नहीं, परन्तु उससे भिन्न ज्ञायक आत्मा हूँ, और नित्य शाश्वत हूँ। यह वेदना मात्र पूर्वकर्म है, परन्तु यह मेरा स्वरूप नाश करनेको समर्थ नहीं। इसलिये मुझे खेद नहीं करना चाहिये—इस तरह आत्मार्थीका अनुप्रेक्षण होता है। ॐ.

८४८

ववाणीआ, ज्येष्ठ सुदी ११, १९५६

आर्य त्रिभुवनके अल्प समयमें शान्तवृत्तिसे देहोत्सर्ग करनेकी खबर सुनी। सुशील मुमुक्षुने अन्य स्थान ग्रहण किया।

जीवके विविध प्रकारके मुख्य स्थान हैं। देवलोकमें इन्द्र तथा सामान्य त्रयस्त्रिंशत् आदि स्थान हैं। मनुष्यलोकमें चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, तथा मांडलिक आदि स्थान हैं। तिर्यंचोंमें भी कहीं इष्ट भोगभूमि आदि स्थान हैं।

उन सब स्थानोंको जीव छोड़ेगा, इसमें स्सन्देह नहीं। ये जाति, गोती और बंधु आदि इन सबके अशाश्वत अनित्य वास हैं। शान्तिः.

८४९

ववाणीआ, ज्येष्ठ सुदी १३ सोम. १९५६

(१)

ॐ. मुनियोंको चातुर्माससंबंधी विकल्प कहाँसे हो सकता है? निर्ग्रन्थ क्षेत्रको किस सिरेसे बाँधे? सिरेका तो कोई संबंध ही नहीं।

निर्ग्रन्थ महात्माओंका दर्शन और समागम मुक्तिकी सम्यक् प्रतीति कराते हैं।

तथारूप महात्माओंके एक आर्य वचनका सम्यक् प्रकारसे अवधारण होनेसे यावत् काल मोक्ष होती है, ऐसा श्रीमान् तीर्थंकरने कहा है, वह यथार्थ है। इस जीवमें तथारूप योग्यताकी आवश्यकता है। शान्तिः।

(२)

ॐ. पत्र और समयसारकी प्रति मिली। कुन्दकुन्दाचार्यकृत समयसार ग्रन्थ जुदा है। इस ग्रन्थका कर्त्ता जुदा है, और ग्रन्थका विषय भी जुदा है। ग्रन्थ उत्तम है।

आर्य त्रिभुवनकी देहोत्सर्ग करनेकी खबर तुम्हें मिली, उससे खेद हुआ वह यथार्थ है। ऐसे कालमें आर्य त्रिभुवन जैसे मुमुक्षु विरले ही हैं। दिन प्रतिदिन शांतावस्थासे उसकी आत्मा स्वरूप-लक्षित होती जाती थी। कर्मतत्त्वका सूक्ष्मतासे विचार कर, निदिध्यासन कर, आत्माको तदनुयायी परिणतिका जिससे निरोध हो—यह उसका मुख्य लक्ष था। उसकी विशेष आयु होती तो वह मुमुक्षु चारित्रमोहको क्षीण करनेके लिये अवश्य प्रवृत्ति करता। शांतिः शांतिः शांतिः.

८५०

ववाणीआ, ज्येष्ठ वदी ९ गुरु. १९५६

व्यसन बढ़ानेसे बढ़ता है, और नियममें रखनेसे नियममें रहता है। व्यसनसे कायाको बहुत नुकसान होता है, तथा मन परवश हो जाता है। इससे इस लोक और परलोकका कल्याण चूक जाता है।

१२. संक्रमण अपकर्ष उत्कर्ष आदि करणका नियम, जबतक आयुकर्मवर्गणा सत्तामें हो, तब तक लागू हो सकता है। परन्तु उदयका प्रारंभ होनेके बाद वह लागू नहीं पड़ सकता।

१३. आयुकर्म पृथ्वीके समान है; और दूसरे कर्म वृक्षके समान हैं (यदि पृथ्वी हो तो वृक्ष होता है)।

१४. आयु दो प्रकारकी है:—सोपक्रम और निरुपक्रम। इसमेंसे जिस प्रकारकी आयु बाँधी हो, उसी तरहकी आयु भोगी जाती है।

१५. उपशमसम्यक्त्व क्षयोपशम होकर क्षायिक होता है। क्योंकि उपशम सत्तामें है इसलिये वह उदय आकर क्षय होता है।

१६. चक्षु दो प्रकारकी होती है:—ज्ञानचक्षु और चर्मचक्षु। जैसे चर्मचक्षुसे एक वस्तु जिस स्वरूपसे दिखाई देती है, वह वस्तु दुरबीन सूक्ष्म-दर्शक आदि यंत्रोंसे भिन्न स्वरूपसे ही दिखाई देती है; वैसे ही चर्मचक्षुसे वह जिस स्वरूपसे दिखाई देती है, वह ज्ञानचक्षुसे किसी भिन्नरूपसे ही दिखाई देती है और उसी तरह कही जाती है; फिर भी उसे अपनी होशियारीसे-अहंभावसे—न मानना, यह योग्य नहीं।

(४) आषाढ़ सुदी ७, बुध. १९५६

१. श्रीमान् कुन्दकुन्द आचार्यने अष्टपाहुड़ (अष्टप्राभृत) की रचना की है। प्राभृतोंके भेदः— दर्शनप्राभृत, ज्ञानप्राभृत, चारित्रप्राभृत इत्यादि। दर्शनप्राभृतमें जिनभावका स्वरूप बताया है। शास्त्रकर्त्ता कहते हैं कि अन्य भावोंको हमने, तुमने और देवाधिदेवोंतकने पूर्वमें सेवन किया है, और उससे कार्य सिद्ध नहीं हुआ। इसलिये-जिनभावके सेवन करनेकी जरूरत है। वह जिनभाव शांत है, आत्माका धर्म है, और उसके सेवन करनेसे ही मुक्ति होती है।

२. चारित्रप्राभृत *

३. जहाँ द्रव्य और उसकी पर्याय नहीं माने जाते; वहाँ उसमें विकल्प होनेसे उलझन हो जाती है। पर्यायोंको न माननेका कारण, उतने अंशको नहीं पहुँचना ही है।

४. द्रव्यकी पर्याय हैं, यद्यपि यह स्वीकार किया जाता है; परन्तु वहाँ द्रव्यका स्वरूप समझनेमें विकल्प रहनेके कारण उलझन हो जाती है, और उससे ही भटकना होता है।

५. सिद्धपद द्रव्य नहीं है, परन्तु आत्माकी एक शुद्ध पर्याय है। वह पद पहिले जब मनुष्य या देवपद था, उस समय वही पर्याय थी। इस तरह द्रव्य शाश्वत रहकर पर्यायांतर होता है।

६. शान्तभाव प्राप्त करनेसे ज्ञान बढ़ता है।

७. आत्मसिद्धिके लिये द्वादशांगीका ज्ञान करते हुए बहुत समय चला जाता है; जब कि एक मात्र शांतभावके सेवन करनेसे वह तुरत ही प्राप्त हो जाता है।

८. पर्यायका स्वरूप समझनेके लिये श्रीतीर्थंकरदेवने त्रिपद (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) समझाये हैं।

९. द्रव्य ध्रुव—सनातन—है।

१०. पर्याय उत्पादव्ययुक्त है।

* लेखकसे सार नहीं लिया जा सका।—अनुवादक.

हमारी आत्मा प्रकाश पाती है। सर्प जैसे बंसरीके शब्दसे जागृत होता है, वैसे ही आत्मा अपनी सत्य ऋद्धि सुननेसे मोह-निद्रासे जागृत होती है।

जिज्ञासु—मुझे आपने जिनेश्वरकी भक्ति करनेके संबंधमें बहुत उत्तम कारण बताया। जिनेश्वरकी भक्ति कुछ फलदायक नहीं, आधुनिक शिक्षासे मेरी जो यह आस्था हो गई थी, वह नाश हो गई। जिनेश्वर भगवान्की भक्ति अवश्य करना चाहिये, यह मैं मान्य रखता हूँ।

सत्य—जिनेश्वर भगवान्की भक्तिसे अनुपम लाभ है। इसके महान् कारण हैं। उनके परम उपकारके कारण भी उनकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये। तथा उनके पुरुषार्थका स्मरण होनेसे भी शुभ वृत्तियोंका उदय होता है। जैसे जैसे श्रीजिनके स्वरूपमें वृत्ति लय होती है, वैसे वैसे परम शांति प्रवाहित होती है। इस प्रकार जिनभक्तिके कारणोंको यहाँ संक्षेपमें कहा है, उन्हें आत्मार्थियोंको विशेषरूपसे मनन करना चाहिये।

१५. भक्तिका उपदेश

जिसकी शुभ शीतलतामय छाया है, जिसमें मनवांछित फलोंकी पंक्ति लगी है, ऐसी कल्पवृक्ष-रूपी जिनभक्तिका आश्रय लो, और भगवान्की भक्ति करके भवके अंतको प्राप्त करो ॥ १ ॥

इससे आनन्दमय अपना आत्मस्वरूप प्रगट होता है, और मनका समस्त संताप मिट जाता है, तथा बिना दामोंके ही कर्मोंकी अत्यन्त निर्जरा होती है, इसलिये भगवान्की भक्ति करके भवके अंतको प्राप्त करो ॥ २ ॥

इससे सदा समभावी परिणामोंकी प्राप्ति होगी, अत्यंत जड और अधोगतिमें लेजानेवाले जन्मका नाश होगा, तथा यह शुभ मंगलमय है, इसकी पूर्णरूपसे इच्छा करो, और भगवान्की भक्ति करके भवके अंतको प्राप्त करो ॥ ३ ॥

शुभ भावोंके द्वारा मनको शुद्ध करो, नवकार महामंत्रका स्मरण करो, इसके समान और दूसरी कोई वस्तु नहीं है, इसलिये भगवान्की भक्ति करके भवके अंतको प्राप्त करो ॥ ४ ॥

इससे सम्पूर्णरूपसे राग-कथाका क्षय करोगे, और यथार्थ रूपसे शुभतत्त्वोंको धारण करोगे। रायचन्द्र कहते हैं कि भगवद्भक्तिसे अनंत प्रपंचको दहन करो, और भगवान्की भक्तिसे भवके अंतको प्राप्त करो ॥ ५ ॥

भक्तिनो उपदेश

तोटक छंद

शुभ शीतळतामय छांय रही, मनवांछित ज्यां फळपंक्ति कही;
जिनभक्ति ग्रहो तरुकल्प अहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥ १ ॥
निज आत्मस्वरूप मुदा प्रगटे, मन ताप उताप तमाम मटे;
अति निर्जरता वण दाम ग्रहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥ २ ॥
समभावि सदा परिणाम थशे, जड मंद अधोगति जन्म जशे;
शुभ मंगळ आ परिपूर्ण चहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥ ३ ॥
शुभ भाववडे मन शुद्ध करो, नवकार महापदने समरो;
नहि एह समान सुमंत्र कहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥ ४ ॥
करशो क्षय केवळ राग-कथा धरशो शुभ तत्त्वस्वरूप यथा;
रायचन्द्र प्रपंच अनंत दहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥ ५ ॥

११. छहों दर्शन एक जैनदर्शनमें समाविष्ट हो जाते हैं। उसमें भी जैन एक दर्शन है।

बौद्ध—क्षणिकवादी=पर्यायरूप सत् है। वेदान्त—सनातन=द्रव्यरूपसे सत् है। चार्वाक—निरीश्वरवादी= जबतक आत्माकी प्रतीति नहीं हुई तबतक उसे पहिचाननेरूप सत् है।

१२. (आत्मा) पर्यायके दो भेद हैं:—जीवपर्याय (संसारावस्थामें) और सिद्धपर्याय। सिद्धपर्याय सौ टंचके सोनेके समान है, और जीवपर्याय खोटसहित सोनेके समान है।

१३. व्यंजनपर्याय०

१४. अर्थपर्याय०

१५. विषयका नाश (वेदका अभाव) क्षायिकचारित्रसे होता है। चौथे गुणस्थानकमें विषयकी मंदता होती है, और नवमें गुणस्थानकतक वेदका उदय होता है।

१६. जो गुण अपनेमें नहीं हैं, वे गुण अपनेमें हैं—जो ऐसा कहता अथवा मनवाता है, उसे मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये।

१७. जिन और जैन शब्दका अर्थ:—

घट घट अंतर जिन बसै, घट घट अंतर जैन।
मति-मदिराके पानसौं, मतवारा समुझै न ॥ (समयसार)

१८. आत्माका सनातन धर्म शांत होना—विराम पाना है; समस्त द्वादशांगीका सार भी वही है। वह षड्दर्शनमें समा जाता है, और वह षड्दर्शन जैनदर्शनमें समाविष्ट होता है।

१९. वीतरागके वचन विषयका विरेचन करानेवाले हैं।

२०. जैनधर्मका आशय, दिगम्बर तथा श्वेताम्बर आचार्योंका आशय, और द्वादशांगीका आशय मात्र आत्माका सनातन धर्म प्राप्त करानेका है—और वही साररूप है। इस बातमें किसी प्रकारसे ज्ञानियोंको विकल्प नहीं। वही तीनों कालमें ज्ञानियोंका कथन है, था, और होगा।

२१. बाह्य विषयोंसे मुक्त होकर ज्यों ज्यों उसका विचार किया जाय, त्यों त्यों आत्मा विरत होती जाती है—निर्मल होती जाती है।

२२. भंगजालमें पड़ना नहीं चाहिये। मात्र आत्माकी शांतिका विचार करना योग्य है।

२३. ज्ञानी लोग यद्यपि वैश्योंकी तरह हिसाबी होते हैं (वैश्योंकी तरह कसर न खानेवाले होते हैं—अर्थात् सूक्ष्मरूपसे शोधनकर तत्त्वोंको स्वीकार करनेवाले होते हैं), तो भी आखिर तो वे ग्रामीण लोगों जैसे ही लोग (किसान आदि—एक सारभूत बातको ही पकड़कर रखनेवाले) होते हैं। अर्थात् अन्तमें चाहे कुछ भी हो जाय, परन्तु वे एक ज्ञानभावको नहीं छोड़ते; और समस्त द्वादशांगीका सार भी वही है।

२४. ज्ञानी उदयको जानता है; परन्तु वह साता असातामें परिणाम नहीं करता।

२५. इन्द्रियोंके भोगसे मुक्ति नहीं। जहाँ इन्द्रियोंका भोग है वहाँ संसार है; और जहाँ संसार है वहाँ मुक्ति नहीं।

२६. बारहवें गुणस्थानकतक ज्ञानीका आश्रय लेना चाहिये—ज्ञानीकी आज्ञासे वर्तन करना चाहिये।

२७. महान् आचार्य और ज्ञानियोंमें दोष तथा भूलें नहीं होतीं। अपनी समझमें नहीं आता इसलिये हम उसे भूल मान लेते हैं। तथा जिससे अपनेको समझमें आ जाय वैसा अपनेमें ज्ञान नहीं, इसलिये वैसा ज्ञान प्राप्त होनेपर जो ज्ञानीका आशय भूलवाला लगता है, वह समझमें आ जायगा, ऐसी भावना रखनी चाहिये। परस्पर आचार्योंके विचारमें यदि किसी जगह कोई भेद देखनेमें आवे तो वह क्षयोपशमके कारण ही संभव है, परन्तु वस्तुतः उसमें विकल्प करना योग्य नहीं।

२८. ज्ञानी लोग बहुत चतुर थे। वे विषय-सुख भोगना जानते थे। पाँचों इन्द्रियाँ उनके पूर्ण थीं (पाँचों इन्द्रियाँ जिसके पूर्ण हों, वही आचार्य-पदवीके योग्य होता है); फिर भी इस संसार और इन्द्रिय-सुखके निर्माल्य लगनेसे तथा आत्माके सनातन धर्ममें श्रेय मालूम होनेसे, वे विषय-सुखसे विरक्त होकर आत्माके सनातनधर्ममें संलग्न हुए हैं।

२९. अनंतकालसे जीव भटकता है, फिर भी उसे मोक्ष नहीं हुई; जब कि ज्ञानीने एक अंतर्मुहूर्तमें ही मुक्ति बताई है।

३०. जीव ज्ञानीकी आज्ञानुसार शांतभावमें विचरे तो अंतर्मुहूर्तमें मुक्त हो जाता है।

३१. अमुक वस्तुयें व्यवच्छेद हो गई हैं, ऐसा कहनेमें आता है; परन्तु उसका पुरुषार्थ नहीं किया जाता, और इससे यह कहा जाता है कि वे व्यवच्छेद हो गई हैं। यदि उसका सच्चा (जैसा चाहिये वैसा) पुरुषार्थ हो तो गुण प्रगट हों, इसमें संशय नहीं। अंग्रेजोंने उद्यम किया तो कारीगरी तथा राज्य प्राप्त किया, और हिन्दुस्तानवालोंने उद्यम न किया तो वे उसे प्राप्त न कर सके; इससे विद्या (ज्ञान) का व्यवच्छेद होना नहीं कहा जा सकता।

३२. विषय क्षय नहीं हुए, फिर भी जो जीव अपनेमें वर्त्तमानमें गुण मान बैठे हैं, उन जीवोंके समान भ्रमणा न करते हुए उन विषयोंके क्षय करनेके लिये ही लक्ष देना चाहिये।

(५) आषाढ सुदी ८ गुरु. १९५६

१. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें मोक्ष पहिले तीनसे बढ़कर है। मोक्षके लिये ही बाकीके तीनों हैं।

२. आत्माका धर्म सुखरूप है, ऐसा प्रतीत होता है। वह सोनेके समान शुद्ध है।

३. कर्मसे सुखदुःख सहन करते हुए भी परिग्रह उपार्जन करने तथा उसके रक्षण करनेका सब प्रयत्न करते हैं। सब सुखको चाहते हैं, परन्तु वे परतंत्र हैं। तथा परतंत्रता प्रशंसनीय नहीं है।

४. वह मार्ग (मोक्ष) रत्नत्रयकी आराधनासे सब कर्मोंका क्षय होनेसे प्राप्त होता है।

५. ज्ञानीद्वारा निरूपण किये हुए तत्त्वोंका यथार्थ बोध होना सम्यग्ज्ञान है।

६. जीव, अजीव, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये तत्त्व हैं। (यहाँ पुण्यपापको आश्रवमें गिना है)।

७. जीवके दो भेद हैं:—सिद्ध और संसारीः—

सिद्धः—सिद्धको अनंतज्ञान दर्शन वीर्य और सुख ये स्वभाव समान हैं। फिर भी अनन्तर परंपर होनेरूप उनके पन्द्रह भेद निम्न प्रकारसे कहे हैं:—

१४. ज्ञानीकी आज्ञापूर्वक चलते हुए ज्ञानी-गुरुने क्रियाकी अपेक्षासे, अपनी ..., किसीको कुछ बताया हो, और किसीको कुछ बताया हो, तो उससे मार्ग अटकता नहीं है।

१५. यथार्थ स्वरूपके समझे विना, अथवा 'जो स्वयं बोलता है, वह परमार्थसे यथार्थ अथवा नहीं,' इसके जाने बिना—समझे बिना—जो वक्ता होता है, वह अनंत संसार बढ़ाता है; इसलिये जहाँतक यह समझनेकी शक्ति न हो वहाँतक मौन रहना ही उत्तम है।

१६. वक्ता होकर एक भी जीवको यथार्थ मार्ग प्राप्त करानेसे तीर्थंकरगोत्र बँधता है, और उससे उल्टा करनेसे महामोहनीय कर्म बँधता है।

१७. यद्यपि हम इसी समय तुम सबको मार्ग चढ़ा दें, परन्तु बरतनके अनुसार ही तो वस्तु रक्खी जाती है। नहीं तो जिस तरह हल्के बरतनमें भारी वस्तु रख देनेसे बरतनका नाश हो जाता है, उसी तरह यहाँ भी वही बात होगी।

१८. तुम्हें किसी तरह डरने जैसी बात नहीं है। कारण कि तुम्हारे साथ हमारे जैसे हैं। तो अब मोक्ष तुम्हारे पुरुषार्थके आधीन है। यदि तुम पुरुषार्थ करो तो मोक्ष होना दूर नहीं है। जिन्होंने मोक्ष प्राप्त किया, वे सब महात्मा पहिले अपने जैसे मनुष्य ही थे; और केवलज्ञान पानेके बाद भी (सिद्ध होनेके पहिले) देह तो वही की वही रहती है; तो फिर अब उस देहमेंसे उन महात्माओंने क्या निकाल डाला, यह समझकर हमें भी उसे निकाल डालना है। उसमें डर किसका? वादविवाद अथवा मतभेद किसका? मात्र शांतभावसे वही उपासनीय है।

(११) आषाढ़ सुदी १४ बुध. १९५६

१. प्रथमसे आयुधको बाँधना और उपयोगमें लाना सीखे हों, तो वह लड़ाईके समय काम आता है; उसी तरह प्रथमसे ही यदि वैराग्यदशा प्राप्त की हो, तो वह अवसर आनेपर काम आती है—आराधना हो सकती है।

२. यशोविजयजीने ग्रंथ लिखते हुए इतना अखंड उपयोग रक्खा था कि वे प्रायः किसी जगह भी न भूले थे। तो भी छद्मस्थ अवस्थाके कारण डेढ़सौगाथाके स्तवनमें ७वें ठाणांगसूत्रकी जो साक्षी दी है, वह मिलती नहीं; वह श्रीभगवतीजीके पाँचवें शतकको लक्ष्य करके दी हुई मालूम होती है। इस जगह अर्थकर्त्ताने 'रासभवृत्ति' का अर्थ पशुतुल्य गिना है; परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं। रासभ-वृत्ति अर्थात् जैसे गधेको अच्छी शिक्षा दी हो तो भी जातिस्वभावके कारण धूल देखकर, उसका लोटनेका मन हो जाता है; उसी तरह वर्त्तमानकालमें बोलते हुए भविष्यकालमें कहनेकी बात बोल दी जाती है।

३. भगवतीआराधनामें लेश्या अधिकारमें हरेककी स्थिति वगैरह अच्छी तरह बताई है।

४. परिणाम तीन प्रकारके हैं—हीयमान, वर्धमान और समवस्थित। प्रथमके दो छद्मस्थको होते हैं, और अन्तिम समवस्थित (अचल अकंप शैलेशीकरण) केवलज्ञानीको होता है।

५. तेरहवें गुणस्थानकमें लेश्या तथा योगका चल-अचलभाव है, तो फिर वहाँ समवस्थित परिणाम किस तरह हो सकता है? उसका आशयः—सक्रिय जीवको अबंध अनुष्ठान नहीं होता।

२७. महान् आचार्य और ज्ञानियोंमें दोष तथा भूलें नहीं होतीं। अपनी समझमें नहीं आता, इसलिये हम उसे भूल मान लेते हैं। तथा जिससे अपनेको समझमें आ जाय वैसा अपनेमें ज्ञान नहीं, इसलिये वैसा ज्ञान प्राप्त होनेपर जो ज्ञानीका आशय भूलवाला लगता है, वह समझमें आ जायगा, ऐसी भावना रखनी चाहिये। परस्पर आचार्योंके विचारमें यदि किसी जगह कोई भेद देखनेमें आवे तो वह क्षयोपशमके कारण ही संभव है, परन्तु वस्तुतः उसमें विकल्प करना योग्य नहीं।

२८. ज्ञानी लोग बहुत चतुर थे। वे विषय-सुख भोगना जानते थे। पाँचों इन्द्रियाँ उनकी पूर्ण थीं (पाँचों इन्द्रियाँ जिसके पूर्ण हों, वही आचार्य-पदवीके योग्य होता है); फिर भी इस संसार और इन्द्रिय-सुखके निर्माल्य लगनेसे तथा आत्माके सनातन धर्ममें श्रेय मालूम होनेसे, वे विषय-सुखसे विरक्त होकर आत्माके सनातनधर्ममें संलग्न हुए हैं।

२९. अनंतकालसे जीव भटकता है, फिर भी उसे मोक्ष नहीं हुई; जब कि ज्ञानीने एक अंतर्मुहूर्तमें ही मुक्ति बताई है।

३०. जीव ज्ञानीकी आज्ञानुसार शांतभावमें विचरे तो अंतर्मुहूर्तमें मुक्त हो जाता है।

३१. अमुक वस्तुयें व्यवच्छेद हो गई हैं, ऐसा कहनेमें आता है; परन्तु उसका पुरुषार्थ नहीं किया जाता, और इससे यह कहा जाता है कि वे व्यवच्छेद हो गई हैं। यदि उसका सच्चा (जैसा चाहिये वैसा) पुरुषार्थ हो तो गुण प्रगट हों, इसमें संशय नहीं। अंग्रेजोंने उद्यम किया तो कारीगरी तथा राज्य प्राप्त किया, और हिन्दुस्तानवालोंने उद्यम न किया तो वे उसे प्राप्त न कर सके; इससे विद्या (ज्ञान) का व्यवच्छेद होना नहीं कहा जा सकता।

३२. विषय क्षय नहीं हुए, फिर भी जो जीव अपनेमें वर्तमानमें गुण मान बैठे हैं, उन जीवोंके समान भ्रमणा न करते हुए उन विषयोंके क्षय करनेके लिये ही लक्ष देना चाहिये।

आषाढ़ सुदी ८ गुरु. १९५६

(५)

१. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें मोक्ष पहिले तीनसे बढ़कर है। मोक्षके लिये ही बाकीके तीनों हैं।

२. आत्माका धर्म सुखरूप है, ऐसा प्रतीत होता है। वह सोनेके समान शुद्ध है।

३. कर्मसे सुखदुःख सहन करते हुए भी परिग्रह उपार्जन करने तथा उसके रक्षण करनेमें सब प्रयत्न करते हैं। सब सुखको चाहते हैं, परन्तु वे परतंत्र हैं। तथा परतंत्रता प्रशंसनीय नहीं है।

४. यह मार्ग (मोक्ष) रत्नत्रयकी आराधनासे सब कर्मोंका क्षय होनेसे प्राप्त होता है।

५. ज्ञानीद्वारा निरूपण किये हुए तत्त्वोंका यथार्थ बोध होना सम्यग्ज्ञान है।

६. जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये तत्त्व हैं। (यहाँ पुण्य-पापको आस्रवमें लिया है)।

७. जीवके दो भेद हैं:—सिद्ध और संसारी —

सिद्ध:—सिद्धको अनन्तज्ञान दर्शन वीर्य और सुख ये स्वभाव समान है। फिर भी अन्य [illegible] उनके पन्द्रह भेद निम्न प्रकारसे कहे हैं:—

१७. देह और आत्माका भेद करना भेदज्ञान है। वह ज्ञानीका तेजाब है; ... और आत्मा जुदी जुदी हो सकती है। उस विज्ञानके होनेके लिये महात्माओंने समस्त शास्त्र रचे जिस तरह तेजाबसे सोना और उसका खोट अलग अलग हो जाते हैं, उसी तरह ज्ञानीके विज्ञानरूप तेजाबसे स्वाभाविक आत्मद्रव्य अगुरुलघु स्वभाववाला होकर प्रयोगी द्रव्यसे जुदा ... स्वधर्ममें आ जाता है।

१८. दूसरे उदयमें आये हुए कर्मोका आत्मा चाहे जिस तरह समाधान कर सकती है, परन्तु वेदनीय कर्ममें वैसा नहीं हो सकता, और उसका आत्मप्रदेशोंसे वेदन करना ही चाहिये; और उसका वेदन करते हुए कठिनाईका पूर्ण अनुभव होता है। वहाँ यदि भेदज्ञान सम्पूर्ण प्रगट न हुआ हो तो आत्मा देहाकारसे परिणमन करती है, अर्थात् देहको अपना मानकर वेदन करती है; और उसके कारण आत्माकी शांति भंग हो जाती है। ऐसे प्रसंगमें जिन्हें भेदज्ञान सम्पूर्ण हो गया है ऐसे ज्ञानियोंको असातावेदका वेदन करनेसे निर्जरा होती है, और वहाँ ज्ञानीकी कसौटी होती है। इससे अन्य दर्शनवाले वहाँ उस तरह नहीं टिक सकते, और ज्ञानी इस तरह मानकर टिक सकता है।

१९. पुद्गलद्रव्यकी अपेक्षा रक्खी जाय, तो भी वह कभी न कभी तो नाश हो जानेवाला है ही; और जो अपना नहीं, वह अपना होनेवाला नहीं; इसलिये लाचार होकर दीन बनना किस कामका?

२०. जोगापयडिपदेसा—योगसे प्रकृति और प्रदेश बंध होते हैं।

२१. स्थिति तथा अनुभागबंध कषायसे बँधते हैं।

२२. आठ तरहसे, सात तरहसे, छह तरहसे, और एक तरहसे बंध बाँधा जाता है।

(१२) आषाढ सुदी १५ गुरु. १९५६

१. ज्ञानदर्शनका फल यथाख्यातचारित्र, उसका फल निर्वाण, और उसका फल अव्याबाध सुख है।

(१३) आषाढ वदी १ शुक्र. १९५६

१. देवागमस्तोत्र जो महात्मा समंतभद्राचार्यने (जिसका शब्दार्थ होता है कि 'जिसे कल्याण मान्य है') बनाया है; और उसके ऊपर दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्योंने टीका की है। ये महात्मा दिगम्बराचार्य थे, फिर भी उनका बनाया हुआ उक्त स्तोत्र श्वेताम्बर आचार्योंको भी मान्य है। इस स्तोत्रमें प्रथम श्लोक निम्न प्रकारसे है:—

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यंते नातस्त्वमसि नो महान् ॥

इस श्लोकका भावार्थ यह है कि देवागमन (देवताओंका आगमन होता हो), आकाशगमन (आकाशमें गमन होता हो), चामरादि विभूति (चामर वगैरह विभूति होती हो, समवसरण होता हो इत्यादि)—ये सब मायावियोंमें भी देखे जाते हैं (ये मायासे अर्थात् युक्तिसे भी हो सकते हैं), इसलिये उतने मात्रसे ही आप हमारे महत्तम नहीं (उतने मात्रसे तीर्थंकर अथवा जिनेन्द्रदेवका अस्तित्व नहीं माना जा सकता। ऐसी विभूति आदिका हमें कुछ भी प्रयोजन नहीं। हमने तो उसका त्याग कर दिया है)

इस आचार्यने मानो गुफामेंसे निकलते हुए तीर्थंकरका हाथ पकड़कर उपर्युक्त निरपेक्षभावसे वचन कहे हों—यह आशय यहाँ बताया गया है।

लेकर पूर्वपर्याय स्मृतिमें नहीं रहती, इसलिये वह होती ही नहीं—यह नहीं कहा जा सकता। जिस तरह आम आदि वृक्षोंकी कलम की जाती है, तो उसमें यदि सानुकूलता होती है तो ही वह लगती है; उसी तरह यदि पूर्वपर्यायकी स्मृति करनेकी सानुकूलता (योग्यता) हो तो जातिस्मरण ज्ञान होता है। पूर्वसंज्ञा कायम होनी चाहिये। असंज्ञीका भव आ जानेसे जातिस्मरण ज्ञान नहीं होता।

३. आत्मा है। आत्मा नित्य है। उसके प्रमाणः—

(१) बालकको दूध पीते हुए क्या 'चुक चुक' शब्द करना कोई सिखाता है? वह तो पूर्वका अभ्यास ही है।

(२) सर्प और मोरका, हाथी और सिंहका, चूहे और बिल्लीका स्वाभाविक वैर है। उन्हें उसे कोई भी नहीं सिखाता। पूर्वभवके वैरकी स्वाभाविक संज्ञा है—पूर्वज्ञान है।

४. निःसंगता यह वनवासीका विषय है—ऐसा ज्ञानियोंने कहा है, वह सत्य है। जिसमें दोनों व्यवहार (सांसारिक और असांसारिक) होते हैं, उससे निःसंगता नहीं होती।

५. संसारके छोड़े बिना अप्रमत्त गुणस्थानक नहीं। अप्रमत्त गुणस्थानककी स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है।

६. 'हमने समझ लिया है, हम शान्त हैं'—ऐसा जो कहते हैं वे ठगाये जाते हैं।

७. संसारमें रहकर सातवें गुणस्थानके ऊपर नहीं चढ़ सकते; इससे संसारी जीवको निराश न होना चाहिये—परन्तु उसे ध्यानमें रखना चाहिये।

८. पूर्वमें स्मृतिमें आई हुई वस्तुको फिर शांतभावसे याद करे तो वह यथास्थित याद पड़ती है।

९. ग्रंथिके दो भेद हैं—एक द्रव्य—बाह्यग्रन्थि (चतुष्पद, द्विपद, अपद इत्यादि); दूसरी भाव—अभ्यंतरग्रंथि (आठ कर्म इत्यादि)। सम्यक् प्रकारसे जो दोनों ग्रंथियोंसे निवृत्त हो, वह निर्ग्रंथ है।

१०. मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति आदि भाव जिसे छोड़ने ही नहीं, उसके वस्त्रका त्याग हो, तो भी वह पारलौकिक कल्याण क्या करेगा?

११. सक्रिय जीवको अबंधका अनुष्ठान हो, ऐसा कभी बनता ही नहीं। (क्रिया होनेपर अबंध गुणस्थानक नहीं होता)।

१२. राग आदि दोषोंका क्षय होनेसे उनके सहकारी कारणोंका क्षय होता है; जबतक उनका सम्पूर्णरूपसे क्षय नहीं होता, तबतक मुमुक्षु जीव संतोष मानकर नहीं बैठता।

१३. राग आदि दोष और उनके सहकारी कारणोंके अभाव होनेपर बंध नहीं होता। राग आदिके प्रयोगसे कर्म होता है। उनके अभावमें सब जगह कर्मका अभाव ही समझना चाहिये।

१४. आयुकर्मः—

(अ) अपवर्तन=विशेष कालका हो तो वह कर्म थोड़े ही कालमें वेदन किया जा सकता है। इसका कारण पूर्वका वैसा बंध है, इससे वह इस प्रकारसे उदयमें आता है—भोगा जाता है।

(आ) 'टूट गया' शब्दका अर्थ बहुतसे लोग 'दो भाग होना' करते हैं; परन्तु उसका अर्थ वैसा नहीं है। जिस तरह 'कर्जा टूट गया' शब्दका अर्थ 'कर्जा उतर गया—कर्जा दे दिया' होता है, उसी तरह 'आयु टूट गई' शब्दका आशय समझना चाहिये।

यदि आत्मगुणधर्म देखनेमें आवे, तो देहके ऊपरका राग ही नष्ट हो जाय—आत्मवृत्ति विशुद्ध हो। दूसरे द्रव्यके संयोगसे आत्मा देहरूपसे (विभावसे) परिणमन करती हुई मालूम हो।

१२. चैतन्यका अत्यन्त स्थिर होना मुक्ति है।

१३. मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योगके अभावसे अनुक्रमसे योग स्थिर होता है।

१४. पूर्वके अभ्यासके कारण जो झोका आ जाता है वह प्रमाद है।

१५. योगको आकर्षण करनेवाला न होनेसे वह स्वयं ही स्थिर हो जाता है।

१६. राग और द्वेष यह आकर्षण है।

१७. संक्षेपमें ज्ञानीका यह कहना है कि पुद्गलसे चैतन्यका वियोग कराना है; अर्थात् रागद्वेषसे आकर्षणको दूर हटाना है।

१८. जहाँतक अप्रमत्त हुआ जाय वहाँतक जाग्रत ही रहना चाहिये।

१९. जिनपूजा आदि अपवादमार्ग है।

२०. मोहनीयकर्म मनसे जीता जाता है, परन्तु वेदनीयकर्म मनसे नहीं जीता जाता। तीर्थंकर आदिको भी उसका वेदन करना पड़ता है; और वह दूसरोंके समान कठिन भी लगता है। परन्तु उसमें (आत्मधर्ममें) उनके उपयोगकी स्थिरता होकर उसकी निर्जरा होती है; और दूसरोंको—अज्ञानीको—बंध पड़ता है। क्षुधा तृषा यह मोहनीय नहीं, किन्तु वेदनीय कर्म है।

जो पुमान परधन हरै, सो अपराधी अज्ञ।
जो अपनो धन व्यौहरै, सो धनपति धर्मज्ञ॥ —श्रीबनारसीदास.

२२. प्रवचनसारोद्धार ग्रन्थके तीसरे भागमें जिनकल्पका वर्णन किया है। यह श्वेताम्बर ग्रन्थ है। उसमें कहा है कि इस कल्पको साधनेवालेको निम्न गुणोंवाला महात्मा होना चाहिये—

१ संघयण, २ धीरज, ३ श्रुत, ४ वीर्य, और ५ असंगता।

२३. दिगम्बरदृष्टिसे यह दशा सातवें गुणस्थानवर्त्ती जीवकी है। दिगम्बरदृष्टिके अनुसार स्थविरकल्पी और जिनकल्पी ये नग्न होते हैं; और श्वेताम्बरोंके अनुसार प्रथम अर्थात् स्थविर नग्न नहीं होते। इस कल्पको साधनेवालेका श्रुतज्ञान इतना अधिक बलवान होना चाहिये कि उसकी वृत्ति श्रुतज्ञानाकार हो जानी चाहिये—विषयाकार वृत्ति न होनी चाहिये। दिगम्बर कहते हैं कि नग्न दशावालेका ही मोक्षमार्ग है, बाकी तो सब उन्मत्त मार्ग है—णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा य उम्मग्गया सव्वे। तथा 'नागो ए बादशाहथी आघो'—अर्थात् नग्न बादशाहसे भी अधिक बड़ा है—इस कहावतके अनुसार यह दशा बादशाहको भी पूज्य है।

२४. चेतना तीन प्रकारकी है—१ कर्मफलचेतना—एकेन्द्रिय जीव अनुभव करते हैं, २ कर्मचेतना—विकलेन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय अनुभव करते हैं, ३ ज्ञानचेतना—सिद्धपर्याय अनुभव करती है।

२५. मुनियोंकी वृत्ति अलौकिक होनी चाहिये, परन्तु उसके बदले हालमें वह लौकिक देखनेमें आती है।

आणंद, श्रावण वदी ? सं. १९५२

१. पर्यालोचन—एक वस्तुका दूसरी तरह विचार करना।

४. योगदृष्टिमें छहों भावोंका (औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, पारिणामिक और सान्निपातिक) समावेश होता है। ये छह भाव जीवके स्वतत्त्वभूत हैं।

५. जबतक यथार्थ ज्ञान न हो तबतक मौन रहना ही ठीक है। नहीं तो अनाचार दोष लगता है। इस विषयमें उत्तराध्ययनसूत्रमें अनाचारनामक अधिकार है।

६. ज्ञानीके सिद्धांतमें फेर नहीं हो सकता।

७. सूत्र आत्माका स्वधर्म प्राप्त करनेके लिये बनाये गये हैं; परन्तु उनका रहस्य यथार्थ समझमें नहीं आता; इससे फेर माछ्म होता है।

८. दिगम्बरमतके तीव्र वचनोंके कारण कुछ रहस्य समझमें आ सकता है। श्वेताम्बरमतकी शिथिलताके कारण रस ठंडा होता गया।

९. 'शाल्मलि वृक्ष' यह शब्द नरकमें असाता बतानेके लिये प्रयुक्त होता है। वह वृक्ष खदिरके वृक्षसे मिलता जुलता होता है। भावसे संसारी-आत्मा उस वृक्षरूप है। आत्मा परमार्थसे (अध्यवसाय छोड़कर) नंदनवनके समान है।

१०. जिनमुद्रा दो प्रकारकी है:—कायोत्सर्ग और पद्मासन। प्रमाद दूर करनेके लिये दूसरे अनेक आसन किये गये हैं, किन्तु मुख्यतः ये दो ही आसन हैं।

११. प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं, वदनकमलमंकः कामिनीसंगशून्यः।
करयुगमपि यत्ते शास्त्रसंबंधवंध्यं, तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव॥

१२. चैतन्य लक्ष करनेवालेकी बलिहारी है।

१३. तीर्थ=पार होनेका मार्ग।

१४. अरहनाथ प्रभुकी स्तुति महात्मा आनंदघनजीने की है। श्रीआनंदघनजीका दूसरा नाम लाभानंद था। वे तपगच्छमें हुए हैं।

१५. वर्त्तमानमें लोगोंको ज्ञान तथा शांतिके साथ संबंध नहीं रहा। मताचार्यने मार डाला है।

१६. ×आशय आनंदघनतणो, अति गंभीर उदार।
बालक बांह पसारि जिम, कहे उदधिविस्तार॥

१७. ईश्वरत्व तीन प्रकारसे जाना जाता है:—(१) जड़ जड़रूपसे रहता है; (२) चैतन्य—संसारी जीव—विभावरूपसे रहते हैं; (३) सिद्ध शुद्ध चैतन्यभावसे रहते हैं।

(१०) आषाढ़ सुदी १२ भौम. १९५६

१ भगवतीआराधना जैसी पुस्तकें मध्यमउत्कृष्ट-भावके महात्माओंके तथा मुनिराजोंके योग्य हैं। ऐसे ग्रन्थोंको उससे कम पदवी (योग्यता) वाले साधु श्रावकको देनेसे कृतघ्नता होती है। उन्हें उससे उल्टा नुकसान ही होता है। सच्चे मुमुक्षुओंको ही यह लाभकारी है।

२. मोक्षमार्ग अगम्य तथा सरल है।

अगम्यः—मात्र विभावदशाके कारण मतभेद पड़ जानेसे किसी भी जगह मोक्षमार्ग ऐसा नहीं रहा जो समझमें आ सके; और इस कारण वर्त्तमानमें वह अगम्य है। मनुष्यके मर जानेके पश्चात्

× आनंदघनका आशय अति गंभीर और उदार है, फिर भी जिस तरह बालक बाँह फैलाकर समुद्रका विस्तार कहता है, उसी तरह यह विस्तार कहा है।

(१६)

राळज.

श्रावककी अपेक्षासे परस्त्रीत्याग और अन्य अणुव्रतके संबंधमें—

१. जबतक मृषा और परस्त्रीका त्याग न किया जाय, तबतक सब क्रियायें निष्फल हैं; तबतक आत्मामें छल कपट होनेसे धर्म फलीभूत नहीं होता।

२. धर्म पानेकी यह प्रथम भूमिका है।

३. जबतक मृषात्याग और परस्त्रीत्याग गुण न हों, तबतक वक्ता तथा श्रोता नहीं हो सकते।

४. मृषा दूर हो जानेसे बहुतसी असत्य प्रवृत्ति कम होकर, निवृत्तिका प्रसंग आता है। उससे सहज बातचीत करते हुए भी विचार करना पड़ता है।

५. मृषा बोलनेसे ही लाभ होता है, ऐसा कोई नियम नहीं। यदि ऐसा होता हो तो सत्य बोलनेवालोंकी अपेक्षा जगत्में जो असत्य बोलनेवाले बहुत होते हैं, उन्हें अधिक लाभ होना चाहिये, परन्तु वैसा कुछ देखनेमें नहीं आता। तथा असत्य बोलनेसे लाभ हो तो कर्म एकदम रद हो जाँय और शास्त्र भी खोटे पड़ जाँय।

६. सत्यकी ही जय है। उसमें प्रथम तो मुश्किल माळूम होती है, परन्तु पीछेसे सत्यका प्रभाव होता है, और उसका दूसरे मनुष्य तथा संबंधमें आनेवालेके ऊपर असर होता है।

७. सत्यसे मनुष्यकी आत्मा स्फटिकके समान हो जाती है।

(१७) आषाढ़ वदी ४ सोम. १९५६

१. दिगम्बर सम्प्रदाय कहता है कि आत्मामें केवलज्ञान शक्तिरूपसे रहता है।

२. श्वेताम्बर सम्प्रदाय केवलज्ञानको सत्तारूपसे रहनेको स्वीकार करता है।

३. शक्ति शब्दका अर्थ सत्तासे अधिक गौण होता है।

४. शक्तिरूपसे है अर्थात् आवरणसे रुका हुआ नहीं। ज्यों ज्यों शक्ति बढ़ती जाती है अर्थात् उसके ऊपर ज्यों ज्यों प्रयोग होता जाता है, त्यों त्यों ज्ञान विशुद्ध होकर केवलज्ञान प्रगट होता है।

५. सत्तामें अर्थात् आवरणमें है, ऐसा कहा जाता है।

६. सत्तामें कर्मप्रकृति हो, और वह उदयमें आवे, वह शक्तिरूप नहीं कहा जाता।

७. सत्तामें केवलज्ञान हो और आवरणमें न हो, ऐसा नहीं होता। भगवतीआराधना देखना।

८. कान्ति, दीप्ति, शरीरका जलना, खुराकका पचना, खूनका फिरना, ऊपरके प्रदेशोंका नीचे आना, नीचेका ऊपर जाना (विशेष कारणसे समुद्घात आदि होना), रक्तता, ज्वर आना, ये सब तैजस परमाणुकी क्रियायें हैं। तथा सामान्य रीतिसे आत्माके प्रदेश जो ऊँचे नीचे हुआ करते हों—कंपायमान रहते हों, यह भी तैजस परमाणुसे ही होता है।

९. कार्माण शरीर उसी जगह आत्मप्रदेशोंको अपने आवरणके स्वभावसे बताता है।

१०. आत्माके आठ रुचक प्रदेश अपना स्थान नहीं बदलते। सामान्य रीतिसे स्थूलनयसे ये आठ प्रदेश नाभिके कहे जाते हैं—सूक्ष्मरूपसे तो वहाँ असंख्यातों प्रदेश कहे जाते हैं।

११. एक परमाणु एकप्रदेशी होनेपर भी छह दिशाओंको स्पर्श करता है (चार दिशायें तथा एक ऊर्ध्व और एक अधो ये सब मिलकर छह दिशायें होती हैं)।

करनेद्वारा नाड़ी पकड़कर दया करनेके फलकी बराबर ही मतभेद पड़नेका फल हुआ है, और उससे मोक्षमार्ग समझमें नहीं आता।

सरल:—मतभेदकी माथापच्चीको दूरकर, यदि आत्मा और पुद्गलका पृथक्करण करके शांतभावसे अनुभव किया जाय, तो मोक्षमार्ग सरल है, और वह दूर नहीं।

३. अनेक शास्त्र हैं। उन्हें एक एकको बाँचनेके बाद, यदि उनका निर्णय करनेके लिये बैठा जाय, तो उस हिसाबसे पूर्वआदिका ज्ञान और केवलज्ञान कभी भी प्राप्त न हो, अर्थात् उसकी कभी भी पार न पड़े; परन्तु उसकी संकलना है, और उसे श्रीगुरु बताते हैं कि महात्मा उसे अंतर्मुहूर्त्तमें ही प्राप्त कर लेते हैं।

४. इस जीवने नवपूर्वतक ज्ञान प्राप्त किया, तो भी कोई सिद्धि नहीं हुई, उसका कारण विमुख-दशासे परिणमन करना ही है। यदि जीव सन्मुखदशासे चला होता तो वह तत्क्षण मुक्त हो जाता।

५. परमशांत रसमय भगवतीआराधना जैसे एक भी शास्त्रका यदि अच्छी तरह परिणमन हुआ हो तो बस है।

६. इस आरे (काल) में संघयण अच्छे नहीं, आयु कम है, और दुर्भिक्ष महामारी जैसे संयोग बारम्बार आते हैं, इसलिये आयुकी कोई निश्चयपूर्वक स्थिति नहीं, इसलिये जैसे बने वैसे आत्महितकी बात तुरत ही करनी चाहिये। उसे स्थगित कर देनेसे जीव धोखा खा बैठता है। ऐसे कठिन समयमें तो सर्वथा ही कठिन मार्ग (परमशांत होना) को ग्रहण करना चाहिये। उससे ही उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक भाव होते हैं।

७. काम आदि कभी कभी ही अपनेसे हार मानते हैं; नहीं तो बहुत बार तो वे अपनेको ही धक्का मार देते हैं। इसलिये जहाँतक हो, जैसे बने वैसे, त्वरासे उसे छोड़नेके लिये अप्रमादी होना चाहिये—जिस तरह जल्दीसे हुआ जाय उस तरह होना चाहिये। शूरवीरतासे वैसा तुरत हुआ जा सकता है।

८. वर्त्तमानमें दृष्टिरागानुसारी मनुष्य विशेषरूपसे हैं।

९. यदि सच्चे वैद्यकी प्राप्ति हो, तो देहका विधर्म सहजमें ही औषधिके द्वारा विधर्ममेंसे निकलकर स्वधर्म पकड़ लेता है। उसी तरह यदि सच्चे गुरुकी प्राप्ति हो तो आत्माकी शांति बहुत ही सुगमतासे और सहजमें ही हो जाती है।

१०. क्रिया करनेमें तत्पर अर्थात् अप्रमादी होना चाहिये। प्रमादसे उल्टा कायर न होना चाहिये।

११. सामायिक=संयम। प्रतिक्रमण=आत्माकी क्षमापना—आराधना। पूजा=भक्ति.

१२. जिनपूजा, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि किस अनुक्रमसे करने चाहिये—यह कहनेसे एकके बाद एक प्रश्न उठते हैं, और उनका किसी तरह पार पड़नेवाला नहीं। ज्ञानीकी आज्ञानुसार, ज्ञानीद्वारा कहे अनुसार, चाहे जीव किसी भी क्रियामें प्रवृत्ति करे तो भी वह मोक्षके मार्गमें ही है।

१३. हमारी आज्ञासे चलनेमें यदि पाप लगे, तो उसे हम अपने सिरपर ओढ़ लेते हैं। कारण कि जैसे रास्तेमें काँटे पड़े हों तो ऐसा जानकर कि वे किसीको लगेंगे, मार्गमें जाता हुआ कोई आदमी उन्हें वहाँसे उठाकर, किसी ऐसी दूसरी एकांत जगहमें रख दे कि जहाँ वे किसीको न लगें, तो कुछ वह राज्यका गुनाह नहीं कहा जाता; उसी तरह मोक्षका शांत मार्ग बतानेसे पाप किस तरह लग सकता है?

१४. ज्ञानीकी आज्ञापूर्वक चलते हुए ज्ञानी-गुरुने क्रियाकी अपेक्षासे, अपनी योग्यतानुसार किसीको कुछ बताया हो, और किसीको कुछ बताया हो, तो उससे मार्ग अटकता नहीं है।

१५. यथार्थ स्वरूपके समझे बिना, अथवा 'जो स्वयं बोलता है, वह परमार्थसे यथार्थ है अथवा नहीं,' इसके जाने बिना—समझे बिना—जो वक्ता होता है, वह अनंत संसार बढ़ाता है; इसलिये जहाँतक यह समझनेकी शक्ति न हो वहाँतक मौन रहना ही उत्तम है।

१६. वक्ता होकर एक भी जीवको यथार्थ मार्ग प्राप्त करानेसे तीर्थंकरगोत्र बँधता है, और उससे उल्टा करनेसे महामोहनीय कर्म बँधता है।

१७. यद्यपि हम इसी समय तुम सबको मार्ग चढ़ा दें, परन्तु बरतनके अनुसार ही तो वस्तु रक्खी जाती है। नहीं तो जिस तरह हलके बरतनमें भारी वस्तु रख देनेसे बरतनका नाश हो जाता है, उसी तरह यहाँ भी वही बात होगी।

१८. तुम्हें किसी तरह डरने जैसी बात नहीं है। कारण कि तुम्हारे साथ हमारे जैसे हैं। तो अब मोक्ष तुम्हारे पुरुषार्थके आधीन है। यदि तुम पुरुषार्थ करो तो मोक्ष होना दूर नहीं है। जिन्होंने मोक्ष प्राप्त किया, वे सब महात्मा पहिले अपने जैसे मनुष्य ही थे; और केवलज्ञान पानेके बाद भी (सिद्ध होनेसे पहिले) देह तो वही की वही रहती है; तो फिर अब उस देहमेंसे उन महात्माओंने क्या निकाल डाला, यह समझकर हमें भी उसे निकाल डालना है। उसमें डर किसका? वादविवाद अथवा मतभेद किसका? मात्र शान्तभावसे वही उपासनीय है।

(११) आषाढ़ सुदी १४ बु. १९५६

१. प्रथमसे आयुधको बाँधना और उपयोगमें लाना सीखे हों, तो वह लड़ाईके समय काम आता है; उसी तरह प्रथमसे ही यदि वैराग्यदशा प्राप्त की हो, तो वह अवसर आनेपर काम आती है—आराधना हो सकती है।

२. यशोविजयजीने ग्रंथ लिखते हुए इतना अखंड उपयोग रक्खा था कि वे प्रायः किसी जगह भी न भूले थे। तो भी छद्मस्थ अवस्थाके कारण डेढ़सौ गाथाके स्तवनमें ७वें ठाणांगसूत्रकी जो साक्षी दी है, वह मिलती नहीं; वह श्रीभगवतीजीके पाँचवें शतकको लक्ष्य करके दी हुई मालूम होती है। इस तरह अर्थकर्ताने 'गमनवृत्ति' का अर्थ पशुतुल्य किया है; परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं। गमनवृत्ति अर्थात् जैसे लड़केको अच्छी शिक्षा दी हो तो भी जातिस्वभावके कारण धूल देखकर, उसमें खेलनेका मन हो जाता है; उसी तरह वर्तमानकालमें बोलते हुए भविष्यकालमें पड़नेकी बात बोल दी जाती है।

३. भगवतीआराधनामें लेश्या अधिकारमें होनेवाली स्थिति वगैरह अच्छी तरह बताई है।

४. परिणाम तीन प्रकारके हैं—हीयमान, वर्धमान और समवस्थित। प्रथमके दो छद्मस्थको होते हैं, और अन्तिम समवस्थित (अचल अडोल शैलेशीकरण) केवलज्ञानीको होता है।

५. तेरहवें गुणस्थानकमें लेश्या तथा योगका चलाचलपना है, तो फिर वहाँ समवस्थित परिणाम किस तरह हो सकता है? उसका समाधान—[illegible] अनुभव नहीं होता।

५. तीर्थंकर आदिको गृहस्थाश्रममें रहनेपर भी गाढ़ अथवा अवगाढ़ सम्यक्त्व होता है।

६. गाढ़ अथवा अवगाढ़ एक ही कहा जाता है।

७. केवलीको परमावगाढ़ सम्यक्त्व होता है।

८. चौथे गुणस्थानमें गाढ़ अथवा अवगाढ़ सम्यक्त्व होता है।

९. क्षायिकसम्यक्त्व अथवा गाढ़ अवगाढ़ सम्यक्त्व एक समान हैं।

१०. देव, गुरु, तत्त्व अथवा धर्म अथवा परमार्थकी परीक्षा करनेके तीन प्रकार हैं—कष छेद और ताप। इस तरह तीन प्रकारकी कसौटी होती है। यहाँ सोनेकी कसौटीका दृष्टान्त देना चाहिये (धर्मबिन्दु ग्रन्थमें है)। पहिला और दूसरा प्रकार किसी दूसरेमें भी मिल सकते हैं; परन्तु तीसरी विशुद्ध कसौटीसे जो शुद्ध गिना जाय, वही देव गुरु और धर्म सच्चा गिना जाता है।

११. शिष्यकी जो कमियाँ होती हैं, वे जिस उपदेशकके ध्यानमें नहीं आतीं, उसे उपदेशकर्त्ता न समझना चाहिये। आचार्य ऐसे चाहिये जो शिष्यके अल्पदोषको भी जान सकें और उसका यथा-समय बोध भी दे सकें।

१२. सम्यग्दृष्टि गृहस्थ ऐसा चाहिये जिसकी प्रतीति दुश्मन भी करें—ऐसा ज्ञानियोंने कहा है। तात्पर्य यह है कि ऐसे निष्कलंक धर्म पालनेवाले चाहिये।

शरी.

(१९)

१. अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञानमें अन्तर*।

२. परमावधिज्ञान मनःपर्यवज्ञानसे भी चढ़ जाता है; और वह एक अपवादरूप है।

(२०) आषाढ़ वदी ७ बुध. १९५६

१. आराधना होनेके लिए समस्त श्रुतज्ञान है; और उस आराधनाका वर्णन करनेके लिये श्रुतकेवली भी अशक्य हैं।

२. ज्ञान, लब्धि, ध्यान और समस्त आराधनाका प्रकार भी ऐसा ही है।

३. गुणकी अतिशयता ही पूज्य है, और उसके आधीन लब्धि सिद्धि इत्यादि हैं, और चारित्र स्वच्छ करना यह उसकी विधि है।

४. दशवैकालिककी पहिली गाथा—

> + धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संयमो तवो।
> देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

इसमें सब विधि गर्भित हो जाती हैं। परन्तु अमुक विधि ऐसी नहीं कही गई, इससे यह समझमें आता है कि स्पष्टरूपसे विधि नहीं बताई।

---

*लेखकका नोट—अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञानसंबंधी जो कथन नंदीसूत्रमें है उससे भिन्न कथन भगवती आराधनामें है—ऐसा श्रीमद्ने कहा। पहिलेके (अवधिज्ञानके) टुकड़े हो सकते हैं, जैसे हीयमान इत्यादि, वह चौथे गुणस्थानमें भी हो सकता है; स्थूल है, और मनकी स्थूल पर्यायको जान सकता है। तथा दूसरा (मनःपर्यवज्ञान) स्वतंत्र है; खास मनकी पर्यायसंबंधी शक्तिविशेषको लेकर एक भिन्न द्वीपके समान है; और वह अप्रमत्तको ही होता है—इत्यादि उन्होंने मुख्य मुख्य अंतर बताये।

+ धर्म—अहिंसा संयम और तप—ही उत्कृष्ट मंगल है। जिसका धर्ममें निरन्तर मन है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं।—अनुवादक.

इस नियमसे वह चक्र फिर कर पीछे भरतेश्वरके हाथमें आया। भरतके चक्र छोड़नेसे बाहुबलको बहुत क्रोध आया। उन्होंने महाबलवत्तर मुष्टि चलाई। तत्काल ही वहाँ उनकी भावनाका स्वरूप बदला। उन्होंने विचार किया कि मैं यह बहुत निंदनीय काम कर रहा हूँ, इसका परिणाम कितना दुःखदायक है! भले ही भरतेश्वर राज्य भोगें। व्यर्थ ही परस्परका नाश क्यों करना चाहिये? यह मुष्टि मारनी योग्य नहीं है, परन्तु उठाई तो अब पीछे हटाना भी योग्य नहीं। यह विचारकर उन्होंने पंचमुष्टि-केशलोंच किया, और वहांसे मुनि-भावसे चल पड़े। उन्होंने जहाँ भगवान् आदीश्वर अठानवें दीक्षित पुत्रोंसे और आर्य, आर्या सहित विहार करते थे, वहां जानेकी इच्छा की। परन्तु मनमें मान आया कि यदि वहां मैं जाऊँगा तो अपनेसे छोटे अठानवें भाईयोंको वंदन करना पड़ेगा। इसलिये वहाँ तो जाना योग्य नहीं। इस प्रकार मानवृत्तिसे वनमें वे एकाग्र ध्यानमें अवस्थित हो गये। धीरे धीरे बारह मास बीत गये। महातपसे बाहुबलकी काया अस्थिपंजरावशेष रह गई। वे सूखे हुए वृक्ष जैसे दीखने लगे, परन्तु जबतक मानका अंकुर उनके अंतःकरणसे नहीं हटा, तबतक उन्होंने सिद्धि नहीं पायी। ब्राह्मी और सुंदरीने आकर उनको उपदेश किया:—"आर्यवीर! अब मदोन्मत्त हाथीपरसे उतरो, इससे तो बहुत सहन करना पड़ा," उनके इन वचनोंसे बाहुबल विचारमें पड़े। विचारते विचारते उन्हें भान हुआ कि "सत्य है, मैं मानरूपी मदोन्मत्त हाथीपरसे अभी कहाँ उतरा हूँ! अब इसपरसे उतरना ही मंगलकारक है।" ऐसा विचारकर उन्होंने वंदन करनेके लिये पैर उठाया, कि उन्होंने अनुपम दिव्य कैवल्य कमलाको पाया।

वाचक! देखो, मान यह कैसी दुरित वस्तु है।

१८ चारगति

जीव सातावेदनीय और असातावेदनीयका वेदन करता हुआ शुभाशुभ कर्मका फल भोगनेके लिये इस संसार वनमें चार गतियोंमें भटका करता है। तो इन चार गतियोंको अवश्य जानना चाहिये।

१ नरकगति—महाआरंभ, मदिरापान, मांसभक्षण इत्यादि तीव्र हिंसाके करनेवाले जीव अघोर नरकमें पड़ते हैं। वहाँ लेश भी साता, विश्राम अथवा सुख नहीं। वहाँ महा अंधकार व्याप्त है, अंग-छेदन सहन करना पड़ता है, अग्निमें जलना पड़ता है, और छुरेकी धार जैसा जल पीना पड़ता है। वहाँ अनंत दुःखके द्वारा प्राणियोंको सँकरा, असाता और बिलबिलाहट सहन करने पड़ते हैं। ऐसे दुःखोंको केवलज्ञानी भी नहीं कह सकते। अहो! इन दुःखोंको अनंत बार इस आत्माने भोगा है।

२ तिर्यंचगति—छल, झूठ, प्रपंच इत्यादिके कारण जीव सिंह, बाघ, हाथी, मृग, गाय, भैंस, बैल इत्यादि तिर्यंचके शरीरको धारण करता है। इस तिर्यंच गतिमें भूख, प्यास, ताप, वध, बंधन, ताड़न, भारवहन इत्यादि दुःखोंको सहन करता है।

३ मनुष्यगति—खाद्य, अखाद्यके विषयमें विवेकरहित होता है, लज्जाहीन होकर माता और पुत्रीके साथ कामगमन करनेमें जिसे पापापापका भान नहीं, जो निरंतर मांसभक्षण, चोरी, परस्त्रीगमन वगैरह महा पातक किया करता है, यह तो मानो अनार्य देशका अनार्य मनुष्य है। आर्य देशमें भी क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य आदि मतिहीन, दरिद्री, अज्ञान और रोगसे पीड़ित मनुष्य हैं और मान, अपमान इत्यादि अनेक प्रकारके दुःख भोग रहे हैं।

देवगति—परस्पर वैर, ईर्ष्या, क्लेश, शोक, मत्सर, काम, मद, क्षुधा, आदिसे देवलोग भी आयु व्यतीत कर रहे है। यह देवगति है।

इस प्रकार चारों गतियोंका स्वरूप सामान्य रूपसे कहा। इन चारों गतियोंमें मनुष्यगति सबसे श्रेष्ठ और दुर्लभ है, आत्माका परमहित—मोक्ष इस गतिसे प्राप्त होता है। इस मनुष्यगतिमें भी बहुतसे दुःख और आत्मकल्याण करनेमें अंतराय आते हैं।

एक तरुण सुकुमारको रोमरोममें अत्यंत तप्त लाल सूए चुभानेसे जो असह्य वेदना होनी है उससे आठगुनी वेदना जीव गर्भस्थानमें रहते हुए प्राप्त करता है। यह जीव लगभग नव महीना मल, मूत्र, खून, पीप आदिमें दिनरात मूर्च्छागत स्थितिमें वेदना भोग भोगकर जन्म पाता है। गर्भस्थानकी वेदनासे अनंतगुनी वेदना जन्मके समय होती है। तत्पश्चात् बाल्यावस्था प्राप्त होती है। यह अवस्था मल मूत्र, धूल और नग्नावस्थामें अनसमझीसे रो भटककर पूर्ण होती है। इसके बाद युवावस्था आती है। इस समय धन उपार्जन करनेके लिये नाना प्रकारके पापोंमें पड़ना पड़ता है। जहाँसे उत्पन्न हुआ है, वहींपर अर्थात् विषय-विकारमे वृत्ति जाती है। उन्माद, आलस्य, अभिमान, निंद्य-दृष्टि, संयोग, वियोग, इस प्रकार घटमाळमे युवा वय चली जाती है। फिर वृद्धावस्था आ जाती है। शरीर काँपने लगता है, मुखसे लार बहने लगती है, त्वचापर सिकुड़न पड़ जाती है; सूँघने, सुनने, और देखनेकी शक्तियाँ बिलकुल मंद पड़ जाती हैं; केश धवल होकर खिरने लगते हैं; चलनेकी शक्ति नहीं रहती; हाथमें लकड़ी लेकर लड़खड़ाते हुए चलना पड़ता है; अथवा जीवन पर्यंत खाटपर ही पड़ा रहना पड़ता है; श्वास, खांसी, इत्यादि रोग आकर घेर लेते हैं; और थोड़े कालमें काल आकर कवलित कर जाता है। इस देहमेंसे जीव चल निकलता है। कायाका होना न होनेके समान हो जाता है। मरण समयमें भी कितनी अधिक वेदना होती है! चारों गतियोंमें श्रेष्ठ मनुष्य देहमें भी कितने अधिक दुःख भरे हुए हैं। ऐसा होते हुए भी ऊपर कहे अनुसार काल अनुक्रमसे आता हो यह बात भी नहीं। वह चाहे जब आकर ले जाता है। इसीलिये विचक्षण पुरुष प्रमादके बिना आत्मकल्याणकी आराधना करते हैं।

१९ संसारकी चार उपमायें

(१)

संसारको तत्त्वज्ञानी एक महासमुद्रकी भी उपमा देते है। संसार रूपी समुद्र अनंत और अपार है। अहो प्राणियों! इससे पार होनेके लिये पुरुषार्थका उपयोग करो! उपयोग करो! इस प्रकार उनके अनेक स्थानोंपर वचन हैं। संसारको समुद्रकी उपमा उचित भी है। समुद्रमे जैसे लहरें उठा करती हैं, वैसे ही संसारमें विषयरूपी अनेक लहरें उठती है। जैसे जल ऊपरसे सपाट दिखाई देता है, वैसे ही संसार भी सरल दीख पड़ता है। जैसे समुद्र कहीं बहुत गहरा है, और कहीं भँवरोंमें डाल देता है, वैसे ही संसार काम विषय प्रपंच आदिमें बहुत गहरा है और वह मोहरूपी भँवरोंमें डाल देता है। जैसे थोड़ा जल रहते हुए भी समुद्रमें खड़े रहनेसे कीचड़में धँस जाते है, वैसे ही संसारके लेशभर प्रसंगमें भी वह तृष्णारूपी कीचड़में धँसा देता है। जैसे समुद्र नाना प्रकारकी चट्टानों और तूफानोंसे नाव अथवा जहाजको जोखम पहुँचाता है, वैसे ही संसार स्त्रीरूपी चट्टानें और कामरूपी तूफानसे आत्माको जोखम पहुँचाता है। जैसे समुद्रका अगाध जल शीतल दिखाई देनेपर भी उसमें बड़वानल अग्नि वास करती है, वैसे ही संसारमें माया-

गया है; वैसा किसी दूसरे धर्ममें नहीं है। 'मारने'शब्दको ही मार डालनेकी दृढ़ छाप तीर्थंकरोंने आत्मामें 'मारी' है। इस जगह उपदेशके वचन भी आत्मामें सर्वोत्कृष्ट असर करते हैं। श्रीजिनकी छातीमें मानो जीवहिंसाके परमाणु ही न हों, ऐसा श्रीजिनका अहिंसाधर्म है। जिसमें दया नहीं होती, वे जिन नहीं होते। जैनोंके हाथसे खून होनेकी घटनायें भी प्रमाणमें अल्प ही होंगी। जो जैन होता है वह असत्य नहीं बोलता।

२. जैनधर्मके सिवाय दूसरे धर्मोंके मुकाबलेमें अहिंसामें बौद्धधर्म भी चढ़ जाता है। ब्राह्मणोंकी यज्ञ आदि हिंसक-क्रियाओंका नाश भी श्रीजिनने और बुद्धने ही किया है; जो अबतक कायम है।

३ ब्राह्मणोंने यज्ञ आदि हिंसक धर्मवाले होनेसे श्रीजिनको तथा श्रीबुद्धको सख्त शब्दोंका प्रयोग करके धिक्कारा है। वह यथार्थ है।

४. ब्राह्मणोंने स्वार्थबुद्धिसे यह हिंसक क्रिया दाखिल की है। श्रीजिनने तथा श्रीबुद्धने स्वयं वैभवका त्याग किया था। इससे उन्होंने निःस्वार्थ बुद्धिसे दयाधर्मका उपदेश कर, हिंसक-क्रियाका विच्छेद किया। जगत्के सुखमें उनकी स्पृहा न थी।

५. हिन्दुस्थानके लोग एक समय किसी विद्याका अभ्यास इस तरह छोड़ देते हैं कि उसे फिरसे ग्रहण करते हुए उन्हें अरुचि हो जाती है। योरपियन लोगोंमें इससे उल्टी ही बात है; वे एकदम उसे छोड़ नहीं देते, परन्तु जारी ही रखते हैं। हाँ, प्रवृत्तिके कारण ज्यादा कम अभ्यास हो सकता हो, यह बात अलग है।

रात्रि

(२२)

१. वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त्तकी है। इस कारण कम स्थितिका बंध भी कषायके बिना एक समयका पड़ता है, दूसरे समय वेदन होता है, और तीसरे समय निर्जरा हो जाती है।

२. ईर्यापथिकी क्रिया=चलनेकी क्रिया।

३. एक समयमें सात, अथवा आठ प्रकृतियोंका बंध होता है; यहाँ खुराक तथा विषका दृष्टान्त लेना चाहिये। जिस तरह खुराक एक जगहसे ली जाती है, परन्तु उसका रस हरेक इन्द्रियको पहुँचता है, और हरेक इन्द्रिय अपनी अपनी शक्ति अनुसार उसे ग्रहणकर उस रूपसे परिणमन करती है; उसमें अन्तर नहीं पड़ता; उसी तरह यदि कोई विष खा ले अथवा किसीको सर्प काट ले, तो वह क्रिया तो एक ही जगह होती है; परन्तु उसका असर विषरूपसे हरेक इन्द्रियको जुदे जुदे प्रकारसे समस्त शरीरमें होता है। इसी तरह कर्म बाँधते समय मुख्य उपयोग तो एक ही प्रकृतिका होता है; परन्तु उसका असर अर्थात् बँटवारा दूसरी सब प्रकृतियोंके परस्परके संबंधको लेकर ही मिलता है। जैसा रस वैसा ही उसका ग्रहण होता है। जिस भागमें सर्पदंश होता है, उस भागको यदि काट डाला जाय, तो जहर नहीं चढ़ता; उसी तरह यदि प्रकृतिका क्षय किया जाय, तो बंध पड़ता हुआ रुक जाता है; और उसके कारण दूसरी प्रकृतियोंमें बँटवारा पड़ता हुआ रुक जाता है। जैसे दूसरे प्रयोगसे चढ़ा हुआ विष वापिस उतर

सिद्धपर्याय पा जाय । आत्मा कभी भी क्रियाके विना नहीं हो सकती । जबतक योग रहते हैं तबतक आत्मा जो क्रिया करती है वह अपनी वीर्यशक्तिसे ही करती है । क्रिया देखनेमें नहीं आती, परन्तु वह परिणामके ऊपरसे जाननेमें आती है । जैसे खाई हुई खुराक निद्रामें पच जाती है—यह सबेरे उठनेसे माल्म होता है । यदि कोई कहे कि निद्रा अच्छी आई थी, तो यह होनेवाली क्रियाके समझमें आनेसे ही कहा जाता है । उदाहरणके लिये किसीको यदि चालीस बरसकी उम्रमें अंक गिनना आये, तो इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि उससे पहिले अंक थे ही नहीं । इतना ही कहा जायगा कि उसको उसका ज्ञान न था । इसी तरह ज्ञानदर्शनको समझना चाहिये । आत्मामें ज्ञानदर्शन और वीर्य थोड़े बहुत भी खुले रहनेसे आत्मा क्रियामें प्रवृत्ति कर सकती है । वीर्य हमेशा चलाचल रहा करता है । कर्मग्रंथ बाँचनेसे विशेष स्पष्ट होगा । इतने खुलासासे बहुत लाभ होगा ।

३. जीवत्वभाव हमेशा पारिणामिकभावसे है । इससे जीव जीवभावसे परिणमन करता है, और सिद्धत्व क्षायिकभावसे होता है; क्योंकि प्रकृतियोंके क्षय करनेसे ही सिद्धपर्याय मिलती है ।

४. मोहनीयकर्म औदायिकभावसे होता है ।

५. वैश्य लोग कानमात्रारहित अक्षर लिखते हैं; परन्तु अंकोंको कानमात्रारहित नहीं लिखते; उन्हें तो बहुत स्पष्टरूपसे लिखते हैं । उसी तरह कथानुयोगमें ज्ञानियोंने कदाचित् कुछ कानमात्रारहित लिखा हो तो भले ही; परन्तु कर्मप्रकृतिमें तो निश्चित ही अंक लिखे हैं । उसमें जरा भी भेद नहीं आने दिया ।

(२५) आषाढ वदी ११ रवि. १९५६

ज्ञान, डोरा पिरोई हुई सूँईके समान है—ऐसा उत्तराध्ययनसूत्रमें कहा है । जिस तरह डोरा पिरोई हुई सूँई खोई नहीं जाती, उसी तरह ज्ञान होनेसे संसारमें धोखा नहीं खाते ।

(२६) आषाढ वदी १२ सोम. १९५६

१. प्रतिहार=तीर्थंकरका धर्मराज्यत्व बतानेवाला । प्रतिहार=दरबान ।

२. जिस तरह स्थूल, अल्पस्थूल, उससे भी स्थूल, दूर, दूरसे दूर, उससे भी दूर पदार्थोंका ज्ञान होता है; उसी तरह सूक्ष्म, सूक्ष्मसे सूक्ष्म आदिका ज्ञान भी किसीको होना सिद्ध हो सकता है ।

३. नग्न=आत्मनग्न ।

४. उपहत=मारा गया । अनुपहत=नहीं मारा गया । उपष्टंभजन्य=आधारभूत । अभिधेय=जो वस्तुधर्मसे कहा जा सके । पाठान्तर=एक पाठकी जगह दूसरा पाठ । अर्थान्तर=कहनेका हेतु बदल जाना । विषय=जो यथायोग्य न हो—फेरफारवाला—कम ज्यादा । आत्मद्रव्य यह सामान्यविशेष उभयात्मक सत्तावाला है । सामान्य चेतनसत्ता दर्शन है । सविशेष चेतनसत्ता ज्ञान है ।

५. सत्तासमुद्भूत=सम्यक् प्रकारसे सत्ताका उदयभूत होना—प्रकाशित होना, स्फुरित होना—माल्म होना ।

६. दर्शन=जगत्के किसी भी पदार्थका भेदरूप रसगंधरहित निराकार प्रतिबिम्बित होना, उसका अस्तित्व माल्म होना, निर्विकल्परूपसे कुछ है, इस तरह आरसीकी झलकके समान सामनेके पदार्थका भास होना, दर्शन है । जहाँ विकल्प होता है वहाँ ज्ञान होता है ।

हो, उसका वीर्य उसी प्रमाणमें परिणमन करता है; इस कारण ज्ञानीके ज्ञानमें अभव्य दिखाई दिये। आत्माकी परमशांत दशासे मोक्ष और उत्कट दशासे अमोक्ष होती है। ज्ञानीने द्रव्यके स्व- अपेक्षा भव्य अभव्य भेद कहे हैं। जीवका वीर्य उत्कट रससे परिणमन करते हुए सिद्धपर्याय नहीं पा सकता, ऐसा ज्ञानियोंने कहा है। भजना=अंशसे होती है—वह होती भी है नहीं भी होती। वंचक=(मन, वचन कायासे) ठगनेवाला।

(३०) श्रावण वदी ८ शनि. १९५६

१. कम्मदव्वेहिं समं, संजोगो जो होई जीवस्से।
सो बंधो णायव्वो, तस्स वियोगो भवे मोक्खो॥

—कर्म द्रव्यकी अर्थात् पुद्गल द्रव्यकी साथ जीवका संबंध होना बंध है। तथा उसका वियोग हो जाना मोक्ष है।

समं—अच्छी तरह संबंध होना—वास्तविक रीतिसे संबंध होना; ज्यों त्यों कल्पनासे संबंध होना नहीं समझ लेना चाहिये।

२. प्रदेश और प्रकृतिबंध, मन वचन और कायाके योगसे होता है। स्थिति और अनुभाग बंध कषायसे होता है।

३. विपाक अर्थात् अनुभागसे फलकी परिपक्वता होना। सर्व कर्मोंका मूल अनुभाग है। उसमें जैसा तीव्र, तीव्रतर, मंद, मंदतर रस पड़ा है, वैसा उदयमें आता है। उसमें फेरफार अथवा भूल नहीं होती। यहाँ मिट्टीकी कुल्हियामें पैसा, रुपया, सोनेकी मोहर आदिके रखनेका दृष्टान्त लेना चाहिये। जैसे किसी मिट्टीकी कुल्हियामें बहुत समय पहिले रुपया, पैसा, सोनेकी मोहर रक्खी हो, तो उसे जिस समय निकालो वह उसी जगह उसी धातुरूपसे निकलती है, उसमें जगहका और उसकी स्थितिका फेरफार नहीं होता; अर्थात् पैसा रुपया नहीं हो जाता, और रुपया पैसा नहीं हो जाता; उसी तरह बाँधा हुआ कर्म द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार ही उदयमें आता है।

४. आत्माके अस्तित्वमें जिसे शंका हो वह चार्वाक कहा जाता है।

५. तेरहवें गुणस्थानकमें तीर्थंकर आदिको एक समयका बंध होता है। मुख्यतया कदाचित् ग्यारहवें गुणस्थानमें अकषायीको भी एक समयका बंध हो सकता है।

६. पवन पानीकी निर्मलताका भंग नहीं कर सकती, परन्तु उसे चलायमान कर सकती है। उसी तरह आत्माके ज्ञानमें कुछ निर्मलता कम नहीं होती; परन्तु जो योगकी चंचलता है, उससे रसके बिना एक समयका बंध कहा है।

७. यद्यपि कषायका रस पुण्य तथा पापरूप है, तो भी उसका स्वभाव कड़वा है।

८. पुण्य भी खारसमेंसे ही होता है। पुण्यका चौठाणिया रस नहीं है, क्योंकि वहाँ एकांत साताका उदय नहीं। कषायके दो भेद हैं:—प्रशस्तराग और अप्रशस्तराग। कषायके बिना बंध नहीं होता।

९. आर्त्तध्यानका समावेश मुख्यतया कषायमें हो सकता है। प्रमादका चारित्रमोहमें और योगका नामकर्ममें समावेश हो सकता है।

१०. श्रवण पवनकी लहरके समान है; वह आता है और चला जाता है।

प्रत्यक्ष दर्शन दिया करती थीं। मुनिसुंदरसूरिने अपने गुरुदेव सुंदरसूरिकी सेवामें एकसौ आठ हाथ लम्बा एक विज्ञप्तिपत्र भेजा था, जिसमें उन्होंने नाना तरहके सैकड़ों चित्र और हजारों काव्य लिखे थे। मुनिसुंदरसूरिने स्वोपज्ञ वृत्तिसहित उपदेशरत्नाकर, जयानंदचरित्र, शांतिकरस्तोत्र आदि अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। मुनिसुंदरसूरि श्वेताम्बर आम्नायमें बहुत प्रख्यात कवि गिने जाते हैं। ये सं० १५०३ में स्वर्गस्थ हुए। अध्यात्मकल्पद्रुममें सोलह अधिकार हैं। ग्रन्थका विस्तृत गुजराती विवेचन मोतीचन्द गिरधरलाल कापड़ियाने किया है, जो जैनधर्मप्रसारक सभाकी ओरसे सन् १९११ में प्रकाशित हुआ है।

अध्यात्मसार (देखो यशोविजय).

अनाथदासजी—

मालूम होता है अनाथदास कोई बहुत अच्छे वेदान्ती थे। इन्होंने गुजरातीमें विचारमाळा नामक ग्रंथ बनाया है। इस ग्रंथके ऊपर टीका भी है। राजचन्द्रजीने इस ग्रन्थका अवलोकन करनेके लिये लिखा है। उपदेशछायामें अनाथदासजीका एक वचन भी राजचन्द्रजीने उद्धृत किया है।

अनुभवप्रकाश (पक्षपातरहित अनुभवप्रकाश)—

इस ग्रन्थके कर्त्ता विशुद्धानन्दजीने गृहस्थाश्रमके त्याग करनेके पश्चात् बहुत समयतक देशाटन किया, और तत्पश्चात् वे हृषीकेशमें आकर रहने लगे। ये सदा संत पुरुषोंके समागममें रहते हुए ब्रह्मविचारमें मग्न रहते थे। विशुद्धानन्दजीने हृषीकेशमें रहकर नाना प्रकारके कष्ट उठाये। इन्होंने कलकत्ताके सेठ सूर्यमलजीको प्रेरित कर हृषीकेशमें अन्नक्षेत्र आदि भी स्थापित किये, जिनसे वहाँ रहनेवाले संत साधुओंको बहुत आराम मिला। विशुद्धानन्दजीको किसी धर्म या वेषके लिये कोई आग्रह न था। ये केवल दो कंबली रखते थे। अनुभवप्रकाशका गुजराती भाषांतर सन् १९२७ में बम्बईसे प्रकट हुआ है। इसमें आठ सर्ग हैं, जिनमें वेदान्तविषयका वर्णन है। प्रह्लादआख्यान तृतीय सर्गमें आता है।

अभयकुमार (देखो प्रस्तुत ग्रन्थ, मोक्षमाळा पाठ ३०–३२).

अंबारामजी—

×अम्बारामजी और उनकी पुस्तकके संबंधमें राजचन्द्रजी लिखते हैं—"हमने इस पुस्तकका बहुतसा भाग देखा है। परन्तु हमें उनकी बातें सिद्धान्तज्ञानसे बराबर बैठती हुई नहीं मालूम होतीं। और ऐसा ही है; तथापि उस पुरुषकी दशा अच्छी है; मार्गानुसारी जैसी है, ऐसा तो कह सकते हैं।" तथा "धर्म ही जिनका निवास है, वे अभी उस भूमिकामें नहीं आये।"

अयमंतकुमार—

इनके बाल्यावस्थामें मोक्ष प्राप्त करनेका राजचन्द्रजीने मोक्षमाळामें उल्लेख किया है। इनकी कथा भगवतीसूत्रमें आती है।

अष्टक (देखो हरिभद्र).

अष्टपाहुड (देखो कुन्दकुन्द).

×अगासमें पं० गुणभद्रजी सूचित करते हैं कि अंबारामजी मादरणके निवासी एक महन्त थे। इन्होंने बहुतसे भजन आदि बनाये हैं। लेखक.

जैसे हर्ष होता है; उसी तरह पुद्गल द्रव्यरूपी शुभाशुभ कर्ज, जिस कालमें उदयमें आ जाय, उस कालमें उसे सम्यक् प्रकारसे वेदन कर चुका देनेसे निर्जरा हो जाती है, और नया कर्ज नहीं होता। इसलिये ज्ञानी-पुरुषको कर्ज़मेंसे मुक्त होनेके लिये हर्षयुक्त भावसे तैय्यार रहना चाहिये। क्योंकि उसे चुकाये बिना छुटकारा नहीं।

२२. सुखदुःख जो द्रव्य क्षेत्र काल भावमें उदय आना हो, उसमें इन्द्र आदि भी फेरफार करनेमें समर्थ नहीं हैं।

२३. करणानुयोगमें ज्ञानीने अंतमुहूर्त्त आत्माका अप्रमत्त उपयोग माना है।

२४. करणानुयोगमें सिद्धान्तका समावेश होता है।

२५. चरणानुयोगमें जो व्यवहारमें आचरण किया जाय उसका समावेश किया है।

२६. सर्वविरति मुनिको ब्रह्मचर्यव्रतकी प्रतिज्ञा ज्ञानी देता है, वह चरणानुयोगकी अपेक्षासे है, करणानुयोगकी अपेक्षासे नहीं। क्योंकि करणानुयोगके अनुसार नवमें गुणस्थानकमें वेदोदयका क्षय हो सकता है—तबतक नहीं हो सकता।

८६४

वढवाण कैम्प, भाद्रपद वदी १९५१

(१)

(१) मोक्षमालाके पाठ हमने माप माप कर लिखे हैं।

पुनरावृत्तिके संबंधमें जैसे सुगम हो वैसा करना। कुछ वाक्योंके नीचे (अंडर लाइन) लकीर की है, वैसा करना जरूरी नहीं।

श्रोता-वाचकको यथाशक्ति अपने अभिप्रायपूर्वक प्रेरित न करनेका लक्ष रखना चाहिये। श्रोता-वाचकमें स्वयं ही अभिप्राय उत्पन्न होने देना चाहिये। सारासारके तोलन करनेको वाचक-श्रोताके खुदके ऊपर छोड़ देना चाहिये। हमें उन्हें प्रेरित कर, उन्हें स्वयं उत्पन्न हो सकनेवाले, अभिप्रायको रोक न देना चाहिये।

प्रज्ञावबोध भाग मोक्षमालाके १०८ दाने यहाँ लिखावेंगे।

(२) परम सत्श्रुतके प्रचाररूप एक योजना सोची है। उसका प्रचार होनेसे दर्शन मार्गका प्रकाश होगा।

(२)

श्रीमोक्षमालाके प्रज्ञावबोधभागकी संकलना.

१. वाचकको प्रेरणा.
२. जिनदेव.
३. निर्ग्रन्थ.
४. दया ही परमधर्म है.
५. सच्चा ब्राह्मणत्व.
६. मैत्री आदि चार भावनायें.
७. उपशमका उपकार.
८. प्रमादके स्वरूपका विशेष विचार.
९. तीन मनोरथ.
१०. चार सुखशय्या.
११. व्यावहारिक जीवोंके भेद.
१२. तीन आत्मायें.
१३. सम्यग्दर्शन.
१४. महात्माओंकी अनेकता.
१५. सर्वोत्कृष्ट सिद्धि.
१६. अनेकांतकी प्रमाणता.
१७. मनवृत्ति.
१८. तप.
१९. ध्यान.
२०. क्रिया.

कहा कि मुझे इतनी सामर्थ्यका अवधिज्ञान हो गया है कि मैं पाँचसौ योजनतकके रूपी पदार्थको जान सकता हूँ। गौतमस्वामीने इस बातका निषेध किया, और आनन्दको आलोचना करनेको कहा। बादमें दोनों महावीरके पास गये। गौतमको अपनी भूल मालूम हुई और उन्होंने आनन्दसे क्षमा माँगी।

आनंदघन—

आनंदघनजी एक महान् अध्यात्मी योगी पुरुष हो गये हैं। इनका दूसरा नाम लाभानंद था। इन्होंने हिन्दी मिश्रित गुजरातीमें चौवीस जिनभगवान्की स्तुतिरूप चौवीस स्तवनोंकी रचना की है, जो आनन्दघनचौवीसीके नामसे प्रसिद्ध है। आनन्दघनजीकी दूसरी सुन्दर रचना आनंदघन-बहोतरी है। आनंदघनजीकी वाणी बहुत मार्मिक और अनुभवज्ञानसे परिपूर्ण है। इनकी रचनाओंसे मालूम होता है कि ये जैनसिद्धांतके एक बड़े अनुभवी मर्मज्ञ पंडित थे। आनन्दघनजी गच्छ मत इत्यादिका बहुत विरोध करते थे। इन्होंने षट्दर्शनोंको जिन भगवान्का अंग बताकर छहों दर्शनोंका सुन्दर समन्वय किया है। आनन्दघनजी आत्मानुभवकी मस्त दशामें विचरण किया करते थे। आनन्दघनजीका यशोविजयजीसे मिलाप भी हुआ था, इस बातको यशोविजयजीने अपनी बनाई हुई अष्टपदीमें व्यक्त किया है। राजचन्द्रजी आनन्दघनजीको बहुत सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं। वे उन्हें कुन्दकुन्द और हेमचन्द्राचार्यकी कोटिमें लाकर रखते हैं। वे आनन्दघनजीकी हेमचन्द्राचार्यसे तुलना करते हुए लिखते हैं—"श्रीआनंदघनजीने स्वपर-हितबुद्धिसे लोकोपकार-प्रवृत्ति आरंभ की। उन्होंने इस मुख्य प्रवृत्तिमें आत्महितको गौण किया। परन्तु वीतरागधर्म-विमुखता—विषमता—इतनी बढ़ गई थी कि लोग धर्मको अथवा आनंदघनजीको पहिचान न सके—समझ न सके। अन्तमें आनंदघनजीको लगा कि प्रबलरूपसे व्याप्त विषमताके योगमें लोकोपकार, परमार्थ-प्रकाश करनेमें असरकारक नहीं होता, और आत्महित गौण होकर उसमें बाधा आती है; इसलिये आत्महितको मुख्य करके उसमें ही प्रवृत्ति करना योग्य है। इस विचारणासे अन्तमें वे लोकसंगको छोड़कर वनमें चल दिये। वनमें विचरते हुए भी वे अप्रगटरूपसे रहकर चौवीस पद आदिके द्वारा लोकोपकार तो कर ही गये हैं। निष्कारण लोकोपकार यह महापुरुषोंका धर्म है।" राजचन्द्रजीने आनंदघनचौवीसीका विवेचन भी लिखना आरंभ किया था, जो अंक ६९२ में छपा है।

ईसामसीह—

ईसामसीह ईसाईधर्मके आदिसंस्थापक थे। ये कुमारी मरियमके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। ईसा बचपनसे ही धर्मग्रन्थोंके अध्ययन करनेमें सारा समय बिताया करते थे। ईसाके पूर्व फिलस्तीन और अरब आदि देशोंमें यहूदीधर्मका प्रचार था। यहूदी पादरी लोग धर्मके बहाने जो मनमाने अत्याचार किया करते थे, उनके विरुद्ध ईसामसीहने प्रचण्ड आन्दोलन मचाया। ईसापर बारबार यहूदियोंने खूब आक्रमण किये, जिससे इन्हें जेरुसलेम भाग जाना पड़ा। वहाँपर भी इनपर वार किये गये। यहूदियोंने इन्हें पकड़कर बन्दी कर लिया, और इन्हें काँटोंका मुकुट पहनाकर सूलीपर लटका दिया। जिस समय इनके हाथों पैरोंमें कीलें ठोकी गईं, उस समय भी इनका मुख प्रसन्नतासे खिलता रहा, और ये अपने वध करनेवालोंकी अज्ञानताको क्षमा करनेके लिये परमेश्वरसे प्रार्थना

कामदेव श्रावक (देखो प्रस्तुत ग्रंथ, मोक्षमाला पाठ २२).

कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा—

यह अध्यात्मका ग्रन्थ दिगम्बर विद्वान् स्वामी कार्त्तिकेय (कार्त्तिकस्वामी) का बनाया हुआ है। ये कब हो गये हैं और कहांके रहनेवाले थे, इत्यादि बातोंका कुछ ठीक ठीक पता नहीं चलता। राजचन्द्रजी लिखते हैं—" गतवर्ष मद्रासकी ओर जाना हुआ था। कार्तिकस्वामी इस भूमिमें बहुत विचरे हैं। इस ओरके नग्न, भव्य, ऊँचे और अडोल वृत्तिसे खड़े हुए पहाड़ देखकर, स्वामी कार्तिकेय आदिकी अडोल वैराग्यमय दिगम्बर वृत्ति याद आती है। नमस्कार हो उन कार्तिकेय आदिको।" कार्त्तिकेयानुप्रेक्षाके ऊपर कई टीकायें भी हैं। यह ग्रन्थ पं० जयचन्द्रजीकी वचनिकासहित बम्बईमें छपा है। पं० जयचन्द्रजीने दिगम्बर विद्वान् शुभचन्द्रजीकी संस्कृत टीकाके आधारसे यह वचनिका लिखी है। राजचन्द्रजीने कार्त्तिकेयानुप्रेक्षाके मनन-निदिध्यासन करनेका कई जगह उल्लेख किया है।

किसनदास (सिंह) (देखो क्रियाकोष).

कुण्डरीक (देखो प्रस्तुत ग्रंथ, भावनाबोध पृ. ११८).

कुन्दकुन्द—

कुन्दकुन्द आचार्य दिगम्बर आम्नायमें बहुत मान्य विद्वान् हो गये हैं। कुन्दकुन्दका दूसरा नाम पद्मनन्दि भी था। इनके विषयमें तरह तरहकी दन्तकथायें प्रचलित हैं। इनके समयके विषयमें भी विद्वानोंमें मतभेद है। साधारणतः कुन्दकुन्दका समय ईसवी सन्‌की प्रथम शताब्दि माना जाता है। कुन्दकुन्द आचार्यके नामसे बहुतसे ग्रंथ प्रचलित हैं, परन्तु उनमें पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, ×समयसार और अष्टपाहुड ये बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें आदिके तीन कुन्दकुन्दत्रयीके नामसे प्रसिद्ध हैं। तीनोंकी अमृतचन्द्राचार्यने संस्कृत टीका भी लिखी है। इन ग्रंथोंपर और भी विद्वानोंकी संस्कृत-हिन्दी टीकायें हैं। हिन्दी टीकाओंमें समयसारके ऊपर बनारसीदासजीका हिन्दी समयसारनाटक अत्यंत सुंदर है। इसे उन्होंने अमृतचन्द्रके समयसारकलशाके आधारसे हिन्दी कवितामें लिखा है। उक्त तीनों ही ग्रंथ अध्यात्मके उच्च कोटिके ग्रंथ माने जाते हैं। कुन्दकुन्दको ८४ पाहुड (प्राभृत) का भी कर्त्ता माना जाता है। इनमें दर्शन, चारित्र, सूत्र, बोध, भाव, मोक्ष, लिंग और शील नामक आठ पाहुड छप चुके हैं। राजचन्द्रजीने प्रस्तुत ग्रंथमें एक स्थानपर सिद्धप्राभृतका उल्लेख किया है और उसकी एक गाथा उद्धृत की है। यह सिद्धप्राभृत उक्त आठ पाहुड़से भिन्न है। यह पाहुड कुन्दकुन्दके अप्रसिद्ध पाहुड़ोंमेंसे कोई पाहुड होना चाहिये। राजचन्द्रजीने कुन्दकुन्दके ग्रंथोंका खूब मर्मपान किया था। कुन्दकुन्द आदि आचार्योंके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करते हुए राजचन्द्रजी लिखते हैं—" हे कुन्दकुन्द आदि आचार्यो ! तुम्हारे वचन भी निजस्वरूपकी खोज करनेमें इस पामरको परम उपकारी हुए हैं, इसलिये मैं तुम्हें अतिशय भक्तिसे नमस्कार करता हूं।" राजचन्द्रजीने पंचास्तिकायका भाषांतर भी किया है, जो अंक ७०० में दिया गया है।

× मालूम होता है कुन्दकुन्द आचार्यके समयसारके अतिरिक्त किसी अन्य विद्वान्ने भी समयसार नामक कोई ग्रंथ बनाया है, जिसका विषय कुन्दकुन्दके समयसारसे भिन्न है। इस ग्रंथका राजचन्द्रजीने वाचन किया था। देखो पत्र ८४९।—लेखक.

आरंभ किया, और अपने सात मित्रोंकी सहायतासे पूर्ण किया था। कहते हैं कि कुंवर महेरामणजीको अपने मामा लींबडीके ठाकुरकी पुत्री सुजनबाके साथ प्रेम हो गया था, और इस प्रेमको इन दोनोंने अंत समयतक निबाहा। प्रवीणसागरमें राजकुमारी सुजनबा (प्रवीण) ने महेरामणजी (सागर) को संबोधन करके, और महेरामणजीने राजकुमारीको संबोधन करके कवितायें लिखी हैं। राजचन्द्रजी लिखते हैं—"प्रवीणसागर समझपूर्वक पढ़ा जाय तो यह दक्षता देनेवाला ग्रंथ है, नहीं तो यह अप्रशस्त रागरंगोंको बढ़ानेवाला ग्रंथ है"।

महादजी (देखो अनुभवप्रकाश).

प्रश्नव्याकरण (आगमग्रंथ)—इसका कई जगह राजचन्द्रजीने उल्लेख किया है।

प्रज्ञापना (आगमग्रंथ)—इसका भी प्रस्तुत ग्रंथमें उल्लेख आता है।

प्रीतमदास—

ये भक्त कवि भाट जातिके थे, और ये सन् १७८२ में मौजूद थे। ये साधु-संतोंके समागममें बहुत काल बिताते थे। इनकी कविता भी अन्य भक्तोंकी तरह वेदान्तज्ञान और प्रेमभक्तिसे पूर्ण है। प्रीतमदासको 'चरोतर' का रत्न कहा जाता है। इनके बड़े ग्रंथ गीता और भागवतका ११ वाँ स्कंध हैं। इसके अतिरिक्त प्रीतमदासने अन्य भी बहुतसे पद गरबी इत्यादि लिखे हैं। 'प्रीतमदासनो कक्को' गुजरातीमें बहुत प्रसिद्ध है। श्रीमद् राजचन्द्र अपने भक्तोंमें इसे पढ़नेके लिये कहा करते थे। उन्होंने प्रीतमको मार्गानुसारी कहा है। प्रीतमदासने गोविंदरामजी नामक साधुका बहुत समयतक सहवास किया, और उन्हें अपना गुरु बनाया था। कहते हैं कि प्रीतमदास अन्त समय अंधे हो गये थे। ये उस समय भी पद-रचना करते थे। गुजराती साहित्यमें इनकी कविताओंका बहुत आदर है।

बनारसीदास—

बनारसीदासजी आगराके रहनेवाले श्रीमाली वैश्य थे। इनका जन्म सं० १६४३ में जौनपुरमें हुआ था। बनारसीदासजीका मूल नाम विक्रमाजीत था। इनके पिताको पार्श्वनाथके ऊपर अनन्त प्रीति थी, इसलिये उन्होंने इनका नाम बनारसीदास रक्खा था। बनारसीदासजीको यौवन कालमें इश्कबाजीका बहुत शौक हो गया था। इन्होंने शृंगारके ऊपर एक ग्रंथ भी लिखा था, जिसे बादमें इन्होंने गोमती नदीमें बहा दिया था। बनारसीदासजीकी अवस्थामें धीरे धीरे बहुत परिवर्तन होता गया। इन्हें कुंदकुंद आचार्यके अध्यात्मरसके ग्रंथ पढ़नेको मिले, और ये निश्चयनयकी ओर झुके। इन्होंने निश्चयनयको पुष्ट करनेवाली ज्ञानपचीसी, ध्यानबत्तीसी, अध्यात्मबत्तीसी आदि कृतियोंकी रचना की। बनारसीदासजी चंद्रभाण, उदयकरण, थानमलजी आदि अपने मित्रोंसहित अध्यात्मचर्चामें डूबे रहते थे। अन्तमें तो यहाँतक हुआ कि ये चारों नग्न होकर अपनेको मुनि मान कर रहा करते थे। इसी कारण श्रावक लोग बनारसीदासको 'खोसरामती' कहने लगे थे। बनारसीदासजीकी यह एकांतदशा सं० १६९२ तक रही। बादमें इनको इस दशापर बहुत खेद हुआ, और इनका हृदय-पट खुल गया। इस समय ये आगरामें पं० रूपचन्द्रके समागममें आये, और

नहीं की। छोटम बहुत कम बोलते, और कम आहार करते थे। छोटम बाल-ब्रह्मचारी थे। इन्होंने अपना समस्त जीवन अध्यात्ममें ही व्यतीत किया था। छोटमने व्रजलालजी नामके साधुको अपना गुरु बनाया था। छोटमने अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। इनमें प्रश्नोत्तररत्नमाला, धर्मभक्तिआख्यान, बोधचिंतामणि, हंसउपनिषद्सार, वेदान्तविचार आदि मुख्य हैं। छोटम ७३ वर्षकी अवस्थामें समाधिस्थ हुए।

जड़भरत—

एक समय राजा भरत नदीके किनारे बैठे हुए ओंकारका जाप कर रहे थे। वहाँ एक गर्भिणी हरिणी पानी पीनेके लिये आई। इतनेमें वहाँ सिंहके गर्जनका शब्द सुनाई पड़ा, और हरिणीने डरके मारे नदीको फाँद जाने प्रयत्न किया। फल यह हुआ कि उसका गर्भ नदीमें गिर पड़ा, और वह नदीके उस पार पहुँचते ही मर गई। राजर्षि भरत नदी किनारे बैठे बैठे यह घटना देख रहे थे। भरतजीका हृदय दयासे व्याकुल हो उठा। वे उठे और मृगशावकको नदीके प्रवाहमेंसे निकाल कर अपने आश्रमको ले गये। वे नित्यप्रति उस बच्चेकी सेवा-सुश्रूषा करने लगे। कुछ समय बाद भरतजीको उस हरिणके प्रति अत्यन्त मोह हो गया। एक दिन वह मृग उनके पाससे कहीं भाग गया और अपने झुण्डमें जा मिला। इसपर भरतजीको अत्यंत शोक हुआ, और वे ईश्वराराधनासे भ्रष्ट हो गये। इस अत्यन्त मृगवासनाके कारण भरतजीको दूसरे जन्ममें मृगका शरीर धारण करना पड़ा। भरतजीको मृगजन्ममें अपने किये हुए कर्मपर बहुत पश्चात्ताप हुआ, और वे बहुत असंगभावसे रहने लगे। तत्पश्चात् राजर्षि भरत मृगके शरीरको त्यागकर ब्राह्मणके घर उत्पन्न हुए। भरतजीका यह अन्तिम शरीर था, और इस शरीरको छोड़नेके बाद वे मुक्त हो गये। भरतजी अपने पहिले भवोंको भूले न थे, इसलिये वे असंगभावसे हरिभक्तिपूर्वक अपना जीवन बिताते थे। साधारण लोग भरतजी-को जड़, गूँगा या बधिर समझकर उनसे बेगार वगैरह कराते थे, और उसके बदले उन्हें रूखा सूखा अन्न दे देते थे। यह जड़भरतका वर्णन भागवतके आठवें-नवमें अध्यायमें आता है। "मुझे जड़भरत और विदेही जनककी दशा प्राप्त होओ "—'श्रीमद् राजचन्द्र' पृ. १२४.

जनक—

जनक इक्ष्वाकुवंशज राजा निमिके पुत्र थे। ये मिथिलाके राजा थे। राजा जनक अपने समय-के एक बड़े योगी थे, और वे संसारमें जलकमलकी तरह निर्लिप्त रहते थे। जनक 'राजर्षि' और 'विदेह' नामसे भी कहे जाते थे। जनक केवल योगी ही नहीं, परन्तु परमज्ञानी और भगवान्के भक्त भी थे। ऋषि याज्ञवल्क्य इनके पुरोहित तथा मंत्री थे। तथा शुकदेव आदि अनेक ऋषियोंने जनकजीसे ही उपदेश लिया था। गीतामें भी जनकके निष्काम कर्मयोगकी प्रशंसा की गई है। जनकजीकी पुत्री सीताका विवाह रामचन्द्रजीसे हुआ था। जनकका वर्णन भागवत, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थोंमें मिलता है।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति श्वेताम्बर साहित्यके १२ उपांगोंमेंसे छट्ठा उपांग माना जाता है। इसमें जम्बू-द्वीपका विस्तारसे वर्णन किया गया है। यह जैन भूगोलविषयक ग्रंथ है। इसमें राजा भरतकी कथा

बुद्ध दोनों समकालीन थे। दोनों होने अपने धर्मका विहार प्रान्तसे प्रचार आरंभ किया। बुद्ध भगवान्के देशी विदेशी भाषाओंमें अनेक जीवनचरित्र लिखे गये हैं।

बृहत्कल्प—

बृहत्कल्प छह छेदसूत्रोंमें एक सूत्र माना जाता है। इसके कर्त्ता भद्रबाहुस्वामी हैं। बृहत्कल्प पर अनेक टीका टिप्पणियाँ हैं। इन छह छेदसूत्रोंमें साधु साध्वियोंके आचार क्रिया आदिके सामान्य नियम-मार्गोंके प्रतिपादनके साथ साथ, द्रव्य क्षेत्र काल भाव उत्सर्ग अपवाद आदि मार्गोंका भी समयानुसार वर्णन है। इसलिये ये छह छेदसूत्र अपवादमार्गके सूत्र माने जाते हैं। बृहत्कल्पमें छह उद्देशक हैं। इस सूत्रमें साधु साध्वियोंके आचारका वर्णन है। इसमें जो पदार्थ कर्मके हेतु और संयमके बाधक हैं, उनका निषेध करते हुए, संयमके साधक स्थान, वस्त्र, पात्र आदिका वर्णन किया है। इसमें प्रायश्चित्त आदिका भी वर्णन है।

ब्रह्मदत्त—

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती था। एक समयकी बात है कि एक ब्राह्मणने आकर ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीसे कहा कि हे चक्रवर्ती! जो भोजन तू स्वयं खाता है उसे मुझे भी खिला। ब्रह्मदत्तने ब्राह्मणको उत्तर दिया कि मेरा भोजन बहुत गरिष्ठ और उन्मादकारी है। परन्तु ब्राह्मणने जब चक्रवर्तीको कृपण आदि शब्दोंसे धिक्कारा, तो ब्रह्मदत्तने ब्राह्मणको कुटुंबसहित अपना भोजन खिलाया। भोजन करनेके पश्चात् रात्रिमें ब्राह्मण और उसके कुटुंबको महा उन्माद हुआ, और वह ब्राह्मण अपने पुत्रसहित माता बहन आदि सबके साथ पशुकी तरह रमण करने लगा। जब सुबह हुई तो ब्राह्मण और उसके गृहजनोंको बहु लज्जा मालूम हुई। ब्राह्मणको ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीके ऊपर बहुत क्रोध आया और वह क्रोधसे घरसे निकल पड़ा। कुछ दूरपर ब्राह्मणने एक गडरियेको पीपलके पत्तोंपर कंकरें फेंककर पत्तोंको फाड़ते हुए देखा। ब्राह्मणने गड़रियेसे कहा कि जो पुरुष सिरपर श्वेत छत्र और चमर धारण करके गजेन्द्रपर बैठकर यहाँसे निकले, तू उसकी दोनों आँखोंको कंकरोंसे फोड़ डाल। गड़रियेने दिवालकी ओटमें खड़े होकर हाथीपर बैठकर जाते हुए ब्रह्मदत्तकी दोनों आँखें फोड़ दीं। बादमें चक्रवर्तीको मालूम हुआ कि उसी ब्राह्मणने इस दुष्कृत्यको कराया है। ब्रह्मदत्तको ब्राह्मण जातिके ऊपर बहुत क्रोध आया। उसने उस ब्राह्मणको उसके पुत्र, बंधु और मित्रोंसहित मरवा डाला। क्रोधान्ध ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीने अपने मंत्रीको सब ब्राह्मणोंको मारकर उनके नेत्रोंसे विशाल थाल भरकर अपने सामने लानेकी आज्ञा दी। मंत्रीने श्लेष्मातक फलोंसे थाल भरकर राजाके सामने रक्खा। ब्रह्मदत्त उस थालमें रक्खे हुए फलोंको नेत्र समझकर उन्हें बार बार हाथसे स्पर्श करता और बहुत हर्षित हुआ करता था। अन्तमें हिंसानुबन्धी परिणामोंसे मरकर वह सातवें नरकमें गया। यह कथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित आदि कथाग्रंथोंमें आती है।

भगवतीसूत्र (आगमग्रन्थ)—इसका राजचन्द्रजीने अनेक स्थानोंपर उल्लेख किया है।

भगवतीआराधना—

यह ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदायमें बहुत प्राचीन ग्रंथ माना जाता है। पं० नाथूरामजी प्रेमीका कहना है कि इसके ग्रन्थकर्त्ताका असली नाम आर्यशिव या शिवकोटि था। बहुतसे लोग इनको समंतभद्र आचार्यका शिष्य मानते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं मालूम होता। यह ग्रन्थ प्रधानतया

आदि सभी लोग इस धर्मके अनुयायी हैं। ब्लैवेट्स्कीके बाद श्रीमती एनीबिसेन्टने इस सोसायटीकी उन्नतिके लिये बहुत उद्योग किया। थियोसफीका गीताका गुजराती विवेचन थियोसफिकल सोसायटी बम्बईसे सन् १८९९ में प्रकाशित हुआ है।

दशवैकालिक (आगमग्रंथ)—

दशवैकालिककी कुछ गाथाओंका राजचन्द्रजीने अनुवाद किया है, जो अंक ३४ में छपा है।

दयानन्द—

स्वामी दयानन्दका जन्म सं० १८८१ में मोरबी राज्यके अन्तर्गत टंकारा गाँवके एक धनी घरानेमें हुआ था। स्वामी दयानन्दके पिता एक कट्टर ब्राह्मण थे। दयानन्द स्वामी आरंभसे ही स्वतंत्र बुद्धिके थे, और मिथ्या मत आदिका विरोध किया करते थे। जब स्वामीजी बाईस वर्षके हुए तो उनके विवाहकी बातचीत हुई। विवाहकी सब तैय्यारियाँ भी हो गईं, पर दयानन्द इस समाचारको सुनते ही कहीं भाग गये, और गेरवे रंगके वस्त्र पहिनकर रहने लगे। दयानन्दजीको सद्गुरुकी तलाशमें इधर उधर बहुत भटकनेके पश्चात् पंजाबमें स्वामी विरजानन्दजीके दर्शन हुए। दयानन्दने अपने गुरुके पास अढ़ाई बरस रहकर संस्कृत और वेदोंका खूब अभ्यास किया। विद्याध्ययनके पश्चात् स्वामी दयानन्दने वैदिकधर्मका दूर दूर घूमकर प्रचार किया। काशीमें आकर इन्होंने वैदिक पंडितोंसे भी शास्त्रार्थ किया। स्वामीजीकी प्रतिभा और असाधारण बुद्धिकौशल देखकर बहुतसे लोग उनके अनुयायी होने लगे। स्वामी दयानन्दने सं० १९३२ में बम्बईमें आर्यसमाजकी स्थापना की। स्वामीजीने उदयपुर, इन्दौर, शाहपुरा आदि रियासतोंमें भी प्रचारके लिये भ्रमण किया। अन्तमें वे जोधपुरके महाराजाके यहाँ रहने लगे। यहाँ कुछ लोग उनके बहुत विरोधी हो गये, और उनके विरोधियोंने उन्हें विष खिलाकर मरवा डाला। स्वामीजीने संवत् १९४० में दिवालीके दिन देहत्याग किया। इनके बाद स्वामी श्रद्धानन्द लाला लाजपतराय आदिने आर्यसमाजका काम किया। स्वामी दयानन्दने हिन्दीमें सत्यार्थप्रकाश नामक पुस्तक लिखी है, जिसमें सब धर्मोंकी कड़ी समालोचना की गई है।

*दयाराम—

कवि दयारामका जन्म सन् १७७७ में हुआ था। उन्हें देवनागरी लिपिके अतिरिक्त अन्य कोई लिपि न आती थी। इन्होंने गुजराती, हिन्दी, पंजाबी, मराठी, संस्कृत और फारसी भाषामें कवितायें की हैं। उनके एक शिष्यके कथनानुसार दयारामने सब मिलाकर १३५ ग्रन्थोंकी रचना की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने बहुतसे पद लावनी वगैरह भी लिखे हैं। दयाराम कृष्णके बड़े भक्त थे, और इन्होंने कृष्णलीलाके बहुतसे रसिक पद वगैरह लिखे हैं। दयारामने गोकुल, मथुरा, काशी, वृंदावन, श्रीनाथजी आदि सब धामोंकी सात बार घूमकर यात्रा की थी। इनके शिष्य दयारामको नरसिंह मेहताका अवतार मानते थे। इनका मरण सन् १८५२ में हुआ। राजचन्द्रजीने इनके पद उद्धृत किये हैं।

दामसौर (देखो गजदन्त).

देवचन्द्रजी—

देवचन्द्रजीका जन्म मारवाड़में संवत् १७४६ में हुआ था। देवचन्द्रजी [illegible]

कवितामें बोधज्ञान अधिक पाया जाता है। भोजाने खड-ज्ञानी और बगुले-भक्तोंका खूब उपहास किया है। भोजा भगत अपनी भक्ति और योगशक्तिके लिये बहुत प्रसिद्ध थे। इनका अनुभव और परीक्षाशक्ति बहुत तीव्र थी। इन्होंने ६५ वर्षकी अवस्थामें देहत्याग किया।

मणिरत्नमाला—

मणिरत्नमाला तुलसीदासजीकी संस्कृतकी रचना है। इसमें मूल श्लोक कुल ३२ हैं। वे बत्तीस श्लोक प्रश्नोत्तररूपमें लिखे गये हैं। मणिरत्नमालाके ऊपर गुजरातके जगजीवन नामके ब्राह्मणकी संवत् १६७२ में रची हुई टीका भी मिलती है। इसमें अनात्मा और आत्माका बहुत सुंदर प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रंथ वैराग्यप्रधान है। मणिरत्नमालाका एक श्लोक निम्न प्रकारसे है:—

> को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः
> श्रीमांश्च को यस्य समस्ति तोषः।
> जीवन्मृतो कस्तु निरुद्यमो यः
> को वामृता स्यात्सुखदा निराशा ॥ ५ ॥

अर्थ—दरिद्री कौन है? जिसकी तृष्णा विशाल है। श्रीमान् कौन है? जो संतोषी है। जीते हुए भी मृत कौन है? जो निरुद्यमी है। अमृतके समान सुखदायक कौन है? निराशा।

मणिलाल नभुभाई—

ये नड़ियादके रहनेवाले थे। मणिलाल नभुभाई गुजरातके अच्छे साहित्यकार हो गये हैं। इन्होंने षड्दर्शनसमुच्चय आदि ग्रन्थोंके अनुवाद किये हैं, और गीतापर विवेचन किया है। इनके षड्दर्शनसमुच्चयके अनुवादकी और गीताके विवेचनकी राजचन्द्रजीने समालोचना की है। सुदर्शनगद्यावलिमें इनके लेखोंका संग्रह प्रकाशित हुआ है।

मदनरेखा—

सुदर्शनपुरके मणिरथ राजाके लघुभ्राता युगबाहुकी स्त्रीका नाम मदनरेखा था। मदनरेखा अत्यन्त सुंदरी थी। उसके अनुपम सौंदर्यको देखकर मणिरथ उसपर मोहित हो गया, और उसे प्राप्त करनेके लिये वह नाना प्रकारके फल-पुष्प आदि भेजने लगा। मदनरेखाको जब यह बात मालूम हुई तो उसने राजाको बहुत धिक्कारा, पर इसका मणिरथपर कोई असर न हुआ। अब वह राजा किसी तरह अपने छोटे भाई मदनरेखाके पति युगबाहुको मार डालनेकी घातमें रहने लगा। एक दिन मदनरेखा और युगबाहु दोनों उद्यानमें क्रीड़ा करने गये हुए थे। मणिरथ भी अकेला वहाँ पहुँचा। युगबाहुको जब अपने बड़े भाईके आनेके समाचार मिले तो वह उससे मिलने आया। युगबाहुने झुककर बड़े भाईको नमस्कार किया। इसी समय मणिरथने उसपर खड्गप्रहार किया। मदनरेखाने पतिको मरणासन्न देखकर उसे धर्मबोध दिया। पतिके मर जानेसे मदनरेखाको अपने शीलकी रक्षाकी बहुत चिंता हुई। मदनरेखा गर्भवती थी। वह उसी समय किसी जंगलमें निकलकर चली गई, और उसने वहाँ [illegible] पुत्र प्रसव किया। वहाँसे वह किसी विद्याधरके हाथ पड़ी। वह भी उसपर मोहित होकर उसे [illegible] की दलीलें पेश करने लगा। मदनरेखाने विद्याधरसे उसे नंदीश्वर ले चलनेको कहा। [illegible] किसी मुनिने विद्याधरको [illegible]। इन्होंने मदनरेखाके [illegible]

प्रत्यक्ष दर्शन दिया करते थे, तथा संकटके समय स्वयं कृष्ण भगवान्ने इनकी हुंडी चुकाई थी। कहा जाता है कि नरसिंह मेहताने सवा लाख पद बनाये हैं। नरसी मेहता और इनकी निस्पृह भक्तिका राजचन्द्रजीने बहुत गुणगान किया है।

नवतत्त्व—

नवतत्त्वप्रकरणका श्वेताम्बर सम्प्रदायमें बहुत प्रचार है। इसमें चौदह गाथाओंमें नव तत्त्वोंका प्रतिपादन किया है। नवतत्त्वके कर्त्ता देवगुप्ताचार्य हैं। इन्होंने संवत् १०७३ में नवतत्त्वप्रकरणकी रचना की है। नवतत्त्वप्रकरणके ऊपर अभयदेवसूरिने भाष्य लिखा है। इसपर और भी अनेक टीका टिप्पणियाँ हैं।

नारदजी (देखो नारदभक्तिसूत्र).

नारद (देखो प्रस्तुत ग्रंथ, मोक्षमाला पाठ २३).

नारदभक्तिसूत्र—

नारदभक्तिसूत्र महर्षि नारदजीकी रचना है। इस ग्रंथमें ८४ सूत्र हैं। ग्रंथकारने इसमें भक्तिका सर्वोत्कृष्टरूपसे प्रतिपादन किया है, और उसके लिये कुमार, वेदव्यास, शुकदेव आदि भक्ति-आचार्योंकी साक्षी दी है। ग्रंथकारने बताया है कि भक्तोंमें जाति कुल आदिका कोई भेद नहीं होता, और भक्ति गूँगेके स्वादकी तरह अनिर्वचनीय होती है। इसमें व्रजगोपियोंकी भक्तिकी प्रशंसा की गई है। भक्त लोग षड्दर्शनोंकी तरह भक्तिको सातवाँ दर्शन मानते हैं। उक्त पुस्तक हनुमानप्रसाद पोद्दारके हिंदी अनुवादसहित गीता प्रेस गोरखपुरसे प्रकाशित हुई है। नारदजीने नारदगीता नारदस्मृति आदि अन्य भी ग्रंथ लिखे हैं।

•निष्कुलानन्द—

निष्कुलानन्दजी स्वामीनारायण सम्प्रदायके साधु थे। इनके गुजराती भाषामें बहुतसे ग्रन्थ हैं। ये [illegible] रहते थे, और सं० १८७७ में मौजूद थे। निष्कुलानन्दजीके पूर्व आश्रमका नाम लालजी था। इनकी कविताका मुख्य अंग वैराग्य है। इन्होंने भक्तचिन्तामणि, [illegible], धीरजाख्यान, निष्कुलानन्द काव्य तथा अन्य अनेक पदोंकी रचना की है। राजचन्द्रजीने निष्कुलानन्दके धीरजाख्यानमें से पद उद्धृत किये हैं।

नीरांत—

नीरांत भक्त [illegible] पाटीदार थे। इनका जन्म सन् १८४३ में [illegible] हुआ था। इनकी कविता वेदान्तपूर्ण और कृष्णभक्तिसे [illegible] है। ये तुलसी [illegible] पूजा करते थे। कहते हैं एक बार इन्हें स्वप्नमें कोई मुसलमान मिला, और उसने कहा कि '[illegible] तो जड़ है, तू इसकी तुलसी [illegible] इसे क्या पूजता फिरता है।' इससे नीरांतको [illegible] हुआ, और इन्होंने मुसलमानको गुरु करके प्रणाम किया। इसके बाद इनको वेदान्तकी ओर रुचि हुई, और इनका आध्यात्म [illegible] बढ़ता गया। राजचन्द्रजीने इनकी कोई (पद [illegible]) [illegible] है।

*मुक्तानन्द—

ये काठियावाड़के रहनेवाले साधु थे। मुक्तानन्दजी सं० १८६४ में मौजूद थे। इन्होंने उद्धवगीता, धर्माख्यान, धर्मामृत तथा बहुतसे पद वगैरहकी रचना की है। राजचन्द्रजीने उक्त गीताका एक पद उद्धृत किया है।

मृगापुत्र (देखो प्रस्तुत ग्रंथ, भावनाबोध पृ. ११२)

मोहमुद्गर—

मोहमुद्गर स्वामी शंकराचार्यका बनाया हुआ है। यह वैराग्यका अत्युत्तम ग्रन्थ है। इसमें मोहके स्वरूप और आत्मभावनाके बहुतसे उत्तम भेद बताये हैं। यह ग्रंथ वेदधर्मसभा बम्बईकी ओरसे गुजराती टीकासहित सन् १८९८ में प्रकाशित हुआ है। राजचन्द्रजीने इस ग्रंथमेंसे श्लोकका एक भाग उद्धृत किया है। इसका प्रथम श्लोक निम्न प्रकारसे है:—

मूढ जहीहि धनागमतृष्णां कुरु तनुबुद्धे मनसि वितृष्णाम् ।
यल्लभसे निजकर्मोपात्तं वित्तं तेन विनोदय चित्तम् ॥

—हे मूढ! धनप्राप्तिकी तृष्णाको छोड़। हे कम बुद्धिवाले! मनको तृष्णारहित कर। तथा जो धन अपने कर्मानुसार मिले, उससे चित्तको प्रसन्न रख।

मोक्षमार्गप्रकाश—

मोक्षमार्गप्रकाशके रचयिता टोडरमलजी हैं। पं० टोडरमलजी आधुनिक कालके दिगम्बर विद्वानोंमें बहुत अच्छे विद्वान् हो गये हैं। इनका जन्म संवत् १७७३ के लगभग जयपुरमें हुआ था। पं० टोडरमलजी जैनसिद्धान्तके एक बहुत मार्मिक पंडित गिने जाते हैं। इन्होंने नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके प्रसिद्ध ग्रन्थ गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार और त्रिलोकसारपर विस्तृत हिन्दी वचनिका लिखी है। इसके अतिरिक्त इन्होंने आत्मानुशासन पुरुषार्थसिद्धयुपाय आदि ग्रंथोंपर भी विवेचन किया है। मोक्षमार्गप्रकाश टोडरमलजीका स्वतंत्र ग्रंथ है। यह अपूर्ण है। इसका शेषार्द्ध भाग ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने लिखकर पूर्ण किया है। इस ग्रंथमें टोडरमलजीने जैनधर्मकी प्राचीनता, अन्य मतोंका खंडन, मोक्षमार्गका स्वरूप आदि विषयोंका बहुत सरल भाषामें वर्णन किया है। पं० टोडरमलजी दिगम्बर जैन विद्वानोंमें ऋषितुल्य समझे जाते हैं। टोडरमलजी १५-१६ वर्षकी अवस्थामें ही ग्रन्थ-रचना करने लगे थे। पं० टोडरमलजीने श्वेताम्बरोंद्वारा मान्य वर्तमान जिनागमका निषेध किया है। इस विषयमें राजचन्द्रजी लिखते हैं—"मोक्षमार्गप्रकाशमें श्वेताम्बर सम्प्रदायद्वारा मान्य वर्तमान जिनागमका जो निषेध किया है, वह निषेध योग्य नहीं। यद्यपि वर्तमान आगममें अमुक स्थल अधिक संदेहास्पद हैं, परन्तु सत्पुरुषकी दृष्टिसे देखनेपर उसका निराकरण हो जाता है; इसलिये उपशम-दृष्टिसे उन आगमोंके अवलोकन करनेमें शंका करना योग्य नहीं।"

मोक्षमाला (देखो प्रस्तुत ग्रंथ पृ. ९०-१९१).

यशोविजय—

यशोविजय श्वेताम्बर सम्प्रदायमें अपने समयके एक महान् प्रतिभाशाली प्रखर विद्वान् हो गये हैं। इनकी रचनायें संस्कृत, प्राकृत, गुजराती और हिन्दी चारों भाषाओंमें मिलती हैं। न्यायविशारद

परमात्मप्रकाश—

परमात्मप्रकाश अध्यात्मका अपभ्रंशका एक उच्च कोटिका ग्रंथ है। इसके कर्ता योगीन्दु (योगीन्दु) हैं। परमात्मप्रकाशपर ब्रह्मदेवने संस्कृत टीका लिखी है। योगीन्दुदेवने अपने शिष्य भट्ट प्रभाकरको उपदेश करनेके लिये परमात्मप्रकाश लिखा था। ग्रंथमें सब मिलाकर ३४५ दोहे हैं, जिनमें निश्चयनयका बहुत सुन्दर वर्णन है। इस ग्रंथका प्रो० ए० एन० उपाध्येने अभी हालमें सम्पादन किया है, जो रायचंद्रशास्त्रमालासे प्रकाशित हो रहा है। योगीन्दुदेवकी दूसरी रचना योगसार है। यह भी इस लेखकद्वारा हिन्दी अनुवादसहित रायचन्द्रशास्त्रमालामें प्रकाशित हो रहा है। योगीन्दुदेवका समय ईसवी सन् छठी शताब्दि माना जाता है। परमात्मप्रकाश दिगम्बर समाजमें बहुत आदरके साथ पढ़ा जाता है।

परदेशी राजा—

परदेशी राजाकी कथा रायपसेणीयसूत्रमें आती है। यह राजा बहुत अधर्मी था, और इसके हृदयमें दयाका लवलेश भी न था। एकबार परदेशी राजाके मंत्री सारथीचित्रने श्रावस्ती नगरीमें केशीस्वामीके दर्शन किये। केशीस्वामीका उपदेश सुनकर सारथीचित्रको अत्यन्त प्रसन्नता हुई, और उन्होंने केशीस्वामीको अपनी नगरीमें पधारनेका आमंत्रण दिया। केशीस्वामी उस नगरीमें आये। सारथीचित्र परदेशी राजाको अपने साथ लेकर केशीस्वामीके पास गये। परदेशी राजाको केशीश्रमणका उपदेश लगा, और परदेशीने अनेक व्रत आदि धारण कर अपना जन्म सफल किया। परदेशी राजाका गुजरातीमें रास भी है, जिसे भीमसिंह माणेकने सन् १९०१ में प्रकाशित किया है।

परीक्षित—

राजा परीक्षित अर्जुनके पौत्र और अभिमन्युके पुत्र थे। पांडव हिमालय जाते समय परीक्षितको राजभार सौंप गये थे। परीक्षितने भारतवर्षका एकछत्र राज्य किया। अंतमें साँपके डसनेसे इनकी मृत्यु हुई। शुकदेवजीने इन्हें भागवतकी कथा सात दिनमें सुनाई थी। इनकी कथा श्रीमद्भागवतमें विस्तारसे आती है।

पर्वत (देखो प्रस्तुत ग्रंथ; मोक्षमाला पाठ २३).

पाण्डव—पाँच पाण्डवोंके १२ वर्षकी वनवासकी कथा जैन और जैनेतर ग्रंथोंमें बहुत प्रसिद्ध है। पाण्डवोंका विस्तृत वर्णन महाभारत आदि ग्रंथोंमें विस्तारसे आता है।

पोगला (देखो प्रस्तुत ग्रंथ पृ. ५५० फुटनोट).

पुद्गल परिव्राजक—

आलंभिका नगरीमें पुद्गल नामका एक परिव्राजक रहता था। वह ऋग्वेद, यजुर्वेद और ब्राह्मणशास्त्रोंमें बहुत कुशल था। वह निरंतर छट्ठ-छट्ठका तप करता, और ऊँचे हाथ रखकर आतापना लेता था। इससे पुद्गलको विभंगज्ञान उत्पन्न हुआ। इस विभंगज्ञानसे उसे ब्रह्मलोक स्वर्ग तकके देवोंकी स्थितिका ज्ञान हो गया। उसने विचार किया—'मुझे अतिशययुक्त ज्ञानदर्शन उत्पन्न हुए हैं। देवलोकमें देवोंकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्षकी है, और उत्कृष्ट दस सागरकी है। ...

योगशास्त्र (देखो हेमचन्द्र).

रहनेमि-राजीमती—

रहनेमि अथवा अरिष्टनेमि समुद्रविजय राजाके पुत्र थे। उनका विवाह उग्रसेनकी पुत्री राजीमतीसे होना निश्चित हुआ था। रहनेमिने जब बाजे गाजेके साथ अपने श्वसुर-गृहको प्रस्थान किया, तो रास्तेमें जाते हुए उन्होंने बहुतसे बँधे हुए पशु पक्षियोंका आक्रन्दन सुना। सारथीसे पूछनेपर उन्हें माळूम हुआ कि ये पशु बारातके अतिथियोंके लिये वध करनेके लिये एकत्रित किये गये हैं। इससे नेमिनाथको बहुत वैराग्य हो आया, और उन्होंने उसी समय दीक्षा धारण करनेका निश्चय किया। उधर जब राजीमतीके पास नेमिनाथकी दीक्षाका समाचार पहुँचा तो वह अत्यंत व्याकुल हुई, और उसने भी नेमिनाथकी अनुगामिनी हो जानेका निश्चय किया। दोनों दीक्षा धारण कर गिरनार पर्वतपर तपश्चरण करने लगे। एक बारकी बात है, नेमिनाथने राजीमतीको नग्न अवस्थामें देखा, और उनका मन डाँवाडोल हो गया। इस समय राजीमतीने अत्यंत मार्मिक बोध देकर नेमिनाथको फिरसे संयममें दृढ़ किया। यह कथा उत्तराध्ययनके २२ वें रथनेमीय अध्ययनमें आती है। " कोई राजीमती जैसा समय प्राप्त होओ। "—' श्रीमद् राजचंद्र ' पृ. १२६

रामदास—

स्वामी समर्थ रामदासका जन्म औरंगाबाद जिलेमें सन् १६०८ में हुआ था। समर्थ रामदास पहिलेसे ही चंचल और तीव्रबुद्धि थे। जब ये बारह वर्षके हुए तब इनके विवाहकी बातचीत होने लगी। इस खबरको सुनकर रामदास भाग गये और बहुत दिनोंतक छिपे रहे। छोटी अवस्थामें ही रामदासजीने कठोर तपस्यायें कीं। बादमें ये देशाटनके लिये निकले और काशी, प्रयाग, बदरीनाथ, रामेश्वर आदि तीर्थस्थानोंकी यात्रा की। शिवाजी रामदासको अपना परम गुरु मानते थे, और इनके उपदेश और प्रेरणासे ही सब काम करते थे। सन् १६८० में जब शिवाजीकी मृत्यु हुई तो रामदासजीको बहुत दुःख हुआ। श्रीसमर्थ केवल बहुत बड़े विद्वान् और महात्मा ही न थे, वरन् वे राजनीतिज्ञ, कवि और अच्छे अनुभवी भी थे। उनको विविध विषयोंका बहुत अच्छा ज्ञान था। उन्होंने बहुतसे ग्रंथ बनाये हैं। उनमें दासबोध मुख्य है। यह ग्रन्थ मुख्यतः अध्यात्मसंबंधी है, पर इसमें व्यावहारिक बातोंका भी बहुत सुन्दर दिग्दर्शन कराया गया है। इसमें विश्वभावनाके ऊपर खूब भार दिया है। मूल ग्रन्थ मराठीमें है। इसके हिन्दी गुजराती अनुवाद भी हो गये हैं।

रामानुज—

रामानुज आचार्य श्रीसम्प्रदायके आचार्य माने जाते हैं। इनका जन्म ईसवी सन् १०१७ में कर्णाटकमें एक ब्राह्मणके घर हुआ था। रामानुजने १६ वर्षकी अवस्थामें ही चारों वेद कण्ठ कर लिये थे। इस समय रामानुजका विवाह कर दिया गया। रामानुजने व्याकरण, न्याय, वेदांत आदि विद्याओंमें निपुणता प्राप्त की थी। इनकी स्त्रीका स्वभाव झगड़ालू था, इसलिये इन्होंने उसे उसके पिताके घर पहुँचाकर स्वयं संन्यास धारण कर लिया। रामानुज स्वामीने बहुत दूर दूरतक देशोंकी यात्रा की थी। इन्होंने भारतके प्रधान तीर्थस्थानोंमें अपने मठ स्थापित किये, और भक्तिमार्गका प्रचार किया। रामानुज विशिष्टाद्वैतके संस्थापक माने जाते हैं। इन्होंने वेदान्तसूत्रोंपर श्रीभाष्य, वेदन्तप्रदीप, वेदान्त-

२२ कामदेव श्रावक

महावीर भगवान्‌के समयमें बारह व्रतोंको विमल भावसे धारण करनेवाला, विवेकी और निर्ग्रंथवचनानुरक्त कामदेव नामका एक श्रावक, उनका शिष्य था। एक बार सुधर्माकी सभामें इंद्रने कामदेवकी धर्मकी अचलताकी प्रशंसा की। इतनेमें वहाँ जो एक तुच्छ बुद्धिवाला देव बैठा हुआ था, उसने कामदेवकी इस सुदृढ़ताके प्रति अविश्वास प्रगट किया, और कहा कि जबतक परीषह नहीं पड़ती, तभी तक सभी सहनशील और धर्ममें दृढ़ दीखते हैं। मैं अपनी इस बातको कामदेवको चलायमान करके सत्य करके दिखा सकता हूँ। धर्मदृढ़ कामदेव उस समय कायोत्सर्गमें लीन था। प्रथम ही देवताने विक्रियासे हाथीका रूप धारण किया, और कामदेवको खूब ही गूँधा, परन्तु कामदेव अचल रहा। अब देवताने मूसल जैसा अंग बना करके काले वर्णका सर्प होकर भयंकर फुंकार मारी, तो भी कामदेव कायोत्सर्गसे लेशमात्र भी चलायमान नहीं हुआ। तत्पश्चात् देवताने अट्टहास्य करते हुए राक्षसका शरीर धारण करके अनेक प्रकारके उपसर्ग किये, तो भी कामदेव कायोत्सर्गसे न डिगा। उसने सिंह वगैरहके अनेक भयंकर रूप बनाये, तो भी कामदेवके कायोत्सर्गमें लेशमात्र भी हीनता नहीं आयी। इस प्रकार वह देवता रातके चारों पहर उपद्रव करता रहा, परन्तु वह अपनी धारणामें सफल नहीं हुआ। इसके बाद उस देवने अवधिज्ञानके उपयोगसे देखा, तो कामदेवको मेरुके शिखरकी तरह अडोल पाया। वह देवता कामदेवकी अद्भुत निश्चलता जानकर उसको विनय भावसे प्रणाम करके अपने दोषोंकी क्षमा माँगकर अपने स्थानको चला गया।

कामदेव श्रावककी धर्मदृढ़ता यह शिक्षा देती है, कि सत्य धर्म और सत्य प्रतिज्ञामें परम दृढ़ रहना चाहिये, और कायोत्सर्ग आदिको जैसे बने तैसे एकाग्र चित्तसे और सुदृढ़तासे निर्दोष करना चाहिये। चलविचल भावसे किया हुआ कायोत्सर्ग आदि बहुत दोष युक्त होता है। पाई जितने द्रव्यके लाभके लिये धर्मकी सौगंध खानेवालोंकी धर्ममें दृढ़ता कहाँसे रह सकती है? और रह सकती हो, तो कैसी रहेगी, यह विचारते हुए खेद होता है।

२३ सत्य

सामान्य कथनमें यह कहा भी जाता है, कि सत्य इस जगत्‌का आधार है, अथवा यह जगत् सत्यके आधारपर ठहरा हुआ है। इस कथनसे यह शिक्षा मिलती है, कि धर्म, नीति, राज और व्यवहार ये सब सत्यके द्वारा चल रहे हैं, और यदि ये चारों न हों तो जगत्‌का रूप कितना भयंकर हो जाय! इसलिये सत्य जगत्‌का आधार है, यह कहना कोई अतिशयोक्ति जैसा अथवा न मानने योग्य नहीं।

वसुराजाका एक शब्दका असत्य बोलना कितना दुःखदायक हुआ था, इस प्रसंगपर विचार करनेके लिये हम यहाँ कुछ कहेंगे।

राजा वसु, नारद और पर्वत इन तीनोंने एक गुरुके पास विद्या पढ़ी थी। पर्वत अध्यापकका पुत्र था। अध्यापकका मरण हुआ। इसलिये पर्वत अपनी माँ सहित वसु राजाके दरबारमें आकर रहने लगा। एक रातको पर्वतकी माँ पासमें बैठी थी, तथा पर्वत और नारद शास्त्राभ्यास कर रहे थे। उस समय पर्वतने "अजैर्यष्टव्यं" ऐसा एक वाक्य बोला। नारदने पर्वतसे पूछा, "अज किसे कहते हैं?"

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, और न चाहुं रे कंत ।
रिझ्यो (रीझ्यो) साहिब संग न परिहरे रे, भांगे सादि अनंत ।
[आनन्दघनचौवीसी ऋषभदेवजिन

एक अज्ञानीना कोटि अभिप्रायो छे, अने कोटि ज्ञानीनो एक
=एक अज्ञानीके करोड़ अभिप्राय हैं, और करोड़ ज्ञानियोंका

एक देखिये जानिये [रमि रहिये इकठौर ।
समल विमल न विचारिये यहै सिद्धि नहि और ॥]
समयसारनाटक जीवद्वार २०, पृ. ५०—पं. बनारसीदास

एक परिनामके न करता दरव (व) दोय (दोइ) दोय
एक करतूति दोई (इ) दर्व (वे) कबहों (हूँ) न करै दोई
जीव पुद्गल एक खेत-अवगाही दोई (उ) अपने अपने
जड़ परिनामनिको (कौ) करता है पुद्गल चिदानंद
[समयसारनाटक कर्ताकर्मक्रिया

सन्तति, स्वास्थ्य आदि सब कुछ प्राप्त था। ईसवी सन् १८७७ में विक्टोरियाको कैसरेहिंद (Empress of India) का खिताब मिला। इनकी ही प्रेरणासे लेडी डफरिनने भारतमें जना अस्पताल खोले थे। विक्टोरियाको इंगलैंडके राजकोशसे ३७१८०० पौन्ड वार्षिक वेतन मिलता था विक्टोरियाका अशक्ति बढ़ जानेके कारण सन् १९०१ में देहान्त हुआ।

विचारसागर—

विचारसागर वेदान्तशास्त्रका प्रवेशग्रंथ माना जाता है। इसके कर्त्ता निश्चलदासका ज पंजाबमें सं० १८४९ में जाट जातिमें हुआ था। निश्चलदासजीने बहुत समयतक काशीमें रहक विद्याभ्यास किया। निश्चलदासजी अपने ग्रंथमें दादुजीको गुरुरूपसे स्मरण करते हैं। इन्होंने औ सुंदरदासजीने दादुपंथकी बहुत वृद्धि की। निश्चलदासजीकी असाधारण विद्वत्तासे मुग्ध होकर बूंदी राजा रामसिंहने उन्हें अपने पास बुलाकर रक्खा और उनका बहुत आदर सत्कार किया था विचारसागर और वृत्तिप्रभाकर निश्चलदासजीके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। कहा जाता है कि इन्होंने संस्कृत ईशावास्य उपनिषद्पर भी टीका लिखी है, और वैद्यकशास्त्रका भी कोई ग्रंथ बनाया है। इनक संस्कृतके २७ लाख श्लोकोंका किया हुआ संग्रह इनके 'गुरुद्वार' में अब भी विद्यमान बताया जात है। विचारसागरकी रचना संवत् १९०५ में हुई थी। इसमें वेदान्तकी मुख्य मुख्य प्रक्रियाओंका बहु सरलतापूर्वक प्रतिपादन किया है। यह मूलग्रन्थ हिन्दीमें है। इसके गुजराती, बंगाली, अंग्रेज आदि भाषाओंमें भी अनुवाद हुए हैं। निश्चलदासजी ७० वर्षकी अवस्थामें दिल्लीमें समाधिस्थ हुए विचारसागरके मनन करनेके लिये राजचन्द्रजीने मुमुक्षुओंको अनेक स्थलोंपर अनुरोध किया है।

विचारमाला (देखो अनाथदास).

विदुर—

विदुर एक बहुत बड़े भारी नीतिज्ञ माने जाते हैं। विदुर बड़े ज्ञानी, विद्वान् और चतुर थे। महाराज पाडु तथा धृतराष्ट्रने क्रमशः इन्हें अपना मंत्री बनाया। ये महाभारतके युद्धमें पांडवोंकी ओरसे लड़े। अंतमें इन्होंने धृतराष्ट्रको नीति सुनाई, और उन्हींके साथ वनको चले गये, और वहाँ अग्निमें जल मरे। इनका विस्तृत वर्णन महाभारतमें आता है। "सत्पुरुष विदुरके कहे अनुसार ऐसा कृत्य करना कि रातमें सुखसे सो सके।"—'श्रीमद् राजचन्द्र' पृ. ५.

विद्यारण्यस्वामी—

विद्यारण्यस्वामीके समयके विषयमें कुछ निश्चित पता नहीं चलता। विद्वानोंका अनुमान है कि वे सन् १३०० से १३९१ के बीचमें विद्यमान थे। विद्यारण्यस्वामीने छोटी अवस्थामें ही संन्यास ले लिया था। इन्होंने वेदोंके भाष्य, शतपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थोंके भाष्य, उपनिषदोंकी टीका, ब्रह्मगीता, सर्वदर्शनसंग्रह, शंकरदिग्विजय, पंचदशी आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की है। विद्यारण्यस्वामी सर्व शास्त्रोंके महान् पण्डित थे। इन्होंने अद्वैतमतका नाना प्रकारकी युक्ति प्रयुक्तियोंसे सुन्दर प्रतिपादन किया है।

***विहार वृन्दावन—**

इसका राजचन्द्रजीने एक पद उद्धृत किया है। इसके विषयमें कुछ विशेष ज्ञात नहीं हो सका।

पृष्ठ लाइन

संग त्यागी (गि) अंग त्यागी (गि) वचन तरंग त्यागी (गि)
मन त्यागी (गि) बुद्धि त्यागी (गि) आपा सु (सु)द्ध कीनो (नौ) है ॥
[समयसारनाटक सर्वविशुद्धिद्वार १०९, पृ. ३७७-८] २८२-५

जारिस सिद्धसहावो तारिस सहावो सव्वजीवाणं ।
तम्हा सिद्धंतरुई कायव्वा भव्वजीवेहिं ॥ [सिद्धप्राभृत—कुन्दकुन्द] ६३६-१४

जिन थई (इ) जिनने जे आराधे ते सही (हि) जिनवर होवे रे।
भृं (भृं) गी ईलीकाने चटकावे ते भृं (भृं)गी जग जोवे रे ॥ {३०४-११
[आनंदघनचौवीसी-नमिनाथजिनस्तवन ७, पृ. १६०] {३०७-१८

जिनपूजा रे ते निजपूजना [रे प्रगटे अन्वयशक्ति ।
परमानंद विलासी अनुभवे रे देवचन्द पद व्यक्ति]॥ [वासुपूज्यस्तवन ७—देवचन्द्रजी] ६३६-१८

जिसने आत्मा जान ली उसने सब कुछ जान लिया ।
[जे एगं जाणई से सव्वं जाणई] [आचारांग १-३-४-१२२] १०-४

जीव (मन) तुं शीद शोचना धरे ? कृष्णने करवुं होय ते करे ।
जीव (चित्त) तुं शीद शोचना धरे ? कृष्णने करवुं होय ते करे ॥
[दयाराम पद ३४, पृ. १२८; दयारामकृत भक्तिनीतिकाव्यसंग्रह अहमदाबाद १८७६]
३४६-१६

जीव नवि पुग्गली नैव पुग्गल कदा पुग्गलाधार नहीं तास रंगी ।
पर तणो ईश नहिं अपर ऐश्वर्यता वस्तु धर्मे कदा न परसंगी ॥
[सुमतिजिनस्तवन ६ देवचन्द्रजी] २७९-१६

जूवो (वा) आमिष मदिरा दारी आहे (खे) टक चोरी परनारी ।
एहि (ई) सप्तव्यसन (सात विसन) दुः (दु) खदाई दुरित मूल दुर्गति (दुरगति) के
जाई (भाई) ॥
[समयसारनाटक साध्यसाधकद्वार २७ पृ. ४४४] ३८२-३०

जे अबुद्धा महाभागा वीरा असमत्तदंसिणो ।
असुद्धं तेसि (सिं) परकंतं सफलं होई सव्वसो ॥ १ ॥
जे य बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्तदंसिणो ।
सुद्धं तेसिं परकंतं अफलं होइ सव्वसो ॥ २ ॥ [सूत्रकृतांग १-८-२२,२३ पृ. ४२] ३६१-१०

(जे) एगं जाणई से सव्वं जाणई। जे सव्वं जाणई से एगं जाणई ॥
[आचारांग १-३-४-१२२] १५३-१०

जे जाणई (इ) अरिहंते दव्वगुणपज्जवेहिं य ।
तो जाणई (इ) नियअप्पा मोहो खलु जाईय (जाइ) तस्स लयं ॥
[प्रवचनसार १–८० पृ. १०१—कुन्दकुन्दाचार्य; रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला १
जेनो काळ ते किंकर थई रह्यो मृगतृष्णाजळ त्रैलोक (लोक) ॥ जींव्युं
दासी आशा पिशाची थई रही कामक्रोध ते केदी लोक ॥ जींव्युं० ।
(दीसे) खातां पीतां बोलतां नित्ये छे निरंजन निराकार ॥ जींव्युं० ।
जाणे संत सलुणा (सलोणा) तेहने जेने होय छेल्लो (लो) अवतार
जगपावनकर ते अवतर्या अन्य मातउदरनो भार ॥ जींव्युं० ।
तेने चौद लोकमां विचरतां अंतराय कोईए (कोये) नव थाय ॥ जी
रिद्धि (धि) सिद्धि ते (वियो) दासियो थई रही ब्रह्मानंद हृदे न
[नरहरपद पद १५–२९, ३१, ३६, ३७, ३८, ३९, पृ.
सस्तुं साहित्यवर्धक कार्यालय, बम्बई
... (धी) अङ्ग ।

वैराग्यका बहुत सुन्दर वर्णन किया है। विनयविजयजीने शांतसुधारसको संवत् १७२३ में लिखा है। इसके अतिरिक्त आपने लोकप्रकाश, नयकर्णिका, कल्पसूत्रकी टीका, स्वोपज्ञ टीकासहित हैमलघुप्रक्रिया आदि अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। विनयविजयजीने श्रीपालराजाका रास भी गुजरातीमें लिखा है। यह रास गुजराती भाषाका एक सुंदर काव्यग्रंथ माना जाता है। विनयविजय इस रासको अपूर्ण ही छोड़ गये, और बादमें यशोविजयजीने इसे पूर्ण किया। राजचन्द्रजीने श्रीपालरासमेंसे कुछ पद उद्धृत किये हैं। राजचन्द्रजीने शांतसुधारसके मनन करनेका कई जगह मुमुक्षुओंको अनुरोध किया है। इसका श्रीयुत् मनसुखराम कीरतचंदद्वारा किया हुआ गुजराती विवेचन अभी डॉ० भगवानदास मनसुखरामने प्रकाशित किया है।

शांतिनाथ—

शांतिनाथ भगवान् जैनोंके १६ वें तीर्थंकर माने जाते हैं। ये पूर्वभवमें मेघरथ राजाके जीव थे। एकबार मेघरथ पौषध लेकर बैठे हुए थे। इतनेमें उनकी गोदीमें एक कबूतर आकर गिरा। उन्होंने उस निरपराध पक्षीको आश्वासन दिया। इतनेमें वहाँ एक बाज आया, और उसने मेघरथसे अपना कबूतर वापिस माँगा। राजाने बाजको बहुत उपदेश दिया, पर वह न माना। अन्तमें मेघरथ राजा कबूतर जितना अपने शरीरका माँस देनेको तैय्यार हो गये। काँटा मँगाया गया। मेघरथ अपना माँस काट काट कर तराजूमें रखने लगे, परन्तु कबूतर वजनमें बढ़ता गया। यह देखकर वहाँ उपस्थित सामंत लोगोंमें हाहाकार मच गया। इतनेमें एक देव प्रगट हुआ और उसने कहा, महाराज! मैं इन दोनों पक्षियोंमें अधिष्ठित होकर आपकी परीक्षाके लिये आया था। मेरा अपराध क्षमा करें। ये ही मेघरथ राजा आगे जाकर शांतिनाथ हुए। यह कथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितके ५ वें पर्वके ४ थे सर्गमें आती है।

शांतिप्रकाश—

सुना जाता है कि राजचन्द्रजीके समय स्थानकवासियोंकी ओरसे शांतिप्रकाश नामका कोई पत्र निकलता था।

शालिभद्र (देखो धनाभद्र).

शिखरसूरि—

राजचन्द्रजीने प्रस्तुत ग्रंथमें पृ. ७७२ पर जैनयति शिखरसूरि आचार्यका उल्लेख किया है, जिन्होंने लगभग दो हजार वर्ष पहिले वैश्योंको क्षत्रियोंके साथ मिला दिया था। परन्तु आजसे दो हजार वर्ष पहिले शिखरसूरि नामके किसी आचार्यके होनेका उल्लेख पढ़नेमें नहीं आया। हाँ, रत्नप्रभाचार्य नामके तो एक आचार्य हो गये हैं।

शिक्षापत्र—

यह ग्रन्थ वैष्णवसम्प्रदायमें अत्यंत प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थमें ४१ पत्र हैं, जो हरिरायजीने अपने लघुभ्राता गोपेश्वरजीको संस्कृतमें लिखे थे। हरिरायजी वैष्णवसम्प्रदायमें बहुत अच्छे महात्मा हो गये हैं। इन्होंने अपना समस्त जीवन उपदेश और भगवत्सेवामें लगाया था। ये महात्मा सदा पैदल चलकर ही मुसाफिरी करते थे, और कभी किसी गाँव या शहरके भीतर मुकाम नहीं करते

पृष्ठ प्रसंग

दीसे (सै) कर्मरहो (हि) त सही (हि) त सुख समाधान
पायो (यौ) निजथान फिरि बाहिर (बाहरि) न बहेगो (बहैगौ)।
कबहु (हूँ) कदाचि अपनो (नौ) सुभाउ (व) त्यागि करि
राग रस राचिके (कै) न परवस्तु गहेगो (गहैगौ)।
अमलान ज्ञान विद्यमान परगट भयो (यौ)
याहि (ही) भांति आगम अनंतकाळ रहेगो (रहैगौ)॥
[समयसारनाटक सर्वविशुद्धिद्वार १०८, पृ. ३७६-७] ६७७-११

यो (जो) गा पयडिपयेशा (पदेसा) [ठिदि अणुभागा कसायदो होंति]
[द्रव्यसंग्रह] ७८४-१५

जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्भूणय एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्छयं (णिचयं) ज्झाण (झाणं)॥ [द्रव्यसंग्रह] ७५४-२५

जंगमनी जुक्ति तो सर्वे जाणिये समीप रहे पण शरीरनो नहीं संग जो।
एकांते वसवुं रे एकज आसने मूळ (भेख?) पडे तो पडे भजनमां भंग जो॥
ओधवजी अवळा ते साधन शुं करे॥
[ओधवजीने संदेसो गरबी ३-३—रघुनाथदास; बम्बई, सं. १९५१] ४९९-२०

जं संमति पासह (हा) तं मोणंति पासह (हा)।
[जं मोणंति पासहा तं सम्मंति पासहा।] [आचारांग १-५-३] ५९८-१

[णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो]
नगाए (णग्गो) मोख (विमोक्ख) मग्गो शेषा (सेसा) य उमग्गया सव्वे॥
[षट्प्राभृतादिसंग्रह सूत्रप्राभृत २३—कुन्दकुन्द; माणिकचन्द ग्रंथमाला बम्बई] ७८६-२५

तरतम योग रे तरतम वासना रे वासित बोध आधार। पंथडो०।
[आनंदघनचौवीसी अजितनाथस्तवन ५, पृ. १२] ७४४-१३

तहा रुवाणं समणाणं [भगवती] ६४३-१८

[यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः]
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥ [ईशावास्य उपनिषद् ७] २३३-२४

ते माटे उभा कर जोडी जिनवर आगळ कहिये रे।
समयचरण सेवा शुद्ध देजो जेम आनंदघन लहिये रे॥ ६३०-४, ७६८-२०
[आनंदघनचौवीसी नमिनाथजिनस्तवन ११, पृ. १६४]

दर्शन सकळना नय ग्रहे आप रहे निजभावे रे।
हितकरी जनने संजीवनी चारो तेह चरावे रे॥
[आठ योगदृष्टिनी स्वाध्याय १-४, पृ. ३३०; गुर्जरसाहित्यसंग्रह] २७५-११

जैनेतर विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ करके जैनधर्मकी ध्वजापताका फहराई थी। ये परीक्षाप्रधानी थे। श्वेताम्बर साहित्यमें भी स्वामी समंतभद्रका नाम बहुत महत्त्वके साथ लिया जाता है। राजचन्द्रजीने आप्तमीमांसाके प्रथम श्लोकका विवेचन लिखा है, और उसके भाषांतर करनेका किसी मुमुक्षुको अनुरोध किया है। समंतभद्रकी गंधहस्तिमहाभाष्य टीकाके विषयमें देखो पृ. ८०० का फुटनोट।

सहजानंद स्वामी—

स्वामीनारायण सम्प्रदायके स्थापक सहजानंद स्वामी अपने समयके महान् पुरुषोंमें गिने जाते हैं। इनका जन्म सन् १७८१ में हुआ था, इन्होंने सन् १८३० देहत्याग किया। इनके गुरुका नाम स्वामी रामानन्दजी था। इन्होंने तीस वर्षतक गुजरात, काठियावाड और कच्छमें घूम घूमकर हिंदु-अहिंदु समस्त जातियोंको अपना उपदेश सुनाया। इन्होंने चित्तशुद्धिके ऊपर सबसे अधिक भार दिया, और लोगोंको शराब माँस आदिका त्याग, ब्रह्मचर्यका पालन, यज्ञमें हिंसाका निषेध, व्रत संयमका पालन इत्यादि बातोंका उपदेश देकर सुमार्गपर चढ़ाया। सहजानन्द स्वामीकी शिक्षापत्री, धर्मामृत और निष्कामशुद्धि पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। इनमें शिक्षापत्री अधिक प्रसिद्ध है। शिक्षापत्रीमें २१२ श्लोक हैं; जिनमें गृहस्थ, सधवा, विधवा, ब्रह्मचारी, साधु आदिके कर्त्तव्यधर्म आदिका विवेचन किया है। सहजानन्द स्वामीके वचनामृतका संग्रह गुजराती भाषाका एक रत्न माना जाता है। 'सहजानन्द स्वामी अथवा स्वामिनारायण संप्रदाय'के ऊपर किशोरीलाल मशरूवालाने गुजरातीमें पुस्तक लिखी है।

सिद्धप्राभृत (देखो कुन्दकुन्द).

सिद्धसेन—

सिद्धसेन दिवाकर श्वेताम्बर आम्नायमें प्रमाणशास्त्रके प्रतिष्ठाता एक महान् आचार्य हो गये हैं। सिद्धसेन संस्कृत प्राकृतके उच्च कोटिके स्वतंत्र प्रकृतिके आचार्य थे। इन्होंने उपयोगवाद, नयवाद आदि सिद्धान्तोंको जैनधर्मकी प्रचलित मान्यताओंसे भिन्नरूपसे ही स्थापित किया था। सिद्धसेन दिगम्बर परम्परामें भी बहुत सन्मानकी दृष्टिसे देखे जाते हैं। सिद्धसेनने सन्मतितर्क, न्यायावतार, महावीर भगवान्की स्तुतिरूप द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका आदि ग्रंथोंकी रचना कर जैनसाहित्यकी महान् सेवा की है। द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकामें इन्होंने वेद, वैशेषिक, सांख्य आदि दर्शनोंपर द्वात्रिंशिकायें रचकर सब दर्शनोंका समन्वय किया है। सिद्धसेन दिवाकरके संबंधमें बहुतसी किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। इनका समय ईसवी सन्की चौथी शताब्दि माना जाता है। सन्मतितर्क न्यायका बहुत उत्तम ग्रंथ है। इसपर अभयदेवसूरिकी टीका है। इस ग्रंथका विद्वत्तापूर्ण सम्पादन पं० सुखलाल और बेचरदासजीने किया है। यह गुजरात विद्यापीठसे निकला है। राजचन्द्रजीने सन्मतितर्कका अवलोकन किया था।

सुदर्शन सेठ (देखो मोक्षमाला पाठ ३३).

सुदृष्टितरंगिणी—

इस ग्रंथके रचयिता पं० टेकचन्दजी दिगम्बर विद्वान् हो गये हैं। इन्होंने सं० १८३८ में [illegible] ग्रंथको लिखकर समाप्त किया था। सुदृष्टितरंगिणीमें ४२ पर्व हैं, जिनमें जैनधर्मके सिद्धान्तोंको सरल हिन्दी भाषामें बहुत अच्छी तरह समझाया गया है। इस ग्रंथको वीर सं० २४४३ में [illegible] बनारसमें प्रकाशित किया है।

[ठिईण सेट्ठा लवसत्तमा वा सभा सुहम्मा व समाण सेट्ठा]। पृष्ठ लाइन
निव्वाणसेठा (सेट्ठा) जह सव्वधम्मा [न नायपुत्ता परमत्थि नाणी] ॥
[सूत्रकृतांग १-६-२४] १००-१

निशदिन नैनमें नींद न आवे नर तबहि नारायन पावे। [सुंदरदास] ४७५-१८

पढे पार कहां पामवो मिटे न मनकी आश
(पढी पार कहां पावनो (?) मिटयो न मनको चार)
ज्यौं (ज्यों) कोलुकों (कोल्हुके) बेल्कुं (बैलको) घर हि (ही) कोश हजार।
[समाधिशतक ८१ पृ. ४७६—यशोविजयजी; गुर्जरसाहित्यसंग्रह प्रथम विभाग
मुंबई सं. १९९२] ६३०-२१

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥ [लोकतत्त्वनिर्णय ३८—हरिभद्रसूरि] १५२-२४

[क्युं जाणुं क्युं बनी आवशे अभिनंदन रस रीति हो मित्त]
पुद्गल अनुभव त्यागथी करवी जशु (सु) परतीत हो।
(अभिनन्दनजिनस्तुति १—देवचन्द्रजी) ५०३-१९

पुद्गलसें रातो रहे। [ ] ७६३-२४

प्रभु भजो नीति सजो परठो परोपकार। [ ] ९९-२३

प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं वदनकमलमंकः कामिनीसंगशून्यः। ७६९-६
करयुगमपि यत्ते शस्त्रसंबंधवंध्यं तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ॥ [धनपाल] ७८०-१५

फळ अनेकांत लोचन न देखे
फळ अनेकांत किरिया करी बापडा रडवडे चार गतिमांहि लेखे।
[आनंदघनचौबीसी अनंतनाथजिनस्तवन २, पृ. ८७] ५४३-४

बंधविहाणविमुक्कं वंदिअ सिरिवद्धमाणजिणचंदं।
[गईआईसुं वुच्छं समासओ बंधसामित्तं ॥]
[कर्मग्रन्थ तीसरा १—देवेन्द्रसूरि; आगरा] ६२३-१४

भीसण नरयगइ (ई) ए तिरियगइ (ई) ए कुदेवमणुयगइ (ई) ए।
पत्तोसि तीव (तिव्व) दुःखं भावहि जिणभावणा जीव ॥
[षट्प्राभृतादिसंग्रह भावप्राभृत ८, पृ. १३२] ७६०-२४

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं।
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे तरुण्या भयं।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयं॥ [भर्तृहरिशतक-वैराग्यशतक ३४-भर्तृहरि]२७-२२

हेमचन्द्र चारों विद्याओंके समुद्र थे, और ये कलिकालसर्वज्ञके नामसे प्रख्यात थे। कहा जाता है कि हेमचन्द्र आचार्यने सब मिलाकर साढ़े तीन करोड़ श्लोकोंकी रचना की है। हेमचन्द्रने व्याकरण, तर्क, साहित्य, छन्द, योग, नीति आदि विविध विषयोंपर अपनी लेखनी चलाकर जैन साहित्यके गौरवको बढ़ाया है। हेमचन्द्रने गुजरातकी राजधानी अणहिल्लपुर पाटणमें सिद्धराज जयसिंहकी सभामें बहुत सन्मान प्राप्त किया था, और सिद्धराजके आग्रहसे गुजरातके लिये सिद्धहेमशब्दानुशासन नामक व्याकरणकी रचना की थी। सिद्धराजके उत्तराधिकारी राजा कुमारपाल हेमचन्द्रको राजगुरुकी तरह मानते थे। राजचन्द्रजी लिखते हैं—" श्रीहेमचन्द्राचार्य महाप्रभावक बलवान क्षयोपशमवाले पुरुष थे। वे इतने सामर्थ्यवान् थे कि वे चाहते तो एक जुदा ही पंथ चला सकते थे। उन्होंने तीस हजार घरोंको श्रावक बनाया। तीस हजार घर अर्थात् सवा लाखसे डेढ़ लाख मनुष्योंकी संख्या हुई। श्रीसहजानन्दजीके सम्प्रदायमें कुल एक लाख आदमी होंगे। जब एक लाखके समूहसे सहजानंदजीने अपना सम्प्रदाय चलाया तो श्रीहेमचन्द्राचार्य चाहते तो डेढ़ लाख अनुयायियोंका एक जुदा ही सम्प्रदाय चला सकते थे। परन्तु श्रीहेमचन्द्राचार्यको लगा कि सम्पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर ही धर्मप्रवर्तक हो सकते हैं। हम तो केवल उन तीर्थंकरोंकी आज्ञासे चलकर उनके परमार्थमार्गको प्रकाश करनेके लिये प्रयत्न करनेवाले हैं। श्रीहेमचन्द्राचार्यने वीतरागमार्गके परमार्थका प्रकाश करनेरूप लोकानुग्रह किया; वैसा करनेकी ज़रूरत भी थी। वीतरागमार्गके प्रति विमुखता और अन्यमार्गकी तरफसे विषमता ईर्ष्या आदि आरंभ हो चुके थे। ऐसी विषमतामें लोगोंको वीतराग मार्गकी ओर फिराने, लोकोपकार करने तथा उस मार्गके रक्षण करनेकी उन्हें ज़रूरत मालूम हुई। हमारा चाहे कुछ भी हो, इस मार्गका रक्षण होना ही चाहिये। इस तरह उन्होंने अपने आपको अर्पण कर दिया। परन्तु इस तरह उन जैसे ही कर सकते हैं—वैसे भाग्यवान, माहात्म्यवान, क्षयोपशमवान ही कर सकते हैं। जुदा जुदा दर्शनोंको यथावत् तोलकर अमुक दर्शन सम्पूर्ण सत्यस्वरूप हैं, जो ऐसा निश्चय कर सके, ऐसा पुरुष ही लोकानुग्रह परमार्थप्रकाश और आत्मसमर्पण कर सकता है।" राजचन्द्रजीने हेमचन्द्रके योगशास्त्रके मंगलाचरणका विवेचन भी किया है।

क्षेत्रसमास—

क्षेत्रसमासके कर्त्ता श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जैनसिद्धांतके प्रखर विद्वान् जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं। इनका जन्म सं० ६४५ में हुआ था। इन्होंने विशेषावश्यकभाष्य विशेषणवती आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की है। जिनभद्रगणिके क्षेत्रसमासके ऊपर मलयगिरीकी टीका है। प्रकरणरत्नाकरमें रत्नशेखरसूरिकृत लघुक्षेत्रसमास भाषांतर सहित छपा है।

ज्ञानेश्वरी—

ज्ञानेश्वर महाराजका जन्म सं० १३३२ में हुआ था। इनके पिताने संन्यासी होकर बादमें गृहस्थाश्रम धारण किया था। ज्ञानेश्वर महाराजने भावार्थदीपिका नामक मराठीमें गीताकी व्याख्या लिखी है, जो दक्षिणमें बहुत उच्च श्रेणीकी मानी जाती है। यह व्याख्यान अद्वैतज्ञानसे पूर्ण है। ज्ञानेश्वरी महाराजने इस ग्रन्थको १५ वें वर्षमें लिखा है। ज्ञानेश्वरने अमृतानुभव नामका एक वेदान्तका ग्रंथ भी लिखा है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अन्य अनेक पद अभंग आदि रचे हैं। ज्ञानेश्वरने २१ वर्षकी अवस्थामें जीवित समाधि ली। ज्ञानेश्वरी गीताके हिन्दी गुजराती अनुवाद भी हुए हैं।

पृष्ठ पंक्ति

हम परदेशी पंखी साधु, और देशके नाहिं रे। [ ] २६९-१

हिंसा रहिओ (ए) धम्मो (म्मे) अट्ठारस दोष (स) विरहिओ (वज्जिए) देवो (वे)।
निग्गंथे पवयणे सद्दहणे (णं) हो इ (ई) सम्मतं (त्तं)॥
[षट्प्राभृतादिसंग्रह मोक्षप्राभृत ९०, पृ. ३६७] ६४६-७

[नलिनीदलगतजलवत्तरलं तद्वज्जीवनमतिशयचपलम्।]
क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका ॥ [मोहमुद्गर ७-शंकराचार्य] २०३-१

क्षायोपशमिक असंख्य क्षायक एक अनन्य (अनुत्र)।
[अध्यात्मगीता १-६ पृ. ४४ देवचन्दजी, अध्यात्मज्ञानप्रसारकमण्डल १९७५] ७६५-११

पृष्ठ लाइन

नेत्रमुन्मि (न्मी) लितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ७३३-१८

[यह श्लोक दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों संप्रदायोंके ग्रन्थोंमें आता है। दिगम्बर विद्वान् मावसेन त्रैविद्यदेवने कातंत्रकी टीकामें इस श्लोकको मंगलाचरणरूपसे दिया है]

आणाए धम्मो आणाए तवो [उपदेशपद—हरिभद्रसूरि]× २२८-११

आतमभावना भावतां जीव लहे केवलज्ञान रे [ ]+ ३६०-२८

[जुजवा जुओ धाम आप्यां जनने, जोइ निष्काम सकाम रे।
आज तो अढळक ढळ्या हरी] आप्युं सौने ते अक्षरधाम रे ॥

[धीरजाख्यान कडवुं ६५ निष्कुलानन्द—काव्यदोहन २ पृ. ५९६] २४८-१७

आशय आनंदघनतणो अति गम्भीर उदार।
बालक बांह पसारीने (पसारि जिम) कहे उदधि विस्तार ॥

[आनंदघनचौवीसीके अन्तमें ज्ञानविमलसूरिका वाक्य; जैनधर्मप्रसारक सभा पृ. १९२] ७८०-२२

इणमेव निगंथ्थं (ग्गंथं) पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुणं (ण्णं) संसुद्धं णेयाउयं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं वि (नि) ज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं अवितहमसंदिद्दं(द्धं) सव्वदुक्खप (प्प) हीणमग्गं। एथ्थं (त्थं) ठिया जीवा सिज्झंति बुझ्झं (ज्झं) ति मुच्चंति परिणिव्वा (व्वा) यंति सव्व-दुक्खा (क्खा) णमंतं करं (रें) ति। तं (त) माणाए तहा गच्छामो तहा चिट्ठामो तहा णिसि (सी) यामो तहा सुयठामो (तुयट्टामो) तहा भुंजामो तहा भासामो तहा अभु (ब्भु) ट्ठामो तहा उट्ठाए उट्ठेमोत्ति पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमामोत्ति।

[सूत्रकृतांग २-७-११, पृ. १२६-७; आर्हतमतप्रभाकर पूना १९२८] ७३३-१२

इच्छाद्वेषविहीनेन सर्वत्र समचेतसा।
भगवद्भक्तियुक्तेन प्राप्ता भागवती गतिः ॥ [भागवत ३-२४-४७ व्यास] २०८-३

इणविध परखी मन विसरामी जिनवर गुण जे गावे रे।
दीनबंधुनी महेर नजरथी आनंदघन पद पावे हो ॥

[आनंदघनचौवीसी मल्लिनाथजिनस्तवन ११, पृ. १४०] ३०६-६

ऊंच नीचनो अंतर नथी समज्या ते पाम्या सद्गति। [प्रीतम !] २०९-२०

उपन्नेवा (उप्पन्ने वा) विघनेवा (विगमे वा) धुवेवा (धुवेइ वा)। [आगम] ८३-२६,२७

उवसंतखीणमोहो मग्गे जिणभासिदेन (ण) समुवगदो।
णाणाणुमग्गचारी निव्वाणं पुरं (निव्वाणपुरं) व्वज्जदि (वजदि) धीरो ॥

[पंचास्तिकाय ७० पृ. १२२ रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला बम्बई, सं. १९७२] ७४०-९

× यह सूचना मुझे पं. सुखलालजीसे मिली है।

+ पं. सुखलालजीका कहना है कि यह पद 'सज्झायमाला' में मिलना चाहिये।—सम्पादक

	पृष्ठ	पंक्ति
उत्तराध्ययन	७१५	२६
	७८०	४
	७९४	१८
	८०१	१२
उपमितिभवप्रपच कथा	३८२	२७
	८०१	६
ऋभु	२४४	१,३
ऋपिभद्रपुत्र	८०१	१४
कपिल—मुनि	४७	५
—ऋषि	९८	२१
—केवली	९९	२
कबीर	२११	२९
	२४५	१६
	३४५	२९
	३९८	१९
	४८७	७
कबीरपंथी	४५६	१५
कर्कटी राक्षसी	५१२	१०
कर्मग्रंथ	६३०	६
	६३१	४
	६७०	३
	६७६	१७
	७१८	२९
	७२२	२९
	७२६	९
	७७१	२१
	७९३	१०
कामदेव श्रावक	२७	१
कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा	७४८	६
	७४९	८
	७६९	१०
कार्त्तिकस्वामी	७६९	११
किसनदास	७४८	१५
कुण्डरीक	११८	५
कुन्दकुन्द	४४१	१६
	७३१	१०
	७६६	२०
	७७४	१५
कुमारपाल	७७९	१६
केशीस्वामी	५२९	१०
	५३५	२०
	५४०	७
क्रियाकोप	७४८	१५
गजसुकुमार	१२	१७
	४५	२०
	१२५	२४
	१२६	१०
	३४७	२५
	२४३	२१
गीता	४१०	२०
	४११	१
	७६२	७
गोकुलचरित्र	१५५	२३
गोम्मटसार	७२२	२९
	७६९	१
गोशाला	५२८	२२
गौतम ऋषि	९८	२१
गौतम गणधर	४६	६
	१२४	१३
चारित्रसागर	३९८	१९
चिदानन्दजी	१२८	५
चेलातीपुत्र	५६४	१४
छह्जीवनिकाय अध्ययन	४९१	२३
छोटम	२५२	२३,२७
जड़भरत	१२४	५
	५१०	३
जनक	१२४	५
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति	५६१	३
जम्बूस्वामी	२३८	१
	२४६	१९
	५५१	३१
ठाणाग	२०६	१३
	२६४	५
	२६८	६
	३८५	४
	४२४	५
	५८८	३१
	७०२	१८
	७३१	२१
	७३२	७
	७८२	२२
डाकोर	५३३	१६
ढेढसौ गाथाका स्तवन	७८२	२२
तत्त्वार्थसूत्र	७४२	१३
	७८५	१
थियोसफी	७६२	११

है। जैसे दुर्गंधसे घबड़ाकर हम नाकमें वस्त्र लगा लेते हैं, वैसे ही कुसंगका सहवास बंद करना आवश्यक है। संसार भी एक प्रकारका संग है, और वह अनंत कुसंगरूप तथा दुःखदायक होनेसे त्यागने योग्य है। चाहे जिस तरहका सहवास हो परन्तु जिससे आत्म-सिद्धि न हो, वह सत्संग नहीं। जो आत्मापर सत्यका रंग चढ़ावे, वह सत्संग है, और जो मोक्षका मार्ग बतावे वह मैत्री है। उत्तम शास्त्रमें निरंतर एकाग्र रहना भी सत्संग है। सत्पुरुषोंका समागम भी सत्संग है। जैसे मलिन वस्त्र साबुन तथा जलसे साफ़ हो जाता है, वैसे ही शास्त्र-बोध और सत्पुरुषोंका समागम आत्माकी मलिनताको हटाकर शुद्धता प्रदान करते हैं। जिसके साथ हमेशा परिचय रहकर राग, रंग, गान, तान और स्वादिष्ट भोजन सेवन किये जाते हों, वह तुम्हें चाहे कितना भी प्रिय हो, तो भी निश्चय मानो कि वह सत्संग नहीं, परन्तु कुसंग है। सत्संगसे प्राप्त हुआ एक वचन भी अमूल्य लाभ देता है। तत्त्वज्ञानियोंका यह मुख्य उपदेश है, कि सर्व संगका परित्याग करके अंतरंगमें रहनेवाले सब विकारोंसे विरक्त रहकर एकांतका सेवन करो। उसमें सत्संगका माहात्म्य आ जाता है। सम्पूर्ण एकांत तो ध्यानमें रहना अथवा योगाभ्यासमें रहना है। परन्तु जिसमेंसे एक ही प्रकारकी वृत्तिका प्रवाह निकलता हो, ऐसा समस्वभावीका समागम, भावसे एक ही रूप होनेसे बहुत मनुष्योंके होने पर भी, और परस्परका सहवास होनेपर भी, एकान्तरूप ही है; और ऐसा एकान्त तो मात्र संत-समागममें ही है। कदाचित् कोई ऐसा सोचेगा, कि जहाँ विषयीमंडल एकत्रित होता है, वहाँ समभाव और एक सरखी वृत्ति होनेसे उसे भी एकांत क्यों नहीं कहना चाहिये? इसका समाधान तत्काल हो जाता है, कि ये लोग एक स्वभावके नहीं होते। उनमें परस्पर स्वार्थबुद्धि और मायाका अनुसंधान होता है; और जहाँ इन दो कारणोंसे समागम होता है, वहाँ एक-स्वभाव अथवा निर्दोषता नहीं होती। निर्दोष और समस्वभावीका समागम तो परस्पर शान्त मुनीश्वरोंका है, तथा वह धर्मध्यानमें प्रशस्त अल्पारंभी पुरुषोंका भी कुछ अंशमें है। जहाँ केवल स्वार्थ और माया-कपट ही रहता है, वहां समस्वभावता नहीं, और वह सत्संग भी नहीं। सत्संगसे जो सुख और आनन्द मिलता है, वह अत्यन्त स्तुतिपात्र है। जहाँ शास्त्रोंके सुंदर प्रश्नोत्तर हों, जहाँ उत्तम ज्ञान और ध्यानकी सुकथा हो, जहाँ सत्पुरुषोंके चरित्रोंपर विचार बनते हों, जहाँ तत्त्वज्ञानके तरंगकी लहरें छूटती हों, जहाँ सरल स्वभावसे सिद्धांत-विचारकी चर्चा होती हो, जहाँ मोक्ष विषयक कथनपर खूब विवेचन होता हो, ऐसा सत्संग मिलना महा दुर्लभ है। यदि कोई यह कहे, कि क्या सत्संग मंडलमें कोई मायावी नहीं होता? तो इसका समाधान यह है, कि जहाँ माया और स्वार्थ होता है, वहाँ सत्संग ही नहीं होता। राजहंसकी सभाका कौआ यदि ऊपरसे देखनेसे कदाचित् न पहचाना जाय, तो स्वरसे अवश्य पहचाना जायगा। यदि वह मौन रहे, तो मुखकी मुद्रासे पहचाना जायगा। परन्तु वह कभी छिपा न रहेगा। इसीप्रकार मायावी लोग सत्संगमें स्वार्थके लिये जाकर क्या करेंगे? वहाँ पेट भरनेकी बात तो होती नहीं। यदि वे दो घड़ी वहाँ जाकर विश्रांति लेते हों, तो खुशीसे लें जिससे रंग लगे, नहीं तो दूसरी बार उनका आगमन नहीं होता। जिस प्रकार जमीनपर नहीं तैरा जाता, उसी तरह सत्संगसे डूबा नहीं जाता। ऐसी सत्संगमें चमत्कृति है। निरन्तर ऐसे निर्दोष समागममें मायाको लेकर आवे भी कौन? कोई ही दुर्भागी, और वह भी असम्भव है।

सत्संग यह आत्माकी परम हितकारी औषध है।

२५ परिग्रहका मर्यादित करना

जिस प्राणीको परिग्रहकी मर्यादा नहीं, वह प्राणी सुखी नहीं। उसे जितना भी मिल जाय वह थोड़ा ही है। क्योंकि जितना उसे मिलता जाता है उतनेसे विशेष प्राप्त करनेकी उसकी इच्छा होती जाती है। परिग्रहकी प्रबलतामें जो कुछ मिला हो, उसका भी सुख नहीं भोगा जाता, परन्तु जो हो वह भी कदाचित् चला जाता है। परिग्रहसे निरंतर चल-विचल परिणाम और पाप-भावना रहती है। अकस्मात् ऐसी पाप-भावनामें यदि आयु पूर्ण हो, तो वह बहुधा अधोगतिका कारण हो जाता है। सम्पूर्ण परिग्रह तो मुनीश्वर ही त्याग सकते हैं। परन्तु गृहस्थ भी इसकी कुछ मर्यादा कर सकते हैं। मर्यादा होनेके उपरांत परिग्रहकी उत्पत्ति ही नहीं रहती। तथा इसके कारण विशेष भावना भी बहुधा नहीं होती, और जो मिला है, उसमें संतोष रखनेकी आदत पड़ जाती है। इससे काल सुखसे व्यतीत होता है। न जाने लक्ष्मी आदिमें कैसी विचित्रता है, कि जैसे जैसे उसका लाभ होता जाता है, वैसे वैसे लोभकी वृद्धि होती जाती है। धर्मसंबंधी कितना ही ज्ञान होनेपर और धर्मकी दृढ़ता होनेपर भी परिग्रहके पाशमें पड़े हुए पुरुष कोई विरले ही छूट सकते हैं। वृत्ति इसमें ही लटकी रहती है। परन्तु यह वृत्ति किसी कालमें सुखदायक अथवा आत्महितैषी नहीं हुई। जिसने इसकी मर्यादा थोड़ी नहीं की वह बहुत दुःखका भागी हुआ है।

छह खंडोंको जीतकर आज्ञा चलानेवाला राजाधिराज चक्रवर्ती कहलाता है। इन समर्थ चक्रवर्तियोंमें सुभूम नामक एक चक्रवर्ती हो गया है। यह छह खंडोंके जीतनेके कारण चक्रवर्ती माना गया। परन्तु इतनेसे उसकी मनोवाञ्छा तृप्त न हुई, अब भी वह तरसता ही रहा। इसलिये इसने धातकी खंडके छह खंडोंको जीतनेका निश्चय किया। सब चक्रवर्ती छह खंडोंको जीतते हैं, और मैं भी इतने ही जीतूँ, उसमें क्या महत्ता है? बारह खंडोंके जीतनेसे मैं चिरकाल तक प्रसिद्ध रहूँगा, और समर्थ आज्ञा जीवनपर्यंत इन खंडोंपर चला सकूँगा। इस विचारसे उसने समुद्रमें चर्मरत्न छोड़ा। उसके ऊपर सब सैन्य आदिका आधार था। चर्मरत्नके एक हजार देवता सेवक होते हैं। उनमें प्रथम एकने विचारा, कि न जाने इसमेंसे कितने वर्षमें छुटकारा होगा, इसलिये अपनी देवांगनासे तो मिल आऊँ। ऐसा विचार कर वह चला गया। इसी विचारसे दूसरा देवता गया, फिर तीसरा गया। ऐसे करते करते हजारके हजार देवता चले गये। अब चर्मरत्न डूब गया। अश्व, गज और सब सेनाके साथ सुभूम चक्रवर्ती भी डूब गया। पाप और पाप भावनामें ही मरकर वह चक्रवर्ती अनन्त दुःखसे भरे हुए सातवें तमतमप्रभा नरकमें जाकर पड़ा। देखो! छह खंडका आधिपत्य तो भोगना एक ओर रहा, परन्तु अकस्मात् और भयंकर रीतिसे परिग्रहकी प्रीतिसे इस चक्रवर्तीकी मृत्यु हुई, तो फिर दूसरोंके लिये तो कहना ही क्या? परिग्रह यह पापका मूल है, पापका पिता है, और अन्य एकादश व्रतोंमें महादोष देना इसका स्वभाव है। इसलिये आत्महितैषियोंको जैसे बने वैसे इसका त्याग कर मर्यादापूर्वक आचरण करना चाहिये।

२६ तत्त्व समझना

जिनको शास्त्रके शास्त्र कण्ठस्थ हों, ऐसे पुरुष बहुत मिल सकते हैं। परन्तु जिन्होंने थोड़े वचनों-

पृष्ठ लाइन अशुद्ध	शुद्ध
११९–१२ चारों	चारों
१२२–१६ इसके कारण	इसे धारण करके
१३०–११,१२ अर्द्ध	अद्धा
१३४–२५ ज	जा
१४७–६ उसका उपाय बता देगा	संभाल लेगा
१४८–२३ निहियास्सव	निहियस्सव
१५२–१५, क्योंकि	।
१५४–३० उस रास्तेपर......सकता	उसकी निकटता नहीं हो
१५६–३ अथवा	अन्यथा
१५६–१० यहाँ कहना चाहता हूँ	उसे दिखानेकी इच्छा
१६४–९ एक पक्षमें	एक तरहसे
१६४–१० योग्य कहा गया	मान्य रक्खा
१६५–२२ अनंत	अंतर
१६७–२२ बिना किसी अपवादके	कुछको छोड़कर
१७०–२२ अपने	आपके द्वारा
१७१–१ इसपरसे होकर जाना	जाना
१७३–२२ सुना	याद कर
१७३–३१ हीन......है	अपराधी हुई है
१७४–१ विशुद्ध	निरपराधी
१७४–१३ उलटे सीधे	इधर उधरके
१७७–२ हम	हमने
१७७–२ जानते	जाना
१७७–२६ ऐसा	उस
१८४–६ आसक्तिका भाव	दुःख
१८४–७ जिससे शंका न रहे	यह शंका
१८४–१० ; उसी समय......समझता है	कि जीव करता रहे को।
[illegible] है	[illegible] दे

	पृष्ठ	पंक्ति
भगवतीसूत्र	५४	२
	१२४	१५
	१५४	२३
	१५७	१९
	२०२	२४
	२०६	१३
—(पाँचवाँ अंग)	२१३	११
	३२१	२६
	७८३	२३
	८०१	१४
भगवतीआराधना	७८०	१७
	७८१	११
	७८२	२८
	७८५	२१
	७८८	२४
भरत (भरतेश्वर)	२२	२८
	१०८	३
	१२४	५
भर्तृहरि	९७	२०
	१२५	३०
भागवत	२३१	२७
	२४१	१२, १८
	२४३	२१
	२६६	१३
भावनाबोध	३८२	१७
	६२८	१८
	७२६	२१
भावार्थप्रकाश	४५०	२६
भोजा भगत	२२६	२
मणिरत्नमाला	३३८	८
	६८३	१५
मणिलाल नभुभाई	७६२	१३
महापद्म तीर्थंकर	२६४	५
मदनरेखा	८०१	१२
महीपतराम रूपराम	७८६	१५
माणेकदास	५४३	२०
मीराबाई	५८१	२०
मुक्तानंद	२१६	६
मूलपद्धति कर्मग्रन्थ	३८२	२६
मृगापुत्र	११२	२६
मोहमुद्गर	६८२	१९
मोक्षमाला	१५७	५
	३८२	१०
	७४३	१०
	७६४	२१
	७९८	१५,२२
मोक्षमार्गप्रकाश	३८२	२०
	६८३	३,२५
	६८५	२२
	७२६	९
यशोविजय	६८७	२१
	७७९	२५
	७८२	२१
योगकल्पद्रुम	३३८	८
योगदृष्टि	७७९	२५
योगदृष्टिसमुच्चय	३८२	१६
	१७१	८
	६८६	१४
	६८७	११, १९, २०
	७४२	११
	७७०	५
योगप्रदीप	७४९	८
योगबिन्दु	१७१	५
	६८७	१९
	८०१	६
योगवासिष्ठ	१९६	८,२५
	३७३	१५,१६
	३७४	१
	३७५	९
	३८१	१९
	३९२	२१, २६
	४०४	१९
	४१६	२१
	४१८	२६
	४७५	१०
	५२२	१०
	५२३	१६
	५२७	३
	६२७	१६
	६२८	१८
	६८१	२१
योगशास्त्र	६८७	२४
	७२६	११
	७६९	२६
	७७०	१०
	७७१	७

अशुद्ध	शुद्ध
पृष्ठ लाइन	
२००-२१ आती	आती होगी
२०४-६ लागी	का त्याग करके
२०६-२१ छोड़कर	रखकर
२०८-४ भगवती	भागवती
२१५-१ उनको	उसको
२१५-१२ अंतर	अनहद
२१६-२ इसके रसका	इसका रसमें भी
२१६-६ ओधवजि......हमारे	मुक्तानन्दका नाथ कृष्ण ही, हे उद्धव ! हमारे
२१७-२६ अज्ञानी	अज्ञान
२१७-२१ रोक	कर
२१८-१० मुझमें वैसी तथाप्य	यहाँ वैसी
२१९-६ किसी	किसी किसी
२१९-१७ प्रकाशिता	प्रकाशिका
२१९-२४ (उपसंहारको यहां शीर्षक समझना चाहिये)	
२२१-४ दुःषमके विषयमें......की	दुःषम कमीवाला है, यह दिखानेकी
२२२-११ लागू	मालूम
२२२-२१ और	और ऐसे जीव
२२२-२४ जीनेवाले ऐसे जीव	जीनेवाले
२२२-२९ और इस......सत्	और यह अनुभव ही इस कथनका साक्षी
२२३-१३ जिस वर्तमानकालमें हूँ	अभी जिस स्थितिमें हूँ
२२४-१२ छाड़सहित	समूचा
२२८-१३ नारियल है	नारियलका वृक्ष है।
२२७-१४ उपदेश किया है	लिखा है।
२३२-१ इसी	ऐसे
२३२-१९,२०,३० मक्खन	दही
२३४-२१ पहिला	वह
२३७-२१ देखने	देखने हो
२३९-९ हो देखा	हो
२४१-२२ हो	हो
२४४-२१ हो सकती है	होनी चाहिये
२४८-२४ "पी पी"	"पिव पिव"
२५०-२९ कभी कभी	संभव है
२५०-३० जाता है	जाय
२५४-८ वह हो	वह
२५५-१०,३० नियमसे	नियममात्र
२५८-११,१२ विचारके परिणाममें......जीवको उत्पन्न होते जाते हैं	विचारके बलवानपना जो कुछ [illegible] होता है और [illegible] 'किसी भी [illegible]' [illegible] मालूम होता था वह [illegible] उसमें उत्पन्न होते हैं

परिशिष्ट (३)

	पृष्ठ	पंक्ति
छोटजी	५३२	१८
नेमि	१२५	२४
राजीमती	१२५	२४
	१२६	११
	१७४	१९
रामदासजी साधु	५७८	१५
रामदास स्वामी	४९५	१६
रामानुज	१२२	५
वचनशतशती	११९	२
वज्रस्वामी	५००	३१
वल्लभाचार्य	७४५	२१
वशिष्ठ	१९९	१३
	५४५	१६
	५१०	१
वामदेव	९८	२१
वाल्मीकि	१३१	१२
विक्टोरिया	२९२	८
विचारसागर	२४५	३०
	५५२	१८
	६२७	१६
	२८१	१२
	५	५
विचारमाला	७६२	१०
विदुर	६७३	१०
विद्यारण्यस्वामी	३८२	२५
वीरचन्द गांधी	७२६	२१
वैराग्यशतक	९८	२१
	२०८	२
व्यास	२४१	१३
	२६६	२५
	२६७	४
	४११	१
—वेदव्यास	१९	१३
	९०	३०
शंकर	९८	२१
शंकराचार्य	२०३	६
	२७९	२
	२८५	२०
शान्तसुधारस	३८२	२५
		२४

	पृष्ठ	पंक्ति
शालिभद्र	३६२	३
शिलरसूरि	५७२	२०
शिक्षापत्र	३६५	१२
शीलांकाचार्य	३४४	१५
शुकदेव	२३१	९
	५१०	१
श्रीपालरास	४५३	३
श्रेणिक	३५	२५
	१३	७
	३३	३०
	२६४	५
	३२३	७
	३२५	९
	५२६	२९
	५९३	२३
	६८३	११
षड्दर्शनसमुच्चय	४०७	२४
	४०८	२७
	४१५	२२
	४७२	६
	५०६	२०
	७४२	१३
	७६२	१८
	७७०	५
	७९५	२२
सनत्कुमार	६९	१०
सन्मतितर्क	९६	२
	२६३	१६
	२६७	२३
समयसार	२७७	९
	३००	११
	३६१	२
	३९२	२१
	३९५	१३
	५९७	३
	७६६	२०
	७६९	१
समंतभद्र	७८४	२१
	८००	१५,२
समवायांग	६४६	१
सहजानन्द	३१४	
	५००	
	७४५	

	पृष्ठ	पंक्ति
सिद्धसेन	२६७	२३
सुदर्शन सेठ	३६	२३
	३६५	१४
सुदृष्टितरंगिणी	७७१	२१
सुंदरदास	३४५	२९, ३०
	४७५	१६
	४८०	२६
	४८१	७
	४८७	७
सुंदरविलास	५६७	४
	७२७	८
सुभूम	३०	१६
सूयगडांग (सूत्रकृतांग)	९९	३१
	२२८	४
	२५३	६
	२९७	२८
	२९८	१,३,२५
	३०१	१७
	३६४	११,१४,१९
	३६६	१०,१९
सूयगडांग	३९२	२४
	४३९	१८
	५११	३४
	६२३	२४
	६३१	१२
सेहरा	८०२	७
संगम	५२८	१४
स्वरोदयज्ञान	१२७	१५
हरिभद्र	१५२	२६
	१७१	९
	५११	११
	६८७	१५
	७६२	१८
	७७९	२५
हेमचन्द्र	६८७	२०
	७४५	२
	७७९	११
क्षेत्रसमास	७०२	१
ज्ञानेश्वरी	७६२	१०

परिशिष्ट (४)

'श्रीमद् राजचन्द्र' में आये हुए ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंकी वर्णानुक्रम

	पृष्ठ	पंक्ति
		२९,३१
	३४५	२५
…जला	२६७	२६
अध्यात्मकल्पद्रुम (मुनिसुंदरसूरि)	३८२	८,२०
	२८५	२७
अध्यात्मसार (यशोविजय)	३८२	१२
	३८१	२०
अनाथदास	५२६	२२
अनुभवप्रकाश (चिदानन्द)	४६६	१९
	२८६	५
अंबालालजी *	१७१	१५
अष्टक (हरिभद्रसूरि)	७७४	२६
अष्टपाहुड (कुन्दकुन्द)	८००	२९
अष्टसहस्री (विद्यानन्द)	१७५	१०
आचारांग (आगमग्रंथ)	२७२	१८
	४३९	६
	४४४	३०
	५३५	१,३०
	५९१	२
	५९८	२४
	६२३	१
	६६९	४
	६७६	२७
	७४२	२२
	७९५	२२
	६२३	९
आत्मसिद्धि (राजचन्द्र)	६२५	२६
	३८२	१०
आत्मानुशासन (गुणभद्र)	७३५	२३
	७५१	१

	पृष्ठ
आनंदघन	६३५
	६३६
	७४…
	७४…
आनंदघनचौवीसी (आनंदघन)	३…
	६…
	७…
आप्तमीमांसा (समंतभद्र)	
इन्द्रियपराजयशतक (श्वेताम्बर आचार्य)	
उत्तराध्ययन (आगमग्रंथ)	

१ उपदेशछाया और आत्मसिद्धि—श्रीमद्राजचन्द्रविरचित गुजराती ग्रंथका हिन्दीअनुवाद पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम्० ए० ने किया है।

उपदेशछायामें मुख्य चर्चा आत्मार्थके संबंधमें है, अनेक स्थलोंपर तो यह चर्चा बहुत ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी है। इसमें केवलज्ञानीका स्वउपयोग, शुष्क ज्ञानियोंका अभिमान, ज्ञान किसे कहते हैं? कल्याणका मार्ग एक है, निर्धन कौन? आत्मार्थ ही सच्चा नय है, आदि गहन विषयोंका सुन्दर वर्णन है।

आत्मसिद्धिमें श्रीमद्रायचन्द्रजीकी अमर रचना है। यह ग्रंथ लोगोंको इतना पसंद आया कि इसके अंग्रेजी मराठी अनुवाद हो गये हैं। इसमें आत्मा है, वह नित्य है, वह कर्ता है वह भोक्ता है, मोक्षपद है, और मोक्षका उपाय है, इन छह पदोंको १४२ पद्योंमें युक्तिपूर्वक सिद्ध किया गया है। ऊपर गुजराती कविता है, नीचे उसका विस्तृत हिन्दी-अर्थ है। इस ग्रंथका विषय बहुत ही जटिल और गहन है, किन्तु लेखन-शैलीकी सरलता तथा रोचकताके कारण साधारण पढ़े लिखे लोगोंके लिये भी बोधगम्य और उपयोगी हो गया है। प्रारंभमें ग्रन्थकर्त्ताका सुन्दर चित्र और संक्षिप्त चरित भी है। पृष्ठसंख्या १०४, मूल्य सिर्फ ॥) है।

२ पुष्पमाला मोक्षमाला और भावनाबोध—श्रीमद्राजचन्द्रकृत गुजराती ग्रन्थका हिन्दीअनुवाद पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए० ने किया है।

पुष्पमालामें सभी अवस्थावालोंके लिए नित्य मनन करने योग्य जपमालाकी तरह १०८ दाने (वचन) गूँथे हैं।

मोक्षमालाकी रचना रायचन्द्रजीने १६ वर्षकी उम्रमें की थी, यह पाठ्य-पुस्तक बड़ी उपयोगी सदैव मनन करने योग्य है, इसमें जैन-मार्गको यथार्थ रीतिसे समझाया है। जिनोक्त-मार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक नहीं लिखा है। वीतराग-मार्गमें आबाल वृद्धकी रुचि हो, और उसका स्वरूप समझें, इसी उद्देशसे श्रीमद्‌ने इसकी रचना की थी। इसमें सर्वमान्य धर्म, मानवदेह, सदेव, सद्धर्म, सद्गुरुतत्त्व, उत्तम गृहस्थ, जिनेश्वरभक्ति, वास्तविक महत्ता, सत्य, सत्संग, विनयसे तत्त्वकी सिद्धि, सामायिक विचार, सुखके विषयमें विचार, बाहुबल, सुदर्शन, कपिलमुनि, अनुपम क्षमा, तत्त्वावबोध, समाजकी आवश्यकता, आदि एकसे एक बढ़कर १०८ पाठ हैं। गुजरातीकी हिन्दी अर्थ सहित अनेक सुन्दर कवितायें हैं। इस ग्रंथको स्याद्वाद-तत्त्व-बोधरूपी वृक्षका बीज ही समझिये।

भावनाबोधमें वैराग्य मुख्य विषय है, किस तरह कषाय-मल दूर हो, इसमें उन्हीके उपाय बताये हैं। इसमें अनित्य, अशरण, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा आदि बारह भावनाओंके स्वरूपको, भिखारीका खेद, नमिराजर्षि, भरतेश्वर, सनत्कुमार, आदिकी कथायें देकर बड़ी उत्तम रीतिसे विषयको समझाया है। प्रारंभमें श्रीमद् रायचन्द्रजीका चित्र और संक्षिप्त चरित्र भी है। भाषा बहुत ही सरल है। पृष्ठसंख्या १३०, मूल्य सिर्फ ।) है। ये दोनों ग्रंथ श्रीमद् राजचन्द्रमेंसे जुदा निकाले गये हैं।

सिर्फ तीन रुपया है, जो ग्रंथको देखते हुए कुछ नहीं है। मूल्य इसी लिये कम। जिससे सर्वसाधारण सुभीतेसे खरीद सकें।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—श्रीअमृतचन्द्रस्वामीविरचित मूल श्लोक और पं० प्रेमीकृत सान्वय सरल भाषाटीका सहित। इसमें आचारसम्बन्धी बड़े बड़े गूढ़ रहस्योंका है। अहिंसा तत्त्व और उसका स्वरूप जितनी स्पष्टता और सुन्दरतासे इस ग्रंथमें वर्णि उतना और कहीं नहीं है। तीन बार छपकर बिक चुका है, इस कारण चौथी बार छ गया है। न्योछावर सजिल्दकी १।)

पञ्चास्तिकाय—श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृत मूल गाथायें, तथा श्रीअमृतचन्द्रसू तत्त्वदीपिका, श्रीजयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति ये दो संस्कृत टीकायें, और पं० पन्नाल बाकलीवालकृत अन्वय अर्थ भावार्थ सहित भाषाटीका। इसकी भाषाटीका स्वर्गीय पांडे हेम जीकी भाषा-टीकाके अनुसार नवीन सरल भाषामें परिवर्तित की गई है। इसमें जीव, अ धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँचों द्रव्योंका उत्तम रीतिसे वर्णन है। तथा काल द्रव्यका संक्षेपमें वर्णन किया गया है। बम्बईयूनिवर्सिटीके बी० ए० के कोर्समें है। दूसरी बार है। मूल्य सजिल्दका २)

ज्ञानार्णव—श्रीशुभचन्द्राचार्यकृत मूल श्लोक और स्व० पं० जयचन्दजीकी पु भाषावचनिकाके आधारसे पं० पन्नालालजी बाकलीवालकृत हिन्दी भाषाटीका सहित। योगश संबंधी यह अपूर्व ग्रंथ है। इसमें ध्यानका वर्णन बहुत ही उत्तमतासे किया है, प्रकरण ब्रह्मचर्यव्रतका वर्णन भी विस्तृत है। तीसरी बार छपा है। प्रारंभमें ग्रंथकर्ताका विस्तृ ऐतिहासिक जीवनचरित है। उपदेशप्रद बड़ा सुन्दर ग्रंथ है। मूल्य सजिल्दका ४)

सप्तभंगीतरंगिणी—श्रीमद्विमलदासकृत मूल और पं० ठाकुरप्रसादजी शर्मा भाषाटीका। यह न्यायका अपूर्व ग्रन्थ है। इसमें ग्रंथकर्त्ताने स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, आ सप्तभंगीनयका विवेचन नव्यन्यायकी रीतिसे किया है। स्याद्वाद क्या है, यह जाननेके लि यह ग्रंथ अवश्य पढ़ना चाहिये। दूसरी बार सुन्दरतापूर्वक छपी है। न्यो० १)

बृहद्द्रव्यसंग्रह—श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूल गाथायें, श्रीब्रह्मदेवसूरिकृत संस्कृ टीका और पं० जवाहरलालजी शास्त्रीकृत भाषाटीका सहित। इसमें जीव, अजीव, आदि छह द्रव्योंका स्वरूप अति स्पष्ट रीतिसे दिखाया है। दूसरी बार छपी है। कपड़ेकी सुन्दर जिल्द बँधी है। मूल्य २।)

गोम्मटसार कर्मकाण्ड—श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीकृत मूल गाथायें और पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया तथा भाषाटीका सहित। इसमें जैनतत्त्वके स्वरूप कहते हुए जीव तथा कर्मका स्वरूप इतने विस्तारसे किया गया है, जिसकी वचन द्वारा प्रशंसा नहीं हो सकती है। देखनेसे ही मालूम हो सकता है। जो कुछ संसारका झगड़ा है, वह इन्हीं दोनों (जीव कर्म) के सम्बन्धसे है, इन दोनोंका स्वरूप दिखानेके लिये यह ग्रंथ-रत्न अपूर्व सूर्यके समान है। दूसरी बार पं० खूबचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीद्वारा संशोधित हो करके छपा है। मूल्य सजिल्दका २॥)

गोम्मटसार जीवकाण्ड—श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूल गाथायें और पं० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत संस्कृतछाया तथा बालबोधिनी भाषाटीका सहित। इसमें गुणस्थानोंका वर्णन, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, मार्गणा, उपयोग, अन्तर्भाव, आलाप आदि अनेक अधिकार हैं। सूक्ष्म तत्त्वोंका विवेचन करनेवाला यह अपूर्व ग्रंथ है। दूसरी बार संशोधित होकर छपा है। मूल्य सजिल्दका २॥)

लब्धिसार—(क्षपणासार गर्भित) श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूल गाथायें, और स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया और हिन्दी भाषाटीका सहित। यह ग्रंथ गोम्मटसारका परिशिष्ट है। इसमें मोक्षके मूलकारण सम्यक्त्वके प्राप्त होनेमें सहायक क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, करण इन पाँच लब्धियोंका वर्णन है। मूल्य सजिल्दका १॥)

द्रव्यानुयोगतर्कणा और समयसार—ये दो ग्रंथ अप्राप्य हैं। समयसार तो पुनः सम्पादित होके छपेगा।

गुजराती ग्रंथ

श्रीमद् राजचन्द्र—आ पुस्तकमां श्रीमद् राजचन्द्रनी हयातीमां तेओश्रीने जुदे जुदे प्रसंगे मुमुक्षुभाईओ, सज्जनो अने मुनिश्रीओ वगैरे तरफथी भिन्न भिन्न विषयो संबंधे पुछेला सवालोना जवाबना पत्रोनो संग्रह, तथा बाल्यावस्थामां रचेला **भावनाबोध, मोक्षमाळा, आत्मसिद्धि** ग्रंथोनो संग्रह छे, श्रीमद्नी सोळा वर्ष पहेलानी वयथी देहोत्सर्ग पर्यन्तना विचारोना आ मत्त ग्रंथमां संग्रह छे, जैनतत्त्वज्ञानको महान ग्रंथ छे, जैनतत्त्वज्ञाननो ऊंडो अभ्यास समजवा माटे आ ग्रंथ खास उपयोगी छे, बीजी आवृत्ति संशोधनपूर्वक बहार पाडी छे. अने तेनी अंदर श्रीमद्ना अप्रगट लखाणो पण दाखल करवामां आव्यां छे. ग्रंथारंभमां **महात्मा गांधीजीनी** लखेली महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना छे। आ पुस्तक सारामां सारा कागळ उपर सुन्दर शुद्ध **निर्णयसागर प्रेसनी** अन्दर खास तैयार करावेला **देवनागरीमां** छपायुं छे. सुन्दर बाईंडिंगथी सुशोभित छे. [illegible], [illegible] वांचवा योग्य छे, [illegible], [illegible], [illegible] वांचवा लायक अने मनन करवा योग्य आ महान ग्रन्थ छे, रोयल चार पेजी साइझना ८२५ पृष्ठनो दळदार ग्रन्थनो मूल्य रु. ५ पाँच रुपया, उपरान्त पो. खर्च लागशे छे। ५ [illegible]।

भावनाबोध—आ ग्रंथना कर्ता उक्त महापुरुष छे, वैराग्य ए आ ग्रंथनो मुख्य विषय छे, पात्रता पामवानुं अने कषायमल दूर करवानुं आ ग्रंथ उत्तम साधन छे, आत्मार्थीओने आ ग्रंथ [illegible] छे, आ [illegible] छे, आ बने ग्रंथो [illegible] अने [illegible], [illegible] अने [illegible], अने [illegible] [illegible] छे, [illegible] ग्रंथ [illegible] छे। मूल्य [illegible] चार आना।

रिपोर्ट—[illegible] सं. १९७१ थी सं. १९७० [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।

संशोधन और परिवर्तन

अशुद्ध	शुद्ध
पृष्ठ लाइन	
४–१४ पहले	आगे
८—५ वीर	भाई
८—८ धर्म विना राजा लोग ठगाये जाते हैं !	यदि राजाके पास ठाटबाट न हो तो वह उस के कारण ठगा नहीं जाता, किन्तु धर्मकी कमीके व वह ठगाया जाता है ।
८—९ धुरंधता	धुरंधरता
९—४ प्रतिष्ठा	बुद्धिमत्ता
९–४ धर्मके विना किसीभी वचनका	सभीका कथन है के धर्मके विना
११–२८ महावीरकी	महावीरनी
१३–१६ निकाल	निकल
२१–१८ प्रवेश मार्गमें	मार्गमें प्रवेश
२३–२ चलाई	उठाई
२६–२५ स्वरूपकी	स्वरूपको
२६–२५ विनाशका	विनाश
३८–१३ व्यावस्था	व्यवस्था
५१–९ जीवोंको क्षमाकर	जीवोंसे क्षमा माँगकर
६०–१२ इतनेमें	इतने
६७–२ इस बातकी......करना।	मुझे तो उसकी दया आती है । उसको परवस्तुमें जकड़ रक्खो । परवस्तुके छोड़नेके लिये वह लि ध्यानमें रक्खो कि
७१–६ उज्ज्वलको	उज्ज्वल
७१–१२ भगवान्में	भगवान्ने
७४–८ सम्मर्छिम	सम्मर्छिम
७६–१० होने	होते
८०–४ तत्पर्य	तात्पर्य
८४–११ उत्पत्ति स्वरूपसे.......तो	उत्पत्ति स्वरूपसे मानें तो पाप पुण्य आदिका अ हो जानेसे
८५–१ नहीं, अर्थात् कभी	नहीं हुआ, अतः संभव है ।
८५–३ जानकर	जानकार
८५–१० आवग	आवेंगे
९५–१४ पहले	उन
१०३–३ शरीरमें	शरीरमा
१०७–१ कंकणोंको	कंकणोंके
११५–२६ गेज	रोम
११९–७ सामग्री	नामकी

निवेदन

स्वर्गवासी तत्त्वज्ञानी शतावधानी कविवर श्रीरायचन्द्रजीने श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, स्वाति (मी) मुनीश्वर, श्रीसमन्तभद्राचार्य, श्रीनेमिचन्द्राचार्य, श्रीअकलङ्कस्वामी, ... न्द्राचार्य, श्रीअमृतचन्द्रसूरि, श्रीहरिभद्रसूरि, श्रीहेमचन्द्राचार्य, श्रीयशोविजय आदि आचार्योंके रचे हुए अतिशय उपयोगी और अलभ्य जैनतत्त्व-ग्रन्थोंका सर्वसाधारणमें ... मूल्यमें प्रचार करनेके लिये श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडलकी स्थापना की थी, जिसके उक्त कविराजके स्मरणार्थ श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमाला ३० वर्षोंसे निकल रही है। ग्रंथमालामें ऐसे अनेक प्राचीन जैन-ग्रंथ राष्ट्रभाषा हिन्दी टीकासहित प्रकट हुये हैं, तत्त्वज्ञानाभिलाषी भव्यजीवोंको आनंदित कर रहे हैं।

उभय पक्षके महात्माओंद्वारा प्रणीत सर्वसाधारणोपयोगी उत्तमोत्तम ग्रन्थोंके ... विज्ञ पाठकोंको विदित हों, इसके लिये—इस शास्त्रमालाकी योजना की गई है। ... आत्मकल्याणके इच्छुक भव्य जीवोंसे निवेदन है कि इस पवित्र शास्त्रमालाके ग्रन्थोंके ... बनकर वे अपनी चल लक्ष्मीको अचल करें, और तत्त्वज्ञानपूर्ण जैनसिद्धान्त-ग्रन्थोंके ... पाठन द्वारा प्रचार कर हमारी इस परमार्थ-योजनाके परिश्रमको सफल करें। प्रत्येक ... सरस्वतीभण्डार, सभा और पाठशालाओंमें इनका संग्रह अवश्य करें। जैनधर्म और जैन ... ज्ञानके प्रसारसे बढ़कर दूसरा और कोई पुण्यकार्य प्रभावनाका नहीं हो सकता, इ... अधिकसे अधिक द्रव्यसे सहायता कर पाठक भी इस महत्कार्यमें हमारा हाथ बटावें। पाठ... जितने अधिक ग्रन्थ खरीदकर हमारी सहायता करेंगे, उतने ही अधिक ग्रन्थ प्रकाशित हो...

इस शास्त्रमालाकी प्रशंसा मुनियों, विद्वानों तथा पत्रसंपादकोंने तथा पाश्चात्य वि... विद्वानोंने मुक्तकंठसे की है। यह संस्था किसी स्वार्थ-साधन लिये नहीं है, केवल परोप... वास्ते है। जो द्रव्य आता है, वह इसी शास्त्रमालामें उत्तमोत्तम ग्रन्थोंके उद्धारके कामने... दिया जाता है। हमारे सभी ग्रन्थ बड़ी शुद्धता और सुन्दरतापूर्वक अपने विषयके विद्वानों... हिन्दी टीका करवाके अच्छे कागज़पर छपाये गये हैं। मूल्य भी अपेक्षाकृत कम ... लागतके लगभग रखा जाता है। उत्तमताका यही सबसे बड़ा प्रमाण है कि कई ग्र... तीन तीन चार चार संस्करण हो गये हैं। भविष्यमें श्रीउमास्वामी, श्रीभट्टाकलंकदेव, ... समन्तभद्र, श्रीसिद्धसेनदिवाकरके ग्रंथ निकलेंगे। कई ग्रंथोंका उत्तमतापूर्वक सम्पादन हो रहा...

नोट—रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके ग्रन्थ इकट्ठे मँगानेवालोंको और प्रचार करनेवा... बहुत किफायतसे भेजे जाते हैं। इसके लिए वे हमसे पत्रव्यवहार करें।

सहायता भेजने और ग्रंथोंके मिलनेका पता—

निवेदक—ऑ० व्यवस्थापक—

श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल (श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमाला)

खाराकुवा, जौहरीबाजार, बम्बई नं० २

न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस, ६ केळेवाडी, गिरगाव, मुंबई नं. ४.

पर प्रौढ़ और विवेकपूर्वक विचार कर शास्त्र जितना ज्ञान हृदयंगम किया हो, ऐसे पुरुष मिलने दुर्लभ हैं। तत्त्वको पहुँच जाना कोई छोटी बात नहीं, यह कूदकर समुद्रके उल्लंघ जानेके समान है।

अर्थ शब्दके लक्ष्मी, तत्त्व, और शब्द, इस तरह बहुतसे अर्थ होते हैं। परन्तु यहाँ अर्थ अर्थात् 'तत्त्व' इस विषयपर कहना है। जो निर्ग्रंथ प्रवचनमें आये हुए पवित्र वचनोंको कंठस्थ करते हैं, वे अपने उत्साहके बलसे सत्फलका उपार्जन करते हैं। परन्तु जिन्होंने उसका मर्म पाया है, उनको तो इससे सुख, आनंद, विवेक और अन्तमें महान् फलकी प्राप्ति होती है। अपढ़ पुरुष जितना सुंदर अक्षर और खेंची हुई मिथ्या लकीर इन दोनोंके भेदको जानता है, उतना ही मुखपाठी अन्य ग्रंथोंके विचार और निर्ग्रंथ प्रवचनको भेदरूप मानता है। क्योंकि उसने अर्थपूर्वक निर्ग्रंथ वचनामृतको धारण नहीं किया, और उसपर यथार्थ तत्त्व-विचार नहीं किया। यद्यपि तत्त्व-विचार करनेमें समर्थ बुद्धि-प्रभावकी आवश्यकता है, तो भी कुछ विचार जरूर कर सकता है। पत्थर पिघलता नहीं, फिर भी पानीसे भीग जाता है। इसीतरह जिसने वचनामृत कंठस्थ किया हो, वह अर्थ सहित हो तो बहुत उपयोगी हो सकता है। नहीं तो तोतेवाला राम नाम। तोतेको कोई परिचयमें आकर राम नाम कहना भले ही सिखला दे, परन्तु तोतेकी बला जाने, कि राम अनारको कहते हैं, या अंगूरको। सामान्य अर्थके समझे बिना ऐसा होता है। कच्छी वैश्योंका एक दृष्टांत कहा जाता है। वह हास्ययुक्त कुछ अवश्य है, परन्तु इससे उत्तम शिक्षा मिल सकती है। इसलिये इसे यहाँ कहता हूँ। कच्छके किसी गाँवमें श्रावक-धर्मको पालते हुए रायशी, देवशी और खेतशी नामके तीन ओसवाल रहते थे। वे नियमित रीतिसे संध्याकाल और प्रभातमें प्रतिक्रमण करते थे। प्रभातमें रायशी और संध्याकालमें देवशी प्रतिक्रमण कराते थे। रात्रिका प्रतिक्रमण रायशी कराता था। रात्रिके संबंधसे 'रायशी पडिक्कमणुं ठायंमि' इस तरह उसे बुलवाना पड़ता था। इसी तरह देवशीको दिनका संबंध होनेसे 'देवशी पडिक्कमणुं ठायंमि' यह बुलवाना पड़ता था। योगानुयोगसे एक दिन बहुत लोगोंके आग्रहसे संध्याकालमें खेतशीको प्रतिक्रमण बुलवाने बैठाया। खेतशीने जहाँ 'देवशी पडिक्कमणुं ठायंमि' आया, वहाँ 'खेतशी पडिक्कमणुं ठायंमि' यह वाक्य लगा दिया। यह सुनकर सब हँसने लगे और उन्होंने पूँछा, यह क्या? खेतशी बोला, क्यों? सबने कहा, कि तुम 'खेतशी पडिक्कमणुं ठायंमि' ऐसे क्यों बोलते हो? खेतशीने कहा, कि मैं गरीब हूँ इसलिये मेरा नाम आया तो वहीं आप लोग तुरत ही तकरार कर बैठे। परन्तु रायशी और देवशीके लिये तो किसी दिन कोई बोलता भी नहीं। ये दोनों क्यों 'रायशी पडिक्कमणुं ठायंमि' और 'देवशी पडिक्कमणुं ठायंमि' ऐसा कहते हैं? तो फिर मैं 'खेतशी पडिक्कमणुं ठायंमि' ऐसे क्यों न कहूँ? इसकी भद्रताने सबको विनोद उत्पन्न किया। बादमें प्रतिक्रमणका कारण सहित अर्थ समझानेसे खेतशी अपने मुखसे पाठ किये हुए प्रतिक्रमणसे शरमाया।

यह तो एक सामान्य बात है, परन्तु अर्थकी खूबी न्यारी है। तत्त्वज्ञ लोग उसपर बहुत विचार कर सकते हैं। बाकी तो जैसे गुड़ मीठा ही लगता है, वैसे ही निर्ग्रंथ वचनामृत भी श्रेष्ठ फलको ही देते हैं। अहो! परन्तु मर्म पानेकी बातकी तो बलिहारी ही है!

२७ यतना

जैसे विवेक धर्मका मूल तत्त्व है, वैसे ही यतना धर्मका उपतत्त्व है। विवेकसे धर्मतत्त्व ग्रहण किया जाता है, तथा यतनासे वह तत्त्व शुद्ध रक्खा जा सकता है, और उसके अनुसार आचरण किया

जा सकता है। पाँच समितिरूप यतना तो बहुत श्रेष्ठ है, परन्तु गृहस्थाश्रमीसे वह सर्वथारूपसे नहीं पल सकती। तो भी जितने अंशोंमें वह पाली जा सकती है, उतने अंशोंमें भी वे उसे सावधानीसे नहीं पाल सकते। जिनेश्वर भगवान्की उपदेश की हुई स्थूल और सूक्ष्म दयाके प्रति जहाँ बेदरकारी है, वहाँ वह बहुत दोषसे पाली जा सकती है। यह यतनाके रखनेकी न्यूनताके कारण है। जल्दी और वेगभरी चाल, पानी छानकर उसके बिनछन रखनेकी अपूर्ण विधि, काष्ठ आदि ईंधनका बिना झाड़े, बिना देखे उपयोग, अनाजमें रहनेवाले जंतुओंकी अपूर्ण शोध, बिना झाड़े बुहारे रक्खे हुए पात्र, अस्वच्छ रक्खे हुए कमरे, आँगनमें पानीका उड़ेलना, जूठनका रख छोड़ना, पटड़ेके बिना धधकती थालीका नीचे रखना; इनसे हमें इस लोकमें अस्वच्छता, प्रतिकूलता, असुविधा, अस्वस्थता इत्यादि फल मिलते हैं, और ये परलोकमें भी दुःखदायी महापापका कारण हो जाते हैं। इसलिये कहनेका तात्पर्य यह है, कि चलनेमें, बैठनेमें, उठनेमें, भोजन करनेमें और दूसरी हरेक क्रियामें यतनाका उपयोग करना चाहिये। इससे द्रव्य और भाव दोनों प्रकारके लाभ हैं। चालको धीमी और गंभीर रखना, घरको स्वच्छ रखना, पानीका विधि सहित छानना, काष्ठ आदि ईंधनका झाड़कर उपयोग करना, ये कुछ हमें असुविधा देनेवाले काम नहीं, और इनमें विशेष समय भी नहीं जाता। ऐसे नियमोंको दाखिल करनेके पश्चात् पालना भी मुश्किल नहीं है। इससे विचारे असंख्यात निरपराधी जंतुओंकी रक्षा हो जाती है।

प्रत्येक कामको यतनापूर्वक ही करना यह विवेकी श्रावकका कर्तव्य है।

२८ रात्रिभोजन

अहिंसा आदि पाँच महाव्रतोंकी तरह भगवान्ने रात्रिभोजनत्याग व्रत भी कहा है। रात्रिमें चार प्रकारका आहार अभक्ष्य है। जिस जातिके आहारका रंग होता है उस जातिके तमस्काय नामके जीव उस आहारमें उत्पन्न होते हैं। इसके सिवाय रात्रिभोजनमें और भी अनेक दोष हैं। रात्रिमें भोजन करनेवालेको रसोईके लिये अग्नि जलानी पड़ती है। उस समय समीपकी दिवालपर रहते हुए निरपराधी सूक्ष्म जंतु नाश पाते हैं। ईंधनके वास्ते लाये हुए काष्ठ आदिमें रहते हुए जंतु रात्रिमें न दीखनेसे नाश हो जाते हैं। रात्रिभोजनमें सर्पके जहरका, मकड़ीकी लारका और मच्छर आदि सूक्ष्म जंतुओंका भी भय रहता है। कभी कभी यह कुटुंब आदिके भयंकर रोगका भी कारण हो जाता है।

रात्रिभोजनका पुराण आदि मतोंमें भी सामान्य आचारके लिये त्याग किया है, फिर भी उनमें परम्पराकी रूढ़िको लेकर रात्रिभोजन घुस गया है। परन्तु यह निषिद्ध तो है ही।

शरीरके अंदर दो प्रकारके कमल होते हैं। वे सूर्यके अस्तसे संकुचित हो जाते हैं। इसकारण रात्रिभोजनमें सूक्ष्म जीवोंका भक्षण होनेसे अहित होता है, यह महारोगका कारण है। ऐसा बहुतसे स्थलोंमें आयुर्वेदका भी मत है।

सत्पुरुष दो घड़ी दिनसे ब्यालू करते हैं, और दो घड़ी दिन चढ़नेसे पहले किसी भी प्रकारका आहार नहीं करते। रात्रिभोजनके लिये [illegible] विचारोंका मुनियोंके समागमसे अथवा शास्त्रोंसे जानना चाहिये। इस संबंधमें बहुत सूक्ष्म भेदका जानना आवश्यक है।

चार प्रकारके आहार रात्रिमें त्यागनेसे महान् फल है, यह जिनवचन है।

साँझको सभा विसर्जन हुई और राजा अन्तःपुरमें गया। तत्पश्चात् जिस जिसने क्रय-विक्रयके लिये माँसकी बात कही थी, अभयकुमार उन सबके घर गया। जिसके घर अभयकुमार गया, वहाँ सत्कार किये जानेके बाद सब सामंत पूँछने लगे, कि आपने हमारे घर पधारनेका कैसे कष्ट उठाया? अभयकुमारने कहा, "महाराज श्रेणिकको अकस्मात् महारोग उत्पन्न हो गया है। वैद्योंके इकट्ठे करनेपर उन्होंने कहा है, कि यदि कोमल मनुष्यके कलेजेका सवा पैसेभर माँस मिले तो यह रोग मिट सकता है। तुम लोग राजाके प्रिय-मान्य हो, इसलिये मैं तुम्हारे यहाँ इस माँसको लेने आया हूँ।" प्रत्येक सामंतने विचार किया कि कलेजेका माँस बिना मरे किस प्रकार दिया सकता है? उन्होंने अभयकुमारसे कहा, महाराज, यह तो कैसे हो सकता है? यह कहनेके पश्चात् प्रत्येक सामंतने अभयकुमारको अपनी बातको राजाके आगे न खोलनेके लिये बहुतसा द्रव्य दिया। अभयकुमारने इस द्रव्यको ग्रहण किया। इस तरह अभयकुमार सब सामंतोंके घर फिर आया। कोई भी सामंत माँस न दे सका, और अपनी बातको छिपानेके लिये उन्होंने द्रव्य दिया। तत्पश्चात् दूसरे दिन जब सभा भरी, उस समय समस्त सामंत अपने अपने आसनपर आ आकर बैठे। राजा भी सिंहासनपर विराजमान था। सामंत लोग राजासे कलकी कुशल पूँछने लगे। राजा इस बातसे विस्मित हुआ। उसने अभयकुमारकी ओर देखा। अभयकुमार बोला, "महाराज! कल आपके सामंतोंने सभामें कहा था, कि आजकल माँस सस्ता मिलता है। इस कारण मैं उनके घर माँस लेने गया था। सबने मुझे बहुत द्रव्य दिया, परन्तु कलेजेका सवा पैसाभर माँस किसीने भी न दिया। तो इस माँसको सस्ता कहा जाय या महँगा?।" यह सुनकर सब सामंत शरमसे नीचे देखने लगे। कोई कुछ बोल न सका। तत्पश्चात् अभयकुमारने कहा, "यह मैंने कुछ आप लोगोंको दुःख देनेके लिये नहीं किया, परन्तु उपदेश देनेके लिये किया है। हमें अपने शरीरका माँस देना पड़े तो हमें अनंतभय होता है, कारण कि हमें अपनी देह प्रिय है। इसी तरह अन्य जीवोंका माँस उन जीवोंको भी प्यारा होगा। जैसे हम अमूल्य वस्तुओंको देकर भी अपनी देहकी रक्षा करते हैं, वैसे ही वे बिचारे पामर प्राणी भी अपनी देहकी रक्षा करते होंगे। हम समझदार और बोलते चालते प्राणी हैं, वे बिचारे अवाचक और निराधार प्राणी हैं। उनको मृत्युरूप दुःख देना कितना प्रबल पापका कारण है? हमें इस वचनको निरंतर लक्षमें रखना चाहिये कि "सब प्राणियोंको अपना अपना जीव प्रिय है, और सब जीवोंकी रक्षा करने जैसा एक भी धर्म नहीं।" अभयकुमारके भाषणसे श्रेणिक महाराजको संतोष हुआ। सब सामंतोंने भी शिक्षा ग्रहण की। सामंतोंने उस दिनसे माँस न खानेकी प्रतिज्ञा की। कारण कि एक तो वह अभक्ष्य है, और दूसरे वह किसी जीवके मारे बिना नहीं मिलता, बड़ा अधर्म है। अतएव प्रधानका कथन सुनकर उन्होंने अभयदानमें लक्ष दिया।

अभयदान आत्माके परम सुखका कारण है।

३१ प्रत्याख्यान

'पचखाण' शब्द अनेक बार तुम्हारे सुननेमें आया होगा। इसका मूल शब्द 'प्रत्याख्यान' है। यह (शब्द) किसी वस्तुकी तरफ चित्त न करना, इस प्रकार तत्त्वसे समझकर हेतुपूर्वक नियम करनेके अर्थमें प्रयुक्त होता है। प्रत्याख्यान करनेका हेतु महा उत्तम और सूक्ष्म है। प्रत्याख्यान नहीं

२९ जीवकी रक्षा

(१)

दयाके समान एक भी धर्म नहीं। दया ही धर्मका स्वरूप है। जहाँ दया नहीं वहाँ धर्म नहीं। पृथिवीतलमें ऐसे अनर्थकारक धर्ममत प्रचलित हैं, जो कहते हैं कि जीवका वध करनेमें लेश-मात्र भी पाप नहीं होता। बहुत करो तो मनुष्य देहकी रक्षा करो। ये धर्ममतवाले लोग धर्मोन्मादी और मदांध हैं, और ये दयाका लेशमात्र भी स्वरूप नहीं जानते। यदि ये लोग अपने हृदय-पटको प्रकाशमें रखकर विचार करें, तो उन्हें अवश्य मालूम होगा, कि एक सूक्ष्मसे सूक्ष्म जंतुका भी वध करनेसे महापाप है। जैसे मुझे मेरी आत्मा प्रिय है, वैसे ही अन्य जीवोंको उनकी आत्मा प्रिय है। मैं अपने लेशभर व्यसनके लिये अथवा लाभके लिये ऐसे असंख्यातों जीवोंका बेधड़क वध करता हूँ, यह मुझे कितना अधिक अनंत दुःखका कारण होगा। इन लोगोंमें बुद्धिका बीज भी नहीं है, इसलिये वे लोग ऐसे सात्विक विचार नहीं कर सकते। ये पाप ही पापमें निशदिन मग्न रहते हैं। वेद और वैष्णव आदि पंथोंमें भी सूक्ष्म दयाका कोई विचार देखनेमें नहीं आता। तो भी ये दयाको बिलकुल ही नहीं समझनेवालोंकी अपेक्षा बहुत उत्तम हैं। स्थूल जीवोंकी रक्षा करना ये लोक ठीक तरहसे समझे हैं। परन्तु इन सबकी अपेक्षा हम कितने भाग्यशाली हैं, कि जहाँ एक पुष्पकी पँखड़ीको भी पीड़ा हो, वहाँ पाप है, इस वास्तविक तत्वको समझे, और यज्ञ याग आदिकी हिंसासे तो सर्वथा विरक्त रहे। हम यथाशक्ति जीवोंकी रक्षा करते हैं, तथा जान-बूझकर जीवोंका वध करनेकी हमारी लेशभर भी इच्छा नहीं। अनंतकाय अभक्ष्यसे बहुत करके हम विरक्त ही हैं। इस कालमें यह समस्त पुण्य-प्रताप सिद्धार्थ भूपालके पुत्र महावीरके कहे हुए परम तत्वके उपदेशके योग-बलसे बढ़ा है। मनुष्य ऋद्धि पाते हैं, सुंदर स्त्री पाते हैं, आज्ञानुवर्ती पुत्र पाते हैं, बहुत बड़ा कुटुम्ब परिवार पाते हैं, मान-प्रतिष्ठा और अधिकार पाते हैं और यह पाना कोई दुर्लभ भी नहीं। परन्तु वास्तविक धर्म-तत्व, उसकी श्रद्धा अथवा उसका थोड़ा अंश भी पाना महा दुर्लभ है। ये ऋद्धि इत्यादि अविवेकसे पापका कारण होकर अनंत दुःखमें ले जाती है, परन्तु यह थोड़ी श्रद्धा-भावना भी उत्तम पदवीमें पहुँचाती है। यह दयाका सत्परिणाम है। हमने धर्म-तत्व युक्त कुलमें जन्म पाया है, इसलिये अब जैसे बने विमल दयामय आचारमें आना चाहिये। सब जीवोंकी रक्षा करनी, इस बातको हमें सदैव लक्षमें रखना चाहिये। दूसरोंको भी ऐसी ही युक्ति प्रयुक्तियोंसे उपदेश देना चाहिये। सब जीवोंकी रक्षा करनेके लिये एक शिक्षाप्रद उत्तम युक्ति बुद्धिशाली अभयकुमारने की थी, उसे मैं आगेके पाठमें कहता हूँ। इसी प्रकार तत्वबोधके लिये युक्तियुक्त न्यायसे अनार्योंके समान धर्ममतवादियोंको हमें शिक्षा देनेका समय मिले, तो हम कितने भाग्यशाली हों!

३० सब जीवोंकी रक्षा

(२)

मगध देशकी राजगृही नगरीका अधिराज श्रेणिक एक समय सभा भरकर बैठा हुआ था। प्रसंगवश बातचीतके प्रसंगमें माँस-लुब्ध सामंत बोले, कि आजकल माँस विशेष सस्ता है। यह बात अभयकुमारने सुनी। इसके ऊपरसे अभयकुमारने इन हिंसक सामंतोंको उपदेश देनेका निश्चय किया।

लिये निरंतर वह चंडाल विद्याके बलसे यहाँसे आम लाने लगा। एक दिन फिरते फिरते मालीकी दृष्टि आमोंपर गई। आमोंकी चोरी हुई जानकर उसने श्रेणिक राजाके आगे जाकर नम्रता-पूर्वक सब हाल कहा। श्रेणिककी आज्ञासे अभयकुमार नामके बुद्धिशाली प्रधानने युक्तिके द्वारा उस चंडालको ढूँढ निकाला। चंडालको अपने आगे बुलाकर अभयकुमारने पूछा, इतने मनुष्य बागमें रहते है, फिर भी तू किस रीतिसे ऊपर चढ़कर आम तोड़कर ले जाता है, कि यह बात किसीके जाननेमें नहीं आती? चंडालने कहा, आप मेरा अपराध क्षमा करें। मैं सच सच कह देता हूँ कि मेरे पास एक विद्या है। उसके प्रभावसे मैं इन आमोंको तोड़ सका हूँ। अभयकुमारने कहा, मैं स्वयं तो क्षमा नहीं कर सकता। परन्तु महाराज श्रेणिकको यदि तू इस विद्याको देना स्वीकार करे, तो उन्हें इस विद्याके लेनेकी अभिलाषा होनेके कारण तेरे उपकारके बदलेमें मैं तेरा अपराध क्षमा करा सकता हूँ। चंडालने इस बातको स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् अभयकुमारने चंडालको जहाँ श्रेणिक राजा सिंहासनपर बैठे थे, वहाँ लाकर श्रेणिकके सामने खड़ा किया और राजाको सब बात कह सुनाई। इस बातको राजाने स्वीकार किया। बादमें चंडाल सामने खड़े रहकर थरथराते पगसे श्रेणिकको उस विद्याका बोध देने लगा, परन्तु वह बोध नहीं लगा। झटसे खड़े होकर अभयकुमार बोले, महाराज! आपको यदि यह विद्या अवश्य सीखनी है तो आप सामने आकर खड़े रहें, और इसे सिंहासन दें। राजाने विद्या लेनेके वास्ते ऐसा किया, तो तत्काल ही विद्या सिद्ध हो गई।

यह बात केवल शिक्षा ग्रहण करनेके वास्ते है। एक चंडालकी भी विनय किये विना श्रेणिक जैसे राजाको विद्या सिद्ध न हुई, इसमेंसे यही सार ग्रहण करना चाहिये कि सद्विद्याको सिद्ध करनेके लिये विनय करना आवश्यक है। आत्म-विद्या पानेके लिये यदि हम निर्ग्रंथ गुरुका विनय करें, तो कितना मंगलदायक हो!

विनय यह उत्तम वशीकरण है। उत्तराध्ययनमें भगवान्ने विनयको धर्मका मूल कहकर वर्णन किया है। गुरुका, मुनिका, विद्वान्का, माता-पिताका और अपनेसे बड़ोंका विनय करना, ये अपनी उत्तमताके कारण हैं।

३३ सुदर्शन सेठ

प्राचीन कालमें शुद्ध एकपत्नीव्रतके पालनेवाले असंख्य पुरुष हो गये हैं, इनमें संकट सहकर प्रसिद्ध होनेवाले सुदर्शन नामका एक सत्पुरुष भी हो गया है। यह धनाढ्य, सुंदर मुखाकृतिवाला, कांतिमान और मध्यवयमें था। जिस नगरमें वह रहता था, एक बार किसी कामके प्रसंगमे उस नगरके राज-दरबारके सामनेसे उसे निकलना पड़ा। उस समय राजाकी अभया नामकी रानी अपने महलके झरोखेमें बैठी थी। वहाँसे उसकी दृष्टि सुदर्शनकी तरफ गई। सुदर्शनका उत्तम रूप और शरीर देखकर अभयाका मन ललच गया। अभयाने एक दासीको भेजकर कपट-भावसे निर्मल कारण बनाकर सुदर्शनको ऊपर बुलाया। अनेक तरहकी बातचीत करनेके पश्चात् अभयाने सुदर्शनको भोगोंके भोगनेका आमंत्रण दिया। सुदर्शनने बहुत उपदेश दिया तो भी अभयाका मन शांत नहीं हुआ। अन्तमें थककर सुदर्शनने युक्तिपूर्वक कहा, बहिन, मैं पुरुषत्व हीन हूँ। तो भी रानीने अनेक प्रकारके हाव-भाव बताये। इन सब काम-चेष्टाओंमें सुदर्शन चलायमान नहीं हुआ। इससे हारकर रानीने उसको विदा किया।

करनेसे चाहे किसी वस्तुको न खाओ, अथवा उसका भोग न करो, तो भी उससे संवरपना नहीं। कारण कि हमने तत्त्वरूपसे इच्छाका रोध नहीं किया। हम रात्रिमें भोजन न करते हों, परंतु उसका यदि प्रत्याख्यानरूपमें नियम नहीं किया, तो वह फल नहीं देता। क्योंकि अपनी इच्छा खुली रहती है। जैसे घरका दरवाजा खुला होनेसे कुत्ते आदि जानवर अथवा मनुष्य भीतर चले आते हैं, वैसे ही इच्छाका द्वार खुला हो तो उसमें कर्म प्रवेश करते हैं। इसलिये इस ओर अपने विचार सरलतासे चले जाते हैं। यह कर्म-बन्धनका कारण है। यदि प्रत्याख्यान हो, तो फिर इस ओर दृष्टि करनेकी इच्छा नहीं होती। जैसे हम जानते हैं कि पीठके मध्य भागको हम नहीं देख सकते, इसलिये उस ओर हम दृष्टि भी नहीं करते, उसी प्रकार प्रत्याख्यान करनेसे हम अमुक वस्तुको नहीं खा सकते, अथवा उसका भोग नहीं कर सकते, इस कारण उस ओर हमारा लक्ष स्वाभाविकरूपसे नहीं जाता। यह कर्मोंके आनेके लिये बीचमें दीवार हो जाता है। प्रत्याख्यान करनेके पश्चात् विस्मृति आदि कारणोंसे कोई दोष आ जाय तो उसका प्रायश्चित्तसे निवारण करनेकी आज्ञा भी महात्माओंने दी है।

प्रत्याख्यानसे एक दूसरा भी बड़ा लाभ है। वह यह कि प्रत्याख्यानसे कुछ वस्तुओंमें ही हमारा लक्ष रह जाता है, बाकी सब वस्तुओंका त्याग हो जाता है। जिस जिस वस्तुका हमारे त्याग है, उन उन वस्तुओंके संबंधमें फिर विशेष विचार, उनका ग्रहण करना, रखना अथवा ऐसी कोई अन्य उपाधि नहीं रहती। इससे मन बहुत विशालताको पाकर नियमरूपी सड़कपर चला जाता है। जैसे यदि अश्व लगाममें आ जाता है, तो फिर चाहे वह कितना ही प्रबल हो उसे अभीष्ट रास्तेसे ले जाया जा सकता है, वैसे ही मनके नियमरूपी लगाममें आनेके बादमें उसे चाहे जिस शुभ रास्तेसे ले जाया जा सकता है, और उसमें बारम्बार पर्यटन करानेसे वह एकाग्र, विचारशील, और विवेकी हो जाता है। मनका आनन्द शरीरको भी निरोगी करता है। अभक्ष्य, अनंतकाय, परस्त्री आदिका नियम करनेसे भी शरीर निरोगी रह सकता है। मादक पदार्थ मनको कुमार्गपर ले जाते हैं। परन्तु प्रत्याख्यानसे मन वहाँ जाता हुआ रुक जाता है। इस कारण वह विमल होता है।

प्रत्याख्यान यह कैसी उत्तम नियम पालनेकी प्रतिज्ञा है, यह बात इसके ऊपरसे तुम समझे होगे। इसको विशेष सद्गुरुके मुखसे और शास्त्रावलोकनसे समझनेका मैं उपदेश करता हूँ।

३२ विनयसे तत्त्वकी सिद्धि है

राजगृही नगरीके राज्यासनपर जिस समय श्रेणिक राजा विराजमान था उस समय उस नगरीमें एक चंडाल रहता था। एक समय इस चंडालकी स्त्रीको गर्भ रहा। चंडालिनीको आम खानेकी इच्छा उत्पन्न हुई। उसने आमोंको लानेके लिये चंडालसे कहा। चंडालने कहा, यह आमोंका मौसम नहीं, इसलिये मैं निरुपाय हूँ। नहीं तो मैं आम चाहे कितने ही ऊँचे हों वहाँसे उन्हें अपनी विद्याके बलसे तोड़कर तेरी इच्छा पूर्ण करता। चंडालिनीने कहा, राजाकी महारानीके बागमें एक असमयमें फल देनेवाला आम है। उसमें आजकल आम लगे होंगे। इसलिये आप वहाँ जाकर उन आमोंको लावें। अपनी स्त्रीकी इच्छा पूर्ण करनेको चंडाल उस बागमें गया। चंडालने गुप्त रीतिसे आमके समीप जाकर मंत्र पढ़कर वृक्षको नमाया, और उसपरसे आम तोड़ लिये। बादमें दूसरे मंत्रके द्वारा उसे जैसाका तैसा कर दिया। बादमें चंडाल अपने घर आया। इस तरह अपनी स्त्रीकी इच्छा पूर्ण करनेके

जो विशुद्ध नव वाड़पूर्वक सुखदायक शीलको धारण करता है, उसका संसार-भ्रमण बहुत कम हो जाता है। हे भाई! यह तात्त्विक वचन है ॥ ५ ॥

सुंदर शीलरूपी कल्पवृक्षको मन, वचन, और कायसे जो नर नारी सेवन करेंगे, वे अनुपम फलको प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

पात्रके विना कोई वस्तु नहीं रहती, पात्रमें ही आत्मज्ञान होता है, पात्र बननेके लिये, हे बुद्धिमान् लोगो, ब्रह्मचर्यका सदा सेवन करो ॥ ७ ॥

३५ नमस्कारमंत्र

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

इन पवित्र वाक्योंको निर्ग्रंथप्रवचनमें नवकार (नमस्कार) मंत्र अथवा पंचपरमेष्ठीमंत्र कहते हैं अर्हंत भगवान्के बारह गुण, सिद्ध भगवान्के आठ गुण, आचार्यके छत्तीस गुण, उपाध्यायके पचीस गुण, और साधुके सत्ताईस गुण, ये सब मिलकर एक सौ आठ गुण होते हैं। अँगूठेके विना बाकीकी चार अँगुलियोंके बारह पोरवे होते हैं, और इनसे इन गुणोंके चिंतवन करनेकी व्यवस्था होनेसे बारहको नौसे गुणा करनेपर १०८ होते हैं। इसलिये नवकार कहनेसे यह आशय मालूम होता है कि हे भव्य! अपनी अँगुलियोंके पोरवोंसे (नवकार) मंत्र नौ बार गिन। कार शब्दका अर्थ करनेवाला भी होता है। बारहको नौसे गुणा करनेपर जितने हों, उतने गुणोंसे भरा हुआ मंत्र नवकारमंत्र है, ऐसा नवकारमंत्रका अर्थ होता है। पंचपरमेष्ठीका अर्थ इस सकल जगतमें परमोत्कृष्ट पाँच वस्तुयें होता है। वे कौन कौन हैं? तो जवाब देते हैं, कि अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनको नमस्कार करनेका मंत्र परमेष्ठीमंत्र है। पाँच परमेष्ठियोंको एक साथमें नमस्कार होनेसे 'पंचपरमेष्ठी-मंत्र' यह शब्द बना। यह मंत्र अनादिसिद्ध माना जाता है, कारण कि पंचपरमेष्ठी अनादिसिद्ध हैं। इसलिये ये पाचों पात्र आदि रूप नहीं, ये प्रवाहसे अनादि हैं, और उनका जपनेवाला भी अनादिसिद्ध है। इससे यह जाप भी अनादिसिद्ध ठहरती है।

प्रश्न—इस पंचपरमेष्ठीमंत्रको परिपूर्ण जाननेसे मनुष्य उत्तम गतिको पाते हैं, ऐसा सत्पुरुष कहते हैं। इस विषयमें आपका क्या मत है?

उत्तर—यह कहना न्यायपूर्वक है, ऐसा मैं मानता हूँ।

प्रश्न—इसे किस कारणसे न्यायपूर्वक कहा जा सकता है?

उत्तर—हाँ, यह तुम्हें मैं समझाता हूँ। मनके निग्रहके लिये यह सर्वोत्तम जगद्भूषणके सत्य गुणका चिंतवन है। तथा तत्त्वसे देखनेपर अर्हंतस्वरूप, सिद्धस्वरूप, आचार्यस्वरूप, उपाध्यायस्वरूप और साधुस्वरूप इनका विवेकसे विचार करनेका भी यह सूचक है। क्योंकि वे किस

जे नव वाड विशुद्धथी, धरे शियळ सुखदाई; भव तेनो लव पछी रहे, तत्त्ववचन ए भाई ॥ ५ ॥
सुंदर शीयळसुरतरु, मन वाणी ने देह; जे नरनारी सेवशे, अनुपम फळ ते लेह ॥ ६ ॥
पात्र विना वस्तु न रहे, पात्रे आत्मिक ज्ञान; पात्र थवा सेवो सदा, ब्रह्मचर्य मतिमान ॥ ७ ॥

एक बार इस नगरमें कोई उत्सव था। नगरके बाहर नगर-जन आनंदसे इधर उधर घूम रहे थे, धूमधाम मच रही थी। सुदर्शन सेठके छह देवकुमार जैसे पुत्र भी वहाँ आये थे। अभया रानी भी कपिला नामकी दासीके साथ ठाठबाटसे वहाँ आई थी। सुदर्शनके देवपुतले जैसे छह पुत्र उसके देखनेमें आये। उसने कपिलासे पूँछा, ऐसे रम्य पुत्र किसके हैं? कपिलाने सुदर्शन सेठका नाम लिया। सुदर्शनका नाम सुनते ही रानीकी छातीमें मानों कटार लगी, उसको गहरा घाव लगा। सब धूमधाम बीत जानेके पश्चात् माया-कथन घड़कर अभया और उसकी दासीने मिलकर राजासे कहा, "तुम समझते होगे कि मेरे राज्यमें न्याय और नीति चलती है, मेरी प्रजा दुर्जनोंसे दुःखी नहीं, परन्तु यह सब मिथ्या है। अंतःपुरमें भी दुर्जन प्रवेश करते हैं, यहाँ तक तो अंधेर है! तो फिर दूसरे स्थानोंके लिये तो पूँछना ही क्या? तुम्हारे नगरके सुदर्शन सेठने मुझे भोगका आमंत्रण दिया, और नहीं कहने योग्य कथन मुझे सुनना पड़ा। परन्तु मैंने उसका तिरस्कार किया। इससे विशेष अंधेर और क्या कहा जाय!" बहुतसे राजा वैसे ही कानके कच्चे होते हैं, यह बात प्रायः सर्वमान्य जैसी है, उसमें फिर स्त्रीके मायावी मधुर वचन क्या असर नहीं करते? गरम तेलमें ठंडे जल डालनेके समान रानीके वचनोंसे राजा क्रोधित हुआ। उसने सुदर्शनको शूलीपर चढ़ा देनेकी तत्काल ही आज्ञा दी, और तदनुसार सब कुछ हो भी गया। केवल सुदर्शनके शूलीपर बैठनेकी ही देर थी।

कुछ भी हो, परन्तु सृष्टिके दिव्य भंडारमें उजाला है। सत्यका प्रभाव ढँका नहीं रहता। सुदर्शनके शूलीपर बैठते ही शूली फटकर उसका झिलमिलाता हुआ सोनेका सिंहासन हो गया। देवोंने दुंदुभिका नाद किया, सर्वत्र आनन्द फैल गया। सुदर्शनका सत्यशील विश्व-मंडलमें झलक उठा। सत्यशीलकी सदा जय होती है।

सुदर्शनका शील और उत्तम दृढ़ता ये दोनों आत्माको पवित्र श्रेणीपर चढ़ाते हैं।

३८ ब्रह्मचर्यके विषयमें सुभाषित

जो नवयौवनाको देखकर लेशमात्र भी विषय विकारको प्राप्त नहीं होते, जो उसे काठकी पुतलीके समान गिनते हैं, वे पुरुष भगवान्‌के समान हैं ॥ १ ॥

इस समस्त संसारकी नायकरूप रमणी सर्वथा शोकस्वरूप हैं, उनका जिन्होंने त्याग किया, उसने सब कुछ त्याग किया ॥ २ ॥

जिस प्रकार एक राजाके जीत लेनेसे उसका सैन्य-दल, नगर और अधिकार जीत लिये जाते हैं, उसी तरह एक विषयको जीत लेने समस्त संसार जीत लिया जाता है ॥ ३ ॥

जिस प्रकार थोड़ा भी मदिरापान करनेसे अज्ञान छा जाता है, उसी तरह विषयरूपी अंकुरसे ज्ञान और ध्यान नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

---

३८ ब्रह्मचर्यविषे सुभाषित

दोहरा

निरखीने नवयौवना, लेश न विषयनिदान; गणे काष्ठनी पूतळी, ते भगवानसमान ॥ १ ॥
आ सघळा संसारनी, रमणी नायकरूप; ए त्यागी, त्याग्युं बधुं, केवळ शोकस्वरूप ॥ २ ॥
एक विषयने जीततां, जीत्यो सौ संसार; नृपति जीततां जीतिये, दळ, पुर ने अधिकार ॥ ३ ॥
विषयरूप अंकूरथी, टळे ज्ञान ने ध्यान; लेश मदिरापानथी, छाके ज्यम अज्ञान ॥ ४ ॥

पुत्र—पिताजी! इन्हें अनुक्रमसे लेनेसे यह क्यों नहीं बन सकता?

पिता—यदि ये लोम-विलोम हों तो इन्हें जोड़ते जाना पड़े, और नाम याद करने पड़ें। पाँचका अंक रखनेके बाद दोका अंक आवे तो 'णमो लोए सव्वसाहूणं' के बादमें 'णमो अरिहंताणं' यह वाक्य छोड़कर 'णमो सिद्धाणं' वाक्य याद करना पड़े। इस प्रकार पुनः पुनः लक्षकी दृढ़ता रखनेसे मन एकाग्रता पर पहुँचता है। ये अंक अनुक्रम-बद्ध हों तो ऐसा नहीं हो सकता, कारण कि उस दशामें विचार नहीं करना पड़ता। इस सूक्ष्म समयमें मन परमेष्ठीमंत्रमेंसे निकलकर संसार-तंत्रकी खटपटमें जा पड़ता है, और कभी धर्मकी जगह मारधाड़ भी कर बैठता है। इससे सत्पुरुषोंने अनुपूर्वीकी योजना की है। यह बहुत सुंदर है और आत्म-शांतिको देनेवाली है।

३७ सामायिकविचार

(१)

आत्म-शक्तिका प्रकाश करनेवाला, सम्यग्दर्शनका उदय करनेवाला, शुद्ध समाधिभावमें प्रवेश करानेवाला, निर्जराका अमूल्य लाभ देनेवाला, राग-द्वेषसे मध्यस्थ बुद्धि करनेवाला सामायिक नामका शिक्षाव्रत है। सामायिक शब्दकी व्युत्पत्ति सम + आय + इक इन शब्दोंसे होती है। 'सम' का अर्थ राग-द्वेष रहित मध्यस्थ परिणाम, 'आय' का अर्थ उस समभावनासे उत्पन्न हुआ ज्ञान दर्शन चारित्ररूप मोक्ष-मार्गका लाभ, और 'इक' का अर्थ भाव होता है। अर्थात् जिसके द्वारा मोक्षके मार्गका लाभ-दायक भाव उत्पन्न हो, वह सामायिक है। आर्त और रौद्र इन दो प्रकारके ध्यानका त्याग करके मन, वचन और कायके पाप-भावोंको रोककर विवेकी मनुष्य सामायिक करते हैं।

मनके पुद्गल तरंगी हैं। सामायिकमें जब विशुद्ध परिणामसे रहना बताया गया है, उस समय भी यह मन आकाश पातालके घाट घड़ा करता है। इसी तरह भूल, विस्मृति, उन्माद इत्यादिसे वचन और कायमें भी दूषण आनेसे सामायिकमें दोष लगता है। मन, वचन और कायके मिलकर बत्तीस दोष उत्पन्न होते हैं। दस मनके, दस वचनके, और बारह कायके इस प्रकार बत्तीस दोषोंको जानना आवश्यक है, इनके जाननेसे मन सावधान रहता है।

मनके दस दोष कहता हूँ:—

१ अविवेकदोष—सामायिकका स्वरूप नहीं जाननेसे मनमें ऐसा विचार करना कि इससे क्या फल होना था? इससे तो किसने पार पाया होगा, ऐसे विकल्पोंका नाम अविवेकदोष है।

२ यशोवांछादोष—हम स्वयं सामायिक करते हैं, ऐसा दूसरे मनुष्य जानें तो प्रशंसा करें, ऐसी इच्छासे सामायिक करना वह यशोवांछादोष है।

३ धनवांछादोष—धनकी इच्छासे सामायिक करना धनवांछादोष है।

४ गर्वदोष—मुझे लोग धर्मात्मा कहते हैं और मैं सामायिक भी वैसे ही करता हूँ ऐसा अध्यवसाय होना गर्वदोष है।

५ भयदोष—मैं श्रावक कुलमें जन्मा हूँ, मुझे लोग बड़ा मानकर मान देते हैं यदि मैं सामायिक न करूँ तो लोग कहेंगे कि इतनी क्रिया भी नहीं करता, ऐसी निंदाके भयसे सामायिक करना भयदोष है।

७ आलसदोष—अंगका मोड़ना, उँगलियोंका चटकाना आदि आलसदोष है।

८ मोटनदोष—अँगुली वगैरहका टेढ़ी करना, उँगलियोंका चटकाना मोटनदोष है।

९ मलदोष—घसड़ घसड़कर सामायिकमें खुजाकर मैल निकालना मलदोष है।

१० विमासणदोष—गलेमें हाथ डालकर बैठना इत्यादि विमासणदोष है।

११ निद्रादोष—सामायिकमें नींद आना निद्रादोष है।

१२ वस्त्रसंकोचनदोष—सामायिकमें ठंड वगैरेके भयसे वस्त्रसे शरीरका सिकोड़ना वस्त्रसंकोचनदोष है।

इन बत्तीस दोषोंसे रहित सामायिक करनाचाहिये। सामायिकके पाँच अतीचारोंको हटाना चाहिये।

३९ सामायिकविचार

(३)

एकाग्रता और सावधानीके बिना इन बत्तीस दोषोंमेंसे कोई न कोई दोष लग जाते हैं। विज्ञानवेत्ताओंने सामायिकका जघन्य प्रमाण दो घड़ी बाँधा है। यह व्रत सावधानीपूर्वक करनेसे परमशांति देता है। बहुतसे लोगोंका जब यह दो घड़ीका काल नहीं बीतता तब वे बहुत व्याकुल होते हैं। सामायिकमें खाली बैठनेसे काल बीत भी कैसे सकता है? आधुनिक कालमें सावधानीसे सामायिक करनेवाले बहुत ही थोड़े लोग हैं। जब सामायिकके साथ प्रतिक्रमण करना होता है, तब तो समय बीतना सुगम होता है। यद्यपि ऐसे पामर लोग प्रतिक्रमणको लक्षपूर्वक नहीं कर सकते, तो भी केवल खाली बैठनेकी अपेक्षा इसमें कुछ न कुछ अन्तर अवश्य पड़ता है। जिन्हें सामायिक भी पूरा नहीं आता, वे बिचारे सामायिकमें बहुत घबड़ाते हैं। बहुतसे भारीकर्मी लोग इस अवसरपर व्यवहारके प्रपंच भी घड़ डालते हैं। इससे सामायिक बहुत दूषित होता है।

सामायिकका विधिपूर्वक न होना इसे बहुत खेदकारक और कर्मकी बाहुल्यता समझना चाहिये। साठ घड़ीके दिनरात व्यर्थ चले जाते हैं। असंख्यात दिनोंसे परिपूर्ण अनंतों कालचक्र व्यतीत करनेपर भी जो सिद्ध नहीं होता, वह दो घड़ीके विशुद्ध सामायिकसे सिद्ध हो जाता है। लक्षपूर्वक सामायिक करनेके लिये सामायिकमें प्रवेश करनेके पश्चात् चार लोगस्ससे अधिक लोगस्सका कायोत्सर्ग करके चित्तकी कुछ स्वस्थता प्राप्त करनी चाहिये, और बादमें सूत्रपाठ अथवा किसी उत्तम ग्रंथका मनन करना चाहिये। वैराग्यके उत्तम श्लोकोंको पढ़ना चाहिये, पहिलेके अध्ययन किये हुएको स्मरण कर जाना चाहिये और नूतन अभ्यास हो सके तो करना चाहिये, तथा किसीको शास्त्रके आधारसे उपदेश देना चाहिये। इस प्रकार सामायिकका काल व्यतीत करना चाहिये। यदि मुनिराजका समागम हो, तो आगमकी वाणी सुनना और उसका मनन करना चाहिये। यदि ऐसा न हो, और शास्त्रोंका परिचय भी न हो, तो विचक्षण अभ्यासियोंके पास वैराग्य-बोधक उपदेश श्रवण करना चाहिये, अथवा कुछ अभ्यास करना चाहिये। यदि ये सब अनुकूलतायें न हों, तो कुछ भाग ध्यानपूर्वक कायोत्सर्गमें लगाना चाहिये, और कुछ भाग महापुरुषोंकी चरित्र-कथा सुननेमें उपयोगपूर्वक लगाना चाहिये, परन्तु जैसे बने तैसे विवेक और उत्साहसे सामायिकके कालको व्यतीत करना चाहिये। यदि कुछ साहित्य न हो, तो पंचपरमेष्ठीमंत्रकी जाप ही उत्साहपूर्वक करनी चाहिये। परन्तु कालको व्यर्थ

नहीं गँवाना चाहिये। धीरजसे, शान्तिसे और यतनासे सामायिक करना चाहिये। जैसे बने तैसे सामायिकमें शास्त्रका परिचय बढ़ाना चाहिये।

साठ घड़ीके अहोरात्रमेंसे दो घड़ी अवश्य बचाकर सामायिक तो सद्भावसे करो!

४० प्रतिक्रमणविचार

प्रतिक्रमणका अर्थ पीछे फिरना—फिरसे देख जाना—होता है। भावकी अपेक्षा जिस दिन और जिस वक्त प्रतिक्रमण करना हो, उस वक्तसे पहले अथवा उसी दिन जो जो दोष हुए हों उन्हें एकके बाद एक अंतरात्मासे देख जाना और उनका पश्चात्ताप करके उन दोषोंसे पीछे फिरना इसको प्रतिक्रमण कहते हैं।

उत्तम मुनि और भाविक श्रावक दिनमें हुए दोषोंका संध्याकालमें और रात्रिमें हुए दोषोंका रात्रिके पिछले भागमें अनुक्रमसे पश्चात्ताप करते हैं अथवा उनकी क्षमा माँगते हैं, इसीका नाम यहाँ प्रतिक्रमण है। यह प्रतिक्रमण हमें भी अवश्य करना चाहिये, क्योंकि यह आत्मा मन, वचन और कायके योगसे अनेक प्रकारके कर्मोंको बाँधती है। प्रतिक्रमण सूत्रमें इसका दोहन किया गया है। जिससे दिनरातमें हुए पापका पश्चात्ताप हो सकता है। शुद्ध भावसे पश्चात्ताप करनेसे इसके द्वारा लेशमात्र पाप भी होनेपर परलोक-भय और अनुकंपा प्रगट होती है, आत्मा कोमल होती है, और त्यागने योग्य वस्तुका विवेक आता जाता है। भगवान्‌की साक्षीसे अज्ञान आदि जिन जिन दोषोंका विस्मरण हुआ हो उनका भी पश्चात्ताप हो सकता है। इस प्रकार यह निर्जरा करनेका उत्तम साधन है।

प्रतिक्रमणका नाम आवश्यक भी है। अवश्य ही करने योग्यको आवश्यक कहते हैं; यह सत्य है। उसके द्वारा आत्माकी मलिनता दूर होती है, इसलिये इसे अवश्य करना चाहिये।

सायंकालमें जो प्रतिक्रमण किया जाता है, उसका नाम 'देवसीयपडिक्कमण' अर्थात् दिवस संबंधी पापोंका पश्चात्ताप है, और रात्रिके पिछले भागमें जो प्रतिक्रमण किया जाता है, उसे 'राइयपडिक्कमण' कहते हैं। 'देवसीय' और 'राइय' ये प्राकृत भाषाके शब्द हैं। पक्षमें किये जानेवाले प्रतिक्रमणको पाक्षिक, और संवत्सरमें किये जानेवालेको सांवत्सरिक (छमछरी) प्रतिक्रमण कहते हैं। सत्पुरुषोंकी योजना द्वारा बाँधा हुआ यह सुंदर नियम है।

बहुतसे सामान्य बुद्धिके लोग ऐसा कहते हैं, कि दिन और रात्रिका इकट्ठा प्रायश्चित्तरूप प्रतिक्रमण सबेरे किया जाय तो कोई बुराई नहीं। परन्तु ऐसा कहना प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि यदि रात्रिमें अकस्मात् कोई कारण आ जाय, अथवा मृत्यु हो जाय, तो दिनका प्रतिक्रमण भी रह जाय।

प्रतिक्रमण-सूत्रकी योजना बहुत सुंदर है। इसका मूल तत्त्व बहुत उत्तम है। जैसे बने तैसे प्रतिक्रमण धीरजसे, समझमें आ सकनेवाली भाषासे, शांतिसे, मनकी एकाग्रतासे और यत्नापूर्वक करना चाहिये।

४१ भिखारीका खेद

(१)

एक पामर भिखारी जंगलमें भटकता फिरता था। वहाँ उसे भूख लगी। वह बिचारा लड़खड़ाता हुआ एक नगरमें एक सामान्य मनुष्यके घर पहुँचा। वहाँ जाकर उसने अनेक प्रकारसे प्रार्थना

वेदना सहकर गजसुकुमारने सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर अनंतजीवन सुखको पाया। कैसी अनुपम क्षमा और कैसा उसका सुंदर परिणाम! तत्त्वज्ञानियोंका कथन है कि आत्माओंको केवल अपने सद्भावमें आना चाहिये, और आत्मा अपने सद्भावमें आयी कि मोक्ष हथेलीमें ही है। गजसुकुमारकी प्रसिद्ध क्षमा कैसी शिक्षा देती है!

४४ राग

श्रमण भगवान् महावीरके मुख्य गणधर गौतमका नाम तुमने बहुत बार सुना है। गौतम-स्वामीके उपदेश किये हुए बहुतसे शिष्योंके केवलज्ञान पानेपर भी स्वयं गौतमको केवलज्ञान न हुआ; क्योंकि भगवान् महावीरके अंगोपांग, वर्ण, रूप इत्यादिके ऊपर अब भी गौतमको मोह था। निर्ग्रंथ प्रवचनका निष्पक्षपाती न्याय ऐसा है कि किसी भी वस्तुका राग दुःखदायक होता है। राग ही मोह है और मोह ही संसार है। गौतमके हृदयसे यह राग जबतक दूर न हुआ तबतक उन्हें केवलज्ञानकी प्राप्ति न हुई। श्रमण भगवान् ज्ञातपुत्रने जब अनुपमेय सिद्धि पाई उस समय गौतम नगरमेंसे आ रहे थे। भगवान्के निर्वाण समाचार सुनकर उन्हें खेद हुआ। विरहसे गौतमने ये अनुरागपूर्ण वचन कहे "हे महावीर! आपने मुझे साथ तो न रक्खा, परन्तु मुझे याद तक भी न किया। मेरी प्रीतिके सामने आपने दृष्टि भी नहीं की, ऐसा आपको उचित न था।" ऐसे विकल्प होते होते गौतमका लक्ष फिरा और वे निराग-श्रेणी चढ़े। "मैं बहुत मूर्खता कर रहा हूँ। ये वीतराग, निर्विकारी और रागहीन हैं, वे मुझपर मोह कैसे रख सकते हैं? उनकी शत्रु और मित्रपर एक समान दृष्टि थी। मैं इन रागहीनका मिथ्या मोह रखता हूँ। मोह संसारका प्रबल कारण है।" ऐसे विचारते विचारते गौतम शोकको छोड़कर राग रहित हुए। तत्क्षण ही गौतमको अनंतज्ञान प्रकाशित हुआ और वे अंतमें निर्वाण पधारे।

गौतम मुनिका राग हमें बहुत सूक्ष्म उपदेश देता है। भगवान्के ऊपरका मोह गौतम जैसे गणधरको भी दुःखदायक हुआ तो फिर संसारका और उसमें भी पामर आत्माओंका मोह कैसा अनंत दुःख देता होगा! संसाररूपी गाड़ीके राग और द्वेष रूपी दो बैल हैं। यदि ये न हों, तो संसार अटक जाय। जहाँ राग नहीं वहाँ द्वेष भी नहीं, यह माना हुआ सिद्धांत है। राग तीव्र कर्मबंधका कारण है और इसके क्षयसे आत्म-सिद्धि है।

४५ सामान्य मनोरथ

मोहिनीभावके विचारोंके अधीन होकर नयनोंसे परनारीको न देखूँ; निर्मल तात्त्विक लोभको धारण करके दूसरेके वैभवको पत्थरके समान समझूँ। बारह व्रत और दीनता धारण करके स्वरूपको विचारकर सात्त्विक बनूँ। यह मेरा सदा क्षेम करनेवाला और भवका हरनेवाला नियम नित्य अखंड रहे॥ १॥

---

४५ सामान्य मनोरथ

सवैया

मोहिनीभाव विचार अधीन थई, ना निरखुं नयने परनारी;
पत्थरतुल्य गणुं परवैभव, निर्मळ तात्त्विक लोभ समारी!
द्वादशव्रत अने दीनता धरि, सात्त्विक थाउं स्वरूप विचारी;
ए मुज नेम सदा शुभ क्षेमक, नित्य अखंड रहो भवहारी॥ १॥

ये खेद, दुर्गति और पश्चात्ताप ही प्राप्त कराते हैं। भोगोंके चपल और विनाशीक होनेके कारण स्वप्नके खेदके समान उनका परिणाम होता है। इसके ऊपरसे बुद्धिमान् पुरुष आत्म-हितको खोजते हैं। संसारकी अनित्यताके ऊपर एक काव्य है:—

उपजाति

विद्युत् लक्ष्मी प्रभुता पतंग, आयुष्य ते तो जळना तरंग,
पुरंदरी चाप अनंगरंग, शुं राचिये त्यां क्षणनो प्रसंग!

विशेषार्थः—लक्ष्मी बिजलीके समान है। जैसे बिजलीकी चमक उत्पन्न होकर विलीन हो जाती है, उसी तरह लक्ष्मी आकर चली जाती है। अधिकार पतंगके रंगके समान है। जैसे पतंगका रंग चार दिनकी चाँदनी है, वैसे ही अधिकार केवल थोड़े काल तक रहकर हाथमेंसे जाता रहता है। आयु पानीकी लहरोंके समान है। जैसे पानीकी हिलोरें इधर आईं कि उधर निकल गईं, इसी तरह जन्म पाया, और एक देहमें रहने पाया अथवा नहीं, कि इतनेहीमें इसे दूसरी देहमें जाना पड़ता है। काम-भोग आकाशमें उत्पन्न हुए इन्द्र-धनुषके समान हैं। जैसे इन्द्र-धनुष वर्षाकालमें उत्पन्न होकर क्षण-भरमें विलीन हो जाता है, उसी तरह यौवनमें कामके विकार फलीभूत होकर जरा-वयमें जाते रहते हैं। संक्षेपमें, हे जीव! इन समस्त वस्तुओंका संबंध क्षणभरका है। इसमें प्रेम-बंधनकी साँकलसे बँधकर मग्न क्या होना! तात्पर्य यह है, कि ये सब चपल और विनाशीक हैं, तू अखंड और अविनाशी है, इसलिये अपने जैसी वस्तुको प्राप्त कर, यही उपदेश यथार्थ है।

४३ अनुपम क्षमा

क्षमा अंतरशत्रुको जीतनेमें खड्ग है; पवित्र आचारकी रक्षा करनेमें बख्तर है। शुद्ध भावसे असह्य दुःखमें सम परिणामसे क्षमा रखनेवाला मनुष्य भवसागरसे पार हो जाता है।

कृष्ण वासुदेवका गजसुकुमार नामका छोटा भाई महास्वरूपवान और सुकुमार था। वह केवल बारह वर्षकी वयमें भगवान् नेमिनाथके पास संसार-त्यागी होकर स्मशानमें उग्र ध्यानमें अवस्थित था। उस समय उसने एक अद्भुत क्षमामय चारित्रसे महासिद्धि प्राप्त की उसे मैं यहाँ कहता हूँ।

सोमल नामके ब्राह्मणकी सुन्दरवर्णसम्पन्न पुत्रीके साथ गजसुकुमारकी सगाई हुई थी। परन्तु विवाह होनेके पहले ही गजसुकुमार संसार त्याग कर चले गये। इस कारण अपनी पुत्रीके सुखके नाश होनेके द्वेषसे सोमल ब्राह्मणको भयंकर क्रोध उत्पन्न हुआ। वह गजसुकुमारकी खोज करते करते उस स्मशानमें आ पहुँचा, जहाँ महामुनि गजसुकुमार एकाग्र विशुद्ध भावसे कायोत्सर्गमें लीन थे। सोमलने कोमल गजसुकुमारके सिरपर चिकनी मिट्टीकी बाड़ बना कर इसके भीतर धधकते हुए अंगारे भरे, और इसे ईंधनसे पूर दिया। इस कारण गजसुकुमारको महाताप उत्पन्न हुआ। जब गजसुकुमारकी कोमल देह जलने लगी, तब सोमल वहाँसे चल दिया। उस समयके गजसुकुमारके असह्य दुःखका वर्णन कैसे हो सकता है! फिर भी गजसुकुमार समभाव परिणामसे रहे। उनके हृदयमें कुछ भी क्रोध अथवा द्वेष उत्पन्न नहीं हुआ। उन्होंने अपनी आत्माको स्थितिस्थापक दशामें लाकर यह उपदेश दिया, कि देख यदि तूने इस ब्राह्मणकी पुत्रीके साथ विवाह किया होता तो यह कन्यादानमें तुझे पगड़ी देता। यह पगड़ी थोड़े दिनोंमें फट जाती और अन्तमें दुःखदायक होती। किन्तु यह इसका बहुत बड़ा उपकार हुआ, कि इस पगड़ीके बदले इसने मोक्षकी पगड़ी बाँध दी। ऐसे विशुद्ध परिणामोंसे अडग रहकर समभावसे असह्य

कुछ अभ्यास नहीं कर सकता था। पंडितजीने अभ्यास न करनेका कारण पूँछा, तो कपिलने सब कह दिया। पंडितजी कपिलको एक गृहस्थके पास ले गये। उस गृहस्थने कपिलपर अनुकंपा करके एक विधवा ब्राह्मणीके घर इसे हमेशा भोजन मिलते रहनेकी व्यवस्था कर दी। उससे कपिलकी एक चिन्ता कम हुई।

४७ कपिलमुनि

(२)

जहाँ एक छोटी चिंता कम हुई, वहाँ दूसरी बड़ी जंजाल खड़ी हो गई। भोला कपिल अब युवा हो गया था, और जिस विधवाके घर वह भोजन करने जाता था वह विधवा बाई भी युवती थी। विधवाके साथ उसके घरमें दूसरा कोई आदमी न था। हमेशाकी परस्परकी बातचीतसे दोनोंमें संबंध बढ़ा, और बढ़कर हास्य विनोदरूपमें परिणत हो गया। इस प्रकार होते होते दोनोंमें गाढ़ प्रीति बँधी। कपिल उसमें लुब्ध हो गया। एकांत बहुत अनिष्ट चीज है।

कपिल विद्या प्राप्त करना भूल गया। गृहस्थकी तरफसे मिलने वाले सीदेसे दोनोंका मुश्किलसे निर्वाह होता था; कपड़े लत्तेकी भी बाधा होने लगी। कपिल गृहस्थाश्रम जैसा बना बैठे थे। कुछ भी हो, फिर भी लघुकर्मी जीव होनेसे कपिलको संसारके विशेष प्रपंचकी खबर भी न थी। इसलिये पैसा कैसे पैदा करना इस बातको वह बिचारा जानता भी न था। चंचल स्त्रीने उसे रास्ता बताया कि घबड़ानेसे कुछ न होगा, उपायसे सिद्धि होती है। इस गाँवके राजाका ऐसा नियम है, कि सवेरे सबसे पहले जाकर जो ब्राह्मण उसे आशीर्वाद दे, उसे दो माशे सोना मिलेगा। यदि तुम वहाँ जा सको और पहले आशीर्वाद दे सको तो यह दो माशा सोना मिल सकता है। कपिलने इस बातको स्वीकार की। कपिलने आठ दिनतक धक्के खाये परन्तु समय बीत जानेपर पहुँचनेसे उसे कुछ सफलता न मिलती थी। एक दिन उसने ऐसा निश्चय किया, कि यदि मैं चौकमें सोऊँ तो चिन्ताके कारण उठ बैठूँगा। वह चौकमें सोया। आधी रात बीतनेपर चन्द्रका उदय हुआ। कपिल प्रभात समीप जान मुट्ठी बाँधकर आशीर्वाद देनेके लिये दौड़ते हुए जाने लगा। रक्षपालने उसे चोर जानकर पकड़ लिया। लेनेके देने पड़ गये। प्रभात हुआ, रक्षपालने कपिलको ले जाकर राजाके समक्ष खड़ा किया। कपिल बेसुध जैसा खड़ा रहा। राजाको उसमें चोरके लक्षण दिखाई नहीं दिये। इसलिये राजाने सब वृत्तान्त पूछा। चंद्रके प्रकाशको सूर्यके समान गिननेवालेके भोलेपनपर राजाको दया आई। उसकी दरिद्रताको दूर करनेकी राजाकी इच्छा हुई इसलिये उसने कपिलसे कहा कि यदि आशीर्वादके कारण तुझे इतनी अधिक झंझट करनी पड़ी है तो अब तू अपनी इच्छानुसार माँग ले। मैं तुझे दूँगा। कपिल थोड़ी देर तक मूढ़ जैसा हो गया। इससे राजाने कहा, क्यों विप्र! माँगते क्यों नहीं? कपिलने उत्तर दिया, मेरा मन अभी स्थिर नहीं हुआ, इसलिये क्या माँगूं यह नहीं सूझता। राजाने सामनेके बागमें जाकर वहाँ बैठकर स्वस्थतापूर्वक विचार करके कपिलको माँगनेके लिये कहा। कपिल बागमें जाकर विचार करने बैठा।

उन त्रिशलातनयको मनसे चिंतवन करके, ज्ञान, विवेक और विचारको बढ़ाऊँ; नित्य नौ तत्त्वोंका विशोधन करके अनेक प्रकारके उत्तम उपदेशोंका मुखसे कथन करूँ; जिससे संशयरूपी बीजका मनके भीतर उदय न हो ऐसे जिन भगवान्‌के कथनका सदा अवधारण करूँ। हे रायचन्द्र, सदा मेरा यही मनोरथ है, इसे धारणकर, मोक्ष मिलेगा ॥ २ ॥

४६ कपिलमुनि

(१)

कौसांबी नामकी एक नगरी थी। वहाँके राजदरबारमें राज्यका आभूषणरूप काश्यप नामका एक शास्त्री रहता था। इसकी स्त्रीका नाम नाम श्रीदेवी था। उसके उदरसे कपिल नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। कपिल जब पन्द्रह वर्षका हुआ उस समय उसका पिता परलोक सिधारा। कपिल लाड़ प्यारमें पाले जानेके कारण कोई विशेष विद्वत्ता प्राप्त न कर सका, इसलिये इसके पिताकी जगह किसी दूसरे विद्वान्‌को मिली। काश्यप शास्त्री जो पूँजी कमाकर रख गया था, उसे कमानेमें अशक्त कपिलने खाकर पूरी कर डाली। श्रीदेवी एक दिन घरके द्वारपर खड़ी थीं कि इतनेमें उसने दो चार नौकरों सहित अपने पतिकी शास्त्रीय पदवीपर नियुक्त विद्वान्‌को उधरसे जाता हुआ देखा। बड़े मानसे जाते हुए इस शास्त्रीको देखकर श्रीदेवीको अपनी पूर्वस्थितिका स्मरण हो आया। जिस समय मेरा पति इस पदवीपर था, उस समय मैं कैसा सुख भोगती थी! यह मेरा सुख गया सो गया, परन्तु मेरा पुत्र भी पूरा नहीं पढ़ा। ऐसे विचारमें घूमते घूमते उसकी आँखोंमेंसे पट पट आँसू गिरने लगे। इतनेमें फिरते फिरते वहाँ कपिल आ पहुँचा। श्रीदेवीको रोती हुई देखकर कपिलने रोनेका कारण पूँछा। कपिलके बहुत आग्रहसे श्रीदेवीने जो बात थी वह कह दी। फिर कपिलने कहा, "देख माँ! मैं बुद्धिशाली हूँ, परन्तु मेरी बुद्धिका उपयोग जैसा चाहिये वैसा नहीं हो सका। इसलिये विद्याके बिना मैंने यह पदवी नहीं प्राप्त की। अब तू जहाँ कहे मैं वहाँ जाकर अपनेसे बनती विद्याको सिद्ध करूँ।" श्रीदेवीने खेदसे कहा, "यह तुझसे नहीं हो सकता, अन्यथा आर्यावर्तकी सीमापर स्थित श्रावस्ति नगरीमें इन्द्रदत्त नामका तेरे पिताका मित्र रहता है, वह अनेक विद्यार्थियोंको विद्यादान देता है। यदि तू वहाँ जा सके तो इष्टकी सिद्धि अवश्य हो।" एक दो दिन रुककर सब तैयारी कर 'अस्तु' कहकर कपिलजीने रास्ता पकड़ा।

अवधि बीतनेपर कपिल श्रावस्तीमें शास्त्रीजीके घर आ पहुँचे। उन्होंने प्रणाम करके शास्त्रीजीको अपना इतिहास कह सुनाया। शास्त्रीजीने अपने मित्रके पुत्रको विद्यादान देनेके लिये बहुत आनंद दिखाया; परन्तु कपिलके पास कोई पूँजी न थी, जिससे वह उसमेंसे खाता और अभ्यास कर सकता। इस कारण उसे नगरमें माँगनेके लिये जाना पड़ता था। माँगते माँगते उसे दुपहर हो जाता था, बादमें वह रसोई करता, और भोजन करनेतक साँझ होनेमें कुछ ही देर बाकी रह जाती थी। इस कारण वह

ते त्रिशलातनये मन चिंतवि, ज्ञान, विवेक, विचार वधारुं;
नित्य विशोध करी नव तत्त्वनो, उत्तम बोध अनेक उच्चारुं:
संशयबीज उगे नहीं अंदर; जे जिनना कथनो अवधारुं;
राज्य, सदा मुज एज मनोरथ, धार थशे अपवर्ग, उतारुं ॥२॥

है । इस कारण इसका त्याग करना ही उचित है । सत्य संतोषके समान निरुपाधिक सुख एक भी नहीं । ऐसे विचारते विचारते, तृष्णाके शमन करनेसे उस कपिलके अनेक आवरणोंका क्षय हुआ, उसका अंतःकरण प्रफुल्लित और बहुत विवेकशील हुआ । विवेक विवेकमें ही उत्तम ज्ञानसे वह अपनी आत्माका विचार कर सका । उसने अपूर्व श्रेणी चढ़कर केवलज्ञानको प्राप्त किया ।

तृष्णा कैसी कनिष्ठ वस्तु है ! ज्ञानी ऐसा कहते हैं कि तृष्णा आकाशके समान अनंत है, वह निरंतर नवयौवनमें रहती है । अपनी चाह जितना कुछ मिला कि उससे चाह और भी बढ़ जाती है । संतोष ही कल्पवृक्ष है, और यही प्रत्येक मनोवांछाको पूर्ण करता है ।

४९ तृष्णाकी विचित्रता

(एक गरीबकी बढ़ती हुई तृष्णा)

जिस समय दीनताई थी उस समय ज़मींदारी पानेकी इच्छा हुई, जब ज़मींदारी मिली तो सेठाई पानेकी इच्छा हुई, जब सेठाई प्राप्त हो गई तो मंत्री होनेकी इच्छा हुई, जब मंत्री हुआ तो राजा बननेकी इच्छा हुई । जब राज्य मिला, तो देव बननेकी इच्छा हुई, जब देव हुआ तो महादेव होनेकी इच्छा हुई । अहो रायचन्द्र ! वह यदि महादेव भी हो जाय तो भी तृष्णा तो बढ़ती ही जाती है, मरती नहीं, ऐसा मानो ॥ १ ॥

मुँहपर झुर्रियाँ पड़ गईं, गाल पिचक गये, काली केशकी पट्टियाँ सफ़ेद पड़ गईं; सूँघने, सुनने और देखनेकी शक्तियाँ जाती रहीं, और दाँतोंकी पंक्तियाँ खिर गईं अथवा घिस गईं, कमर टेढ़ी हो गई, हाड़-माँस सूख गये, शरीरका रँग उड़ गया, उठने बैठनेकी शक्ति जाती रही, और चलनेमें हाथमें लकड़ी लेनी पड़ गई । अरे ! रायचन्द्र, इस तरह युवावस्थासे हाथ धो बैठे, परन्तु फिर भी मनसे यह राँड ममता नहीं मरी ॥ २ ॥

करोड़ोंके कर्जका सिरपर डंका बज रहा है, शरीर सूखकर रोगसे रुँध गया है, राजा भी पीड़ा देनेके लिये मौका तक रहा है और पेट भी पूरी तरहसे नहीं भरा जाता । उसपर माता पिता और

---

४९ तृष्णानी विचित्रता

(एक गरीबनी वधती गयेली तृष्णा)

मनहर छंद

हती दीनताई त्यांरे ताकी पटेलाई अने, मळी पटेलाई त्यारे ताकी छे शेठाईने;
सांपडी शेठाई त्यारे ताकी मंत्रिताई अने, आवी मंत्रिताई त्यारे ताकी नृपताईने ।
मळी नृपताई त्यारे ताकी देवताई अने, दीठी देवताई त्यारे ताकी शंकराईने;
अहो ! राजचन्द्र मानो मानो शंकराई मळी, वधे तृष्णाई तोय जाय न मराईने ॥ १ ॥

करोचली पडी दाढी डाचातणो दाट वळ्यो, काळी केशपटी विषे, श्वेतता छवाई गई;
सूंघवुं, सांभळवुं ने, देखवुं ते मांडी वाळ्युं, तेम दांत आवली ते, खरी, के खवाई गई ।
वळी केड वांकी, हाड गयां, अंगरंग गयो, ऊठवानी आय जतां लाकडी लेवाई गई;
अरे ! राजचन्द्र एम, युवानी हराई पण, मनथी न तोय रांड, ममता मराई गई ॥ २ ॥

करोडोना करजना, शिरपर डंका वागे, रोगथी रुंधाई गयुं, शरीर सुकाईने,
पुरपति पण मांहे, पीडवाने ताकी रह्यो, पेट तणी वेठ पण शके न पुराईने ।

४८ कपिलमुनि

(३)

जिसे दो मासा सोना लेनेकी इच्छा थी वह कपिल अब तृष्णाकी तरंगोंमें बह गया। जब उसने पाँच मोहरें माँगनेकी इच्छा की तो उसे विचार आया कि पाँच मोहरोंसे कुछ पूरा नहीं होगा। इसलिये पचीस मोहरें माँगना ठीक है। यह विचार भी बदला। पचीस मोहरोंसे कुछ पूरा वर्ष नहीं कटेगा, इसलिये सौ मोहरें माँगना चाहिये। यह विचार भी बदला। सौ मोहरोंसे दो वर्ष तक वैभव भोगेंगे, फिर दुःखका दुःख ही है। अतएव एक हजार मोहरोंकी याचना करना ठीक है। परन्तु एक हजार मोहरें, बाल-बच्चोंके दो चार खर्च आये, कि खतम हो जायँगी, तो पूरा भी क्या पड़ेगा। इसलिये दस हजार मोहरें माँगना ठीक है, जिससे कि ज़िन्दगी भर भी चिंता न हो। यह भी इच्छा बदली। दस हजार मोहरें खा जानेके बाद फिर पूँजीके बिना रहना पड़ेगा। इसलिये एक लाख मोहरोंकी माँगनी करूँ कि जिसके व्याजमें समस्त वैभवको भोग सकूँ। परन्तु हे जीव! लक्षाधिपति तो बहुत हैं, इसमें मैं प्रसिद्ध कहाँसे हो सकता हूँ। अतएव करोड़ मोहरें माँगना ठीक है, कि जिससे मैं महान् श्रीमन्त कहा जाऊँ। फिर पीछे रंग बदला। महान् श्रीमंतपनेसे भी घरपर अमलदारी नहीं कही जा सकती। इसलिये राजाका आधा राज्य माँगना ठीक है। परन्तु यदि मैं आधा राज्य माँगूगा तो राजा मेरे तुल्य गिना जावेगा और इसके सिवाय मैं उसका याचक भी गिना जाऊँगा। इसलिये माँगना तो फिर समस्त राज्य ही माँगना चाहिये। इस तरह कपिल तृष्णामें डूबा। परन्तु वह था तुच्छ संसारी, इससे फिरसे पीछे लौटा। भला जीव! ऐसी कृतघ्नता क्यों करनी चाहिये कि जो तेरी इच्छानुसार देनेके लिये तत्पर हो, उसका ही राज्य ले लूँ और उसे ही भ्रष्ट करूँ। वास्तवमें देखनेसे तो इसमें अपनी ही भ्रष्टता है। इसलिये आधा राज्य माँगना ठीक है। परन्तु इस उपाधिकी भी मुझे आवश्यकता नहीं। फिर रुपये पैसेकी उपाधि ही क्या है! इसलिये करोड़ लाख छोड़कर सौ दोसौ मोहरें ही माँग लेना ठीक है। जीव! सौ दोसौ मोहरें मिलेंगी तो फिर विषय वैभवमें ही समय चला जायगा, और विद्याभ्यास भी धरा रहेगा। इसलिये अब पाँच मोहरें ले लो, पीछेकी बात पीछे। अरे! पाँच मोहरोंकी भी अभी हालमें अब कोई आवश्यकता नहीं। तू केवल दो मासा सोना लेने आया था उसे ही माँग ले। जीव! यह तो तो बहुत हुई। तृष्णा-समुद्रमें तूने बहुत डुबकियाँ लगाईं। समस्त राज्य माँगनेसे भी जो तृष्णा नहीं बुझती थी उसे केवल संतोष और विवेकसे घटाया तो घटी। यह राजा यदि चक्रवर्ती होता, तो फिर मैं इससे विशेष क्या माँग सकता था और विशेष जबतक न मिलता तबतक मेरी तृष्णा भी शान्त न होती। जबतक तृष्णा शान्त न होती, तबतक मैं सुखी भी न होता। जब इतनेसे यह मेरी तृष्णा शान्त न हुई तो फिर दो मासे सोनेसे कैसे शान्त हो सकती है! कपिलकी आत्मा ठिकाने आई और वह बोला, अब मुझे इस दो मासे सोनेका भी कुछ काम नहीं। दो माससे बढ़कर मैं कितनेतक पहुँच गया! सुख तो संतोषमें ही है। तृष्णा संसार-वृक्षका बीज है। हे जीव! इसकी तुझे क्या आवश्यकता है? विद्या ग्रहण करता हुआ तू विषयमें पड़ गया; विषयमें पड़नेसे इस उपाधिमें पड़ गया; उपाधिके कारण तू अनन्त-तृष्णा समुद्रमें पड़ा। एक उपाधिमेंसे इस संसारमें ऐसी अनन्त उपाधियाँ सहन करनी पड़ती

भी वह उसे नहीं पा सकता। एक पलको व्यर्थ खोना एक भव हार जानेके समान है। यह तत्त्वकी दृष्टिसे सिद्ध है।

५१ विवेकका अर्थ

लघु शिष्य—भगवन्! आप हमें जगह जगह कहते आये हैं कि विवेक महान् श्रेयस्कर है। विवेक अन्धकारमें पड़ी हुई आत्माको पहचाननेके लिये दीपक है। विवेकसे धर्म टिकता है। जहाँ विवेक नहीं वहाँ धर्म नहीं; तो विवेक किसे कहते हैं, यह हमें कहिये।

गुरु—आयुष्मानों! सत्यासत्यको उसके स्वरूपसे समझनेका नाम विवेक है।

लघु शिष्य—सत्यको सत्य, और असत्यको असत्य कहना तो सभी समझते हैं। तो महाराज! क्या इन लोगोंने धर्मके मूलको पा लिया, यह कहा जा सकता है?

गुरु—तुम लोग जो बात कहते हो उसका कोई दृष्टान्त दो।

लघु शिष्य—हम स्वयं कड़ुवेको कड़ुवा ही कहते हैं, मधुरको मधुर कहते हैं, ज़हरको ज़हर और अमृतको अमृत कहते हैं।

गुरु—आयुष्मानों! ये समस्त द्रव्य पदार्थ हैं। परन्तु आत्मामें क्या कड़वास, क्या मिठास, क्या ज़हर और क्या अमृत है? इन भाव पदार्थोंकी क्या इससे परीक्षा हो सकती है?

लघु शिष्य—भगवन्! इस ओर तो हमारा लक्ष्य भी नहीं।

गुरु—इसलिये यही समझना चाहिये कि ज्ञानदर्शनरूप आत्माके सत्यभाव पदार्थको अज्ञान और अदर्शनरूपी असत् वस्तुओंने घेर लिया है। इसमें इतनी अधिक मिश्रता आ गई है कि परीक्षा करना अत्यन्त ही दुर्लभ है। संसारके सुखोंको आत्माके अनंत वार भोगनेपर भी उनमेंसे अभी भी आत्माका मोह नहीं छूटा, और आत्माने उन्हें अमृतके तुल्य गिना, यह अविवेक है। कारण कि संसार कड़ुवा है तथा यह कड़ुवे विपाकको देता है। इसी तरह आत्माने कड़ुवे विपाककी औषध रूप वैराग्यको कड़ुवा गिना यह भी अविवेक है। ज्ञान दर्शन आदि गुणोंको अज्ञानदर्शनने घेरकर जो मिश्रता कर डाली है, उसे पहचानकर भाव-अमृतमें आनेका नाम विवेक है। अब कहो कि विवेक यह कैसी वस्तु सिद्ध हुई।

लघु शिष्य—अहो! विवेक ही धर्मका मूल और धर्मका रक्षक कहलाता है, यह सत्य है। आत्माके स्वरूपको विवेकके विना नहीं पहचान सकते, यह भी सत्य है। ज्ञान, शील, धर्म, तत्त्व और तप ये सब विवेकके विना उदित नहीं होते, यह आपका कहना यथार्थ है। जो विवेकी नहीं, वह अज्ञानी और मंद है। वही पुरुष मतभेद और मिथ्यादर्शनमें लिपटा रहता है। आपकी विवेक-संबंधी शिक्षाका हम निरन्तर मनन करेंगे।

५२ ज्ञानियोंने वैराग्यका उपदेश क्यों दिया?

संसारके स्वरूपके संबंधमें पहले कुछ कहा है। वह तुम्हारे ध्यानमें होगा। ज्ञानियोंने इसे अनंत खेदमय, अनंत दुःखमय, अव्यवस्थित, अस्थिर और अनित्य कहा है। ये विशेषण लगानेके पहले उन्होंने संसारका सम्पूर्ण विचार किया मालूम होता है। अनंत भवका पर्यटन, अनंत कालका अज्ञान, अनंत जीवनका व्याघात, अनंत मरण, और अनंत शोक सहित आत्मा संसार-चक्रमें भ्रमण किया करती है।

स्त्री अनेक प्रकारकी उपाधि मचा रहे हैं, दुःखदायी पुत्र और पुत्री खाऊँ खाऊँ कर रहे हैं। अरे रायचन्द्र! तो भी यह जीव उधेड़ बुन किया ही करता है और इससे तृष्णाको छोड़कर जंजाल नहीं छोड़ी जाती ॥ ३ ॥

नाड़ी क्षीण पड़ गई, अवाचककी तरह पड़ रहा, और जीवन-दीपक निस्तेज पड़ गया। एक भाईने इसे अंतिम अवस्थामें पड़ा देखकर यह कहा, कि अब इस बिचारेकी मिट्टी ठंडी हो जाय तो ठीक है। इतने पर उस बुड्ढेने खीजकर हाथको हिलाकर इशारेसे कहा, कि हे मूर्ख! चुप रह, तेरी चतुराईपर आग लगे। अरे रायचन्द्र! देखो देखो, यह आशाका पाश कैसा है! मरते मरते भी बुड्ढेकी ममता नहीं मरी ॥ ४ ॥

५० प्रमाद

धर्मका अनादर, उन्माद, आलस्य, और कषाय ये सब प्रमादके लक्षण हैं।

भगवान्‌ने उत्तराध्ययनसूत्रमें गौतमसे कहा है, कि हे गौतम! मनुष्यकी आयु कुशकी नोक-पर पड़ी हुई जलके बूंदके समान है। जैसे इस बूंदके गिर पड़नेमें देर नहीं लगती, उसी तरह इस मनुष्य-आयुके बीतनेमें देर नहीं लगती। इस उपदेशकी गाथाकी चौथी कड़ी स्मरणमें अवश्य रखने योग्य है—'**समयं गोयम मा पमायए**'। इस पवित्र वाक्यके दो अर्थ होते हैं। एक तो यह, कि हे गौतम! समय अर्थात् अवसर पाकरके प्रमाद नहीं करना चाहिये; और दूसरा यह कि क्षण क्षणमें बीतते जाते हुए कालके असंख्यातवें भाग अर्थात् एक समयमात्रका भी प्रमाद न करना चाहिये, क्योंकि देह क्षणभंगुर है। काल-शिकारी सिरपर धनुष बाण चढ़ाकर खड़ा है। उसने शिकारको लिया अथवा लेगा बस यही दुविधा हो रही है। वहाँ प्रमाद करनेसे धर्म-कर्तव्य रह जायगा।

अति विचक्षण पुरुष संसारकी सर्वोपाधि त्याग कर दिन रात धर्ममें सावधान रहते हैं, और पलभर भी प्रमाद नहीं करते। विचक्षण पुरुष अहोरात्रके थोड़े भागको भी निरंतर धर्म-कर्तव्यमें बिताते हैं, और अवसर अवसरपर धर्म-कर्तव्य करते रहते हैं। परन्तु मूढ़ पुरुष निद्रा, आहार, मौज, शौक, विकथा तथा राग रंगमें आयु व्यतीत कर डालते हैं। वे इसके परिणाममें अधोगति पाते हैं।

जैसे बने तैसे यतना और उपयोगसे धर्मका साधन करना योग्य है। साठ घड़ीके अहोरात्रमें बीस घड़ी तो हम निद्रामें बिता देते हैं। बाकीकी चालीस घड़ी उपाधि, गप शप, और इधर उधर भटकनेमें बिता देते हैं। इसकी अपेक्षा इस साठ घड़ीके वक्तमेंसे दो चार घड़ी विशुद्ध धर्म-कर्तव्यके लिये उपयोगमें लगावें तो यह आसानीसे हो सकने जैसी बात है। इसका परिणाम भी कैसा सुंदर हो!

पल अमूल्य चीज है। चक्रवर्ती भी यदि एक पल पानेके लिये अपनी सम्पूर्ण ऋद्धि दे दे तो

स्त्रि अने पत्नी ते, मचावे अनेक धंध, पुत्र, पुत्री भाखे खाउं खाउं दुःखदाईने,
अरे! रायचन्द्र तोय जीव झावा दावा करे, जंजाल छंडाय नहीं तजी तृष्णाईने ॥ ३ ॥

थई क्षीण नाडी अवाचक जेवो रह्यो पडी, जीवन दीपक पाम्यो केवळ झांखाईने;
छेल्ली इसे पड्यो भाळी भाईए त्यां एम भाख्युं, हवे टाढी माटी थाय तो तो ठीक भाईने।
हाथने हलावी त्यां तो खीजी बुड्ढे सूचव्युं ए, बोल्या विना बेस बाळ तारी चतुराईने!
अरे रायचन्द्र देखो देखो आशापाश केवो! जतां गई नहीं डोशे ममता मराईने! ॥ ४ ॥

इनका यह धर्मतीर्थ चल रहा है। यह २१,००० वर्ष अर्थात् पंचमकालके पूर्ण होनेतक चलेगा, ऐसा भगवतीसूत्रमें कहा है।

इस कालके दस आश्चर्योंसे युक्त होनेके कारण इस श्रीधर्म-तीर्थके ऊपर अनेक विपत्तियाँ आई हैं, आती हैं, और आवेंगी।

जैन-समुदायमें परस्पर बहुत मतभेद पड़ गये हैं। ये मतभेद परस्पर निंदा-ग्रन्थोंके द्वारा जंजाल फैला बैठे हैं। मध्यस्थ पुरुष मत मतांतरमें न पड़कर विवेक विचारसे जिन भगवान्‌की शिक्षाके मूल तत्त्वपर आते हैं, उत्तम शीलवान मुनियोंपर भक्ति रखते हैं, और सत्य एकाग्रतासे अपनी आत्माका दमन करते हैं।

कालके प्रभावके कारण समय समयपर शासन कुछ न्यूनाधिक रूपमें प्रकाशमें आता है।

'**वक्कजडा य पच्छिमा**' यह उत्तराध्ययनसूत्रका वचन है। इसका भावार्थ यह है कि अंतिम तीर्थंकर (महावीरस्वामी) के शिष्य वक्र और जड़ होंगे। इस कथनकी सत्यताके विषयमें किसीको बोलनेकी गुंजायश नहीं है। हम तत्त्वका कहाँ विचार करते हैं? उत्तम शीलका कहाँ विचार करते हैं? नियमित वक्त धर्ममें कहाँ व्यतीत करते हैं? धर्मतीर्थके उदयके लिये कहाँ लक्ष रखते हैं? लगनसे कहाँ धर्म-तत्त्वकी खोज करते हैं? श्रावक कुलमें जन्म लेनेके कारण ही श्रावक कहे जाते हैं, यह बात हमें भावकी दृष्टिसे मान्य नहीं करनी चाहिये। इसलिये आवश्यक आचार-ज्ञान-खोज अथवा इनमेंसे किसीमें कोई विशेष लक्षण हो, उसे श्रावक मानें तो यह योग्य है। अनेक प्रकारकी द्रव्य आदि सामान्य दया श्रावकके घरमें पैदा होती है और वह इस दयाको पालता भी है, यह बात प्रशंसा करने योग्य है। परन्तु तत्त्वको कोई विरले ही जानते हैं। जाननेकी अपेक्षा बहुत शंका करनेवाले अर्धदग्ध भी हैं; जानकर अहंकार करनेवाले भी हैं। परन्तु जानकर तत्त्वके काँटेमें तोलनेवाले कोई विरले ही हैं। परम्पराकी आम्नायसे केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और परम अवधिज्ञान विच्छेद हो गये। दृष्टिवादका विच्छेद है, और सिद्धान्तका बहुतसा भाग भी विच्छेद हो गया है। केवल थोड़ेसे बचे हुए भागपर सामान्य बुद्धिसे शंका करना योग्य नहीं। जो शंका हो उसे विशेष जाननेवालोंसे पूँछना चाहिये। वहाँसे मनोऽनुकूल उत्तर न मिले तो भी जिनवचनकी श्रद्धामें चल-विचल करना योग्य नहीं, क्योंकि अनेकान्त शैलीके स्वरूपको विरले ही जानते हैं।

भगवान्‌के कथनरूप मणिके घरमें बहुतसे पामर प्राणी दोषरूप छिद्रोंको खोजनेका प्रयत्न करके अधोगतिजनक कर्मोंको बाँधते हैं। हरी वनस्पतिके बदले उसे सुखाकर काममें लेना किसने और किस विचारसे ढूँढ़ निकाला होगा? यह विषय बहुत बड़ा है। यहाँ इस संबंधमें कुछ कहनेकी योग्यता नहीं। तात्पर्य यह है कि हमें अपनी आत्माको सार्थक करनेके लिये मतभेदमें नहीं पड़ना चाहिये।

उत्तम और शांत मुनियोंका समागम, विमल आचार, विवेक, दया, क्षमा आदिका सेवन करना चाहिये। महावीर-तीर्थके लिये हो सके तो विवेकपूर्ण उपदेश भी कारण सहित देना चाहिये। तुच्छ बुद्धिसे शंकित नहीं होना चाहिये। इसमें अपना परम मंगल है, इसे नहीं भूलना चाहिये।

संसारकी दिखती हुई इन्द्रवारणाके समान सुंदर मोहिनीने आत्माको एकदम मोहित कर डाला है। इसके समान सुख आत्माको कहीं भी नहीं मालूम होता। मोहिनीके कारण सत्यसुख और उसका स्वरूप देखनेकी इसने आकांक्षा भी नहीं की। जिस प्रकार पतंगकी दीपकके प्रति मोहिनी है, उसी तरह आत्माकी संसारके प्रति मोहिनी है। ज्ञानी लोग इस संसारको क्षणभर भी सुखरूप नहीं कहते। इस संसारकी तिलभर जगह भी ज़हरके विना नहीं रही। एक सूअरसे लेकर चक्रवर्तीतक भावकी अपेक्षासे समानता है। अर्थात् चक्रवर्तीकी संसारमें जितनी मोहिनी है, उतनी ही बल्कि उससे भी अधिक मोहिनी सूअरकी है। जिस प्रकार चक्रवर्ती समग्र प्रजापर अधिकारका भोग करता है, उसी तरह वह उसकी उपाधि भी भोगता है। सूअरको इसमेंसे कुछ भी भोगना नहीं पड़ता। अधिकारकी अपेक्षा उलटी उपाधि विशेष है। चक्रवर्तीको अपनी पत्नीके प्रति जितना प्रेम होता है, उतना ही अथवा उससे अधिक सूअरको अपनी सूअरनीके प्रति प्रेम रहता है। चक्रवर्ती भोगसे जितना रस लेता है उतना ही रस सूअर भी माने हुए है। चक्रवर्तीके जितनी वैभवकी बहुलता है, उतनी ही उपाधि भी है। सूअरको इसके वैभवके अनुसार ही उपाधि है। दोनों उत्पन्न हुए हैं और दोनोंको मरना है। इस प्रकार सूक्ष्म विचारसे देखनेपर क्षणिकतासे, रोगसे, जरा आदिसे दोनों ग्रसित हैं। द्रव्यसे चक्रवर्ती समर्थ है, महा पुण्यशाली है, मुख्यरूपसे सातावेदनीय भोगता है, और सूअर विचारा असातावेदनीय भोग रहा है। दोनोंके असाता और साता दोनों हैं। परन्तु चक्रवर्ती महा समर्थ है। परन्तु यदि वह जीवनपर्यंत मोहांध रहे तो वह बिलकुल बाजी हार जानेके जैसा काम करता है। सूअरका भी यही हाल है। चक्रवर्तीके शलाकापुरुष होनेके कारण सूअरसे इस रूपमें इसकी बराबरी नहीं, परन्तु स्वरूपकी दृष्टिसे बराबरी है। भोगोंके भोगनेमें दोनों तुच्छ हैं, दोनोंके शरीर राद, माँस आदिके हैं, और असातासे पराधीन हैं। संसारकी यह सर्वोत्तम पदवी ऐसी है; उसमें ऐसा दुःख, ऐसी क्षणिकता, ऐसी तुच्छता, और ऐसा अंधपना है, तो फिर दूसरी जगह सुख कैसे माना जाय? यह सुख नहीं, फिर भी सुख गिनो तो जो सुख भययुक्त और क्षणिक है वह दुःख ही है। अनंत ताप, अनंत शोक, अनंत दुःख देखकर ज्ञानियोंने इस संसारको पीठ दिखाई है, यह सत्य है। इस ओर पीछे लौटकर देखना योग्य नहीं। वहाँ दुःख ही दुःख है। यह दुःखका समुद्र है।

वैराग्य ही अनंत सुखमें ले जाने वाला उत्कृष्ट मार्गदर्शक है।

५३ महावीरशासन

आजकल जो जिन भगवान्का शासन चल रहा है वह भगवान् महावीरका प्रणीत किया हुआ है। भगवान् महावीरको निर्वाण पधारे २४०० वर्षसे ऊपर हो गये। मगध देशके क्षत्रियकुंड नगरमें सिद्धार्थ राजाकी रानी त्रिशलादेवी क्षत्रियाणीकी कोखसे भगवान् महावीरने जन्म लिया था। महावीर भगवान्के बड़े भाईका नाम नन्दिवर्धमान था। उनकी स्त्रीका नाम यशोदा था। वे तीस वर्ष गृहस्थाश्रममें रहे। इन्होंने एकांत विहारमें साढ़े बारह वर्ष एक पक्ष तप आदि सम्यक् आचारसे सम्पूर्ण घनघाति कर्मोंको जलाकर भस्मीभूत किया; अनुपमेय केवलज्ञान और केवलदर्शनको ऋजुबालिका नदीके किनारे प्राप्त किया; कुल लगभग बहत्तर वर्षकी आयुको भोगकर सब कर्मोंको भस्मीभूत कर सिद्धस्वरूपको प्राप्त किया। वर्तमान चौवीसीके ये अन्तिम जिनेश्वर थे।

माता पिताका विनय करके संसारी कामोंमें आत्म-हितका ध्यान न भूल सकें, इस तरह व्यवहारिक कार्योंमें प्रवृत्ति करनी चाहिये।

स्वयं भोजन करनेसे पहले सत्पात्रको दान देनेकी परम आतुरता रखकर वैसा योग मिलनेपर यथोचित प्रवृत्ति करनी चाहिये।

आहार विहार आदिमें नियम सहित प्रवृत्ति करनी चाहिये।

सत् शास्त्रके अभ्यासका नियमित समय रखना चाहिये।

सायंकालमें उपयोगपूर्वक संध्यावश्यक करना चाहिये।

निद्रा नियमितरूपसे लेना चाहिये।

सोनेके पहले अठारह पापस्थानक, बारह व्रतोंके दोष, और सब जीवोंको क्षमाकर, पंचपरमेष्ठी-मंत्रका स्मरणकर समाधिपूर्वक शयन करना चाहिये।

ये सामान्य नियम बहुत मंगलकारी हैं, इन्हें यहाँ संक्षेपमें कहा है। विशेष विचार करनेसे और तदनुसार प्रवृत्ति करनेसे वे विशेष मंगलदायक और आनन्दकारक होंगे।

५६ क्षमापना

हे भगवन्! मैं बहुत भूला, मैंने आपके अमूल्य वचनोंको ध्यानमें नहीं रक्खा। मैंने आपके कहे हुए अनुपम तत्त्वका विचार नहीं किया। आपके द्वारा प्रणीत किये उत्तम शीलका सेवन नहीं किया। आपके कहे हुए दया, शांति, क्षमा और पवित्रताको मैंने नहीं पहचाना। हे भगवन्! मैं भूला, फिरा, भटका, और अनंत संसारकी विटम्बनामें पड़ा हूँ। मैं पापी हूँ। मैं बहुत मदोन्मत्त और कर्म-रजसे मलिन हूँ। हे परमात्मन्! आपके कहे हुए तत्त्वोंके बिना मेरी मोक्ष नहीं होगी। मैं निरंतर प्रपंचमें पड़ा हूँ। अज्ञानसे अंधा हो रहा हूँ; मुझमें विवेक-शक्ति नहीं। मैं मूढ़ हूँ; मैं निराश्रित हूँ; मैं अनाथ हूँ। हे वीतरागी परमात्मन्! अब मैं आपका आपके धर्मका और आपके मुनियोंका शरण लेता हूँ। अपने अपराध क्षय करके मैं उन सब पापोंसे मुक्त होऊँ यही मेरी अभिलाषा है। पहले किये हुए पापोंका मैं अब पश्चात्ताप करता हूँ। जैसे जैसे मैं सूक्ष्म विचारसे गहरा उतरता जाता हूँ, वैसे वैसे आपके तत्त्वके चमत्कार मेरे स्वरूपका प्रकाश करते हैं। आप वीतरागी, निर्विकारी, सच्चिदानंदस्वरूप, सहजानंदी, अनंतज्ञानी, अनंतदर्शी, और त्रैलोक्य-प्रकाशक हैं। मैं केवल अपने हितके लिये आपकी साक्षीमें क्षमा चाहता हूँ। एक पल भी आपके कहे हुए तत्त्वमें शंका न हो, आपके बताये हुए रास्तेमें मैं अहोरात्र रहूँ, यही मेरी आकांक्षा और वृत्ति होओ! हे सर्वज्ञ भगवन्! आपसे मैं विशेष क्या कहूँ! आपसे कुछ अज्ञात नहीं। पश्चात्तापसे मैं कर्मजन्य पापकी क्षमा चाहता हूँ—
ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

५७ वैराग्य धर्मका स्वरूप है

खूनसे रँगा हुआ वस्त्र खूनसे धोये जानेपर उज्ज्वल नहीं हो सकता, परन्तु अधिक रँगा जाता है; यदि इस वस्त्रको पानीसे धोते हैं तो वह मलिनता दूर हो सकती है। इस दृष्टान्तको आत्मापर घटाते हैं। अनादि कालसे आत्मा संसाररूपी खूनसे मलिन है। मलिनता इसके प्रदेश प्रदेशमें व्याप्त हो रही है। इस मलिनताको हम विषय-शृंगारसे दूर करना चाहें तो यह दूर हो नहीं सकती। जि

५४ अशुचि किसे कहते हैं ?

जिज्ञासु—मुझे जैन मुनियोंके आचारकी बात बहुत रुचिकर हुई है। इनके समान किसी भी दर्शनके संतोंका आचार नहीं। चाहे जैसी शीत ऋतुकी ठंड हो उसमें इन्हें अमुक वस्त्रसे ही निभाना पड़ता है, ग्रीष्ममें कितनी ही गरमी पड़नेपर भी ये पैरमें जूता और सिरपर छत्री नहीं लगा सकते। इन्हें गरम रेतीमें आतापना लेनी पड़ती है। ये जीवनपर्यंत गरम पानी पीते हैं। ये गृहस्थके घर नहीं बैठ सकते, शुद्ध ब्रह्मचर्य पालते हैं, फूटी कौड़ी भी पासमें नहीं रख सकते, अयोग्य वचन नहीं बोल सकते, और वाहन नहीं ले सकते। वास्तवमें ऐसे पवित्र आचार ही मोक्षदायक हैं। परन्तु नव बाड़में भगवान्‌ने स्नान करनेका निषेध क्यों किया है, यह बात यथार्थरूपसे मेरी समझमें नहीं बैठती।

सत्य—क्यों नहीं बैठती ?

जिज्ञासु—क्योंकि स्नान न करनेसे अशुचि बढ़ती है।

सत्य—कौनसी अशुचि बढ़ती है ?

जिज्ञासु—शरीर मलिन रहता है।

सत्य—भाई! शरीरकी मलिनताको अशुचि कहना, यह बात कुछ विचारपूर्ण नहीं। शरीर स्वयं किस चीजका बना है, यह तो विचार करो। यह रक्त, पित्त, मल, मूत्र, श्लेष्मका भंडार है। उसपर केवल त्वचा ढँकी हुई है। फिर यह पवित्र कैसे हो सकता है ? फिर साधुओंने ऐसा कौनसा संसार-कर्तव्य किया है कि जिससे उन्हें स्नान करनेकी आवश्यकता हो ?

जिज्ञासु—परन्तु स्नान करनेसे उनकी हानि क्या है ?

सत्य—यह तो स्थूल बुद्धिका ही प्रश्न है। स्नान करनेसे कामाग्निकी प्रदीप्ति, व्रतका भंग, परिणामका बदलना, असंख्यातों जंतुओंका विनाश, यह सब अशुचिता उत्पन्न होती है, और इससे आत्मा महा मलिन होती है, प्रथम इसका विचार करना चाहिये। जीवहिंसासे युक्त शरीरकी जो मलिनता है वह अशुचि है। तत्त्वविचारसे तो ऐसा समझना चाहिये कि दूसरी मलिनताओंसे तो आत्माकी उज्ज्वलता होती है, स्नान करनेसे व्रतभंग होकर आत्मा मलिन होती है, और आत्माकी मलिनता ही अशुचि है।

जिज्ञासु—मुझे आपने बहुत सुंदर कारण बताया। सूक्ष्म विचार करनेसे जिनेश्वरके कथनसे शिक्षा और आनन्द प्राप्त होता है। अच्छा, गृहस्थाश्रमियोंको सांसारिक प्रवृत्तिसे अनियमित शौचादिक क्रियासे युक्त शरीरकी अशुचिता दूर करनी चाहिये कि नहीं ?

सत्य—बुद्धिपूर्वक अशुचिको दूर करना ही चाहिये। जैन दर्शनके समान एक भी पवित्र दर्शन नहीं, वह यथार्थ पवित्रताका बोधक है। परन्तु शौचाशौचका स्वरूप समझ लेना चाहिये।

५५ सामान्य नित्यनियम

प्रभातके पहले जागृत होकर नमस्कारमंत्रका स्मरण करके मन शुद्ध करना चाहिये। पाप-व्यापारकी वृत्ति रोककर रात्रिमें हुए दोषोंका उपयोगपूर्वक प्रतिक्रमण करना चाहिये।

प्रतिक्रमण करनेके बाद यथावसर भगवान्‌की उपासना, स्तुति और स्वाध्यायसे मनको उज्ज्वल करना चाहिये।

प्रकार खूनसे खून नहीं धोया जाता, उसी तरह शृंगारसे विषयजन्य आत्म-मलिनता दूर नहीं हो सकती। यह मानों निश्चयरूप है। इस जगत्में अनेक धर्ममत प्रचलित हैं। उनके संबंधमें निष्पक्षपात होकर विचार करनेपर पहलेसे इतना विचारना आवश्यक है कि जहाँ स्त्रियोंको भोग करनेका उपदेश किया हो, लक्ष्मी-लीलाकी शिक्षा दी हो, रँग, राग, गुलतान और एशो आराम करनेके तत्त्वका प्रतिपादन किया हो, वहाँ अपनी आत्माको सत् शांति नहीं। कारण कि इसे धर्ममत गिना जाय तो समस्त संसार धर्मयुक्त ही है। प्रत्येक गृहस्थका घर इसी योजनासे भरपूर है। बाल-बच्चे, स्त्री, रँग, राग, तानका वहाँ जमघट रहता है, और यदि उस घरको धर्म-मंदिर कहा जाय तो फिर अधर्म-स्थान किसे कहेंगे? और फिर जैसे हम बर्ताव करते हैं, उस तरहके बर्ताव करनेसे बुरा भी क्या है? यदि कोई यह कहे कि उस धर्म-मंदिरमें तो प्रभुकी भक्ति हो सकती है, तो उनके लिये खेदपूर्वक इतना ही उत्तर देना है कि वह परमात्म-तत्त्व और उसकी वैराग्यमय भक्तिको नहीं जानता। चाहे कुछ भी हो, परन्तु हमें अपने मूल विचारपर आना चाहिये। तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिसे आत्मा संसारमें विषय आदिकी मलिनतासे पर्यटन करती है। इस मलिनताका क्षय विशुद्ध भावरूप जलसे होना चाहिये। अर्हतके तत्त्वरूप साबुन और वैराग्यरूपी जलसे उत्तम आचाररूप पत्थरपर आत्म-वस्त्रको धोनेवाले निर्ग्रंथ गुरु ही हैं।

इसमें यदि वैराग्य-जल न हो, तो दूसरी समस्त सामग्री कुछ भी नहीं कर सकती। अतएव वैराग्यको धर्मका स्वरूप कहा जा सकता है। अर्हंत-प्रणीत तत्त्व वैराग्यका ही उपदेश करता है, तो यही धर्मका स्वरूप है, ऐसा जानना चाहिये।

५८ धर्मके मतभेद

(१)

इस जगत्में अनेक प्रकारके धर्मके मत प्रचलित हैं। ऐसे मतभेद अनादिकालसे हैं, यह न्यायसिद्ध है। परन्तु ये मतभेद कुछ कुछ रूपांतर पाते जाते हैं। इस संबंधमें यहाँ कुछ विचार करते हैं।

बहुतसे मतभेद परस्पर मिलते हुए और बहुतसे मतभेद परस्पर विरुद्ध हैं। कितने ही मतभेद केवल नास्तिकोंके द्वारा फैलाये हुए हैं। बहुतसे मत सामान्य नीतिको धर्म कहते हैं, बहुतसे ज्ञानको ही धर्म बताते हैं, कितने ही अज्ञानको ही धर्ममत मानते हैं। कितने ही भक्तिको धर्म कहते हैं, कितने ही क्रियाको धर्म मानते हैं, कितने ही विनयको धर्म कहते हैं, और कितने ही शरीरके सँभा-लनेको ही धर्ममत मानते हैं।

इन धर्ममतोंके स्थापकोंने यह मानकर ऐसा उपदेश किया मालूम होता है कि हम जो कहते हैं, वह सर्वज्ञकी वाणीरूप है, अथवा सत्य है। बाकीके समस्त मत असत्य और कुतर्कवादी हैं; तथा उन मतवादियोंने एक दूसरेका योग्य अथवा अयोग्य खंडन भी किया है। वेदांतके उपदेशक यही उपदेश करते हैं; सांख्यका भी यही उपदेश है; बौद्धका भी यही उपदेश है। न्यायमतवालोंका भी यही उपदेश है; वैशेषिक लोगोंका भी यही उपदेश है; शक्ति-पंथके माननेवाले भी यही उपदेश करते

वेदके सिवाय दूसरे मतोंके प्रवर्तकोंके चरित्र और विचार इत्यादिके जाननेसे वे मत अपूर्ण हैं, ऐसा माल्म हो जाता है। वर्तमानमें जो वेद मौजूद हैं वे बहुत प्राचीन ग्रंथ हैं, इससे इस मतकी प्राचीनता सिद्ध होती है, परन्तु वे भी हिंसासे दूषित होनेके कारण अपूर्ण हैं, और सरागियोंके वाक्य हैं, यह स्पष्ट माल्म हो जाता है।

जिस पूर्ण दर्शनके विषयमें यहाँ कहना है, वह जैन अर्थात् वीतरागीद्वारा स्थापित किये हुए दर्शनके विषयमें है। इसके उपदेशक सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे। काल-भेदके होनेपर भी यह बात सिद्धांतपूर्ण माल्म होती है। दया, ब्रह्मचर्य, शील, विवेक, वैराग्य, ज्ञान, क्रिया आदिको इनके समान पूर्ण किसीने भी वर्णन नहीं किया। इसके साथ शुद्ध आत्मज्ञान, उसकी कोटियाँ, जीवके पतन, जन्म, गति, विग्रहगति, योनिद्वार, प्रदेश, काल उनके स्वरूपके विषयमें ऐसा सूक्ष्म उपदेश दिया गया है कि जिससे उनकी सर्वज्ञतामें शंका नहीं रहती। काल-भेदसे परम्पराम्नायसे केवलज्ञान आदि ज्ञान देखनेमें नहीं आते, फिर भी जो जिनेश्वरके कहे हुए सैद्धांतिक वचन हैं, वे अखंड हैं। उनके कितने ही सिद्धांत इतनेमें सूक्ष्म हैं कि जिनमेंसे एक एकपर भी विचार करनेमें सारी जिन्दगी बीत जाय।

जिनेश्वरके कहे हुए धर्म-तत्त्वोंसे किसी भी प्राणीको लेशमात्र भी खेद उत्पन्न नहीं होता। इसमें सब आत्माओंकी रक्षा और सर्वात्मशक्तिका प्रकाश सन्निहित है। इन भेदोंके पढ़नेसे, समझनेसे और उनपर अत्यन्त सूक्ष्म विचार करनेसे आत्म-शक्ति प्रकाश पाती है और वह जैन दर्शनको सर्वोत्कृष्ट सिद्ध करती है। बहुत मननपूर्वक सब धर्ममतोंको जानकर पीछेसे तुलना करनेवालेको यह कथन अवश्य सत्य माल्म होगा।

निर्दोष दर्शनके मूलतत्त्व और सदोष दर्शनके मूलतत्त्वोंके विषयमें यहाँ विशेष कहनेकी जगह नहीं है।

६१ सुखके विषयमें विचार

(१)

एक ब्राह्मण दरिद्रावस्थासे बहुत पीड़ित था। उसने तंग आकर अंतमें देवकी उपासना करके लक्ष्मी प्राप्त करनेका निश्चय किया। स्वयं विद्वान् होनेके कारण उसने उपासना करनेसे पहले यह विचार किया कि कदाचित् कोई देव तो सतुष्ट होगा ही, परन्तु उस समय उससे क्या सुख माँगना चाहिये? कल्पना करो कि तप करनेके बाद कुछ माँगनेके लिये न सूझ पड़े, अथवा न्यूनाधिक सूझे तो किया हुआ तप भी निरर्थक होगा। इसलिये एक बार समस्त देशमें प्रवास करना चाहिये। संसारके महान् पुरुषोंके धाम, वैभव और सुख देखने चाहिये। ऐसा निश्चयकर वह प्रवासके लिये निकल पड़ा। भारतके जो जो रमणीय, और ऋद्धिवाले शहर थे उन्हें उसने देखा; युक्ति-प्रयुक्तियोंसे राजाधिराजके अंतःपुर, सुख और वैभव देखे, श्रीमन्तोंके महल, कारबार, बाग-बगीचे और कुटुम्ब परिवार देखे; परन्तु इनसे किसी तरह उसका मन न माना। किसीको स्त्रीका दुःख, किसीको पतिका दुःख, किसीको अज्ञानसे दुःख, किसीको प्रियके वियोगका दुःख, किसीको निर्धनताका दुःख, किसीको लक्ष्मीकी उपाधिका दुःख, किसीको शरीरका दुःख, किसीको पुत्रका दुःख, किसीको शत्रुका दुःख, किसीको जड़ताका दुःख, किसीको माँ बापका दुःख, किसीको वैधव्यका दुःख, किसीको कुटुम्बका दुःख, किसीको

उन्होंने सिद्ध करके दिया, उसने कुछ एकान्तपक्षको लिया। भक्ति, विश्वास, नीति, ज्ञान, क्रिया आदि एक पक्षको ही विशेषरूपसे लिया। इस कारण दूसरे माननेयोग्य विषयोंको उन्होंने दूषित सिद्ध किये। फिर जिन विषयोंका उन्होंने वर्णन किया, उन विषयोंको उन्होंने कुछ सम्पूर्ण भावभेदसे जाना न था। परन्तु अपनी बुद्धिके अनुसार उन्होंने बहुत कुछ वर्णन किया। तार्किक सिद्धांत दृष्टांत आदिसे सामान्य बुद्धिवालोंके अथवा जड़ मनुष्योंके आगे उन्होंने सिद्ध कर दिखाया। कीर्ति, लोकहित अथवा भगवान् मनवानेकी आकांक्षा इनमेंसे कोई एक भी इनके मनकी भ्रमणा होनेसे कारण उन्होंने अत्युग्र उद्यम आदिसे विजय पाई। बहुतोंने शृंगार और लोकप्रिय साधनोंसे मनुष्यके मनको हरण किया। दुनिया मोहमें तो वैसे ही डूबी पड़ी है, इसलिये इस इष्टदर्शनसे भेड़रूप होकर उन्होंने प्रसन्न होकर उनका कहना मान लिया। बहुतोंने नीति तथा कुछ वैराग्य आदि गुणोंको देखकर उस कथनको मान्य रक्खा। प्रवर्तककी बुद्धि उन लोगोंकी अपेक्षा विशेष होनेसे उसको पीछेसे भगवानरूप ही मान लिया। बहुतोंने वैराग्यसे धर्ममत फैलाकर पीछेसे बहुतसे सुखशील साधनोंका उपदेश देकर अपने मतकी वृद्धि की। अपना मत स्थापन करनेकी महान् भ्रमणासे और अपनी अपूर्णता इत्यादि किसी भी कारणसे उन्हें दूसरेका कहा हुआ अच्छा नहीं लगा इसलिये उन्होंने एक जुदा ही मार्ग निकाला। इस प्रकार अनेक मतमतांतरोंकी जाल उत्पन्न होती गई। चार पाँच पीढ़ियोंतक किसीका एक धर्ममत रहा, पीछेसे वही कुलधर्म हो गया। इस प्रकार जगह जगह होता गया।

६० धर्मके मतभेद

(३)

यदि एक दर्शन पूर्ण और सत्य न हो तो दूसरे धर्ममतको अपूर्ण और असत्य किसी प्रमाणसे नहीं कहा जा सकता। इस कारण जो एक दर्शन पूर्ण और सत्य है, उसके तत्त्व प्रमाणसे दूसरे मतोंकी अपूर्णता और एकान्तिकता देखनी चाहिये।

इन दूसरे धर्ममतोंमें तत्त्वज्ञान यथार्थ सूक्ष्म विचार नहीं है। कितने ही जगत्कर्ताका उपदेश करते हैं, परन्तु जगत्कर्ता प्रमाणसे सिद्ध नहीं हो सकता। बहुतसे ज्ञानसे मोक्ष होना है, ऐसा मानते हैं, वे एकांतिक हैं। इसी तरह क्रियासे मोक्ष होता है, ऐसा कहनेवाले भी एकांतिक हैं। ज्ञान और क्रिया इन दोनोंसे मोक्ष माननेवाले उसके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते और वे इन दोनोंके भेदको श्रेणीबद्ध नहीं कह सके इसीसे इनकी सर्वज्ञताकी कमी दिखाई दे जाती है। ये धर्ममतोंके स्थापक सर्वज्ञतत्त्वमें कहे हुए अठारह दूषणोंसे रहित न थे, ऐसा इनके उपदेश किये हुए शास्त्र अथवा चरित्रोंपरसे भी तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर दिखाई देता है। कई एक मतोंमें हिंसा, अब्रह्मचर्य इत्यादि अपवित्र आचरणका उपदेश है, वे तो स्वभावतः अपूर्ण और सरागीके स्थापित किये हुए दिखाई देते हैं। इनमेंसे किसीने सर्वव्यापक मोक्ष, किसीने शून्यरूप मोक्ष, किसीने साकार मोक्ष और किसीने कुछ कालतक रहकर पतित होनेरूप मोक्ष माना है। परन्तु इनमेंसे कोई भी बात उनकी सप्रमाण सिद्ध नहीं हो सकती। निष्पक्षी तत्त्ववेत्ताओंने इनके विचारोंका अपूर्णपना दिखाया है, वह यथास्थित जानना उचित है।

इसलिये मैं यहाँ आया, और मैंने संतोष भी पाया। आपके समान ऋद्धि, सत्पुत्र, कमाई, स्त्री, कुटुम्ब, घर आदि मेरे देखनेमें कहीं भी नहीं आये। आप स्वयं भी धर्मशील, सद्गुणी और जिनेश्वरके उत्तम उपासक हैं। इससे मैं यह मानता हूँ कि आपके समान सुख और कहीं भी नहीं है। भारतमें आप विशेष सुखी है। उपासना करके कभी देवसे याचना करूँगा तो आपके समान ही सुख-स्थितिकी याचना करूँगा।

धनाढ्य—पंडितजी! आप एक बहुत मर्मपूर्ण विचारसे निकले हैं, अतएव आपको अवश्य यथार्थ स्वानुभवकी बात कहता हूँ। फिर जैसी आपकी इच्छा हो वैसे करें। मेरे घर आपने जो सुख देखा वह सब सुख भारतमें कहीं भी नहीं, ऐसा आप कहते हैं तो ऐसा ही होगा। परन्तु वास्तवमें यह मुझे संभव नहीं मालूम होता। मेरा सिद्धांत ऐसा है कि जगत्में किसी स्थलमें भी वास्तविक सुख नहीं है। जगत् दुःखसे जल रहा है। आप मुझे सुखी देखते हैं परन्तु वास्तविक रीतिसे मैं सुखी नहीं।

विप्र—आपका यह कहना कुछ अनुभवसिद्ध और मार्मिक होगा। मैंने अनेक शास्त्र देखे हैं, परन्तु इस प्रकारके मर्मपूर्वक विचार ध्यानमें लेनेका परिश्रम ही नहीं उठाया। तथा मुझे ऐसा अनुभव सबके लिये नहीं हुआ। अब आपको क्या दुःख है, वह मुझसे कहिये।

धनाढ्य—पंडितजी! आपकी इच्छा है तो मैं कहता हूँ। वह ध्यानपूर्वक मनन करने योग्य है और इसपरसे कोई रास्ता ढूँढ़ा जा सकता है।

६३ सुखके विषयमें विचार

(३)

जैसे स्थिति आप मेरी इस समय देख रहे हैं वैसी स्थिति लक्ष्मी, कुटुम्ब और स्त्रीके संबंधमें मेरी पहले भी थी। जिस समयकी मैं बात कहता हूँ, उस समयको लगभग बीस बरस हो गये। व्यापार और वैभवकी बहुलता, यह सब कारबार उलटा होनेसे घटने लगा। करोड़पति कहानेवाला मैं एकके बाद एक हानियोंके भार-वहन करनेसे केवल तीन वर्षमें धनहीन हो गया। जहाँ निश्चयसे सीधा दाव समझकर लगाया था वहाँ उलटा दाव पड़ा। इतनेमें मेरी स्त्री भी गुजर गई। उस समय मेरे कोई सन्तान न थी। ज़बर्दस्त नुकसानोंके मारे मुझे यहाँसे निकल जाना पड़ा। मेरे कुटुम्बियोंने यथाशक्ति रक्षा की, परन्तु वह आकाश फटनेपर थेगरा लगाने जैसा था। अन्न और दाँतोंके वैर होनेकी स्थितिमें मैं बहुत आगे निकल पड़ा। जब मैं यहाँसे निकला तो मेरे कुटुम्बी लोग मुझे रोककर रखने लगे, और कहने लगे कि तूने गाँवका दरवाजा भी नहीं देखा, इसलिये हम तुझे नहीं जाने देंगे। तेरा कोमल शरीर कुछ भी नहीं कर सकता; और यदि तू वहाँ जाकर सुखी होगा तो फिर आवेगा भी नहीं, इसलिये इस विचारको तुझे छोड़ देना चाहिये। मैंने उन्हें बहुत तरहसे समझाया कि यदि मैं अच्छी स्थितिको प्राप्त करूँगा तो मैं अवश्य यहाँ आऊँगा—ऐसा वचन देकर मैं जावाबंदरकी यात्रा करने निकल पड़ा।

प्रारब्धके पीछे लौटनेकी तैयारी हुई। दैवयोगसे मेरे पास एक दमड़ी भी नहीं रह गई थी। एक दो महीने उदर-पोषण चलानेका साधन भी नहीं रहा था। फिर भी मैं जावामें गया। वहाँ मेरी बुद्धिने प्रारब्धको खिला दिया। जिस जहाजमें मैं बैठा था उस जहाजके नाविकने मेरी चंचलता और

किसीको पुत्रका दुःख, किसीको प्रीतिका दुःख, किसीको ईर्ष्याका दुःख, किसीको हानिका दुःख, इस प्रकार एक दो अधिक अथवा सभी दुःख स्थान स्थान पर उस विप्रके देखनेमें आये। इस कारण इसका मन किसी भी स्थानमें नहीं माना। जहाँ देखे वहाँ दुःख तो था ही। किसी जगह भी सम्पूर्ण सुख उसके देखनेमें नहीं आया। तो फिर क्या माँगना चाहिये! ऐसा विचारते विचारते वह एक महाधनाढ्यकी प्रशंसा सुनकर द्वारिका आया। उसे द्वारिका महा ऋद्धिवान, वैभवयुक्त, बाग-बगीचोंसे सुशोभित और बस्तीसे भरपूर शहर लगा। सुंदर और भव्य महलोंको देखते हुए और पूछते पूछते वह उस महाधनाढ्यके घर गया। श्रीमन्त बैठकखानेमें बैठा था। उसने अतिथि जानकर ब्राह्मणका सन्मान किया, कुशलता पूछी, और उसके लिये भोजनकी व्यवस्था कराई। थोड़ी देरके बाद धीरजसे सेठने ब्राह्मणसे पूछा, आपके आगमनका कारण यदि मुझे कहने योग्य हो तो कहिये। ब्राह्मणने कहा, अभी आप क्षमा करें। पहले आपको अपने सब तरहके वैभव, धाम, बाग-बगीचे इत्यादि मुझे दिखाने पड़ेंगे। इनको देखनेके बाद मैं अपने आगमनका कारण कहूँगा। सेठने इसका कुछ मर्मरूप कारण जानकर कहा, आप आनन्दपूर्वक अपनी इच्छानुसार करें। भोजनके बाद ब्राह्मणने सेठको स्वयं साथमें चलकर धाम आदि बतानेकी प्रार्थना की। धनाढ्यने उसे स्वीकार की और स्वयं साथ जाकर बाग-बगीचा, धाम, वैभव सब दिखाये। वहाँ सेठकी स्त्री और पुत्रोंको भी ब्राह्मणने देखा। उन्होंने योग्यतापूर्वक उस ब्राह्मणका सत्कार किया। इनके रूप, विनय और स्वच्छता देखकर और उनकी मधुरवाणी सुनकर ब्राह्मण प्रसन्न हुआ। तत्पश्चात् उसने उसकी दुकानका कारबार देखा। वहाँ सौ-एक कारबारियोंको बैठे हुए देखा। उस ब्राह्मणने उन्हें भी सहृदय, विनयी और नम्र पाया। इससे वह बहुत संतुष्ट हुआ। इसके मनको यहाँ कुछ संतोष मिला। सुखी तो जगत्‌में यही मालूम होता है, ऐसा उसे मालूम हुआ।

६२ सुखके विषयमें विचार

(२)

कैसा सुन्दर इसका घर है! कैसी सुन्दर इसकी स्वच्छता और व्यवस्था है! कैसी चतुर और मनोज्ञ उसकी सुशील स्त्री है! कैसे कांतिमान और आज्ञाकारी उसके पुत्र हैं! कैसा प्रेमसे रहनेवाला उसका कुटुम्ब है! लक्ष्मीकी कृपा भी इसके घर कैसी है! समस्त भारतमें इसके समान दूसरा कोई सुखी नहीं। अब तप करके यदि मैं कुछ माँगू तो इस महाधनाढ्य जितना ही सब कुछ माँगूगा, दूसरी इच्छा नहीं करूँगा।

दिन बीत गया और रात्रि हुई। सोनेका समय हुआ। धनाढ्य और ब्राह्मण एकांतमें बैठे थे। धनाढ्यने विप्रसे अपने आगमनका कारण कहनेकी प्रार्थना की।

विप्र—मैं घरसे यह विचार करके निकला था कि जो सबसे अधिक सुखी हो उसे देखूँ, और तप करके फिर उसके समान सुख सम्पादन करूँ। मैंने समस्त भारत और उसके समस्त रमणीय स्थलोंको देखा, परन्तु किसी राजाधिराजके घर भी मुझे सम्पूर्ण सुख देखनेमें नहीं आया। जहाँ देखा वहाँ आधि, व्याधि, और उपाधि ही देखनेमें आई। आपकी ओर आते हुए मैंने आपकी प्रशंसा सुनी,

ध्यानमें व्यतीत होता है, और जो स्वाध्याय एवं ध्यानमें लीन हैं, ऐसे जितेन्द्रिय और जितकषाय वे निर्ग्रंथ परम सुखी हैं।

जिन्होंने सब घनघाती कर्मोंका क्षय किया है, जिनके चार अघाती-कर्म कृश पड़ गये हैं, जो मुक्त हैं, जो अनंतज्ञानी और अनंतदर्शी हैं वे ही सम्पूर्ण सुखी हैं। वे मोक्षमें अनंत जीवनके अनंत सुखमें सर्व कर्मसे विरक्त होकर विराजते हैं।

इस प्रकार सत्पुरुषोंद्वारा कहा हुआ मत मुझे मान्य है। पहला तो मुझे त्याज्य है। दूसरा अभी मान्य है, और बहुत अंशमें इसे ग्रहण करनेका मेरा उपदेश है। तीसरा बहुत मान्य है, और चौथा तो सर्वमान्य और सच्चिदानन्द स्वरूप है।

इस प्रकार पंडितजी आपकी और मेरी सुखके संबंधमें बातचीत हुई। ज्यों ज्यों प्रसंग मिलते जायँगे त्यों त्यों इन वातोंपर चर्चा और विचार करते जायँगे। इन विचारोंके आपसे कहनेसे मुझे बहुत आनन्द हुआ है। आप ऐसे विचारोंके अनुकूल हुए हैं इससे और भी आनन्दमें वृद्धि हुई है। इस तरह परस्पर बातचीत करते करते वे हर्षके साथ समाधि-भावसे सो गये।

जो विवेकी इस सुखके विषयपर विचार करेंगे वे बहुत तत्त्व और आत्मश्रेणीकी उत्कृष्टताको प्राप्त करेंगे। इसमें कहे हुए अल्पारंभी, निरारंभी और सर्वमुक्तके लक्षण ध्यानपूर्वक मनन करने योग्य हैं। जैसे बने तैसे अल्पारंभी होकर समभावसे जन-समुदायके हितकी ओर लगना; परोपकार, दया, शान्ति, क्षमा और पवित्रताका सेवन करना यह बहुत सुखदायक है। निर्ग्रंथताके विषयमें तो विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं। मुक्तात्मा अनंत सुखमय ही है।

६७ अमूल्य तत्त्वविचार

हरिगीत छंद

बहुत पुण्यके पुंजसे इस शुभ-मानव देहकी प्राप्ति हुई; तो भी अरे रे! भव-चक्रका एक भी चक्कर दूर नहीं हुआ। सुखको प्राप्त करनेसे सुख दूर होता जाता है, इसे ज़रा अपने ध्यानमें लो। अहो! इस क्षण क्षणमें होनेवाले भयंकर भाव-मरणमें तुम क्यों लवलीन हो रहे हो? ॥ १ ॥

यदि तुम्हारी लक्ष्मी और सत्ता बढ़ गई, तो कहो तो सही कि तुम्हारा बढ़ ही क्या गया? क्या कुटुम्ब और परिवारके बढ़नेसे तुम अपनी बढ़ती मानते हो? हर्गिज़ ऐसा मत मानो; क्योंकि संसारका बढ़ना मानों मनुष्य देहको हार जाना है। अहो! इसका तुमको एक पलभर भी विचार नहीं होता! ॥२॥

६७ अमूल्य तत्त्वविचार

हरिगीत छंद

बहु पुण्यकेरा पुंजथी शुभ देह मानवनो मळ्यो,
तोये अरे! भवचक्रनो आंटो नहि एकके टळ्यो,
सुख प्राप्त करतां सुख टळे छे लेश ए लक्षे लहो;
क्षण क्षण भयंकर भावमरणे का अहो राची रहो? ॥ १ ॥
लक्ष्मी अने अधिकार वधतां, शुं वध्युं ते तो कहो?
शुं कुटुंब के परिवारथी वधवापणुं, ए नय ग्रहो,
वधवापणुं संसारनुं नर देहने हारी जवो,
एनो विचार नहीं अहो हो! एक पळ तमने हवो!!! ॥ २ ॥

मनसे इन्द्रियोंकी लोलुपता है। भोजन, वादित्र, सुगंधी, स्त्रीका निरीक्षण, सुंदर विलेपन यह सब मन ही माँगता है। इस मोहिनीके कारण यह धर्मकी याद भी नहीं आने देता। याद आनेके पीछे सावधान नहीं होने देता। सावधान होनेके बाद पतित करनेमें प्रवृत्त होता है। इसमें जब सफल नहीं होता तब सावधानीमें कुछ न्यूनता पहुँचाता है। जो इस न्यूनताको भी न प्राप्त होकर अडग रहकर उस मनको जीतते हैं, वे सर्वथा सिद्धिको पाते हैं।

मनको कोई ही अकस्मात् जीत सकता है, नहीं तो यह गृहस्थाश्रममें अभ्यास करके जीता जाता है। यह अभ्यास निर्ग्रंथतामें बहुत हो सकता है। फिर भी यदि कोई सामान्य परिचय करना चाहे तो उसका मुख्य मार्ग यही है कि मन जो दुरिच्छा करे, उसे भूल जाना, और वैसा नहीं करना। जब मन शब्द, स्पर्श आदि विलासकी इच्छा करे तब उसे नहीं देना। संक्षेपमें हमें इससे प्रेरित न होना चाहिये परन्तु इसे प्रेरित करना चाहिये। मनको मोक्ष-मार्गके चिन्तनमें लगाना चाहिये। जितेन्द्रियता बिना सब प्रकारकी उपाधियाँ खड़ी ही रहती हैं, त्याग अत्यागके समान हो जाता है; लोकलज्जासे उसे निबाहना पड़ता है। अतएव अभ्यास करके भी मनको स्वाधीनतामें लाकर अवश्य आत्महित करना चाहिये।

६९ ब्रह्मचर्यकी नौ वाडें

ज्ञानी लोगोंने थोड़े शब्दोंमें कैसे भेद और कैसा स्वरूप बताया है ! इससे कितनी अधिक आत्मोन्नति होती है ! ब्रह्मचर्य जैसे गंभीर विषयका स्वरूप संक्षेपमें अत्यन्त चमत्कारिक रीतिसे कह दिया है। ब्रह्मचर्यको एक सुंदर वृक्ष और उसकी रक्षा करनेवाली नव विधियोंको उसकी बाड़का रूप देकर जिससे आचार पालनेमें विशेष स्मृति रह सके ऐसी सरलता कर दी है। इन नौ बाड़ोंको यथार्थरूपसे यहाँ कहता हूँ।

१ वसति—ब्रह्मचारी साधुको स्त्री, पशु अथवा नपुंसकसे संयुक्त स्थानमें नहीं रहना चाहिये। स्त्रियाँ दो प्रकारकी हैं:—मनुष्यिणी और देवांगना। इनमें प्रत्येकके फिर दो दो भेद हैं। एक तो मूल, और दूसरा स्त्रीकी मूर्ति अथवा चित्र। इनमेंसे जहाँ किसी भी प्रकारकी स्त्री हो, वहाँ ब्रह्मचारी साधुको न रहना चाहिये, क्योंकि ये विकारके हेतु हैं। पशुका अर्थ तिर्यंचिणी होता है। जिस स्थानमें गाय, भैंस इत्यादि हों उस स्थानमें नहीं रहना चाहिये। तथा जहाँ पंडग अर्थात् नपुंसकका वास हो वहाँ भी नहीं रहना चाहिये। इस प्रकारका वास ब्रह्मचर्यकी हानि करता है। उनकी कामचेष्टा, हाव, भाव इत्यादि विकार मनको भ्रष्ट करते हैं।

२ कथा—केवल अकेली स्त्रियोंको ही अथवा एक ही स्त्रीको ब्रह्मचारीको धर्मोपदेश नहीं करना चाहिये। कथा मोहकी उत्पत्ति रूप है; ब्रह्मचारीको स्त्रीके रूप, कामविलाससंबंधी ग्रन्थोंको नहीं पढ़ना चाहिये, तथा जिससे चित्त चलायमान हो ऐसी किसी भी तरहकी शृंगारसंबंधी बातचीत ब्रह्मचारीको नहीं करनी चाहिये।

३ आसन—स्त्रियोंके साथ एक आसनपर न बैठना चाहिये तथा जिस जगह स्त्री बैठ चुकी हो उस स्थानमें दो घड़ीतक ब्रह्मचारीको नहीं बैठना चाहिये। यह स्त्रियोंकी स्मृतिका कारण है। इससे विकारकी उत्पत्ति होती है, ऐसा भगवान्ने कहा है।

निर्दोष सुख और निर्दोष आनन्दको, जहाँ कहींसे भी वह मिल सके वहींसे प्राप्त करो जिससे कि यह दिव्यशक्तिमान आत्मा जंजीरोंसे निकल सके। इस बातकी सदा मुझे दया है कि परवस्तुमें मोह नहीं करना। जिसके अन्तमें दुःख है उसे सुख कहना, यह त्यागने योग्य सिद्धांत है ॥ ३ ॥

मैं कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ, मेरा सच्चा स्वरूप क्या है, यह संबंध किस कारणसे हुआ है, उसे रक्खूँ या छोड़ दूँ? यदि इन बातोंका विवेकपूर्वक शांत भावसे विचार किया तो आत्मज्ञानके सब सिद्धांत-तत्त्व अनुभवमें आ गये ॥ ४ ॥

यह सब प्राप्त करनेके लिये किसके वचनको सम्पूर्ण सत्य मानना चाहिये? यह जिसने अनुभव किया है ऐसे निर्दोष पुरुषका कथन मानना चाहिये। अरे, आत्माका उद्धार करो, आत्माका उद्धार करो, इसे शीघ्र पहचानो, और सब आत्माओंमें समदृष्टि रक्खो, इस वचनको हृदयमें धारण करो ॥५॥

६८ जितेन्द्रियता

जबतक जीभ स्वादिष्ट भोजन चाहती है, जबतक नासिकाको सुगंध अच्छी लगती है, जबतक कान वारांगना आदिके गायन और वादित्र चाहता है, जबतक आँख वनोपवन देखनेका लक्ष रखती है, जबतक त्वचाको सुगंधिलेपन अच्छा लगता है, तबतक मनुष्य निरागी, निर्ग्रंथ, निष्परिग्रही, निरारंभी, और ब्रह्मचारी नहीं हो सकता। मनको वशमें करना यह सर्वोत्तम है। इसके द्वारा सब इन्द्रियाँ वशमें की जा सकती हैं। मनको जीतना बहुत दुर्घट है। मन एक समयमें असंख्यातों योजन चलनेवाले अश्वके समान है। इसको थकाना बहुत कठिन है। इसकी गति चपल और पकड़में न आनेवाली है। महा ज्ञानियोंने ज्ञानरूपी लगामसे इसको वशमें रखकर सबको जीत लिया है।

उत्तराध्ययनसूत्रमें नमिराज महर्षिने शक्रेन्द्रसे ऐसा कहा है कि दसलाख सुभटोंको जीतनेवाले बहुतसे पड़े हैं, परंतु अपनी आत्माको जीतनेवाले बहुत ही दुर्लभ हैं, और वे दसलाख सुभटोंको जीतनेवालोंकी अपेक्षा अत्युत्तम हैं।

मन ही सर्वोपाधिकी जन्मदाता भूमिका है। मन ही बंध और मोक्षका कारण है। मन ही सब संसारकी मोहिनीरूप है। इसको वश कर लेनेपर आत्म-स्वरूपको पा जाना लेशमात्र भी कठिन नहीं है।

निर्दोष सुख निर्दोष आनंद, ल्यो गमे त्यांथी भले,
ए दिव्यशक्तिमान जेथी जंजीरेथी नीकळे;
परवस्तुमां नहि मूंझवो, एनी दया मुजने रही,
ए त्यागवा सिद्धांत के पश्चातदुःख ते सुख नहीं ॥ ३ ॥

हुं कोण छुं ? क्यांथी थयो ? शुं स्वरूप छे मारुं खरुं ?
कोना संबंधे वळगणा छे ? राखुं के ए परिहरुं ?
एना विचार विवेकपूर्वक शांत भावे जो कर्या,
तो सर्व आत्मिकज्ञानना सिद्धांततत्त्व अनुभव्यां ॥ ४ ॥

ते प्राप्त करवा वचन कोनुं सत्य केवळ मानवुं ?
निर्दोष नरनुं कथन मानो तेह जेणे अनुभव्युं ।
रे ! आत्म तारो ! आत्म तारो ! शीघ्र एने ओळखो;
सर्वात्ममां समदृष्टि द्यो आ वचनने हृदये लखो ॥ ५ ॥

४ इन्द्रियनिरीक्षण—ब्रह्मचारी साधुओंको स्त्रियोंके अंगोपांग ध्यानपूर्वक अथवा दृष्टि गड़ा-गड़ाकर न देखने चाहिये। इनके किसी अंगपर दृष्टि एकाग्र होनेसे विकारकी उत्पत्ति होती है।

५ कुड्यांतर—भीत, कनात या टाटका अंतरपट रखकर जहाँ स्त्री-पुरुष मैथुन करते हों वहाँ ब्रह्मचारीको नहीं रहना चाहिये, क्योंकि शब्द, चेष्टा आदि विकारके कारण हैं।

६ पूर्वक्रीड़ा—स्वयं ब्रह्मचारी साधुने गृहस्थावासमें किसी भी प्रकारकी शृंगारपूर्ण विषय-क्रीड़ाकी हो तो उसकी स्मृति न करनी चाहिये। ऐसा करनेसे ब्रह्मचर्य भंग होता है।

७ प्रणीत—दूध, दही, घृत आदि मधुर और सचिकण पदार्थोंका बहुधा आहार न करना चाहिये। इससे वीर्यकी वृद्धि और उन्माद पैदा होते हैं और उनसे कामकी उत्पत्ति होती है। इसलिये ब्रह्मचारियोंको इनका सेवन नहीं करना चाहिये।

८ अतिमात्राहार—पेट भरकर मात्रासे अधिक भोजन नहीं करना चाहिये। तथा जिससे अतिमात्राकी उत्पत्ति हो ऐसा नहीं करना चाहिये। इससे भी विकार बढ़ता है।

९ विभूषण—ब्रह्मचारीको स्नान, विलेपन करना, तथा पुष्प आदिका ग्रहण नहीं करना चाहिये। इससे ब्रह्मचर्यकी हानि होती है।

इस प्रकार विशुद्ध ब्रह्मचर्यके लिये भगवान्ने नौ वाड़ें कही हैं। बहुत करके ये तुम्हारे सुननेमें आई होंगी। परन्तु गृहस्थावासमें अमुक अमुक दिन ब्रह्मचर्य धारण करनेमें अभ्यासियोंके लक्ष्यमें रहनेके लिये यहाँ कुछ समझाकर कहा है।

७० सनत्कुमार

(१)

चक्रवर्तीके वैभवमें क्या कमी हो सकती है? सनत्कुमार चक्रवर्ती था। उसका वर्ण और रूप अत्युत्तम था। एक समय सुधर्मासभामें उसके रूपकी प्रशंसा हुई। किन्हीं दो देवोंको यह बात अच्छी न लगी। बादमें वे दोनों देव शंका-निवारण करनेके लिये विप्रके रूपमें सनत्कुमारके अंतः-पुरमें गये। सनत्कुमारके शरीरपर उस समय उबटन लगा हुआ था। उसके अंगमर्दन आदि पदार्थोंका सब जगह विलेपन हो रहा था। वह एक छोटासा पंचा पहने हुआ था और वह स्नान-मज्जन करनेको बैठा था। विप्रके रूपमें आये हुए देवताओंको उसका मनोहर मुख, कंचन वर्णकी काया, और चन्द्र जैसी कांति देखकर बहुत आनन्द हुआ और उन्होंने सिर हिलाया। यह देखकर चक्रवर्तीने पूछा, तुमने सिर क्यों हिलाया? देवोंने कहा हम आपके रूप और वर्णको देखनेके लिये बहुत अभिलाषी थे। हमने जगह जगह आपके रूप और वर्णकी प्रशंसा सुनी थी। आज हमने उसे प्रत्यक्ष देखा, जिससे हमें पूर्ण आनन्द हुआ। सिर हिलानेका कारण यह है कि जैसा लोगोंने कहा जाता है वैसा ही आपका रूप है। उससे अधिक ही है परन्तु कम नहीं। सनत्कुमार अपने रूप और वर्णकी स्तुति सुनकर प्रभुत्वमें आकर बोला कि तुमने इस समय मेरा रूप देखा सो ठीक, परन्तु जिस समय मैं राजसभामें वस्त्रालंकार धारणकर सम्पूर्णरूपसे सज्ज होकर सिंहासनपर बैठता हूँ उस समय मेरा रूप और वर्ण और भी देखने योग्य होता है। अभी तो मैं शरीरमें उबटन लगाकर बैठा हूँ। यदि उस

२७ हमेशा आत्मचरित्रमें सूक्ष्म उपयोगसे लगे रहना।

२८ जितेन्द्रियताके लिये एकाग्रतापूर्वक ध्यान करना।

२९ मृत्युके दुःखसे भी भयभीत नहीं होना।

३० स्त्रियों आदिके संगको छोड़ना।

३१ प्रायश्चित्तसे विशुद्धि करनी।

३२ मरणकालमें आराधना करनी।

ये एक एक योग अमूल्य हैं। इन सबका संग्रह करनेवाला अंतमें अनंत सुखको पाता है।

७३ मोक्षसुख

इस पृथिवीमंडलपर कुछ ऐसी वस्तुयें और मनकी इच्छायें हैं जिन्हें कुछ अंशमें जाननेपर भी कहा नहीं जा सकता। फिर भी ये वस्तुयें कुछ संपूर्ण शाश्वत अथवा अनंत रहस्यपूर्ण नहीं हैं। जब ऐसी वस्तुका वर्णन नहीं हो सकता तो फिर अनंत सुखमय मोक्षकी तो उपमा कहाँसे मिल सकती है! भगवान्से गौतमस्वामीने मोक्षके अनंत सुखके विषयमें प्रश्न किया तो भगवान्ने उत्तरमें कहा, गौतम! इस अनंत सुखको मैं जानता हूँ, परन्तु जिससे उसकी समता दी जा सके, ऐसी यहाँ कोई उपमा नहीं। जगत्में इस सुखके तुल्य कोई भी वस्तु अथवा सुख नहीं, ऐसा कहकर उन्होंने निम्नरूपसे एक भीलका दृष्टांत दिया था।

किसी जंगलमें एक भोलाभाला भील अपने बाल-बच्चों सहित रहता था। शहर वगैरहकी समृद्धिकी उपाधिका उसे लेशभर भी भान न था। एक दिन कोई राजा अश्वक्रीड़ाके लिये फिरता फिरता वहाँ आ निकला। उसे बहुत प्यास लगी थी। राजाने इशारेसे भीलसे पानी माँगा। भीलने पानी दिया। शीतल जल पीकर राजा संतुष्ट हुआ। अपनेको भीलकी तरफसे मिले हुए अमूल्य जल-दानका बदला चुकानेके लिये भीलको समझाकर राजाने उसे साथ लिया। नगरमें आनेके पश्चात् राजाने भीलको उसकी जिन्दगीमें नहीं देखी हुई वस्तुओंमें रक्खा। सुंदर महल, पासमें अनेक अनुचर, मनोहर छत्र पलंग, स्वादिष्ट भोजन, मंद मंद पवन और सुगंधी विलेपनसे उसे आनंद आनंद कर दिया। वह विविध प्रकारके हीरा माणिक, मौक्तिक, मणिरत्न और रंगबिरंगी अमूल्य चीजें निरंतर उस भीलको देखनेके लिये भेजा करता था, उसे बाग-बगीचोंमें घूमने फिरनेके लिये भेजा करता था, इस तरह राजा उसे सुख दिया करता था। एक रातको जब सब सोये हुए थे, उस समय भीलको अपने बाल-बच्चोंकी याद आई इसलिये वह वहाँसे कुछ लिये करे बिना एकाएक निकल पड़ा, और जाकर अपने कुटुम्बियोंसे मिला। उन सबोंने मिलकर पूँछा कि तू कहाँ था? भीलने कहा, बहुत सुखमें। वहाँ मैंने बहुत प्रशंसा करने लायक वस्तुयें देखीं।

कुटुम्बी—परन्तु वे कैसी थीं, यह तो हमें कह।

भील—क्या कहूँ, यहाँ वैसी एक भी वस्तु ही नहीं।

कुटुम्बी—यह कैसे हो सकता है? ये शंख, सीप, कौड़े कैसे सुंदर पड़े हैं! क्या वहाँ कोई ऐसी देखने लायक वस्तु थी?

अन्न आदिकी न्यूनाधिकतासे जो रोग प्रत्येक कायामें प्रकट होते हैं, मलमूत्र, विष्टा, हाड़, माँस, राद और श्लेष्मसे जिसका ढाँचा टिका हुआ है, केवल त्वचासे जिसकी मनोहरता है, उस कायाका मोह सचमुच विभ्रम ही है । सनत्कुमारने जिसका लेशमात्र भी मान किया, वह भी उससे सहन नहीं हुआ, उस कायामें अहो पामर ! तू क्या मोह करता है ? यह मोह मंगलदायक नहीं ।

७२ बत्तीस योग

सत्पुरुषोंने नीचेके बत्तीस योगोंका संग्रहकर आत्माको उज्ज्वलको बनानेका उपदेश दिया है:—

१ मोक्षसाधक योगके लिये शिष्यको आचार्यके प्रति आलोचना करनी ।
२ आचार्यको आलोचनाको दूसरेसे प्रगट नहीं करनी ।
३ आपत्तिकालमें भी धर्मकी दृढ़ता नहीं छोड़नी ।
४ इस लोक और परलोकके सुखके फलकी वांछा विना तप करना ।
५ शिक्षाके अनुसार यतनासे आचरण करना और नयी शिक्षाको विवेकसे ग्रहण करना ।
६ ममत्वका त्याग करना ।
७ गुप्त तप करना ।
८ निर्लोभता रखनी ।
९ परीषहके उपसर्गको जीतना ।
१० सरल चित्त रखना ।
११ आत्मसंयम शुद्ध पालना ।
१२ सम्यक्त्व शुद्ध रखना ।
१३ चित्तकी एकाग्र समाधि रखनी ।
१४ कपट रहित आचारका पालना ।
१५ विनय करने योग्य पुरुषोंकी यथायोग्य विनय करनी ।
१६ संतोषके द्वारा तृष्णाकी मर्यादा कम करना ।
१७ वैराग्य भावनामें निमग्न रहना ।
१८ माया रहित व्यवहार करना ।
१९ शुद्ध क्रियामें सावधान होना ।
२० संवरको धारण करना और पापको रोकना ।
२१ अपने दोषोंको समभावपूर्वक दूर करना ।
२२ सब प्रकारके विषयोंसे विरक्त रहना ।
२३ मूलगुणोंमें पाँच महाव्रतोंको विशुद्ध पालना ।
२४ उत्तरगुणोंमें पाँच महाव्रतोंको विशुद्ध पालना ।
२५ उत्साहपूर्वक कायोत्सर्ग करना ।
२६ प्रमाद रहित ज्ञान ध्यानमें लगे रहना ।

विचय—मैं क्षण क्षणमें जो जो दुःख सहन कर रहा हूँ, भवाटवीमें पर्यटन कर रहा हूँ, अज्ञान आदि प्राप्त कर रहा हूँ, यह सब कर्मोंके फलके उदयसे है—ऐसा चिंतवन करना धर्मध्यान नामका तीसरा कर्मविपाकचिंतन भेद है। ४ संस्थानविचय—तीन लोकका स्वरूप चिंतवन करना। लोकस्वरूप सुप्रतिष्ठितके आकारका है; जीव अजीवसे सर्वत्र भरपूर है; यह असंख्यात योजनकी कोटानुकोटिसे तिरछा लोक है। इसमें असंख्यातो द्वीपसमुद्र हैं। असंख्यातों ज्योतिषी, भवनवासी, व्यंतरों आदिका इसमें निवास है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी विचित्रता इसमें लगी हुई है। अढ़ाई द्वीपमें जघन्य तीर्थंकर बीस और उत्कृष्ट एकसौ सत्तर होते हैं। जहाँ ये तथा केवली भगवान् और निर्ग्रंथ मुनिराज विचरते हैं, उन्हें "वंदामि, नमंसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं, पज्जुवासामि" करता हूँ। इसी तरह वहाँके रहनेवाले श्रावक-श्राविकाओंका गुणगान करता हूँ। उस तिरछे लोकसे असंख्यातगुना अधिक ऊर्ध्वलोक है। वहाँ अनेक प्रकारके देवताओंका निवास है। इसके ऊपर ईषत् प्राग्भारा है। उसके ऊपर मुक्तात्मायें विराजती हैं। उन्हें "वंदामि, यावत् पज्जुवासामि" करता हूँ। उस ऊर्ध्वलोकसे भी कुछ विशेष अधोलोक है। उसमें अनंत दुःखोंसे भरा हुआ नरकावास और भुवनपतियोंके भुवन आदि है। इन तीन लोकके सब स्थानोंको इस आत्माने सम्यक्त्वरहित क्रियासे अनंतवार जन्म-मरणसे स्पर्श किया है—ऐसा चिंतवन करना संस्थानविचय नामक धर्मध्यानका चौथा भेद है। इन चार भेदोंको विचारकर सम्यक्त्वसहित श्रुत और चारित्र धर्मकी आराधना करनी चाहिये जिससे यह अनंत जन्म-मरण दूर हो। धर्मध्यानके इन चार भेदोंको स्मरण रखना चाहिये।

७५ धर्मध्यान
(२)

धर्मध्यानके चार लक्षणोंको कहता हूँ। १ आज्ञारुचि—अर्थात् वीतराग भगवान्की आज्ञा अंगीकार करनेकी रुचि उत्पन्न होना। २ निसर्गरुचि—आत्माका अपने स्वाभाविक जातिस्मरण आदि ज्ञानसे श्रुतसहित चारित्र-धर्मको धारण करनेकी रुचि प्राप्त करना उसे निसर्गरुचि कहते हैं। ३ सूत्ररुचि—श्रुतज्ञान और अनंत तत्त्वके भेदोंके लिये कहे हुए भगवान्के पवित्र वचनोंका जिनमें गूँथन हुआ है, ऐसे सूत्रोंको श्रवण करने, मनन करने और भावसे पठन करनेकी रुचिका उत्पन्न होना सूत्ररुचि है। ४ उपदेशरुचि—अज्ञानसे उपार्जित कर्मोंको हम ज्ञानसे खपावें, और ज्ञानसे नये कर्मोंको न बाँधें; मिथ्यात्वके द्वारा उपार्जित कर्मोंको सम्यक्भावसे खपावें और सम्यक्भावसे नये कर्मोंको न बाँधें; अवैराग्यसे उपार्जित कर्मोंको वैराग्यसे खपावें और वैराग्यसे नये कर्मोंको न बाँधें; कषायसे उपार्जित कर्मोंको कषायको दूर करके खपावें और क्षमा आदिसे नये कर्मोंको न बाँधें; अशुभ योगसे उपार्जित कर्मोंको शुभ योगसे खपावें और शुभ योगसे नये कर्मोंको न बाँधें; पाँच इन्द्रियोंके स्वादरूप आस्रवसे उपार्जित कर्मोंको संवरसे खपावें और तपरूप (इच्छारोध) संवरसे नये कर्मोंको न बाँधें—इसके लिये अज्ञान आदि आस्रव-मार्ग छोड़कर ज्ञान आदि संवर-मार्ग ग्रहण करनेके लिये तीर्थंकर भगवान्के उपदेशको सुननेकी रुचिके उत्पन्न होनेको उपदेशरुचि कहते हैं। धर्मध्यानके ये चार लक्षण कहे।

धर्मध्यानके चार आलंबन कहता हूँ—१ वाचना, २ पृच्छना, ३ परावर्त्तना, ४ धर्मकथा।

भील—नहीं भाई, ऐसी चीज़ तो यहाँ एक भी नहीं। उनके सौवें अथवा हजारवें भागतककी भी मनोहर चीज़ यहाँ कोई नहीं।

कुटुम्बी—तो तू चुपचाप बैठा रह। तुझे भ्रमणा हुई है। भला इससे अच्छा और क्या होगा?

हे गौतम! जैसे यह भील राज-वैभवके सुख भोगकर आया था; और उन्हें जानता भी था, फिर भी उपमाके योग्य वस्तु न मिलनेसे वह कुछ नहीं कह सकता था, इसी तरह अनुपमेय मोक्षको, सच्चिदानंद स्वरूपमय निर्विकारी मोक्षके सुखके असंख्यातवें भागको भी योग्य उपमाके न मिलनेसे मैं तुझे कह नहीं सकता।

मोक्षके स्वरूपमें शंका करनेवाले तो कुतर्कवादी हैं। इनको क्षणिक सुखके विचारके कारण सत्सुखका विचार कहाँसे आ सकता है? कोई आत्मिक-ज्ञानहीन ऐसा भी कहते हैं कि संसारसे कोई विशेष सुखका साधन मोक्षमें नहीं रहता इसलिये इसमें अनंत अव्याबाध सुख कह दिया है, इनका यह कथन विवेकयुक्त नहीं। निद्रा प्रत्येक मानवीको प्रिय है, परन्तु उसमें वे कुछ जान अथवा देख नहीं सकते; और यदि कुछ जाननेमें आता भी है, तो वह केवल मिथ्या स्वप्नोपाधि आती है। जिसका कुछ असर हो ऐसी स्वप्नरहित निद्रा जिसमें सूक्ष्म स्थूल सब कुछ जान और देख सकते हों, और निरुपाधिसे शांत नींद ली जा सकती हो, तो भी कोई उसका वर्णन कैसे कर सकता है, और कोई इसकी उपमा भी क्या दे? यह तो स्थूल दृष्टांत है, परन्तु बालविवेकी इसके ऊपरसे कुछ विचार कर सकें इसलिये यह कहा है।

भीलका दृष्टांत समझानेके लिये भाषा-भेदके फेरफारसे तुम्हें कहा है।

७४ धर्मध्यान

(१)

भगवान्ने चार प्रकारके ध्यान बताये हैं—आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। पहले दो ध्यान त्यागने योग्य हैं। पीछेके दो ध्यान आत्मसार्थक हैं। श्रुतज्ञानके भेदोंको जाननेके लिये, शास्त्र-विचारमें कुशल होनेके लिये, निर्ग्रन्थ प्रवचनका तत्त्व पानेके लिये, सत्पुरुषोंद्वारा सेवा करने योग्य, विचारने योग्य और ग्रहण करने योग्य धर्मध्यानके मुख्य सोलह भेद हैं। पहले चार भेदोंको कहता हूँ—१ आणाविचय (आज्ञाविचय), २ अवायविचय (अपायविचय), ३ विवागविचय (विपाकविचय), ४ संठाणविचय (संस्थानविचय)। १ आज्ञाविचय—आज्ञा अर्थात् सर्वज्ञ भगवान्ने धर्मतत्त्वसंबंधी जो कुछ भी कहा है वह सब सत्य है, उसमें शंका करना योग्य नहीं। कालकी हीनतासे, उत्तम ज्ञानके विच्छेद होनेसे, बुद्धिकी मंदतासे अथवा ऐसे ही अन्य किसी कारणसे मेरी समझमें ये तत्त्व नहीं आते; परन्तु अर्हन्त भगवान्ने अंशमात्र भी मायायुक्त अथवा असत्य नहीं कहा, कारण कि वे वीतरागी, त्यागी और निस्पृही थे। इनको मृषा कहनेका कोई भी कारण न था। तथा सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होनेके कारण अज्ञानसे भी वे मृषा नहीं कहेंगे। जहाँ अज्ञान ही नहीं वहाँ तत्संबंधी मृषा कहाँसे हो सकता है? इस प्रकार चिंतन करना 'आज्ञाविचय' नामका प्रथम भेद है। २ अपायविचय—राग, द्वेष, काम, क्रोध इत्यादिसे जीवको जो दुःख उत्पन्न होता है, उसीसे इसे भवमें भटकना पड़ता है। इसका चिंतवन करना 'अपायविचय' नामका दूसरा भेद है। अपायका अर्थ दुःख है। ३ विपाक-

वैराग्य पानेका, संसारके अनंत दुःख मनन करनेका और वीतराग भगवंतकी आज्ञासे समस्त लोकालोकका विचार करनेका अपूर्व उत्साह मिलता है। भेद भेदसे इसके और अनेक भाव समझाये हैं। इसमें कुछ भावोंके समझनेसे तप, शांति, क्षमा, दया, वैराग्य और ज्ञानका बहुत बहुत उदय होगा।

तुम कदाचित् इन सोलह भेदोंका पठन कर गये होगे तो भी फिर फिरसे उसका पुनरावर्तन करना।

७७ ज्ञानके संबंधमें दो शब्द

(१)

जिसके द्वारा वस्तुका स्वरूप जाना जाय उसे ज्ञान कहते हैं; ज्ञान शब्दका यही अर्थ है। अब अपनी बुद्धिके अनुसार विचार करना है कि क्या इस ज्ञानकी कुछ आवश्यकता है? यदि आवश्यकता है तो उसकी प्राप्तिके क्या साधन हैं? यदि साधन हैं तो क्या इन साधनोंके अनुकूल द्रव्य, देश, काल और भाव मौजूद हैं? यदि देश, काल आदि अनुकूल हैं तो वे कहाँ तक अनुकूल हैं? और विशेष विचार करें तो इस ज्ञानके कितने भेद हैं? जानने योग्य क्या है? इसके भी कितने भेद हैं? जाननेके कौन कौन साधन हैं? किस किस मार्गसे इन साधनोंको प्राप्त किया जाता है? इस ज्ञानका क्या उपयोग अथवा क्या परिणाम है? ये सब बातें जानना आवश्यक है।

१. ज्ञानकी क्या आवश्यकता है? पहले इस विषयपर विचार करते हैं। यह आत्मा इस चौदह राजू प्रमाण लोकमें चारों गतियोंमें अनादिकालसे कर्मसहित स्थितिमें पर्यटन करती है। जहाँ क्षणभर भी सुखका भाव नहीं ऐसे नरक, निगोद आदि स्थानोंको इस आत्माने बहुत बहुत कालतक बारम्बार सेवन किया है; असह्य दुःखोंको पुनः पुनः और कहो तो अनंतोंबार सहन किया है। इस संतापसे निरंतर संतप्त आत्मा केवल अपने ही कर्मोंके विपाकसे घूमा करती है। इस घूमनेका कारण अनंत दुःख देनेवाले ज्ञानावरणीय आदि कर्म हैं; जिनके कारण आत्मा अपने स्वरूपको प्राप्त नहीं कर सकती, और विषय आदि मोहके बंधनको अपना स्वरूप मान रही है। इन सबका परिणाम केवल ऊपर कहे अनुसार ही होता है, अर्थात् आत्माको अनंत दुःख अनंत भावोंसे सहन करने पड़ते हैं। कितना ही अप्रिय, कितना ही खेददायक और कितना ही रौद्र होनेपर भी जो दुःख अनंत कालसे अनंतबार सहन करना पड़ा, उस दुःखको केवल अज्ञान आदि कर्मसे ही सहन किया, इसलिये अज्ञान आदिको दूर करनेके लिये ज्ञानकी अत्यन्त आवश्यकता है।

७८ ज्ञानके संबंधमें दो शब्द

(२)

२. अब ज्ञान-प्राप्तिके साधनोंके विषयमें कुछ विचार करें। अपूर्ण पर्याप्तिसे परिपूर्ण आत्म-ज्ञान सिद्ध नहीं होता, इस कारण छह पर्याप्तियोंसे युक्त देह ही आत्म-ज्ञानकी सिद्धि कर सकती है। ऐसी देह एक मानव-देह ही है। यहाँ प्रश्न उठेगा कि जिन्होंने मानव-देहको प्राप्त किया है, ऐसी अनेक आत्मायें हैं, तो वे सब आत्म-ज्ञानको क्यों नहीं प्राप्त करतीं? इसके उत्तरमें हम यह मान सकते हैं कि जिन्होंने सम्पूर्ण आत्म-ज्ञानको प्राप्त किया है उनके पवित्र वचनामृतकी उन्हें श्रुति नहीं होती। श्रुतिके बिना संस्कार नहीं, और यदि संस्कार नहीं तो फिर श्रद्धा कहाँसे हो सकती है? और जहाँ इनमें

१ वाचना—विनय सहित निर्जरा तथा ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सूत्र-सिद्धांतके मर्म जाननेवाले गुरु अथवा सत्पुरुषके समीप सूत्रतत्त्वके अभ्यास करनेको, वाचना आलंबन कहते हैं। २ पृच्छना—अपूर्व ज्ञान प्राप्त करनेके लिये जिनेश्वर भगवान्के मार्गको दिपाने तथा शंका-शल्यको निवारण करनेके लिये, तथा दूसरोंके तत्त्वोंकी मध्यस्थ परीक्षाके लिये यथायोग्य विनयसहित गुरु आदिसे प्रश्नोंके पूँछनेको पृच्छना कहते हैं। ३ परावर्त्तना—पूर्वमें जो जिनभाषित सूत्रार्थ पढ़े हों उन्हें स्मरणमें रखनेके लिये और निर्जराके लिये शुद्ध उपयोगसहित शुद्ध सूत्रार्थकी बारंबार सज्झाय करना परावर्त्तना आलंबन है। ४ धर्मकथा—वीतराग भगवान्ने जो भाव जैसा प्रणीत किया है, उस भावको उसी तरह समझकर, ग्रहणकर, विशेष रूपसे निश्चय करके, शंका कांखा वितिगिच्छारहित अपनी निर्जराके लिये सभामें उन भावोंको उसी तरह प्रणीत करना, जिससे सुननेवाले और श्रद्धा करनेवाले दोनों ही भगवान्की आज्ञाके आराधक हों, उसे धर्मकथा आलंबन कहते हैं। ये धर्मध्यानके चार आलंबन कहे। अब धर्मध्यानकी चार अनुप्रेक्षाएँ कहता हूँ—१ एकत्वानुप्रेक्षा, २ अनित्यानुप्रेक्षा, ३ अशरणानुप्रेक्षा, ४ संसारानुप्रेक्षा। इन चारोंका उपदेश बारह भावनाके पाठमें कहा जा चुका है। वह तुम्हें स्मरण होगा।

७६ धर्मध्यान

(३)

धर्मध्यानको पूर्व आचार्योंने और आधुनिक मुनीश्वरोंने भी विस्तारपूर्वक बहुत समझाया है। इस ध्यानसे आत्मा मुनित्वभावमें निरंतर प्रवेश करती जाती है।

जो जो नियम अर्थात् भेद, लक्षण, आलम्बन और अनुप्रेक्षा कहे हैं, वे बहुत मनन करने योग्य हैं। अन्य मुनीश्वरोंके कहे अनुसार मैंने उन्हें सामान्य भाषामें तुम्हें कहा है। इसके साथ निरंतर ध्यान रखनेकी आवश्यकता यह है कि इनमेंसे हमने कौनसा भेद प्राप्त किया, अथवा कौनसे भेदकी ओर भावना रक्खी है? इन सोलह भेदोंमें हर कोई हितकारी और उपयोगी है, परन्तु जिस अनुक्रमसे उन्हें ग्रहण करना चाहिये उस अनुक्रमसे ग्रहण करनेसे वे विशेष आत्म-लाभके कारण होते हैं।

बहुतसे लोग सूत्र-सिद्धांतके अध्ययन कंठस्थ करते हैं। यदि वे उनके अर्थ, और उनमें कहे मूल-तत्त्वोंकी ओर ध्यान दें तो वे कुछ सूक्ष्म भेदको पा सकते हैं। जैसे केलेके एक पत्रमें दूसरे और दूसरेमें तीसरे पत्रकी चमत्कृति है, वैसे ही सूत्रार्थमें भी चमत्कृति है। इसके ऊपर विचार करनेसे निर्मल और केवल दयामय मार्गके वीतराग-प्रणीत तत्त्वबोधका बीज अंतःकरणमें अंकुरित होगा। वह अनेक प्रकारके शास्त्रावलोकनसे, प्रश्नोत्तरसे, विचारसे और सत्पुरुषोंके समागमसे पोषण पाकर वृद्धि होकर वृक्षरूप होगा। यह पीछे निर्जरा और आत्म-प्रकाशरूप फल देगा।

श्रवण, मनन और निदिध्यासनके प्रकार वेदांतियोंने भी बताये हैं। परन्तु जैसे इस धर्मध्यानके पृथक् पृथक् सोलह भेद यहाँ कहे गये हैं वैसे तत्त्वपूर्वक भेद अन्यत्र कहीं पर भी नहीं कहे गये, यह अपूर्व है। इसमेंसे शास्त्रोंका श्रवण करनेका, मनन करनेका, विचारनेका, अन्यको बोध करनेका, शंका कांखा दूर करनेका, धर्मकथा करनेका, एकत्व विचारनेका, अनित्यता विचारनेका, अशरणता विचारनेका,

हूँ—पहला मति, दूसरा श्रुत, तीसरा अवधि, चौथा मनःपर्यव और पाँचवाँ सम्पूर्णस्वरूप केवल। इनके भी प्रतिभेद हैं और उनके भी अतींद्रिय स्वरूपसे अनन्त भंगजाल हैं।

३. जानने योग्य क्या है ? अब इसका विचार करें। वस्तुके स्वरूपको जाननेका नाम ज्ञान है; तब वस्तु तो अनंत हैं, इन्हें किस पंक्तिसे जानें ? सर्वज्ञ होनेपर वे सत्पुरुष सर्वदर्शितासे अनंत वस्तुओंके स्वरूपको सब भेदोंसे जानते और देखते हैं, परन्तु उन्होंने इस सर्वज्ञ पदवीको किन किन वस्तुओंके जाननेसे प्राप्त किया ? जबतक अनंत श्रेणियोंको नहीं जाना तबतक किस वस्तुको जानते जानते वे अनन्त वस्तुओंको अनन्तरूपसे जान पायेंगे ? इस शंकाका अब समाधान करते हैं। जो अनंत वस्तुयें मानी हैं वे अनंत भंगोंकी अपेक्षासे हैं। परन्तु मुख्य वस्तुत्वकी दृष्टिसे उसकी दो श्रेणियाँ हैं—जीव और अजीव। विशेष वस्तुत्व स्वरूपसे नौ तत्त्व अथवा छह द्रव्यकी श्रेणियाँ मानी जा सकती हैं। इस पंक्तिसे चढ़ते चढ़ते सर्व भावसे ज्ञात होकर लोकालोकके स्वरूपको हस्तामलककी तरह जान और देख सकते हैं। इसलिये जानने योग्य पदार्थ तो केवल जीव और अजीव हैं। इस तरह जाननेकी मुख्य दो श्रेणियाँ कहाईं।

८० ज्ञानके संबंधमें दो शब्द

(४)

४. इनके उपभेदोंको संक्षेपमें कहता हूँ। 'जीव' चैतन्य लक्षणसे एकरूप है। देहस्वरूपसे और द्रव्यरूपसे अनंतानंत है। देहस्वरूपमें उसके इन्द्रिय आदि जानने योग्य हैं; उसकी गति, विगति इत्यादि जानने योग्य हैं; उसकी संसर्ग ऋद्धि जानने योग्य है। इसी तरह 'अजीव' के रूपी अरूपी पुद्गल आकाश आदि विचित्रभाव कालचक्र इत्यादि जानने योग्य हैं। प्रकारांतरसे जीव, अजीवको जाननेके लिये सर्वज्ञ सर्वदर्शीने नौ श्रेणिरूप नव तत्त्वको कहा है—

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष।

इनमें कुछ ग्रहण करने योग्य और कुछ त्यागने योग्य हैं। ये सब तत्त्व जानने योग्य तो हैं ही।

५. जाननेके साधन। यद्यपि सामान्य विचारसे इन साधनोंको जान लिया है फिर भी कुछ विशेष विचार करते हैं। भगवान्‌की आज्ञा और उसके शुद्ध स्वरूपको यथार्थरूपसे जानना चाहिये। स्वयं तो कोई विरले ही जानते हैं, नहीं तो इसे निर्ग्रन्थज्ञानी गुरु बता सकते हैं। रागहीन ज्ञाता सर्वोत्तम है। इसलिये श्रद्धाका बीज रोपण करनेवाला अथवा उसे पोषण करनेवाला गुरु केवल साधनरूप है। इन साधन आदिके लिये संसारकी निवृत्ति अर्थात् शम, दम, ब्रह्मचर्य आदि अन्य साधन हैं। इन्हें साधनोंको प्राप्त करनेका मार्ग कहा जाय तो भी ठीक है।

६. इस ज्ञानके उपयोग अथवा परिणामके उत्तरका आशय ऊपर आ गया है; परन्तु कालभेदसे कुछ कहना है, और वह इतना ही कि दिनमें दो घड़ीका वक्त भी नियमितरूपसे निकालकर जिनेश्वर भगवान्‌के कहे हुए तत्त्वोपदेशकी पर्यटना करो। वीतरागके एक सैद्धांतिक शब्दसे ज्ञानावरणीयका बहुत क्षयोपशम होगा ऐसा मैं विवेकसे कहता हूँ।

८१ पंचमकाल

कालचक्रके विचारोंको अवश्य जानना चाहिये। श्री जिनेश्वरने इस कालचक्रके दो मुख्य भेद कहे

एक भी नहीं वहाँ ज्ञान-प्राप्ति भी किसको हो ? इसलिये मानव-देहके साथ साथ सर्वज्ञके वचनामृतकी प्राप्ति और उसकी श्रद्धा भी साधनरूप हैं। सर्वज्ञके वचनामृत अकर्मभूमि अथवा केवल अनार्यभूमिमें नहीं मिलते, तो वहाँ मानव-देह किस कामका ? इसलिये कर्मभूमि और उसमें भी आर्यभूमि—यह भी साधनरूप है। तत्त्वकी श्रद्धा उत्पन्न होनेके लिये और ज्ञान होनेके लिये निर्ग्रन्थ गुरुकी आवश्यकता है। द्रव्यसे जो कुल मिथ्यात्वी है, उस कुलमें जन्म होना भी आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिमें हानिरूप ही होता है। क्योंकि धर्ममतभेद अत्यन्त दुःखदायक है। परंपरासे पूर्वजोंके द्वारा ग्रहण किये हुए दर्शन ही सत्य मालूम होने लगते हैं। इससे भी आत्म-ज्ञान रुकता है। इसलिये अच्छा कुल भी आवश्यक है। यह सब प्राप्त करने जितना भाग्यशाली होनेमें सत्पुण्य अर्थात् पुण्यानुबंधी पुण्य इत्यादि उत्तम साधन हैं। यह दूसरा साधन भेद कहा।

३. यदि साधन हैं तो क्या उनके अनुकूल देश और काल है, इस तीसरे भेदका विचार करें। भरत, महाविदेह इत्यादि कर्मभूमि और उनमें भी आर्यभूमि देशरूपसे अनुकूल हैं। जिज्ञासु भव्य ! तुम सब इस समय भरतमें हो, और भारत देश अनुकूल है। काल भावकी अपेक्षासे मति और श्रुतज्ञान प्राप्त कर सकनेकी अनुकूलता भी है। क्योंकि इस दुःषम पंचमकालमें परमावधि, मनःपर्यव, और केवल ये पवित्र ज्ञान परम्परा आम्नायके अनुसार विच्छेद हो गये हैं। सारांश यह है कि कालकी परिपूर्ण अनुकूलता नहीं।

४. देश, काल आदि यदि कुछ भी अनुकूल हैं तो वे कहाँतक हैं ? इसका उत्तर यह है कि अवशिष्ट सैद्धांतिक मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, सामान्य मतसे ज्ञान, कालकी अपेक्षासे इक्कीस हज़ार वर्ष रहेगा; इसमेंसे अढ़ाई हज़ार वर्ष बीत गये, अब साढ़े अठारह हज़ार वर्ष बाकी हैं, अर्थात् पंचमकालकी पूर्णतातक कालकी अनुकूलता है। इस कारणसे देश और काल अनुकूल हैं।

७९ ज्ञानके संबंधमें दो शब्द

(३)

अब विशेष विचार करें।

१. आवश्यकता क्या है ? इस मुख्य विचारपर गहरा और गंभीरतासे विचार करें तो मालूम होगा कि मुख्य आवश्यकता तो अपनी स्वरूप-स्थितिकी श्रेणी चढ़ना है। अनंत दुःखका नाश, और दुःखके नाशसे आत्माके श्रेयस्कर सुखकी सिद्धि यह हेतु है; क्योंकि आत्माको सुख निरन्तर ही प्रिय है। परन्तु यह सुख यदि स्वस्वरूपक सुख हो तभी प्रिय है। देश कालकी अपेक्षासे श्रद्धा ज्ञान इत्यादि उत्पन्न करनेकी आवश्यकता, और सम्यक् भावसहित उच्चगति, वहाँसे महाविदेहमें मानवदेहमें जन्म, वहाँ सम्यक् भावकी और भी उन्नति, तत्त्वज्ञानकी विशुद्धता और वृद्धि, अन्तमें परिपूर्ण आत्मसाधन, ज्ञान और उसका सत्य परिणाम, सम्पूर्णतासे सब दुःखोंका अभाव अर्थात् अखंड, अनुपम, अनन्त शाश्वत, पवित्र मोक्षकी प्राप्ति—इन सबके लिये ज्ञानकी आवश्यकता है।

२. ज्ञानके कितने भेद हैं, इसका विचार कहता हूँ। इस ज्ञानके अनंत भेद हैं; परन्तु सामान्य दृष्टिसे समझनेके लिये सर्वज्ञ भगवान्‌ने ज्ञानके पाँच भेद कहे हैं, उन्हें ज्योंके त्यों कहता

८२ तत्त्वावबोध

१

दशवैकालिक सूत्रमें कथन है कि जिसने जीवाजीवके भावोंको नहीं जाना वह अबुध संयममें कैसे स्थिर रह सकता है? इस वचनामृतका तात्पर्य यह है कि तुम आत्मा अनात्माके स्वरूपको जानो, इसके जाननेकी अत्यंत आवश्यकता है।

आत्मा अनात्माका सत्य स्वरूप निर्ग्रन्थ प्रवचनमेंसे ही प्राप्त हो सकता है। अनेक अन्य मतोंमें इन दो तत्त्वोंके विषयमें विचार प्रगट किये गये हैं, परन्तु वे यथार्थ नहीं हैं। महाप्रज्ञावान आचार्यों-द्वारा किये गये विवेचन सहित प्रकारांतरसे कहे हुए मुख्य नौ तत्त्वोंको जो विवेक बुद्धिसे जानता है, वह सत्पुरुष आत्माके स्वरूपको पहचान सकता है।

स्याद्वादकी शैली अनुपम और अनंत भाव-भेदोंसे भरी है। इस शैलीको परिपूर्णरूपसे तो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी ही जान सकते हैं, फिर भी इनके वचनामृतके अनुसार आगमकी मददसे बुद्धिके अनुसार नौ तत्त्वका स्वरूप जानना आवश्यक है। इन नौ तत्त्वोंको प्रिय श्रद्धा भावसे जाननेसे परम विवेक-बुद्धि, शुद्ध सम्यक्त्व और प्रभाविक आत्म-ज्ञानका उदय होता है। नौ तत्त्वोंमें लोकालोकका सम्पूर्ण स्वरूप आ जाता है। जितनी जिसकी बुद्धिकी गति है, उतनी वे तत्त्वज्ञानकी ओर दृष्टि पहुँचाते हैं, और भावके अनुसार उनकी आत्माकी उज्ज्वलता होती है। इससे वे आत्म-ज्ञानके निर्मल रसका अनुभव करते हैं। जिनका तत्त्वज्ञान उत्तम और सूक्ष्म है, तथा जो सुशीलयुक्त तत्त्वज्ञानका सेवन करते हैं वे पुरुष महान् भाग्यशाली हैं।

इन नौ तत्त्वोंके नाम पहिलेके शिक्षापाठमें मैं कह गया हूँ। इनका विशेष स्वरूप प्रज्ञावान् आचार्योंके महान् ग्रंथोंसे अवश्य जानना चाहिये; क्योंकि सिद्धांतमें जो जो कहा है उन सबके विशेष भेदोंके समझनेमें प्रज्ञावान् आचार्यों द्वारा विरचित ग्रंथ सहायभूत हैं। ये गुरुगम्य भी हैं। नय, निक्षेप और प्रमाणके भेद नवतत्त्वके ज्ञानमें आवश्यक हैं, और उनका यथार्थज्ञान इन प्रज्ञावंतोंने बताया है।

८३ तत्त्वावबोध

(२)

सर्वज्ञ भगवानने लोकालोकके सम्पूर्ण भावोंको जाना और देखा और उनका उपदेश उन्होंने भव्य लोगोंको दिया। भगवानने अनन्त ज्ञानके द्वारा लोकालोकके स्वरूपविषयक अनंत भेद जाने थे; परन्तु सामान्य मनुष्योंको उपदेशके द्वारा श्रेणी चढ़नेके लिए उन्होंने मुख्य नव पदार्थको बताया। इससे लोकालोकके सब भावोंका इसमें समावेश हो जाता है। निर्ग्रंथ प्रवचनका जो जो सूक्ष्म उपदेश है वह तत्त्वकी दृष्टिसे नवतत्त्वमें समाविष्ट हो जाता है। तथा सम्पूर्ण धर्ममतोंका सूक्ष्म विचार इस नवतत्त्व-विज्ञानके एक देशमें आ जाता है। आत्माकी जो अनन्त शक्तियाँ ढँकी हुई हैं उन्हें प्रकाशित करनेके लिये अर्हत भगवानका पवित्र उपदेश है। ये अनन्त शक्तियाँ उस समय प्रफुल्लित हो सकती हैं जब कि [illegible]-विज्ञानका [illegible] पूर्ण हो जाय।

हैं—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। एक एक भेदके छह छह आरे हैं। आज कलका चालू आरा पंचमकाल कहलाता है, और यह अवसर्पिणी कालका पाँचवा आरा है। अवसर्पिणी उतरते हुए कालको कहते हैं। इस उतरते हुए कालके पाँचवे आरेमें इस भरतक्षेत्रमें कैसा आचरण होना चाहिये इसके लिये सत्पुरुषोंने कुछ विचार बताये हैं, उन्हें अवश्य जानना चाहिये।

इन्होंने पंचमकालके स्वरूपको मुख्यरूपसे इस प्रकारका बताया है। निर्ग्रंथ प्रवचनके ऊपरसे मनुष्योंकी श्रद्धा क्षीण होती जावेगी। धर्मके मूलतत्त्वोंमें मतमतांतरोंकी वृद्धि होगी। पाखंडी और प्रपंची मतोंका मंडन होगा। जन-समूहकी रुचि अधर्मकी ओर फिरेगी। सत्य और दया धीमे धीमे पराभवको प्राप्त होंगे। मोह आदि दोषोंकी वृद्धि होती जायगी। दंभी और पापिष्ट गुरु पूज्य होंगे। दुष्टवृत्तिके मनुष्य अपने फंदेमें सफल होंगे। मीठे किन्तु धूर्तवक्ता पवित्र माने जावेंगे। शुद्ध ब्रह्मचर्य आदि शीलसे युक्त पुरुष मलिन कहलावेंगे। आत्म-ज्ञानके भेद नष्ट होते जावेंगे। हेतुहीन क्रियाएँ बढ़ती जावेंगी। अज्ञान क्रियाका बहुधा सेवन किया जायगा। व्याकुल करनेवाले विषयोंके साधन बढ़ते जावेंगे। एकांतवादी पक्ष सत्ताधीश होंगे। शृंगारसे धर्म माना जावेगा।

सच्चे क्षत्रियोंके बिना भूमि शोकसे पीड़ित होगी। निर्माल्य राजवंशी वेश्याके विलासमें मोहको प्राप्त होंगे; धर्म, कर्म और सच्ची राजनीति भूल जावेंगे; अन्यायको जन्म देंगे; जैसे लूटा जावेगा वैसे प्रजाको लूटेंगे; स्वयं पापिष्ट आचरणको सेवनकर प्रजासे उन आचरणोंका पालन करावेंगे। राजवंशके नामपर शून्यता आती जायगी। नीच मंत्रियोंकी महत्ता बढ़ती जायगी। ये लोग दीन प्रजाको चूसकर भंडार भरनेका राजाको उपदेश देंगे; शील-भंग करनेके धर्मको राजाको अंगीकार करायेंगे; शौर्य आदि सद्गुणोंका नाश करायेंगे; मृगया आदि पापोंमें अंधे बनावेंगे। राज्याधिकारी अपने अधिकारसे हजार गुना अहंकार रक्खेंगे। ब्राह्मण लालची और लोभी हो जायँगे; सद्विद्याको छुपा देंगे; संसारी साधनोंको धर्म ठहरावेंगे। वैश्य लोग मायावी, सर्वथा स्वार्थी और कठोर हृदयके होते जावेंगे। समग्र मनुष्यवर्गकी सद्वृत्तियाँ घटती जावेंगी। अकृत और भयंकर कृत्य करनेसे उनकी वृत्ति नहीं रुकेगी। विवेक, विनय, सरलता, इत्यादि सद्गुण घटते जायँगे। अनुकंपाका स्थान हीनता ले लेगी। माताकी अपेक्षा पत्नीमें प्रेम बढ़ेगा। पिताकी अपेक्षा पुत्रमें प्रेम बढ़ेगा। पातिव्रत्यको नियमसे पालनेवाली सुंदरियाँ घट जावेंगी। स्नानसे पवित्रता मानी जायगी। धनसे उत्तम कुल गिना जायगा। शिष्य गुरुसे उलटा चलेंगे। भूमिका रस घट जायगा। संक्षेपमें कहनेका भावार्थ यह है कि उत्तम वस्तुओंकी क्षीणता और कनिष्ठ वस्तुका उदय होगा। पंचमकालका स्वरूप उक्त बातोंमेंका प्रत्यक्ष सूचन भी कितना अधिक करता है!

मनुष्य सद्धर्मतत्त्वमें परिपूर्ण श्रद्धावान नहीं हो सकता, सम्पूर्ण और तत्त्वज्ञान नहीं पा सकता। जम्बूस्वामीके निर्वाणके बाद दस निर्वाणी वस्तुएँ इस भरतक्षेत्रसे व्यवच्छेद हो गई।

पंचमकालका ऐसा स्वरूप जानकर विवेकी पुरुष तत्त्वको ग्रहण करेंगे; कालानुसार धर्मतत्त्वकी श्रद्धा प्राप्त कर उच्चगति साधकर अन्तमें मोक्ष प्राप्त करेंगे। निर्ग्रन्थ प्रवचन, निर्ग्रन्थ गुरु इत्यादि धर्म-तत्त्वके पानेके साधन हैं। इनकी आराधनासे कर्मकी विराधना है।

—

८२ तत्त्वावबोध

१

दशवैकालिक सूत्रमें कथन है कि जिसने जीवाजीवके भावोंको नहीं जाना वह अबुध संयममें कैसे स्थिर रह सकता है ? इस वचनामृतका तत्पर्य यह है कि तुम आत्मा अनात्माके स्वरूपको जानो, इसके जाननेकी अत्यंत आवश्यकता है।

आत्मा अनात्माका सत्य स्वरूप निर्ग्रन्थ प्रवचनमेंसे ही प्राप्त हो सकता है। अनेक अन्य मतोंमें इन दो तत्त्वोंके विषयमें विचार प्रगट किये गये हैं, परन्तु वे यथार्थ नहीं हैं। महाप्रज्ञावान आचार्यों द्वारा किये गये विवेचन सहित प्रकारांतरसे कहे हुए मुख्य नौ तत्त्वोंको जो विवेक बुद्धिसे जानता है, वह सत्पुरुष आत्माके स्वरूपको पहचान सकता है।

स्याद्वादकी शैली अनुपम और अनंत भाव-भेदोंसे भरी है। इस शैलीको परिपूर्णरूपसे तो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी ही जान सकते हैं, फिर भी इनके वचनामृतके अनुसार आगमकी मददसे बुद्धिके अनुसार नौ तत्त्वका स्वरूप जानना आवश्यक है। इन नौ तत्त्वोंको प्रिय श्रद्धा भावसे जाननेसे परम विवेक-बुद्धि, शुद्ध सम्यक्त्व और प्रभाविक आत्म-ज्ञानका उदय होता है। नौ तत्त्वोंमें लोकालोकका सम्पूर्ण स्वरूप आ जाता है। जितनी जिसकी बुद्धिकी गति है, उतनी वे तत्त्वज्ञानकी ओर दृष्टि पहुँचाते हैं, और भावके अनुसार उनकी आत्माकी उज्ज्वलता होती है। इससे वे आत्म-ज्ञानके निर्मल रसका अनुभव करते हैं। जिनका तत्त्वज्ञान उत्तम और सूक्ष्म है, तथा जो सुशीलयुक्त तत्त्वज्ञानका सेवन करते हैं वे पुरुष महान् भाग्यशाली हैं।

इन नौ तत्त्वोंके नाम पहिलेके शिक्षापाठमें मैं कह गया हूँ। इनका विशेष स्वरूप प्रज्ञावान् आचार्योंके महान् ग्रंथोंसे अवश्य जानना चाहिये; क्योंकि सिद्धांतमें जो जो कहा है उन सबके विशेष भेदोंसे समझनेमें प्रज्ञावान् आचार्यों द्वारा विरचित ग्रंथ सहायभूत हैं। ये गुरुगम्य भी हैं। नय, निक्षेप और प्रमाणके भेद नवतत्त्वके ज्ञानमें आवश्यक हैं, और उनका यथार्थज्ञान इन प्रज्ञावंतोंने बताया है।

८३ तत्त्वावबोध

(२)

सर्वज्ञ भगवान्ने लोकालोकके सम्पूर्ण भावोंको जाना और देखा और उनका उपदेश उन्होंने भव्य लोगोंको दिया। भगवान्ने अनंत ज्ञानके द्वारा लोकालोकके स्वरूपविषयक अनत भेद जाने थे; परन्तु सामान्य मनुष्योंको उपदेशके द्वारा श्रेणी चढ़नेके लिए उन्होंने मुख्य नव पदार्थको बताया। इससे लोकालोकके सब भावोंका इसमें समावेश हो जाता है। निर्ग्रन्थ प्रवचनका जो जो सूक्ष्म उपदेश है वह तत्त्वकी दृष्टिसे नवतत्त्वमें समाविष्ट हो जाता है। तथा सम्पूर्ण धर्ममतोंका सूक्ष्म विचार इस नवतत्त्व-विज्ञानके एक देशमें आ जाता है। आत्माकी जो अनंत शक्तियाँ ढँकी हुई हैं उन्हें प्रकाशित करनेके लिये अर्हंत भगवान्का पवित्र उपदेश है। ये अनंत शक्तियाँ उस समय प्रफुल्लित हो सकती हैं जब कि नवतत्त्व-विज्ञानका पारावार ज्ञानी हो जाय।

मूल द्वादशांगी ज्ञान भी इस नवतत्त्व स्वरूप ज्ञानका सहायरूप है, वह भिन्न भिन्न प्रकारसे इस नवतत्त्व स्वरूप ज्ञानका उपदेश करता है। इस कारण यह निःशंकरूपसे मानना चाहिये कि जिसने अनंत भावभेदसे नवतत्त्वको जान लिया वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गया।

यह नवतत्त्व त्रिपदीकी अपेक्षासे घटाना चाहिये। हेय, ज्ञेय और उपादेय अर्थात् त्याग करने योग्य, जानने योग्य, और ग्रहण करने योग्य, ये तीन भेद नवतत्त्व स्वरूपके विचारमें अन्तर्हित हैं।

प्रश्न—जो त्यागने योग्य है उसे जानकर हम क्या करेंगे ! जिस गाँवमें जाना नहीं है उसका मार्ग पूँछनेसे क्या प्रयोजन !

उत्तर—तुम्हारी इस शंकाका सहजमें ही समाधान हो सकता है। त्यागने योग्यको भी जानना आवश्यक है। सर्वज्ञ भी सब प्रकारके प्रपंचोंको जान रहे हैं। त्यागने योग्य वस्तुको जाननेका मूल तत्त्व यह है कि यदि उसे न जाना हो तो कभी अत्याज्य समझकर उस वस्तुका सेवन न हो जाय। एक गाँवसे दूसरे गाँवमें पहुँचनेतक रास्तेमें जो जो गाँव आते हों उनका रास्ता भी पूँछना पड़ता है। नहीं तो इष्ट स्थानपर नहीं पहुँच सकते। जैसे उस गाँवके पूँछनेपर भी उसमें ठहरते नहीं हैं, उसी तरह पाप आदि तत्त्वोंको जानना चाहिये किन्तु उन्हें ग्रहण नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार रास्तेमें आनेवाले गाँवोंको छोड़ते जाते हैं, उसी तरह उनका भी त्याग करना आवश्यक है।

८४ तत्त्वावबोध

(३)

नवतत्त्वका कालभेदसे जो सत्पुरुष गुरुके पाससे श्रवण, मनन और निदिध्यासनपूर्वक ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे सत्पुरुष महापुण्यशाली और धन्यवादके पात्र हैं। प्रत्येक सुज्ञ पुरुषोंको मेरा विनयभावभूषित यही उपदेश है कि नवतत्त्वको अपनी बुद्धि-अनुसार यथार्थ जानना चाहिये।

महावीर भगवान्‌के शासनमें बहुतसे मतमतांतर पड़ गये हैं, उसका मुख्य कारण यही है कि तत्त्वज्ञानकी ओरसे उपासक-वर्गका लक्ष फिर गया। वे लोग केवल क्रियाभावमें ही लगे रहे, जिसका परिणाम दृष्टिगोचर है। वर्तमान खोजमें आयी हुई पृथिवीकी आबादी लगभग डेढ़ अरबकी गिनी जाती है; उसमें सब गच्छोंको मिलाकर जैन लोग केवल बीस लाख हैं। ये लोग श्रमणोपासक हैं। इनमेंसे मैं अनुमान करता हूँ कि दो हजार पुरुष भी मुश्किलसे नवतत्त्वको पढ़ना जानते होंगे। मनन और विचारपूर्वक जाननेवाले पुरुष तो उँगलियोंपर गिनने लायक भी न होंगे। तत्त्वज्ञानकी जब ऐसी पतित स्थिति हो गई है, तभी मतमतान्तर बढ़ गये हैं। एक कहावत है कि "सौ स्याने एक मत," इसी तरह अनेक तत्त्वविचारक पुरुषोंके मतमें बहुधा भिन्नता नहीं आती. इसलिये तत्त्वावबोध परम आवश्यक है।

इस नवतत्त्व-विचारके संबंधमें प्रत्येक मुनियोंसे मेरी विज्ञप्ति है कि वे विवेक और गुरुगम्यतासे इसके ज्ञानकी विशेषरूपसे वृद्धि करें, इससे उनके पवित्र पाँच महाव्रत दृढ़ होंगे; जिनेश्वरके वचनामृतके अनुपम आनन्दकी प्रसादी मिलेगी; मुनित्व-आचार पालनेमें सरल हो जायगा; ज्ञान और क्रियाके विशुद्ध रहनेसे सम्यक्त्वका उदय होगा; और परिणाममें संसारका अंत होगा।

सूक्ष्म द्वादशांगी ज्ञान भी इस नवतत्त्व स्वरूप ज्ञानका सहायरूप है, वह भिन्न भिन्न प्रकारसे इस नवतत्त्व स्वरूप ज्ञानका उपदेश करता है। इस कारण यह निःशंकरूपसे मानना चाहिये कि जिसने अनंत भावभेदसे नवतत्त्वको जान लिया वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गया।

यह नवतत्त्व त्रिपदीकी अपेक्षासे घटाना चाहिये। हेय, ज्ञेय और उपादेय अर्थात् त्याग करने योग्य, जानने योग्य, और ग्रहण करने योग्य, ये तीन भेद नवतत्त्व स्वरूपके विचारमें अन्तर्हित हैं।

प्रश्न—जो त्यागने योग्य है उसे जानकर हम क्या करेंगे? जिस गाँवमें जाना नहीं है उसका मार्ग पूँछनेसे क्या प्रयोजन?

उत्तर—तुम्हारी इस शंकाका सहजमें ही समाधान हो सकता है। त्यागने योग्यको भी जानना आवश्यक है। सर्वज्ञ भी सब प्रकारके प्रपंचोंको जान रहे हैं। त्यागने योग्य वस्तुको जाननेका मूल तत्त्व यह है कि यदि उसे न जाना हो तो कभी अत्याज्य समझकर उस वस्तुका सेवन न हो जाय। एक गाँवसे दूसरे गाँवमें पहुँचनेतक रास्तेमें जो जो गाँव आते हों उनका रास्ता भी पूँछना पड़ता है। नहीं तो इष्ट स्थानपर नहीं पहुँच सकते। जैसे उस गाँवके पूँछनेपर भी उसमें ठहरते नहीं हैं, उसी तरह पाप आदि तत्त्वोंको जानना चाहिये किन्तु उन्हें ग्रहण नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार रास्तेमें आनेवाले गाँवोंको छोड़ते जाते हैं, उसी तरह उनका भी त्याग करना आवश्यक है।

८४ तत्त्वावबोध

(२)

नवतत्त्वका कालभेदसे जो सत्पुरुष गुरुके पाससे श्रवण, मनन और निदिध्यासनपूर्वक ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे सत्पुरुष महापुण्यशाली और धन्यवादके पात्र हैं। प्रत्येक सुज्ञ पुरुषोंको मेरा विनयभाव-भूषित यही उपदेश है कि नवतत्त्वको अपनी बुद्धि-अनुसार यथार्थ जानना चाहिये।

महावीर भगवान्के शासनमें बहुतसे मतमतांतर पड़ गये हैं, उसका मुख्य कारण यही है कि तत्त्वज्ञानकी ओरसे उपासक-वर्गका लक्ष फिर गया। वे लोग केवल क्रियाभावमें ही लगे रहे, जिसका परिणाम दृष्टिगोचर है। वर्तमान खोजमें आयी हुई पृथिवीकी आबादी लगभग डेढ़ अरबकी गिनी जाती है; उसमें सब गच्छोंको मिलाकर जैन लोग केवल बीस लाख हैं। ये लोग श्रमणोपासक हैं। इनमेंसे मैं अनुमान करता हूँ कि दो हज़ार पुरुष भी मुश्किलसे नवतत्त्वको पढ़ना जानते होंगे। मनन और विचारपूर्वक जाननेवाले पुरुष तो उंगलियोंपर गिनने लायक भी न होंगे। तत्त्वज्ञानकी जब ऐसी पतित स्थिति हो गई है, तभी मतमतांतर बढ़ गये हैं। एक कहावत है कि "सौ स्याने एक मत," इसी तरह अनेक तत्त्वविचारक पुरुषोंके मतमें बहुधा भिन्नता नहीं आती, इसलिये तत्त्वावबोध परम आवश्यक है।

इस नवतत्त्व-विचारके संबंधमें प्रत्येक मुनियोंसे मेरी विनति है कि वे विवेक और गुरुगम्यतासे इसके ज्ञानकी विशेषरूपसे वृद्धि करें, इससे उनके पवित्र पाँच महाव्रत दृढ होंगे; जिनेश्वरके वचनामृतके अनुपम आनन्दकी प्रसादी मिलेगी; मुनित्व-आचार पालनेमें सरल हो जायगा; ज्ञान और क्रियाके विशुद्ध रहनेसे सम्यक्त्वका उदय होगा; और परिणाममें संसारका अंत होगा।

८२ तत्त्वावबोध

१

दशवैकालिक सूत्रमें कथन है कि जिसने जीवाजीवके भावोंको नहीं जाना वह अबुध संयममें कैसे स्थिर रह सकता है? इस वचनामृतका तात्पर्य यह है कि तुम आत्मा अनात्माके स्वरूपको जानो, इसके जाननेकी अत्यंत आवश्यकता है।

आत्मा अनात्माका सत्य स्वरूप निर्ग्रन्थ प्रवचनमेंसे ही प्राप्त हो सकता है। अनेक अन्य मतोंमें इन दो तत्त्वोंके विषयमें विचार प्रगट किये गये हैं, परन्तु वे यथार्थ नहीं है। महाप्रज्ञावान आचार्यों द्वारा किये गये विवेचन सहित प्रकारांतरसे कहे हुए मुख्य नौ तत्त्वोंको जो विवेक बुद्धिसे जानता है, वह सत्पुरुष आत्माके स्वरूपको पहचान सकता है।

स्याद्वादकी शैली अनुपम और अनंत भाव-भेदोंसे भरी है। इस शैलीको परिपूर्णरूपसे तो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी ही जान सकते हैं, फिर भी इनके वचनामृतके अनुसार आगमकी मददसे बुद्धिके अनुसार नौ तत्त्वका स्वरूप जानना आवश्यक है। इन नौ तत्त्वोंको प्रिय श्रद्धा भावसे जाननेसे परम विवेक-बुद्धि, शुद्ध सम्यक्त्व और प्रभाविक आत्म-ज्ञानका उदय होता है। नौ तत्त्वोंमें लोकालोकका सम्पूर्ण स्वरूप आ जाता है। जितनी जिसकी बुद्धिकी गति है, उतनी वे तत्त्वज्ञानकी ओर दृष्टि पहुँचाते हैं, और भावके अनुसार उनकी आत्माकी उज्ज्वलता होती है। इससे वे आत्म-ज्ञानके निर्मल रसका अनुभव करते हैं। जिनका तत्त्वज्ञान उत्तम और सूक्ष्म है, तथा जो सुशीलयुक्त तत्त्वज्ञानका सेवन करते हैं वे पुरुष महान् भाग्यशाली हैं।

इन नौ तत्त्वोंके नाम पहिलेके शिक्षापाठमें मैं कह गया हूँ। इनका विशेष स्वरूप प्रज्ञावान् आचार्योंके महान् ग्रंथोंसे अवश्य जानना चाहिये; क्योंकि सिद्धांतमें जो जो कहा है उन सबके विशेष भेदोंसे समझनेमें प्रज्ञावान् आचार्यों द्वारा विरचित ग्रंथ सहायभूत हैं। ये गुरुगम्य भी हैं। नय, निक्षेप और प्रमाणके भेद नवतत्त्वके ज्ञानमे आवश्यक है, और उनका यथार्थज्ञान इन प्रज्ञावंतोंने बताया है।

८३ तत्त्वावबोध

(२)

सर्वज्ञ भगवान्ने लोकालोकके सम्पूर्ण भावोंको जाना और देखा और उनका उपदेश उन्होंने भव्य लोगोंको दिया। भगवान्ने अनंत ज्ञानके द्वारा लोकालोकके स्वरूपविषयक अनंत भेद जाने थे; परन्तु सामान्य मनुष्योंको उपदेशके द्वारा श्रेणी चढ़नेके लिए उन्होंने मुख्य नव पदार्थको बताया। इससे लोकालोकके सब भावोंका इसमें समावेश हो जाता है। निर्ग्रन्थ प्रवचनका जो जो सूक्ष्म उपदेश है वह तत्त्वकी दृष्टिसे नवतत्त्वमें समाविष्ट हो जाता है। तथा सम्पूर्ण धर्ममतोंका सूक्ष्म विचार इस नवतत्त्व-विज्ञानके एक देशमें आ जाता है। आत्माकी जो अनंत शक्तियाँ ढँकी हुई हैं उन्हें प्रकाशित करनेके लिये अर्हंत भगवान्का पवित्र उपदेश है। ये अनंत शक्तियाँ उस समय प्रफुल्लित हो सकती हैं जब कि नवतत्त्व-विज्ञानका पारावार ज्ञानी हो जाय।

सूक्ष्म द्वादशांगी ज्ञान भी इस नवतत्त्व स्वरूप ज्ञानका सहायरूप है, यह भिन्न भिन्न प्रकारसे इस नवतत्त्व स्वरूप ज्ञानका उपदेश करता है। इस कारण यह निःशंकरूपसे मानना चाहिये कि जिसने अनंत भावभेदसे नवतत्त्वको जान लिया वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गया।

यह नवतत्त्व त्रिपदीकी अपेक्षासे घटाना चाहिये। हेय, ज्ञेय और उपादेय अर्थात् त्याग करने योग्य, जानने योग्य, और ग्रहण करने योग्य, ये तीन भेद नवतत्त्व स्वरूपके विचारमें अन्तर्हित हैं।

प्रश्न—जो त्यागने योग्य है उसे जानकर हम क्या करेंगे? जिस गाँवमें जाना नहीं है उसका मार्ग पूँछनेसे क्या प्रयोजन?

उत्तर—तुम्हारी इस शंकाका सहजमें ही समाधान हो सकता है। त्यागने योग्यको भी जानना आवश्यक है। सर्वज्ञ भी सब प्रकारके प्रपंचोंको जान रहे हैं। त्यागने योग्य वस्तुको जाननेका मूल तत्त्व यह है कि यदि उसे न जाना हो तो कभी अत्याज्य समझकर उस वस्तुका सेवन न हो जाय। एक गाँवसे दूसरे गाँवमें पहुँचनेतक रास्तेमें जो जो गाँव आते हों उनका रास्ता भी पूँछना पड़ता है। नहीं तो इष्ट स्थानपर नहीं पहुँच सकते। जैसे उस गाँवके पूँछनेपर भी उसमें ठहरते नहीं हैं, उसी तरह पाप आदि तत्त्वोंको जानना चाहिये किन्तु उन्हें ग्रहण नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार रास्तेमें आनेवाले गाँवोंको छोड़ते जाते हैं, उसी तरह उनका भी त्याग करना आवश्यक है।

८४ तत्त्वावबोध

(३)

नवतत्त्वका कालभेदसे जो सत्पुरुष गुरुके पाससे श्रवन, मनन और निदिध्यासनपूर्वक ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे सत्पुरुष महापुण्यशाली और धन्यवादके पात्र हैं। प्रत्येक सुज्ञ पुरुषोंको मेरा विनयभाव-भूषित यही उपदेश है कि नवतत्त्वको अपनी बुद्धि-अनुसार यथार्थ जानना चाहिये।

महावीर भगवान्के शासनमें बहुतसे मतमतांतर पड़ गये हैं, उसका मुख्य कारण यही है कि तत्त्वज्ञानकी ओरसे उपासक-वर्गका लक्ष फिर गया। वे लोग केवल क्रियाभावमें ही लगे रहे, जिसका परिणाम दृष्टिगोचर है। वर्तमान खोजमें आयी हुई पृथिवीकी आबादी लगभग डेढ़ अरबकी गिनी जाती है; उसमें सब गच्छोंको मिलाकर जैन लोग केवल बीस लाख हैं। ये लोग श्रमणोपासक हैं। इनमेंसे मैं अनुमान करता हूँ कि दो हजार पुरुष भी मुश्किलसे नवतत्त्वको पढ़ना जानते होंगे। मनन और विचारपूर्वक जाननेवाले पुरुष तो उँगलियोंपर गिनने लायक भी न होंगे। तत्त्वज्ञानकी जब ऐसी पतित स्थिति हो गई है, तभी मतमतान्तर बढ़ गये हैं। एक कहावत है कि "सौ स्याने एक मत," इसी तरह अनेक तत्त्वविचारक पुरुषोंके मतमें बहुधा भिन्नता नहीं आती, इसलिये तत्त्वावबोध परम आवश्यक है।

इस नवतत्त्व-विचारके संबंधमें प्रत्येक मुनियोंसे मेरी विज्ञप्ति है कि वे विवेक और गुरुगम्यतासे इसके ज्ञानकी विशेषरूपसे वृद्धि करें, इससे उनके पवित्र पाँच महाव्रत दृढ़ होंगे; जिनेश्वरके वचनामृतके अनुपम आनन्दकी प्रसादी मिलेगी; मुनित्व-आचार पालनेमें सरल हो जायगा; ज्ञान और क्रियाके विशुद्ध रहनेसे सम्यक्त्वका उदय होगा; और परिणाममें संसारका अंत होगा।

सूत्र द्वादशांगी ज्ञान भी इस नवतत्त्व स्वरूप ज्ञानका सहायरूप है, यह भिन्न भिन्न प्रकारसे इस नवतत्त्व स्वरूप ज्ञानका उपदेश करता है। इस कारण यह निःशंकरूपसे मानना चाहिये कि जिसने अनंत भावभेदसे नवतत्त्वको जान लिया वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गया।

यह नवतत्त्व त्रिपदीकी अपेक्षासे घटाना चाहिये। हेय, ज्ञेय और उपादेय अर्थात् त्याग करने योग्य, जानने योग्य, और ग्रहण करने योग्य, ये तीन भेद नवतत्त्व स्वरूपके विचारमें अन्तर्हित हैं।

प्रश्न—जो त्यागने योग्य है उसे जानकर हम क्या करेंगे? जिस गाँवमें जाना नहीं है उसका मार्ग पूँछनेसे क्या प्रयोजन?

उत्तर—तुम्हारी इस शंकाका सहजमें ही समाधान हो सकता है। त्यागने योग्यको भी जानना आवश्यक है। सर्वज्ञ भी सब प्रकारके प्रपंचोंको जान रहे हैं। त्यागने योग्य वस्तुको जाननेका मूल तत्त्व यह है कि यदि उसे न जाना हो तो कभी अत्याज्य समझकर उस वस्तुका सेवन न हो जाय। एक गाँवसे दूसरे गाँवमें पहुँचनेतक रास्तेमें जो जो गाँव आते हों उनका रास्ता भी पूँछना पड़ता है। नहीं तो इष्ट स्थानपर नहीं पहुँच सकते। जैसे उन गाँवके पूँछनेपर भी उसमें ठहरते नहीं हैं, उसी तरह पाप आदि तत्त्वोंको जानना चाहिये किन्तु उन्हें ग्रहण नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार रास्तेमें आनेवाले गाँवोंको छोड़ते जाते हैं, उसी तरह उनका भी त्याग करना आवश्यक है।

८४ तत्त्वावबोध

(३)

नवतत्त्वका कालभेदसे जो सत्पुरुष गुरुके पाससे श्रवण, मनन और निदिध्यासनपूर्वक ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे सत्पुरुष महापुण्यशाली और धन्यवादके पात्र हैं। प्रत्येक सुज्ञ पुरुषोंको मेरा विनयभाव-भूषित यही उपदेश है कि नवतत्त्वको अपनी बुद्धि-अनुसार यथार्थ जानना चाहिये।

महावीर भगवान्के शासनमें बहुतसे मतमतांतर पड़ गये हैं, उसका मुख्य कारण यही है कि तत्त्वज्ञानकी ओरसे उपासक-वर्गका लक्ष फिर गया। वे लोग केवल क्रियाभावमें ही लगे रहे, जिसका परिणाम दृष्टिगोचर है। वर्तमान खोजमें आयी हुई पृथिवीकी आबादी लगभग डेढ़ अरबकी गिनी जाती है; उसमें सब गच्छोंको मिलाकर जैन लोग केवल बीस लाख हैं। ये लोग श्रमणोपासक हैं। इनमेंसे मैं अनुमान करता हूँ कि दो हजार पुरुष भी मुश्किलसे नवतत्त्वको पढ़ना जानते होंगे। मनन और विचारपूर्वक जाननेवाले पुरुष तो उँगलियोंपर गिनने लायक भी न होंगे। तत्त्वज्ञानकी जब ऐसी पतित स्थिति हो गई है, तभी मतमतांतर बढ़ गये हैं। एक कहावत है कि "सौ स्याने एक मत," इसी तरह अनेक तत्त्वविचारक पुरुषोंके मतमें बहुधा भिन्नता नहीं आती. इसलिये तत्त्वावबोध परम आवश्यक है।

इस नवतत्त्व-विचारके संबंधमें प्रत्येक मुनियोंसे मेरी विज्ञप्ति है कि वे विवेक और गुरुगम्यतासे इसके ज्ञानकी विशेषरूपसे वृद्धि करें, इससे उनके पवित्र पाँच महाव्रत दृढ़ होंगे; जिनेश्वरके वचनामृतके अनुपम आनन्दकी प्रसादी मिलेगी; मुनित्व-आचार पालनेमें सरल हो जायगा; ज्ञान और क्रियाके विशुद्ध रहनेसे सम्यक्त्वका उदय होगा; और परिणाममें संसारका अंत होगा।

८२ तत्त्वावबोध

१

दशवैकालिक सूत्रमें कथन है कि जिसने जीवाजीवके भावोंको नहीं जाना वह अबुध संयममें कैसे स्थिर रह सकता है ? इस वचनामृतका तत्पर्य यह है कि तुम आत्मा अनात्माके स्वरूपको जानो, इसके जाननेकी अत्यंत आवश्यकता है।

आत्मा अनात्माका सत्य स्वरूप निर्ग्रन्थ प्रवचनमेंसे ही प्राप्त हो सकता है। अनेक अन्य मतोंमें इन दो तत्त्वोंके विषयमें विचार प्रगट किये गये हैं, परन्तु वे यथार्थ नहीं हैं। महाप्रज्ञावान आचार्यों द्वारा किये गये विवेचन सहित प्रकारांतरसे कहे हुए मुख्य नौ तत्त्वोंको जो विवेक बुद्धिसे जानता है, वह सत्पुरुष आत्माके स्वरूपको पहचान सकता है।

स्याद्वादकी शैली अनुपम और अनंत भाव-भेदोंसे भरी है। इस शैलीको परिपूर्णरूपसे तो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी ही जान सकते हैं, फिर भी इनके वचनामृतके अनुसार आगमकी मददसे बुद्धिके अनुसार नौ तत्त्वका स्वरूप जानना आवश्यक है। इन नौ तत्त्वोंको प्रिय श्रद्धा भावसे जाननेसे परम विवेक-बुद्धि, शुद्ध सम्यक्त्व और प्रभाविक आत्म-ज्ञानका उदय होता है। नौ तत्त्वोंमें लोकालोकका सम्पूर्ण स्वरूप आ जाता है। जितनी जिसकी बुद्धिकी गति है, उतनी वे तत्त्वज्ञानकी ओर दृष्टि पहुँचाते हैं, और भावके अनुसार उनकी आत्माकी उज्ज्वलता होती है। इससे वे आत्म-ज्ञानके निर्मल रसका अनुभव करते हैं। जिनका तत्त्वज्ञान उत्तम और सूक्ष्म है, तथा जो सुशीलयुक्त तत्त्वज्ञानका सेवन करते हैं वे पुरुष महान् भाग्यशाली हैं।

इन नौ तत्त्वोंके नाम पहिलेके शिक्षापाठमें मैं कह गया हूँ। इनका विशेष स्वरूप प्रज्ञावान् आचार्योंके महान् ग्रंथोंसे अवश्य जानना चाहिये; क्योंकि सिद्धांतमें जो जो कहा है उन सबके विशेष भेदोंसे समझनेमें प्रज्ञावान् आचार्यों द्वारा विरचित ग्रंथ सहायभूत हैं। ये गुरुगम्य भी हैं। नय, निक्षेप और प्रमाणके भेद नवतत्त्वके ज्ञानमें आवश्यक हैं, और उनका यथार्थज्ञान इन प्रज्ञावंतोंने बताया है।

८३ तत्त्वावबोध

(२)

सर्वज्ञ भगवान्ने लोकालोकके सम्पूर्ण भावोंको जाना और देखा और उनका उपदेश उन्होंने भव्य लोगोंको दिया। भगवान्ने अनंत ज्ञानके द्वारा लोकालोकके स्वरूपविषयक अनंत भेद जाने थे; परन्तु सामान्य मनुष्योंको उपदेशके द्वारा श्रेणी चढ़नेके लिए उन्होंने मुख्य नव पदार्थको बताया। इससे लोकालोकके सब भावोंका इसमें समावेश हो जाता है। निर्ग्रन्थ प्रवचनका जो जो सूक्ष्म उपदेश है वह तत्त्वकी दृष्टिसे नवतत्त्वमें समाविष्ट हो जाता है। तथा सम्पूर्ण धर्ममतोंका सूक्ष्म विचार इस नवतत्त्व-विज्ञानके एक देशमें आ जाता है। आत्माकी जो अनंत शक्तियाँ ढँकी हुई हैं उन्हें प्रकाशित करनेके लिये अर्हंत भगवान्का पवित्र उपदेश है। ये अनंत शक्तियाँ उस समय प्रफुल्लित हो सकती हैं जब कि नवतत्त्व-विज्ञानका पारावार ज्ञानी हो जाय।

सूक्ष्म द्वादशांगी ज्ञान भी इस नवतत्त्व स्वरूप ज्ञानका सहायरूप है, वह भिन्न भिन्न प्रकारसे इस नवतत्त्व स्वरूप ज्ञानका उपदेश करता है। इस कारण यह निःशंकरूपसे मानना चाहिये कि जिसने अनंत भावभेदसे नवतत्त्वको जान लिया वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गया।

यह नवतत्त्व त्रिपदीकी अपेक्षासे घटाना चाहिये। हेय, ज्ञेय और उपादेय अर्थात् त्याग करने योग्य, जानने योग्य, और ग्रहण करने योग्य, ये तीन भेद नवतत्त्व स्वरूपके विचारमें अन्तर्हित हैं।

प्रश्न—जो त्यागने योग्य है उसे जानकर हम क्या करेंगे ? जिस गाँवमें जाना नहीं है उसका मार्ग पूँछनेसे क्या प्रयोजन ?

उत्तर—तुम्हारी इस शंकाका सहजमें ही समाधान हो सकता है। त्यागने योग्यको भी जानना आवश्यक है। सर्वज्ञ भी सब प्रकारके प्रपंचोंको जान रहे हैं। त्यागने योग्य वस्तुको जाननेका मूल तत्त्व यह है कि यदि उसे न जाना हो तो कभी अत्याज्य समझकर उस वस्तुका सेवन न हो जाय। एक गाँवसे दूसरे गाँवमें पहुँचनेतक रास्तेमें जो जो गाँव आते हों उनका रास्ता भी पूँछना पड़ता है। नहीं तो इष्ट स्थानपर नहीं पहुँच सकते। जैसे उस गाँवके पूँछनेपर भी उसमें ठहरते नहीं हैं, उसी तरह पाप आदि तत्त्वोंको जानना चाहिये किन्तु उन्हें ग्रहण नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार रास्तेमें आनेवाले गाँवोंको छोड़ते जाते हैं, उसी तरह उनका भी त्याग करना आवश्यक है।

८४ तत्त्वावबोध

(३)

नवतत्त्वका कालभेदसे जो सत्पुरुष गुरुके पाससे श्रवण, मनन और निदिध्यासनपूर्वक ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे सत्पुरुष महापुण्यशाली और धन्यवादके पात्र हैं। प्रत्येक सुज्ञ पुरुषोंको मेरा विनयभाव-भूषित यही उपदेश है कि नवतत्त्वको अपनी बुद्धि-अनुसार यथार्थ जानना चाहिये।

महावीर भगवान्के शासनमें बहुतसे मतमतांतर पड़ गये हैं, उसका मुख्य कारण यही है कि तत्त्वज्ञानकी ओरसे उपासक-वर्गका लक्ष फिर गया। वे लोग केवल क्रियाभावमें ही लगे रहे, जिसका परिणाम दृष्टिगोचर है। वर्तमान खोजमें आयी हुई पृथिवीकी आबादी लगभग डेढ़ अरबकी गिनी जाती है; उसमें सब गच्छोंको मिलाकर जैन लोग केवल बीस लाख हैं। ये लोग श्रमणोपासक हैं। इनमेंसे मैं अनुमान करता हूँ कि दो हज़ार पुरुष भी मुश्किलसे नवतत्त्वको पढ़ना जानते होंगे। मनन और विचारपूर्वक जाननेवाले पुरुष तो उँगलियोंपर गिनने लायक भी न होंगे। तत्त्वज्ञानकी जब ऐसी पतित स्थिति हो गई है, तभी मतमतांतर बढ़ गये हैं। एक कहावत है कि "सौ स्याने एक मत," इसी तरह अनेक तत्त्वविचारक पुरुषोंके मतमें बहुधा भिन्नता नहीं आती. इसलिये तत्त्वावबोध परम आवश्यक है।

इस नवतत्त्व-विचारके संबंधमें प्रत्येक मुनियोंसे मेरी विज्ञप्ति है कि वे विवेक और गुरुगम्यतासे इसके ज्ञानकी विशेषरूपसे वृद्धि करें, इससे उनके पवित्र पाँच महाव्रत दृढ़ होंगे; जिनेश्वरके वचनामृतके अनुपम आनन्दकी प्रसादी मिलेगी; मुनित्व-आचार पालनेमें सरल हो जायगा; ज्ञान और क्रियाके विशुद्ध रहनेसे सम्यक्त्वका उदय होगा; और परिणाममें संसारका अंत होगा।

८२ तत्त्वावबोध

१

दशवैकालिक सूत्रमें कथन है कि जिसने जीवाजीवके भावोंको नहीं जाना वह अबुध संयममें कैसे स्थिर रह सकता है? इस वचनामृतका तात्पर्य यह है कि तुम आत्मा अनात्माके स्वरूपको जानो, इसके जाननेकी अत्यंत आवश्यकता है।

आत्मा अनात्माका सत्य स्वरूप निर्ग्रन्थ प्रवचनमेंसे ही प्राप्त हो सकता है। अनेक अन्य मतोंमें इन दो तत्त्वोंके विषयमें विचार प्रगट किये गये हैं, परन्तु वे यथार्थ नहीं हैं। महाप्रज्ञावान आचार्यों द्वारा किये गये विवेचन सहित प्रकारांतरसे कहे हुए मुख्य नौ तत्त्वोंको जो विवेक बुद्धिसे जानता है, वह सत्पुरुष आत्माके स्वरूपको पहचान सकता है।

स्याद्वादकी शैली अनुपम और अनंत भाव-भेदोंसे भरी है। इस शैलीको परिपूर्णरूपसे तो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी ही जान सकते हैं, फिर भी इनके वचनामृतके अनुसार आगमकी मददसे बुद्धिके अनुसार नौ तत्त्वोंका स्वरूप जानना आवश्यक है। इन नौ तत्त्वोंको प्रिय श्रद्धा भावसे जाननेसे परम विवेकबुद्धि, शुद्ध सम्यक्त्व और प्रभाविक आत्म-ज्ञानका उदय होता है। नौ तत्त्वोंमें लोकालोकका सम्पूर्ण स्वरूप आ जाता है। जितनी जिसकी बुद्धिकी गति है, उतनी वे तत्त्वज्ञानकी ओर दृष्टि पहुँचाते हैं, और भावके अनुसार उनकी आत्माकी उज्ज्वलता होती है। इससे वे आत्म-ज्ञानके निर्मल रसका अनुभव करते हैं। जिनका तत्त्वज्ञान उत्तम और सूक्ष्म है, तथा जो सुशीलयुक्त तत्त्वज्ञानका सेवन करते हैं वे पुरुष महान् भाग्यशाली हैं।

इन नौ तत्त्वोंके नाम पहिलेके शिक्षापाठमें मैं कह गया हूँ। इनका विशेष स्वरूप प्रज्ञावान आचार्योंके महान् ग्रंथोंसे अवश्य जानना चाहिये; क्योंकि सिद्धांतमें जो जो कहा है उन सबके विशेष भेदोंके समझनेमें प्रज्ञावान आचार्यों द्वारा विरचित ग्रंथ सहायभूत हैं। ये गुरुगम्य भी हैं। नय, निक्षेप और प्रमाणके भेद नवतत्त्वके ज्ञानमें आवश्यक हैं, और उनका यथार्थज्ञान इन प्रज्ञावंतोंने बताया है।

८३ तत्त्वावबोध

(२)

सर्वज्ञ भगवानने लोकालोकके सम्पूर्ण भावोंको जाना और देखा और उनका उपदेश उन्होंने भव्य लोगोंको दिया। भगवानने अनंत ज्ञानके द्वारा लोकालोकके स्वरूपविषयक अनंत भेद जाने हैं, परन्तु सामान्य मनुष्योंको उपदेशके द्वारा श्रेणी चढ़नेके लिए उन्होंने मुख्य नव पदार्थोंको बताया। इससे लोकालोकके सब भावोंका इसमें समावेश हो जाता है। निर्ग्रन्थ प्रवचनका जो जो सूक्ष्म उपदेश है, वह तत्त्वकी दृष्टिसे नव तत्त्वमें समाविष्ट हो जाता है। तथा सम्पूर्ण धर्ममतोंका सूक्ष्म विचार इन नवतत्त्व विज्ञानके एक देशमें आ जाता है। आत्माकी जो अनंत शक्तियाँ ढँकी हुई हैं उन्हें प्रकाशित करनेके लिये अर्हत् भगवानका पवित्र उपदेश है। ये अनंत शक्तियाँ उस समय प्रफुल्लित हो सकती हैं जब कि नवतत्त्वविज्ञानका पारावार ज्ञानी हो जाय।

सूक्ष्म द्वादशांगी ज्ञान भी इस नवतत्त्व स्वरूप ज्ञानका सहायरूप है, वह भिन्न भिन्न प्रकारसे इस नवतत्त्व स्वरूप ज्ञानका उपदेश करता है। इस कारण यह निःशंकरूपसे मानना चाहिये कि जिसने अनंत भावभेदसे नवतत्त्वको जान लिया वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गया।

यह नवतत्त्व त्रिपदीकी अपेक्षासे घटाना चाहिये। हेय, ज्ञेय और उपादेय अर्थात् त्याग करने योग्य, जानने योग्य, और ग्रहण करने योग्य, ये तीन भेद नवतत्त्व स्वरूपके विचारमें अन्तर्हित हैं।

प्रश्न—जो त्यागने योग्य है उसे जानकर हम क्या करेंगे? जिस गाँवमें जाना नहीं है उसका मार्ग पूँछनेसे क्या प्रयोजन?

उत्तर—तुम्हारी इस शंकाका सहजमें ही समाधान हो सकता है। त्यागने योग्यको भी जानना आवश्यक है। सर्वज्ञ भी सब प्रकारके प्रपंचोंको जान रहे हैं। त्यागने योग्य वस्तुको जाननेका मूल तत्त्व यह है कि यदि उसे न जाना हो तो कभी अत्याज्य समझकर उस वस्तुका सेवन न हो जाय। एक गाँवसे दूसरे गाँवमें पहुँचनेतक रास्तेमें जो जो गाँव आते हों उनका रास्ता भी पूँछना पड़ता है। नहीं तो इष्ट स्थानपर नहीं पहुँच सकते। जैसे उस गाँवके पूँछनेपर भी उसमें ठहरते नहीं हैं, उसी तरह पाप आदि तत्त्वोंको जानना चाहिये किन्तु उन्हें ग्रहण नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार रास्तेमें आनेवाले गाँवोंको छोड़ते जाते हैं, उसी तरह उनका भी त्याग करना आवश्यक है।

८४ तत्त्वावबोध

(३)

नवतत्त्वका कालभेदसे जो सत्पुरुष गुरुके पाससे श्रवण, मनन और निदिध्यासनपूर्वक ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे सत्पुरुष महापुण्यशाली और धन्यवादके पात्र हैं। प्रत्येक सुज्ञ पुरुषोंको मेरा विनयभाव-भूषित यही उपदेश है कि नवतत्त्वको अपनी बुद्धि-अनुसार यथार्थ जानना चाहिये।

महावीर भगवान्के शासनमें बहुतसे मतमतांतर पड़ गये हैं, उसका मुख्य कारण यही है कि तत्त्वज्ञानकी ओरसे उपासक-वर्गका लक्ष फिर गया। वे लोग केवल क्रियाभावमें ही लगे रहे, जिसका परिणाम दृष्टिगोचर है। वर्तमान खोजमें आयी हुई पृथिवीकी आबादी लगभग डेढ़ अरबकी गिनी जाती है; उसमें सब गच्छोंको मिलाकर जैन लोग केवल बीस लाख हैं। ये लोग श्रमणोपासक हैं। इनमेंसे मैं अनुमान करता हूँ कि दो हज़ार पुरुष भी मुश्किलसे नवतत्त्वको पढ़ना जानते होंगे। मनन और विचारपूर्वक जाननेवाले पुरुष तो उँगलियोंपर गिनने लायक भी न होंगे। तत्त्वज्ञानकी जब ऐसी पतित स्थिति हो गई है, तभी मतमतांतर बढ़ गये हैं। एक कहावत है कि "सौ स्याने एक मत," इसी तरह अनेक तत्त्वविचारक पुरुषोंके मतमें बहुधा भिन्नता नहीं आती, इसलिये तत्त्वावबोध परम आवश्यक है।

इस नवतत्त्व-विचारके संबंधमें प्रत्येक मुनियोंसे मेरी विज्ञप्ति है कि वे विवेक और गुरुगम्यतासे इसके ज्ञानकी विशेषरूपसे वृद्धि करें, इससे उनके पवित्र पाँच महाव्रत दृढ़ होंगे; जिनेश्वरके वचनामृतके अनुपम आनन्दकी प्रसादी मिलेगी; मुनित्व-आचार पालनेमें सरल हो जायगा; ज्ञान और क्रियाके विशुद्ध रहनेसे सम्यक्त्वका उदय होगा; और परिणाममें संसारका अंत होगा।

८२ तत्त्वावबोध

१

दशवैकालिक सूत्रमें कथन है कि जिसने जीवाजीवके भावोंको नहीं जाना वह अबुध संयममें कैसे स्थिर रह सकता है ? इस वचनामृतका तात्पर्य यह है कि तुम आत्मा अनात्माके स्वरूपको जानो, इसके जाननेकी अत्यंत आवश्यकता है।

आत्मा अनात्माका सत्य स्वरूप निर्ग्रंथ प्रवचनमेंसे ही प्राप्त हो सकता है। अनेक अन्य मतोंमें इन दो तत्त्वोंके विषयमें विचार प्रगट किये गये हैं, परन्तु वे यथार्थ नहीं हैं। महाप्रज्ञावान आचार्यों द्वारा किये गये विवेचन सहित प्रकारांतरसे कहे हुए मुख्य नौ तत्त्वोंको जो विवेक बुद्धिसे जानता है, वह सत्पुरुष आत्माके स्वरूपको पहचान सकता है।

स्याद्वादकी शैली अनुपम और अनंत भाव-भेदोंसे भरी है। इस शैलीको परिपूर्णरूपसे तो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी ही जान सकते हैं, फिर भी इनके वचनामृतके अनुसार आगमकी मददसे बुद्धिके अनुसार नौ तत्त्वका स्वरूप जानना आवश्यक है। इन नौ तत्त्वोंको प्रिय श्रद्धा भावसे जाननेसे परम विवेक-बुद्धि, शुद्ध सम्यक्त्व और प्रभाविक आत्म-ज्ञानका उदय होता है। नौ तत्त्वोंमें लोकालोकका सम्पूर्ण स्वरूप आ जाता है। जितनी जिसकी बुद्धिकी गति है, उतनी वे तत्त्वज्ञानकी ओर दृष्टि पहुँचाते हैं, और भावके अनुसार उनकी आत्माकी उज्ज्वलता होती है। इससे वे आत्म-ज्ञानके निर्मल रसका अनुभव करते हैं। जिनका तत्त्वज्ञान उत्तम और सूक्ष्म है, तथा जो सुशीलयुक्त तत्त्वज्ञानका सेवन करते हैं वे पुरुष महान् भाग्यशाली हैं।

इन नौ तत्त्वोंके नाम पहिलेके शिक्षापाठमें मैं कह गया हूँ। इनका विशेष स्वरूप प्रज्ञावान् आचार्योंके महान् ग्रंथोंसे अवश्य जानना चाहिये; क्योंकि सिद्धांतमें जो जो कहा है उन सबके विशेष भेदोंमें समझनेमें प्रज्ञावान् आचार्यों द्वारा विरचित ग्रंथ सहायभूत हैं। ये गुरुगम्य भी हैं। नय, निक्षेप और प्रमाणके भेद नवतत्त्वके ज्ञानमें आवश्यक हैं, और उनका यथार्थज्ञान इन प्रज्ञावंतोंने बताया है।

८३ तत्त्वावबोध

(२)

सर्वज्ञ भगवान्ने लोकालोकके सम्पूर्ण भावोंको जाना और देखा और उनका उपदेश उन्होंने भव्य लोगोंको दिया। भगवान्ने अनंत ज्ञानके द्वारा लोकालोकके स्वरूपविषयक अनंत भेद जाने थे; परन्तु सामान्य मनुष्योंको उपदेशके द्वारा श्रेणी चढ़नेके लिए उन्होंने मुख्य नव पदार्थको बताया। इससे लोकालोकके सब भावोंका इसमें समावेश हो जाता है। निर्ग्रंथ प्रवचनका जो जो सूक्ष्म उपदेश है वह तत्त्वकी दृष्टिसे नवतत्त्वमें समाविष्ट हो जाता है। तथा सम्पूर्ण धर्ममतोंका सूक्ष्म विचार इस नवतत्त्व-विज्ञानके एक देशमें आ जाता है। आत्माकी जो अनंत शक्तियाँ ढँकी हुई हैं उन्हें प्रकाशित करनेके लिये अर्हंत भगवान्का पवित्र उपदेश है। ये अनंत शक्तियाँ उस समय प्रफुल्लित हो सकती हैं जब कि नवतत्त्व-विज्ञानका पारावार ज्ञानी हो जाय।

सूक्ष्म द्वादशांगी ज्ञान भी इस नवतत्त्व स्वरूप ज्ञानका सहायरूप है, यह भिन्न भिन्न प्रकारसे इस नवतत्त्व स्वरूप ज्ञानका उपदेश करता है। इस कारण यह निःशंकरूपसे मानना चाहिये कि जिसने अनंत भावभेदसे नवतत्त्वको जान लिया वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गया।

यह नवतत्त्व त्रिपदीकी अपेक्षासे घटाना चाहिये। हेय, ज्ञेय और उपादेय अर्थात् त्याग करने योग्य, जानने योग्य, और ग्रहण करने योग्य, ये तीन भेद नवतत्त्व स्वरूपके विचारमें अन्तर्हित हैं।

प्रश्न—जो त्यागने योग्य है उसे जानकर हम क्या करेंगे? जिस गाँवमें जाना नहीं है उसका मार्ग पूँछनेसे क्या प्रयोजन?

उत्तर—तुम्हारी इस शंकाका सहजमें ही समाधान हो सकता है। त्यागने योग्यको भी जानना आवश्यक है। सर्वज्ञ भी सब प्रकारके प्रपंचोंको जान रहे हैं। त्यागने योग्य वस्तुको जाननेका मूल तत्त्व यह है कि यदि उसे न जाना हो तो कभी अत्याज्य समझकर उस वस्तुका सेवन न हो जाय। एक गाँवसे दूसरे गाँवमें पहुँचनेतक रास्तेमें जो जो गाँव आते हों उनका रास्ता भी पूँछना पड़ता है। नहीं तो इष्ट स्थानपर नहीं पहुँच सकते। जैसे उस गाँवके पूँछनेपर भी उसमें ठहरते नहीं हैं, उसी तरह पाप आदि तत्त्वोंको जानना चाहिये किन्तु उन्हें ग्रहण नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार रास्तेमें आनेवाले गाँवोंको छोड़ते जाते हैं, उसी तरह उनका भी त्याग करना आवश्यक है।

८४ तत्त्वावबोध
(३)

नवतत्त्वका कालभेदसे जो सत्पुरुष गुरुके पाससे श्रवण, मनन और निदिध्यासनपूर्वक ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे सत्पुरुष महापुण्यशाली और धन्यवादके पात्र हैं। प्रत्येक सुज्ञ पुरुषोंको मेरा विनयभाव-भूषित यही उपदेश है कि नवतत्त्वको अपनी बुद्धि-अनुसार यथार्थ जानना चाहिये।

महावीर भगवान्के शासनमें बहुतसे मतमतांतर पड़ गये हैं, उसका मुख्य कारण यही है कि तत्त्वज्ञानकी ओरसे उपासक-वर्गका लक्ष फिर गया। वे लोग केवल क्रियाभावमें ही लगे रहे, जिसका परिणाम दृष्टिगोचर है। वर्तमान खोजमें आयी हुई पृथिवीकी आबादी लगभग डेढ़ अरबकी गिनी जाती है; उसमें सब गच्छोंको मिलाकर जैन लोग केवल बीस लाख हैं। ये लोग श्रमणोपासक हैं। इनमेंसे मैं अनुमान करता हूँ कि दो हज़ार पुरुष भी मुश्किलसे नवतत्त्वको पढ़ना जानते होंगे। मनन और विचारपूर्वक जाननेवाले पुरुष तो उँगलियोंपर गिनने लायक भी न होंगे। तत्त्वज्ञानकी जब ऐसी पतित स्थिति हो गई है, तभी मतमतांतर बढ़ गये हैं। एक कहावत है कि "सौ स्याने एक मत," इसी तरह अनेक तत्त्वविचारक पुरुषोंके मतमें बहुधा भिन्नता नहीं आती, इसलिये तत्त्वावबोध परम आवश्यक है।

इस नवतत्त्व-विचारके संबंधमें प्रत्येक मुनियोंसे मेरी विज्ञप्ति है कि वे विवेक और गुरुगम्यतासे इसके ज्ञानकी विशेषरूपसे वृद्धि करें, इससे उनके पवित्र पाँच महाव्रत दृढ़ होंगे; जिनेश्वरके वचनामृतके अनुपम आनन्दकी प्रसादी मिलेगी; मुनित्व-आचार पालनेमें सरल हो जायगा; ज्ञान और क्रियाके विशुद्ध रहनेसे सम्यक्त्वका उदय होगा; और परिणाममें संसारका अंत होगा।

८५ तत्त्वावबोध

(४)

जो श्रमणोपासक नवतत्त्वको पढ़ना भी नहीं जानते उन्हें उसे अवश्य जानना चाहिये। जाननेके बाद बहुत मनन करना चाहिये। जितना समझमें आ सके, उतने गंभीर आशयको गुरुगम्यतासे सद्भावसे समझना चाहिये। इससे आत्म-ज्ञानकी उज्ज्वलता होगी, और यमनियम आदिका पालन होगा।

नवतत्त्वका अभिप्राय नवतत्त्व नामकी किसी सामान्य लिखी हुई पुस्तकसे नहीं। परन्तु जिन जिन स्थल पर जिन जिन विचारोंको ज्ञानियोंने प्रणीत किया है, वे सब विचार नवतत्त्वमेंके किसी न किसी एक, दो अथवा विशेष तत्त्वोंके होते हैं। केवली भगवान्ने इन श्रेणियोंसे सकल जगत्मंडल दिखा दिया है। इससे जैसे जैसे नय आदिके भेदसे इस तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होगी वैसे वैसे अपूर्व आनन्द और निर्मलताकी प्राप्ति होगी। केवल विवेक, गुरुगम्यता और अप्रमादकी आवश्यकता है। यह नवतत्त्वज्ञान मुझे बहुत प्रिय है। इसके रसानुभवी भी मुझे सदैव प्रिय हैं।

कालभेदसे इस समय सिर्फ मति और श्रुत ये दो ज्ञान भरतक्षेत्रमें विद्यमान हैं, बाकीके तीन ज्ञान व्यवच्छेद हो गये हैं; तो भी ज्यों ज्यों पूर्ण श्रद्धासहित भावसे हम इस नवतत्त्वज्ञानके विचारोंकी गुफामें उतरते जाते हैं त्यों त्यों उसके भीतर अद्भुत आत्मप्रकाश, आनंद, समर्थ तत्त्वज्ञानकी स्फुरणा, उत्तम विनोद, गंभीर चमक और आश्चर्यचकित करनेवाले शुद्ध सम्यग्ज्ञानके विचारोंका बहुत अधिक स्फुरण करते हैं। स्याद्वादवचनामृतके अनंत सुंदर आशयोंके समझनेकी शक्तिके इस कालमें इन श्रेणियोंके विच्छेद होनेपर भी उसके संबंधमे जो जो सुंदर आशय समझमें आते हैं, वे आशय अत्यन्त ही गंभीर तत्त्वोंसे भरे हुए हैं। यदि इन आशयोंको पुनः पुनः मनन किया जाय तो ये आशय चार्वाकमतिके चंचल मनुष्योंको भी सद्धर्ममें स्थिर कर देनेवाले हैं। सारांश यह है कि संक्षेपमें, सब प्रकारकी सिद्धि, पवित्रता, महाशील, सूक्ष्म और गंभीर निर्मल विचार, स्वच्छ वैराग्यकी भेट, ये सब तत्त्वज्ञानसे मिलते हैं।

८६ तत्त्वावबोध

(५)

एकबार एक समर्थ विद्वान्के साथ निर्ग्रन्थ प्रवचनकी चमत्कृतिके संबंधमें बातचीत हुई। इस संबंधमें उस विद्वान्ने कहा कि इतना मैं मानता हूँ कि महावीर एक समर्थ तत्त्वज्ञानी पुरुष थे; उन्होंने जो उपदेश किया है उसे ग्रहण करके प्रज्ञावंत पुरुषोंने अंग उपांगकी योजना की है; उनमें जो विचार हैं वे चमत्कृतिसे पूर्ण हैं, परन्तु इसके ऊपरसे इसमें लोकालोकका सब ज्ञान आ जाता है, यह मैं नहीं कह सकता। ऐसा होनेपर भी यदि आप इस संबंधमे कुछ प्रमाण देते हों तो मैं इस बातपर कुछ श्रद्धा कर सकता हूँ। इसके उत्तरमें मैंने यह कहा कि मैं कुछ जैनवचनामृतको यथार्थ तो क्या, परन्तु विशेष भेद सहित भी नहीं जानता; परन्तु जो कुछ सामान्यरूपसे जानता हूँ, इससे भी प्रमाण अवश्य दे सकता हूँ। बादमें नव-तत्त्वविज्ञानके संबंधमें बातचीत चली। मैंने कहा

इसमें समस्त सृष्टिका ज्ञान आ जाता है, परन्तु उसे यथार्थ समझनेकी शक्ति चाहिये। उन्होंने इस कथनका प्रमाण माँगा। मैंने आठ कर्मोंके नाम लिये। इसके साथ ही यह सूचित किया कि इनके सिवाय इससे भिन्न भावको दिखानेवाला आप कोई नौंवा कर्म ढूँढ़ निकालें; पाप और पुण्य प्रकृतियोंके नाम लेकर मैंने कहा कि आप इनके सिवाय एक भी अधिक प्रकृति ढूँढ़ दें। यह कहनेपर अनुक्रमसे बात चली। सबसे पहले जीवके भेद कहकर मैंने पूँछा कि क्या इनमें आप कुछ न्यूनाधिक कहना चाहते हो? अजीव द्रव्यके भेद बताकर पूँछा कि क्या आप इससे कुछ विशेष कहते हो? इसी प्रकार जब नवतत्त्वके संबंधमें बातचीत हुई तो उन्होंने थोड़ी देर विचार करके कहा, यह तो महावीरकी कहनेकी अद्भुत चमत्कृति है कि जीवका एक भी नया भेद नहीं मिलता। इसी तरह पाप पुण्य आदिकी एक भी विशेष प्रकृति नहीं मिलती; तथा नौंवा कर्म भी नहीं मिलता। ऐसे ऐसे तत्त्वज्ञानके सिद्धांत जैनदर्शनमें हैं, यह बात मेरे ध्यानमें न थी, इसमें समस्त सृष्टिका तत्त्वज्ञान कुछ अंशोंमें अवश्य आ सकता है।

८७ तत्त्वावबोध

(६)

इसका उत्तर इस ओरसे यह दिया गया कि अभी जो आप इतना कहते हैं वह तभीतक कहते हैं जब तक कि जैनधर्मके तत्त्वविचार आपके हृदयमें नहीं आये, परन्तु मैं मध्यस्थतासे सत्य कहता हूँ कि इसमें जो विशुद्ध ज्ञान बताया गया है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है; और सर्व मतोंने जो ज्ञान बताया है वह महावीरके तत्त्वज्ञानके एक भागमें आ जाता है। इनका कथन स्याद्वाद है, एकपक्षीय नहीं।

आपने कहा कि कुछ अंशमें सृष्टिका तत्त्वज्ञान इसमें अवश्य आ सकता है, परन्तु यह मिश्रवचन है। हमारे समझानेकी अल्पज्ञतासे ऐसा अवश्य हो सकता है परन्तु इससे इन तत्त्वोंमें कोई अपूर्णता है, ऐसी बात तो नहीं है। यह कोई पक्षपातयुक्त कथन नहीं। विचार करनेपर समस्त सृष्टिमेंसे इनके सिवाय कोई दसवाँ तत्त्व खोज करने पर कभी भी मिलनेवाला नहीं। इस संबंधमें प्रसंग आनेपर जब हम लोगोंमें बातचीत और मध्यस्थ चर्चा होगी तब समाधान होगा।

उत्तरमें उन्होंने कहा कि इसके उत्तरमें मुझे यह तो निस्सन्देह है कि जैनदर्शन एक अद्भुत दर्शन है। श्रेणीपूर्वक आपने मुझे नव तत्त्वोंके कुछ भाग कहे हैं इससे मैं यह बेधड़क कह सकता हूँ कि महावीर गुप्तभेदको पाये हुए पुरुष थे। इस प्रकार थोड़ीसी बातचीत करके "उप्पन्नेइ वा" "विगमेइ वा" "धुवेइ वा" यह लब्धिवाक्य उन्होंने मुझे कहा। यह कहनेके पश्चात् उन्होंने बताया कि इन शब्दोंके सामान्य अर्थमें तो कोई चमत्कृति दिखाई नहीं देती। उत्पन्न होना, नाश होना, और अचलता यही इन तीन शब्दोंका अर्थ है। परन्तु श्रीमान् गणधरोंने तो ऐसा उल्लेख किया है कि इन वचनोंके गुरुमुखसे श्रवण करनेपर पहलेके भविक शिष्योंको द्वादशांगीका आशयपूर्ण ज्ञान हो जाता था। इसके लिये मैंने कुछ विचार करके देखा भी, तो मुझे ऐसा मालूम हुआ कि ऐसा होना असंभव है; क्योंकि अत्यन्त सूक्ष्म माना हुआ सैद्धान्तिक ज्ञान इसमें कहाँसे आ सकता है? इस संबंधमें क्या आप कुछ लक्ष पहुँचा सकेंगे?

किया है वह सविवेक शैलीसे नहीं, अर्थात् कभी इसमें एकांत पक्षका ग्रहण किया जा सकता है। और फिर मैं कोई स्याद्वाद-शैलीका यथार्थ जानकर नहीं, मंदबुद्धिसे लेशमात्र जानता हूँ। नास्ति अस्ति नयको भी आपने यथार्थ शैलीपूर्वक नहीं घटाया। इसलिये मैं तर्कसे जो उत्तर दे सकता हूँ उसे आप सुनें।

उत्पत्तिमें "नास्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि "जीव अनादि अनंत है"। व्ययमें "नास्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि "इसका किसी कालमें नाश नहीं होता"।

ध्रुवतामें "नास्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि "एक देहमें वह सदैवके लिये रहनेवाला नहीं"।

९० तत्त्वावबोध

(९)

उत्पत्तिमें "अस्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि जीवको मोक्ष होनेतक एक देहमेंसे च्युत होकर वह दूसरी देहमें उत्पन्न होता है"।

व्ययमें "अस्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि "वह जिस देहमेंसे आया वहाँसे व्यय प्राप्त हुआ, अथवा प्रतिक्षण इसकी आत्मिक ऋद्धि विषय आदि मरणसे रुकी हुई है, इस प्रकार व्यय घटा सकते हैं।

ध्रुवतामें "अस्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि "द्रव्यकी अपेक्षासे जीव *किसी कालमें नाश नहीं होता, वह त्रिकाल सिद्ध है।*"

अब इससे अर्थात् इन अपेक्षाओंको ध्यानमें रखनेसे मुझे आशा है कि दिये हुए दोष दूर हो जायेंगे।

१ जीव व्ययरूपसे नहीं है इसलिये ध्रौव्य सिद्ध हुआ—यह पहला दोष दूर हुआ।

२ उत्पत्ति, व्यय और ध्रुवता ये भिन्न भिन्न न्यायसे सिद्ध हैं; अर्थात् जीवका सत्यत्व सिद्ध हुआ—यह दूसरे दोषका परिहार हुआ।

३ जीवकी सत्य स्वरूपसे ध्रुवता सिद्ध हुई इससे व्यय नष्ट हुआ—यह तीसरे दोषका परिहार हुआ।

४ द्रव्यभावसे जीवकी उत्पत्ति असिद्ध हुई—यह चौथा दोष दूर हुआ।

५ जीव अनादि सिद्ध हुआ इसलिये उत्पत्तिसंबंधी पाँचवाँ दोष दूर हुआ।

६ उत्पत्ति असिद्ध हुई इसलिये कर्तासंबंधी छट्ठे दोषका परिहार हुआ।

७ ध्रुवताके साथ व्यय लेनेसे बाधा नहीं आती, इसलिये चार्वाक-मिश्र-वचन नामक सातवें दोषका निराकरण हुआ।

८ उत्पत्ति और व्यय पृथक् पृथक् देहमें सिद्ध हुए, इससे केवल चार्वाक सिद्धांत नामके आठवें दोषका परिहार हुआ।

१४ शंकाका परस्पर विरोधाभास निकल जानेसे चौदह तकके सब दोष दूर हुए।

१५ अनादि अनंतता सिद्ध होनेपर स्याद्वादका वचन सिद्ध हुआ यह पन्द्रहवें शंका निराकरण हुआ।

१६ कर्त्ताके न सिद्ध होनेपर जिन-वचनकी सत्यता सिद्ध हुई इससे सोलहवें शंका निराकरण हुआ।

१७ धर्माधर्म, देह आदिके पुनरावर्तन सिद्ध होनेसे सत्रहवें दोषका परिहार हुआ।

१८ ये सब बातें सिद्ध होनेपर त्रिगुणात्मक मायाके असिद्ध होनेसे अठारहवाँ दोष दूर हुआ।

९१ तत्त्वावबोध

(१०)

मुझे आशा है कि आपके द्वारा विचारकी हुई योजनाका इससे समाधान हुआ होगा। य कुछ यथार्थ शैली नहीं घटाई, तो भी इसमें कुछ न कुछ विनोद अवश्य मिल सकता है। इसके ऊ विशेष विवेचन करनेके लिए बहुत समयकी आवश्यकता है इसलिये अधिक नहीं कहता। परन्तु ए दो संक्षिप्त बात आपसे कहनी हैं, तो यदि यह समाधान ठीक ठीक हुआ हो तो उनको कहूँ। उन्हें उनकी ओरसे संतोषजनक उत्तर मिला, और उन्होंने कहा कि एक दो बात जो आपको कहनी हों उन्हें सहर्ष कहो।

बादमें मैंने अपनी बातको संजीवित करके लब्धिके संबंधकी बात कही। यदि आप इन लब्धियोंके संबंधमें शंका करें अथवा इसे क्लेशरूप कहें तो इन वचनोंके प्रति अन्याय होता है। इनमें अनन्त उत्कृष्ट आत्मिकशक्ति, गुरुगम्यता, और वैराग्यकी आवश्यकता है। जबतक यह नहीं तबतक लब्धिके विषयमें शंका रहना निश्चित है। परन्तु मुझे आशा है कि इस समय इस संबंधमें दो शब्द कहने निरर्थक नहीं होंगे। वे ये हैं कि जैसे इस योजनाको नास्ति अस्तिपर घटाकर देखा वैसे ही इसमें भी बहुत सूक्ष्म विचार करनेके हैं। देहमें देहकी पृथक् पृथक् उत्पत्ति, च्यवन, विश्राम, गर्भाधान, पर्याप्ति, इन्द्रिय, सत्ता, ज्ञान, संज्ञा, आयुष्य, विषय इत्यादि अनेक कर्मप्रकृतियोंको प्रत्येक भेदसे लेनेपर जो विचार इस लब्धिसे निकलते हैं वे अपूर्व हैं। जहाँतक जिसका ध्यान पहुँचता है वहाँतक सब विचार करते हैं, परन्तु द्रव्यार्थिक भावार्थिक नयसे समस्त सृष्टिका ज्ञान इन तीन शब्दोंमें आ जाता है, उसका विचार कोई ही करते हैं; यह जब सद्गुरुके मुखकी पवित्र लब्धिरूपसे प्राप्त हो सकता है तो फिर इससे द्वादशांगी ज्ञान क्यों नहीं हो सकता? जगत्के कहते ही मनुष्यको एक घर, एक वास, एक गाँव, एक शहर, एक देश, एक खंड, एक पृथिवी यह सब छोड़कर असंख्यात द्वीप समुद्रादिसे भरपूर वस्तुका ज्ञान कैसे हो जाता है? इसका कारण केवल इतना ही है कि वह इस शब्दकी व्यापकताको समझा हुआ है, अथवा इसका लक्ष इसकी अमुक व्यापकतातक पहुँचा हुआ है, जिससे जगत् शब्दके कहते ही वह इतने बड़े मर्मको समझ जाता है। इसी तरह ऋजु और सरल सत्पात्र शिष्य निर्ग्रंथ गुरुसे इन तीन शब्दोंकी गम्यता प्राप्तकर द्वादशांगी ज्ञान प्राप्त करते थे। इस प्रकार वह लब्धि अल्पज्ञता होनेपर भी विवेकसे देखनेपर क्लेशरूप नहीं है।

कहा है वह सविकल्प शैलीसे नहीं, अर्थात् कभी इससे एकांत पक्षका ग्रहण किया जा सकता है। और फिर मैं कोई स्याद्वाद-शैलीका यथार्थ जानकर नहीं, मंदबुद्धिसे लेशमात्र जानता हूँ। नास्ति अस्ति नयको भी आपने यथार्थ शैलीपूर्वक नहीं घटाया। इसलिये मैं तर्कसे जो उत्तर दे सकता हूँ उसे आप सुनें।

उत्पत्तिमें "नास्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि "जीव अनादि अनंत है"। व्ययमें "नास्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि "इसका किसी कालमें नाश नहीं होता"।

ध्रुवतामें "नास्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि "एक देहमें वह सदाके लिये रहनेवाला नहीं"।

९० तत्त्वावबोध

(९)

उत्पत्तिमें "अस्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि जीवको मोक्ष होनेतक एक देहमेंसे च्युत होकर वह दूसरी देहमें उत्पन्न होता है"।

व्ययमें "अस्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि "वह जिस देहमेंसे आया वहाँसे व्यय प्राप्त हुआ, अथवा प्रतिक्षण इसकी आत्मिक ऋद्धि विषय आदि मरणसे रुकी हुई है, इस प्रकार व्यय घटा सकते हैं।

ध्रुवतामें "अस्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि "द्रव्यकी अपेक्षासे जीव किसी कालमें नाश नहीं होता, वह त्रिकाल सिद्ध है।"

अब इससे अर्थात् इन अपेक्षाओंको ध्यानमें रखनेसे मुझे आशा है कि दिये हुए दोष दूर हो जायेंगे।

१ जीव व्ययरूपसे नहीं है इसलिये ध्रौव्य सिद्ध हुआ—यह पहला दोष दूर हुआ।

२ उत्पत्ति, व्यय और ध्रुवता ये भिन्न भिन्न न्यायसे सिद्ध हैं; अर्थात् जीवका सत्यत्व सिद्ध हुआ—यह दूसरे दोषका परिहार हुआ।

३ जीवको सत्य स्वरूपसे ध्रुवता सिद्ध हुई इससे व्यय नष्ट हुआ—यह तीसरे दोषका परिहार हुआ।

४ द्रव्यभावसे जीवकी उत्पत्ति असिद्ध हुई—यह चौथा दोष दूर हुआ।

५ जीव अनादि सिद्ध हुआ इसलिये उत्पत्तिसंबंधी पाँचवाँ दोष दूर हुआ।

६ उत्पत्ति असिद्ध हुई इसलिये कर्तासंबंधी छठे दोषका परिहार हुआ।

७ ध्रुवताके साथ व्यय लेनेसे बाधा नहीं आती, इसलिये चार्वाक-मिश्र-वचन नामक सातवें दोषका निराकरण हुआ।

८ उत्पत्ति और व्यय पृथक् पृथक् देहमें सिद्ध हुए इससे केवल चार्वाक सिद्धांत नामके आठवें दोषका परिहार हुआ।

अब देखो, इन दोनोंमें कुछ निकटता है ? हाँ, निर्दिष्ट निकटता आ गई है। परन्तु यह निकटता तो द्रव्यरूपसे है। जब भावसे निकटता आवे तभी इष्टसिद्धि होगी। द्रव्य-निकटताका साधन सत्परमात्मतत्त्व, सद्गुरुतत्त्व, और सद्धर्मतत्त्वको पहचानकर श्रद्धान करना है। भाव-निकटता अर्थात् केवल एक ही रूप होनेके लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र साधन रूप हैं।

इस चक्रसे यह भी आशंका हो सकती है कि यदि दोनों निकट है तो क्या बाकी रहे दुखोंको छोड़ दें ? उत्तरमें मैं कहता हूँ कि यदि सम्पूर्णरूपसे त्याग कर सकते हो तो त्याग दो, इससे मोक्षरूप ही हो जाओगे। नहीं तो हेय, ज्ञेय और उपादेयका उपदेश ग्रहण करो, इससे आत्म-सिद्धि प्राप्त होगी।

९४ तत्त्वावबोध

(१३)

जो कुछ मैं कह गया हूँ वह कुछ केवल जैनकुलमें जन्म पानेवालोंके लिये ही नहीं, किन्तु सबके लिये है। इसी तरह यह भी निःसंदेह मानना कि मैं जो कहता हूँ वह निष्पक्षपात और परमार्थ बुद्धिसे कहता हूँ।

मुझे तुमसे जो धर्मतत्त्व कहना है वह पक्षपात अथवा स्वार्थबुद्धिसे कहनेका मेरा कुछ प्रयोजन नहीं। पक्षपात अथवा स्वार्थसे मैं तुम्हें अधर्मतत्त्वका उपदेश देकर अधोगतिकी सिद्धि क्यों करूँ ! बारम्बार तुम्हें मैं निर्ग्रन्थके वचनामृतके लिये कहता हूँ, उसका कारण यही है कि वे वचनामृत तत्त्वमें परिपूर्ण हैं। जिनेश्वरोंके ऐसा कोई भी कारण न था कि जिसके निमित्तसे वे मृषा अथवा पक्षपातयुक्त उपदेश देते, तथा वे अज्ञानी भी न थे कि जिससे उनसे मृषा उपदेश दिया जाता। यहाँ तुम शंका करोगे कि ये अज्ञानी नहीं थे यह किस प्रमाणसे मालूम हो सकता है ? तो इसके उत्तरमें मैं इनके पवित्र सिद्धांतोंके रहस्यको मनन करनेको कहता हूँ। और ऐसा जो करेगा वह पुनः लेश भी आशंका नहीं करेगा। जैनमतके प्रवर्तकोंके प्रति मुझे कोई राग बुद्धि नहीं है, कि जिससे पक्षपातवश मैं तुम्हें कुछ भी कह दूँ, इसी तरह अन्यमतके प्रवर्तकोंके प्रति मुझे कोई वैर बुद्धि नहीं कि मिथ्या ही इनका खंडन करूँ। दोनोंमें मैं तो मंदमति मध्यस्थरूप हूँ। बहुत बहुत मननसे और मेरी बुद्धि जहाँतक पहुँची वहाँतक विचार करनेसे मैं विनयपूर्वक कहता हूँ कि हे प्रिय भव्यो ! जैन दर्शनके समान एक भी पूर्ण और पवित्र दर्शन नहीं; वीतरागके समान एक भी देव नहीं; तैरकरके अनंत दुःखसे पार पाना हो तो इस सर्वज्ञ दर्शनरूप कल्पवृक्षका सेवन करो।

९५ तत्त्वावबोध

(१४)

जैन दर्शन इतनी अधिक सूक्ष्म विचार सकलनाओंसे भरा हुआ दर्शन है कि इसमें प्रवेश करनेमें भी बहुत समय चाहिये। ऊपर ऊपरसे अथवा किसी प्रतिपक्षीके कहनेसे अमुक वस्तुके संबंधमें अभिप्राय बना लेना अथवा अभिप्राय दे देना यह विवेकियोंका कर्तव्य नहीं। जैसे कोई तालाब लबालब भरा हो, उसका जल ऊपरसे समान मालूम होता है, परन्तु जैसे जैसे आगे बढ़ते जाते हैं वैसे वैसे अधिक अधिक गहरापन आता जाता है फिर भी ऊपर तो जल सपाट ही रहता है, इसी तरह जगत्के सब धर्ममत एक तालाबके समान हैं, उन्हें ऊपरसे सामान्य सपाट देखकर समान कह

देना उचित नहीं। ऐसे कहनेवालोंने तत्त्वको भी नहीं पाया। जैनदर्शनके एक एक पवित्र सिद्धांत ऐसे हैं कि उनपर विचार करनेमें आयु पूर्ण हो जाय तो भी पार न मिले। अन्य सब धर्ममतोंके विचार जिनप्रणीत वचनामृत-सिंधुके आगे एक बिंदुके समान भी नहीं। जिसने जैनमतको जाना और सेवन किया, वह केवल वीतरागी और सर्वज्ञ हो जाता है। इसके प्रवर्तक कैसे पवित्र पुरुष थे! इसके सिद्धांत कैसे अखंड, सम्पूर्ण और दयामय हैं! इसमें दूषण तो कोई है ही नहीं! सर्वथा निर्दोष तो केवल जैन दर्शन ही है! ऐसा एक भी पारमार्थिक विषय नहीं कि जो जैनदर्शनमें न हो, और ऐसा एक भी तत्त्व नहीं कि जो जैनदर्शनमें न हो; एक विषयको अनंत भेदोंसे परिपूर्ण कहनेवाला जैनदर्शन ही है। इसके समान प्रयोजनभूत तत्त्व अन्यत्र कहीं भी नहीं हैं। जैसे एक देहमें दो आत्माएँ नहीं होतीं उसी तरह समस्त सृष्टिमें दो जैन अर्थात् जैनके तुल्य दूसरा कोई दर्शन नहीं। ऐसा कहनेका कारण क्या? केवल उसकी परिपूर्णता, वीतरागिता, सत्यता और जगद्धितैषिता।

९६ तत्त्वावबोध
(१५)

न्यायपूर्वक इतना तो मुझे भी मानना चाहिये कि जब एक दर्शनको परिपूर्ण कहकर बात सिद्ध करनी हो तब प्रतिपक्षकी मध्यस्थबुद्धिसे अपूर्णता दिखलानी चाहिये। परन्तु इन दोनों बातोंपर विवेचन करनेकी यहाँ जगह नहीं; तो भी थोड़ा थोड़ा कहता आया हूँ। मुख्यरूपसे यही कहना है कि यह बात जिसे रुचिकर मालूम न होती हो अथवा असंभव लगती हो, उसे जैनतत्त्व-विज्ञानी शास्त्रोंको और अन्यतत्त्व-विज्ञानी शास्त्रोंको मध्यस्थबुद्धिसे मननकर न्यायके काँटेपर तोलना चाहिये। इसके ऊपरसे अवश्य इतना महा वाक्य निकलेगा कि जो पहले डंकेकी चोट कहा गया था वही सच्चा है।

जगत् भेड़ियाधसान है। धर्मके मतभेदसंबंधी शिक्षापाठमें जैसा कहा जा चुका है कि अनेक धर्ममतोंके जाल फैल गये हैं। विशुद्ध आत्मा तो कोई ही होती है। विवेकसे तत्त्वकी खोज कोई ही करता है। इसलिये जैनतत्त्वोंको अन्य दार्शनिक लोग क्यों नहीं जानते, यह बात खेद अथवा आशंका करने योग्य नहीं।

फिर भी मुझे बहुत आश्चर्य लगता है कि केवल शुद्ध परमात्मतत्त्वको पाये हुए, सकलदूषणरहित, मृषा कहनेका जिनके कोई निमित्त नहीं ऐसे पुरुषके कहे हुए पवित्र दर्शनको स्वयं तो जाना नहीं, अपनी आत्माका हित तो किया नहीं, परन्तु अविवेकसे मतभेदमें पड़कर सर्वथा निर्दोष और पवित्र दर्शनको नास्तिक क्यों कहा? परन्तु ऐसा कहनेवाले जैनदर्शनके तत्त्वको नहीं जानते थे। तथा इसके तत्त्वको जाननेसे अपनी श्रद्धा डिग जावेगी, तो फिर लोग अपने पहले कहे हुए मतको नहीं मानेंगे; जिस लौकिक मतके आधारपर अपनी आजीविका टिकी हुई है, ऐसे वेद आदिकी महत्ता घटानेसे अपनी ही महत्ता घट जायगी; अपना मिथ्या स्थापित किया हुआ परमेश्वरपद नहीं चलेगा। इसलिये जैनतत्त्वमें प्रवेश करनेकी रुचिको मूलसे ही बंद करनेके लिये इन्होंने लोगोंको ऐसी धोका-पट्टी दी है कि जैनदर्शन तो नास्तिक दर्शन है। लोग तो विचारे डरपोक भेड़के समान हैं; इसलिये वे विचार भी कहाँसे करें? यह कहना कितना मृषा और अनर्थकारक है, इस बातको वे

ही जान सकते हैं जिन्होंने वीतरागप्रणीत सिद्धांत विवेकसे जाने हैं। संभव है, मेरे इस कहनेको मंदबुद्धि लोग पक्षपात मान बैठें।

९७ तत्त्वावबोध

(१६)

पवित्र जैनदर्शनको नास्तिक कहलानेवाले एक मिथ्या दलीलसे जीतना चाहते हैं और वह यह है कि जैनदर्शन परमेश्वरको इस जगत्का कर्त्ता नहीं मानता, और जो परमेश्वरको जगत्कर्त्ता नहीं मानता वह तो नास्तिक ही है इसप्रकारकी मान ली हुई बात भद्रिकजनोंको शीघ्र ही जा लगती है, क्योंकि उनमें यथार्थ विचार करनेकी प्रेरणा नहीं होती। परन्तु यदि इसके ऊपरसे यह विचार किया जाय कि फिर जैनदर्शन जगत्को अनादि अनंत किस न्यायसे कहता है? जगत्कर्त्ता न माननेका इसका क्या कारण है? इस प्रकार एकके बाद एक भेदरूप विचार करनेसे वे जैनदर्शनकी पवित्रताको समझ सकते हैं। परमेश्वरको जगत् रचनेकी क्या आवश्यकता थी? परमेश्वरने जगत्को रचा तो सुख दुःख बनानेका क्या कारण था? सुख दुःखको रचकर फिर मौतको किसलिये बनाया? यह लीला उसे किसको बतानी थी? जगत्को रचा तो किस कर्मसे रचा? उससे पहले रचनेकी इच्छा उसे क्यों न हुई? ईश्वर कौन है? जगत्के पदार्थ क्या हैं? और इच्छा क्या है? जगत्को रचा तो फिर इसमें एक ही धर्मकी प्रवृत्ति रखनी थी; इस प्रकार भ्रमणामें डालनेकी क्या जरूरत थी? कदाचित् यह मान लें कि यह उस बिचारेसे भूल हो गई! होगी! तो क्षमा करते हैं, परन्तु ऐसी आवश्यकतासे अधिक अक्लमन्दी उसे कहाँसे सूझी कि उसने अपनेको ही मूलसे उखाड़नेवाले महावीर जैसे पुरुषोंको जन्म दिया? इनके कहे हुए दर्शनको जगत्में क्यों मौजूद रक्खा? अपने पैरपर अपने हाथसे कुल्हाड़ा मारनेकी उसे क्या आवश्यकता थी? एक तो मानो इस प्रकारके विचार, और अन्य दूसरे प्रकारके ये विचार कि जैनदर्शनके प्रवर्त्तकोंको क्या [illegible] था? यदि जगत्का कर्त्ता होता तो ऐसा कहनेसे क्या इनके लाभको कोई हानि पहुँ[illegible] नहीं, जगत् अनादि अनन्त है; ऐसा कहनेमें इनको क्या कोई महत्ता मि[illegible] अनेक विचारोंपर विचार करनेसे मालूम होगा [illegible] कहा है। इसमें [illegible] निकालने करनेको इनका [illegible] जिसने विज्ञान [illegible] है, एक रजकणसे [illegible] है, ऐसे पुरुषोंके [illegible] पवित्र दर्शनको नास्तिक क[illegible]

[illegible] जो न्यायसे जय प्राप्त [illegible] जैनदर्शनके अर्थ [illegible] फिर वे [illegible] नास्तिक है, तो [illegible] प्रश्न करो कि [illegible]

देना उचित नहीं। ऐसे कहनेवालोंने तत्त्वको भी नहीं पाया। जैनदर्शनके एक एक पवित्र सिद्धांत ऐसे हैं कि उनपर विचार करनेमें आयु पूर्ण हो जाय तो भी पार न मिले। अन्य सब धर्ममतोंके विचार जिनप्रणीत वचनामृत-सिंधुके आगे एक बिंदुके समान भी नहीं। जिसने जैनमतको जाना और सेवन किया, वह केवल वीतरागी और सर्वज्ञ हो जाता है। इसके प्रवर्तक कैसे पवित्र पुरुष थे! इसके सिद्धांत कैसे अखंड, सम्पूर्ण और दयामय हैं! इसमें दूषण तो कोई है ही नहीं! सर्वथा निर्दोष तो केवल जैन दर्शन ही है! ऐसा एक भी पारमार्थिक विषय नहीं कि जो जैनदर्शनमें न हो, और ऐसा एक भी तत्त्व नहीं कि जो जैनदर्शनमें न हो; एक विषयको अनंत भेदोंसे परिपूर्ण कहनेवाला जैनदर्शन ही है। इसके समान प्रयोजनभूत तत्त्व अन्यत्र कहीं भी नहीं हैं। जैसे एक देहमें दो आत्मायें नहीं होतीं उसी तरह समस्त सृष्टिमें दो जैन अर्थात् जैनके तुल्य दूसरा कोई दर्शन नहीं। ऐसा कहनेका कारण क्या? केवल उसकी परिपूर्णता, वीतरागिता, सत्यता और जगद्हितैषिता।

९६ तत्त्वावबोध
(१५)

न्यायपूर्वक इतना तो मुझे भी मानना चाहिये कि जब एक दर्शनको परिपूर्ण कहकर बात सिद्ध करनी हो तब प्रतिपक्षकी मध्यस्थबुद्धिसे अपूर्णता दिखलानी चाहिये। परन्तु इन दोनों बातोंपर विवेचन करनेकी यहाँ जगह नहीं; तो भी थोड़ा थोड़ा कहता आया हूँ। मुख्यरूपसे यही कहना है कि यह बात जिसे रुचिकर मालूम न होती हो अथवा असंभव लगती हो, उसे जैनतत्त्व-विज्ञानी शास्त्रोंको और अन्यतत्त्व-विज्ञानी शास्त्रोंको मध्यस्थबुद्धिसे मननकर न्यायके काँटेपर तोलना चाहिये। इसके ऊपरसे अवश्य इतना महा वाक्य निकलेगा कि जो पहले डंकेकी चोट कहा गया था वही सच्चा है।

जगत् भेड़ियाधसान है। धर्मके मतभेदसंबंधी शिक्षापाठमें जैसा कहा जा चुका है कि अनेक धर्ममतोंके जाल फैल गये हैं। विशुद्ध आत्मा तो कोई ही होती है। विवेकसे तत्त्वकी खोज कोई ही करता है। इसलिये जैनतत्त्वोंको अन्य दार्शनिक लोग क्यों नहीं जानते, यह बात खेद अथवा आशंका करने योग्य नहीं।

फिर भी मुझे बहुत आश्चर्य लगता है कि केवल शुद्ध परमात्मतत्त्वको पाये हुए, सकलदूषणरहित, मृषा कहनेका जिनके कोई निमित्त नहीं ऐसे पुरुषके कहे हुए पवित्र दर्शनको स्वयं तो जाना नहीं, अपनी आत्माका हित तो किया नहीं, परन्तु अविवेकसे मतभेदमें पड़कर सर्वथा निर्दोष और पवित्र दर्शनको नास्तिक क्यों कहा? परन्तु ऐसा कहनेवाले जैनदर्शनके तत्त्वको नहीं जानते थे। तथा इसके तत्त्वको जाननेसे अपनी श्रद्धा डिग जायेगी, तो फिर लोग अपने पहले कहे हुए मतको नहीं मानेंगे; जिस लौकिक मतके आधारपर अपनी आजीविका टिकी हुई है, ऐसे वेद आदिकी महत्ता घटानेसे अपनी ही महत्ता घट जायगी; अपना मिथ्या स्थापित किया हुआ परमेश्वरपद नहीं चलेगा। इसलिये जैनतत्त्वमें प्रवेश करनेकी रुचिको मूलसे ही बंद करनेके लिये इन्होंने लोगोंको ऐसी धोका-पट्टी दी है कि जैनदर्शन तो नास्तिक दर्शन है। लोग तो बिचारे डरपोक भेड़के समान हैं; इसलिये वे विचार भी कहाँसे करें? यह कहना कितना मृषा और अनर्थकारक है, इस बातको वे

ही जान सकते हैं जिन्होंने वीतरागप्रणीत सिद्धांत विवेकसे जाने हैं। संभव है, मेरे इस कहनेको मंदबुद्धि लोग पक्षपात मान बैठें।

९७ तत्त्वावबोध

(१६)

पवित्र जैनदर्शनको नास्तिक कहलानेवाले एक मिथ्या दलीलसे जीतना चाहते हैं और वह यह है कि जैनदर्शन परमेश्वरको इस जगत्का कर्त्ता नहीं मानता, और जो परमेश्वरको जगत्कर्ता नहीं मानता वह तो नास्तिक ही है इसप्रकारकी मान ली हुई बात भद्रिकजनोंको शीघ्र ही जा लगती है, क्योंकि उनमें यथार्थ विचार करनेकी प्रेरणा नहीं होती। परन्तु यदि इसके ऊपरसे यह विचार किया जाय कि फिर जैनदर्शन जगत्को अनादि अनंत किस न्यायसे कहता है? जगत्कर्ता न माननेका इसका क्या कारण है? इस प्रकार एकके बाद एक भेदरूप विचार करनेसे वे जैनदर्शनकी पवित्रताको समझ सकते हैं। परमेश्वरको जगत् रचनेकी क्या आवश्यकता थी? परमेश्वरने जगत् रचा तो सुख दुःख बनानेका क्या कारण था? सुख दुःखको रचकर फिर मौतको किसलिये बनाया? यह लीला उसे किसको बतानी थी? जगत्को रचा तो किस कर्मसे रचा? उससे पहले रचनेकी इच्छा उसे क्यों न हुई? ईश्वर कौन है? जगत्के पदार्थ क्या हैं? और इच्छा क्या है? जगत्को रचा तो फिर इसमें एक ही धर्मकी प्रवृत्ति रखनी थी; इस प्रकार भ्रमणामें डालनेकी क्या जरूरत थी? इत्यादि विचार यह मान लें कि यह उस विचारेसे भूल हो गई। होगी! खैर क्षमा करते हैं, परन्तु ऐसी अमाप बताते अधिक अक्लमन्दी उसे कहाँसे सूझी कि उसने अपनेको ही मूलसे उखाड़नेवाले महावीर जैसे पुरुषोंको जन्म दिया? इनके कहे हुए दर्शनको जगत्में क्यों मौजूद रक्खा? अपने पैरपर अपने हाथसे कुल्हाड़ा मारनेकी उसे क्या आवश्यकता थी? एक तो मानो इस प्रकारके विचार, और अब दूसरे प्रकारके ये विचार कि जैनदर्शनके प्रवर्त्तकोंको क्या इससे कोई द्वेष था? यदि जगत्का कर्त्ता होता तो ऐसा कहनेसे क्या इनके लाभको कोई हानि पहुँचती थी? जगत्का कर्त्ता नहीं, जगत् अनादि अनंत है; ऐसा कहनेमें इनको क्या कोई महत्ता मिल जाती थी? इस प्रकारके अनेक विचारोंपर विचार करनेसे मालूम होगा कि जैसा जगत्का स्वरूप है, उसे वैसा ही पवित्र पुरुषोंने कहा है। इसमें भिन्नरूपसे कहनेको इनका लेशमात्र भी प्रयोजन न था। सूक्ष्मसे सूक्ष्म जंतुकी रक्षाका जिन्होंने विधान किया है, एक रज-कणसे लेकर समस्त जगत्के विचार जिसने सब भेदोंसहित कहे हैं, ऐसे पुरुषोंके पवित्र दर्शनको नास्तिक कहनेवाले किस गतिको पावेंगे, यह विचारनेसे दया आती है!

९८ तत्त्वावबोध

(१७)

जो न्यायमें जय प्राप्त नहीं कर सकता वह पीछेसे गाली देने लगता है। इसी तरह जब जैनदर्शनके अखंड तत्त्वसिद्धान्तोंका जब शंकराचार्य, दयानन्द सन्यासी वगैरह खंडन न कर सके तो फिर वे " जैन नास्तिक है, सो चार्वाकमेंसे उत्पन्न हुआ है "—ऐसा कहने लगे। परन्तु यहाँ कोई प्रश्न करे कि महाराज! यह विवेचन आप पीछेसे करें। इन शब्दोंको कहनेमें समय विवेक

ानकी कोई जरूरत नहीं होती परन्तु आप इस बातका उत्तर दें कि जैनदर्शन वेदसे किस वस्तुमें उतरता हुआ है; इसका ज्ञान, इसका उपदेश, इसका रहस्य, और इसका सत्शील कैसा है उसे एक बार कहें तो सही। आपके वेदके विचार किस बाबतमें जैनदर्शनसे बढ़कर हैं? इस तरह जब वे मर्मस्थानपर आते हैं तो मौनके सिवाय उनके पास दूसरा कोई साधन नहीं रहता। जिन सत्पुरुषोंके वचनामृत और योगके बलसे इस सृष्टिमें सत्य, दया, तत्त्वज्ञान और महाशील उदय होते हैं, उन पुरुषोंकी अपेक्षा जो पुरुष शृंगारमें रचे पचे पड़े हुए हैं, जो सामान्य तत्त्वज्ञानको भी नहीं जानते, और जिनका आचार भी पूर्ण नहीं, उन्हें बढ़कर कहना, परमेश्वरके नामसे स्थापित करना, और सत्यस्वरूपकी निंदा करनी, परमात्मस्वरूपको पाये हुओंको नास्तिक कहना,—ये सब बातें इनके कितने अधिक कर्मकी बहुलताको सूचित करती हैं? परन्तु जगत् मोहसे अंध है; जहाँ मतभेद है वहाँ अँधेरा है; जहाँ ममत्व अथवा राग है वहाँ सत्य तत्त्व नहीं। ये बातें हमें क्यों न विचारनी चाहिये?

मैं तुम्हें निर्ममत्व और न्यायकी एक मुख्य बात कहता हूँ। वह यह है कि तुम चाहे किसी भी दर्शनको मानो; फिर जो कुछ भी तुम्हारी दृष्टिमें आवे वैसा जैनदर्शनको कहो। सब दर्शनोंके शास्त्र-तत्त्वोंको देखो, तथा जैनतत्त्वोंको भी देखो। स्वतंत्र आत्म-शक्तिसे जो योग्य मालूम हो उसे अंगीकार करो। मेरे कहनेको अथवा अन्य किसी दूसरेके कहनेको भले ही एकदम तुम न मानो परन्तु तत्त्वको विचारो।

९९ समाजकी आवश्यकता

आंग्लदेशवासियोंने संसारके अनेक कलाकौशलोंमें किस कारणसे विजय प्राप्त की है? यह विचार करनेसे हमें तत्काल ही मालूम होगा कि उनका बहुत उत्साह और इस उत्साहमें अनेकोंका मिल जाना ही उनकी सफलताका कारण है। कलाकौशलके इस उत्साही काममें इन अनेक पुरुषोंके द्वारा स्थापित सभा अथवा समाजको क्या परिणाम मिला? तो उत्तरमें यही कहा जायगा कि लक्ष्मी, कीर्ति और अधिकार। इनके इस उदाहरणके ऊपरसे इस जातिके कलाकौशलकी खोज करनेका मैं यहाँ उपदेश नहीं देता, परन्तु सर्वज्ञ भगवान्का कहा हुआ गुप्त तत्त्व प्रमाद-स्थितिमें आ पड़ा है, उसे प्रकाशित करनेके लिये तथा पूर्वाचार्योंके गूँथे हुए महान् शास्त्रोंको एकत्र करनेके लिये, पड़े हुए गच्छोंके मतमतांतरको हटानेके लिये तथा धर्म-विद्याको प्रफुल्लित करनेके लिये सदाचरणी श्रीमान् और धीमान् दोनोंको मिलकर एक महान् समाजकी स्थापना करनेकी आवश्यकता है, यह कहना चाहता हूँ। पवित्र स्याद्वादमतके ढँके हुए तत्त्वोंको प्रसिद्धिमें लानेका जबतक प्रयत्न नहीं होता, तबतक शासनकी उन्नति भी नहीं होगी। संसारी कलाकौशलसे लक्ष्मी, कीर्ति और अधिकार मिलते हैं, परन्तु इस धर्म-कलाकौशलसे तो सर्व सिद्धि प्राप्त होगी। महान् समाजके अंतर्गत उपसमाजोंको स्थापित करना चाहिये। सम्प्रदायके बाड़ेमें बैठे रहनेकी अपेक्षा मतमतांतर छोड़कर ऐसा करना उचित है। मैं चाहता हूँ कि इस उद्देश्यकी सिद्धि होकर जैनोंके अंतर्गच्छ मतभेद दूर हों; सत्य वस्तुके ऊपर मनुष्य-समाजका लक्ष आवे; और ममत्व दूर हो।

१०० मनोनिग्रहके विघ्न

बारम्बार जो उपदेश किया गया है, उसमेंसे मुख्य तात्पर्य यही निकलता है कि आत्माको

ही जान सकते हैं जिन्होंने वीतरागप्रणीत सिद्धांत विवेकसे जाने हैं। संभव है, मेरे इस कहनेको मंदबुद्धि लोग पक्षपात मान बैठें।

९७ तत्त्वावबोध

(१६)

पवित्र जैनदर्शनको नास्तिक कहलानेवाले एक मिथ्या दलीलसे जीतना चाहते हैं और वह यह है कि जैनदर्शन परमेश्वरको इस जगत्का कर्त्ता नहीं मानता, और जो परमेश्वरको जगत्कर्त्ता नहीं मानता वह तो नास्तिक ही है इसप्रकारकी मान ली हुई बात भद्रिकजनोंको शीघ्र ही जम जाती है, क्योंकि उनमें यथार्थ विचार करनेकी प्रेरणा नहीं होती। परन्तु यदि इसके ऊपरसे यह विचार किया जाय कि फिर जैनदर्शन जगत्को अनादि अनंत किस न्यायसे कहता है? जगत्कर्त्ता न माननेका इसका क्या कारण है? इस प्रकार एकके बाद एक भेदरूप विचार करनेसे वे जैनदर्शनकी पवित्रताको समझ सकते हैं। परमेश्वरको जगत् रचनेकी क्या आवश्यकता थी? परमेश्वरने जगत् रचा तो सुख दुःख बनानेका क्या कारण था? सुख दुःखको रचकर फिर मौतको किसलिये बनाया? यह लीला उसे किसको बतानी थी? जगत्को रचा तो किस कर्मसे रचा? उससे पहले रचनेकी इच्छा उसे क्यों न हुई? ईश्वर कौन है? जगत्के पदार्थ क्या हैं? और इच्छा क्या है? जगत्को रचा तो फिर इसमें एक ही धर्मकी प्रवृत्ति रखनी थी; इस प्रकार भ्रमणामें डालनेकी क्या जरूरत थी? कदाचित् यह मान लें कि यह उस विचारेसे भूल हो गई। होगी। खैर क्षमा करते हैं, परन्तु ऐसी आवश्यकतासे अधिक अक्लमन्दी उसे कहाँसे सूझी कि उसने अपनेको ही मूलसे उखाड़नेवाले महावीर जैसे पुरुषोंको जन्म दिया? इनके कहे हुए दर्शनको जगत्में क्यों मौजूद रक्खा? अपने पैरपर अपने हाथसे कुल्हाड़ा मारनेकी उसे क्या आवश्यकता थी? एक तो मानो इस प्रकारके विचार, और अन्य दूसरे प्रकारके ये विचार कि जैनदर्शनके प्रवर्तकोंको क्या इससे कोई द्वेष था? यदि जगत्का कर्त्ता होता तो ऐसा कहनेसे क्या इनके लाभको कोई हानि पहुँचती थी? जगत्का कर्त्ता नहीं, जगत् अनादि अनंत है; ऐसा कहनेमें इनको क्या कोई महत्ता मिल जाती थी? इस प्रकारके अनेक विचार विचार करनेसे मालूम होगा कि जैसा जगत्का स्वरूप है, उसे वैसा ही पवित्र पुरुषोंने कहा है। इसमें भिन्नरूपसे कहनेको इनका लेशमात्र भी प्रयोजन न था। सूक्ष्मसे सूक्ष्म जंतुकी रक्षाका जिसने विधान किया है, एक रज-कणसे लेकर समस्त जगत्के विचार जिसने सब भेदोंसहित कहे हैं, ऐसे पुरुषोंके पवित्र दर्शनको नास्तिक कहनेवाले किस गतिको पावेंगे, यह विचारनेसे दया आती है।

९८ तत्त्वावबोध

(१७)

जो न्यायसे जय प्राप्त नहीं कर सकता वह पीछेसे गाली देने लगता है। इसी तरह जब जैनदर्शनके अखंड तत्त्वसिद्धांतोंका जब शंकराचार्य, दयानन्द सन्यासी वगैरह खंडन न कर सके तो फिर वे "जैन नास्तिक है, सो चार्वाकमेंसे उत्पन्न हुआ है"—ऐसा कहने लगे। परन्तु यहाँ कोई प्रश्न करे कि महाराज! यह विवेचन आप पीछेसे करें। इन शब्दोंको कहनेमें समय विवेक अथवा

ज्ञानकी कोई जरूरत नहीं होती परन्तु आप इस बातका उत्तर दें कि जैनदर्शन वेदसे किस वस्तुमें उतरता हुआ है; इसका ज्ञान, इसका उपदेश, इसका रहस्य, और इसका सत्शील कैसा है उसे एक बार कहें तो सही। आपके वेदके विचार किस बाबतमें जैनदर्शनसे बढ़कर हैं? इस तरह जब वे मर्मस्थानपर आते हैं तो मौनके सिवाय उनके पास दूसरा कोई साधन नहीं रहता। जिन सत्पुरुषोंके वचनामृत और योगके बलसे इस सृष्टिमें सत्य, दया, तत्त्वज्ञान और महाशील उदय होते हैं, उन पुरुषोंकी अपेक्षा जो पुरुष शृंगारमें रचे पचे पड़े हुए हैं, जो सामान्य तत्त्वज्ञानको भी नहीं जानते, और जिनका आचार भी पूर्ण नहीं, उन्हें बढ़कर कहना, परमेश्वरके नामसे स्थापित करना, और सत्यस्वरूपकी निंदा करनी, परमात्मस्वरूपको पाये हुओंको नास्तिक कहना,—ये सब बातें इनके कितने अधिक कर्मकी बहुलताको सूचित करती हैं! परन्तु जगत् मोहसे अंध है; जहाँ मतभेद है वहाँ अँधेरा है; जहाँ ममत्व अथवा राग है वहाँ सत्य तत्त्व नहीं। ये बातें हमें क्यों न विचारनी चाहिये?

मैं तुम्हें निर्ममत्व और न्यायकी एक मुख्य बात कहता हूँ। वह यह है कि तुम चाहे किसी भी दर्शनको मानो; फिर जो कुछ भी तुम्हारी दृष्टिमें आवे वैसा जैनदर्शनको कहो। सब दर्शनोंके शास्त्र-तत्त्वोंको देखो, तथा जैनतत्त्वोंको भी देखो। स्वतंत्र आत्म-शक्तिसे जो योग्य मालूम हो उसे अंगीकार करो। मेरे कहनेको अथवा अन्य किसी दूसरेके कहनेको भले ही एकदम तुम न मानो परन्तु तत्त्वको विचारो।

९९ समाजकी आवश्यकता

आंग्लदेशवासियोंने संसारके अनेक कलाकौशलोंमें किस कारणसे विजय प्राप्त की है? यह विचार करनेसे हमें तत्काल ही मालूम होगा कि उनका बहुत उत्साह और इस उत्साहमें अनेकोंका मिल जाना ही उनकी सफलताका कारण है। कलाकौशलके इस उत्साही काममें इन अनेक पुरुषोंके द्वारा स्थापित सभा अथवा समाजको क्या परिणाम मिला? तो उत्तरमें यही कहा जायगा कि लक्ष्मी, कीर्ति और अधिकार। इनके इस उदाहरणके ऊपरसे इस जातिके कलाकौशलकी खोज करनेका मैं यहाँ उपदेश नहीं देता, परन्तु सर्वज्ञ भगवान्‌का कहा हुआ गुप्त तत्त्व प्रमाद-स्थितिमें आ पड़ा है, उसे प्रकाशित करनेके लिये तथा पूर्वाचार्योंके गूँथे हुए महान् शास्त्रोंको एकत्र करनेके लिये, पड़े हुए गच्छोंके मतमतांतरको हटानेके लिये तथा धर्म-विद्याको प्रफुल्लित करनेके लिये सदाचरणी श्रीमान् और धीमान् दोनोंको मिलकर एक महान् समाजकी स्थापना करनेकी आवश्यकता है, यह कहना चाहता हूँ। पवित्र स्याद्वादमतके ढँके हुए तत्त्वोंको प्रसिद्धिमें लानेका जबतक प्रयत्न नहीं होता, तबतक शासनकी उन्नति भी नहीं होगी। संसारी कलाकौशलसे लक्ष्मी, कीर्ति और अधिकार मिलते हैं, परन्तु इस धर्म-कलाकौशलसे तो सर्व सिद्धि प्राप्त होगी। महान् समाजके अंतर्गत उपसमाजोंको स्थापित करना चाहिये। सम्प्रदायके बाड़ेमें बैठे रहनेकी अपेक्षा मतमतांतर छोड़कर ऐसा करना उचित है। मैं चाहता हूँ कि इस उद्देश्यकी सिद्धि होकर जैनोंके अंतर्गच्छ मतभेद दूर हों; सत्य वस्तुके ऊपर मनुष्य-समाजका लक्ष आवे; और ममत्व दूर हो।

१०० मनोनिग्रहके विघ्न

बारम्बार जो उपदेश किया गया है, उसमेंसे मुख्य तात्पर्य यही निकलता है कि आत्माको

ज्ञानकी कोई जरूरत नहीं होती परन्तु आप इस बातका उत्तर दें कि जैनदर्शन वेदसे किस वस्तुमें उतरता हुआ है; इसका ज्ञान, इसका उपदेश, इसका रहस्य, और इसका सत्शील कैसा है उसे एक बार कहें तो सही। आपके वेदके विचार किस बातमें जैनदर्शनसे बढ़कर हैं? इस तरह जब वे मर्मस्थानपर आते हैं तो मौनके सिवाय उनके पास दूसरा कोई साधन नहीं रहता। जिन सत्पुरुषोंके वचनामृत और योगके बलसे इस सृष्टिमें सत्य, दया, तत्त्वज्ञान और महाशील उदय होते हैं, उन पुरुषोंकी अपेक्षा जो पुरुष शृंगारमें रचे पचे पड़े हुए हैं, जो सामान्य तत्त्वज्ञानको भी नहीं जानते, और जिनका आचार भी पूर्ण नहीं, उन्हें बढ़कर कहना, परमेश्वरके नामसे स्थापित करना, और सत्यस्वरूपकी निंदा करनी, परमात्मस्वरूपको पाये हुओंको नास्तिक कहना,—ये सब बातें इनके कितने अधिक कर्मकी बहुलताको सूचित करती हैं! परन्तु जगत् मोहसे अंध है; जहाँ मतभेद है वहाँ अँधेरा है; जहाँ ममत्व अथवा राग है वहाँ सत्य तत्त्व नहीं। ये बातें हमें क्यों न विचारनी चाहिये?

मैं तुम्हें निर्ममत्व और न्यायकी एक मुख्य बात कहता हूँ। वह यह है कि तुम चाहे किसी भी दर्शनको मानो; फिर जो कुछ भी तुम्हारी दृष्टिमें आवे वैसा जैनदर्शनको कहो। सब दर्शनोंके शास्त्र-तत्त्वोंको देखो, तथा जैनतत्त्वोंको भी देखो। स्वतंत्र आत्म-शक्तिसे जो योग्य मालूम हो उसे अंगीकार करो। मेरे कहनेको अथवा अन्य किसी दूसरेके कहनेको भले ही एकदम तुम न मानो परन्तु तत्त्वको विचारो।

९९ समाजकी आवश्यकता

आंग्लदेशवासियोंने संसारके अनेक कलाकौशलोंमें किस कारणसे विजय प्राप्त की है? यह विचार करनेसे हमें तत्काल ही मालूम होगा कि उनका बहुत उत्साह और इस उत्साहमें अनेकोंका मिल जाना ही उनकी सफलताका कारण है। कलाकौशलके इस उत्साही काममें इन अनेक पुरुषोंके द्वारा स्थापित सभा अथवा समाजको क्या परिणाम मिला? तो उत्तरमें यही कहा जायगा कि लक्ष्मी, कीर्ति और अधिकार। इनके इस उदाहरणके ऊपरसे इस जातिके कलाकौशलकी खोज करनेका मैं यहाँ उपदेश नहीं देता, परन्तु सर्वज्ञ भगवान्‌का कहा हुआ गुप्त तत्त्व प्रमादस्थितिमें आ पड़ा है, उसे प्रकाशित करनेके लिये तथा पूर्वाचार्योंके गूँथे हुए महान् शास्त्रोंको एकत्र करनेके लिये, पड़े हुए गच्छोंके मतमतांतरको हटानेके लिये तथा धर्म-विद्याको प्रफुल्लित करनेके लिये सदाचरणी श्रीमान् और धीमान् दोनोंको मिलकर एक महान् समाजकी स्थापना करनेकी आवश्यकता है, यह कहना चाहता हूँ। पवित्र स्याद्वादमतके ढँके हुए तत्त्वोंको प्रसिद्धिमें लानेका जबतक प्रयत्न नहीं होता, तबतक शासनकी उन्नति भी नहीं होगी। संसारी कलाकौशलसे लक्ष्मी, कीर्ति और अधिकार मिलते हैं, परन्तु इस धर्म-कलाकौशलसे तो सर्व सिद्धि प्राप्त होगी। महान् समाजके अन्तर्गत उपसमाजोंको स्थापित करना चाहिये। सम्प्रदायके बाड़ेमें बैठे रहनेकी अपेक्षा मतमतांतर छोड़कर ऐसा करना उचित है। मैं चाहता हूँ कि इस उद्देश्यकी सिद्धि होकर जैनोंके अन्तर्गच्छ मतभेद दूर हों; सत्य वस्तुके ऊपर मनुष्य-समाजका लक्ष आवे; और ममत्व दूर हो।

१०० मनोनिग्रहके विघ्न

बारम्बार जो उपदेश किया गया है, उसमेंसे मुख्य तात्पर्य यही निकलता है कि आत्माका

उद्धार करो और उद्धार करनेके लिये सम्यग्ज्ञानका प्रकाश करो; तथा सत्शीलका सेवन करो। इसे प्राप्त करनेके लिये जो जो मार्ग बताये गये हैं वे सब मनोनिग्रहताके आधीन हैं। मनोनिग्रहता होनेके लिये लक्ष्यकी बहुलता करना जरूरी है। बहुलता करनेमें निम्नलिखित दोष विघ्नरूप होते हैं:—

१ आलस्य.
२ अनियमित निद्रा.
३ विशेष आहार.
४ उन्माद प्रकृति.
५ मायाप्रपंच.
६ अनियमित काम.
७ अकरणीय विलास.
८ मान.
९ मर्यादासे अधिक काम.
१० अपनी बड़ाई.
११ तुच्छ वस्तुसे आनन्द
१२ रसगारवलुब्धता.
१३ अतिभोग.
१४ दूसरेका अनिष्ट चाहना.
१५ कारण बिना संग्रह करना.
१६ बहुतोंका स्नेह.
१७ अयोग्य स्थलमें जाना.
१८ एक भी उत्तम नियमका नहीं पालना.

जबतक इन अठारह विघ्नोंसे मनका संबंध है तबतक अठारह पापोंके स्थान क्षय नहीं होंगे। इन अठारह दोषोंके नष्ट होनेसे मनोनिग्रहता और अभीष्ट सिद्धि हो सकती है। जबतक इन दोषोंकी मनसे निकटता है तबतक कोई भी मनुष्य आत्म-सिद्धि नहीं कर सकता। अति भोगके बदलेमें केवल भोगका त्याग ही नहीं, परन्तु जिसने सर्वथा भोग-त्याग व्रतको धारण किया है, तथा जिसके हृदयमें इनमेंसे किसी भी दोषका मूल न हो वह सत्पुरुष महान् भाग्यशाली है।

१०१ स्मृतिमें रखने योग्य महावाक्य

१ नियम एक प्रकारसे इस जगतका प्रवर्तक है।

२ जो मनुष्य सत्पुरुषोंके चरित्रके रहस्यको पाता है वह परमेश्वर हो जाता है।

३ चंचल चित्त सब विषम दुःखोंका मूल है।

४ बहुतोंका मिलाप और थोड़ोंके साथ अति समागम ये दोनों समान दुःखदायक हैं।

५ समस्वभावीके मिलनेको ज्ञानी लोग एकांत कहते हैं।

६ इन्द्रियाँ तुम्हें जीतें और तुम सुख मानो इसकी अपेक्षा तुम इन्द्रियोंके जीतनेसे ही सुख, आनन्द और परमपद प्राप्त करोगे।

७ राग बिना संसार नहीं और संसार बिना राग नहीं।

८ युवावस्थाका सर्वसंगपरित्याग परमपदको देता है।

९ उस वस्तुके विचारमें पहुँचो कि जो वस्तु अतीन्द्रियस्वरूप है।

१० गुणियोंके गुणोंमें अनुरक्त होओ।

१०२ विविध प्रश्न

(१)

—अब मैं तुमसे कुछ निर्ग्रन्थ-प्रवचनके अनुसार उत्तर देनेके लिये पूछता हूँ।

प्र०— धर्मकी क्या आवश्यकता है?

ज्ञानकी कोई जरूरत नहीं होती परन्तु आप इस बातका उत्तर दें कि जैनदर्शन वेदसे किस वस्तुमें उतरता हुआ है; इसका ज्ञान, इसका उपदेश, इसका रहस्य, और इसका सत्शील कैसा है उसे एक बार कहें तो सही। आपके वेदके विचार किस बाबतमें जैनदर्शनसे बढ़कर हैं? इस तरह जब वे मर्मस्थानपर आते हैं तो मौनके सिवाय उनके पास दूसरा कोई साधन नहीं रहता। जिन सत्पुरुषोंके वचनामृत और योगके बलसे इस सृष्टिमें सत्य, दया, तत्त्वज्ञान और महाशील उदय होते हैं, उन पुरुषोंकी अपेक्षा जो पुरुष शृंगारमें रचे पचे पड़े हुए हैं, जो सामान्य तत्त्वज्ञानको भी नहीं जानते, और जिनका आचार भी पूर्ण नहीं, उन्हें बढ़कर कहना, परमेश्वरके नामसे स्थापित करना, और सत्यस्वरूपकी निंदा करनी, परमात्मस्वरूपको पाये हुओंको नास्तिक कहना,—ये सब बातें इनके कितने अधिक कर्मकी बहुलताको सूचित करती हैं? परन्तु जगत् मोहसे अंध है; जहाँ मतभेद है वहाँ अँधेरा है; जहाँ ममत्व अथवा राग है वहाँ सत्य तत्त्व नहीं। ये बातें हमें क्यों न विचारनी चाहिये?

मैं तुम्हें निर्ममत्व और न्यायकी एक मुख्य बात कहता हूँ। वह यह है कि तुम चाहे किसी भी दर्शनको मानो; फिर जो कुछ भी तुम्हारी दृष्टिमें आवे वैसा जैनदर्शनको कहो। सब दर्शनोंके शास्त्र-तत्त्वोंको देखो, तथा जैनतत्त्वोंको भी देखो। स्वतंत्र आत्म-शक्तिसे जो योग्य मालूम हो उसे अंगीकार करो। मेरे कहनेको अथवा अन्य किसी दूसरेके कहनेको भले ही एकदम तुम न मानो परन्तु तत्त्वको विचारो।

९९ समाजकी आवश्यकता

आंग्लदेशवासियोंने संसारके अनेक कलाकौशलोंमें किस कारणसे विजय प्राप्त की है? यह विचार करनेसे हमें तत्काल ही मालूम होगा कि उनका बहुत उत्साह और इस उत्साहमें अनेकोंका मिल जाना ही उनकी सफलताका कारण है। कलाकौशलके इस उत्साही काममें इन अनेक पुरुषोंके द्वारा स्थापित सभा अथवा समाजको क्या परिणाम मिला? तो उत्तरमें यही कहा जायगा कि लक्ष्मी, कीर्ति और अधिकार। इनके इस उदाहरणके ऊपरसे इस जातिके कलाकौशलकी खोज करनेका मैं यहाँ उपदेश नहीं देता, परन्तु सर्वज्ञ भगवान्का कहा हुआ गुप्त तत्त्व प्रमाद-स्थितिमें आ पड़ा है, उसे प्रकाशित करनेके लिये तथा पूर्वाचार्योंके गूँथे हुए महान् शास्त्रोंको एकत्र करनेके लिये, पड़े हुए गच्छोंके मतमतांतरको हटानेके लिये तथा धर्म-विद्याको प्रफुल्लित करनेके लिये सदाचरणी श्रीमान् और धीमान् दोनोंको मिलकर एक महान् समाजकी स्थापना करनेकी आवश्यकता है, यह कहना चाहता हूँ। पवित्र स्याद्वादमतके ढँके हुए तत्त्वोंको प्रसिद्धिमें लानेका जबतक प्रयत्न नहीं होता, तबतक शासनकी उन्नति भी नहीं होगी। संसारी कलाकौशलसे लक्ष्मी, कीर्ति और अधिकार मिलते हैं, परन्तु इस धर्म-कलाकौशलसे तो सर्व सिद्धि प्राप्त होगी। महान् समाजके अंतर्गत उपसमाजोंको स्थापित करना चाहिये। सम्प्रदायके बाड़ेमें बैठे रहनेकी अपेक्षा मतमतांतर छोड़कर ऐसा करना उचित है। मैं चाहता हूँ कि इस उद्देश्यकी सिद्धि होकर जैनोंके अंतर्गच्छ मतभेद दूर हों; सत्य वस्तुके ऊपर मनुष्य-समाजका लक्ष आवे; और ममत्व दूर हो।

१०० मनोनिग्रहके विघ्न

बारम्बार जो उपदेश किया गया है, उसमेंसे मुख्य तात्पर्य यही निकलता है कि आत्माका

प्र.—गुणस्थानक कितने हैं ?

उ.—चौदह ।

प्र.—उनके नाम कहिये ।

उ.—१ मिथ्यात्वगुणस्थानक। २ सास्वादन (सासादन) गुणस्थानक । ३ मिश्रगुणस्थानक। ४ अविरतिसम्यग्दृष्टिगुणस्थानक। ५ देशविरतिगुणस्थानक । ६ प्रमत्तसंयतगुणस्थानक । ७ अप्रमत्तसंयतगुणस्थानक । ८ अपूर्वकरणगुणस्थानक । ९ अनिवृत्तिबादरगुणस्थानक । १० सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानक। ११ उपशांतमोहगुणस्थानक। १२ क्षीणमोहगुणस्थानक। १३ सयोगकेवलीगुणस्थानक। १४ अयोगकेवलीगुणस्थानक।

१०४ विविध प्रश्न

(३)

प्र.—केवली तथा तीर्थंकर इन दोनोंमें क्या अंतर है ?

उ.—केवली तथा तीर्थंकर शक्तिमें समान हैं, परन्तु तीर्थंकरने पहिले तीर्थंकर नामकर्मका बंध किया है, इसलिये वे विशेषरूपमें बारह गुण और अनेक अतिशयोंको प्राप्त करते हैं ।

प्र.—तीर्थंकर घूम घूम कर उपदेश क्यों देते हैं ? वे तो वीतरागी हैं ।

उ.—पूर्वमें बाँधे हुए तीर्थंकर नामकर्मके वेदन करनेके लिये उन्हें अवश्य ऐसा करना पड़ता है।

प्र.—आजकल प्रचलित शासन किसका है ?

उ.—श्रमण भगवान् महावीरका ।

प्र.—क्या महावीरसे पहले जैनदर्शन था ?

उ.—हाँ, था ।

प्र.—उसे किसने उत्पन्न किया था ?

उ.—उनके पहलेके तीर्थंकरोंने ।

प्र.—उनके और महावीरके उपदेशमें क्या कोई भिन्नता है ?

उ.—तत्त्वदृष्टिसे एक ही है । भिन्न भिन्न पात्रको लेकर उनका उपदेश होनेसे और कुछ कालभेद होनेके कारण सामान्य मनुष्यको भिन्नता अवश्य मालूम होती है, परन्तु न्यायसे देखनेपर उसमें कोई भिन्नता नहीं है ।

प्र.—इनका मुख्य उपदेश क्या है ?

उ.—उनका उपदेश यह है कि आत्माका उद्धार करो, आत्माकी अनंत शक्तियोंका प्रकाश करो और इसे कर्मरूप अनंत दुःखसे मुक्त करो ।

प्र.—इसके लिये उन्होंने कौनसे साधन बताये हैं ?

उ.—व्यवहार नयसे सद्देव, सद्धर्म और सद्गुरुका स्वरूप जानना; सद्देवका गुणगान करना; तीन प्रकारके धर्मका आचरण करना; और निर्ग्रन्थ गुरुसे धर्मका स्वरूप समझना ।

प्र.—तीन प्रकारका धर्म कौनसा है ?

उ.—सम्यग्ज्ञानरूप, सम्यग्दर्शनरूप और सम्यक्चारित्ररूप ।

१०५ विविध प्रश्न

(४)

प्र.—ऐसा जैनदर्शन यदि सर्वोत्तम है तो सब जीव इसके उपदेशको क्यों नहीं मानते ?

उ.—कर्मकी बाहुल्यतासे, मिथ्यात्वके जमे हुए मलसे और सत्समागमके अभावसे।

प्र.—जैनदर्शनके मुनियोंका मुख्य आचार क्या है ?

उ.—पाँच महाव्रत, दश प्रकारका यतिधर्म, सत्रह प्रकारका संयम, दस प्रकारका वैयावृत्य, नव प्रकारका ब्रह्मचर्य, बारह प्रकारका तप, क्रोध आदि चार प्रकारकी कषायोंका निग्रह; इनके सिवाय ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रका आराधन इत्यादि अनेक भेद हैं।

प्र.—जैन मुनियोंके समान ही सन्यासियोंके पाँच याम हैं; बौद्धधर्मके पाँच महाशील हैं, इसलिये इस आचारमें तो जैनमुनि, सन्यासी तथा बौद्धमुनि एकसे हैं न ?

उ.—नहीं।

प्र.—क्यों नहीं ?

उ.—इनके पंचयाम और पंच महाशील अपूर्ण हैं। जैनदर्शनमें महाव्रतके भेद प्रतिभेद अति सूक्ष्म हैं। पहले दोनोंके स्थूल हैं।

प्र.—इसकी सूक्ष्मता दिखानेके लिये कोई दृष्टांत दीजिये।

उ.—दृष्टांत स्पष्ट है। पंचयामी कंदमूल आदि अभक्ष्य खाते हैं; सुखशय्यामें सोते हैं; विविध प्रकारके वाहन और पुष्पोंका उपभोग करते हैं; केवल शीतल जलसे अपना व्यवहार चलाते हैं; रात्रिमें भोजन करते हैं। इसमें होनेवाला असंख्यातों जीवोंका नाश, ब्रह्मचर्यका भंग इत्यादिकी सूक्ष्मताको वे नहीं जानते। तथा बौद्धमुनि माँस आदि अभक्ष्य और सुखशील साधनोंसे युक्त हैं। जैन मुनि तो इनसे सर्वथा विरक्त हैं।

१०६ विविध प्रश्न

(५)

प्र.—वेद और जैनदर्शनकी प्रतिपक्षता क्या वास्तविक है ?

उ.—जैनदर्शनकी इससे किसी विरोधी भावसे प्रतिपक्षता नहीं, परन्तु जैसे सत्यका असत्य प्रतिपक्षी गिना जाता है, उसी तरह जैनदर्शनके साथ वेदका संबंध है।

प्र.—इन दोनोंमें आप किसे सत्य कहते हैं ?

उ.—पवित्र जैनदर्शनको।

प्र.—वेद दर्शनवाले वेदको सत्य बताते हैं, उसके विषयमें आपका क्या कहना है ?

उ.—यह तो मतभेद और जैनदर्शनके तिरस्कार करनेके लिये है, परन्तु आप न्यायपूर्वक दोनोंके मूलतत्त्वोंको देखें।

प्र.—इतना तो मुझे भी लगता है कि महावीर आदि जिनेश्वरका कथन न्यायके काँटेपर है; परन्तु वे जगत्के कर्त्ताका निषेध करते हैं, और जगतको अनादि अनंत कहते हैं, इस विषयमें कुछ कुछ शंका होती है कि यह असंख्यात द्वीपसमुद्रसे युक्त जगत् बिना बनाये कहाँसे आ गया ?

महायोगी भर्तृहरिका यह कथन सृष्टिमान्य अर्थात् समस्त उज्ज्वल आत्माओंको सदैव मनन रखने योग्य है। इसमें समस्त तत्त्वज्ञानका दोहन करनेके लिये इन्होंने सकल तत्त्ववेत्ताओंके सिद्धांतका रहस्य और संसार-शोकके स्वानुभवका जैसेका तैसा चित्र खींच दिया है। इन्होंने जिन जिन वस्तुओंपर भयकी छाया दिखाई है वे सब वस्तुयें संसारमें मुख्यरूपसे सुखरूप मानी गई हैं। संसारकी सर्वोत्तम विभूति जो भोग हैं, वे तो रोगोंके धाम ठहरे; मनुष्य ऊँचे कुलोंसे सुख माननेवाला है, वहाँ पतन होनेका भय दिखाया; संसार-चक्रमें व्यवहारका ठाठ चलानेमें जो दंडस्वरूप लक्ष्मी, वह राजा इत्यादिके भयसे भरपूर है; किसी भी कृत्यद्वारा यशकीर्तिसे मान प्राप्त करना अथवा मानना ऐसी संसारके पामर जीवोंकी अभिलाषा रहा करती है, इसमें महादीनता और कंगालपनेका भय है; बल पराक्रमसे भी इसी प्रकारकी उत्कृष्टता प्राप्त करनेकी चाह रहा करती है, उसमें शत्रुका भय रहा हुआ है; रूपकांति भोगीको मोहिनीरूप है, उसमें रूप-कांति धारण करनेवाली स्त्रियाँ निरंतर भयरूप हैं; अनेक प्रकारकी गुत्थियोंसे भरपूर शास्त्र-जालमें विवादका भय रहता है; किसी भी सांसारिक सुखके गुणको प्राप्त करनेमें जो आनंद माना जाता है, वह खल मनुष्योंकी निंदाके कारण भयान्वित है; जो अनंत प्यारी लगती है ऐसी यह काया भी कभी न कभी कालरूपी सिंहके मुखमें पड़नेके भयसे पूर्ण है। इस प्रकार संसारके मनोहर किन्तु चपल सुख-साधन भयसे भरे हुए हैं। विवेकसे विचार करनेपर जहाँ भय है वहाँ केवल शोक ही है। जहाँ शोक है वहाँ सुखका अभाव है, और जहाँ सुखका अभाव है वहाँ तिरस्कार करना उचित ही है।

अकेले योगीन्द्र भर्तृहरि ही ऐसा कह गये हैं, यह बात नहीं। कालके अनुसार सृष्टिके निर्माणके समयसे लेकर भर्तृहरिसे उत्तम, भर्तृहरिके समान और भर्तृहरिसे कनिष्ठ कोटिके असंख्य तत्त्वज्ञानी हो गये हैं। ऐसा कोई काल अथवा आर्यदेश नहीं जिसमें तत्त्वज्ञानियोंकी बिलकुल भी उत्पत्ति न हुई हो। इन तत्त्ववेत्ताओंने संसार-सुखकी हरेक सामग्रीको शोकरूप बताई है। यह उनके अगाध विवेकका परिणाम है। व्यास, वाल्मीकि, शंकर, गौतम, पातंजलि, कपिल, और युवराज शुद्धोदनने अपने प्रवचनोंमें मार्मिक रीतिसे और सामान्य रीतिसे जो उपदेश किया है, उसका रहस्य नीचेके शब्दोंमें कुछ कुछ आ जाता है:—

"अहो प्राणियो! संसाररूपी समुद्र अनंत और अपार है। इसका पार पानेके लिये पुरुषार्थका उपयोग करो! उपयोग करो!"

इस प्रकारका उपदेश देनेमें इनका हेतु समस्त प्राणियोंको शोकसे मुक्त करनेका था। इन सब ज्ञानियोंकी अपेक्षा परम मान्य रखने योग्य सर्वज्ञ महावीरका उपदेश सर्वत्र यही है कि संसार एकांत और अनंत शोकरूप तथा दुःखप्रद है। अहो! भव्य लोगो! इसमें मधुर मोहिनीको प्राप्त न होकर इससे निवृत्त होओ! निवृत्त होओ!"

महावीरका एक समयके लिये भी संसारका उपदेश नहीं है। इन्होंने अपने समस्त उपदेशोंमें यही बताया है और यही अपने आचरणद्वारा सिद्ध भी कर दिखाया है। कंचन वर्णकी काया, यशोदा जैसी रानी, अतुल साम्राज्यलक्ष्मी और महाप्रतापी स्वजन परिवारका समूह होनेपर भी उनकी

मोह त्यागकर और ज्ञानदर्शन-योगमें परायण होकर इन्होंने जो अद्भुतता दिखलायी है, वह अनुपम है। इसी रहस्यका प्रकाश करते हुए पवित्र उत्तराध्ययनसूत्रके आठवें अध्ययनकी पहली गाथामें तत्त्वाभिलाषी कपिल केवलीके मुखकमलसे महावीरने कहलवाया है कि:—

अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए।
किं नाम हुज्ज कम्मं जेणाहं दुग्गई न गच्छिज्जा ॥ १ ॥

"अध्रुव और अशाश्वत संसारमें अनेक प्रकारके दुःख हैं। मैं ऐसी कौनसी करणी करूँ कि जिस करणीसे दुर्गतिमें न जाऊँ?" इस गाथामें इस भावसे प्रश्न होनेपर कपिल मुनि फिर आगे उपदेश देते हैं।

"अधुवे असासयंमि"—प्रवृत्तिमुक्त योगीश्वरके ये महान् तत्त्वज्ञानके प्रसादीभूत वचन सतत ही वैराग्यमें ले जानेवाले हैं। अति बुद्धिशालीको संसार भी उत्तम रूपसे मानता है फिर भी वे बुद्धिशाली संसारका त्याग कर देते हैं। यह तत्त्वज्ञानका प्रशंसनीय चमत्कार है। ये अत्यन्त मेधावी अंतमें पुरुषार्थकी स्फुरणाकर महायोगका साधनकर आत्माके तिमिर-पटको दूर करते हैं। संसारको शोकाब्धि कहनेमें तत्त्वज्ञानियोंकी भ्रमणा नहीं है, परन्तु ये सभी तत्त्वज्ञानी कहीं तत्त्वज्ञान-चंद्रकी सोलह कलाओंसे पूर्ण नहीं हुआ करते; इसी कारणसे सर्वज्ञ महावीरके वचनोंसे तत्त्वज्ञानके लिये जो प्रमाण मिलता है वह महान् अद्भुत, सर्वमान्य और सर्वथा मंगलमय है। महावीरके समान ऋषभदेव आदि जो जो और सर्वज्ञ तीर्थंकर हुए हैं उन्होंने भी निस्पृहतासे उपदेश देकर जगद्हितैषीकी पदवी प्राप्त की है।

संसारमें जो केवल और अनंत भरपूर ताप हैं, वे ताप तीन प्रकारके हैं—आधि, व्याधि और उपाधि। इनसे मुक्त होनेका उपदेश प्रत्येक तत्त्वज्ञानी करते आये हैं। संसार-त्याग, शम, दम, दया, शांति, क्षमा, धृति, अप्रभुत्व, गुरुजनका विनय, विवेक, निस्पृहता, ब्रह्मचर्य, सम्यक्त्व और ज्ञान इनका सेवन करना; क्रोध, लोभ, मान, माया, अनुराग, अप्रीति, विषय, हिंसा, शोक, अज्ञान, मिथ्यात्व इन सबका त्याग करना; यह सब दर्शनोंका सामान्य रीतिसे सार है। नीचेके दो चरणोंमें इस सारका समावेश हो जाता है:—

प्रभु भजो नीति सजो, परठो परोपकार

अरे! यह उपदेश स्तुतिके योग्य है। यह उपदेश देनेमें किसीने किसी प्रकारकी और किसीने किसी प्रकारकी विचक्षणता दिखाई है। ये सब स्थूल दृष्टिसे तो समतुल्य दिखाई देते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर उपदेशकके रूपमें सिद्धार्थ राजाके पुत्र श्रमण भगवान् पहिले नम्बर आते हैं। निवृत्तिके लिये जिन जिन विषयोंको पहले कहा है उन उन विषयोंका वास्तविक स्वरूप समझकर संपूर्ण मंगलमय उपदेश करनेमें ये राजपुत्र सबसे आगे बढ़ गये हैं। इसके लिये वे अनंत धन्यवादके पात्र हैं!

इन सब विषयोंका अनुकरण करनेका क्या प्रयोजन और क्या परिणाम है? अब इसका निर्णय करें। सब उपदेशक यह कहते आये हैं कि इसका परिणाम मुक्ति प्राप्त करना है और इसका प्रयोजन दुःखकी निवृत्ति है। इसी कारण सब दर्शनोंने सामान्यरूपसे मुक्तिको अनुपम श्रेष्ठ कहा है। सूत्रकृतांग नामक द्वितीय अंगके प्रथम श्रुतस्कंधके छट्ठे अध्ययनकी चौबीसवीं गाथाके तीसरे चरणमें कहा गया है कि:—

महायोगी भर्तृहरिका यह कथन सृष्टिमान्य अर्थात् समस्त उज्ज्वल आत्माओंको सदैव मान्य रखने योग्य है। इसमें समस्त तत्त्वज्ञानका दोहन करनेके लिये इन्होंने सकल तत्त्ववेत्ताओंके सिद्धांतका रहस्य और संसार-शोकके स्वानुभवका जैसेका तैसा चित्र खींच दिया है। इन्होंने जिन जिन वस्तुओंपर भयकी छाया दिखाई है वे सब वस्तुयें संसारमें मुख्यरूपसे सुखरूप मानी गई हैं। संसारका सर्वोत्तम विभूति जो भोग है, वे तो रोगोंके धाम ठहरे; मनुष्य ऊँचे कुलोंसे सुख माननेवाला है, वहाँ पतन होनेका भय दिखाया; संसार-चक्रमें व्यवहारका ठाठ चलानेमें जो दंडस्वरूप लक्ष्मी, वह राजा इत्यादिके भयसे भरपूर है; किसी भी कृत्यद्वारा यशकीर्तिसे मान प्राप्त करना अथवा मानना ऐसी संसारके पामर जीवोंकी अभिलाषा रहा करती है, इसमें महादीनता और कंगालपनेका भय है; बल पराक्रमसे भी इसी प्रकारकी उत्कृष्टता प्राप्त करनेकी चाह रहा करती है, उसमें शत्रुका भय रहा हुआ है; रूप कांति भोगीको मोहिनीरूप है, उसमें रूप-कांति धारण करनेवाली स्त्रियाँ निरंतर भयरूप हैं; अनेक प्रकारसे [illegible] मधुर शास्त्र-जालमें विवादका भय रहता है; किसी भी सांसारिक सुखके गुणको प्राप्त करके जो आनंद माना जाता है, वह पामर मनुष्योंकी निंदाके कारण भयान्वित है; जो अनंत प्यारी काया है वह काया भी कभी न कभी कालरूपी सिंहके मुखमें पड़नेके भयसे पूर्ण है। इस प्रकार संसारके मनोहर किन्तु चपल सुख-साधन भयसे भरे हुए हैं। विवेकसे विचार करनेपर जहाँ भय है वहाँ केवल शोक ही है। जहाँ शोक है वहाँ सुखका अभाव है, और जहाँ सुखका अभाव है वहाँ तिरस्कार करना उचित ही है।

अकेले योगीन्द्र भर्तृहरि ही ऐसा कह गये हैं, यह बात नहीं। कालके अनुसार सृष्टिके निर्माण होनेसे लेकर भर्तृहरिसे उत्तम, भर्तृहरिके समान और भर्तृहरिसे कनिष्ठ कोटिके असंख्य तत्त्वज्ञानी हो गये हैं। ऐसा कोई काल अथवा आर्यदेश नहीं जिसमें तत्त्वज्ञानियोंकी बिलकुल भी उत्पत्ति न हुई हो। इन तत्त्ववेत्ताओंने संसार-सुखकी हरेक सामग्रीको शोकरूप बताई है। यह इनके अगाध विवेकका परिणाम है। व्यास, वाल्मीकि, शंकर, गौतम, पातंजलि, कपिल, और युवराज शुद्धोदनने अपने प्रवचनोंमें मार्मिक रीतिसे और सामान्य रीतिसे जो उपदेश किया है, उसका रहस्य नीचेके शब्दोंमें कुछ कुछ आ जाता है—

“ अहो प्राणियो ! संसाररूपी समुद्र अनंत और अपार है। इसका पार पानेके लिये पुरुषार्थका उपयोग करो ! उपयोग करो ! ”

इस प्रकारका उपदेश देनेमें इनका हेतु समस्त प्राणियोंको शोकसे मुक्त करनेका था। इन सब ज्ञानियोंकी अपेक्षा परम मान्य रखने योग्य सर्वज्ञ महावीरका उपदेश सर्वत्र यही है कि संसार एकांत और अनंत शोकरूप तथा दुःखप्रद है। अहो ! भव्य लोगो ! इसमें मधुर मोहिनी न लाकर इससे निवृत्त होओ ! निवृत्त होओ !!

महावीरका एक समयके लिये भी संसारका उपदेश नहीं है। इन्होंने अपने समस्त प्रवचनोंमें यही बताया है और यही अपने आचरणद्वारा सिद्ध भी कर दिखाया है। कंचनवर्णी काया, यशोदा जैसी रानी, अतुल साम्राज्य लक्ष्मी और महाप्रतापी स्वजन परिवारका समूह होनेपर भी [illegible]

मोह त्यागकर और ज्ञानदर्शन-योगमें परायण होकर इन्होंने जो अद्भुतता दिखलायी है, वह अनुपम है। इसी रहस्यका प्रकाश करते हुए पवित्र उत्तराध्ययनसूत्रके आठवें अध्ययनकी पहली गाथामें तत्त्वाभिलाषी कपिल केवलीके मुखकमलसे महावीरने कहलवाया है कि:—

अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए।
किं नाम हुज्ज कम्मं जेणाहं दुग्गई न गच्छिज्जा ॥ १ ॥

"अध्रुव और अशाश्वत संसारमें अनेक प्रकारके दुःख हैं। मैं ऐसी कौनसी करणी करूँ कि जिस करणीसे दुर्गतिमें न जाऊँ?" इस गाथामें इस भावसे प्रश्न होनेपर कपिल मुनि फिर आगे उपदेश देते हैं।

"अधुवे असासयंमि"—प्रवृत्तिमुक्त योगीश्वरके ये महान् तत्त्वज्ञानके प्रसादीभूत वचन सतत ही वैराग्यमें ले जानेवाले हैं। अति बुद्धिशालीको संसार भी उत्तम रूपसे मानता है फिर भी वे बुद्धिशाली संसारका त्याग कर देते हैं। यह तत्त्वज्ञानका प्रशंसनीय चमत्कार है। ये अत्यन्त मेधावी अंतमें पुरुषार्थको स्फुरणाकर महायोगका साधनकर आत्माके तिमिर-पटको दूर करते हैं। संसारको शोकाब्धि कहनेमें तत्त्वज्ञानियोंकी भ्रमणा नहीं है, परन्तु ये सभी तत्त्वज्ञानी कहीं तत्त्वज्ञान-चंद्रकी सोलह कलाओंसे पूर्ण नहीं हुआ करते; इसी कारणसे सर्वज्ञ महावीरके वचनोंसे तत्त्वज्ञानके लिये जो प्रमाण मिलता है वह महान् अद्भुत, सर्वमान्य और सर्वथा मंगलमय है। महावीरके समान ऋषभदेव आदि जो जो और सर्वज्ञ तीर्थंकर हुए हैं उन्होंने भी निस्पृहतासे उपदेश देकर जगद्धितैषीकी पदवी प्राप्त की है।

संसारमें जो केवल और अनंत भरपूर ताप हैं, वे ताप तीन प्रकारके हैं—आधि, व्याधि और उपाधि। इनसे मुक्त होनेका उपदेश प्रत्येक तत्त्वज्ञानी करते आये हैं। संसार-त्याग, शम, दम, दया, शांति, क्षमा, धृति, अप्रभुत्व, गुरुजनका विनय, विवेक, निस्पृहता, ब्रह्मचर्य, सम्यक्त्व और ज्ञान इनका सेवन करना; क्रोध, लोभ, मान, माया, अनुराग, अप्रीति, विषय, हिंसा, शोक, अज्ञान, मिथ्यात्व इन सबका त्याग करना; यह सब दर्शनोंका सामान्य रीतिसे सार है। नीचेके दो चरणोंमें इस सारका समावेश हो जाता है:—

प्रभु भजो नीति सजो, परठो परोपकार

अरे! यह उपदेश स्तुतिके योग्य है। यह उपदेश देनेमें किसीने किसी प्रकारकी और किसीने किसी प्रकारकी विचक्षणता दिखाई है। ये सब स्थूल दृष्टिसे तो समतुल्य दिखाई देते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर उपदेशकके रूपमें सिद्धार्थ राजाके पुत्र श्रमण भगवान् पहिले नम्बर आते हैं। निवृत्तिके लिये जिन जिन विषयोंको पहले कहा है उन उन विषयोंका वास्तविक स्वरूप समझकर संपूर्ण मंगलमय उपदेश करनेमें ये राजपुत्र सबसे आगे बढ़ गये हैं। इसके लिये वे अनंत धन्यवादके पात्र हैं!

इन सब विषयोंका अनुकरण करनेका क्या प्रयोजन और क्या परिणाम है? अब इसका निर्णय करें। सब उपदेशक यह कहते आये हैं कि इसका परिणाम मुक्ति प्राप्त करना है और इसका प्रयोजन दुःखकी निवृत्ति है। इसी कारण सब दर्शनोंने सामान्यरूपसे मुक्तिको अनुपम श्रेष्ठ कहा है। सूत्रकृतांग नामक द्वितीय अंगके प्रथम श्रुतस्कंधके छठे अध्ययनकी चौबीसवीं गाथाके तीसरे चरणमें कहा गया है कि:—

महायोगी भर्तृहरिका यह कथन सृष्टिमान्य अर्थात् समस्त उज्ज्वल आत्माओंको सदैव मनन करने योग्य है। इसमें समस्त तत्त्वज्ञानका दोहन करनेके लिये इन्होंने सकल तत्त्ववेत्ताओंके सिद्धांतका रहस्य और संसार-शोकके स्वानुभवका जैसेका तैसा चित्र खींच दिया है। इन्होंने जिन जिन वस्तुओंपर भयकी छाया दिखाई है वे सब वस्तुयें संसारमें मुख्यरूपसे सुखरूप मानी गई हैं। संसारके सर्वोत्तम विभूति जो भोग हैं, वे तो रोगोंके धाम ठहरे; मनुष्य ऊँचे कुलोंसे सुख माननेवाला है, वहाँ पतन होनेका भय दिखाया; संसार-चक्रमें व्यवहारका ठाठ चलानेमें जो दंडस्वरूप लक्ष्मी, वह राजा इत्यादिके भयसे भरपूर है; किसी भी कृत्यद्वारा यशकीर्तिसे मान प्राप्त करना अथवा मानना ऐसी संसारके पामर जीवोंकी अभिलाषा रहा करती है, इसमें महादीनता और कंगालपनेका भय है; बल पराक्रमसे भी इसी प्रकारकी उत्कृष्टता प्राप्त करनेकी चाह रहा करती है, उसमें शत्रुका भय रहा हुआ है, रूपकांति भोगीको मोहिनीरूप है, उसमें रूप-कांति धारण करनेवाली स्त्रियाँ निरंतर भयरूप हैं; अनेक प्रकारकी गुत्थियोंसे भरपूर शास्त्र-जालमें विवादका भय रहता है; किसी भी सांसारिक सुखके गुणको प्राप्त करके जो आनंद माना जाता है, वह खल मनुष्योंकी निंदाके कारण भयान्वित है; जो अनंत प्यारी काया है ऐसी यह काया भी कभी न कभी कालरूपी सिंहके मुखमें पड़नेके भयसे पूर्ण है। इस प्रकार संसारके मनोहर किन्तु चपल सुख-साधन भयसे भरे हुए हैं। विवेकसे विचार करनेपर जहाँ भय है वहाँ केवल शोक ही है। जहाँ शोक है वहाँ सुखका अभाव है, और जहाँ सुखका अभाव है उसका तिरस्कार करना उचित ही है।

अकेले योगीन्द्र भर्तृहरि ही ऐसा कह गये हैं, यह बात नहीं। कालके अनुसार सृष्टिके निर्माणसे लेकर भर्तृहरिसे उत्तम, भर्तृहरिके समान और भर्तृहरिसे कनिष्ठ कोटिके असंख्य तत्त्वज्ञानी हो गये हैं। ऐसा कोई काल अथवा आर्यदेश नहीं जिसमें तत्त्वज्ञानियोंकी बिल्कुल भी उत्पत्ति न हुई हो। इन तत्त्ववेत्ताओंने संसार-सुखकी हरेक सामग्रीको शोकरूप बताई है। यह उनके अगाध विवेकका परिणाम है। व्यास, वाल्मीकि, शंकर, गौतम, पातंजलि, कपिल, और युवराज शुद्धोदनने अपने प्रवचनोंमें मार्मिक रीतिसे और सामान्य रीतिसे जो उपदेश किया है, उसका रहस्य नीचेके शब्दोंमें कुछ कुछ आ जाता है:—

“ अहो प्राणियो ! संसाररूपी समुद्र अनंत और अपार है। इसका पार पानेके लिये पुरुषार्थका उपयोग करो ! उपयोग करो ! ”

इस प्रकारका उपदेश देनेमें इनका हेतु समस्त प्राणियोंको शोकसे मुक्त करनेका था। इन सब ज्ञानियोंकी अपेक्षा परम मान्य रखने योग्य सर्वज्ञ महावीरका उपदेश सर्वत्र यही है कि संसार एकांत और अनंत शोकरूप तथा दुःखप्रद है। अहो ! भव्य लोगो ! इसमें मधुर मोहिनीको प्राप्त न होकर इससे निवृत्त होओ ! निवृत्त होओ !!

महावीरका एक समयके लिये भी संसारका उपदेश नहीं है। इन्होंने अपने समस्त प्रवचनोंमें यही बताया है और यही अपने आचरणद्वारा सिद्ध भी कर दिखाया है। कंचन वर्णकी काया, यशोदा जैसी रानी, अतुल साम्राज्यलक्ष्मी और महाप्रतापी स्वजन परिवारका समूह होनेपर भी उ

मोह त्यागकर और ज्ञानदर्शन-योगमें परायण होकर इन्होंने जो अद्भुतता दिखलायी है, वह अनुपम है। इसी रहस्यका प्रकाश करते हुए पवित्र उत्तराध्ययनसूत्रके आठवें अध्ययनकी पहली गाथामें तत्त्वाभिलाषी कपिल केवलीके मुखकमलसे महावीरने कहलवाया है किः—

अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए।
किं नाम हुज्ज कम्मं जेणाहं दुग्गई न गच्छिज्जा ॥ १ ॥

"अध्रुव और अशाश्वत संसारमें अनेक प्रकारके दुःख हैं। मैं ऐसी कौनसी करणी करूँ कि जिस करणीसे दुर्गतिमें न जाऊँ?" इस गाथामें इस भावसे प्रश्न होनेपर कपिल मुनि फिर आगे उपदेश देते हैं।

"अधुवे असासयंमि"—प्रवृत्तिमुक्त योगीश्वरके ये महान् तत्त्वज्ञानके प्रसादीभूत वचन सतत ही वैराग्यमें ले जानेवाले हैं। अति बुद्धिशालीको संसार भी उत्तम रूपसे मानता है फिर भी वे बुद्धिशाली संसारका त्याग कर देते हैं। यह तत्त्वज्ञानका प्रशंसनीय चमत्कार है। ये अत्यन्त मेधावी अंतमें पुरुषार्थकी स्फुरणाकर महायोगका साधनकर आत्माके तिमिर-पटको दूर करते हैं। संसारको शोकाब्धि कहनेमें तत्त्वज्ञानियोंकी भ्रमणा नहीं है, परन्तु ये सभी तत्त्वज्ञानी कहीं तत्त्वज्ञान-चंद्रकी सोलह कलाओंसे पूर्ण नहीं हुआ करते; इसी कारणसे सर्वज्ञ महावीरके वचनोंसे तत्त्वज्ञानके लिये जो प्रमाण मिलता है वह महान् अद्भुत, सर्वमान्य और सर्वथा मंगलमय है। महावीरके समान ऋषभदेव आदि जो जो और सर्वज्ञ तीर्थंकर हुए हैं उन्होंने भी निस्पृहतासे उपदेश देकर जगद्हितैषीकी पदवी प्राप्त की है।

संसारमें जो केवल और अनंत भरपूर ताप हैं, वे ताप तीन प्रकारके हैं—आधि, व्याधि और उपाधि। इनसे मुक्त होनेका उपदेश प्रत्येक तत्त्वज्ञानी करते आये हैं। संसार-त्याग, शम, दम, दया, शांति, क्षमा, धृति, अप्रभुत्व, गुरुजनका विनय, विवेक, निस्पृहता, ब्रह्मचर्य, सम्यक्त्व और ज्ञान इनका सेवन करना; क्रोध, लोभ, मान, माया, अनुराग, अप्रीति, विषय, हिंसा, शोक, अज्ञान, मिथ्यात्व इन सबका त्याग करना; यह सब दर्शनोंका सामान्य रीतिसे सार है। नीचेके दो चरणोंमें इस सारका समावेश हो जाता हैः—

प्रभु भजो नीति सजो, परठो परोपकार

अरे! यह उपदेश स्तुतिके योग्य है। यह उपदेश देनेमें किसीने किसी प्रकारकी और किसीने किसी प्रकारकी विचक्षणता दिखाई है। ये सब स्थूल दृष्टिसे तो समतुल्य दिखाई देते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर उपदेशकके रूपमें सिद्धार्थ राजाके पुत्र श्रमण भगवान् पहिले नम्बर आते हैं। निवृत्तिके लिये जिन जिन विषयोंको पहले कहा है उन उन विषयोंका वास्तविक स्वरूप समझकर संपूर्ण मंगलमय उपदेश करनेमें ये राजपुत्र सबसे आगे बढ़ गये हैं। इसके लिये ये अनंत धन्यवादके पात्र हैं!

इन सब विषयोंका अनुकरण करनेका क्या प्रयोजन और क्या परिणाम है? अब इसका निर्णय करें। सब उपदेशक यह कहते आये हैं कि इसका परिणाम मुक्ति प्राप्त करना है और इसका प्रयोजन दुःखकी निवृत्ति है। इसी कारण सब दर्शनोंने सामान्यरूपसे मुक्तिको अनुपम श्रेष्ठ कहा है। सूत्रकृतांग नामक द्वितीय अंगके प्रथम श्रुतस्कंधके छट्ठे अध्ययनकी चौबीसवीं गाथाके तीसरे चरणमें कहा गया है किः—

महायोगी भर्तृहरिका यह कथन सृष्टिमान्य अर्थात् समस्त उज्ज्वल आत्माओंको स
रखने योग्य है। इसमें समस्त तत्त्वज्ञानका दोहन करनेके लिये इन्होंने सकल त
सिद्धांतका रहस्य और संसार-शोकके स्वानुभवका जैसेका तैसा चित्र खींच दिया है। इन्होंने
वस्तुओंपर भयकी छाया दिखाई है वे सब वस्तुयें संसारमें मुख्यरूपसे सुखरूप मानी गई है
सर्वोत्तम विभूति जो भोग हैं, वे तो रोगोंके धाम ठहरे; मनुष्य ऊँचे कुलोंसे सुख माननेवाला है
होनेका भय दिखाया; संसार-चक्रमें व्यवहारका ठाठ चलानेमे जो दंडस्वरूप लक्ष्मी, वह राज
भयसे भरपूर है; किसी भी कृत्यद्वारा यशकीर्तिसे मान प्राप्त करना अथवा मानना ऐसी संस
जीवोंकी अभिलाषा रहा करती है, इसमें महादीनता और कंगालपनेका भय है; बल पराक्रम
प्रकारकी उत्कृष्टता प्राप्त करनेकी चाह रहा करती है, उसमें शत्रुका भय रहा हुआ है;
भोगीको मोहिनीरूप है, उसमें रूप-कांति धारण करनेवाली स्त्रियाँ निरंतर भयरूप हैं; अने
युक्तियोंसे भरपूर शास्त्र-जालमें विवादका भय रहता है; किसी भी सांसारिक सुखके गुणको प्र
जो आनंद माना जाता है, वह खल मनुष्योंकी निंदाके कारण भयान्वित है; जो अनंत प
है ऐसी यह काया भी कभी न कभी कालरूपी सिंहके मुखमें पड़नेके भयसे पूर्ण है।
संसारके मनोहर किन्तु चपल सुख-साधन भयसे भरे हुए हैं। विवेकसे विचार करनेपर उ
वहाँ केवल शोक ही है। जहाँ शोक है वहाँ सुखका अभाव है, और जहाँ सुखका अभा
तिरस्कार करना उचित ही है।

अकेले योगीन्द्र भर्तृहरि ही ऐसा कह गये है, यह बात नहीं। कालके अनुसार
निर्माणके समयसे लेकर भर्तृहरिसे उत्तम, भर्तृहरिके समान और भर्तृहरिसे कनिष्ठ कोटि
तत्त्ववेत्ता हो गये हैं। ऐसा कोई काल अथवा आर्यदेश नहीं जिसमें तत्त्वज्ञानियोंकी बिलकुल
न हुई हो। इन तत्त्ववेत्ताओंने संसार-सुखकी हरेक सामग्रीको शोकरूप बताई है। य
अगाध विवेकका परिणाम है। व्यास, वाल्मीकि, शंकर, गौतम, पातंजलि, कपिल, औ
शुद्धोदनने अपने प्रवचनोंमें मार्मिक रीतिसे और सामान्य रीतिसे जो उपदेश किया है, उस
नीचेके शब्दोंमें कुछ कुछ आ जाता है:—

" अहो प्राणियो! संसाररूपी समुद्र अनंत और अपार है। इसका पार पानेके लिये पु
उद्योग करो! उद्योग करो!"

इस प्रकारका उपदेश देनेमें इनका हेतु समस्त प्राणियोंको शोकसे मुक्त करनेका था।
ज्ञानियोंकी अपेक्षा परम मान्य रखने योग्य सर्वज्ञ महावीरका उपदेश सर्वत्र यही है कि संसा
और अनन्त शोकरूप तथा दुःखप्रद है। अहो! भव्य लोगो! इसमें मधुर मोहिनीको छोड़
इससे निवृत्त होओ! निवृत्त होओ!!

महावीरका एक समयके लिये भी संसारका उपदेश नहीं है। इन्होंने अपने समस्त
यही बताया है और यही अपने आचरणद्वारा सिद्ध भी कर दिखाया है। कंचन वर्णकी का
यशोदा जैसी रानी, अतुल साम्राज्य-लक्ष्मी और महाप्रतापी स्वजन परिवारका समूह होनेपर भी

मोह त्यागकर और ज्ञानदर्शन-योगमें परायण होकर इन्होंने जो अद्भुतता दिखायी है, वह अनुपम है। इसी रहस्यका प्रकाश करते हुए पवित्र उत्तराध्ययनसूत्रके आठवें अध्ययनकी पहली गाथामें तत्त्वाभिलाषी कपिल केवलीके मुखकमलसे महावीरने कहलवाया है कि:—

अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए।
किं नाम हुज्ज कम्मं जेणाहं दुग्गई न गच्छिज्जा ॥ १॥

"अध्रुव और अशाश्वत संसारमें अनेक प्रकारके दुःख हैं। मैं ऐसी कौनसी करणी करूँ कि जिस करणीसे दुर्गतिमें न जाऊँ?" इस गाथामें इस भावसे प्रश्न होनेपर कपिल मुनि फिर आगे उपदेश देते हैं।

"अधुवे असासयंमि"—प्रवृत्तिमुक्त योगीश्वरके ये महान् तत्त्वज्ञानके प्रसादीभूत वचन सतत ही वैराग्यमें ले जानेवाले हैं। अति बुद्धिशालीको संसार भी उत्तम रूपसे मानता है फिर भी वे बुद्धिशाली संसारका त्याग कर देते हैं। यह तत्त्वज्ञानका प्रशंसनीय चमत्कार है। ये अत्यन्त मेधावी अंतमें पुरुषार्थकी स्फुरणाकर महायोगका साधनकर आत्माके तिमिर-पटको दूर करते हैं। संसारको शोकाब्धि कहनेमें तत्त्वज्ञानियोंकी भ्रमणा नहीं है, परन्तु ये सभी तत्त्वज्ञानी कहीं तत्त्वज्ञान-चंद्रकी सोलह कलाओंसे पूर्ण नहीं हुआ करते; इसी कारणसे सर्वज्ञ महावीरके वचनोंसे तत्त्वज्ञानके लिये जो प्रमाण मिलता है वह महान् अद्भुत, सर्वमान्य और सर्वथा मंगलमय है। महावीरके समान ऋषभदेव आदि जो जो और सर्वज्ञ तीर्थंकर हुए हैं उन्होंने भी निस्पृहतासे उपदेश देकर जगद्हितैषीकी पदवी प्राप्त की है।

संसारमें जो केवल और अनंत भरपूर ताप हैं, वे ताप तीन प्रकारके हैं—आधि, व्याधि और उपाधि। इनसे मुक्त होनेका उपदेश प्रत्येक तत्त्वज्ञानी करते आये हैं। संसार-त्याग, शम, दम, दया, शांति, क्षमा, धृति, अप्रभुत्व, गुरुजनका विनय, विवेक, निस्पृहता, ब्रह्मचर्य, सम्यक्त्व और ज्ञान इनका सेवन करना; क्रोध, लोभ, मान, माया, अनुराग, अप्रीति, विषय, हिंसा, शोक, अज्ञान, मिथ्यात्व इन सबका त्याग करना; यह सब दर्शनोंका सामान्य रीतिसे सार है। नीचेके दो चरणोंमें इस सारका समावेश हो जाता है:—

प्रभु भजो नीति सजो, परठो परोपकार

अरे! यह उपदेश स्तुतिके योग्य है। यह उपदेश देनेमें किसीने किसी प्रकारकी और किसीने किसी प्रकारकी विचक्षणता दिखाई है। ये सब स्थूल दृष्टिसे तो समतुल्य दिखाई देते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर उपदेशकके रूपमें सिद्धार्थ राजाके पुत्र श्रमण भगवान् पहिले नम्बर आते हैं। निवृत्तिके लिये जिन जिन विषयोंको पहले कहा है उन उन विषयोंका वास्तविक स्वरूप समझकर संपूर्ण मंगलमय उपदेश करनेमें ये राजपुत्र सबसे आगे बढ़ गये हैं। इसके लिये वे अनंत धन्यवादके पात्र हैं!

इन सब विषयोंका अनुकरण करनेका क्या प्रयोजन और क्या परिणाम है? अब इसका निर्णय करें। सब उपदेशक यह कहते आये हैं कि इसका परिणाम मुक्ति प्राप्त करना है और इसका प्रयोजन दुःखकी निवृत्ति है। इसी कारण सब दर्शनोंने सामान्यरूपसे मुक्तिको अनुपम श्रेष्ठ कहा है। सूत्रकृतांग नामक द्वितीय अंगके प्रथम श्रुतस्कंधके छट्ठे अध्ययनकी चौबीसवी गाथाके तीसरे चरणमें कहा गया है कि:—

महायोगी भर्तृहरिका यह कथन सृष्टिमान्य अर्थात् समस्त उज्ज्वल आत्माओंको सदैव मान्य रखने योग्य है। इसमें समस्त तत्त्वज्ञानका दोहन करनेके लिये इन्होंने सकल तत्त्ववेत्ताओंके सिद्धांतका रहस्य और संसार-शोकके स्वानुभवका जैसेका तैसा चित्र खींच दिया है। इन्होंने जिन जिन वस्तुओंपर भयकी छाया दिखाई है वे सब वस्तुयें संसारमें मुख्यरूपसे सुखरूप मानी गई हैं। संसारकी सर्वोत्तम विभूति जो भोग हैं, वे तो रोगोंके धाम ठहरे; मनुष्य ऊँचे कुलोंसे सुख माननेवाला है, वहाँ पतन होनेका भय दिखाया; संसार-चक्रमें व्यवहारका ठाठ चलानेमें जो दंडस्वरूप लक्ष्मी, वह राजा इत्यादिके भयसे भरपूर है; किसी भी कृत्यद्वारा यशकीर्तिसे मान प्राप्त करना अथवा मानना ऐसी संसारके पामर जीवोंकी अभिलाषा रहा करती है, इसमें महादीनता और कंगालपनेका भय है; बल पराक्रमसे भी इसी प्रकारकी उत्कृष्टता प्राप्त करनेकी चाह रहा करती है, उसमें शत्रुका भय रहा हुआ है; रूप कांति भोगीको मोहिनीरूप है, उसमें रूप-कांति धारण करनेवाली स्त्रियाँ निरंतर भयरूप हैं; अनेक प्रकारकी गुत्थियोंसे भरपूर शास्त्र-जालमें विवादका भय रहता है; किसी भी सांसारिक सुखके गुणको प्राप्त करनेसे जो आनंद माना जाता है, वह खल मनुष्योंकी निंदाके कारण भयान्वित है; जो अनंत प्यारी वस्तु है ऐसी यह काया भी कभी न कभी कालरूपी सिंहके मुखमें पड़नेके भयसे पूर्ण है। इस प्रकार संसारके मनोहर किन्तु चपल सुख-साधन भयसे भरे हुए हैं। विवेकसे विचार करनेपर जहाँ भय है वहाँ केवल शोक ही है। जहाँ शोक है वहाँ सुखका अभाव है, और जहाँ सुखका अभाव है वहाँ तिरस्कार करना उचित ही है।

अकेले योगीन्द्र भर्तृहरि ही ऐसा कह गये हैं, यह बात नहीं। कालके अनुसार सृष्टिके निर्माणके समयसे लेकर भर्तृहरिसे उत्तम, भर्तृहरिके समान और भर्तृहरिसे कनिष्ठ कोटिके असंख्य तत्त्वज्ञानी हो गये हैं। ऐसा कोई काल अथवा आर्यदेश नहीं जिसमें तत्त्वज्ञानियोंकी बिलकुल भी उत्पत्ति न हुई हो। इन तत्त्ववेत्ताओंने संसार-सुखकी हरेक सामग्रीको शोकरूप बताई है। यह उनके अगाध विवेकका परिणाम है। व्यास, वाल्मीकि, शंकर, गौतम, पातंजलि, कपिल, और युवराज शुद्धोदनने अपने प्रवचनोंमें मार्मिक रीतिसे और सामान्य रीतिसे जो उपदेश किया है, उसका रहस्य नीचेके शब्दोंमें कुछ कुछ आ जाता है:—

"अहो प्राणियो! संसाररूपी समुद्र अनंत और अपार है। इसका पार पानेके लिये पुरुषार्थका उपयोग करो! उपयोग करो!"

इस प्रकारका उपदेश देनेमें इनका हेतु समस्त प्राणियोंको शोकसे मुक्त करनेका था। इन सब ज्ञानियोंकी अपेक्षा परम मान्य रखने योग्य सर्वज्ञ महावीरका उपदेश सर्वत्र यही है कि संसार एकांत और अनंत शोकरूप तथा दुःखप्रद है। अहो! भव्य लोगो! इसमें मधुर मोहिनी न लाकर इससे निवृत्त होओ! निवृत्त होओ!!

महावीरका एक समयके लिये भी संसारका उपदेश नहीं है। इन्होंने अपने समस्त प्रवचनोंमें यही बताया है और यही अपने आचरणद्वारा सिद्ध भी कर दिखाया है। कंचन वर्णकी काया, यशोदा जैसी रानी, अतुल साम्राज्यलक्ष्मी और महाप्रतापी स्वजन परिवारका समूह होनेपर भी उसकी

मोह त्यागकर और ज्ञानदर्शन-योगमें परायण होकर इन्होंने जो अद्भुतता दिखलायी है, वह अनुपम है। इसी रहस्यका प्रकाश करते हुए पवित्र उत्तराध्ययनसूत्रके आठवें अध्ययनकी पहली गाथामें तत्त्वाभिलाषी कपिल केवलीके मुखकमलसे महावीरने कहलवाया है कि:—

अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए।
किं नाम हुज्ज कम्मं जेणाहं दुग्गई न गच्छिज्जा ॥ १॥

" अध्रुव और अशाश्वत संसारमें अनेक प्रकारके दुःख हैं। मैं ऐसी कौनसी करणी करूँ कि जिस करणीसे दुर्गतिमें न जाऊँ ! " इस गाथामें इस भावसे प्रश्न होनेपर कपिल मुनि फिर आगे उपदेश देते हैं।

" अधुवे असासयंमि "—प्रवृत्तिमुक्त योगीश्वरके ये महान् तत्त्वज्ञानके प्रसादीभूत वचन सतत ही वैराग्यमें ले जानेवाले हैं। अति बुद्धिशालीको संसार भी उत्तम रूपसे मानता है फिर भी वे बुद्धिशाली संसारका त्याग कर देते हैं। यह तत्त्वज्ञानका प्रशंसनीय चमत्कार है। ये अत्यन्त मेधावी अंतमें पुरुषार्थको स्फुरणाकर महायोगका साधनकर आत्माके तिमिर-पटको दूर करते हैं। संसारको शोकाब्धि कहनेमें तत्त्वज्ञानियोंकी भ्रमणा नहीं है, परन्तु ये सभी तत्त्वज्ञानी कहीं तत्त्वज्ञान-चंद्रकी सोलह कलाओंसे पूर्ण नहीं हुआ करते; इसी कारणसे सर्वज्ञ महावीरके वचनोंसे तत्त्वज्ञानके लिये जो प्रमाण मिलता है वह महान् अद्भुत, सर्वमान्य और सर्वथा मंगलमय है। महावीरके समान ऋषभदेव आदि जो जो और सर्वज्ञ तीर्थंकर हुए हैं उन्होंने भी निस्पृहतासे उपदेश देकर जगद्हितैषीकी पदवी प्राप्त की है।

संसारमें जो केवल और अनंत भरपूर ताप हैं, वे ताप तीन प्रकारके हैं—आधि, व्याधि और उपाधि। इनसे मुक्त होनेका उपदेश प्रत्येक तत्त्वज्ञानी करते आये हैं। संसार-त्याग, शम, दम, दया, शांति, क्षमा, धृति, अप्रभुत्व, गुरुजनका विनय, विवेक, निस्पृहता, ब्रह्मचर्य, सम्यक्त्व और ज्ञान इनका सेवन करना; क्रोध, लोभ, मान, माया, अनुराग, अप्रीति, विषय, हिंसा, शोक, अज्ञान, मिथ्यात्व इन सबका त्याग करना; यह सब दर्शनोंका सामान्य रीतिसे सार है। नीचेके दो चरणोंमें इस सारका समावेश हो जाता है:—

प्रभु भजो नीति सजो, परठो परोपकार

अरे! यह उपदेश स्तुतिके योग्य है। यह उपदेश देनेमें किसीने किसी प्रकारकी और किसीने किसी प्रकारकी विचक्षणता दिखाई है। ये सब स्थूल दृष्टिसे तो समतुल्य दिखाई देते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर उपदेशकके रूपमें सिद्धार्थ राजाके पुत्र श्रमण भगवान् पहिले नम्बर आते हैं। निवृत्तिके लिये जिन जिन विषयोंको पहले कहा है उन उन विषयोंका वास्तविक स्वरूप समझकर संपूर्ण मंगलमय उपदेश करनेमें ये राजपुत्र सबसे आगे बढ़ गये हैं। इसके लिये वे अनंत धन्यवादके पात्र हैं!

इन सब विषयोंका अनुकरण करनेका क्या प्रयोजन और क्या परिणाम है? अब इसका निर्णय करें। सब उपदेशक यह कहते आये हैं कि इसका परिणाम मुक्ति प्राप्त करना है और इसका प्रयोजन दुःखकी निवृत्ति है। इसी कारण सब दर्शनोंमें सामान्यरूपसे मुक्तिको अनुपम श्रेष्ठ कहा है। सूत्रकृतांग नामक द्वितीय अंगके प्रथम श्रुतस्कंधके छट्ठे अध्ययनकी चौबीसवीं गाथाके तीसरे चरणमें कहा गया है कि:—

मोह त्यागकर और ज्ञानदर्शन-योगमें परायण होकर इन्होंने जो अद्भुतता दिखलायी है, वह अनुपम है। इसी रहस्यका प्रकाश करते हुए पवित्र उत्तराध्ययनसूत्रके आठवें अध्ययनकी पहली गाथामें तत्त्वाभिलाषी कपिल केवलीके मुखकमलसे महावीरने कहलवाया है कि:—

अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए।
किं नाम हुज्ज कम्मं जेणाहं दुग्गई न गच्छिज्जा ॥ १ ॥

"अध्रुव और अशाश्वत संसारमें अनेक प्रकारके दुःख हैं। मैं ऐसी कौनसी करणी करूँ कि जिस करणीसे दुर्गतिमें न जाऊँ?" इस गाथामें इस भावसे प्रश्न होनेपर कपिल मुनि फिर आगे उपदेश देते हैं।

"अधुवे असासयंमि"—प्रवृत्तिमुक्त योगीश्वरके ये महान् तत्त्वज्ञानके प्रसादीभूत वचन सतत ही वैराग्यमें ले जानेवाले हैं। अति बुद्धिशालीको संसार भी उत्तम रूपसे मानता है फिर भी वे बुद्धिशाली संसारका त्याग कर देते हैं। यह तत्त्वज्ञानका प्रशंसनीय चमत्कार है। ये अत्यन्त मेधावी अंतमें पुरुषार्थकी स्फुरणाकर महायोगका साधनकर आत्माके तिमिर-पटको दूर करते हैं। संसारको शोकाब्धि कहनेमें तत्त्वज्ञानियोंकी भ्रमणा नहीं है, परन्तु ये सभी तत्त्वज्ञानी कहीं तत्त्वज्ञान-चंद्रकी सोलह कलाओंसे पूर्ण नहीं हुआ करते; इसी कारणसे सर्वज्ञ महावीरके वचनोंसे तत्त्वज्ञानके लिये जो प्रमाण मिलता है वह महान् अद्भुत, सर्वमान्य और सर्वथा मंगलमय है। महावीरके समान ऋषभदेव आदि जो जो और सर्वज्ञ तीर्थंकर हुए हैं उन्होंने भी निस्पृहतासे उपदेश देकर जगद्हितैषीकी पदवी प्राप्त की है।

संसारमें जो केवल और अनंत भरपूर ताप हैं, वे ताप तीन प्रकारके हैं—आधि, व्याधि और उपाधि। इनसे मुक्त होनेका उपदेश प्रत्येक तत्त्वज्ञानी करते आये हैं। संसार-त्याग, शम, दम, दया, शांति, क्षमा, धृति, अप्रभुत्व, गुरुजनका विनय, विवेक, निस्पृहता, ब्रह्मचर्य, सम्यक्त्व और ज्ञान इनका सेवन करना; क्रोध, लोभ, मान, माया, अनुराग, अप्रीति, विषय, हिंसा, शोक, अज्ञान, मिथ्यात्व इन सबका त्याग करना; यह सब दर्शनोंका सामान्य रीतिसे सार है। नीचेके दो चरणोंमें इस सारका समावेश हो जाता है:—

प्रभु भजो नीति सजो, परठो परोपकार

अरे! यह उपदेश स्तुतिके योग्य है। यह उपदेश देनेमें किसीने किसी प्रकारकी और किसीने किसी प्रकारकी विचक्षणता दिखाई है। ये सब स्थूल दृष्टिसे तो समतुल्य दिखाई देते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर उपदेशकके रूपमें सिद्धार्थ राजाके पुत्र श्रमण भगवान् पहिले नम्बर आते हैं। निवृत्तिके लिये जिन जिन विषयोंको पहले कहा है उन उन विषयोंका वास्तविक स्वरूप समझकर संपूर्ण मंगलमय उपदेश करनेमें ये राजपुत्र सबसे आगे बढ़ गये हैं। इसके लिये ये अनंत धन्यवादके पात्र हैं!

इन सब विषयोंका अनुकरण करनेका क्या प्रयोजन और क्या परिणाम है? अब इसका निर्णय करें। सब उपदेशक यह कहते आये हैं कि इनका परिणाम मुक्ति प्राप्त करना है और इसका प्रयोजन दुःखकी निवृत्ति है। इसी कारण सब दर्शनोंमें सामान्यरूपसे मुक्तिको अनुपम श्रेष्ठ कहा है। सूत्रकृतांग नामक द्वितीय अंगके प्रथम श्रुतस्कंधके छठे अध्ययनकी चौबीसवीं गाथाके तीसरे चरणमें कहा गया है कि:—

महायोगी भर्तृहरिका यह कथन सृष्टिमान्य अर्थात् समस्त उज्ज्वल आत्माओंको सदैव मनन करने योग्य है। इसमें समस्त तत्त्वज्ञानका दोहन करनेके लिये इन्होंने सकल तत्त्ववेत्ताओंके सिद्धांतका रहस्य और संसार-शोकके स्वानुभवका जैसेका तैसा चित्र खींच दिया है। इन्होंने जिन जिन वस्तुओंपर भयकी छाया दिखाई है वे सब वस्तुयें संसारमें मुख्यरूपसे सुखरूप मानी गई हैं। संसारका सर्वोत्तम विभूति जो भोग हैं, वे तो रोगोंके धाम ठहरे; मनुष्य ऊँचे कुलोंसे सुख माननेवाला है, वहाँ पतन होनेका भय दिखाया; संसार-चक्रमें व्यवहारका ठाठ चलानेमें जो दंडस्वरूप लक्ष्मी, वह राजा इत्यादिके भयसे भरपूर है; किसी भी कृत्यद्वारा यशकीर्तिसे मान प्राप्त करना अथवा मानना ऐसी संसारके पामर जीवोंकी अभिलाषा रहा करती है, इसमें महादीनता और कंगालपनेका भय है; बल पराक्रमसे भी इसी प्रकारकी उत्कृष्टता प्राप्त करनेकी चाह रहा करती है, उसमें शत्रुका भय रहा हुआ है; रूप कांति भोगीको मोहिनीरूप है, उसमें रूप-कांति धारण करनेवाली स्त्रियाँ निरंतर भयरूप हैं; अनेक प्रकारकी गुत्थियोंसे भरपूर शास्त्र-जालमें विवादका भय रहता है; किसी भी सांसारिक सुखके गुणको प्राप्त करनेसे जो आनंद माना जाता है, वह खल मनुष्योंकी निंदाके कारण भयान्वित है; जो अनंत प्यारी मानी हुई है ऐसी यह काया भी कभी न कभी कालरूपी सिंहके मुखमें पड़नेके भयसे पूर्ण है। इस प्रकार संसारके मनोहर किन्तु चपल सुख-साधन भयसे भरे हुए हैं। विवेकसे विचार करनेपर जहाँ भय है वहाँ केवल शोक ही है। जहाँ शोक है वहाँ सुखका अभाव है, और जहाँ सुखका अभाव है वहाँ तिरस्कार करना उचित ही है।

अकेले योगीन्द्र भर्तृहरि ही ऐसा कह गये हैं, यह बात नहीं। कालके अनुसार सृष्टिके निर्माणके समयसे लेकर भर्तृहरिसे उत्तम, भर्तृहरिके समान और भर्तृहरिसे कनिष्ठ कोटिके असंख्य तत्त्वज्ञानी हो गये हैं। ऐसा कोई काल अथवा आर्यदेश नहीं जिसमें तत्त्वज्ञानियोंकी बिलकुल भी उत्पत्ति न हुई हो। इन तत्त्ववेत्ताओंने संसार-सुखकी हरेक सामग्रीको शोकरूप बताई है। यह इनके अगाध विवेकका परिणाम है। व्यास, वाल्मीकि, शंकर, गौतम, पातंजलि, कपिल, और युवराज शुद्धोदनने अपने प्रवचनोंमें मार्मिक रीतिसे और सामान्य रीतिसे जो उपदेश किया है, उसका रहस्य नीचेके शब्दोंमें कुछ कुछ आ जाता है.—

"अहो प्राणियो! संसाररूपी समुद्र अनंत और अपार है। इसका पार पानेके लिये पुरुषार्थका उपयोग करो! उपयोग करो!"

इस प्रकारका उपदेश देनेमें इनका हेतु समस्त प्राणियोंको शोकसे मुक्त करनेका था। इन सब ज्ञानियोंकी अपेक्षा परम मान्य रखने योग्य सर्वज्ञ महावीरका उपदेश सर्वत्र यही है कि संसार एकांत और अनंत शोकरूप तथा दुःखप्रद है। अहो! भव्य लोगो! इसमें मधुर मोहिनी न लाकर इससे निवृत्त होओ! निवृत्त होओ!!

महावीरका एक समयके लिये भी संसारका उपदेश नहीं है। इन्होंने अपने समस्त प्रवचनोंमें यही बताया है और यही अपने आचरणद्वारा सिद्ध भी कर दिखाया है। कंचन वर्णकी काया, यशोदा जैसी रानी, अतुल साम्राज्यलक्ष्मी और महाप्रतापी स्वजन परिवारका समूह होनेपर भी उसकी

मोह त्यागकर और ज्ञानदर्शन-योगमें परायण होकर इन्होंने जो अद्भुतता दिखलायी है, वह अनुपम है। इसी रहस्यका प्रकाश करते हुए पवित्र उत्तराध्ययनसूत्रके आठवें अध्ययनकी पहली गाथामें तत्त्वाभिलाषी कपिल केवलीके मुखकमलसे महावीरने कहलवाया है कि:—

अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए।
किं नाम हुज्ज कम्मं जेणाहं दुग्गई न गच्छिज्जा ॥ १ ॥

"अध्रुव और अशाश्वत संसारमें अनेक प्रकारके दुःख हैं। मैं ऐसी कौनसी करणी करूँ कि जिस करणीसे दुर्गतिमें न जाऊँ?" इस गाथामें इस भावसे प्रश्न होनेपर कपिल मुनि फिर आगे उपदेश देते हैं।

"**अधुवे असासयंमि**"—प्रवृत्तिमुक्त योगीश्वरके ये महान् तत्त्वज्ञानके प्रसादीभूत वचन सतत ही वैराग्यमें ले जानेवाले हैं। अति बुद्धिशालीको संसार भी उत्तम रूपसे मानता है फिर भी वे बुद्धिशाली संसारका त्याग कर देते है। यह तत्त्वज्ञानका प्रशंसनीय चमत्कार है। ये अत्यन्त मेधावी अंतमें पुरुषार्थकी स्फुरणाकर महायोगका साधनकर आत्माके तिमिर-पटको दूर करते हैं। संसारको शोकाब्धि कहनेमें तत्त्वज्ञानियोंकी भ्रमणा नहीं है, परन्तु ये सभी तत्त्वज्ञानी कहीं तत्त्वज्ञान-चंद्रकी सोलह कलाओंसे पूर्ण नहीं हुआ करते; इसी कारणसे सर्वज्ञ महावीरके वचनोंसे तत्त्वज्ञानके लिये जो प्रमाण मिलता है वह महान् अद्भुत, सर्वमान्य और सर्वथा मंगलमय है। महावीरके समान ऋषभदेव आदि जो जो और सर्वज्ञ तीर्थंकर हुए हैं उन्होंने भी निस्पृहतासे उपदेश देकर जगद्हितैषीकी पदवी प्राप्त की है।

संसारमें जो केवल और अनंत भरपूर ताप हैं, वे ताप तीन प्रकारके हैं—आधि, व्याधि और उपाधि। इनसे मुक्त होनेका उपदेश प्रत्येक तत्त्वज्ञानी करते आये हैं। संसार-त्याग, शम, दम, दया, शांति, क्षमा, धृति, अप्रभुत्व, गुरुजनका विनय, विवेक, निस्पृहता, ब्रह्मचर्य, सम्यक्त्व और ज्ञान इनका सेवन करना; क्रोध, लोभ, मान, माया, अनुराग, अप्रीति, विषय, हिंसा, शोक, अज्ञान, मिथ्यात्व इन सबका त्याग करना; यह सब दर्शनोंका सामान्य रीतिसे सार है। नीचेके दो चरणोंमें इस सारका समावेश हो जाता है:—

प्रभु भजो नीति सजो, परठो परोपकार

अरे! यह उपदेश स्तुतिके योग्य है। यह उपदेश देनेमें किसीने किसी प्रकारकी और किसीने किसी प्रकारकी विचक्षणता दिखाई है। ये सब स्थूल दृष्टिसे तो समतुल्य दिखाई देते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर उपदेशकके रूपमें सिद्धार्थ राजाके पुत्र श्रमण भगवान् पहिले नम्बर आते हैं। निवृत्तिके लिये जिन जिन विषयोंको पहले कहा है उन उन विषयोंका वास्तविक स्वरूप समझकर संपूर्ण मंगलमय उपदेश करनेमें ये राजपुत्र सबसे आगे बढ़ गये हैं। इसके लिये वे अनंत धन्यवादके पात्र हैं!

इन सब विषयोंका अनुकरण करनेका क्या प्रयोजन और क्या परिणाम है? अब इसका निर्णय करें। सब उपदेशक यह कहते आये हैं कि इसका परिणाम मुक्ति प्राप्त करना है और इसका प्रयोजन दुःखकी निवृत्ति है। इसी कारण सब दर्शनोंमें सामान्यरूपसे मुक्तिको अनुपम श्रेष्ठ कहा है। सूत्रकृतांग नामक द्वितीय अंगके प्रथम श्रुतस्कंधके छट्ठे अध्ययनकी चौबीसवीं गाथाके तीसरे चरणमें कहा गया है कि:—

महायोगी भर्तृहरिका यह कथन सृष्टिमान्य अर्थात् समस्त उज्ज्वल आत्माओंको सदैव मनन करने योग्य है। इसमें समस्त तत्त्वज्ञानका दोहन करनेके लिये इन्होंने सकल तत्त्ववेत्ताओंके सिद्धांतका रहस्य और संसार-शोकके स्वानुभवका जैसेका तैसा चित्र खींच दिया है। इन्होंने जिन जिन वस्तुओंपर भयकी छाया दिखाई है वे सब वस्तुयें संसारमें मुख्यरूपसे सुखरूप मानी गई हैं। संसारका सर्वोत्तम विभूति जो भोग है, वे तो रोगोंके धाम ठहरे; मनुष्य ऊँचे कुलोंसे सुख माननेवाला है, वहाँ उस कुलसे पतन होनेका भय दिखाया; संसार-चक्रमें व्यवहारका ठाठ चलानेमें जो दंडस्वरूप लक्ष्मी, वह राजा इत्यादिके भयसे भरपूर है; किसी भी कृत्यद्वारा यशकीर्तिसे मान प्राप्त करना अथवा मानना ऐसी संसारके पामर जीवोंकी अभिलाषा रहा करती है, इसमें महादीनता और कंगालपनेका भय है; बल पराक्रमसे भी इसी प्रकारकी उत्कृष्टता प्राप्त करनेकी चाह रहा करती है, उसमें शत्रुका भय रहा हुआ है; रूप कांति भोगीको मोहिनीरूप है, उसमें रूप-कांति धारण करनेवाली स्त्रियाँ निरंतर भयरूप हैं; अनेक प्रकारकी गुत्थियोंसे भरपूर शास्त्र-जालमें विवादका भय रहता है; किसी भी सांसारिक सुखके गुणको प्राप्त करके जो आनन्द माना जाता है, वह खल मनुष्योंकी निंदाके कारण भयान्वित है; जो अनंत प्यारी वस्तु है ऐसी यह काया भी कभी न कभी कालरूपी सिंहके मुखमें पड़नेके भयसे पूर्ण है। इस प्रकार संसारके मनोहर किन्तु चपल सुख-साधन भयसे भरे हुए हैं। विवेकसे विचार करनेपर जहाँ भय है वहाँ केवल शोक ही है। जहाँ शोक है वहाँ सुखका अभाव है, और जहाँ सुखका अभाव है उसका तिरस्कार करना उचित ही है।

अकेले योगीन्द्र भर्तृहरि ही ऐसा कह गये हैं, यह बात नहीं। कालके अनुसार सृष्टिके निर्माणसे लेकर भर्तृहरिसे उत्तम, भर्तृहरिके समान और भर्तृहरिसे कनिष्ठ कोटिके असंख्य तत्त्वज्ञानी हो गये हैं। ऐसा कोई काल अथवा आर्यदेश नहीं जिसमें तत्त्वज्ञानियोंकी बिलकुल भी उत्पत्ति न हुई हो। इन तत्त्ववेत्ताओंने संसार-सुखकी हरेक सामग्रीको शोकरूप बताई है। यह उनके अगाध विवेकका परिणाम है। व्यास, वाल्मीकि, शंकर, गौतम, पातंजलि, कपिल, और युवराज शुद्धोदनने अपने प्रवचनोंमें मार्मिक रीतिसे और सामान्य रीतिसे जो उपदेश किया है, उसका रहस्य नीचेके शब्दोंमें कुछ कुछ आ जाता है:—

"अहो प्राणियो! संसाररूपी समुद्र अनंत और अपार है। इसका पार पानेके लिये पुरुषार्थका उपयोग करो! उपयोग करो!"

इस प्रकारका उपदेश देनेमें इनका हेतु समस्त प्राणियोंको शोकसे मुक्त करनेका था। इन सब ज्ञानियोंकी अपेक्षा परम मान्य रखने योग्य सर्वज्ञ महावीरका उपदेश सर्वत्र यही है कि संसार एकांत और अनंत शोकरूप तथा दुःखप्रद है। अहो! भव्य लोगो! इसमें मधुर मोहिनी न लाकर इससे निवृत्त होओ! निवृत्त होओ!!

महावीरका एक समयके लिये भी संसारका उपदेश नहीं है। इन्होंने अपने समस्त प्रवचनोंमें यही बताया है और यही अपने आचरणद्वारा सिद्ध भी कर दिखाया है। कंचन वर्णकी काया, यशोदा जैसी रानी, अतुल साम्राज्यलक्ष्मी और महाप्रतापी स्वजन परिवारका समूह होनेपर भी उसकी

मोह त्यागकर और ज्ञानदर्शन-योगमें परायण होकर इन्होंने जो अद्भुतता दिखायी है, वह अद्भुत है। इसी रहस्यका प्रकाश करते हुए पवित्र उत्तराध्ययनसूत्रके आठवें अध्ययनकी पहली गाथामें तत्त्वाभिलाषी कपिल केवलीके मुखकमलसे महावीरने कहलवाया है कि:—

अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए।
किं नाम हुज्ज कम्मं जेणाहं दुग्गइं न गच्छिज्जा ॥ १ ॥

"अध्रुव और अशाश्वत संसारमें अनेक प्रकारके दुःख हैं। मैं ऐसी कौनसी करणी करूँ कि जिस करणीसे दुर्गतिमें न जाऊँ?" इस गाथामें इस भावसे प्रश्न होनेपर कपिल मुनि फिर आगे उपदेश देते हैं।

"अधुवे असासयंमि"—प्रबुद्धियुक्त योगीश्वरके ये महान् तत्त्वज्ञानके प्रसादीभूत वचन सतत ही वैराग्यमें ले जानेवाले हैं। अति बुद्धिशालीको संसार भी उत्तम रूपसे मानता है फिर भी वे बुद्धिशाली उसका त्याग कर देते हैं। यह तत्त्वज्ञानका प्रशंसनीय चमत्कार है। ये अत्यन्त मेधावी अंतमें पुरुषार्थकी स्फुरणाकर महायोगका साधनकर आत्माके तिमिरपटको दूर करते हैं। संसारको शोकाब्धि कहनेमें तत्त्वज्ञानियोंकी भ्रमणा नहीं है, परन्तु ये सभी तत्त्वज्ञानी कहीं तत्त्वज्ञान-चंद्रकी सोलह कलाओंसे पूर्ण नहीं हुआ करते; इसी कारणसे सर्वज्ञ महावीरके वचनोंसे तत्त्वज्ञानके लिये जो प्रमाण मिलता है वह महान् अद्भुत, सर्वमान्य और सर्वथा मंगलमय है। महावीरके समान ऋषभदेव आदि जो जो और सर्वज्ञ तीर्थंकर हुए हैं उन्होंने भी निस्पृहतासे उपदेश देकर जगद्हितैषीकी पदवी प्राप्त की है।

संसारमें जो एकान्त और अनंत भरपूर ताप हैं, वे ताप तीन प्रकारके हैं—आधि, व्याधि और उपाधि। इनसे मुक्त होनेका उपदेश प्रत्येक तत्त्वज्ञानी करते आये हैं। संसार-त्याग, शम, दम, दया, शांति, क्षमा, धृति, अप्रभुत्व, गुरुजनका विनय, विवेक, निस्पृहता, ब्रह्मचर्य, सम्यक्त्व और ज्ञान इनका सेवन करना; क्रोध, लोभ, मान, माया, अनुराग, अनीति, विषय, हिंसा, शोक, अज्ञान, मिथ्यात्व इन सबका त्याग करना; यह सब दर्शनोंका सामान्य रीतिसे सार है। नीचेके दो चरणोंमें इस सारका समावेश हो जाता है:—

प्रभु भजो नीति सजो, परठो परोपकार

अरे! यह उपदेश स्तुतिके योग्य है। यह उपदेश देनेमें किसीने किसी प्रकारकी और किसीने किसी प्रकारकी विचक्षणता दिखाई है। ये सब स्थूल दृष्टिसे तो समतुल्य दिखाई देते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर उपदेशकके रूपमें सिद्धार्थ राजाके पुत्र श्रमण भगवान् पहिले नम्बर आते हैं। निवृत्तिके लिये जिन जिन विषयोंको पहले कहा है उन उन विषयोंका वास्तविक स्वरूप समझकर संपूर्ण मंगलमय उपदेश करनेमें ये राजपुत्र सबसे आगे बढ़ गये हैं। इसके लिये वे अनंत धन्यवादके पात्र हैं!

इन सब विषयोंका अनुकरण करनेका क्या प्रयोजन और क्या परिणाम है? अब इसका निर्णय करें। सब उपदेशक यह कहते आये हैं कि इसका परिणाम मुक्ति प्राप्त करना है और इसका प्रयोजन दुःखकी निवृत्ति है। इसी कारण सब दर्शनोंमें सामान्यरूपसे मुक्तिको अनुपम श्रेष्ठ कहा है। सूत्रकृतांग नामक द्वितीय अंगके प्रथम श्रुतस्कंधके छठे अध्ययनकी चौबीसवीं गाथाके तीसरे चरणमें कहा गया है कि:—

महायोगी भर्तृहरिका यह कथन सृष्टिमान्य अर्थात् समस्त उज्ज्वल आत्माओंको सदैव मनन रखने योग्य है। इसमें समस्त तत्त्वज्ञानका दोहन करनेके लिये इन्होंने सकल तत्त्ववेत्ताओंके सिद्धांतका रहस्य और संसार-शोकके स्वानुभवका जैसेका तैसा चित्र खींच दिया है। इन्होंने जिन जिन वस्तुओंपर भयकी छाया दिखाई है वे सब वस्तुयें संसारमें मुख्यरूपसे सुखरूप मानी गई हैं। संसारकी सर्वोत्तम विभूति जो भोग हैं, वे तो रोगोंके धाम ठहरे; मनुष्य ऊँचे कुलोंसे सुख माननेवाला है, वहाँ च्युत होनेका भय दिखाया; संसार-चक्रमें व्यवहारका ठाठ चलानेमें जो दंडस्वरूप लक्ष्मी, वह राजा इत्यादिके भयसे भरपूर है; किसी भी कृत्यद्वारा यशकीर्तिसे मान प्राप्त करना अथवा मानना ऐसी संसारके तुच्छ जीवोंकी अभिलाषा रहा करती है, इसमें महादीनता और कंगालपनेका भय है; बल पराक्रमसे भी इसी प्रकारकी उत्कृष्टता प्राप्त करनेकी चाह रहा करती है, उसमें शत्रुका भय रहा हुआ है; रूपसे भोगीको मोहिनीरूप है, उसमें रूप-कांति धारण करनेवाली स्त्रियाँ निरंतर भयरूप हैं; अनेक प्रकारकी गुत्थियोंसे भरपूर शास्त्र-जालमें विवादका भय रहता है; किसी भी सांसारिक सुखके गुणको ग्रहण करनेसे जो आनंद माना जाता है, वह खल मनुष्योंकी निंदाके कारण भयान्वित है; जो अनंत प्यारी वस्तु है ऐसी यह काया भी कभी न कभी कालरूपी सिंहके मुखमें पड़नेके भयसे पूर्ण है। इस प्रकार संसारके मनोहर किन्तु चपल सुख-साधन भयसे भरे हुए हैं। विवेकसे विचार करनेपर जहाँ भय है वहाँ केवल शोक ही है। जहाँ शोक है वहाँ सुखका अभाव है, और जहाँ सुखका अभाव है उसका तिरस्कार करना उचित ही है।

अकेले योगीन्द्र भर्तृहरि ही ऐसा कह गये हैं, यह बात नहीं। कालके अनुसार सृष्टिके निर्माणके समयसे लेकर भर्तृहरिसे उत्तम, भर्तृहरिके समान और भर्तृहरिसे कनिष्ठ कोटिके अनेक तत्त्वज्ञानी हो गये हैं। ऐसा कोई काल अथवा आर्यदेश नहीं जिसमें तत्त्वज्ञानियोंकी बिलकुल भी उत्पत्ति न हुई हो। इन तत्त्ववेत्ताओंने संसार-सुखकी हरेक सामग्रीको शोकरूप बनाई है। यह उनके अगाध विवेकका परिणाम है। **व्यास, वाल्मीकि, शंकर, गौतम, पातं**जलि, कपिल, और युवराज **शुद्धोदन**ने अपने प्रवचनोंमें मार्मिक रीतिसे और सामान्य रीतिसे जो उपदेश किया है, उसका सूक्ष्म नीचेके शब्दोंमें कुछ कुछ आ जाता है:—

" अहो प्राणियो! संसाररूपी समुद्र अनंत और अपार है। इसका पार पानेके लिये पुरुषार्थका उपयोग करो! उपयोग करो! "

इस प्रकारका उपदेश देनेमें इनका हेतु समस्त प्राणियोंको शोकसे मुक्त करनेका था। इन सब ज्ञानियोंकी अपेक्षा परम मान्य रखने योग्य सर्वज्ञ महावीरका उपदेश सर्वत्र यही है कि संसार एकांत और अनंत शोकरूप तथा दुःखप्रद है। अहो! भव्य लोगो! इसमें मधुर मोहिनीको प्राप्त न होकर इससे निवृत्त होओ! निवृत्त होओ!!

महावीरका एक समयके लिये भी संसारका उपदेश नहीं है। इन्होंने अपने समस्त उपदेशोंमें यही बताया है और यही अपने आचरणद्वारा सिद्ध भी कर दिखाया है। कंचन वर्णकी काया, यशो-मती जैसी रानी, अतुल साम्राज्यलक्ष्मी और महाप्रतापी स्वजन परिवारका समूह होनेपर भी उनका

मोह त्यागकर और ज्ञानदर्शन-योगमें परायण होकर इन्होंने जो अद्भुतता दिखलायी है, वह अनुपम है। इसी रहस्यका प्रकाश करते हुए पवित्र उत्तराध्ययनसूत्रके आठवें अध्ययनकी पहली गाथामें तत्त्वाभिलाषी कपिल केवलीके मुखकमलसे महावीरने कहलवाया है कि:—

अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए।
किं नाम हुज्ज कम्मं जेणाहं दुग्गइं न गच्छिज्जा ॥ १ ॥

"अध्रुव और अशाश्वत संसारमें अनेक प्रकारके दुःख हैं। मैं ऐसी कौनसी करणी करूँ कि जिस करणीसे दुर्गतिमें न जाऊँ ?" इस गाथामें इस भावसे प्रश्न होनेपर कपिल मुनि फिर आगे उपदेश देते हैं।

"अधुवे असासयंमि"—प्रवृत्तिमुक्त योगीश्वरके ये महान् तत्त्वज्ञानके प्रसादीभूत वचन सतत ही वैराग्यमें ले जानेवाले हैं। अति बुद्धिशालीको संसार भी उत्तम रूपसे मानता है फिर भी वे बुद्धिशाली संसारका त्याग कर देते हैं। यह तत्त्वज्ञानका प्रशंसनीय चमत्कार है। ये अत्यन्त मेधावी अंतमें पुरुषार्थकी स्फुरणाकर महायोगका साधनकर आत्माके तिमिर-पटको दूर करते हैं। संसारको शोकाब्धि कहनेमें तत्त्वज्ञानियोंकी भ्रमणा नहीं है, परन्तु ये सभी तत्त्वज्ञानी कहीं तत्त्वज्ञान-चंद्रकी सोलह कलाओंसे पूर्ण नहीं हुआ करते; इसी कारणसे सर्वज्ञ महावीरके वचनोंसे तत्त्वज्ञानके लिये जो प्रमाण मिलता है वह महान् अद्भुत, सर्वमान्य और सर्वथा मंगलमय है। महावीरके समान ऋषभदेव आदि जो जो और सर्वज्ञ तीर्थंकर हुए हैं उन्होंने भी निस्पृहतासे उपदेश देकर जगद्हितैषीकी पदवी प्राप्त की है।

संसारमें जो केवल और अनंत भरपूर ताप हैं, वे ताप तीन प्रकारके हैं—आधि, व्याधि और उपाधि। इनसे मुक्त होनेका उपदेश प्रत्येक तत्त्वज्ञानी करते आये हैं। संसार-त्याग, शम, दम, दया, शांति, क्षमा, धृति, अप्रभुत्व, गुरुजनका विनय, विवेक, निस्पृहता, ब्रह्मचर्य, सम्यक्त्व और ज्ञान इनका सेवन करना; क्रोध, लोभ, मान, माया, अनुराग, अप्रीति, विषय, हिंसा, शोक, अज्ञान, मिथ्यात्व इन सबका त्याग करना; यह सब दर्शनोंका सामान्य रीतिसे सार है। नीचेके दो चरणोंमें इस सारका समावेश हो जाता है:—

प्रभु भजो नीति सजो, परठो परोपकार

अरे! यह उपदेश स्तुतिके योग्य है। यह उपदेश देनेमें किसीने किसी प्रकारकी और किसीने किसी प्रकारकी विचक्षणता दिखाई है। ये सब स्थूल दृष्टिसे तो समतुल्य दिखाई देते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर उपदेशकके रूपमें सिद्धार्थ राजाके पुत्र श्रमण भगवान् पहिले नम्बर आते हैं। निवृत्तिके लिये जिन जिन विषयोंको पहले कहा है उन उन विषयोंका वास्तविक स्वरूप समझकर संपूर्ण मंगलमय उपदेश करनेमें ये राजपुत्र सबसे आगे बढ़ गये हैं। इसके लिये वे अनंत धन्यवादके पात्र हैं!

इन सब विषयोंका अनुकरण करनेका क्या प्रयोजन और क्या परिणाम है? अब इसका निर्णय करें। सब उपदेशक यह कहते आये हैं कि इसका परिणाम मुक्ति प्राप्त करना है और इसका प्रयोजन दुःखकी निवृत्ति है। इसी कारण सब दर्शनोंमें सामान्यरूपसे मुक्तिको अनुपम श्रेष्ठ कहा है। सूत्रकृतांग नामक द्वितीय अंगके प्रथम श्रुतस्कंधके छठे अध्ययनकी चौबीसवीं गाथाके तीसरे चरणमें कहा गया है कि:—

निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा

सब धर्मोंमें मुक्तिको श्रेष्ठ कहा है.

सारांश यह है कि मुक्ति उसे कहते हैं कि संसार-शोकसे मुक्त होना, और परिणाममें ज्ञान दर्शन आदि अनुपम वस्तुओंको प्राप्त करना। जिसमें परम सुख और परमानंदका अखंड निवास है, जन्म-मरणकी विडम्बनाका अभाव है, शोक और दुःखका क्षय है; ऐसे इस विज्ञानयुक्त विषयका विवेचन किसी अन्य प्रसंगपर करेंगे।

यह भी निर्विवाद मानना चाहिये कि उस अनंत शोक और अनंत दुःखकी निवृत्ति इन्हीं सांसारिक विषयोंसे नहीं होगी। जैसे रुधिरसे रुधिरका दाग नहीं जाता, परन्तु वह दाग जलसे दूर हो जाता है इसी तरह शृंगारसे अथवा शृंगारमिश्रित धर्मसे संसारकी निवृत्ति नहीं होती। इसके लिये तो वैराग्य-जलकी आवश्यकता निःसंशय सिद्ध होती है; और इसीलिये वीतरागके वचनोंमें अनुरक्त होना उचित है। कमसे कम इससे विषयरूपी विषका जन्म नहीं होता। अंतमें यही मुक्तिका कारण हो जाता है। हे मनुष्य! इन वीतराग सर्वज्ञके वचनोंको विवेक-बुद्धिसे श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके आत्माको उज्ज्वल कर।

प्रथम दर्शन

वैराग्यकी और आत्महितैषी विषयोंकी सुदृढ़ता होनेके लिये बारह भावनाओंका तत्त्वज्ञानियोंने उपदेश किया है:—

१ अनित्यभावनाः—शरीर, वैभव, लक्ष्मी, कुटुम्ब परिवार आदि सब विनाशीक हैं। जीवका केवल मूलधर्म ही अविनाशी है, ऐसा चिंतवन करना पहली अनित्यभावना है।

२ अशरणभावनाः—संसारमें मरणके समय जीवको शरण रखनेवाला कोई नहीं, केवल एक शुभ धर्मकी ही शरण सत्य है, ऐसा चिंतवन करना दूसरी अशरणभावना है।

३ संसारभावनाः—इस आत्माने संसार-समुद्रमें पर्यटन करते हुए सब योनियोंमें जन्म लिया है, इस संसाररूपी जंजीरसे मैं कब छूटूँगा? यह संसार मेरा नहीं, मैं मोक्षमयी हूँ, इस प्रकार चिंतवन करना तीसरी संसारभावना है।

४ एकत्वभावनाः—यह मेरी आत्मा अकेली है, यह अकेली ही आती है, और अकेली जायगी, और अपने किए हुए कर्मोंको अकेली ही भोगेगी, इस प्रकार अंतःकरणमें चिंतवन करना यह चौथी एकत्वभावना है।

५ अन्यत्वभावनाः—इस संसारमें कोई किसीका नहीं, ऐसा विचार करना पाँचवीं अन्यत्वभावना है।

६ अशुचिभावनाः—यह शरीर अपवित्र है, मलमूत्रकी खान है, रोग और जराका निवासस्थान है। इस शरीरसे मैं न्यारा हूँ, यह चिंतवन करना छट्ठी अशुचिभावना है।

७ आस्रवभावनाः—राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व इत्यादि सब आस्रवके कारण हैं, इस प्रकार चिंतवन करना सातवीं आस्रवभावना है।

प्रमाणशिक्षाः—जिस प्रकार उस भिखारीने स्वप्नमें सुख-समुदाय देखे, उनका भोग किया औ उनमें आनंद माना उसी तरह पामर प्राणी संसारके स्वप्नके समान सुख-समुदायको महा आनंदरूप मा बैठे हैं। जिस प्रकार भिखारीको वे सुख-समुदाय जागनेपर मिथ्या माद्रम हुए थे, उसी तर तत्त्वज्ञानरूपी जागृतिसे संसारके सुख मिथ्या माद्रम होते हैं। जिस प्रकार स्वप्नके भोगोंको भोगनेपर भी उस भिखारीको शोककी प्राप्ति हुई उसी तरह पामर भव्य संसारमें सुख मान बैठे है और उन्हें भोगे हुओंके समान गिनते हैं, परन्तु उस भिखारीकी तरह वे अंतमें खेद, पश्चात्ता और अधोगतिको पाते हैं। जैसे स्वप्नकी एक भी वस्तु सत्य नहीं उसी तरह संसारकी एक भ वस्तु सत्य नहीं। दोनों ही चपल और शोकमय हैं, ऐसा विचारकर बुद्धिमान् पुरुष आ कल्याणकी खोज करते हैं।

द्वितीय चित्र

अशरणभावना

उपजाति

सर्वज्ञनो धर्म सुशर्ण जाणी, आराध्य आराध्य प्रभाव आणी
अनाथ एकांत सनाथ थाशे, एना विना कोई न बांह्य स्हाशे।

विशेषार्थः—हे चेतन! सर्वज्ञ जिनेश्वरदेवके द्वारा निस्पृहतासे उपदेश किये हुए धर्म उत्तम शरणरूप जानकर मन, वचन और कायाके प्रभावसे उसका तू आराधन कर आराधना कर! केवल अनाथरूप है उससे सनाथ होगा। इसके विना भवाटवीके भ्रमण करनेमें तेरी बाँह पकड़नेवा कोई नहीं।

जो आत्मायें संसारके मायामय सुखको अथवा अवदर्शनको शरणरूप मानतीं हैं, वे अधोगति पातीं हैं और सदैव अनाथ रहतीं हैं, ऐसा उपदेश करनेवाले भगवान् अनाथीमुनिके चरित्रको प्रा करते हैं, इससे अशरण भावना सुदृढ होगी।

अनाथीमुनि

(देखो मोक्षमाला पृष्ठ १३–१५, पाठ ५–६–७)

* * * *

प्रमाणशिक्षाः—अहो भव्यो! महातपोधन, महामुनि, महाप्रज्ञावान्, महायशवंत, महानि और महाश्रुत अनाथी मुनिने मगधदेशके राजाको अपने बीते हुए चरित्रसे जो उपदेश दिया वह स मुच ही अशरण भावना सिद्ध करता है। महामुनि अनाथीके द्वारा सहन की हुई वेदनाके समान अ इससे भी अत्यन्त विशेष असह्य दुःखोंको अनंत आत्मायें सामान्य दृष्टिसे भोगतीं हुई दीख पड़तीं इनके संबंधमें तुम कुछ विचार करो। संसारमें छायी हुई अनंत अशरणताका त्यागकर सत्य शरण उत्तम तत्त्वज्ञान और परम सुशीलका सेवन करो। अंतमें यही मुक्तिका कारण है। जिस प्रक संसारमें रहता हुआ अनाथी अनाथ था उसी तरह प्रत्येक आत्मा तत्त्वज्ञानकी उत्तम प्राप्तिके विना स **अनाथ ही है।** सनाथ होनेके लिये पुरुषार्थ करना ही श्रेयस्कर है।

प्रमाणशिक्षाः—जिस प्रकार उस भिखारीने स्वप्नमें सुख-समुदाय देखे, उनका भोग किया और उनमें आनंद माना उसी तरह पामर प्राणी संसारके स्वप्नके समान सुख-समुदायको महा आनंदरूप मान बैठे हैं। जिस प्रकार भिखारीको वे सुख-समुदाय जागनेपर मिथ्या मालूम हुए थे, उसी तरह तत्त्वज्ञानरूपी जागृतिसे संसारके सुख मिथ्या मालूम होते हैं। जिस प्रकार स्वप्नके भोगोंके [illegible] भी उस भिखारीको शोककी प्राप्ति हुई उसी तरह पामर भव्य संसारमें सुख मान बैठे हैं और उन्हें भोगे हुओंके समान गिनते हैं, परन्तु उस भिखारीकी तरह वे अंतमें खेद, पश्चात्ताप और अधोगतिको पाते हैं। जैसे स्वप्नकी एक भी वस्तु सत्य नहीं उसी तरह संसारकी एक भी वस्तु सत्य नहीं। दोनों ही चपल और शोकमय हैं, ऐसा विचारकर बुद्धिमान पुरुष आत्मकल्याणकी खोज करते हैं।

द्वितीय चित्र

अशरणभावना

उपजाति

सर्वज्ञनो धर्म सुशर्ण जाणी, आराध्य आराध्य प्रभाव आणी
अनाथ एकांत सनाथ थाशे, एना विना कोई न बांह्य स्हाशे।

विशेषार्थ.—हे चेतन! सर्वज्ञ जिनेश्वरदेवके द्वारा निस्पृहतासे उपदेश किये हुए धर्मको उत्तम शरणरूप जानकर मन, वचन और कायाके प्रभावसे उसका तू आराधन कर आराधन कर। तू केवल अनाथरूप है उससे सनाथ होगा। इसके बिना भवाटवीके भ्रमण करनेमें तेरी बाँह पकड़नेवाला कोई नहीं।

जो आत्मायें संसारके मायामय सुखको अथवा अवदर्शनको शरणरूप मानती हैं, वे अधोगतिको पाती हैं और सदैव अनाथ रहती हैं, ऐसा उपदेश करनेवाले भगवान् अनाथीमुनिके चरित्रको प्रारंभ करते हैं, इससे अशरण भावना सुदृढ़ होगी।

अनाथीमुनि

(देखो मोक्षमाला पृष्ठ १३–१५, पाठ ५–६–७)

* * * *

प्रमाणशिक्षा.—अहो भव्यो! महातपोधन, महामुनि, महाप्रज्ञावान्, महायशस्वी, महानिर्ग्रन्थ और महाश्रुत अनाथी मुनिने मगधदेशके राजाको अपने बीते हुए चरित्रसे जो उपदेश दिया है वह सचमुच ही अशरण भावना सिद्ध करता है। महामुनि अनाथीके द्वारा सहन की हुई वेदनाके समान अथवा इससे भी अत्यन्त विशेष असह्य दुःखोंको अनंत आत्मायें सामान्य दृष्टिसे भोगती हुई दीख पड़ती हैं। इसके संबंधमें तुम कुछ विचार करो। संसारमें छाई हुई अनंत अशरणताका त्याग कर सत्य शरणरूप उत्तम तत्त्वज्ञान और परम सुशीलताका सेवन करो। अंतमें यही मुक्तिका कारण है। जिस प्रकार संसारमें रहता हुआ अनाथी अनाथ था उसी तरह प्रत्येक आत्मा तत्त्वज्ञानकी उत्तम प्राप्तिके बिना सदैव अनाथ ही है। सनाथ होनेके लिये पुरुषार्थ करना ही श्रेयस्कर है।

प्रमाणशिक्षाः—जिस प्रकार उस भिखारीने स्वप्नमें सुख-समुदाय देखे, उनका भोग किया और उनमें आनंद माना उसी तरह पामर प्राणी संसारके स्वप्नके समान सुख-समुदायको महा आनंदरूप मान बैठे हैं। जिस प्रकार भिखारीको वे सुख-समुदाय जागनेपर मिथ्या मालूम हुए थे, उसी तरह तत्त्वज्ञानरूपी जागृतिसे संसारके सुख मिथ्या मालूम होते हैं। जिस प्रकार स्वप्नके भोगोंके भोगनेपर भी उस भिखारीको शोककी प्राप्ति हुई उसी तरह पामर भव्य संसारमें सुख मान बैठे हैं और उन्हें भोगे हुओंके समान गिनते हैं, परन्तु उस भिखारीकी तरह वे अंतमें खेद, पश्चात्ताप और अधोगतिको पाते हैं। जैसे स्वप्नकी एक भी वस्तु सत्य नहीं उसी तरह संसारकी एक भी वस्तु सत्य नहीं। दोनों ही चपल और शोकमय हैं, ऐसा विचारकर बुद्धिमान पुरुष आत्मकल्याणकी खोज करते हैं।

द्वितीय चित्र

अशरणभावना

उपजाति

सर्वज्ञनो धर्म सुशर्ण जाणी, आराध्य आराध्य प्रभाव आणी
अनाथ एकांत सनाथ थाशे, एना विना कोई न बांह्य स्हाशे।

विशेषार्थः—हे चेतन! सर्वज्ञ जिनेश्वरदेवके द्वारा निस्पृहतासे उपदेश किये हुए धर्मको उत्तम शरणरूप जानकर मन, वचन और कायाके प्रभावसे उसका तू आराधन कर आराधन कर। तू केवल अनाथरूप है उससे सनाथ होगा। इसके विना भवाटवीके भ्रमण करनेमें तेरी बाँह पकड़नेवाला कोई नहीं।

जो आत्मायें संसारके मायामय सुखको अथवा अवदर्शनको शरणरूप मानती हैं, वे अधोगतिको पाती हैं और सदैव अनाथ रहती हैं, ऐसा उपदेश करनेवाले भगवान् अनाथीमुनिके चरित्रको शुरू करते हैं, इससे अशरण भावना सुदृढ होगी।

अनाथीमुनि

(देखो मोक्षमाला पृष्ठ १३–१५, पाठ ५–६–७)

* * * *

प्रमाणशिक्षाः—अहो भव्यो! महातपोधन, महामुनि, महाप्रज्ञावान्, महायशस्वी, महानिर्ग्रन्थ और महाश्रुत अनाथी मुनिने मगधदेशके राजाको अपने बीते हुए चरित्रसे जो उपदेश दिया है वह सचमुच ही अशरण भावना सिद्ध करता है। महामुनि अनाथीके द्वारा सहन की हुई वेदनाके समान अथवा इससे भी अत्यन्त विशेष असह्य दुःखोंको अनंत आत्मायें सामान्य दृष्टिसे भोगती हुई दीख पड़ती हैं। इसके संबंधमें तुम कुछ विचार करो। संसारमें छायी हुई अनंत अशरणताका त्याग करके सत्य शरणरूप उत्तम तत्त्वज्ञान और परम सुशीलका सेवन करो। अंतमें यही मुक्तिका कारण है। जिस प्रकार संसारमें रहता हुआ अनाथी अनाथ था उसी तरह प्रत्येक आत्मा तत्त्वज्ञानकी उत्तम प्राप्तिके बिना सदैव अनाथ ही है। सनाथ होनेके लिये पुरुषार्थ करना ही श्रेयस्कर है।

तृतीय चित्र

एकत्वभावना

उपजाति

शरीरमें व्याधि प्रत्यक्ष थाय, ते कोई अन्ये लई ना शकाय;
ए भोगवे एक स्व आत्मा पोते, एकत्व एथी नय सुज्ञ गोते।

विशेषार्थः—शरीरमें प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले रोग आदि जो उपद्रव होते हैं उन्हें स्नेही, कुटुम्बी, स्त्री अथवा पुत्र कोई भी नहीं ले सकते। उन्हें केवल एक अपनी आत्मा ही स्वयं भोगती है। इसमें कोई भी भागीदार नहीं होता। तथा पाप, पुण्य आदि सब विपाकोंको अपनी आत्मा ही भोगती है। वह अकेली आती है और अकेली जाती है; इस तरह सिद्ध करके विवेकको भली भाँति जाननेवाले पुरुष एकत्वकी निरंतर खोज करते हैं।

नमिराजर्षि

महापुरुषके उस न्यायको अचल करनेवाले नमिराजर्षि और शक्रेन्द्रके वैराग्यके उपदेशक संवादको यहाँ देते हैं। नमिराजर्षि मिथिला नगरीके राजेश्वर थे। स्त्री, पुत्र आदिसे विशेष दुःखको प्राप्त न करने पर भी एकत्वके स्वरूपको परिपूर्णरूपसे पहिचाननेमें राजेश्वरने किंचित् भी विभ्रम नहीं किया। शक्रेन्द्र सबसे पहले जहाँ नमिराजर्षि निवृत्तिमें विराजते थे, वहाँ विप्रके रूपमें आकर परीक्षाके लिये अपने व्याख्यानको शुरु करता है:—

विप्र :—हे राजन्! मिथिला नगरीमें आज प्रबल कोलाहल व्याप्त हो रहा है। हृदय और मनको उद्वेग करनेवाले विलापके शब्दोंसे राजमंदिर और सब घर छाये हुए हैं। केवल तेरी एक दीक्षा ही इन सब दुःखोंका कारण है। अपने द्वारा दूसरेकी आत्माको जो दुःख पहुँचता है उस दुःखको संसारके परिभ्रमणका कारण मानकर तू वहाँ जा, भोला मत बन।

नमिराजः—(गौरव भरे वचनोंसे) हे विप्र! जो तू कहता है वह केवल अज्ञानरूप है। मिथिला नगरीमें एक बगीचा था, उसके बीचमें एक वृक्ष था, वह शीतल छायासे रमणीय था, वह पत्र, पुष्प और फलोंसे युक्त था और वह नाना प्रकारके पक्षियोंको लाभ देता था। इस वृक्षके वायुद्वारा कंपित होनेसे वृक्षमें रहनेवाले पक्षी दुःखार्त और शरणरहित होनेसे आक्रन्दन कर रहे हैं। ये पक्षी स्वयं वृक्षके लिये विलाप नहीं कर रहे किन्तु वे अपने सुखके नष्ट होनेके कारण ही शोकसे पीड़ित हो रहे हैं।

विप्र :—परन्तु यह देख! अग्नि और वायुके मिश्रणसे तेरा नगर, तेरा अंतःपुर, और मन्दिर जल रहे हैं, इसलिये वहाँ जा और इस अग्निको शांत कर।

नमिराजः—हे विप्र! मिथिला नगरीके उन अंतःपुर और उन मंदिरोंके जलनेसे मेरा कुछ भी नहीं जल रहा। मैं उसी प्रकारकी प्रवृति करता हूँ जिससे मुझे सुख हो। इन मंदिर आदिमें मेरा अल्प मात्र भी राग नहीं। मैंने पुत्र, स्त्री आदिके व्यवहारको छोड़ दिया है। मुझे इनमेंसे कुछ भी प्रिय नहीं, और कुछ भी अप्रिय नहीं।

विप्रः—परन्तु हे राजन् ! अपनी नगरीका सघन किला बनवाकर, राजद्वार, अट्टालिका फाटक, और मोहल्ले बनवाकर, खाई और शतघ्नी यंत्र बनवाकर बादमें जाना।

नमिराजः—(हेतु कारणसे प्रेरित) हे विप्र ! मैं श्रद्धारूपी नगरी करके, सम्वर रूपी मोह करके क्षमारूपी शुभ किला बनाऊँगा; शुभ मनोयोग रूपी अट्टालिका बनाऊँगा; वचनयोगरूपी ख खुदाऊँगा; काया योगरूपी शतघ्नी करूँगा; पराक्रमरूपी धनुष चढाऊँगा; ईर्यासमितिरूपी डो लगाऊँगा; धीरजरूपी कमान लगाऊँगा; धैर्यको मूठ बनाऊँगा; सत्यरूपी चापसे धनुषको बाँधूँग तपरूपी बाण लगाऊँगा; और कर्मरूपी वैरीकी सेनाका भेदन करूँगा; लौकिक संग्रामकी मुझे र्रु नहीं है, मैं केवल ऐसे भाव-संग्रामको चाहता हूँ।

विप्रः—(हेतु कारणसे प्रेरित) हे राजन् ! शिखरबंद ऊँचे महल बनवाकर, मणि कांचन झरोखे आदि लगवाकर, तालावमें क्रीड़ा करनेके मनोहर स्थान बनवाकर फिर जाना।

नमिराजः—(हेतु कारणसे प्रेरित) तूने जिस जिस प्रकारके महल गिनाये वे महल मु अस्थिर और अशाश्वत जान पड़ते हैं। वे मार्गमें बनी हुई सरायके समान मालूम होते हैं, अतएव जह स्वधाम है, जहाँ शाश्वतता है और जहाँ स्थिरता है मैं वहीं निवास करना चाहता हूँ।

विप्रः—(हेतु कारणसे प्रेरित) हे क्षत्रियशिरोमणि ! अनेक प्रकारके चोरोंके उपद्रवोंक दूरकर इसके द्वारा नगरीका कल्याण करके जाना।

नमिराजः—हे विप्र ! अज्ञानी मनुष्य अनेक बार मिथ्या दंड देते हैं। चोरीके नहीं करनेवा शरीर आदि पुद्गल लोकमें बाँधे जाते हैं; तथा चोरीके करनेवाले इन्द्रिय-विकारको कोई नहीं बाँध सकत फिर ऐसा करनेकी क्या आवश्यकता है ?

विप्रः—हे क्षत्रिय ! जो राजा तेरी आज्ञाका पालन नहीं करते और जो नराधिप स्वतंत्रतासे आचरण करते हैं तू उन्हें अपने वशमें करके पीछे जाना।

नमिराजः—(हेतु कारणसे प्रेरित) दसलाख सुभटोंको संग्राममें [illegible] गिना जाता है, फिर भी ऐसी विजय करनेवाले पुरुष अनेक मिल सकते हैं, [illegible] जीतने [illegible] एकका मिलना भी अनंत दुर्लभ है। [illegible] से विजय पाने [illegible] जीतनेवाला पुरुष परमोत्कृष्ट है। आत्माके [illegible] करना उचित है [illegible] क्या है ! ज्ञानरूपी आत्मासे क्रोध आदि युक्त [illegible] स्तुति [illegible] क्रोधको, मानको, मायाको और लोभको [illegible] । जिसने उसने सब कुछ जीत लिया।

विप्रः—(हेतु कारणसे प्रेरित) हे [illegible] आदिको भोजन देकर, सुवर्ण आदिका दान [illegible]

नमिराज —(हेतु कारणसे प्रेरित) [illegible] दस लाख गायोंके दानकी अपेक्षा संयम ग्रहण [illegible] विशेष मंगलको प्राप्त करता है।

तृतीय चित्र

एकत्वभावना

उपजाति

शरीरमें व्याधि प्रत्यक्ष थाय, ते कोई अन्ये लई ना शकाय;
ए भोगवे एक स्व आत्मा पोते, एकत्व एथी नय सुज्ञ गोते।

विशेषार्थः—शरीरमें प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले रोग आदि जो उपद्रव होते हैं उन्हें स्नेही, कुटुम्बी, स्त्री अथवा पुत्र कोई भी नहीं ले सकते। उन्हें केवल एक अपनी आत्मा ही स्वयं भोगती है। इसमें कोई भी भागीदार नहीं होता। तथा पाप, पुण्य आदि सब विपाकोंको अपनी आत्मा ही भोगती है। यह अकेली आती है और अकेली जाती है; इस तरह सिद्ध करके विवेकको भली भाँति जाननेवाले पुरुष एकत्वकी निरंतर खोज करते हैं।

नमिराजर्षि

महापुरुषके उस न्यायको अचल करनेवाले नमिराजर्षि और शक्रेन्द्रके वैराग्यके उपदेशक संवादको यहाँ देते हैं। नमिराजर्षि मिथिला नगरीके राजेश्वर थे। स्त्री, पुत्र आदिसे विशेष दुःखको प्राप्त न करने पर भी एकत्वके स्वरूपको परिपूर्णरूपसे पहिचाननेमें राजेश्वरने किंचित् भी विभ्रम नहीं किया। शक्रेन्द्र सबसे पहले जहाँ नमिराजर्षि निवृत्तिमें विराजते थे, वहाँ विप्रके रूपमें आकर परीक्षाके लिये अपने व्याख्यानको शुरु करता है:—

विप्र :—हे राजन्! मिथिला नगरीमें आज प्रबल कोलाहल व्याप्त हो रहा है। हृदय और मनको उद्वेग करनेवाले विलापके शब्दोंसे राजमंदिर और सब घर छाये हुए हैं। केवल तेरी एक दीक्षा ही इन सब दुःखोंका कारण है। अपने द्वारा दूसरेकी आत्माको जो दुःख पहुँचता है उस दुःखको संसारके परिभ्रमणका कारण मानकर तू वहाँ जा, भोला मत बन।

नमिराजः—(गौरव भरे वचनोंसे) हे विप्र! जो तू कहता है वह केवल अज्ञानरूप है। मिथिला नगरीमें एक बगीचा था, उसके बीचमें एक वृक्ष था, वह शीतल छायासे रमणीय था, वह पत्र, पुष्प और फलोंसे युक्त था और वह नाना प्रकारके पक्षियोंको लाभ देता था। इस वृक्षके वायुद्वारा कंपित होनेसे वृक्षमें रहनेवाले पक्षी दुःखार्त और शरणरहित होनेसे आक्रन्दन कर रहे हैं। ये पक्षी स्वयं वृक्षके लिये विलाप नहीं कर रहे किन्तु वे अपने सुखके नष्ट होनेके कारण ही शोकसे पीड़ित हो रहे हैं।

विप्र :—परन्तु यह देख! अग्नि और वायुके मिश्रणसे तेरा नगर, तेरा अंतःपुर, और मन्दिर जल रहे हैं, इसलिये वहाँ जा और इस अग्निको शांत कर।

नमिराजः—हे विप्र! मिथिला नगरीके उन अंतःपुर और उन मंदिरोंके जलनेसे मेरा कुछ भी नहीं जल रहा। मैं उसी प्रकारकी प्रवृत्ति करता हूँ जिससे मुझे सुख हो। इन मंदिर आदिमें मेरा अल्प मात्र भी राग नहीं। मैंने पुत्र, स्त्री आदिके व्यवहारको छोड़ दिया है। मुझे इनमेंसे कुछ भी प्रिय नहीं, और कुछ भी अप्रिय नहीं।

होकर सर्वोत्तम सिद्धगतिको प्राप्त करेगा। इस तरह स्तुति करते करते, प्रदक्षिणा करते हुए भक्तिपूर्वक उसने उस ऋषिके चरणकमलोंको वन्दन किया। तत्पश्चात् वह सुंदर मुकुटवाला शक्रेन्द्र आकाशमार्गसे चला गया।

प्रमाणशिक्षाः—विप्रके रूपमें नमिराजके वैराग्यकी परीक्षा करनेमें इन्द्रने क्या न्यूनता की है? कुछ भी नहीं की। संसारकी जो लोलुपतायें मनुष्यको चलायमान करनेवाली हैं उन सब लोलुपताओंके विषयमें महागौरवपूर्ण प्रश्न करनेमें उस इन्द्रने निर्मल भावनासे प्रशंसायोग्य चातुर्य दिखाया है, तो भी देखनेकी बात तो यही है कि नमिराज अंततक केवल कंचनमय रहे हैं। शुद्ध और अखण्ड वैराग्यके वेगमें अपने प्रवाहित होनेको इन्होंने अपने उत्तरोंमें प्रदर्शित किया है। हे विप्र! तू जिन वस्तुओंको मेरी कहलवाता है वे वस्तुयें मेरी नहीं हैं। मैं अकेला ही हूँ, अकेला जानेवाला हूँ; और केवल प्रशंसनीय एकत्वको ही चाहता हूँ। इस प्रकारके रहस्यमें नमिराज अपने उत्तरको और वैराग्यको दृढ बनाते गये हैं। ऐसी परम प्रमाणशिक्षासे भरा हुआ उस महर्षिका चरित्र है। दोनों महात्माओंका परस्परका संवाद शुद्ध एकत्वको सिद्ध करनेके लिये तथा अन्य वस्तुओंके त्याग करनेके उपदेशके लिये यहाँ कहा गया है। इसे भी विशेष दृढ करनेके लिये नमिराजको एकत्वभाव किस तरह प्राप्त हुआ, इस विषयमें नमिराजके एकत्वसंबंधको संक्षेपमें यहाँ नीचे देते हैं:—

ये विदेह देश जैसे महान् राज्यके अधिपति थे। ये अनेक यौवनवती मनोहारिणी स्त्रियोंके समुदायसे घिरे हुए थे। दर्शनमोहनीयके उदय न होनेपर भी वे संसार-लुब्ध जैसे दिखाई देते थे। एक बार इनके शरीरमें दाहज्वर रोगकी उत्पत्ति हुई। मानों समस्त शरीर जल रहा हो ऐसी जलन समस्त शरीरमें व्याप्त हो गई। रोम रोममें हजार बिच्छुओंके डँसने जैसी वेदनाके समान दुःख होने लगा। वैद्य-विद्यामें प्रवीण पुरुषोंके औषधोपचारका अनेक प्रकारसे सेवन किया; परन्तु वह सब वृथा हुआ। यह व्याधि लेशमात्र भी कम न होकर अधिक ही होती गई। सम्पूर्ण औषधियाँ दाह-ज्वरकी हितैषी ही होती गईं। कोई भी औषधि ऐसी न मिली कि जिससे दाहज्वरमें कुछ भी फेर हो। निपुण वैद्य हताश हो गये, और राजेश्वर भी इस महाव्याधिसे तंग आ गये। उसको दूर करनेवाले पुरुषकी खोज चारों तरफ होने लगी। अंतमें एक महाकुशल वैद्य मिला, उसने मलयागिरि चंदनका लेप करना बताया। रूपवन्ती रानियाँ चन्दन घिसनेमें लग गईं। चंदन घिसनेसे प्रत्येक रानीके हाथमें पहिने हुए कंकणोंके समुदायसे खलभलाहट होने लगा। मिथिलेशके अंगमें दाहज्वरकी एक असह्य वेदना तो थी ही और दूसरी वेदना इन कंकणोंके कोलाहलसे उत्पन्न हो गई। जब यह खलभलाहट उनसे सहन न हो सका तो उन्होंने रानियोंको आज्ञा की कि चंदन घिसना बन्द करो। तुम यह क्या शोर करती हो? मुझसे यह सहा नहीं जाता। मैं एक महाव्याधिसे तो ग्रसित हूँ ही, और दूसरी व्याधिके समान यह कोलाहल हो रहा है, यह असह्य है। सब रानियोंने केवल एक एक कंकणको मंगल-स्वरूप रखकर बाकी कंकणोंको निकाल डाला इससे होता हुआ खलभलाहट शांत हो गया। नमिराजने रानियोंसे पूँछा, क्या तुमने चंदन घिसना बन्द कर दिया? रानियोंने कहा कि नहीं, केवल कोलाहल शांत करनेके लिये हम एक एक कंकणको रखकर बाकी कंकणोंका परित्याग करके चं-

विप्रः—निर्वाह करनेके लिये भिक्षा माँगनेके कारण सुशील प्रव्रज्यामें असह्य परिश्रम सहना पड़ता है, इस कारण उस प्रव्रज्याको त्यागकर अन्य प्रव्रज्या धारण करने की रुचि हो जाती है। अतएव उस उपाधिको दूर करनेके लिये तू गृहस्थाश्रममें रहकर ही पौषध आदि व्रतोंमें तत्पर रह। हे मनुष्यके अधिपति! मैं ठीक कहता हूँ।

नमिराजः—(हेतु कारणसे प्रेरित) हे विप्र! बाल अविवेकी चाहे जितना भी उग्र तप करे परन्तु वह सम्यक् श्रुतधर्म तथा चारित्रधर्मके बराबर नहीं होता। एकाध कला सोलह कलाओंके समान कैसे मानी जा सकती है?

विप्रः—अहो क्षत्रिय! सुवर्ण, मणि, मुक्ताफल, वस्त्रालंकार और अश्व आदिकी वृद्धि करके फिर जाना।

नमिराजः—(हेतु कारणसे प्रेरित) कदाचित् मेरु पर्वतके समान सोने चाँदीके असंख्यातों पर्वत हो जाँय उनसे भी लोभी मनुष्यकी तृष्णा नहीं बुझती, उसे किंचित्मात्र भी संतोष नहीं होता। तृष्णा आकाशके समान अनंत है। यदि धन, सुवर्ण, पशु इत्यादिसे सकल लोक भर जाय उन सबसे भी एक लोभी मनुष्यकी तृष्णा दूर नहीं हो सकती। लोभकी ऐसी कनिष्टता है! अतएव विवेकी पुरुष संतोषनिवृत्तिरूपी तपका आचरण करते हैं।

विप्रः—(हेतु कारणसे प्रेरित) हे क्षत्रिय! मुझे अत्यन्त आश्चर्य होता है कि तू विद्यमान भोगोंको छोड़ रहा है! बादमें तू अविद्यमान काम-भोगके संकल्प-विकल्पोंके कारणसे खेदखिन्न होगा। अतएव इस मुनिपनेकी सब उपाधिको छोड़ दे।

नमिराजः—(हेतु कारणसे प्रेरित) काम-भोग शल्यके समान हैं; काम-भोग विषके समान हैं; काम-भोग सर्पके तुल्य हैं; इनकी वाँछा करनेसे जीव नरक आदि अधोगतिमें जाता है; इसी तरह क्रोध और मानके कारण दुर्गति होती है; मायासे सद्गतिका विनाश होता है; लोभसे इस लोक और परलोकका भय रहता है, इसलिये हे विप्र! इनका तू मुझे उपदेश न कर। मेरा हृदय कभी भी चलायमान होनेवाला नहीं, और इस मिथ्या मोहिनीमें अभिरुचि रखनेवाला नहीं। जानबूझकर विष कौन पियेगा? जानबूझकर दीपक लेकर कुँएमें कौन गिरेगा? जानबूझकर विभ्रममें कौन पड़ेगा? मैं अपने अमृतके समान वैराग्यके मधुर रसको अप्रिय करके इस ज़हरको प्रिय करनेके लिये मिथिलामें आनेवाला नहीं।

महर्षि नमिराजकी सुदृढ़ता देखकर शक्रेन्द्रको परमानंद हुआ। बादमें ब्राह्मणके रूपको छोड़कर उसने इन्द्रपनेकी विक्रिया धारण की। फिर वह वन्दन करके मधुर वचनोंसे राजर्षीश्वरकी स्तुति करने लगा कि हे महायशस्विन्! बड़ा आश्चर्य है कि तूने क्रोध जीत लिया। आश्चर्य है कि तूने अहंकारको पराजित किया। आश्चर्य है कि तूने मायाको दूर किया। आश्चर्य है कि तूने लोभको वशमें किया। आश्चर्यकारी है तेरा सरलपना, आश्चर्यकारी है तेरा निर्ममत्व, आश्चर्यकारी है तेरी प्रधान क्षमा और आश्चर्यकारी है तेरी निर्लोभिता। हे पूज्य! तू इस भवमें उत्तम है और परभवमें उत्तम होगा। तू कर्मरहित

होकर सर्वोच्च सिद्धगतिको प्राप्त करेगा। इस तरह स्तुति करते करते, प्रदक्षिणा करते हुए श्रद्धा-भक्तिसे उसने उस ऋषिके चरणकमलोंको वन्दन किया। तत्पश्चात् वह सुंदर मुकुटवाला शक्रेन्द्र आकाश-मार्गसे चला गया।

प्रमाणशिक्षाः—विप्रके रूपमें नमिराजके वैराग्यकी परीक्षा करनेमें इन्द्रने क्या न्यूनता की है? कुछ भी नहीं की। संसारकी जो लोलुपतायें मनुष्यको चलायमान करनेवाली हैं उन सब लोलुपताओंके विषयमें महागौरवपूर्ण प्रश्न करनेमें उस इन्द्रने निर्मल भावनासे प्रशंसायोग्य चातुर्य दिखाया है, तो भी देखनेकी बात तो यही है कि नमिराज अंततक केवल कंचनमय रहे हैं। शुद्ध और अखंड वैराग्यके वेगमें अपने प्रवाहित होनेको इन्होंने अपने उत्तरोंमें प्रदर्शित किया है। हे विप्र! तू जिन वस्तुओंको मेरी कहलवाता है वे वस्तुयें मेरी नहीं हैं। मैं अकेला ही हूँ, अकेला जानेवाला हूँ; और केवल प्रशंसनीय एकत्वको ही चाहता हूँ। इस प्रकारके रहस्यमें नमिराज अपने उत्तरको और वैराग्यको दृढ़ बनाते गये हैं। ऐसी परम प्रमाणशिक्षासे भरा हुआ उस महर्षिका चरित्र है। दोनों महात्माओंका परस्परका संवाद शुद्ध एकत्वको सिद्ध करनेके लिये तथा अन्य वस्तुओंके त्याग करनेके उपदेशके लिये यहाँ कहा गया है। इसे भी विशेष दृढ़ करनेके लिये नमिराजको एकत्वभाव किस तरह प्राप्त हुआ, इस विषयमें नमिराजके एकत्वसंबंधको संक्षेपमें यहाँ नीचे देते हैं:—

ये विदेह देश जैसे महान् राज्यके अधिपति थे। ये अनेक यौवनवंती मनोहारिणी स्त्रियोंके समुदायसे घिरे हुए थे। दर्शनमोहिनीके उदय न होनेपर भी वे संसार-लुब्ध जैसे दिखाई देते थे। एक बार इनके शरीरमें दाहज्वर रोगकी उत्पत्ति हुई। मानों समस्त शरीर जल रहा हो ऐसी जलन समस्त शरीरमें व्याप्त हो गई। रोम रोममें हज़ार बिच्छुओंके डँसने जैसी वेदनाके समान दुःख होने लगा। वैद्य-विद्यामें प्रवीण पुरुषोंके औषधोपचारका अनेक प्रकारसे सेवन किया; परन्तु वह सब वृथा हुआ। यह व्याधि लेशमात्र भी कम न होकर अधिक ही होती गई। सम्पूर्ण औषधियाँ दाह-ज्वरकी हितैषी ही होती गईं। कोई भी औषधि ऐसी न मिली कि जिसे दाहज्वरसे कुछ भी द्वेष हो। निपुण वैद्य हताश हो गये, और राजेश्वर भी इस महाव्याधिसे तंग आ गये। उसको दूर करनेवाले पुरुषकी खोज चारों तरफ होने लगी। अंतमें एक महाकुशल वैद्य मिला, उसने मलयागिरि चंदनका लेप करना बताया। रूपवन्ती रानियाँ चंदन घिसनेमें लग गईं। चंदन घिसनेसे प्रत्येक रानीके हाथमें पहिने हुए कंकणोंके समुदायसे खलभलाहट होने लगा। मिथिलेशके अंगमें दाहज्वरकी एक असह्य वेदना तो थी ही और दूसरी वेदना इन कंकणोंके कोलाहलसे उत्पन्न हो गई। जब यह खलभलाहट उनसे सहन न हो सका तो उन्होंने रानियोंको आज्ञा की कि चंदन घिसना बन्द करो। तुम यह क्या शोर करती हो! मुझसे यह सहा नहीं जाता। मैं एक महाव्याधिसे तो ग्रसित हूँ ही, और दूसरी व्याधिके समान यह कोलाहल हो रहा है, यह असह्य है। सब रानियोंने केवल एक एक कंकणको मंगल-स्वरूप रखकर बाकी कंकणोंको निकाल डाला इससे होता हुआ खलभलाहट शांत हो गया। नमिराजने रानियोंसे पूँछा, क्या तुमने चंदन घिसना बन्द कर दिया? रानियोंने कहा कि नहीं, केवल कोलाहल शांत करनेके लिये हम एक एक कंकणको रखकर बाकी कंकणोंका परित्याग करके चन्दन

घिस रहीं हैं । अब हमने कंकणोंको समूहको अपने हाथमें नहीं रक्खा इसलिये कोलाहल नहीं होता । रानियोंके इतने वचनोंको सुनते ही नमिराजके रोमरोममें एकत्व उदित हुआ—एकत्व व्याप्त हो गया, और उनका ममत्व दूर हो गया । सचमुच ! बहुतोंके मिलनेसे बहुत उपाधि होती है । देखो ! अब इस एक कंकणसे लेशमात्र भी खलभलाहट नहीं होता। कंकणोंके समूहसे सिरको घुमा देनेवाला खलभलाहट होता था । अहो चेतन ! तू मान कि तेरी सिद्धि एकत्वमें ही है । अधिक मिलनेसे अधिक ही उपाधि बढ़ती है । संसारमें अनन्त आत्माओंके संबन्धसे तुझे उपाधि भोगनेकी क्या आवश्यकता है ? उसका त्याग कर और एकत्वमें प्रवेश कर । देख ! अब यह एक कंकण खलभलाहटके बिना कैसी उत्तम शान्तिमें रम रहा है । जब अनेक थे तब यह कैसी अशांतिका भोग कर रहा था इसी तरह तू भी कंकणरूप है । उस कंकणकी तरह तू भी जबतक स्नेही कुटुंबीरूपी कंकण-समुदायमें पड़ा रहेगा तबतक भवरूपी खलभलाहटका सेवन करना पड़ेगा । और यदि इस कंकणकी वर्तमान स्थितिकी तरह एकत्वकी आराधना करेगा तो सिद्धगतिरूपी महापवित्र शांतिको प्राप्त करेगा । इस प्रकार वैराग्यके उत्तरोत्तर प्रवेशमें ही उन नमिराजको पूर्वभवका स्मरण हो आया । वे प्रव्रज्या धारण करनेका निश्चय करके सो गये । प्रभातमें मंगलसूचक बाजों की ध्वनि हुई; नमिराज दाहज्वरसे मुक्त हुए । एकत्वका परिपूर्ण सेवन करनेवाले श्रीमान् नमिराज ऋषिको अभिवंदन हो !

शार्दूलविक्रीडित

राणी सर्व मळी सुचंदन घसी, ने चर्चवामां हती,
बूझ्यो त्यां ककळाट कंकणतणो, श्रोती नमिभूपति;
संवादे पण इन्द्रथी दृढ रह्यो, एकत्व साचुं कर्युं,
एवा ए मिथिलेशनुं चरित आ, सम्पूर्ण अत्रे थयुं ॥ १ ॥

विशेषार्थः—सब रानियाँ मिलकर चंदन घिसकर लेप करनेमें लगीं हुईं थीं । उस समय कंकणोंका कोलाहल सुनकर नमिराजको बोध प्राप्त हुआ । वे इंद्रके साथ संवादमें भी अचल रहे; और उन्होंने एकत्वको सिद्ध किया । ऐसे इस मुक्तिसाधक महावैरागी मिथिलेशका चरित्र भावनाबोध ग्रंथके तृतीय चित्रमें पूर्ण हुआ ।

चतुर्थ चित्र

अन्यत्वभावना

शार्दूलविक्रीडित

ना मारां तन रूप कांति युवती, ना पुत्र के भ्रात ना,
ना मारां भृत स्नेहियो स्वजन के, ना गोत्र के ज्ञात ना;
ना मारां धन धाम यौवन धरा, ए मोह अज्ञात्वना,
रे! रे! जीव विचार एमज सदा, अन्यत्वदा भावना ॥ २ ॥

विशेषार्थः—यह शरीर मेरा नहीं, यह रूप मेरा नहीं, यह कांति मेरी नहीं, यह स्त्री मेरी नहीं, यह पुत्र मेरा नहीं, ये भाई मेरे नहीं, ये दास मेरे नहीं, ये स्नेही मेरे नहीं, ये संबंधी मेरे नहीं, यह गोत्र मेरा नहीं, यह ज्ञाति मेरी नहीं, यह लक्ष्मी मेरी नहीं, यह महल मेरा नहीं, यह यौवन मेरा नहीं, और यह भूमि मेरी नहीं, यह सब मोह केवल अज्ञानपनेका है । हे जीव! सिद्धगति पानेके लिये अन्यत्वका उपदेश देनेवाली अन्यत्वभावनाका विचार कर ! विचार कर !

मिथ्या ममत्वकी भ्रमणा दूर करनेके लिये और वैराग्यकी वृद्धिके लिये भावपूर्वक मनन करने योग्य राजराजेश्वर भरतके चरित्रको यहाँ उद्धृत करते हैं:—

भरतेश्वर

जिसकी अश्वशालामें रमणीय, चतुर और अनेक प्रकारके तेजी अश्वोंका समूह शोभायमान होता था; जिसकी गजशालामें अनेक जातिके मदोन्मत्त हाथी झूम रहे थे; जिसके अंतःपुरमें नवयौवना, सुकुमारिका और मुग्धा स्त्रियाँ हजारोंकी संख्यामें शोभित हो रहीं थीं; जिसके खजानेमें विद्वानोंद्वारा चंचला उपमासे वर्णन की हुई समुद्रकी पुत्री लक्ष्मी स्थिर हो गई थी; जिसकी आज्ञाको देव-देवांगनायें आधीन होकर अपने मुकुट पर चढ़ा रहे थे; जिसके वास्ते भोजन करनेके लिये नाना प्रकारके षट्रस भोजन पल पलमें निर्मित होते थे; जिसके कोमल कर्णके विलासके लिये बारीक और मधुर स्वरसे गायन करनेवाली वारांगनायें तत्पर रहतीं थीं; जिसके निरीक्षण करनेके लिये अनेक प्रकारके नाटक तमाशे किये जाते थे; जिसकी यशःकीर्ति वायु रूपसे फैलकर आकाशके समान व्याप्त हो गई थी; जिसके शत्रुओंको सुखसे शयन करनेका समय न आया था; अथवा जिसके वैरियोंकी वनिताओंके नयनोंमेंसे सदा आँसू ही टपकते रहते थे; जिससे कोई शत्रुता दिखानेको तो समर्थ था ही नहीं, परन्तु जिसके सामने निर्दोषतासे उँगली दिखानेमें भी कोई समर्थ न था; जिसके समक्ष अनेक मंत्रियोंका समुदाय उसकी कृपाकी याचना करता था; जिसका रूप, कांति और सौंदर्य मनोहारक थे; जिसके अंगमें महान् बल, वीर्य, शक्ति और उग्र पराक्रम उछल रहे थे; जिसके क्रीड़ा करनेके लिये महासुगंधिमय बाग-बगीचे और वन उपवन बने हुए थे; जिसके यहाँ मुख्य कुलदीपक पुत्रोंका समुदाय था; जिसकी सेवामें लाखों अनुचर सज्ज होकर खड़े रहा करते थे; वह पुरुष जहाँ जहाँ जाता था वहाँ वहाँ क्षेम क्षेमके उद्गारोंसे, कंचनके फूलों और मोतियोंके थालसे बधाई दिया जाता था; जिसके कुंकमवर्णके चरणकमलोंका स्पर्श करनेके लिये इन्द्र जैसे भी तरसते रहते थे; जिसकी आयुधशालामें महायशोमान दिव्य चक्रकी उत्पत्ति हुई थी; जिसके यहाँ साम्राज्यका अखंड दीपक प्रकाशमान था; जिसके सिरपर महान् छह खंडकी प्रभुताका तेजस्वी और प्रकाशमान मुकुट सुशोभित था; कहनेका अभिप्राय यह है कि जिसकी साधन-सामग्रीका, जिसके दलका, जिसके नगर, पुर और पट्टनका, जिसके वैभवका, और जिसके विलासका संसारमें किसी भी प्रकारसे न्यूनभाव न था; ऐसा वह श्रीमान् राजराजेश्वर भरत अपने सुंदर आदर्श-भुवनमें वस्त्राभूषणोंसे विभूषित होकर मनोहर सिंहासन पर बैठा था। चारों तरफके द्वार खुले थे; नाना प्रकारकी धूपोंका धूम्र सूक्ष्म रीतिसे फैल रहा था; नाना प्रकारके सुगंधित पदार्थ जोरसे महँक रहे थे; नाना प्रकारके सुन्दर स्वरयुक्त वादित्र यांत्रिक-कलासे स्वर खींच रहे थे; शीतल, मंद और सुगंधित वायुकी लहरें छूट रही थीं। आभूषण आदि पदार्थोंका निरीक्षण करते हुए वे श्रीमान् राजराजेश्वर भरत उस भुवनमें अपूर्व जैसे दिखाई देते थे।

इतनेमें उनकी एक उँगलीमेंसे अँगूठी निकल पड़ी। भरतका ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ और उन्हें अपनी उँगली बिलकुल शोभाहीन मालूम होने लगी। नौ उँगलियाँ अँगूठियोंद्वारा जिस मनोहरताको धारण करती थी, उस मनोहरतासे रहित इस उँगलीको देखकर इसके ऊपरसे भरतेश्वरको अद्भुत

घिस रही हैं। अब हमने कंकणोंको समूहको अपने हाथमें नहीं रक्खा इसलिये कोलाहल नहीं होता। रानियोंके इतने वचनोंको सुनते ही नमिराजके रोमरोममें एकत्व उदित हुआ—एकत्व व्याप्त हो गया, और उनका ममत्व दूर हो गया। सचमुच ! बहुतोंके मिलनेसे बहुत उपाधि होती है। देखो ! अब इस एक कंकणसे लेशमात्र भी खलभलाहट नहीं होता। कंकणोंके समूहसे सिरको घुमा देनेवाला खलभलाहट होता था। अहो चेतन ! तू मान कि तेरी सिद्धि एकत्वमें ही है। अधिक मिलनेसे अधिक ही उपाधि बढ़ती है। संसारमें अनन्त आत्माओंके संबन्धसे तुझे उपाधि भोगनेकी क्या आवश्यकता है ? उसका त्याग कर और एकत्वमें प्रवेश कर। देख ! अब यह एक कंकण खलभलाहटके विना कैसी उत्तम शान्तिमें रम रहा है। जब अनेक थे तब यह कैसी अशांतिका भोग कर रहा था इसी तरह तू भी कंकणरूप है। उस कंकणकी तरह तू भी जबतक स्नेही कुटुंबीरूपी कंकण-समुदायमें पड़ा रहेगा तबतक भवरूपी खलभलाहटका सेवन करना पड़ेगा। और यदि इस कंकणकी वर्तमान स्थितिकी तरह एकत्वकी आराधना करेगा तो सिद्धगतिरूपी महापवित्र शांतिको प्राप्त करेगा। इस प्रकार वैराग्यके उत्तरोत्तर प्रवेशमें ही उन नमिराजको पूर्वभवका स्मरण हो आया। वे प्रव्रज्या धारण करनेका निश्चय करके सो गये। प्रभातमें मंगलसूचक बाजों की ध्वनि हुई; नमिराज दाहज्वरसे मुक्त हुए। एकत्वका परिपूर्ण सेवन करनेवाले श्रीमान् नमिराज ऋषिको अभिवंदन हो !

शार्दूलविक्रीडित

राणी सर्व मळी सुचंदन घसी, ने चर्चवामां हती,
बूझ्यो त्यां ककळाट कंकणतणो, श्रोती नमिभूपति;
संवादे पण इन्द्रथी दृढ रह्यो, एकत्व साचुं कर्युं,
एवा ए मिथिलेशनुं चरित आ, सम्पूर्ण अत्रे थयुं ॥ १ ॥

विशेषार्थः—सब रानियाँ मिलकर चंदन घिसकर लेप करनेमें लगीं हुई थीं। उस समय कंकणोंका कोलाहल सुनकर नमिराजको बोध प्राप्त हुआ। वे इंद्रके साथ संवादमें भी अचल रहे; और उन्होंने एकत्वको सिद्ध किया। ऐसे इस मुक्तिसाधक महावैरागी मिथिलेशका चरित्र भावनाबोध ग्रंथके तृतीय चित्रमें पूर्ण हुआ।

चतुर्थ चित्र

अन्यत्वभावना

शार्दूलविक्रीडित

ना मारां तन रूप कांति युवती, ना पुत्र के भ्रात ना,
ना मारां भृत स्नेहियो स्वजन के, ना गोत्र के ज्ञात ना;
ना मारां धन धाम यौवन धरा, ए मोह अज्ञात्वना,
रे ! रे ! जीव विचार एम ज सदा, अन्यत्वदा भावना ॥ २ ॥

विशेषार्थः—यह शरीर मेरा नहीं, यह रूप मेरा नहीं, यह कांति मेरी नहीं, यह स्त्री मेरी नहीं, यह पुत्र मेरा नहीं, ये भाई मेरे नहीं, ये दास मेरे नहीं, ये स्नेही मेरे नहीं, ये संबंधी मेरे नहीं, यह गोत्र मेरा नहीं, यह ज्ञाति मेरी नहीं, यह लक्ष्मी मेरी नहीं, यह महल मेरा नहीं, यह यौवन मेरा नहीं, और यह भूमि मेरी नहीं, यह सब मोह केवल अज्ञानताका है। हे जीव ! सिद्धगति साधनेके लिये अन्यत्वका उपदेश देनेवाली अन्यत्वभावनाका विचार कर ! विचार कर !

मिथ्या ममत्वकी भ्रमणा दूर करनेके लिये और वैराग्यकी वृद्धिके लिये भावपूर्वक मनन करने योग्य राजराजेश्वर भरतके चरित्रको यहाँ उद्धृत करते हैं:—

भरतेश्वर

जिसकी अश्वशालामें रमणीय, चतुर और अनेक प्रकारके तेजी अश्वोंका समूह शोभायमान होता था; जिसकी गजशालामें अनेक जातिके मदोन्मत्त हाथी झूम रहे थे; जिसके अंतःपुरमें नवयौवना, सुकुमारिका और मुग्धा स्त्रियाँ हजारोंकी संख्यामें शोभित हो रहीं थीं; जिसके खज़ानेमें विद्वानोंद्वारा चंचला उपमासे वर्णन की हुई समुद्रकी पुत्री लक्ष्मी स्थिर हो गई थी; जिसकी आज्ञाको देव-देवांगनायें आधीन होकर अपने मुकुट पर चढ़ा रहे थे; जिसके वास्ते भोजन करनेके लिये नाना प्रकारके षड्रस भोजन पल पलमें निर्मित होते थे; जिसके कोमल कर्णके विलासके लिये बारीक और मधुर स्वरसे गायन करनेवाली वारांगनायें तत्पर रहतीं थीं; जिसके निरीक्षण करनेके लिये अनेक प्रकारके नाटक तमाशे किये जाते थे; जिसकी यशःकीर्ति वायु रूपसे फैलकर आकाशके समान व्याप्त हो गई थी; जिसके शत्रुओंको सुखसे शयन करनेका समय न आया था; अथवा जिसके वैरियोंकी वनिताओंके नयनोंमेंसे सदा आँसू ही टपकते रहते थे; जिससे कोई शत्रुता दिखानेको तो समर्थ था ही नहीं, परन्तु जिसके सामने निर्दोषतासे उँगली दिखानेमें भी कोई समर्थ न था; जिसके समक्ष अनेक मंत्रियोंका समुदाय उसकी कृपाकी याचना करता था; जिसका रूप, कांति और सौंदर्य मनोहारक थे; जिसके अंगमें महान् बल, वीर्य, शक्ति और उग्र पराक्रम उछल रहे थे; जिसके क्रीड़ा करनेके लिये महासुगंधिमय बाग-बगीचे और वन उपवन बने हुए थे; जिसके यहाँ मुख्य कुलदीपक पुत्रोंका समुदाय था; जिसकी सेवामें लाखों अनुचर सज्ज होकर खड़े रहा करते थे; वह पुरुष जहाँ जहाँ जाता था वहाँ वहाँ क्षेम क्षेमके उद्गारोंसे, कंचनके फूल और मोतियोंके थालसे वधाई दिया जाता था; जिसके कुंकमवर्णके चरणकमलोंका स्पर्श करनेके लिये इन्द्र जैसे भी तरसते रहते थे; जिसकी आयुधशालामें महायशोमान दिव्य चक्रकी उत्पत्ति हुई थी; जिसके यहाँ साम्राज्यका अखंड दीपक प्रकाशमान था; जिसके सिरपर महान् छह खंडकी प्रभुताका तेजस्वी और प्रकाशमान मुकुट सुशोभित था; कहनेका अभिप्राय यह है कि जिसकी साधन-सामग्रीका, जिसके दलका, जिसके नगर, पुर और पट्टनका, जिसके वैभवका, और जिसके विलासका संसारमें किसी भी प्रकारसे न्यूनभाव न था; ऐसा वह श्रीमान् राजराजेश्वर भरत अपने सुंदर आदर्श-भुवनमें वस्त्राभूषणोंसे विभूषित होकर मनोहर सिंहासन पर बैठा था। चारों तरफके द्वार खुले थे; नाना प्रकारकी धूपोंका धूम्र सूक्ष्म रीतिसे फैल रहा था; नाना प्रकारके सुगंधित पदार्थ ज़ोरसे महँक रहे थे; नाना प्रकारके सुन्दर स्वरयुक्त वादित्र यांत्रिक-कलासे स्वर खींच रहे थे; शीतल, मंद और सुगंधित वायुकी लहरें छूट रहीं थीं। आभूषण आदि पदार्थोंका निरीक्षण करते हुए वे श्रीमान् राजराजेश्वर भरत उस भुवनमें अनुपम जैसे दिखाई देते थे।

इनके हाथकी एक उँगलीमेंसे अँगूठी निकल पड़ी। भरतका ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ और उन्हें अपनी उँगली बिल्कुल शोभाहीन मालूम होने लगी। नौ उँगलियें अँगूठियोंद्वारा जिस मनोहरताको धारण करतीं थीं उस मनोहरतासे रहित इस उँगलीको देखकर इसके ऊपरसे भरतेश्वरको अद्भुत मूल

विचारकी स्फुरणा हुई। किस कारणसे यह उँगली ऐसी लगती है ? यह विचार करनेपर उसे मालूम हुआ कि इसका कारण केवल उँगलीमेंसे अँगूठीका निकल जाना ही है। इस बातको विशेषरूपसे प्रमाणित करनेके लिये उसने दूसरी उँगलीकी अँगूठी भी निकाल ली। जैसे ही दूसरी उँगलीमेंसे अँगूठी निकली, वैसे ही वह उँगली भी शोभाहीन दिखाई देने लगी। फिर इस बातको सिद्ध करनेके लिये उसने तीसरी उँगलीमेंसे भी अँगूठी निकाल ली, इससे यह बात और भी प्रमाणित हुई। फिर चौथी उँगलीमेंसे भी अँगूठी निकाल ली, यह भी इसी तरह शोभाहीन दिखाई दी। इस तरह भरतने क्रमसे दसों उँगलियाँ खाली कर डालीं। खाली हो जानेसे ये सबकी सब उँगलियाँ शोभाहीन दिखाई देने लगीं। इनके शोभाहीन मालूम होनेसे राजराजेश्वर अन्यत्वभावनासे गद्गद होकर इस तरह बोले:—

अहो हो ! कैसी विचित्रता है कि भूमिसे उत्पन्न हुई वस्तुको कूटकर कुशलतापूर्वक घड़नेसे मुद्रिका बनी; इस मुद्रिकासे मेरी उँगली सुंदर दिखाई दी; इस उँगलीमेंसे इस मुद्रिकाके निकल पड़नेसे इससे विपरीत ही दृश्य दिखाई दिया। विपरीत दृश्यसे उँगलीकी शोभाहीनता और नंगापन खेदका कारण हो गया। शोभाहीन मालूम होनेका कारण केवल अँगूठीका न होना ही ठहरा न ? यदि अँगूठी होती तो मैं ऐसी अशोभा न देखता। इस मुद्रिकासे मेरी यह उँगली शोभाको प्राप्त हुई; इस उँगलीसे यह हाथ शोभित होता है; इस हाथसे यह शरीर शोभित होता है; फिर इसमें मैं किसकी शोभा मानूँ ? बड़े आश्चर्यकी बात है ! मेरी इस मानी जानी हुई मनोहर कांतिको और भी विशेष दीप्त करनेवाले ये मणि माणिक्य आदिके अलंकार और रंगबिरंगे वस्त्र ही सिद्ध हुए; यह कांति मेरी त्वचाकी शोभा सिद्ध हुई; यह त्वचा शरीरकी गुप्तताको ढँककर सुंदरता दिखाती है; अहो हो ! यह कैसी उलटी बात है ! जिस शरीरको मैं अपना मानता हूँ वह शरीर केवल त्वचासे, वह त्वचा कांतिसे, और वह कांति वस्त्रालंकारसे शोभित होती है; तो क्या फिर मेरे शरीरकी कुछ शोभा ही नहीं ? क्या यह केवल रुधिर, मांस और हाड़ोंका ही पंजर है ? और इस पंजरको ही मैं सर्वथा अपना मान रहा हूँ। कैसी भूल ! कैसी भ्रमणा ! और कैसी विचित्रता है ! मैं केवल परपुद्गलकी शोभासे ही शोभित हो रहा हूँ। किसी और चीजसे रमणीयता धारण करनेवाले शरीरको मैं अपना कैसे मानूँ ? और कदाचित् ऐसा मानकर यदि मैं इसमें ममत्व भाव रक्खूँ तो वह भी केवल दुःखप्रद और वृथा है। इस मेरी आत्माका इस शरीरसे कभी न कभी वियोग होनेवाला है। जब आत्मा दूसरी देहको धारण करने चली जायगी तब इस देहके यहीं पड़े रहनेमें कोई भी शंका नहीं है। यह काया न तो मेरी हुई और न होगी, फिर मैं इसे अपनी मानता हूँ अथवा मानूँ यह केवल मूर्खता ही है। जिसका कभी न कभी वियोग होनेवाला है और जो केवल अन्यत्वभावको ही धारण किये हुए है उसमें ममत्व क्यों रखना चाहिये ? जब यह मेरी नहीं होती तो फिर क्या मुझे इसका होना उचित है ? नहीं, नहीं। जब यह मेरी नहीं तो मैं भी इसका नहीं, ऐसा विचारूँ, दृढ़ करूँ और आचरण करूँ यही विवेक-बुद्धिका अर्थ है। यह समस्त सृष्टि अनंत वस्तुओंसे और अनंत पदार्थोंसे भरी हुई है, उन सब पदार्थोंकी अपेक्षा जिसके समान मुझे एक भी वस्तु प्रिय नहीं वह वस्तु भी जब मेरी न हुई, तो फिर दूसरी कोई वस्तु मेरी कैसे हो

विचारकी स्फुरणा हुई । किस कारणसे यह उँगली ऐसी लगती है ? यह विचार करनेपर उसे मालूम हुआ कि इसका कारण केवल उँगलीमेंसे अँगूठीका निकल जाना ही है । इस बातको विशेषरूपसे प्रमाणित करनेके लिये उसने दूसरी उँगलीकी अँगूठी भी निकाल ली । जैसे ही दूसरी उँगलीमेंसे अँगूठी निकाली, वैसे ही वह उँगली भी शोभाहीन दिखाई देने लगी । फिर इस बातको सिद्ध करनेके लिये उसने तीसरी उँगलीमेंसे भी अँगूठी निकाल ली, इससे यह बात और भी प्रमाणित हुई । फिर चौथी उँगलीमेंसे भी अँगूठी निकाल ली, यह भी इसी तरह शोभाहीन दिखाई दी । इस तरह भरतने क्रमसे दसों उँगलियाँ खाली कर डालीं । खाली हो जानेसे ये सबकी सब उँगलियाँ शोभाहीन दिखाई देने लगीं । इनके शोभाहीन मालूम होनेसे राजराजेश्वर अन्यत्वभावनामें गद्गद होकर इस तरह बोले:—

अहो हो ! कैसी विचित्रता है कि भूमिसे उत्पन्न हुई वस्तुको कूटकर कुशलतापूर्वक घड़नेसे मुद्रिका बनी; इस मुद्रिकासे मेरी उँगली सुंदर दिखाई दी; इस उँगलीमेंसे इस मुद्रिकाके निकल पड़नेसे इससे विपरीत ही दृश्य दिखाई दिया । विपरीत दृश्यसे उँगलीकी शोभाहीनता और नंगापन खेदका कारण हो गया । शोभाहीन मालूम होनेका कारण केवल अँगूठीका न होना ही ठहरा न ! यदि अँगूठी होती तो मैं ऐसी अशोभा न देखता । इस मुद्रिकासे मेरी यह उँगली शोभाको प्राप्त हुई; इस उँगलीसे यह हाथ शोभित होता है; इस हाथसे यह शरीर शोभित होता है; फिर इसमें मैं किसकी शोभा मानूँ ! बड़े आश्चर्यकी बात है ! मेरी इस मानी जाती हुई मनोहर कांतिको और भी विशेष दीप्त करनेवाले ये मणि माणिक्य आदिके अलंकार और रंगबिरंगे वस्त्र ही सिद्ध हुए; यह कांति मेरी त्वचाकी शोभा सिद्ध हुई; यह त्वचा शरीरकी गुप्तताको ढँककर सुंदरता दिखाती है; अहो हो ! यह कैसी उलटी बात है ! जिस शरीरको मैं अपना मानता हूँ वह शरीर केवल त्वचासे, वह त्वचा कांतिसे, और वह कांति वस्त्रालंकारसे शोभित होती है; तो क्या फिर मेरे शरीरकी कुछ शोभा ही नहीं ! क्या यह केवल रुधिर, मांस और हाड़ोंका ही पंजर है ! और इस पंजरको ही मैं सर्वथा अपना मान रहा हूँ । कैसी भूल ! कैसी भ्रमणा ! और कैसी विचित्रता है ! मैं केवल परपुद्गलकी शोभासे ही शोभित हो रहा हूँ । किसी और चीज़से रमणीयता धारण करनेवाले शरीरको मैं अपना कैसे मानूँ ! और कदाचित् ऐसा मानकर यदि मैं इसमें ममत्व भाव रक्खूँ तो वह भी केवल दुःखप्रद और वृथा है । इस मेरी आत्माका इस शरीरसे कभी न कभी वियोग होनेवाला है । जब आत्मा दूसरी देहको धारण करने चली जायगी तब इस देहके यहीं पड़े रहनेमें कोई भी शंका नहीं है । यह काया न तो मेरी हुई और न होगी, फिर मैं इसे अपनी मानता हूँ अथवा मानूँ यह केवल मूर्खता ही है । जिसका कभी न कभी वियोग होनेवाला है और जो केवल अन्यत्वभावको ही धारण किये हुए है उसमें ममत्व क्यों रखना चाहिये ! जब यह मेरी नहीं होती तो फिर क्या मुझे इसका होना उचित है ? नहीं, नहीं । जब यह मेरी नहीं तो मैं भी इसका नहीं, ऐसा विचारूँ, दृढ करूँ और आचरण करूँ यही विवेक-बुद्धिका अर्थ है । यह समस्त सृष्टि अनेक वस्तुओंसे और अनेक पदार्थोंसे भरी हुई है, उन सब पदार्थोंमें [illegible] जिसके समान मुझे एक भी वस्तु प्रिय नहीं वह वस्तु भी जब मेरी न हुई, तो फिर दूसरी कोई वस्तु मेरी कैसे हो

मिथ्या ममत्वकी भ्रमणा दूर करनेके लिये और वैराग्यकी वृद्धिके लिये भावपूर्वक मनन करने योग्य राजराजेश्वर भरतके चरित्रको यहाँ उद्धृत करते हैं:—

भरतेश्वर

जिसकी अश्वशालामें रमणीय, चतुर और अनेक प्रकारके तेजी अश्वोंका समूह शोभायमान हो रहा था; जिसकी गजशालामें अनेक जातिके मदोन्मत्त हाथी झूम रहे थे; जिसके अंतःपुरमें नवयौवना, सुकुमारिका और मुग्धा स्त्रियाँ हजारोंकी संख्यामें शोभित हो रहीं थीं; जिसके खज़ानेमें विद्वानोंद्वारा चंचला उपमासे वर्णन की हुई समुद्रकी पुत्री लक्ष्मी स्थिर हो गई थी; जिसकी आज्ञाको देव-देवांगनायें आधीन होकर अपने मुकुट पर चढ़ा रहे थे; जिसके वास्ते भोजन करनेके लिये नाना प्रकारके षड्रस भोजन पल पलमें निर्मित होते थे; जिसके कोमल कर्णके विलासके लिये बारीक और मधुर स्वरसे गायन करनेवाली वारांगनायें तत्पर रहतीं थीं; जिसके निरीक्षण करनेके लिये अनेक प्रकारके नाटक तमाशे किये जाते थे; जिसकी यशःकीर्ति वायु रूपसे फैलकर आकाशके समान व्याप्त हो गई थी; जिसके शत्रुओंको सुखसे शयन करनेका समय न आया था; अथवा जिसके वैरियोंकी वनिताओंके नयनोंमेंसे सदा आँसू ही टपकते रहते थे; जिससे कोई शत्रुता दिखानेको तो समर्थ था ही नहीं, परन्तु जिसके सामने निर्दोषतासे उँगली दिखानेमें भी कोई समर्थ न था; जिसके समक्ष अनेक मंत्रियोंका समुदाय उसकी कृपाकी याचना करता था; जिसका रूप, कांति और सौंदर्य मनोहारक थे; जिसके अंगमें महान् बल, वीर्य, शक्ति और उग्र पराक्रम उछल रहे थे; जिसके क्रीड़ा करनेके लिये महासुगंधिमय बाग-बगीचे और वन उपवन बने हुए थे; जिसके यहाँ मुख्य कुलदीपक पुत्रोंका समुदाय था; जिसकी सेवामें लाखों अनुचर सज्ज होकर खड़े रहा करते थे; वह पुरुष जहाँ जहाँ जाता था वहाँ वहाँ क्षेम क्षेमके उद्गारोंसे, कंचनके कलशों और मोतियोंके थालसे बधाई दिया जाता था; जिसके कुंकुमवर्णके चरणकमलोंका स्पर्श करनेके लिये इन्द्र जैसे भी तरसते रहते थे; जिसकी आयुधशालामें महायशोमान दिव्य चक्रकी उत्पत्ति हुई थी, जिसके यहाँ साम्राज्यका अखंड दीपक प्रकाशमान था; जिसके सिरपर महान् छह खंडकी प्रभुताका तेजस्वी और प्रकाशमान मुकुट सुशोभित था; कहनेका अभिप्राय यह है कि जिसकी साधन-सामग्रीका, जिसके दलका, जिसके नगर, पुर और पट्टनका, जिसके वैभवका, और जिसके विलासका संसारमें किसी भी प्रकारसे न्यूनभाव न था; ऐसा वह श्रीमान् राजराजेश्वर भरत अपने सुंदर आदर्श-भुवनमें वस्त्राभूषणोंसे विभूषित होकर मनोहर सिंहासन पर बैठा था। चारों तरफके द्वार खुले थे; नाना प्रकारकी धूपोंका धूम्र सूक्ष्म रीतिसे फैल रहा था; नाना प्रकारके सुगंधित पदार्थ ज़ोरसे महँक रहे थे; नाना प्रकारके सुन्दर स्वरयुक्त वादित्र यान्त्रिक-कलासे स्वर खींच रहे थे; शीतल, मंद और सुगंधित वायुकी लहरें छूट रही थीं। आभूषण आदि पदार्थोंका निरीक्षण करते हुए वे श्रीमान् राजराजेश्वर भरत उस भुवनमें अनुपम जैसे दिखाई देते थे।

इनके हाथकी एक उँगलीमेंसे अँगूठी निकल पड़ी। भरतका ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ और उन्हें अपनी उँगली बिलकुल शोभाहीन मालूम होने लगी। नौ उँगलियें अँगूठियोंद्वारा जिस मनोहरताको धारण करतीं थीं उस मनोहरतासे रहित इस उँगलीको देखकर इसके ऊपरसे भरतेश्वरको अद्भुत मूल

विचारकी स्फुरणा हुई। किस कारणसे यह उँगली ऐसी लगती है? यह विचार करनेपर उसे मालूम हुआ कि इसका कारण केवल उँगलीमेंसे अँगूठीका निकल जाना ही है। इस बातको विशेषरूपसे प्रमाणित करनेके लिये उसने दूसरी उँगलीकी अँगूठी भी निकाल ली। जैसे ही दूसरी उँगलीमेंसे अँगूठी निकाली, वैसे ही वह उँगली भी शोभाहीन दिखाई देने लगी। फिर इस बातको सिद्ध करनेके लिये उसने तीसरी उँगलीमेंसे भी अँगूठी निकाल ली, इससे यह बात और भी प्रमाणित हुई। फिर चौथी उँगलीमेंसे भी अँगूठी निकाल ली, यह भी इसी तरह शोभाहीन दिखाई दी। इस तरह भरतने क्रमसे दसों उँगलियाँ खाली कर डाली। खाली हो जानेसे ये सबकी सब उँगलियाँ शोभाहीन दिखाई देने लगी। इनके शोभाहीन मालूम होनेसे राजराजेश्वर अन्यत्वभावनामें गद्गद होकर इस तरह बोले:—

अहो हो! कैसी विचित्रता है कि भूमिसे उत्पन्न हुई वस्तुको कूटकर कुशलतापूर्वक घड़नेसे मुद्रिका बनी; इस मुद्रिकासे मेरी उँगली सुंदर दिखाई दी; इस उँगलीमेंसे इस मुद्रिकाके निकल पड़नेसे इससे विपरीत ही दृश्य दिखाई दिया। विपरीत दृश्यसे उँगलीकी शोभाहीनता और नंगापन खेदका कारण हो गया। शोभाहीन मालूम होनेका कारण केवल अँगूठीका न होना ही ठहरा न? यदि अँगूठी होती तो मैं ऐसी अशोभा न देखता। इस मुद्रिकासे मेरी यह उँगली शोभाको प्राप्त हुई; इस उँगलीसे यह हाथ शोभित होता है; इस हाथसे यह शरीर शोभित होता है; फिर इसमें मैं किसकी शोभा मानूँ? बड़े आश्चर्यकी बात है! मेरी इस मानी जाती हुई मनोहर कांतिको और भी विशेष दीप्त करनेवाले ये मणि माणिक्य आदिके अलंकार और रंगबिरंगे वस्त्र ही सिद्ध हुए; यह कांति मेरी त्वचाकी शोभा सिद्ध हुई; यह त्वचा शरीरकी गुप्तताको ढँककर सुंदरता दिखाती है; अहो हो! यह कैसी उलटी बात है! जिस शरीरको मैं अपना मानता हूँ वह शरीर केवल त्वचासे, वह त्वचा कांतिसे, और वह कांति वस्त्रालंकारसे शोभित होती है; तो क्या फिर मेरे शरीरकी कुछ शोभा ही नहीं? क्या यह केवल रुधिर, मांस और हाड़ोंका ही पंजर है? और इस पंजरको ही मैं सर्वथा अपना मान रहा हूँ। कैसी भूल! कैसी भ्रमणा! और कैसी विचित्रता है! मैं केवल परपुद्गलकी शोभासे ही शोभित हो रहा हूँ। किसी और चीजसे रमणीयता धारण करनेवाले शरीरको मैं अपना कैसे मानूँ? और कदाचित् ऐसा मानकर यदि मैं इसमें ममत्व भाव रक्खूँ तो वह भी केवल दुःखप्रद और वृथा है। इस मेरी आत्माका इस शरीरसे कभी न कभी वियोग होनेवाला है। जब आत्मा दूसरी देहको धारण करने चली जायगी तब इस देहके यहीं पड़े रहनेमें कोई भी शंका नहीं है। यह काया न तो मेरी हुई और न होगी, फिर मैं इसे अपनी मानता हूँ अथवा मानूँ यह केवल मूर्खता ही है। जिसका कभी न कभी वियोग होनेवाला है और जो केवल अन्यत्वभावको ही धारण किये हुए है उसमें ममत्व क्यों रखना चाहिये? जब यह मेरी नहीं होती तो फिर क्या मुझे इसका होना उचित है? नहीं, नहीं। जब यह मेरी नहीं तो मैं भी इसका नहीं, ऐसा विचारूँ, दृढ़ करूँ और आचरण करूँ यही विवेक-बुद्धिका अर्थ है। यह समस्त सृष्टि अनंत वस्तुओंसे और अनंत पदार्थोंसे भरी हुई है, उन सब पदार्थोंकी अपेक्षा जिसके समान मुझे एक भी वस्तु प्रिय नहीं वह वस्तु भी जब मेरी न हुई, तो फिर दूसरी कोई वस्तु मेरी कैसे हो

कुछ जुदा ही है। यदि हम इस प्रकार अविवेक दिखावें तो फिर बंदरको भी मनुष्य गिननेमें क्या दोष है? इस विचारेको तो एक पूँछ और भी अधिक प्राप्त हुई है। परन्तु नहीं, मनुष्यत्वका मर्म यह है कि जिसके मनमें विवेक-बुद्धि उदय हुई है वही मनुष्य है, बाकी इसके सिवाय तो सभी दो पैरवाले पशु ही हैं। मेधावी पुरुष निरंतर इस मानवपनेका मर्म इसी तरह प्रकाशित करते हैं। विवेक-बुद्धिके उदयसे मुक्तिके राजमार्गमें प्रवेश किया जाता है, और इस मार्गमें प्रवेश करना ही मानवदेहकी उत्तमता है। फिर भी यह बात सदैव ध्यानमें रखनी उचित है कि वह देह तो सर्वथा अशुचिमय और अशुचिमय ही है। इसके स्वभावमें इसके सिवाय और कुछ नहीं।

भावनाबोध ग्रंथमें अशुचिभावनाके उपदेशके लिये प्रथम दर्शनके पाँचवें चित्रमें सनत्कुमारका दृष्टान्त और प्रमाणशिक्षा पूर्ण हुए।

अंतर्दर्शन

षष्ठ चित्र

निवृत्ति-बोध

हरिगीत छंद

अनंत सौख्य नाम दुःख त्यां रही न मित्रता!
अनंत दुःख नाम सौख्य प्रेम त्यां, विचित्रता!!
उघाड न्याय नेत्रने निहाळरे! निहाळ तुं!
निवृत्ति शीघ्रमेव धारि ते प्रवृत्ति बाळ तुं॥ १॥

विशेषार्थः—जिसमें एकांत और अनंत सुखकी तरंगें उछल रही हैं ऐसे शील-ज्ञानको केवल नाममात्रके दुःखसे तंग आकर उन्हें मित्ररूप नहीं मानता, और उनको एकदम भुला डालता है; और केवल अनंत दुःखमय ऐसे संसारके नाममात्र सुखमें तेरा परिपूर्ण प्रेम है, यह कैसी विचित्रता है! अहो चेतन! अब तू अपने न्यायरूपी नेत्रोंको खोलकर देख! रे देख!! देखकर शीघ्र ही निवृत्ति अर्थात् महावैराग्यको धारण कर और मिथ्या काम-भोगकी प्रवृत्तिको जला दे!

ऐसी पवित्र महानिवृत्तिको दृढ़ करनेके लिये उच्च वैराग्यवान् युवराज मृगापुत्रका मनन करने योग्य चरित्र यहाँ उद्धृत किया है। तू कैसे दुःखको सुख मान बैठा है! और कैसे सुखको दुःख मान बैठा है! इसे युवराजके मुख-वचन ही याथातथ्य सिद्ध करेंगे।

मृगापुत्र

नाना प्रकारके मनोहर वृक्षोंसे भरे हुए उद्यानोंसे सुशोभित सुग्रीव नामका एक नगर था। उस नगरमें बलभद्र नामका एक राजा राज्य करता था। उसकी मिष्टभाषिणी पटरानीका नाम मृगा था। इस दंपतिके बलश्री नामक एक कुमार उत्पन्न हुआ; किन्तु सब लोग इसे मृगापुत्र कहकर ही पुकारा करते थे। वह अपने माता पिताको अत्यन्त प्रिय था। इस युवराजने गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी संयतिके गुणोंको प्राप्त किया था। इस कारण वह दमीश्वर अर्थात् यतियोंमें अग्रेसर गिने जाने योग्य था। वह मृगापुत्र शिखरबद्ध आनन्दकारी प्रासादमें अपनी प्राणप्रियाके साथ दोगंदुक देवके समान विलास किया करता था। वह निरंतर प्रमोदसहित मनसे रहता था। उसके प्रासादका फर्श चंद्रकांत आदि मणि

विचारकी स्फुरणा हुई। किस कारणसे यह उँगली ऐसी लगती है? यह विचार करनेपर उसे मालूम हुआ कि इसका कारण केवल उँगलीमेंसे अँगूठीका निकल जाना ही है। इस बातको विशेषरूपसे प्रमाणित करनेके लिये उसने दूसरी उँगलीकी अँगूठी भी निकाल ली। जैसे ही दूसरी उँगलीमेंसे अँगूठी निकाली, वैसे ही वह उँगली भी शोभाहीन दिखाई देने लगी। फिर इस बातको सिद्ध करनेके लिये उसने तीसरी उँगलीमेंसे भी अँगूठी निकाल ली, इससे यह बात और भी प्रमाणित हुई। फिर चौथी उँगलीमेंसे भी अँगूठी निकाल ली, यह भी इसी तरह शोभाहीन दिखाई दी। इस तरह भरतने क्रमसे दसों उँगलियाँ खाली कर डालीं। खाली हो जानेसे ये सबकी सब उँगलियाँ शोभाहीन दिखाई देने लगीं। इनके शोभाहीन मालूम होनेसे राजराजेश्वर अन्यत्वभावनामें गद्गद होकर इस तरह बोले:—

अहो हो! कैसी विचित्रता है कि भूमिसे उत्पन्न हुई वस्तुको कूटकर कुशलतापूर्वक घड़नेसे मुद्रिका बनी; इस मुद्रिकासे मेरी उँगली सुंदर दिखाई दी; इस उँगलीमेंसे इस मुद्रिकाके निकल पड़नेसे इससे विपरीत ही दृश्य दिखाई दिया। विपरीत दृश्यसे उँगलीकी शोभाहीनता और नंगापन खेदका कारण हो गया। शोभाहीन मालूम होनेका कारण केवल अँगूठीका न होना ही ठहरा न? यदि अँगूठी होती तो मैं ऐसी अशोभा न देखता। इस मुद्रिकासे मेरी यह उँगली शोभाको प्राप्त हुई; इस उँगलीसे यह हाथ शोभित होता है; इस हाथसे यह शरीर शोभित होता है; फिर इसमें मैं किसकी शोभा मानूँ? बड़े आश्चर्यकी बात है! मेरी इस मानी जाती हुई मनोहर कांतिको और भी विशेष दीप्त करनेवाले ये मणि माणिक्य आदिके अलंकार और रंगबिरंगे वस्त्र ही सिद्ध हुए; यह कांति मेरी त्वचाकी शोभा सिद्ध हुई; यह त्वचा शरीरकी गुप्तताको ढँककर सुंदरता दिखाती है; अहो हो! यह कैसी उलटी बात है! जिस शरीरको मैं अपना मानता हूँ वह शरीर केवल त्वचासे, वह त्वचा कांतिसे, और वह कांति वस्त्रालंकारसे शोभित होती है; तो क्या फिर मेरे शरीरकी कुछ शोभा ही नहीं? क्या यह केवल रुधिर, मांस और हाड़ोंका ही पंजर है? और इस पंजरको ही मैं सर्वथा अपना मान रहा हूँ। कैसी भूल! कैसी भ्रमणा! और कैसी विचित्रता है! मैं केवल परपुद्गलकी शोभासे ही शोभित हो रहा हूँ। किसी और चीज़से रमणीयता धारण करनेवाले शरीरको मैं अपना कैसे मानूँ? और कदाचित् ऐसा मानकर यदि मैं इसमें ममत्व भाव रक्खूँ तो वह भी केवल दुःखप्रद और वृथा है। इस मेरी आत्माका इस शरीरसे कभी न कभी वियोग होनेवाला है। जब आत्मा दूसरी देहको धारण करने चली जायगी तब इस देहके यहीं पड़े रहनेमें कोई भी शंका नहीं है। यह काया न तो मेरी हुई और न होगी, फिर मैं इसे अपनी मानता हूँ अथवा मानूँ यह केवल मूर्खता ही है। जिसका कभी न कभी वियोग होनेवाला है और जो केवल अन्यत्वभावको ही धारण किये हुए है उसमें ममत्व क्यों रखना चाहिये? जब यह मेरी नहीं होती तो फिर क्या मुझे इसका होना उचित है? नहीं, नहीं। जब यह मेरी नहीं तो मैं भी इसका नहीं, ऐसा विचारूँ, दृढ़ करूँ और आचरण करूँ यही विवेक-बुद्धिका अर्थ है। यह समस्त सृष्टि अनंत वस्तुओंसे और अनंत पदार्थोंसे भरी हुई है, उन सब पदार्थोंकी अपेक्षा जिसके समान मुझे एक भी वस्तु प्रिय नहीं वह वस्तु भी जब मेरी न हुई, तो फिर दूसरी कोई वस्तु मेरी कैसे हो

मृगापुत्रके ऐसे वचनोंको सुनकर मृगापुत्रके माता पिता शोकार्त होकर बोले, हे पुत्र ! यह तू क्या कहता है ! चारित्रका पालना बहुत कठिन है । उसमें यतियोंको क्षमा आदि गुणोंको धारण करना पड़ता है, उन्हें निबाहना पड़ता है, और उनकी यत्नसे रक्षा करनी पड़ती है। संयतिको मित्र और शत्रुमें समभाव रखना पड़ता है । संयतिको अपनी और दूसरोंकी आत्माके ऊपर समबुद्धि रखनी पड़ती है, अथवा सम्पूर्ण जगत्के ही ऊपर समानभाव रखना पड़ता है—ऐसे पालनेमें दुर्लभ प्राणातिपातविरति नामके प्रथम व्रतको जीवनपर्यन्त पालना पड़ता है। संयतिको सदैव अप्रमादपनेसे मृषा वचनका त्याग, हितकारी वचनका बोलना—ऐसे पालनेमें दुष्कर दूसरे व्रतको धारण करना पड़ता है । संयतिको दंतशोधनके लिये एक सींकतक भी बिना दिये हुए न लेना, निर्दोष और दोषरहित भिक्षाका ग्रहण करना—ऐसे पालनेमें दुष्कर तीसरे व्रतको धारण करना पड़ता है । काम-भोगके स्वादको जानने और अब्रह्मचर्य धारण करनेका त्याग करके संयतिको ब्रह्मचर्यरूप चौथे व्रतको धारण करना पड़ता है, जिसका पालन करना बहुत कठिन है । धन, धान्य, दासका समुदाय, परिग्रह ममत्वका त्याग, सब प्रकारके आरंभका त्याग, इस तरह सर्वथा निर्ममत्वसे यह पाँचवा महाव्रत धारण करना संयतिको अत्यन्त ही विकट है । रात्रिभोजनका त्याग, और घृत आदि पदार्थोंके बासी रखनेका त्याग, यह भी अति दुष्कर है।

हे पुत्र ! तू चारित्र चारित्र क्या रटता है ! क्या चारित्र जैसी दूसरी कोई भी दुःखप्रद वस्तु है ? हे पुत्र ! क्षुधाका परिषह सहन करना, तृषाका परिषह सहन करना, ठंडका परिषह सहन करना, उष्ण तापका परिषह सहन करना, डाँस मच्छरका परिषह सहन करना, आक्रोश परिषह सहन करना, उपाश्रयका परिषह सहन करना, तृण आदि स्पर्शोंका परिषह सहन करना, मलका परिषह सहन करना, निश्चय मान कि ऐसा चारित्र कैसे पाला जा सकता है ? बधका परिषह, और बंधके परिषह कैसे विकट हैं ! भिक्षाचरी कैसी दुर्लभ है ! याचना करना कैसा दुर्लभ है ! याचना करनेपर भी कुछ न मिलना यह अलाभ परिषह कितना कठिन है ! कायर पुरुषोंके हृदयको भेद डालनेवाला केशलोच कैसा विकट है ! तू विचार कर, कर्म-वैरीके लिये रौद्ररूप ब्रह्मचर्य व्रतका पालना कैसा दुर्लभ है ! सचमुच, अधीर आत्माको यह सब अति अति विकट है ।

प्रिय पुत्र ! तू सुख भोगनेके योग्य है । तेरा सुकुमार शरीर अति रमणीय रीतिसे निर्मल स्नान करनेके लिये सर्वथा योग्य है । प्रिय पुत्र ! निश्चय ही तू चारित्रको पालनेमें समर्थ नहीं है । यावज्जीवन भी विश्राम नहीं । संयतिके गुणोंका महासमुदाय लोहेकी तरह बहुत भारी है । संयमके भारका वहन करना अत्यन्त ही विकट है । जैसे आकाश-गंगाके प्रवाहके सामने जाना दुष्कर है, वैसे ही यौवन वयमें संयमका पालना महादुष्कर है । जैसे स्रोतके विरुद्ध जाना कठिन है, वैसे ही यौवन अवस्थामें संयमका पालना महाकठिन है । जैसे भुजाओंसे समुद्रका पार करना दुष्कर है, वैसे ही युवा वयमें संयमगुण-समुद्रका पार करना महादुष्कर है । जैसे रेतका कौर नीरस है, वैसे ही संयम भी नीरस है । जैसे खड्गकी धारके ऊपर चलना विकट है, वैसे ही तपका आचरण करना महाविकट है । जैसे सर्प एकान्त अर्थात् सीधी दृष्टिसे चलता है, वैसे ही चारित्रमें ईर्यासमितिके लिये एकान्तरूपसे चलना महादुष्कर है । हे प्रिय पुत्र ! जैसे लोहेके चनोंको चबाना कठिन है वैसे ही संयमका पालना भी कठिन है । जैसे अग्निकी शिखाका पान करना दुष्कर है वैसे ही यौवनमें यतिपना अंगीकार करना महादुष्कर है । जैसे अत्यंत मंद संहननके धारक कायर पुरुषका ... करना और पालना दुष्कर है; जैसे तराजूसे मेरु पर्वतका तौलना दुष्कर है, वैसे ही ...

और विविध रत्नोंसे जड़ा हुआ था। एक दिन वह कुमार अपने झरोखेमें बैठा हुआ था। वहाँसे नगरका परिपूर्ण रूपसे निरीक्षण होता था। इतनेमें मृगापुत्रकी दृष्टि चार राजमार्ग मिलनेवाले चौराहेके उस संगम-स्थानपर पड़ी जहाँ तीन राजमार्ग मिलते थे। उसने वहाँ महातप, महानियम, महासंयम, महाशील और महागुणोंके धामरूप एक शांत तपस्वी साधुको देखा। ज्यों ज्यों समय बीतता जाता था, त्यों त्यों उस मुनिको वह मृगापुत्र निरख निरखकर देख रहा था।

ऐसा निरीक्षण करनेसे वह इस तरह बोल उठा—जान पड़ता है कि मैंने ऐसा रूप कहीं देखा है, और ऐसा बोलते बोलते उस कुमारको शुभ परिणामोंकी प्राप्ति हुई, उसका मोहका पड़दा हट गया, और उसके भावोंकी उपशमता होनेसे उसे तत्क्षण जातिस्मरण ज्ञान उदित हुआ। पूर्वजातिका स्मरण उत्पन्न होनेसे महाऋद्धिके भोक्ता उस मृगापुत्रको पूर्वके चारित्रका भी स्मरण हो आया। वह शीघ्र ही उन विषयोंमें विरक्त हुआ, और संयमकी ओर आकृष्ट हुआ। उसी समय वह माता पिताके समीप आकर बोला कि मैंने पूर्वभवमें पाँच महाव्रतोंके विषयमें सुना था; नरकके अनंत दुःखोंको सुना था, और तिर्यंचगतिके भी अनंत दुःखोंको सुना था। इन अनंत दुःखोंसे दुःखित होकर मैं उनसे निवृत्त होनेका अभिलाषी हुआ हूँ। हे गुरुजनो! संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये मुझे उन पाँच महाव्रतोंको धारण करनेकी आज्ञा दो।

कुमारके निवृत्तिपूर्ण वचनोंको सुनकर उसके माता पिताने उसे भोगोंको भोगनेका आमंत्रण दिया। आमंत्रणके वचनोंसे खेदखिन्न होकर मृगापुत्र ऐसे कहने लगा, कि हे माता पिता! जिन भोगोंके भोगनेका आप मुझे आमंत्रण कर रहे हैं उन भोगोंको मैंने खूब भोग लिया है। वे भोग विषफल—किंपाक वृक्षके फलके समान हैं; वे भोगनेके बाद कड़वे विपाकको देते हैं; और सदैव दुःखोत्पत्तिके कारण हैं। यह शरीर अनित्य और सर्वथा अशुचिमय है; अशुचिसे उत्पन्न हुआ है; यह जीवका अशाश्वत वास है, और अनंत दुःखका हेतु है। यह शरीर रोग, जरा और क्लेश आदिका भाजन है। इस शरीरमें मैं रति कैसे करूँ? इस बातका कोई नियम नहीं कि इस शरीरको बचपनमें छोड़ देना पड़ेगा अथवा बुढ़ापेमें! यह शरीर पानीके फेनके बुदबुदेके समान है। ऐसे शरीरमें स्नेह करना कैसे योग्य हो सकता है? मनुष्यभवमें इस शरीरके पाकर यह शरीर कोढ़, ज्वर आदि व्याधिसे और जरा मरणसे ग्रस्त रहता है, उसमें मैं क्यों प्रेम करूँ?

जन्मका दुःख, जराका दुःख, रोगका दुःख, मरणका दुःख—इस तरह इस संसारमें केवल दुःख ही दुःख है। भूमि—क्षेत्र, घर, कंचन, कुटुंब, पुत्र, प्रमदा, बांधव इन सबको छोड़कर केवल क्लेश पाकर इस शरीरको छोड़कर अवश्य ही जाना पड़ेगा। जिस प्रकार किंपाक वृक्षके फलका परिणाम सुखदायक नहीं होता वैसे ही भोगका परिणाम भी सुखदायक नहीं होता। जैसे कोई पुरुष महाप्रवास शुरू करे किन्तु साथमें अन्नपानी न ले, तो आगे जाकर जैसे वह क्षुधा-तृषासे दुःखी होता है, वैसे ही धर्मका आचरण न करनेसे परभवमें जाता हुआ पुरुष दुःखी होता है, और जन्म, जरा आदिसे पीड़ित होता है। जिस प्रकार महाप्रवासमें जानेवाला पुरुष अन्नजल आदि साथमें लेनेसे क्षुधा-तृषासे रहित होकर सुखसे जाता है वैसे ही धर्मका आचरण करनेवाला पुरुष परभवमें जाता हुआ सुखको प्राप्त होता है; अल्प कर्मरहित होता है; और असातावेदनीयसे रहित होता है। हे गुरुजनो! जैसे जिस समय किसी गृहस्थका घर जलने लगता है, उस समय [illegible] [illegible] [illegible] ([illegible]) [illegible]

मैं परवशतासे मृगकी तरह अनंतबार पाशमें पकड़ा गया था। परमाधार्मिकोंने मुझे मगर मच्छके रूपमें जाल डालकर अनंतबार दुःख दिया था। मुझे बाजके रूपमें पक्षीकी तरह जालमें फँसाकर अनंतबार मारा था। फरसा इत्यादि शस्त्रोंसे मुझे अनंतोंबार वृक्षकी तरह काटकर मेरे छोटे छोटे टुकड़े किये थे। जैसे लुहार हथोड़ों आदिके प्रहारसे लोहेको पीटता है वैसे ही मुझे भी पूर्वकालमें परमाधार्मिकोंने अनंतोंबार कूटा था। तांबा, लोहा और सीसेको अग्निमें गलाकर उनका कलकल शब्द करता हुआ रस मुझे अनंतबार पिलाया था। अति रौद्रतासे वे परमाधार्मिक मुझे ऐसा कहते जाते थे कि पूर्वभवमें तुझे माँस प्रिय था, अब ले यह माँस। इस तरह मैंने अपने ही शरीरके खंड खंड टुकड़े अनंतबार गटके थे। मद्यकी प्रियताके कारण भी मुझे इससे कुछ कम दुःख नहीं सहने पड़े। इस तरह मैंने महाभयसे, महात्राससे और महादुःखसे थरथर कांपते हुए अनंत वेदना भोगी थी। जो वेदनायें सहनेमें अति तीव्र, रौद्र और उत्कृष्ट काल स्थितिकी हैं, और जो सुननेमें भी अति भयंकर हैं ऐसी वेदनायें उस नरकमें मैंने अनंतबार भोगी थीं। जैसी वेदना मनुष्यलोकमें दिखाई देती है उससे भी अनन्तगुनी अधिक असातावेदनीय नरकमें थी। मैंने सर्व भवोंमें असातावेदनीय भोगी है। वहाँ क्षणमात्र भी सुख न था।

इस प्रकार मृगापुत्रने वैराग्यभावसे संसारके परिभ्रमणके दुःखको कहा। इसके उत्तरमें उनके माता पिता इस तरह बोले, कि हे पुत्र! यदि तेरी इच्छा दीक्षा लेनेकी है तो तू दीक्षा ग्रहण कर, परंतु चारित्रमें रोगोत्पत्तिके समय तेरी दवाई कौन करेगा? दुःखनिवृत्ति कौन करेगा? इसके बिना बड़ी कठिनता होगी! मृगापुत्रने कहा यह ठीक है, परन्तु आप विचार करें कि वनमें मृग और पक्षी अकेले ही रहते हैं, जब उन्हें रोग उत्पन्न होता है तो उनकी चिकित्सा कौन करता है? जैसे वनमें मृग अकेले ही विहार करते हैं वैसे ही मैं भी चारित्र-वनमें विहार करूँगा, और सत्रह प्रकारके शुद्ध संयममें अनुरागी होऊँगा, बारह प्रकारके तपका आचरण करूँगा, तथा मृगचर्यासे विचरूँगा। जब मृगको वनमें रोगका उपद्रव होता है, तो वहाँ उसकी चिकित्सा कौन करता है? ऐसा कहकर वे पुनः बोले, कि उस मृगको कौन औषधि देता है? उस मृगके आनन्द, शांति और सुखको कौन पूछता है? उस मृगको आहार जल कौन लाकर देता है? जैसे वह मृग उपद्रवरहित होनेके बाद गहन वनमें जहाँ सरोवर होता है, वहाँ जाता है, और घास पानी आदिका सेवन करके फिर स्वेच्छापूर्वक वनमें विचरता है वैसे ही मैं भी विचरूँगा। सारांश यह है कि मैं इस प्रकारकी मृगचर्याका आचरण करूँगा। इस तरह मैं भी मृगके समान संयमवान होऊँगा। अनेक स्थलोंमे विचरता हुआ यति मृगके समान अप्रतिबद्ध रहे, यतिको चाहिये वह मृगके समान विचरकर मृगचर्याका सेवन करके, उससे एकाकी विचरे। जैसे मृग, तृण जल आदिकी गोचरी करता है वैसे ही यति भी गोचरी करके संयम भारका निर्वाह करे। वह दुराहारके लिये गृहस्थका तिरस्कार अथवा उसकी निंदा न करे, मैं ऐसे संयमका आचरण करूँगा।

'एवं पुत्ता जहासुहं' —हे पुत्र! जैसे तुझे सुख हो वैसे कर! इस प्रकार माता पिताने आज्ञा दे दी। आज्ञा मिलते ही जैसे महानाग कांचली त्यागकर चला जाता है, वैसे ही वह मृगापुत्र संसारको नष्ट करके संयम-धर्ममें सावधान हुआ और कंचन, कामिनी, मित्र, पुत्र, ज्ञाति और सगे संबंधियोंका परित्यागी हुआ। जैसे वस्त्रको झटककर धूलको झाड़ डालते हैं उसी तरह वह भी समस्त प्रपंचको त्यागकर दीक्षा लेनेके लिये निकल पड़ा। वह पवित्र पाँच महाव्रतोंसे युक्त

मैं परवशतासे मृगकी तरह अनंतवार पाशमें पकड़ा गया था। परमाधार्मिकोंने मुझे मच्छके रूपमें जाल डालकर अनंतवार दुःख दिया था। मुझे बाजके रूपमें पक्षीकी तरह जालमें फँसाकर अनंतवार मारा था। फरसा इत्यादि शस्त्रोंसे मुझे अनंतोंवार वृक्षकी तरह काटकर मेरे छोटे छोटे टुकड़े किये थे। जैसे लुहार हथोड़ों आदिके प्रहारसे लोहेको पीटता है वैसे ही मुझे भी पूर्वके परमाधार्मिकोंने अनंतोंवार कूटा था। तांबा, लोहा और सीसेको अग्निमें गलाकर उनका कल कल शब्द करता हुआ रस मुझे अनंतवार पिलाया था। अति रौद्रतासे वे परमाधार्मिक मुझे ऐसा कहते थे कि पूर्वभवमें तुझे माँस प्रिय था, अब ले यह माँस। इस तरह मैंने अपने ही शरीरके खंड खंड टुकड़े अनंतवार गटके थे। मद्यकी प्रियताके कारण भी मुझे इससे कुछ कम दुःख नहीं सहने पड़े। इस तरह मैंने महाभयसे, महात्राससे और महादुःखसे थरथर कांपते हुए अनंत वेदना भोगी थी। जो वेदनायें सहनेमें अति तीव्र, रौद्र और उत्कृष्ट काल स्थितिकी हैं, और जो सुननेमें भी अति भयंकर हैं, वे वेदनायें उस नरकमें मैंने अनंतवार भोगी थीं। जैसी वेदना मनुष्यलोकमें दिखाई देती है उससे भी अनंतगुनी अधिक असातावेदनीय नरकमें थी। मैंने सर्व भवोंमें असातावेदनीय भोगी है। वहाँ क्षणमात्र भी सुख न था।

इस प्रकार मृगापुत्रने वैराग्यभावसे संसारके परिभ्रमणके दुःखको कहा। इसके उत्तरमें उसके माता पिता इस तरह बोले, कि हे पुत्र! यदि तेरी इच्छा दीक्षा लेनेकी है तो तू दीक्षा ग्रहण कर, परंतु चारित्रमें रोगोत्पत्तिके समय तेरी दवाई कौन करेगा? दुःखनिवृत्ति कौन करेगा? इससे बड़ी कठिनता होगी! मृगापुत्रने कहा यह ठीक है, परन्तु आप विचार करें कि वनमें मृग और पक्षी अकेले ही रहते हैं, जब उन्हें रोग उत्पन्न होता है तो उनकी चिकित्सा कौन करता है? जैसे वनमें मृग अकेले ही विहार करते हैं वैसे ही मैं भी चारित्र-वनमें विहार करूँगा, और सत्रह प्रकारके शुद्ध संयममें अनुरागी होऊँगा, बारह प्रकारके तपका आचरण करूँगा, तथा मृगचर्यासे विचरूँगा। जब मृगको वनमें रोगका उपद्रव होता है, तो वहाँ उसकी चिकित्सा कौन करता है? ऐसा कहकर वह पुनः बोला, कि उस मृगको कौन औषधि देता है? उस मृगके आनन्द, शांति और सुखको कौन पूँछता है? उस मृगको आहार जल कौन लाकर देता है? जैसे वह मृग उपद्रवरहित होनेके बाद गहन वनमें जहाँ सरोवर होता है, वहाँ जाता है, और घास पानी आदिका सेवन करके फिर स्वेच्छापूर्वक रूपसे विचरता है वैसे ही मैं भी विचरूँगा। सारांश यह है कि मैं इस प्रकारकी मृगचर्याका आचरण करूँगा। इस तरह मैं भी मृगके समान संयमवान होऊँगा। अनेक स्थलोंमें विचरता हुआ यति मृगके समान अप्रतिबद्ध रहे; यतिको चाहिये वह मृगके समान विचरकर मृगचर्याका सेवन करके, सावद्य त्याग करके विचरे। जैसे मृग, तृण जल आदिकी गोचरी करता है वैसे ही यति भी गोचरी करके संयम भारका निर्वाह करे। वह दुराहारके लिये गृहस्थका तिरस्कार अथवा उसकी निंदा न करे, मैं ऐसे संयमका आचरण करूँगा।

'**एवं पुत्तो जहासुखं**'—हे पुत्र! जैसे तुझे सुख हो वैसे कर! इस प्रकार माता पिताने आज्ञा दे दी। आज्ञा मिलते ही जैसे महानाग कांचली त्यागकर चला जाता है, वैसे ही वह मृगापुत्र ममत्वभावको नष्ट करके संसारको त्यागकर संयम-धर्ममें सावधान हुआ और कंचन, कामिनी, मित्र, पुत्र, ज्ञाति और सगे संबंधियोंका परित्यागी हुआ। जैसे वस्त्रको झटककर धूलको झाड़ डालते हैं वैसे ही वह भी समस्त प्रपंचको त्यागकर दीक्षा लेनेके लिये निकल पड़ा। वह पवित्र पाँच महाव्रतोंसे

हुआ; पाँच समितियोंसे सुशोभित हुआ; त्रिगुप्तियोंसे गुप्त हुआ; बाह्य और अभ्यंतर द्वादश तपसे संयुक्त हुआ; ममत्वरहित हुआ; निरहंकारी हुआ; स्त्रियों आदिके संगसे रहित हुआ; और इसका समस्त प्राणियोंमें समभाव हुआ। आहार जल प्राप्त हो अथवा न हो, सुख हो या दुःख हो, जीवन हो या मरण हो, कोई स्तुति करो अथवा कोई निंदा करो, कोई मान करो अथवा अपमान करो, वह उन सबपर समभावी हुआ। वह ऋद्धि, रस और सुख इन तीन गर्वोंके अहंपदसे विरक्त हुआ; मनदंड, वचनदंड और कायदंडसे निवृत्त हुआ; चार कषायोंसे मुक्त हुआ; वह मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यात्वशल्य इन तीन शल्योंसे विरक्त हुआ; सात महाभयोंसे भयरहित हुआ; हास्य और शोकसे निवृत्त हुआ, निदानरहित हुआ; राग द्वेषरूपी बंधनसे छूट गया; वाँछारहित हुआ; सब प्रकारके विलाससे रहित हुआ; और कोई तलवारसे काटे या कोई चंदनका विलेप करे उसपर समभावी हुआ। उसने पापके आनेके सब द्वारोंको बंद कर दिया; वह शुद्ध अंतःकरण सहित धर्मध्यान आदि व्यापारमें प्रशस्त हुआ; जिनेन्द्र-शासनके तत्त्वोंमें परायण हुआ; वह ज्ञानसे, आत्मचारित्रसे, सम्यक्त्वसे, तपसे और प्रत्येक महाव्रतकी पाँच पाँच भावनाओंसे अर्थात् पाँचों महाव्रतोंकी पच्चीस भावनाओंसे, और निर्मलतासे अनुपम रूपसे विभूषित हुआ। अंतमें वह महाज्ञानी युवराज मृगापुत्र सम्यक् प्रकारसे बहुत वर्षतक आत्मचारित्रकी सेवा करके एक मासका अनशन करके सर्वोत्तम मोक्षगतिमें गया।

प्रमाणशिक्षाः—तत्त्वज्ञानियोंद्वारा सप्रमाण सिद्धकी हुई द्वादश भावनाओंमें की संसारभावनाको दृढ़ करनेके लिये यहाँ मृगापुत्रके चरित्रका वर्णन किया गया है। संसार-अटवीमें परिभ्रमण करनेमें अनंत दुःख है यह विवेक-सिद्ध है; और इसमें भी जिसमें निमेषमात्र भी सुख नहीं ऐसी नरक अधोगतिके अनंत दुःखोंको युवक ज्ञानी योगीन्द्र मृगापुत्रने अपने माता पिताके सामने वर्णन किया है। वह केवल संसारसे मुक्त होनेका वीतरागी उपदेश देता है। आत्म-चारित्रके धारण करनेपर तप, परिषह आदिके बाह्य दुःखको दुःख मानना और महा अधोगतिके भ्रमणरूप अनंत दुःखको बहिर्भाव मोहिनीसे सुख मानना, यह देखो कैसी भ्रमविचित्रता है! आत्म-चारित्रका दुःख दुःख नहीं, परन्तु वह परम सुख है, और अन्तमें वह अनंतसुख-तरंगकी प्राप्तिका कारण है। इसी तरह भोगविलास आदिका सुख भी क्षणिक और बहिर्दृश्य सुख केवल दुःख ही है, वह अन्तमें अनंत दुःखका कारण है; यह बात सप्रमाण सिद्ध करनेके लिये महाज्ञानी मृगापुत्रके वैराग्यको यहाँ दिखाया है। इस महाप्रभाववान, महायशोमान मृगापुत्रकी तरह जो साधु तप आदि और आत्म-चारित्र आदिका शुद्धाचरण करता है, वह उत्तम साधु त्रिलोकमें प्रसिद्ध और सर्वोत्तम परमसिद्धिदायक सिद्धगतिको पाता है। तत्त्वज्ञानी संसारके ममत्वको दुःखवृद्धिरूप मानकर इस मृगापुत्रकी तरह परम सुख और परमानंदके कारण ज्ञान, दर्शन चारित्ररूप दिव्य चिंतामणिकी आराधना करते हैं।

महर्षि मृगापुत्रका सर्वोत्तम चरित्र (संसारभावनाके रूपसे) संसार-परिभ्रमणकी निवृत्तिका और उसके साथ अनेक प्रकारकी निवृत्तियोंका उपदेश करता है। इसके ऊपरसे अंतर्दर्शनका नाम निवृत्तिबोध रखकर आत्म-चारित्रकी उत्तमताका वर्णन करते हुए मृगापुत्रका यह चरित्र यहाँ पूर्ण होता है। तत्त्वज्ञानी सदा ही संसार-परिभ्रमणकी निवृत्ति और सावद्य उपकरणकी निवृत्तिका पवित्र विचार करते रहते हैं।

इस प्रकार अंतर्दर्शनके संसारभावनारूप छट्ठे चित्रमें मृगापुत्र चरित्र समाप्त हुआ।

संवरभावना-द्वितीय दृष्टांत
श्रीवज्रस्वामी

श्रीवज्रस्वामी कंचन-कामिनीके द्रव्य-भावसे सम्पूर्णतया परित्यागी थे। किसी श्रीमंतकी रुक्मिणी नामकी मनोहारिणी पुत्री वज्रस्वामीके उत्तम उपदेशको श्रवण करके उनपर मोहित हो गई। उसने घर आकर माता पितासे कहा कि यदि मैं इस देहसे किसीको पति बनाऊँ तो केवल वज्रस्वामीको ही बनाऊँगी! किसी दूसरेके साथ संलग्न न होनेकी मेरी प्रतिज्ञा है। रुक्मिणीको उसके माता पिताने बहुत कुछ समझाया, और कहा कि पगली! विचार तो सही कि कहीं मुनिराज भी विवाह करते हैं? इन्होंने तो आश्रव-द्वारको सत्य प्रतिज्ञा ग्रहण की है, तो भी रुक्मिणीने न माना। निरुपाय होकर धनावा सेठने बहुतसा द्रव्य और सुरूपा रुक्मिणीको साथमें लिया, और जहाँ वज्रस्वामी विराजते थे, वहाँ आकर उनसे कहा कि इस लक्ष्मीका आप यथारुचि उपयोग करें, इसे वैभव-विलासमें काममें लें; और इस मेरी महासुकोमला रुक्मिणी पुत्रीसे पाणिग्रहण करें। ऐसा कहकर वह अपने घर चला आया।

यौवन-सागरमें तैरती हुई रूपकी राशि रुक्मिणीने वज्रस्वामीको अनेक प्रकारसे भोगोंका उपदेश दिया; अनेक प्रकारसे भोगके सुखोंका वर्णन किया; मनमोहक हावभाव तथा अनेक प्रकारके चलायमान करनेवाले बहुतसे उपाय किये; परन्तु वे सब वृथा गये। महासुंदरी रुक्मिणी अपने मोह-कटाक्षमें निष्फल हुई। उग्रचरित्र विजयमान वज्रस्वामी मेरुकी तरह अचल और अडोल रहे। रुक्मिणीके मन, वचन और तनके सब उपदेशों और हावभावसे वे लेशमात्र भी नहीं पिघले। ऐसी महाविशाल दृढ़ता देखकर रुक्मिणी समझ गई, और उसने निश्चय किया कि ये समर्थ जितेन्द्रिय महात्मा कभी भी चलायमान होनेवाले नहीं। लोहे और पत्थरका पिघलाना सुलभ है, परन्तु इस महापवित्र साधु वज्रस्वामीको पिघलानेकी आशा निरर्थक ही है, और वह अधोगतिका कारण है। ऐसे विचार कर उस रुक्मिणीने अपने पिताकी दी हुई लक्ष्मीको शुभ क्षेत्रमें लगाकर चारित्रको ग्रहण किया; मन, वचन और कायाको अनेक प्रकारसे दमन करके आत्म-कल्याणकी साधना की, इसे तत्त्वज्ञानी सम्वरभावना कहते हैं।

इस प्रकार अष्टम चित्रमें संवरभावना समाप्त हुई।

नवम चित्र
निर्जराभावना

बारह प्रकारके तपसे कर्मोंके समूहको जलाकर भस्मीभूत कर डालनेका नाम निर्जराभावना है। बारह प्रकारके तपमें छह प्रकारका बाह्य और छह प्रकारका अभ्यंतर तप है। अनशन, ऊनोदरी वृत्तिसंक्षेप, रसपरित्याग, कायक्लेश और संलीनता ये छह बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, शास्त्रपठन, ध्यान, और कायोत्सर्ग ये छह अभ्यंतर तप हैं। निर्जरा दो प्रकारकी है—एक अकाम निर्जरा और दूसरी सकाम निर्जरा। निर्जराभावनापर हम एक विप्र-पुत्रका दृष्टांत कहते हैं।

दृढ़प्रहारी

किसी ब्राह्मणने अपने पुत्रको सप्तव्यसनका भक्त जानकर अपने घरसे निकाल दिया। वह वहाँसे निकल पड़ा, और जाकर चोरोंकी मंडलीमें जा मिला। उस मंडलीके अगुआने उसे अपने काममें पराक्रमी देखकर उसे अपना पुत्र बनाकर रक्खा। वह विप्रपुत्र दुष्टोंके दमन करनेमें दृढ़प्रहारी सिद्ध हुआ, इसके ऊपरसे इसका उपनाम दृढ़प्रहारी पड़ा। वह दृढ़प्रहारी चोरोंका अगुआ हो गया, और नगर और ग्रामोंके नाश करनेमें प्रबल छातीवाला सिद्ध हुआ। उसने बहुतसे प्राणियोंके

श्रीमद् राजचंद्र.

वर्ष १९ मुं. वि. सं. १९४२.

Lakshmi Art, Bombay 8

१२ ज्ञानियोंद्वारा एकत्र की हुई अद्भुत निधिके उपभोगी बनो।

१३ स्त्री जातिमें जितना माया-कपट है उतना भोलापन भी है।

१४ पठन करनेकी अपेक्षा मनन करनेकी ओर विशेष लक्ष देना।

१५ महापुरुषके आचरण देखनेकी अपेक्षा उनका अंतःकरण देखना यह अधिक उत्तम है।

१६ वचनसप्तशतीको पुनः पुनः स्मरणमें रक्खो।

१७ महात्मा होना हो तो उपकारबुद्धि रक्खो; सत्पुरुषके समागममें रहो; आहार, विहार आदिमें अलुब्ध और नियमित रहो; सत्शास्त्रका मनन करो; और ऊँची श्रेणीमें लक्ष रक्खो।

१८ यदि इनमेंसे एक भी न हो तो समझकर आनंद रखना सीखो।

१९ बर्तावमें बालक बनो, सत्यमें युवा बनो, और ज्ञानमें वृद्ध बनो।

२० पहिले तो राग करना ही नहीं, यदि करना ही हो तो सत्पुरुषपर करना; इसी तरह पहिले तो द्वेष करना ही नहीं, और यदि करना हो तो कुशीलपर करना।

२१ अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतचारित्र और अनंतवीर्यसे अभिन्न ऐसी आत्माका एक पल भर भी तो विचार करो।

२२ जिसने मनको वशमें किया, उसने जगत्को वश किया।

२३ इस संसारको क्या करें ? अनंतबार हुई माँको ही आज हम स्त्रीरूपसे भोगते हैं।

२४ निर्ग्रंथता धारण करनेसे पहिले पूर्ण विचार करना; इसके कारण दोष लगानेकी अपेक्षा अल्पारंभी होना।

२५ समर्थ पुरुष कल्याणका स्वरूप पुकार पुकारकर कह गये हैं, परन्तु वह किसी विरलेको ही यथार्थरूपसे समझमें आया है।

२६ स्त्रीके स्वरूपपर होनेवाले मोहको रोकनेके लिये त्वचा बिनाके उसके रूपका बारंबार चिंतवन करना योग्य है।

२७ जैसे छाछसे शुद्ध किया हुआ संखिया शरीरको नीरोग करता है वैसे ही कुपात्र भी सत्पुरुषके रक्खे हुए हाथसे पात्र बन जाता है।

२८ जैसे तिरछी आँख करनेसे दो चंद्र दीख पड़ते हैं उसी तरह यद्यपि आत्माका सत्य स्वरूप एक शुद्ध सच्चिदानंदमय है तो भी वह भ्रांतिसे भिन्न ही भासित होता है।

२९ यथार्थ वचन ग्रहण करनेमें दंभ नहीं रखना, और ऐसे वचनोंके उपदेश देनेवालेका उपकार भुलाना नहीं।

३० हमने बहुत विचार करके इस मूल तत्त्वकी खोज की है कि—" गुप्त चमत्कार ही सृष्टिके लक्षमें नहीं है।"

३१ बच्चेको रुलाकर भी उसके हाथमेंका संखिया ले लेना।

३२ निर्मल अंतःकरणसे आत्माका विचार करना योग्य है।

५८ फिर जिससे धर्म और शुक्लध्यानमें प्रवृत्ति करो।

५९ परिग्रहकी मूर्छा पापका मूल है।

६० जिस कृत्यके करते समय व्यामोहयुक्त खेदमें रहते हो, और अन्तमें भी पछताते हो, तो ज्ञानी लोग उस कृत्यको पूर्वकर्मका ही दोष कहते हैं।

६१ मुझे जड़ भरत और विदेही जनककी दशा प्राप्त होओ।

६२ जो सत्पुरुषोंद्वारा अंतःकरणपूर्वक आचरण किया गया है अथवा कहा गया है, वही धर्म।

६३ जिसकी अतरंग मोहकी ग्रंथी नष्ट हो गई हो वही परमात्मा है।

६४ व्रतको लेकर उसे उल्लासयुक्त परिणामसे भंग नहीं करना।

६५ एकनिष्ठसे ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन करनेसे तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है।

६६ क्रिया ही कर्म है, उपयोग ही धर्म है, परिणाम ही बंध है, भ्रम ही मिथ्यात्व है, शोक नहीं करना; ये उत्तम वस्तुयें मुझे ज्ञानियोंने दी हैं।

६७ जगत् जैसा है उसे तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे वैसा ही देखो।

६८ श्रीगौतमको चार वेदका पाठ किया हुआ देखनेके लिये श्रीमान् महावीरस्वामीने सम्यक् नेत्र दिये थे।

६९ भगवतीमें कही हुई पुद्गल नामके परिव्राजककी कथा तत्त्वज्ञानियोंका कहा हुआ सुंदर रहस्य है।

७० वीतरागके कहे हुए शास्त्रोंमें सुनहरी वचन जहाँ तहाँ अलग अलग और गुप्त हैं।

७१ सम्यक्नेत्र पाकर तुम चाहे जिस किसी धर्मशास्त्रका मनन करो तो भी उससे ही आत्महित प्राप्त होगा।

७२ हे कुदरत! यह तेरा प्रबल अन्याय है कि मेरी विचार की हुई नीतिसे तू मेरा काल व्यतीत नहीं कराती! (कुदरत अर्थात् पूर्वकर्म)।

७३ मनुष्य ही परमेश्वर हो जाता है, ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं।

७४ उत्तराध्ययन नामके जैनसूत्रका तत्त्वदृष्टिसे पुनः पुनः अवलोकन करो।

७५ जीते हुए मरा जा सके तो फिरसे न मरना पड़े, ऐसे मरणकी इच्छा करना योग्य है।

७६ कृतघ्नताके समान अन्य कोई भी महादोष नहीं लगता।

७७ जगत्में यदि मान न होता तो यहीं मोक्ष थी।

७८ वस्तुको वस्तुरूपसे देखो।

७९ धर्मका मूल विनय है।

८० [illegible] नम्र है कि जिससे अविनय प्राप्त न हो।

८१ वीरके एक एक वचनको भी समझो।

८२ अहंभाव, कृतघ्नता, उत्सूत्रप्ररूपणा, अविवेकधर्म ये दुर्गतिके लक्षण हैं।

* [illegible] एक नक्शा लिखा करता है कि यहाँ [illegible] —अनुवादक।

३३ जहाँ 'मैं' मान रहा है वहाँ 'तू' नहीं है, और जहाँ 'तू' मान रहा है वहाँ 'तू' नहीं है।

३४ हे जीव! अब भोगसे शांत हो, शांत! ज़रा विचार तो सही कि इसमें कौनसा सुख है!

३५ बहुत दुखियाजानेपर संसारमें नहीं रहना।

३६ सज्ञान और सत्शीलको साथ साथ बढ़ाना।

३७ किसी एक वस्तुसे मैत्री नहीं करना, यदि करना ही हो तो समस्त जगत्से करना।

३८ महासौंदर्यसे पूर्ण देवांगनाके क्रीड़ा-विलास निरीक्षण करनेपर भी जिसके अंतःकरणमें कामसे अधिकाधिक वैराग्य प्रस्फुरित होता हो उसे धन्य है; उसे त्रिकाल नमस्कार है।

३९ भोगके समयमें योगका स्मरण होना यह लघुकर्मीका लक्षण है।

४० यदि इतना हो जाय तो मैं मोक्षकी इच्छा न करूँ—समस्त सृष्टि सत्शीलकी सेवा करे, नियमित आयु, नीरोग शरीर, अचल प्रेम करनेवाली सुन्दर स्त्रियाँ, आज्ञानुवर्ती अनुचर, कुल-दीपक पुत्र, जीवनपर्यंत बाल्यावस्था, और आत्म-तत्त्वका चिंतवन।

४१ किन्तु ऐसा तो कभी भी होनेवाला नहीं, इसलिये मैं तो मोक्षकी ही इच्छा करता हूँ।

४२ सृष्टि क्या सर्व अपेक्षासे अमर होगी?

४३ शुक्ल निर्जनावस्थाको मैं बहुत मानता हूँ।

४४ सृष्टि-लीलामें शांतभावसे तपश्चर्या करना यह भी उत्तम है।

४५ एकांतिक कथन करनेवाला ज्ञानी नहीं कहा जा सकता।

४६ शुक्ल अंतःकरणके बिना मेरे कथनका कौन इन्साफ़ करेगा?

४७ ज्ञातपुत्र भगवान्के कथनकी ही बलिहारी है।

४८ देव देवीकी प्रसन्नताको हम क्या करेंगे? जगत्की प्रसन्नताको हम क्या करेंगे? प्रसन्नताकी इच्छा करो तो सत्पुरुषकी करो।

४९ मैं सच्चिदानन्द परमात्मा हूँ।

५० यदि तुम्हें अपनी आत्माके हितके लिये प्रवृत्ति करनेकी अभिलाषा रखनेपर भी इससे निराशा हुई हो तो उसे भी अपना आत्म-हित ही समझो।

५१ यदि अपने शुभ विचारमें सफल न हो, तो स्थिर चित्तसे सफल हुए हो ऐसा समझो।

५२ ज्ञानीजन अंतरंग खेद और हर्षसे रहित होते हैं।

५३ जहाँतक उस तत्त्वकी प्राप्ति न हो वहाँतक मोक्षका सार नहीं मिला।

५४ नियम पालनेकी दृढ़ता करनेपर भी वह नहीं पलता, यह पूर्वकर्मका ही दोष है, ऐसा ज्ञानियोंका कहना है।

५५ संसाररूपी कुटुंबके घर अपनी आत्मा पाहुनेके समान है।

५६ भाग्यशाली वही है जो दुर्भाग्यशालीपर दया करता है।

५७ महर्षि शुभ द्रव्यको शुभ भावका निमित्त कहते हैं।

५८ स्थिर चित्तसे धर्म और शुक्लध्यानमें प्रवृत्ति करो।

५९ परिग्रहकी मूर्छा पापका मूल है।

६० जिस कृत्यके करते समय व्यामोहयुक्त खेदमें रहते हो, और अन्तमें भी पछताते हो, तो ज्ञानी लोग उस कृत्यको पूर्वकर्मका ही दोष कहते हैं।

६१ मुझे जड़ भरत और विदेही जनककी दशा प्राप्त होओ।

६२ जो सत्पुरुषद्वारा अंतःकरणपूर्वक आचरण किया गया है अथवा कहा गया है, वही धर्म है।

६३ जिसकी अंतरंग मोहकी ग्रंथि नष्ट हो गई हो वही परमात्मा है।

६४ व्रतको लेकर उसे उल्लासयुक्त परिणामसे भंग नहीं करना।

६५ एकनिष्ठासे ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन करनेसे तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है।

६६ क्रिया ही कर्म है, उपयोग ही धर्म है, परिणाम ही बंध है, भ्रम ही मिथ्यात्व है, शोकको स्मरण नहीं करना; ये उत्तम वस्तुयें मुझे ज्ञानियोंने दी हैं।

६७ जगत् जैसा है उसे तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे वैसा ही देखो।

६८ श्रीगौतमको चार वेदका पाठ किया हुआ देखनेके लिये श्रीमान् महावीरस्वामीने सम्यक् नेत्र दिये थे।

६९ भगवतीमें कही हुई पुद्गल नामके परिव्राजककी कथा तत्त्वज्ञानियोंका कहा हुआ सुंदर रहस्य है।

७० वीरके कहे हुए शास्त्रोंमें सुनहरी वचन जहाँ तहाँ अलग अलग और गुप्त हैं।

७१ सम्यक्नेत्र पाकर तुम चाहे जिस किसी धर्मशास्त्रका मनन करो तो भी उससे ही आत्महित प्राप्त होगा।

७२ हे कुदरत! यह तेरा प्रबल अन्याय है कि मेरी विचार की हुई नीतिसे तू मेरा काल व्यतीत नहीं कराती! (कुदरत अर्थात् पूर्वकर्म)।

७३ मनुष्य ही परमेश्वर हो जाता है, ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं।

७४ उत्तराध्ययन नामके जैनसूत्रका तत्त्वदृष्टिसे पुनः पुनः अवलोकन करो।

७५ जीते हुए मरा जा सके तो फिरसे न मरना पड़े, ऐसे मरणकी इच्छा करना योग्य है।

७६ मुझे कृतघ्नताके समान अन्य कोई भी महादोष नहीं लगता।

७७ जगत्में यदि मान न होता तो यहीं मोक्ष थी।

७८ वस्तुको वस्तुरूपसे देखो।

७९ धर्मका मूल *वि० है।

८० विद्या उसीका नाम है कि जिससे अविद्या प्राप्त न हो।

८१ वीरके एक एक वाक्यको भी समझो।

८२ अहंकार, कृतघ्नता, उत्सूत्र-प्ररूपणा, अविवेक-धर्म ये दुर्गतिके लक्षण हैं।

* ओरिजिनल मसविदेमें आये हुए इस शब्दसे निश्चय करना है कि यहाँ वि० से विनय, विवेक और विचार ये सब अर्थ लिये जा सकते हैं। अनुवादक।

८३ स्त्रीका कोई अंग लेशमात्र भी सुखदायक नहीं तो भी उसे मेरी देह भोगती है।

८४ देह और देहके लिये ममत्व यह मिथ्यात्वका लक्षण है।

८५ अभिनिवेशके उदयमें प्ररूपणा न हो, उसको मैं ज्ञानियोंके कहनेसे महाभाग्य कहता हूँ।

८६ स्याद्वादशैलीसे देखनेपर कोई भी मत असत्य नहीं ठहरता।

८७ ज्ञानीजन स्वादके त्यागको आहारका सच्चा त्याग कहते हैं।

८८ अभिनिवेशके समान एक भी पाखंड नहीं है।

८९ इस कालमें ये बातें बढ़ी हैं:—बहुतसे मत, बहुतसे तत्त्वज्ञानी, बहुतसी माया, और बहुतसा परिग्रह।

९० यदि तत्त्वाभिलाषासे मुझसे पूछो तो मैं तुम्हें अवश्य रागरहित धर्मका उपदेश दे सकता हूँ।

९१ जिसने समस्त जगत्के शिष्य होनेरूप दृष्टिको नहीं जाना वह सद्गुरु होने योग्य नहीं।

९२ कोई भी शुद्धाशुद्ध धर्म-क्रिया करता हो तो उसको करने दो।

९३ आत्माका धर्म आत्मामें ही है।

९४ मुझपर सब सरलभावसे आज्ञा चलावें तो मैं खुशी हूँ।

९५ मैं संसारमें लेशमात्र भी रागयुक्त नहीं तो भी उसीको भोगता हूँ; मैंने कुछ त्याग नहीं किया।

९६ निर्विकारी दशापूर्वक मुझे अकेला रहने दो।

९७ महावीरने जिस ज्ञानसे जगत्को देखा है वह ज्ञान सब आत्माओंमें है, परन्तु उसका आविर्भाव करना चाहिये।

९८ बहुत ऊब जाओ तो भी महावीरकी आज्ञाका भंग नहीं करना। चाहे जैसी शंका हो तो भी मेरी तरफसे वीरको संदेहरहित मानना।

९९ पार्श्वनाथस्वामीका ध्यान योगियोंको अवश्य स्मरण करना चाहिये। निश्चयसे नागकी छत्रछायाके समयका वह पार्श्वनाथ कुछ और ही था!

१०० गजसुकुमारकी क्षमा, और राजीमती जो रहनेमीको बोध देती है वह बोध मुझे प्राप्त होओ।

१०१ भोग भोगनेतक (जहाँतक उस कर्मका उदय है वहाँतक) मुझे योग ही प्राप्त रहो!

१०२ मुझे सब शास्त्रोंमें एक ही तत्त्व मिला है, यदि मैं ऐसा कहूँ तो यह मेरा अहंकार नहीं है।

१०३ न्याय मुझे बहुत प्रिय है। वीरकी शैली यही न्याय है, किन्तु इसे समझना दुर्लभ है।

१०४ पवित्र पुरुषोंकी कृपादृष्टि ही सम्यग्दर्शन है।

१०५ भर्तृहरिका कहा हुआ भाव विशुद्ध-बुद्धिसे विचारनेसे ज्ञानकी बहुत ऊर्ध्व-दशा होनेतक रहता है।

१०६ मैं किसी भी धर्मसे विरुद्ध नहीं, मैं सब धर्मोंको पालता हूँ; और तुम सब धर्मोंसे विरुद्ध हो ऐसा कहनेमें मेरा आशय उत्तम है।

५८ स्थिर चित्तसे धर्म और शुक्लध्यानमें प्रवृत्ति करो ।

५९ परिग्रहकी मूर्च्छा पापका मूल है ।

६० जिस कृत्यके करते समय व्यामोहयुक्त खेदमें रहते हो, और अन्तमें भी पछताते हो, ज्ञानी लोग उस कृत्यको पूर्वकर्मका ही दोष कहते हैं ।

६१ मुझे जड़ भरत और विदेही जनककी दशा प्राप्त होओ ।

६२ जो सत्पुरुषद्वारा अंतःकरणपूर्वक आचरण किया गया है अथवा कहा गया है, वही धर्म है।

६३ जिसकी अंतरंग मोहकी ग्रंथी नष्ट हो गई हो वही परमात्मा है ।

६४ व्रतको लेकर उसे उल्लासयुक्त परिणामसे भंग नहीं करना ।

६५ एकनिष्ठासे ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन करनेसे तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है ।

६६ क्रिया ही कर्म है, उपयोग ही धर्म है, परिणाम ही बंध है, भ्रम ही मिथ्यात्व है, शोकको स्मरण नहीं करना; ये उत्तम वस्तुयें मुझे ज्ञानियोंने दी हैं ।

६७ जगत् जैसा है उसे तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे वैसा ही देखो ।

६८ श्रीगौतमको चार वेदका पाठ किया हुआ देखनेके लिये श्रीमान् महावीरस्वामीने सम्यक् नेत्र दिये थे ।

६९ भगवतीमें कही हुई पुद्गल नामके परिव्राजककी कथा तत्त्वज्ञानियोंका कहा हुआ सुंदर रहस्य है ।

७० वीरके कहे हुए शास्त्रोंमें सुनहरी वचन जहाँ तहाँ अलग अलग और गुप्त है।

७१ सम्यक्नेत्र पाकर तुम चाहे जिस किसी धर्मशास्त्रका मनन करो तो भी उससे ही आत्महित प्राप्त होगा ।

७२ हे कुदरत ! यह तेरा प्रबल अन्याय है कि मेरी विचार की हुई नीतिसे तू मेरा काल व्यतीत नहीं कराती ! (कुदरत अर्थात् पूर्वकर्म) ।

७३ मनुष्य ही परमेश्वर हो जाता है, ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं ।

७४ उत्तराध्ययन नामके जैनसूत्रका तत्त्वदृष्टिसे पुनः पुनः अवलोकन करो ।

७५ जीते हुए मरा जा सके तो फिरसे न मरना पड़े, ऐसे मरणकी इच्छा करना योग्य है।

७६ मुझे कृतघ्नताके समान अन्य कोई भी महादोष नहीं लगता ।

७७ जगत्में यदि मान न होता तो यहीं मोक्ष थी ।

७८ वस्तुको वस्तुरूपसे देखो ।

७९ धर्मका मूल [1]वि० है ।

८० विद्या उसीका नाम है कि जिससे अविद्या प्राप्त न हो ।

८१ वीरके एक एक वाक्यको भी समझो ।

८२ अहंकार, कृतघ्नता, उत्सूत्र-प्ररूपणा, अविवेक-धर्म ये दुर्गतिके लक्षण हैं।

१ श्रीमद्के साक्षात् संपर्कमें आये हुए एक सज्जन मित्रका कहना है कि यहाँ वि० से विचार, विवेक, विनय और विराम ये चार बातें ली गई हैं । अनुवादक ।

८३ स्त्रीका कोई अंग लेशमात्र भी सुखदायक नहीं तो भी उसे मेरी देह भोगती है।

८४ देह और देहके लिये ममत्व यह मिथ्यात्वका लक्षण है।

८५ अभिनिवेशके उदयमें उत्सूत्र-प्ररूपणा न हो, उसको मैं ज्ञानियोंके कहनेसे महाभाग्य कहता हूँ।

८६ स्याद्वादशैलीसे देखनेपर कोई भी मत असत्य नहीं ठहरता।

८७ ज्ञानीजन स्वादके त्यागको आहारका सच्चा त्याग कहते हैं।

८८ अभिनिवेशके समान एक भी पाखंड नहीं है।

८९ इस कालमें ये बातें बढ़ी हैं:—बहुतसे मत, बहुतसे तत्त्वज्ञानी, बहुतसी माया, और बहुतसा परिग्रह।

९० यदि तत्त्वाभिलाषासे मुझसे पूछो तो मैं तुम्हें अवश्य रागरहित धर्मका उपदेश दे सकता हूँ।

९१ जिसने समस्त जगत्के शिष्य होनेरूप दृष्टिको नहीं जाना वह सद्गुरु होने योग्य नहीं।

९२ कोई भी शुद्धाशुद्ध धर्म-क्रिया करता हो तो उसको करने दो।

९३ आत्माका धर्म आत्मामें ही है।

९४ मुझपर सब सरलभावसे आज्ञा चलावें तो मैं खुशी हूँ।

९५ मैं संसारमें लेशमात्र भी रागयुक्त नहीं तो भी उसीको भोगता हूँ; मैंने कुछ त्याग नहीं किया।

९६ निर्विकारी दशापूर्वक मुझे अकेला रहने दो।

९७ महावीरने जिस ज्ञानसे जगत्को देखा है वह ज्ञान सब आत्माओंमें है, परन्तु उसका आविर्भाव करना चाहिये।

९८ बहुत ऊब जाओ तो भी महावीरकी आज्ञाका भंग नहीं करना। चाहे जैसी शंका हो तो भी मेरी तरफसे वीरको संदेहरहित मानना।

९९ पार्श्वनाथस्वामीका ध्यान योगियोंको अवश्य स्मरण करना चाहिये। निश्चयसे नागकी छत्र-छायाके समयका वह पार्श्वनाथ कुछ और ही था!

१०० गजसुकुमारकी क्षमा, और राजीमती जो रहनेमीको बोध देती है वह बोध मुझे प्राप्त होओ।

१०१ भोग भोगनेतक (जहाँतक उस कर्मका उदय है वहाँतक) मुझे योग ही प्राप्त रहो!

१०२ मुझे सब शास्त्रोंमें एक ही तत्त्व मिला है, यदि मैं ऐसा कहूँ तो यह मेरा अहंकार नहीं है।

१०३ न्याय मुझे बहुत प्रिय है। वीरकी शैली यही न्याय है, किन्तु इसे समझना दुर्लभ है।

१०४ पवित्र पुरुषोंकी कृपादृष्टि ही सम्यग्दर्शन है।

१०५ भर्तृहरिका कहा हुआ भाव विशुद्ध-बुद्धिसे विचारनेसे ज्ञानकी बहुत ऊर्ध्व-दशा होनेतक रहता है।

१०६ मैं किसी भी धर्मसे विरुद्ध नहीं, मैं सब धर्मोंको पालता हूँ; और तुम सब धर्मोंसे विरुद्ध हो ऐसा कहनेमें मेरा आशय उत्तम है।

१०७ अपने माने हुए धर्मका मुझे किस प्रमाणसे उपदेश करते हो, यह जानना मुझे जरूरी है।

१०८ शिथिल बंधन दृष्टिसे नीचे आते आते ही बिखर जाता है। (यदि निर्जरा उदय आता हो तो—)

१०९ मुझे किसी भी शास्त्रमें शंका न हो।

११० ये लोग दुःखके मारे हुए वैराग्य लेकर जगत्को भ्रममें डालते हैं।

१११ इस समय मैं कौन हूँ इसका मुझे पूर्ण भान नहीं है।

११२ तू सत्पुरुषका शिष्य है।

११३ यही मेरी आकांक्षा है।

११४ मुझे गजसुकुमार जैसा कोई समय प्राप्त होओ।

११५ कोई राजीमती जैसा समय प्राप्त होओ।

११६ सत्पुरुष कहते नहीं, करते नहीं, तो भी उनकी सत्पुरुषता उनकी निर्विकार मुखमुद्रामें झलकती है।

११७ संस्थानविचयध्यान पूर्वधारियोंको प्राप्त होता होगा, ऐसा मानना योग्य मालूम होता है। तुम भी उसका ध्यान करो।

११८ आत्माके समान और कोई देव नहीं।

११९ भाग्यशाली कौन ? अविरति सम्यग्दृष्टि अथवा विरति ?

१२० किसीकी आजीविका नहीं तोड़ना।

बम्बई, कार्तिक १९४४

८

१ प्रमादके कारण आत्मा अपने प्राप्त हुए स्वरूपको भूल जाता है।

२ जिस जिस कालमें जो जो करना है उस सबको सदा उपयोगमें रखते रहो।

३ फिर उसकी क्रमसे सिद्धि करो।

४ अल्प आहार, अल्प विहार, अल्प निद्रा, नियमित वाणी, नियमित काया और अनुकूल स्थान, ये मनको वश करनेके लिये उत्तम साधन हैं।

५ श्रेष्ठ वस्तुकी जिज्ञासा करना यही आत्माकी श्रेष्ठता है। कदाचित् यह जिज्ञासा पूर्ण न हो सके तो भी यह जिज्ञासा स्वयं उस श्रेष्ठताके अंशके समान है।

६ नये कर्मोंका बंध नहीं करना और पुरानोंको भोग लेना, ऐसी जिसकी अचल जिज्ञासा है वह तदनुसार आचरण कर सकता है।

७ जिस कृत्यका परिणाम धर्म नहीं उस कृत्यको करनेकी इच्छा मूलसे ही रहने देना योग्य नहीं।

८ यदि मन शंकाशील हो गया हो तो 'द्रव्यानुयोग' का विचारना योग्य है; प्रमाद है

८३ स्त्रीका कोई अंग लेशमात्र भी सुखदायक नहीं तो भी उसे मेरी देह भोगती है।

८४ देह और देहके लिये ममत्व यह मिथ्यात्वका लक्षण है।

८५ अभिनिवेशके उदयमें प्ररूपणा न हो, उसको मैं ज्ञानियोंके कहनेसे महाभाग्य कहता हूँ।

८६ स्याद्वादशैलीसे देखनेपर कोई भी मत असत्य नहीं ठहरता।

८७ ज्ञानीजन स्वादके त्यागको आहारका सच्चा त्याग कहते हैं।

८८ अभिनिवेशके समान एक भी पाखंड नहीं है।

८९ इस कालमें ये बातें बढ़ी हैं:—बहुतसे मत, बहुतसे तत्त्वज्ञानी, बहुतसी माया, और बहुतसा परिग्रह।

९० यदि तत्त्वाभिलाषासे मुझसे पूँछो तो मैं तुम्हें अवश्य रागरहित धर्मका उपदेश दे सकता हूँ।

९१ जिसने समस्त जगत्के शिष्य होनेरूप दृष्टिको नहीं जाना वह सद्गुरु होने योग्य नहीं।

९२ कोई भी शुद्धाशुद्ध धर्म-क्रिया करता हो तो उसको करने दो।

९३ आत्माका धर्म आत्मामें ही है।

९४ मुझपर सब सरलभावसे आज्ञा चलावें तो मैं खुशी हूँ।

९५ मैं संसारमें लेशमात्र भी रागयुक्त नहीं तो भी उसीको भोगता हूँ; मैंने कुछ त्याग नहीं किया।

९६ निर्विकारी दशापूर्वक मुझे अकेला रहने दो।

९७ महावीरने जिस ज्ञानसे जगत्को देखा है वह ज्ञान सब आत्माओंमें है, परन्तु उसका आविर्भाव करना चाहिये।

९८ बहुत ऊब जाओ तो भी महावीरकी आज्ञाका भंग नहीं करना। चाहे जैसी शंका हो तो भी मेरी तरफसे वीरको संदेहरहित मानना।

९९ पार्श्वनाथस्वामीका ध्यान योगियोंको अवश्य स्मरण करना चाहिये। निश्चयसे नागकी छत्र-छायाके समयका वह पार्श्वनाथ कुछ और ही था!

१०० गजसुकुमारकी क्षमा, और राजीमती जो रहनेमीको बोध देती है वह बोध मुझे प्राप्त होओ।

१०१ भोग भोगनेतक (जहाँतक उन कर्मोंका उदय है वहाँतक) मुझे योग ही प्राप्त रहो!

१०२ मुझे सब शास्त्रोंमें एक ही तत्त्व मिला है, यदि मैं ऐसा कहूँ तो यह मेरा अहंकार नहीं है।

१०३ न्याय मुझे बहुत प्रिय है। वीरकी शैली यही न्याय है, किन्तु इसे समझना दुर्लभ है।

१०४ पवित्र पुरुषोंकी कृपादृष्टि ही सम्यग्दर्शन है।

१०५ भर्तृहरिका कहा हुआ भाव विशुद्ध-बुद्धिसे विचारनेसे ज्ञानकी बहुत ऊर्ध्व-दशा होनेतक रहता है।

१०६ मैं किसी भी धर्मसे विरुद्ध नहीं, मैं सब धर्मोंको पालता हूँ; और तुम सब धर्मोंसे विरुद्ध हो ऐसा कहनेमें मेरा आशय उत्तम है।

दर्शनकी सम्यक्तासे उनकी यही मान्यता रही कि मोहाधीन आत्मा अपने आपको भूलकर जड़ताका स्वीकार कर लेती है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं । फिर उसका स्वीकार करना शब्दकी तकरारमें

१

(२)

वर्तमान शताब्दिमें और फिर उसके भी कुछ वर्ष व्यतीत होने तक चिदानन्दजी अस्तित्वमें थे । बहुत ही समीपका समय होनेके कारण जिनको उनका दर्शन, समागम, और उनकी दशाका अनुभव हुआ है ऐसे प्रतीतिवाले कुछ मनुष्योंसे उनके विषयमें कुछ मालूम हो सका है । इस विषयमें अब भी उन मनुष्योंसे कुछ जाना जा सकता है ।

उनके जैनमुनि हो जानेके बाद अपनी परम निर्विकल्प दशा हो जानेसे उन्हें जान पड़ा कि अब क्रमपूर्वक द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावसे यम-नियमोंका पालन न कर सकेंगे। तत्त्वज्ञानियोंकी मान्यता कि जिस पदार्थकी प्राप्तिके लिये यम-नियमका क्रमपूर्वक पालन किया जाता है उस वस्तुकी प्राप्ति होनेके बाद फिर उस श्रेणीसे प्रवृत्ति करना अथवा न करना दोनों समान हैं । जिसको निर्ग्रंथ-प्रवचन अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनि माना है, उसमेंकी सर्वोत्तम जातिके लिये कुछ भी नहीं कहा जा सकता परन्तु केवल उनके वचनोंका मेरे अनुभव-ज्ञानके कारण परिचय होनेसे ऐसा कहा जा सकता है कि प्रायः मध्यम अप्रमत्तदशामें थे । फिर उस दशामें यम-नियमका पालन करना गौणतासे आ जाता इसलिये अधिक आत्मानन्दके लिये उन्होंने यह दशा स्वीकार की । इस समयमें ऐसी दशाको पहुँचे बहुत ही थोड़े मनुष्योंका मिलना भी बड़ा कठिन है । उस अवस्थामें अप्रमत्तताविषयक बातकी अ भावना आसानीसे हो जायगी, ऐसा मानकर उन्होंने अपने जीवनको अनियतपनेसे और गुप्त बिताया। यदि वे ऐसी ही दशामें रहे होते तो बहुतसे मनुष्य उनके मुनिपनेकी शिथिलता समझते ऐसा समझनेसे उनपर ऐसे पुरुषकी उलटी ही छाप पड़ती । ऐसा हार्दिक निर्णय होनेसे उन्होंने दशाको स्वीकार की ।

१

(३)

ॐ

जैसे कंचुक त्यागसें विनसत नहीं भुजंग,

देह त्यागसें जीव पुनि तैसे रहत अभंग––श्रीचिदानन्द

जैसे काँचलीका त्याग करनेसे सर्पका नाश नहीं होता वैसे ही देहका त्याग करनेसे जी.. भी नाश नहीं होता, अर्थात् वह तो अभंग ही रहता है ।

इस कथनद्वारा जीवको देहसे भिन्न सिद्ध किया है । बहुतसे लोग ऐसा मानते हैं और कहते हैं कि देह और जीवकी भिन्नता नहीं है, और देहका नाश होनेसे जीवका भी नाश हो जाता है, उनका यह कथन केवल विकल्परूप है, प्रमाणभूत नहीं; कारण कि वे काँचलीके नाशसे सर्पका भी नाश होना समझते हैं । और यह बात तो प्रत्यक्ष ही है कि काँचलीके त्यागसे सर्पका नाश नहीं होता । यही बात जीवके लिये भी समझनी चाहिये ।

देह जीवकी काँचलीमात्र है । जबतक काँचली सर्पके साथ लगी हुई है, तबतक जैसे जैसे सर्प

गया हो तो ' चरणकरणानुयोग ' का विचारना योग्य है; कषायी हो गया हो तो ' धर्मकथानुयोग ' का विचारना योग्य है; और जड़ हो गया तो ' गणितानुयोग ' का विचार करना योग्य है।

९ कोई भी काम हो उस कामकी निराशाकी इच्छा करना; फिर अन्तमें जितनी सिद्धि हो उतना ही लाभ हुआ समझो; ऐसे करनेसे संतोषी रह सकते हैं।

१० यदि पृथ्वीसंबंधी क्लेश हो तो ऐसा समझना कि वह साथमें आनेवाली नहीं; बल्कि मैं ही उसे अपनी देहको देकर चला जाऊँगा; तथा वह कुछ मूल्यवान भी नहीं है। यदि स्त्रीसंबंधी क्लेश, शंका, और भाव हो तो यह समझकर अन्य भोक्ताओंके प्रति हँसना कि अरे! तू मल-मूत्रकी खानमें मोहित हो गया (जिस वस्तुका हम नित्य त्याग करते हैं उसमें)! यदि धनसंबंधी निराशा अथवा क्लेश हो तो धनको भी ऊँचे प्रकारकी एक कँकर समझकर संतोष रखना; तो तू क्रमसे निस्पृही हो सकेगा।

११ तू उस बोधको पा कि जिससे तुझे समाधिमरणकी प्राप्ति हो।

१२ यदि एक बार समाधिमरण हो गया तो सर्व कालका असमाधिमरण दूर हो जायगा।

१३ सर्वोत्तम पद सर्वत्यागीका ही है।

९

स्वरोदयज्ञान

बम्बई, कार्तिक १९४३

यह ' स्वरोदयज्ञान ' ग्रंथ पढ़नेवालेके करकमलोंमें रखते हुए इस विषयमें कुछ प्रस्तावना लिखनेकी जरूरत है, ऐसा समझकर मैं यह प्रवृत्ति कर रहा हूँ।

हम देख सकते हैं कि स्वरोदयज्ञानकी भाषा आधी हिन्दी और आधी गुजराती है। उसके कर्त्ता एक आत्मानुभवी मनुष्य थे; परन्तु उन्होंने गुजराती और हिन्दी इन दोनोंमें से किसी भी भाषाको नियमपूर्वक पढ़ा हो, ऐसा कुछ भी मालूम नहीं होता। इससे इनकी आत्मशक्ति अथवा योगदशामें कोई बाधा नहीं आती; और इनकी भाषाशास्त्री होनेकी भी कोई इच्छा न थी, इसलिये इन्हें अपने आपको जो कुछ अनुभवगम्य हुआ, उसमेंका लोगोंको मर्यादापूर्वक कुछ उपदेश देनेकी जिज्ञासासे ही इस ग्रंथकी उत्पत्ति हुई है, और ऐसा होनेके कारण ही इस ग्रंथमें भाषा अथवा छंदकी टीमटाम अथवा युक्ति-प्रयुक्तिका बाहुल्य देखनेमें नहीं आता।

जगत् जब अनादि अनंत है, तो फिर उसकी विचित्रताकी ओर क्या विस्मय करें? आज कदाचित् जड़वादके लिये जो संशोधन चल रहा है वह आत्मवादको उड़ा देनेका प्रयत्न है, परन्तु ऐसे भी अनंतकाल आये हैं जब कि आत्मवादका प्राधान्य था, इसी तरह कभी जड़वादका भी प्राधान्य था। तत्त्वज्ञानी लोग इसके कारण किसी विचारमें पड़ नहीं जाते, क्योंकि जगत्‌की ऐसी ही स्थिति है; फिर विकल्पोंद्वारा आत्माको क्यों दुखाना? परन्तु सब वासनाओंका त्याग करनेके बाद जिस वस्तुका अनुभव हुआ, वह क्या वस्तु है, अर्थात् अपना और पराया क्या है? यदि इस प्रश्नके उत्तरमें इस बातका निर्णय किया कि अपना अपना ही है और पराया पराया ही है तो इसके बाद तो भेदवृत्ति रही नहीं। फल यह हुआ कि

११

जीयाजीव-विभक्ति

वि. सं. १९११

जीव और अजीवके विचारको एकाग्र मनसे श्रवण करो। जिसके जाननेसे भिक्षु लोग सम्यक् प्रकारसे संयममें यत्न करें।

जहाँ जीव और अजीव पाये जाते हैं उसे लोक ००० कहा है, और अजीवके केवल आकाश वाले भागको अलोक कहा है।

जीव और अजीवका ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे हो सकता है।

रूपी और अरूपीके भेदसे अजीवके दो भेद होते हैं। अरूपीके दस भेद, तथा रूपीके चार भेद कहे गये हैं।

धर्मास्तिकाय, उसका देश, और उसके प्रदेश; अधर्मास्तिकाय, उसका देश और उसके प्रदेश; आकाश, उसका देश, और उसके प्रदेश; तथा अर्द्धसमयकाल; इस तरह अरूपीके दस भेद होते हैं।

धर्म और अधर्म इन दोनोंको लोक प्रमाण कहा है।

आकाश लोकालोक प्रमाण, और अर्द्धसमय मनुष्यक्षेत्र-प्रमाण है। धर्म, अधर्म और आकाश ये अनादि अनंत हैं।

निरंतरकी उत्पत्तिकी अपेक्षासे समय भी अनादि अनंत है। संतति अर्थात् एक कार्यकी अपेक्षासे वह सादि सांत है।

स्कंध, स्कंध देश, उसके प्रदेश, और परमाणु इस प्रकार रूपी अजीव चार प्रकारके हैं।

परमाणुओंके एकत्र होनेसे, और जिनसे वे पृथक् होते हैं उनको स्कंध कहते हैं; उसके विभागको देश, और उसके अंतिम अभिन्न अंशको प्रदेश कहते हैं।

स्कंध लोकके एकदेशमें व्याप्त है। इसके कालके विभागसे चार प्रकार कहे जाते हैं।

ये सब निरंतर उत्पत्तिकी अपेक्षासे अनादि अनंत हैं; और एक क्षेत्रकी स्थितिकी अपेक्षासे सादि सांत हैं।

१२

बम्बई, १९४३ पौष वदी १० बुध

विवाहके संबंधमें उन्होंने जो मिति निश्चित की है, यदि इसके विषयमें उनका आग्रह है तो वह मिति भले ही निश्चित रहे।

लक्ष्मीपर प्रीति न होनेपर भी वह किसी परोपकारके काममें बहुत उपयोगी हो सकती है, ऐसा मालूम होनेसे मौन धारण करके मैं यहाँ उसके संबंधमें उसकी सद्व्यवस्था करनेमें लगा हुआ था। इस व्यवस्थाका अभीष्ट परिणाम आनेमें बहुत समय न था; परन्तु इनकी तरफका एक समाचार जल्दी कराता है जिससे सब कुछ पड़ा हुआ छोड़कर वदी १३ या १४ (पोषकी) के रोज यहाँसे रवाना होना है।

चलता है, वैसे वैसे काँचली भी साथ साथ चलती है, उसके साथ साथ ही मुड़ती है, अर्थात् काँचलीकी सब क्रियायें सर्पकी क्रियाके आधीन रहती हैं। ज्योंही सर्पने काँचलीका त्याग किया कि उसके बाद काँचली उनमेंकी एक भी क्रिया नहीं कर सकती। पहिले वह जो जो क्रिया करती थी वे सब क्रियायें केवल सर्पकी ही थीं, इसमें काँचली केवल संबंधरूप ही थी। इसी तरह जैसे जीव कर्मानुसार क्रिया करता है वैसा ही बर्ताव यह देह भी करती है; यह चलती है, बैठती है, उठती है, यह सब जीवकी प्रेरणासे ही होता है। उसका वियोग होते ही इनमेंसे कुछ भी नहीं रहता।

९

(१)

अहनिंश अधिको प्रेम लगावे, जोगानल घटमांहि जगावे,
अल्पाहार आसन दृढ धरे, नयनथकी निद्रा परहरे।

रात दिन ध्यान-विषयमें बहुत प्रेम लगानेसे योगरूपी अग्नि (कर्मको जला देनेवाली) घटमें जगावे। (यह मानों ध्यानका जीवन हुआ।) अब इसके अतिरिक्त उसके दूसरे साधन बताते हैं।

थोड़ा आहार और आसनकी दृढ़ता करे। यहाँपर आसनसे पद्मासन, वीरासन, सिद्धासन अथवा कोई जो आसन हो, जिससे मनोगति बारंबार इधर उधर न जाय, ऐसा आसन समझना चाहिये। इस तरह आसनका जय करके निद्राका परित्याग करे। यहाँ परित्यागसे एकदेश परित्यागका आशय है। योगमें जिस निद्रासे बाधा पहुँचती है उस निद्राका अर्थात् प्रमत्तभावके कारण दर्शनावरणीयकी वृद्धि इत्यादिसे उत्पन्न हुई निद्राका अथवा अकालिक निद्राका त्याग करे।

१०

जीवतत्त्वके संबंधमें विचार

१. जीव तत्त्वको एक प्रकारसे, दो प्रकारसे, तीन प्रकारसे, चार प्रकारसे, पाँच प्रकारसे और छह प्रकारसे समझ सकते हैं।

अ—सब जीवोंके कमसे कम श्रुतज्ञानका अनंतवाँ भाग प्रकाशित रहता है इसलिये सब जीव चैतन्य लक्षणसे एक ही प्रकारके हैं।

जो गरमीसे छायामें आवें, छायामेंसे गरमीमें जावें, जिनमें चलने फिरनेकी शक्ति हो, जो भयवाली वस्तु देखकर डरते हों, ऐसे जीवोंकी जातिको त्रस कहते हैं। तथा इनके सिवायके जो जीव एक ही जगहमें स्थित रहते हों, ऐसे जीवोंकी जातिको स्थावर कहते हैं। इस तरह सब जीव दो प्रकारोंमें आ जाते हैं।

यदि सब जीवोंको वेदकी दृष्टिसे देखते हैं तो स्त्री, पुरुष, और नपुंसकवेदमें सबका समावेश हो जाता है। कोई जीव स्त्रीवेदमें, कोई पुरुषवेदमें, और कोई नपुंसकवेदमें रहते हैं। इनके सिवाय कोई चौथा वेद नहीं है इसलिये वेददृष्टिसे सब जीव तीन प्रकारसे समझे जा सकते हैं।

बहुतसे जीव नरकगतिमें रहते हैं, बहुतसे तिर्यंचगतिमें रहते हैं, बहुतसे मनुष्यगतिमें रहते हैं, और बहुतसे देवगतिमें रहते हैं। इसके सिवाय कोई पाँचवी संसारी गति नहीं है इसलिये जीव चार प्रकारसे समझे जा सकते हैं।

११

जीवाजीव-विभक्ति

वि. सं. १९३१

जीव और अजीवके विचारको एकाग्र मनसे श्रवण करो। जिसके जाननेसे भिक्षु लोग सम्यक् प्रकारसे संयममें यत्न करें।

जहाँ जीव और अजीव पाये जाते हैं उसे लोक ००० कहा है, और अजीवके केवल आका- वाले भागको अलोक कहा है।

जीव और अजीवका ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे हो सकता है।

रूपी और अरूपीके भेदसे अजीवके दो भेद होते है। अरूपीके दस भेद, तथा रूपीके चार भेद कहे गये हैं।

धर्मास्तिकाय, उसका देश, और उसके प्रदेश; अधर्मास्तिकाय, उसका देश और उसके प्रदे. आकाश, उसका देश, और उसके प्रदेश; तथा अर्द्धसमयकाल; इस तरह अरूपीके दस भेद होते हैं।

धर्म और अधर्म इन दोनोंको लोक प्रमाण कहा है।

आकाश लोकालोक प्रमाण, और अर्द्धसमय मनुष्यक्षेत्र-प्रमाण है। धर्म, अधर्म और आका ये अनादि अनंत हैं।

निरंतरकी उत्पत्तिकी अपेक्षासे समय भी अनादि अनंत है। संतति अर्थात् एक कार्यकी अपेक्षासे वह सादि सांत है।

स्कंध, स्कंध देश, उसके प्रदेश, और परमाणु इस प्रकार रूपी अजीव चार प्रकारके हैं।

परमाणुओंके एकत्र होनेसे, और जिनसे वे पृथक् होते हैं उनको स्कंध कहते हैं; उसके वि- गको देश, और उसके अंतिम अभिन्न अंशको प्रदेश कहते हैं।

स्कंध लोकके एकदेशमें व्याप्त है। इसके कालके विभागसे चार प्रकार कहे जाते हैं।

ये सब निरंतर उत्पत्तिकी अपेक्षासे अनादि अनंत हैं; और एक क्षेत्रकी स्थितिकी अपेक्षासे सादि सांत हैं।

१२

बम्बई, १९४३ पौष वदी १० बुध

विवाहके सबधमें उन्होंने जो मिति निश्चित की है, यदि इसके विषयमें उनका आग्रह है तो व मिति भले ही निश्चित रहो।

लक्ष्मीपर प्रीति न होनेपर भी वह किसी परोपकारके काममें बहुत उपयोगी हो सकती है, ऐ मालूम होनेसे मौन धारण करके मैं यहाँ उसके संबंधमें उसकी सद्व्यवस्था करनेमें लगा हुआ था इस व्यवस्थाका अभीष्ट परिणाम आनेमें बहुत समय न था; परन्तु इनकी तरफका एक मनन शीघ्रता कराता है जिससे सब कुछ पड़ा हुआ छोड़कर वदी १३ या १४ (पौषकी) के रोज यहाँ रवाना होता हूँ।

परोपकार करते हुए भी यदि कदाचित् लक्ष्मी अंधापन, बहरापन, गूँगापन प्रदान कर दे तो उसकी भी परवा नहीं !

अपना जो परस्परका संबंध है वह कुछ रिश्तेदारीका नहीं, परन्तु हृदय-सम्मिलनका है। यद्यपि ऐसा प्रकट ही है कि उनमें परस्पर लोहे और चुम्बकका सा गुण प्राप्त हुआ है, तो भी मैं इससे भी भिन्नरूपसे आपको हृदयरूप करना चाहता हूँ। सब प्रकारके संबंधपनेको और संसार-योजनाको दूर करके ये विचार मुझे तत्त्वविज्ञानरूपसे बताने हैं, और उन्हें आपको स्वयं अनुकरण करना है। इतनी बात बहुत सुखप्रद होनेपर मार्मिकरूपसे आनन्दरूपके विचारपूर्वक यहाँ लिखता हूँ।

क्या उनके हृदयमें ऐसी सुन्दर योजना है कि वे शुभ प्रसंगमें सद्विवेकी और रूढ़ीसे प्रतिकूल रह सकते हैं जिससे परस्पर कुटुम्बरूपसे स्नेह उत्पन्न हो सके ! क्या आप ऐसी योजनाको करेंगे ! क्या कोई दूसरा ऐसा करेगा ! यह विचार पुनः पुनः हृदयमें आया करता है। इसीलिये साधारण विवेकी जिस विचारको हवाई समझते हैं, तथा जिस वस्तु और जिस पदकी प्राप्ति आज राज्यश्री चक्रवर्ती विक्टोरियाको भी दुर्लभ और सर्वथा असंभव है, उन विचारोंकी, उस वस्तुकी और उस पदकी ओर सम्पूर्ण इच्छा होनेके कारण यह लिखा है। यदि इससे कुछ लेशमात्र भी प्रतिकूल हो तो उस पदाभिलाषी पुरुषके चरित्रको बड़ा कलंक लगता है। इन सब (इस समय लगनेवाले) हवाई विचारोंको मैं केवल आपसे ही कहता हूँ।

अंतःकरण शुद्ध अद्भुत विचारोंसे भरपूर है। परन्तु आप वहाँ रहे या मैं यहाँ रहूँ, एक ही बात है !

परोपकार करते हुए भी यदि कदाचित् लक्ष्मी अंधापन, बहरापन, गूँगापन प्रदान कर दे तो उसकी भी परवा नहीं !

अपना जो परस्परका संबंध है वह कुछ रिश्तेदारीका नहीं, परन्तु हृदय-सम्मिलनका है। यद्यपि ऐसा प्रकट ही है कि उनमें परस्पर लोहे और चुम्बकका सा गुण प्राप्त हुआ है, तो भी मैं इससे भी भिन्नरूपसे आपको हृदयरूप करना चाहता हूँ। सब प्रकारके संबंधीपनेको और संसार-योजनाको दूर करके ये विचार मुझे तत्त्वविज्ञानरूपसे बताने हैं, और उन्हें आपको स्वयं अनुकरण करना है। इतनी बात बहुत सुखप्रद होनेपर मानिकरूपसे आनन्दरूपके विचारपूर्वक यहाँ लिखता हूँ।

क्या उनके हृदयमें ऐसी सुन्दर योजना है कि वे शुभ प्रसंगमें सद्विवेकी और रूढ़ीसे प्रतिकूल रह सकते हैं जिससे परस्पर कुटुम्बरूपसे स्नेह उत्पन्न हो सके! क्या आप ऐसी योजनाको करेंगे ! क्या कोई दूसरा ऐसा करेगा ! यह विचार पुनः पुनः हृदयमें आया करता है। इसीलिये साधारण विवेकी जिस विचारको हवाई समझते हैं, तथा जिस वस्तु और जिस पदकी प्राप्ति आज राज्यश्री चक्रवर्ती विक्टोरियाको भी दुर्लभ और सर्वथा असंभव है, उन विचारोंकी, उस वस्तुकी और उस पदकी ओर सम्पूर्ण इच्छा होनेके कारण यह लिखा है। यदि इससे कुछ लेशमात्र भी प्रतिकूल हो तो उस पदाभिलाषी पुरुषके चरित्रको बड़ा कलंक लगता है। इन सब (इस समय लगनेवाले) हवाई विचारोंको मैं केवल आपसे ही कहता हूँ।

अंतःकरण शुभ अद्भुत विचारोंसे भरपूर है। परन्तु आप वहाँ रहे या मैं यहाँ रहूँ, एक ही बात है !

११

जीवाजीव-विभक्ति

वि. सं. १९३१

जीव और अजीवके विचारको एकाग्र मनसे श्रवण करो। जिसके जाननेसे भिक्षु लोग [illegible] प्रकारसे संयममें यत्न करें।

जहाँ जीव और अजीव पाये जाते हैं उसे लोक ००० कहा है, और अजीवके केवल आकाशवाले भागको अलोक कहा है।

जीव और अजीवका ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे हो सकता है।

रूपी और अरूपीके भेदसे अजीवके दो भेद होते हैं। अरूपीके दस भेद, तथा रूपीके चार भेद कहे गये हैं।

धर्मास्तिकाय, उसका देश, और उसके प्रदेश; अधर्मास्तिकाय, उसका देश और उसके प्रदेश; आकाश, उसका देश, और उसके प्रदेश; तथा अर्द्धसमयकाल; इस तरह अरूपीके दस भेद होते हैं।

धर्म और अधर्म इन दोनोंको लोक प्रमाण कहा है।

आकाश लोकालोक प्रमाण, और अर्द्धसमय मनुष्यक्षेत्र-प्रमाण है। धर्म, अधर्म और आकाश ये अनादि अनंत हैं।

निरंतरकी उत्पत्तिकी अपेक्षासे समय भी अनादि अनंत है। संतति अर्थात् एक कार्यकी अपेक्षासे यह सादि सांत है।

स्कंध, स्कंध देश, उसके प्रदेश, और परमाणु इस प्रकार रूपी अजीव चार प्रकारके हैं।

परमाणुओंके एकत्र होनेसे, और जिनसे वे पृथक् होते हैं उनको स्कंध कहते हैं; उसके विभागको देश, और उसके अंतिम अभिन्न अंशको प्रदेश कहते हैं।

स्कंध लोकके एकदेशमें व्याप्त है। इसके कालके विभागसे चार प्रकार कहे जाते हैं।

ये सब निरंतर उत्पत्तिकी अपेक्षासे अनादि अनंत हैं; और एक क्षेत्रकी स्थितिकी अपेक्षासे सादि सान्त हैं।

१२

बम्बई, १९४३ पौष वदी १० बुध

विवाहके संबंधमें उन्होंने जो मिति निश्चित की है, यदि इसके विषयमें उनका आग्रह है तो वह मिति भले ही निश्चित रहे।

लक्ष्मीपर प्रीति न होनेपर भी वह किसी परोपकारके काममें बहुत उपयोगी हो सकती है, ऐसा मालूम होनेसे मौन धारण करके मैं यहाँ उसके संबंधमें उसकी सद्व्यवस्था करनेमें लगा हुआ था। इस व्यवस्थाका अनुकूल परिणाम आनेमें बहुत समय न था; परन्तु इनकी तरफका एक बलवान संदेशा मिलता है जिससे सब कुछ पड़ा हुआ छोड़कर वदी १३ या १४ ([illegible]) के रोज यहाँसे रवाना होता हूँ।

परोपकार करते हुए भी यदि कदाचित् लक्ष्मी अंधापन, बहरापन, गूँगापन प्रदान कर दे तो उसकी भी परवा नहीं!

अपना जो परस्परका संबंध है वह कुछ रिश्तेदारीका नहीं, परन्तु हृदय-सम्मिलनका है। यद्यपि ऐसा प्रकट ही है कि उसमें परस्पर लोहे और चुम्बकका सा गुण प्राप्त हुआ है, तो भी मैं इससे भी भिन्नरूपसे आपको हृदयरूप करना चाहता हूँ। सब प्रकारके संबंधपनेको और संसार-योजनाको दूर करके ये विचार मुझे तत्त्वविज्ञानरूपसे बताने हैं, और उन्हें आपको स्वयं अनुकरण करना है। इतनी बात बहुत सुखप्रद होनेपर मार्मिकरूपसे आनन्दरूपके विचारपूर्वक यहाँ लिखता हूँ।

क्या उनके हृदयमें ऐसी सुन्दर योजना है कि वे शुभ प्रसंगमें सद्विवेकी और रूढ़ीसे प्रतिकूल रह सकते हैं जिससे परस्पर कुटुम्बरूपसे स्नेह उत्पन्न हो सके? क्या आप ऐसी योजनाको करेंगे? क्या कोई दूसरा ऐसा करेगा? यह विचार पुनः पुनः हृदयमें आया करता है। इसीलिये साधारण विवेकी जिस विचारको हवाई समझते हैं, तथा जिस वस्तु और जिस पदकी प्राप्ति आज राज्यश्री चक्रवर्ती विक्टोरियाको भी दुर्लभ और सर्वथा असंभव है, उन विचारोंकी, उस वस्तुकी और उस पदकी ओर सम्पूर्ण इच्छा होनेके कारण यह लिखा है। यदि इससे कुछ लेशमात्र भी प्रतिकूल हो तो उस पदाभिलाषी पुरुषके चरित्रको बड़ा कलंक लगता है। इन सब (इस समय लगनेवाले) हवाई विचारोंको मैं केवल आपसे ही कहता हूँ।

अंतःकरण शुद्ध अद्भुत विचारोंसे भरपूर है। परन्तु आप वहाँ रहे या मैं यहाँ रहूँ, एक ही बात है!

परोपकार करते हुए भी यदि कदाचित् कर्मी अंधापन, बहरापन, गूँगापन प्रदान कर दे तो उसकी भी परवा नहीं!

अपना जो परस्परका संबंध है वह कुछ रिश्तेदारीका नहीं, परन्तु हृदय-सम्मिलनका है। यद्यपि ऐसा प्रकट ही है कि उनमें परस्पर लोहे और चुम्बकका सा गुण प्राप्त हुआ है, तो भी मैं इससे भी निश्चलरूपसे आपको हृदयरूप करना चाहता हूँ। सब प्रकारके संवर्धनोंको और संसारयोजनाको दूर करके ये विचार मुझे तत्त्वविज्ञानरूपसे बताने हैं, और उन्हें आपको स्वयं अनुकरण करना है। इतनी बात बहुत सुन्दर होनेपर मार्मिकरूपसे आनन्दरूपके विचारपूर्वक यहाँ लिखता हूँ।

क्या उनके हृदयमें ऐसी सुन्दर योजना है कि वे शुभ प्रसंगमें सद्विवेकी और रूढ़िसे प्रतिकूल रह सकते हैं जिससे परस्पर कुटुम्बरूपसे स्नेह उत्पन्न हो सके? क्या आप ऐसी योजनाको करेंगे? क्या कोई दूसरा ऐसा करेगा? यह विचार पुनः पुनः हृदयमें आया करता है। इसीलिये साधारण विवेकी जिस विचारको हवाई समझते हैं, तथा जिस वस्तु और जिस पदकी प्राप्ति आज राज्यश्री चक्रवर्ती विक्टोरियाको भी दुर्लभ और सर्वथा असंभव है, उन विचारोंकी, उस वस्तुकी और उस पदकी ओर सम्पूर्ण इच्छा होनेके कारण यह लिखा है। यदि इसमें कुछ लेशमात्र भी प्रतिकूल हो तो उस पदाभिलाषी पुरुषके चरित्रको बड़ा कलंक लगता है। इन सब (इस समय लगनेवाले) हवाई विचारोंको मैं केवल आपसे ही कहता हूँ।

अंतःकरण शुभ अद्भुत विचारोंसे भरपूर है। परन्तु आप वहाँ रहें या मैं यहाँ रहूँ, एक ही बात है!

समय आहार-विहार क्रियामें जाता है। थोड़ा समय शौच क्रियामें जाता है। छह घंटे निद्रामें जाते है। थोड़ा समय मनोराज रोकते हैं। फिर भी छह घंटे बच जाते हैं। सत्संगका लेशमात्र भी न मिलनेसे यह विचारी आत्मा विवेक प्राप्तिके लिये छटपटाया करती है।

१८

<u>वि. सं. १९४४</u>

जब आत्मा सहज स्वभावसे मुक्त, अत्यंत प्रत्यक्ष और अनुभवस्वरूप है, तो फिर ज्ञानी पुरुषोंको आत्मा है, आत्मा नित्य है, बंध है, मोक्ष है, इत्यादि अनेक प्रकारसे निरूपण करना योग्य न था।

यदि आत्मा अगम अगोचर है तो फिर वह किसीके द्वारा नहीं जानी जा सकती, और यदि वह सुगम सुगोचर है तो फिर उसको जाननेका प्रयत्न करना ही योग्य नहीं।

१९

<u>वि. सं. १९४४</u>

नेत्रोंकी श्यामतामें जो पुतलियाँ हैं, वे सब रूपको देखती हैं और साक्षीभूत हैं, किन्तु वे इस अंतरको क्यों नहीं देखतीं? जो त्वचाको स्पर्श करती है, शीत उष्णादिकको जानती है, ऐसी वह सर्व अंगोंमें व्याप्त होकर अनुभव करती है—जैसे तिलोंमें तेल व्यापक रहता है—उसका अनुभव कोई भी नहीं करता। जो शब्द-श्रवण-इंद्रियके भेदोंको ग्रहण करती है, उस शब्दशक्तिको जाननेवाली कोई न कोई सत्ता अवश्य है, जिसमें शब्दशक्तिका विचार होता है, जिसके कारण रोम खड़े हो आते हैं, वह सत्ता दूर कैसे हो सकती है? जो अपनी जिह्वाके अग्रमें रसस्वादको ग्रहण करती है, उस रसका अनुभव करनेवाली कोई न कोई अलेप सत्ता अवश्य है, वह सामने आये बिना कैसे रह सकती है? वेद, वेदांत, सब सिद्धांत, पुराण, गीताद्वारा जो ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य आत्मा है उसको ही जब जान लिया तब विश्राम कैसे न हो?

२०

(१) <u>बम्बई, वि. सं. १९४४</u>

जिस आत्मामें विशालबुद्धि, मध्यस्थता, सरलता और जितेन्द्रियता इतने गुण हों, वह आत्मा तत्त्व पानेके लिये उत्तम पात्र है।

अनंतबार जन्ममरण कर चुकी हुई इस आत्माकी करुणा ऐसे ही उत्तम पात्रको उत्पन्न होती है, और ऐसा वह पात्र ही कर्म-मुक्त होनेका अभिलाषी कहा जा सकता है। वही पुरुष यथार्थ पदार्थको यथार्थ स्वरूपसे समझकर मुक्त होनेके पुरुषार्थमें लगता है।

जो आत्मायें मुक्त हुई हैं वे आत्मायें कुछ स्वच्छंद आचरणसे मुक्त नहीं हुईं, परन्तु वे आप्त-पुरुषके उपदेश किये हुये मार्गके प्रबल अवलंबनसे ही मुक्त हुई हैं।

अनादि कालके महाशत्रुरूपी राग, द्वेष और मोहके बंधनमें वह अपने संबंधमें विचार नहीं कर

सची। मनुष्यत्व, आर्यदेश, उत्तम कुल, शारीरिक संपत्ति ये अपेक्षित साधन हैं, और अंतरंग साधन केवल मुक्त होनेकी सची अभिलाषा ही है।

यदि आत्मामें इस प्रकारकी सुलभ-बोध प्राप्त करनेकी योग्यता आ गई हो, तो जो पुरुष मुक्त हुए हैं, अथवा वर्तमानमें मुक्तपनेसे अथवा आत्मज्ञान दशासे विचरते हैं उनके उपदेश किये हुए मार्गमें किसी भी प्रकारके संदेहसे रहित होकर श्रद्धाशील हो सकते हैं।

जिसमें राग, द्वेष, और मोह नहीं वही पुरुष तीनों दोषोंसे रहित मार्गका उपदेश कर सकता है, अथवा तो उसी पद्धतिसे निशंकित होकर आचरण करनेवाले सत्पुरुष उस मार्गका उपदेश दे सकते हैं।

सब दर्शनोंकी शैलीका विचार करनेसे राग, द्वेष और मोहरहित पुरुषका उपदेश किया हुआ निर्ग्रन्थ दर्शन ही विशेषरूपसे मानने योग्य है।

इन तीन दोषोंसे रहित, महा अतिशयसे प्रतापशाली तीर्थंकरदेवने मोक्षके कारणरूप जिस धर्मका उपदेश किया है, उस धर्मको चाहे जो मनुष्य स्वीकार करते हों, परन्तु वह एक पद्धतिसे होना चाहिये, यह बात शंकारहित है।

उस धर्मका अनेक मनुष्य अनेक पद्धतियोंसे प्रतिपादन करते हों और उससे मनुष्योंमें परस्पर मतभेदका कोई कारण होता हो, तो उसमें तीर्थंकरदेवकी एक पद्धतिका दोष नहीं है, परन्तु उसमें उन मनुष्योंकी समझ शक्तिका ही दोष गिना जा सकता है।

इस रीतिसे हम निर्ग्रंथ मतके प्रवर्तक हैं, इस प्रकार भिन्न भिन्न मनुष्य कहते हैं, परन्तु उनमें वे मनुष्य ही प्रमाणभूत गिने जा सकते है जो वीतरागदेवकी आज्ञाके सत्भावसे प्रकाशक प्रवर्त्तक हों।

यह काल दुःषम नामसे प्रख्यात है। दुःषमकाल उसे कहते हैं कि जिस कालमें मनुष्य महा दुःखसे आयु पूर्ण करते हों, तथा जिसमें धर्माराधनारूप पदार्थोंके प्राप्त करनेमें दुःषमता अर्थात् महाविघ्न आते हों।

इस समय वीतरागदेवके नामसे जैनदर्शनमें इतने अधिक मत प्रचलित हो गये हैं कि वे मत केवल मतरूप ही रह गये हैं; परन्तु जबतक वे वीतरागदेवकी आज्ञाका अवलंबन करके प्रवृत्ति न करते हों तबतक वे सत्रूप नहीं कहे जा सकते।

इन मतोंके प्रचलित होनेमें मुझे इतने मुख्य कारण मालूम होते हैं:-(१) अपनी शिथिलताके कारण बहुतसे पुरुषोंद्वारा निर्ग्रंथदशाके प्राधान्यको घटा देना। (२) परस्पर दो आचार्योंका वाद-विवाद (३) मोहनीयकर्मका उदय और तदनुरूप आचरणका हो जाना। (४) एक बार अमुक मत ग्रहण हो जानेके बाद उस मतसे छूटनेका यदि मार्ग मिल भी रहा हो तो भी उसे बोधिदुर्लभताके कारण ग्रहण न करना। (५) मतिकी न्यूनता। (६) जिसपर राग हो उसकी आज्ञामें चलनेवाले अनेक मनुष्य। (७) दुःषमकाल, और (८) शास्त्र-ज्ञानका घट जाना।

यदि इन सब मतोंके संबंधमें समाधान हो जाय और सब निःशंकताके साथ वीतरागदेवकी आज्ञानुसार मार्गपर चलें तो महाकल्याण हो, परन्तु ऐसा होनेकी संभावना कम है। जिसे मोक्ष

...होता है, उनकी प्रवृत्ति तो उसी मार्गमें होती है; परन्तु लोक अथवा लोकदृष्टिसे चलनेके पुरुष, ...न बुद्धिके दुर्धर्ष धर्मके उदयके कारण मनको अटकाये पड़े हुए मनुष्य, उस मार्गका विचार कर सकें ...र, उसका ज्ञान प्राप्त कर सकें, और ऐसा उनके कुछ संदिग्धरूप गुरु करते हैं, तथा मतभेद दूर ...के परमात्माकी आज्ञाका सम्यक्रूपसे आराधन करते हुए हम उन मतवादियोंको देखें, यह बिल्कुल ...संभव जैसी बात है। सबको समान बुद्धि उत्पन्न होकर, संशोधन होकर, वीतरागकी आज्ञाका ...ओंका प्रतिपादन हो, यद्यपि यह बात सर्वथारूपसे होने जैसी दीखती नहीं, परन्तु फिर भी यदि ...कल्याणबुद्धि आत्मामें उसके लिये आवश्यक प्रयत्न करती रहे तो परिणाम अवश्य ही श्रेष्ठ आयेगा, यह ...त मुझे संभव मालूम होती है।

दुःषमकालके प्रभावसे, जो लोग विद्याका ज्ञान प्राप्त कर सके हैं उनको धर्मतत्त्वपर मूलसे ही ...द्धा नहीं होती; तथा सरलताके कारण जिनको कुछ श्रद्धा होती भी है, उन्हें उस विषयका कुछ ...न नहीं होता; यदि कोई ज्ञानवाला भी निकले तो वह ज्ञान उसको धनकी वृद्धिमें विघ्न करनेवाला ...ी होता है, किन्तु सहायक नहीं होता. ऐसी ही आजकलकी हालत है। इस तरह शिक्षा पाये हुए ...लोगोंके लिये धर्मप्राप्ति होना अत्यंत कठिन हो गया है।

शिक्षारहित लोगोंमें स्वाभाविकरूपसे एक यह गुण रहता है कि जिस धर्मको हमारे बाप दादा ...मानते चले आये हैं, उसी धर्मके ऊपर हमें भी चलना चाहिये, और वही मत सत्य भी होना ...चाहिये। तथा हमें अपने गुरुके वचनोंपर ही विश्वास रखना चाहिये; फिर चाहे वह गुरु शास्त्रके ...नामतक भी न जानता हो, परन्तु वही महाज्ञानी है ऐसा मानकर चलना चाहिये। इसी तरह जो हम ...कुछ मानते हैं वही वीतरागका उपदेश किया हुआ धर्म है, बाकी तो केवल जैनमतके नामसे प्रचलित ...मत हैं और वे सब असद् मत हैं। इस तरह उनकी समझ होनेसे वे विचारे उसी मतमें संलग्न रहते हैं। अपेक्षा दृष्टिसे देखनेमें इनको भी दोष नहीं दे सकते।

जैनधर्मके अन्तर्गत जो जो मत प्रचलित हैं उनमें बहुत करके जैनसंबंधी ही क्रियायें होती, यह मानी हुई बात है। इस तरहकी समान प्रवृत्ति देखकर जो लोग जिस मतमें वे दीक्षित हुए हों, उसी मतमें ही वे दीक्षित पुरुष संलग्न रहा करते हैं। दीक्षितोंकी दीक्षा भी या तो भद्रिकताके कारण, या भीख माँगने जैसी स्थितिसे घबड़ा जानेके कारण, अथवा स्मशान-वैराग्यसे ली हुई दीक्षा जैसी होती है। वास्तविक शिक्षाकी सापेक्ष स्फुरणासे दीक्षा लेनेवाले पुरुष तुम विरले ही देखोगे। और यदि देखोगे भी तो वे उस मतसे तंग आकर केवल वीतरागदेवकी आज्ञामें संलग्न होनेके लिये ही अधिक तत्पर होंगे।

जिसको शिक्षाकी सापेक्ष स्फुरणा हुई है, उसके सिवाय दूसरे जितने दीक्षित अथवा गृहस्थ मनुष्य हैं वे सब स्वयं जिस मतमें पड़े रहते हैं उसीमें रागी होते हैं। उनको विचारोंकी प्रेरणा करनेवाला कोई नहीं मिलता। गुरु लोग अपने मतसंबंधी नाना प्रकारके योजना करके रक्खे हुए शिक्षणोंको, चाहे उसमें फिर कोई यथार्थ प्रमाण हो अथवा न हो, समझाकर उनको अपने पंजेमें रखकर उन्हें चला रहे हैं।

सकी। मनुष्यत्व, आर्यदेश, उत्तम कुल, शारीरिक संपं
केवल मुक्त होनेकी सच्ची अभिलाषा ही है।

यदि आत्मामें इस प्रकारकी सुलभ-बोध प्राप्त
हुए हैं, अथवा वर्तमानमें मुक्तपनेसे अथवा आत्मज्ञान
किसी भी प्रकारके संदेहसे रहित होकर श्रद्धाशील है

जिसमें राग, द्वेष, और मोह नहीं वही पुरु
अथवा तो उसी पद्धतिसे निशंकित होकर आचरण

सब दर्शनोंकी शैलीका विचार करनेसे रा
निर्ग्रंथ दर्शन ही विशेषरूपसे मानने योग्य है।

इन तीन दोषोंसे रहित, महा अतिशयसे
उपदेश किया है, उस धर्मको चाहे जो मनुष्य
यह बात शंकारहित है।

उस धर्मका अनेक मनुष्य अनेक प
मतभेदका कोई कारण होता हो, तो उसमें
मनुष्योंकी समझ शक्तिका ही दोष गिना

इस रीतिसे हम निर्ग्रंथ मतके प्रवर्त
वे मनुष्य ही प्रमाणभूत गिने जा सकते
प्रवर्तक हों।

यह काल दुःषम नामसे प्रख्यात
दुःखसे आयु पूर्ण करते हों, तथा जि
महाविघ्न आते हों।

इस समय वीतरागदेवके नामसे जैनद
केवल मतरूप ही रह गये हैं; परन्तु जबतक वे
हों तबतक वे सत्पुरुष नहीं कहे जा सकते।

इन मतोंके प्रचलित होनेमें मुझे इतने मुख्य
कारण बहुतसे पुरुषोंद्वारा निर्ग्रंथदशाके प्राधान्यको घटा दे
(३) मोहनीयकर्मका उदय और तदनुसार आचरणका हो
जानेके बाद उस मतसे छूटनेका यदि मार्ग मिल भी रहा है
ग्रहण न करना। (५) मतिकी न्यूनता। (६) जिसपर राग हो
मनुष्य। (७) दुःषमकाल, और (८) शास्त्र-ज्ञानका घट जाना।

यदि इन सब मतोंके संबंधमें समाधान हो जाय और सब नि..
श्रद्धानुसार मार्गपर चलें तो महाकल्याण हो, परन्तु ऐसा होनेकी संभावना

मिलाया है, उसकी प्रवृत्ति तो उसी मार्गमें होती है; परन्तु लोक अथवा लोकदृष्टिसे चलनेवाले पुरुष, या पूर्वके दुर्बल कर्मके उदयके कारण मतकी श्रद्धामें पड़े हुए मनुष्य, उस मार्गका विचार कर सकें अथवा उसका ज्ञान प्राप्त कर सकें, और ऐसा उनके कुछ बोधिदुर्लभ गुरु करने दें, तथा मतभेद दूर करके परमात्माकी आज्ञाका सम्यक्‌रूपसे आराधन करते हुए हम उन मतवादियोंको देखें, यह बिल्कुल असंभव जैसी बात है। सबको समान बुद्धि उत्पन्न होकर, संशोधन होकर, वीतरागकी आज्ञारूप मार्गका प्रतिपादन हो, यद्यपि यह बात सर्वथारूपसे होने जैसी दीखती नहीं, परन्तु फिर भी यदि सुलभबोधि आत्मायें उसके लिये आवश्यक प्रयत्न करती रहें तो परिणाम अवश्य ही श्रेष्ठ आवेगा, यह बात मुझे संभव मालूम होती है।

दुःषमकालके प्रतापसे, जो लोग विद्याका ज्ञान प्राप्त कर सके हैं उनको धर्मतत्त्वपर मूलसे ही श्रद्धा नहीं होती; तथा सरलताके कारण जिनको कुछ श्रद्धा होती भी है, उन्हें उस विषयका कुछ ज्ञान नहीं होता; यदि कोई ज्ञानवाला भी निकले तो वह ज्ञान उसको धनकी वृद्धिमें विघ्न करनेवाला ही होता है, किन्तु सहायक नहीं होता, ऐसी ही आजकलकी हालत है। इस तरह शिक्षा पाये हुए लोगोंके लिये धर्मप्राप्ति होना अत्यंत कठिन हो गया है।

शिक्षारहित लोगोंमें स्वाभाविकरूपसे एक यह गुण रहता है कि जिस धर्मको हमारे बाप दादा मानते चले आये हैं, उसी धर्मके ऊपर हमें भी चलना चाहिये, और वही मत सत्य भी होना चाहिये। तथा हमें अपने गुरुके वचनोंपर ही विश्वास रखना चाहिये; फिर चाहे वह गुरु शास्त्रके नामतक भी न जानता हो, परन्तु वही महाज्ञानी है ऐसा मानकर चलना चाहिये। इसी तरह जो हम कुछ मानते हैं वही वीतरागका उपदेश किया हुआ धर्म है, बाकी तो केवल जैनमतके नामसे प्रचलित मत हैं और वे सब असत् मत हैं। इस तरह उनकी समझ होनेसे वे बिचारे उसी मतमें संलग्न रहते हैं। अपेक्षा दृष्टिसे देखनेमें इनको भी दोष नहीं दे सकते।

जैनधर्मके अन्तर्गत जो जो मत प्रचलित हैं उनमें बहुत करके जैनसंबंधी ही क्रियायें होंगी, यह मानी हुई बात है। इस तरहकी समान प्रवृत्ति देखकर जो लोग जिस मतमें वे दीक्षित हुए हों, उसी मतमें ही वे दीक्षित पुरुष संलग्न रहा करते हैं। दीक्षितोंकी दीक्षा भी या तो भद्रिकताके कारण, या भीख माँगने जैसी स्थितिसे घबड़ा जानेके कारण, अथवा स्वकल्याण-दृष्टिसे दी हुई दीक्षा जैसी होती है। वास्तविक शिक्षाकी सापेक्ष स्फुरणासे दीक्षा लेनेवाले पुरुष तुम विरले ही देखोगे। और यदि देखोगे भी तो वे उस मतसे तंग आकर केवल वीतरागदेवकी आज्ञाके संरक्षण होनेके लिये ही अधिक तत्पर होंगे।

जिनको शिक्षाकी सापेक्ष स्फुरणा हुई है, उनके सिवाय दूसरे जितने दीक्षित अथवा गृहस्थ मनुष्य हैं वे सब स्वयं जिस मतमें पड़े रहते हैं उसीमें रमते रहते हैं। उनको विचारोंकी प्रेरणा करनेवाला कोई नहीं मिलता। गुरु लोग अपने मतसंबंधी नाना प्रकारकी योजना करके रखते हुए, शिष्योंको, चाहे उसमें फिर कोई यथार्थ प्रमाण हो अथवा न हो, समझाकर उनको अपने पीछे खींचते रहे हैं।

इसी तरह त्यागी गुरुओंके सिवाय ज़बर्दस्तीसे बन बैठे हुए महावीरदेवके मार्गरक्षकरूपसे गिने जानेवाले यतियोंकी मार्ग चलानेकी शैलीके लिये तो कुछ बोलना ही बाकी नहीं रहता। कारण कि गृहस्थके तो अणुव्रत भी होते हैं, परन्तु ये तो तीर्थंकरदेवकी तरह कल्पातीत पुरुष बन बैठे हैं।

संशोधक पुरुष बहुत कम हैं। मुक्त होनेकी अंतःकरणमें अभिलाषा रखनेवाले और पुरुषार्थ करनेवाले बहुत कम हैं। उन्हें सद्गुरु, सत्संग अथवा सत्शास्त्र जैसी सामग्रीका मिलना दुर्लभ हो गया है। जहाँ कहीं भी पूँछने जाओ वहाँ सब अपनी अपनी ही गाते हैं। फिर सच्ची और झूठी कोई भाव ही नहीं पूँछता। भाव पूँछनेवालेके आगे मिथ्या प्रश्नोत्तर करके वे स्वयं अपनी संसार-स्थिति बढ़ाते हैं और दूसरेको भी संसारकी स्थिति बढ़ानेका निमित्त होते हैं।

रही सहीमें पूरी बात यह है कि यदि कोई एक कोई संशोधक आत्मा है भी तो वे भी अप्रयोजनभूत पृथिवी इत्यादि विषयोंमें शंकाके कारण रुक गई हैं। उन्हें भी अनुभव-धर्मपर आना कठिन हो गया है।

इसपरसे मेरा कहनेका यह अभिप्राय नहीं है कि आजकल कोई भी जैनदर्शनका आराधक नहीं। हैं अवश्य, परन्तु बहुत ही कम, बहुत ही कम। और जो है भी उनमें मुक्त होनेके सिवाय दूसरी कोई भी अभिलाषा न हो, और उन्होंने वीतरागकी आज्ञामें ही अपनी आत्मा समर्पण कर दी हो तो ऐसे लोग तो उँगलीपर गिनने लायक ही निकलेंगे, नहीं तो दर्शनकी दशा देखकर करुणा उत्पन्न हो आती है। यदि स्थिर चित्तसे विचार करके देखोगे तो तुम्हें यह मेरा कथन स्पष्ट सिद्ध होगा।

इन सब मतोंमें कुछ मतोंके विषयमें तो कुछ सामान्य ही विवाद है। किन्तु मुख्य विवाद इस विषयका है कि एक प्रतिमाकी सिद्धि करता है, और दूसरा उसका सर्वथा खंडन करता है।

दूसरे पक्षमें पहिले मैं भी गिना जाता था। मेरी अभिलाषा तो केवल वीतरागदेवकी आज्ञाके आराधन करनेकी ही ओर है। अपनी स्थिति सत्य सत्य स्पष्ट करके यह मैं बता देना चाहता हूँ कि प्रथम पक्ष सत्य है, अर्थात् जिनप्रतिमा और उसका पूजन शास्त्रोक्त, प्रमाणोक्त, अनुभवोक्त है और अनुभवमें लेने योग्य है। मुझे उन पदार्थोंका जिस रूपसे ज्ञान हुआ है और उस संबंधमें मुझे जो अल्प शंका थी वह भी दूर हो गई है। उस वस्तुका कुछ थोड़ासा प्रतिपादन करनेसे उससे मनुष्य भी आत्मा विचार कर सकेगी, और उस वस्तुकी सिद्धि हो जाय तो इस संबंधमें उसका कल्याण होनेमें यह सुलभबोध पानेका भी एक कार्य होगा; यह समझकर संक्षेपमें प्रतिमाकी सिद्धिके लिये विचारोंको यहाँ कहता हूँ:—

मेरी प्रतिमामें श्रद्धा है, इसलिये तुम सब भी श्रद्धा करो इसलिये मैं यह नहीं कह रहा हूँ, परन्तु यदि उससे वीर भगवान्की आज्ञाका आराधन होता दिखाई दे तो वैसा करो, परन्तु इतना ध्यान रखना चाहिये कि—

आगमके कुछ प्रमाणोंकी सिद्धि होनेके लिये परंपराके अनुभव इत्यादिकी आवश्यकता है। तुम कहो तो मैं कुतर्कसे समस्त जैनदर्शनका भी खंडन कर दिखा दूँ; परन्तु उसमें कल्याण है

जहाँ प्रमाणसे और अनुभवसे वस्तु सत्य सिद्ध हुई वहाँ जिज्ञासु पुरुष अपने चाहे कैसे भी हठको छोड़ देते हैं।

यदि यह महान् विवाद इस कालमें न पड़ा होता तो लोगोंको धर्मकी प्राप्ति बहुत सुलभ हो जाती। संक्षेपमें मैं इस बातको पाँच प्रकारके प्रमाणोंसे सिद्ध करता हूँ:—

१ आगम प्रमाण, २ इतिहास प्रमाण, ३ परंपरा प्रमाण, ४ अनुभव प्रमाण, और ५ प्रमाण प्रमाण।

१ आगम प्रमाण—

आगम किसे कहते हैं ? पहले इसकी व्याख्या होनेकी जरूरत है। जिसका प्रतिपादक मूल पुरुष आप्त हो और जिसमें उस आप्तपुरुषके वचन सन्निविष्ट हों, वह आगम है। गणधरोंने वीतराग-देवके उपदेश किये हुए अर्थकी योजना करके संक्षेपमें मुख्य मुख्य वचनोंको लेकर लिपिबद्ध किया, और वे ही आगम अथवा सूत्रके नामसे कहे जाते हैं। आगमका दूसरा नाम सिद्धांत अथवा शास्त्र भी है।

गणधरदेवोंने तीर्थंकरदेवसे उपदेशकी हुई पुस्तकोंकी योजनाको द्वादशांगीरूपसे की है। इन बारह अंगोंके नाम कहता हूँ:—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, अंतकृतदशांग, अनुत्तरौपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाक, और दृष्टिवाद।

१. जिससे वीतरागकी किसी भी आज्ञाका पालन होता हो वैसा आचरण करना, यही मुख्य उद्देश्य है।

२. मैं पहिले प्रतिमाको नहीं मानता था और अब मानने लगा हूँ, इसमें कुछ पक्षपातका कारण नहीं है; परन्तु मुझे उसकी सिद्धि मालूम हुई इसलिये मानता हूँ। उसकी सिद्धि होनेपर भी इसे न माननेसे पहिलेकी मान्यताकी भी सिद्धि नहीं रहती, और ऐसा होनेसे आराधकता भी नहीं रहती।

३. मुझे इस मत अथवा उस मतकी कोई मान्यता नहीं, परन्तु राग-द्वेषरहित होनेकी परमाकांक्षा है; और इसके लिये जो जो साधन हों उन सबकी मनसे इच्छा करना, उन्हें कायसे करना, ऐसी मेरी मान्यता है, और इसके लिये महावीरके वचनोंपर मुझे पूर्ण विश्वास है।

४. अब केवल इतनी प्रस्तावना करके प्रतिमाके संबंधमें जो मुझे अनेक प्रकारसे प्रमाण मिले हैं उन्हें कहता हूँ। इन प्रमाणोंपर मनन करनेसे पहले वाचक लोग कृपा करके नीचेके विचारोंको ध्यानमें रक्खें:—

(अ) तुम भी पार पानेके इच्छुक हो, और मैं भी हूँ; दोनों ही महावीरके उपदेश—आत्म-हितैषी उपदेशकी इच्छा करते हैं और यही न्याययुक्त भी है। इसलिये जहाँ सत्यता हो वहाँ हम दोनोंको ही निष्पक्षपात होकर सत्यता स्वीकार करनी चाहिये।

(आ) जबतक कोई भी बात योग्य रीतिसे समझमें न आवे तबतक उसे समझते जाना और उस संबंधमें अंतिम बात कहते हुए मौन रखना।

(इ) अमुक बात सिद्ध हो तो ही ठीक है, ऐसी इच्छा न करना, परन्तु सत्य ही सत्य सिद्ध

हो यही इच्छा करना। प्रतिमाके पूजनेसे ही मोक्ष है, अथवा उसे न माननेसे ही मोक्ष है, इ
दोनों विचारोंके प्रगट करनेसे इस पुस्तकको योग्य प्रकारसे मनन करनेतक मौन रहना।

(ई) शास्त्रकी शैलीसे विरुद्ध अथवा अपने मानकी रक्षाके लिये कदाग्रही होकर कों
भी बात न कहना।

(उ) जबतक एक बातको असत्य और दूसरीको सत्य माननेमें निर्दोष कारण न दिया ज
सके तबतक अपनी बातको मध्यस्थवृत्तिमें रोककर रखना।

(ऊ) किसी भी शास्त्रकारका ऐसा कहना नहीं है कि किसी अमुक धर्मको माननेवाला सम्पू
समुदाय ही मोक्ष चला जावेगा, परन्तु जिनकी आत्मा धर्मरत्नको धारण करेगी वे सभी सिद्धिको प्र
करेंगे, इसलिये पहिले स्वात्माको धर्म-बोधकी प्राप्ति करानी चाहिये। उसका यह भी एक साधन है।
उसका परोक्ष किंवा प्रत्यक्ष अनुभव किये बिना मूर्तिपूजाका खंडन कर टालना योग्य नहीं।

(ए) यदि तुम प्रतिमाको माननेवाले हो तो उससे जिस हेतुको सफल करनेकी परमात्माकी
आज्ञा है उसे सफल कर लो, और यदि तुम प्रतिमाका खंडन करते हो तो इन प्रमाणोंको यथेष्ट रीतिसे
विचार कर देखो। मुझे दोनोंको ही शत्रु अथवा मित्रमें से कुछ भी नहीं मानना चाहिये। इनमें मे
एक राय है, ऐसा समझकर उन्हें इस ग्रंथको पढ़ जाना चाहिये।

(ऐ) इतना ही ठीक है, अथवा इतनेमें से ही प्रतिमाकी सिद्धि हो तो ही हम मानेंगे इस
तरहका आग्रह न रखना, परन्तु वीरके उपदेश किये हुए शास्त्रोंसे इसकी सिद्धि हो, ऐसी इच्छा करना।

(ओ) इसीलिये सबसे पहिले विचार करना पड़ेगा कि किन किन शास्त्रोंको वीरके उपदे
किये हुए शास्त्र कह सकते हैं अथवा मान सकते हैं, इसलिये मैं सबसे पहिले इसी संबंधमें कहूँगा।

(औ) मुझे संस्कृत, मागधी अथवा अन्य किसी भाषाका भी मेरी योग्यतानुसार परिचय नहीं,
ऐसा मानकर यदि आप मुझे अप्रामाणिक ठहराओगे तो यह बात न्यायके विरुद्ध होगी, इसलिये
मेरे कथनको शास्त्र और आत्म-मध्यस्थतामें जाँच करना।

(अं) यदि मेरे कोई विचार ठीक न लगें, तो उन्हें सहर्ष मुझसे पूँछना, परन्तु उसके पहिले
ही उस विषयमें अपनी कल्पनाद्वारा शंका बनाकर मत बैठना।

(अः) संक्षेपमें यही कहना है कि जैसे कल्याण हो वैसे आचरण करनेके संबंधमें यदि मेरा
कहना अयोग्य लगता हो तो उसके लिये यथार्थ विचार करके फिर जो ठीक हो उसीको मान्य करना।

शास्त्र-सूत्र कितने हैं?

१. एक पक्ष ऐसा कहना है कि आजकल पैंतालीस अथवा पैंतालीससे भी अधिक सूत्र हैं
और उनकी निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका इन सबको भी मानना चाहिये। दूसरा पक्ष कहता है
कि कुल सूत्र बत्तीस ही हैं, और वे बत्तीस ही भगवान्के उपदेश किये हुए हैं। बाकीके सूत्रोंमें हु
मिलावट हो गई है; तथा निर्युक्ति इत्यादि भी मिश्रित ही हैं, इसलिये कुल सूत्र बत्तीस ही मानने
चाहिये। इस मान्यताके संबंधमें पहिले मैं अपनी समझमें आये हुए विचारोंको कहता हूँ।

दूसरे पक्षकी उत्पत्ति हुए आज लगभग चारसौ वर्ष हुए हैं। वे लोग जिन बत्तीस
मानते हैं वे सूत्र इस प्रकार हैं—११ अंग, १२ उपांग, ४ मूल, ४ छेद, १ आवश्यक।

(२)

अन्तिम अनुरोध

अब इस विषयको मैंने संक्षेपमें पूर्ण किया। केवल प्रतिमासे ही धर्म है, ऐसा कहनेके लिये अथवा प्रतिमाके पूजनकी सिद्धिके लिये मैंने इस लघु ग्रंथमें कलम नहीं चलाई। प्रतिमा-पूजनके लिये मुझे जो जो प्रमाण मालूम हुए थे मैंने उन्हें संक्षेपमें कह दिया है। उसमें उचित और अनुचित देखनेका काम शास्त्र-विचक्षण और न्यायसंपन्न पुरुषोंका है। और बादमें जो प्रामाणिक मालूम हो उस तरह स्वयं चलना और दूसरोंको भी उसी तरह प्ररूपण करना यह उनकी आत्माके ऊपर आधार रखता है। इस पुस्तकको मैं प्रसिद्ध नहीं करता; क्योंकि जिस मनुष्यने एक बार प्रतिमा-पूजनका विरोध किया हो, फिर यदि वही मनुष्य उसका समर्थन करे, तो इससे प्रथम पक्षवालोंके लिये बहुत खेद होता है और यह कटाक्षका कारण होता है। मैं समझता हूँ कि आप भी मेरे प्रति थोड़े समय पहिले ऐसी ही स्थितिमें आ गये थे। यदि उस समय इस पुस्तकको मैं प्रसिद्ध करता तो आपका अंतःकरण अधिक दुखता और उसके दुखानेका निमित्त मैं ही होता, इसलिये मैंने ऐसा नहीं किया। कुछ समय बीतनेके बाद मेरे अंतःकरणमें एक ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि तेरे लिये उन भाईयोंके मनमें संक्लेश विचार आते रहेंगे; तथा तूने जिस प्रमाणसे इसे माना है, वह भी केवल एक तेरे ही हृदयमें रह जायगा, इसलिये उसकी सत्यतापूर्वक प्रसिद्धि अवश्य करनी चाहिये। इस विचारको मैंने मान लिया। तब उसमेंसे बहुत ही निर्मल जिस विचारकी प्रेरणा हुई, उसे संक्षेपमें कह देता हूँ। प्रतिमाको मानो, इस आग्रहके लिये यह पुस्तक बनानेका कोई कारण नहीं है, तथा उन लोगोंके प्रतिमाको माननेसे मैं कुछ धनवान् तो हो ही नहीं जाऊँगा। इस संबंधमें मेरे जो जो विचार थे—

२१वाँ वर्ष

२१

भड़ौंच, मंगसिर सुदी ३ गुरु. १९४

पत्रसे सब समाचार विदित हुए। अपराध नहीं, परन्तु परतंत्रता है। निरन्तर सत्पुरुषकी इस दृष्टिकी इच्छा करो और शोकरहित रहो, यह मेरा परम अनुरोध है, उसे स्वीकार करना। विशेष लिखे तो भी इस आत्माको उस बातका ध्यान है। बड़ोंको खुशीमें रक्खो। सच्चा धीरज धरो।

(पूर्ण खुशीमें हूँ।)

२२

भड़ौंच, मंगसिर सुदी १२, १९४

जगत्में रागहीनता विनय और सत्पुरुषकी आज्ञा ये न मिलनेसे यह आत्मा अनादिकाल भटकती रही, परन्तु क्या करें लाचारी थी। जो हुआ सो हुआ। अब हमें पुरुषार्थ करना उचि है। जय होओ।

२३

बम्बई, मंगसिर वदी ७ भौम. १९४

जिनाय नमः

मेरी ओर मोह-दशा न रक्खो। मैं तो एक अल्पशक्तिवाला पामर मनुष्य हूँ। सृष्टिमें अने सत्पुरुष छिपे पड़े, हैं और विदितरूपसे भी हैं, उनके गुणका स्मरण करो, उनका पवित्र समा करो और आत्मिक लाभसे मनुष्य भवको सार्थक करो, यही मेरी निरंतर प्रार्थना है।

२४

बम्बई, मंगसिर वदी १२ शनि. १९

मैं समयानुसार आनंदमें हूँ। आपका आत्मानंद चाहता हूँ। एक बड़ा निवेदन यह करना कि जिसमें हमेशा शोककी न्यूनता और पुरुषार्थकी अधिकता प्राप्त हो, इस तरह पत्र लिखनेक प्रयत्न करते रहें।

२५

वि. स. १९४५ के

तुम्हारा प्रशस्तभाव-भूषित पत्र मिला। जिस मार्गसे आत्मत्व प्राप्त हो उस मार्गकी खोज कर तुम मुझपर प्रशस्तभाव लाओ ऐसा मैं पात्र नहीं, तो भी यदि इस तरहसे तुमको आत्मशांति प्राप्त हो तो करो।

---

(२)

अन्तिम अनुरोध

अब इस विषयको मैंने संक्षेपमें पूर्ण किया। केवल प्रतिमासे ही धर्म है, ऐसा कहनेके लिये अथवा प्रतिमाके पूजनकी सिद्धिके लिये मैंने इस लघु ग्रंथमें कलम नहीं चलाई। प्रतिमा-पूजनके लिये मुझे जो जो प्रमाण मालूम हुए थे मैंने उन्हें संक्षेपमें कह दिया है। उसमें उचित और अनुचित देखनेका काम शास्त्र-विचक्षण और न्यायसंपन्न पुरुषोंका है। और बादमें जो प्रामाणिक मालूम हो उस तरह स्वयं चलना और दूसरोंको भी उसी तरह प्ररूपण करना यह उनकी आत्माके ऊपर आधार रखता है। इस पुस्तकको मैं प्रसिद्ध नहीं करता; क्योंकि जिस मनुष्यने एक बार प्रतिमा-पूजनका विरोध किया हो, फिर यदि वही मनुष्य उसका समर्थन करे, तो इससे प्रथम पक्षवालोंके लिये बहुत खेद होता है और वह कटाक्षका कारण होता है। मैं समझता हूँ कि आप भी मेरे प्रति थोड़े समय पहिले ऐसी ही स्थितिमें आ गये थे। यदि उस समय इस पुस्तकको मैं प्रसिद्ध करता तो आपका अंतःकरण अधिक दुखता और उसके दुखनेका निमित्त मैं ही होता, इसलिये मैंने ऐसा नहीं किया। कुछ समय बीतनेके बाद मेरे अंतःकरणमें एक ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि तेरे लिये उन भाईयोंके मनमें संक्लेश विचार आते रहेंगे; तथा तूने जिस प्रमाणसे इसे माना है, वह भी केवल एक तेरे ही हृदयमें रह जायगा, इसलिये उसकी सभ्यतापूर्वक प्रसिद्धि अवश्य करनी चाहिये। इस विचारको मैंने मान लिया। तब उसमेंसे बहुत ही निर्मल जिस विचारकी प्रेरणा हुई, उसे संक्षेपमें कह देता हूँ। प्रतिमाको मानो, इस आग्रहके लिये यह पुस्तक बनानेका कोई कारण नहीं है, तथा उन लोगोंके प्रतिमाको माननेसे मैं कुछ धनवान् तो हो ही नहीं जाऊँगा। इस संबंधमें मेरे जो जो विचार थे—

२६ ववाणीआ, माघ सुदी १४ बुध. १९४५

सत्पुरुषोंको नमस्कार

अनंतानुबंधी क्रोध, अनंतानुबंधी मान, अनंतानुबंधी माया, और अनंतानुबंधी लोभ ये चार, था मिथ्यात्वमोहिनी, मिश्रमोहिनी, सम्यक्त्वमोहिनी ये तीन इस तरह जबतक सात प्रकृतियोंका क्षयोप-म, उपशम अथवा क्षय नहीं होता तबतक सम्यग्दृष्टि होना संभव नहीं। ये सात प्रकृतियाँ जैसे जैसे द होती जाती हैं वैसे वैसे सम्यक्त्वका उदय होता जाता है। इन प्रकृतियोंकी ग्रंथिको छेदना बड़ा ही ठिन है। जिसको यह ग्रंथी नष्ट हो गई उसको आत्माका हस्तगत होना सुलभ है। तत्त्वज्ञानियोंने ी ग्रंथिको भेदन करनेका बार बार उपदेश दिया है। जो आत्मा अप्रमादपनेसे उसके भेदन करनेकी ोर दृष्टि करेगी वह आत्मा आत्मत्वको अवश्य पायेगी, इसमें सन्देह नहीं।

सद्गुरुके उपदेशके बिना और जीवकी सत्पात्रताके बिना ऐसा होना रुका हुआ है। उसकी ाप्ति करके संसारतापसे अत्यंत तप्त आत्माको शीतल करना यही कृतकृत्यता है।

"धर्म" यह बहुत गुप्त वस्तु है। वह बाहर ढूँढ़नेसे नहीं मिलती। वह तो अपूर्व अंतर्संशो-नसे ही प्राप्त होती है। यह अंतर्संशोधन किसी एक महाभाग्य सद्गुरुके अनुग्रहसे प्राप्त होता है।

सत्पुरुष एक भवके थोड़ेसे सुखके लिये अनंत भवका अनंत दुःख बढ़ानेका प्रयत्न नहीं करते।

शायद यह बात भी मान्य है कि जो बात होनेवाली है वह होकर ही रहेगी, और जो बात ोनेवाली नहीं है वह कभी होगी नहीं; तो फिर धर्म-सिद्धिके प्रयत्न करने और आत्म-हित साध्य करनेमें न्य उपाधियोंके आधीन होकर प्रमाद क्यों करना चाहिये? ऐसा है तो भी देश, काल, पात्र और ाव देखने चाहिये।

सत्पुरुषोंका योगबल जगत्का कल्याण करो।

रागहीन श्रेणी-समुच्चयको प्रणाम.

---

२७ ववाणीआ, माघ १९४५

जिज्ञासु—

आपके प्रश्नको उद्धृत करके अपनी योग्यताके अनुसार आपके प्रश्नका उत्तर लिखता हूँ।

प्रश्नः—"व्यवहारशुद्धि कैसे हो सकती है?"

उत्तरः—व्यवहारशुद्धिकी आवश्यकता आपके ध्यानमें होगी, तो भी विषयमें प्रवेश करनेके लिये आवश्यक समझकर इतना कहना योग्य है कि जिस व्यवहार प्रवृत्तिसे इस लोक और परलोकमें सुख मिले उसका नाम व्यवहारशुद्धि है। सुखके इच्छुक सब हैं। जब व्यवहारशुद्धिसे सुख मिलता है तो उसकी आवश्यकता भी निस्सन्देह है।

१. जिसे धर्मका कुछ भी बोध हुआ है, और जिसे [illegible] करनेमें डर नहीं, उसे इसलिये [illegible] करनेका प्रयत्न न करना चाहिये।

२६ ववाणीआ, माघ सुदी १४ बुध. १९४५

सत्पुरुषोंको नमस्कार

अनंतानुबंधी क्रोध, अनंतानुबंधी मान, अनंतानुबंधी माया, और अनंतानुबंधी लोभ ये चार, तथा मिथ्यात्वमोहिनी, मिश्रमोहिनी, सम्यक्त्वमोहिनी ये तीन इस तरह जबतक सात प्रकृतियोंका क्षयोपशम, उपशम अथवा क्षय नहीं होता तबतक सम्यग्दृष्टि होना संभव नहीं। ये सात प्रकृतियाँ जैसे जैसे मंद होती जाती हैं वैसे वैसे सम्यक्त्वका उदय होता जाता है। इन प्रकृतियोंकी ग्रंथीको छेदना बड़ा ही कठिन है। जिसको यह ग्रंथी नष्ट हो गई उसको आत्माका हस्तगत होना सुलभ है। तत्त्वज्ञानियोंने इसी ग्रंथीको भेदन करनेका बार बार उपदेश दिया है। जो आत्मा अप्रमादपनेसे उसके भेदन करनेकी ओर दृष्टि करेगी वह आत्मा आत्मत्वको अवश्य पावेगी, इसमें सन्देह नहीं।

सद्गुरुके उपदेशके बिना और जीवकी सत्पात्रताके बिना ऐसा होना रुका हुआ है। उसकी प्राप्ति करके संसारत्यागसे अनंत तप्त आत्माको शीतल करना यही कृतकृत्यता है।

"धर्म" यह बहुत गुप्त वस्तु है। वह बाहर ढूँढ़नेसे नहीं मिलती। वह तो अपूर्व अंतर्संशोधनसे ही प्राप्त होती है। यह अंतर्संशोधन किसी एक महाभाग्य सद्गुरुके अनुग्रहसे प्राप्त होता है।

सत्पुरुष एक भवके थोड़ेसे सुखके लिये अनंत भवका अनंत दुःख बढ़ानेका प्रयत्न नहीं करते।

शायद यह बात भी मान्य है कि जो बात होनेवाली है वह होकर ही रहेगी, और जो बात होनेवाली नहीं है वह कभी होगी नहीं; तो फिर धर्म-सिद्धिके प्रयत्न करने और आत्म-हित साध्य करनेमें अन्य उपाधियोंके आधीन होकर प्रमाद क्यों करना चाहिये? ऐसा है तो भी देश, काल, पात्र और भाव देखने चाहिये।

सत्पुरुषोंका योगबल जगत्का कल्याण करो।

रागहीन श्रेणी-समुच्चयको प्रणाम.

---

२७ ववाणीआ, माघ १९४५

जिज्ञासु—

आपके प्रश्नको उद्धृत करके अपनी योग्यताके अनुसार आपके प्रश्नका उत्तर लिखता हूँ।

प्रश्नः—"व्यवहारशुद्धि कैसे हो सकती है?"

उत्तरः—व्यवहारशुद्धिकी आवश्यकता आपके लक्ष्यमें होगी, तो भी विषयको प्रारंभ करनेके लिये आवश्यक समझकर इतना कहना योग्य है कि जिस व्यवहार प्रवृत्तिसे इस लोकमें और परलोकमें सुख मिले उसका नाम व्यवहारशुद्धि है। सुखके इच्छुक सब हैं। जब व्यवहारशुद्धिसे सुख मिलता है तो उसकी आवश्यकता भी निस्सन्देह है।

१. जिसे धर्मका कुछ भी बोध हुआ है, और जिसे संचय करनेकी जरूर नहीं, उसे उपाधि करके कमानेका प्रयत्न न करना चाहिये।

२. जिसे धर्मका योग हुआ है, उसे जिस तरह उसके इस भवका दुःख हो तो उसे सदा इसलिये करके करानेके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

(जिसकी सर्वसंगपरित्यागी होनेकी अपेक्षा है उसे इस नियमसे संबंध नहीं।)

३. जिसके जीवन दूसरे कोई न्याय उसके अनेक दर्शके होनेसे नहीं जिसका मन उसमें बहुत लगता रहता है उसे उसके चाहिये उसके आगेके कर्मोंको बुद्धि करनेका प्रयत्न होना चाहिये। यदि इसके उसके छोड़नेके सिवाय कुछ दूसरा उपाय आता है, उसकी उसको इसमें पहुँचनेके अतिरिक्त दूसरा कुछ उपाय आता हो तो मनको समझा देना चाहिये। होनेपर भी यदि मनको समझाया न जा सके तो अमुक मर्यादा बाँधनी चाहिये। वह मर्यादा ऐसी होनी चाहिये जो सुखका कारण हो।

४. अनेकों अर्थोपार्जन करनेकी जरूरत पड़े, ऐसी परिस्थिति खड़ी कर देनेकी अपेक्षा संतोष करना कहीं अच्छा है।

५. जिसका जीवन-निर्वाह ठीक प्रकारसे चल रहा हो, उसे किसी भी प्रकारके अन्यायसे लक्ष्मी प्राप्त न करनी चाहिये। जिस कामसे मनको सुख नहीं होता, उसमें कायाको और धनको भी सुख नहीं होता। अनाचारसे मन सुखी नहीं होता, यह एक ऐसी बात है जो सब किसीके अनुभवमें आ सकती है।

नीचेके दोष नहीं लगने देने चाहियेः—

१. किसीके साथ महा विश्वासघात.
२. मित्रके साथ विश्वासघात.
३. किसीकी धरोहर खा जाना.
४. व्यसनका सेवन करना.
५. मिथ्या दोषारोपण.
६. झूँठा दस्तावेज़ लिखाना.
७. हिसाबमें चूकना.
८. अत्याचारपूर्ण भाव कहना.
९. निर्दोषीको अल्प मायासे भी ठग लेना.
१०. न्यूनाधिक तोल देना.
११. एकके बदले दूसरा अथवा मिश्र करके दे देना.
१२. हिंसायुक्त धंधा.
१३. रिश्वत अथवा अदत्तादान.

इन मार्गोंसे कुछ भी कमाना नहीं।

यह मानों जीवन-निर्वाहसंबंधी सामान्य व्यवहारशुद्धि कही।

---

२८ ववाणीआ, माघ वदी ७ शुक्र. १९४५

...ो नमस्कार

आपको इस दशाको जैसे ... ९ योग्यताके अ... होकर उन सबोंके मनका ... समाधान करके, ... किसी ... संगति ... पुरुष उस परमात्म-तत्त्वमें ... लीन रहे, यही ... पन और ... हो सँभालना। धर्मतत्त्व ... करनेका

२६ ववाणीआ, माघ सुदी १४ बुध. १९४५

सत्पुरुषोंको नमस्कार

अनंतानुबंधी क्रोध, अनंतानुबंधी मान, अनंतानुबंधी माया, और अनंतानुबंधी लोभ ये चार, तथा मिथ्यात्वमोहिनी, मिश्रमोहिनी, सम्यक्त्वमोहिनी ये तीन इस तरह जबतक सात प्रकृतियोंका क्षयोपशम, उपशम अथवा क्षय नहीं होता तबतक सम्यग्दृष्टि होना संभव नहीं। ये सात प्रकृतियाँ जैसे जैसे मंद होती जाती हैं वैसे वैसे सम्यक्त्वका उदय होता जाता है। इन प्रकृतियोंकी ग्रंथीको छेदना बड़ा ही कठिन है। जिसकी यह ग्रंथी नष्ट हो गई उसको आत्माका हस्तगत होना सुलभ है। तत्त्वज्ञानियोंने इसी ग्रंथीको भेदन करनेका बार बार उपदेश दिया है। जो आत्मा अप्रमादपनेसे उसके भेदन करनेकी ओर दृष्टि करेगी वह आत्मा आत्मत्वको अवश्य पावेगी, इसमें सन्देह नहीं।

सद्गुरुके उपदेशके बिना और जीवकी सत्पात्रताके बिना ऐसा होना रुका हुआ है। उसकी प्राप्ति करके संसार-तापसे अत्यंत तप्त आत्माको शीतल करना यही कृतकृत्यता है।

"धर्म" यह बहुत गुप्त वस्तु है। वह बाहर ढूँढनेसे नहीं मिलती। वह तो अपूर्व अंतर्संशोधनसे ही प्राप्त होती है। यह अंतर्संशोधन किसी एक महाभाग्य सद्गुरुके अनुग्रहसे प्राप्त होता है।

सत्पुरुष एक भवके थोड़ेसे सुखके लिये अनंत भवका अनंत दुःख बढ़ानेका प्रयत्न नहीं करते।

शायद यह बात भी मान्य है कि जो बात होनेवाली है वह होकर ही रहेगी, और जो बात होनेवाली नहीं है वह कभी होगी नहीं; तो फिर धर्म-सिद्धिके प्रयत्न करने और आत्म-हित साध्य करनेमें अन्य उपाधियोंके आधीन होकर प्रमाद क्यों करना चाहिये? ऐसा है तो भी देश, काल, पात्र और भाव देखने चाहिये।

सत्पुरुषोंका योगबल जगत्का कल्याण करो।

रागहीन श्रेणी-समुच्चयको प्रणाम.

---

२७ ववाणीआ, माघ १९४५

जिज्ञासु—

आपके प्रश्नको उद्धृत करके अपनी योग्यताके अनुसार आपके प्रश्नका उत्तर लिखता हूँ।

प्रश्नः—"व्यवहारशुद्धि कैसे हो सकती है?"

उत्तरः—व्यवहारशुद्धिकी आवश्यकता आपके लक्षमें होगी, तो भी विषयको प्रारंभ करनेके लिये आवश्यक समझकर इतना कहना योग्य है कि जिस संसार प्रवृत्तिसे इस लोकमें और परलोकमें सुख मिले उसका नाम व्यवहारशुद्धि है। सुखके इच्छुक सब है। जब व्यवहारशुद्धिसे सुख मिलता है तो उसकी आवश्यकता भी निस्सन्देह है।

१. जिसे धर्मका कुछ भी बोध हुआ है, और जिसे संचय करनेकी जरूर नहीं, उसे उपाधि करके कमानेका प्रयत्न न करना चाहिये।

३०

ववाणीआ, माघ वदी ७, १९

रागहीन पुरुषोंको नमस्कार

सत्पुरुषोंका यह महान् उपदेश है कि उदय आये हुए कर्मोंको भोगते हुए नये कर्मोंका बं हो, इससे आत्माको सचेत रखना।

यदि वहाँ तुम्हें समय मिलता हो तो जिन-भक्तिमें अधिकाधिक उत्साहकी वृद्धि करते रह और एक घड़ीभर भी सत्संग अथवा सत्कथाका मनन करते रहना।

(किसी समय) शुभाशुभ कर्मके उदयके समय हर्ष शोकमें न पड़कर भोगनेमें ही श्रेय है, और यह वस्तु मेरी नहीं, ऐसा मानकर समभावकी श्रेणिको बढ़ाते रहना।

३१

ववाणीआ, माघ वदी १० सोम. १९

रागहीन पुरुषोंको नमस्कार

निर्ग्रथ भगवान्‌के प्रणीत किये हुए पवित्र धर्मके लिये जो कुछ भी उपमायें दी जायें वे न्यून ही हैं। आत्मा अनंतकाल भटकी, वह केवल अपने निरुपम धर्मके अभावके ही कारण। जिन एक रोममें भी किंचित् भी अज्ञान, मोह अथवा असमाधि नहीं रही उस सत्पुरुषके वचन और लिये हम कुछ भी नहीं कह सकते, उन्हींके वचनमें प्रशस्तभावसे पुनः पुनः अनुरक्त होना अपना सर्वोत्तम श्रेय है।

कैसी इनकी शैली है! जहाँ आत्माके विकारमय होनेका अनंतवाँ अंश भी बाकी नहीं ऐसी शुद्ध स्फटिक, फेन और चन्द्रसे भी उज्ज्वल शुक्लध्यानकी श्रेणीसे प्रवाहरूपमें निकले हुए निर्ग्रथके पवित्र वचनोंकी मुझे और तुम्हें त्रिकाल श्रद्धा रहे! यही परमात्माके योगबलके आगे याचना है।

३२

ववाणीआ, फाल्गुन सुदी ९ री. १९

निर्ग्रन्थ महात्माओंको नमस्कार

मोक्षके मार्ग दो नहीं हैं। भूतकालमें जिन जिन पुरुषोंने मोक्षरूप परम शांति पाई है, उ सब सत्पुरुषोंने इसे एक ही मार्गसे पाई है, वर्तमानकालमें भी उसीसे पाते हैं, और भविष्यकालमें उसीसे पायेंगे। उस मार्गमें मतभेद नहीं है, असरलता नहीं है, उन्मत्तता नहीं है, भेदाभेद नहीं और मान्यामान्यता नहीं है। वह सरल मार्ग है, वह समाधि मार्ग है, तथा वह स्थिर मार्ग है; और वह स्वाभाविक शांतिस्वरूप है। उस मार्गका सब कालमें अस्तित्व है। इस मार्गके मर्मको पाये बिना किसीने भी भूतकालमें मोक्ष नहीं पाई, वर्तमानकालमें कोई नहीं पा रहा, और भविष्यकालमें पायेगा नहीं।

श्रीजिन भगवान्‌ने इस एक ही मार्गके बतानेके लिये हजारों क्रियायें और हजारों उप

२९ ववाणीआ, माघ वदी ७ शुक्र. १९४५

ॐ

सत्पुरुषोंको नमस्कार

सुज्ञ,—आप वैराग्यविषयक मेरी आत्म-प्रवृत्तिके विषयमें पूँछते हैं, इस प्रश्नका उत्तर किन शब्दोंमें लिखूँ ? और उसके लिये आपको प्रमाण भी क्या दे सकूँगा ? तो भी संक्षेपमें यदि ज्ञानीके माने हुए इस (तत्त्व ?) को मान लें कि उदयमें आये हुए पूर्व कर्मोंको भोग लेना और नूतन कर्म न बँधने देना, तो इसमें ही अपना आत्म-हित है । इस श्रेणीमें रहनेकी मेरी पूर्ण आकांक्षा है; परन्तु वह ज्ञानीगम्य है इसलिये अभी उसका एक अंश भी बाह्य प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।

अंतरंग प्रवृत्ति चाहे कितनी भी रागरहित श्रेणीकी ओर जाती हो परन्तु अभी बाह्य प्रवृत्तिके आधीन बहुत रहना पड़ेगा, यह स्पष्ट ही है । बोलते, चलते, बैठते, उठते और कोई भी काम करते हुए लौकिक श्रेणीको ही अनुसरण करके चलना पड़ता है । यदि ऐसा न हो सके तो लोग तरह तरहके कुतर्क करने लग जायँगे, ऐसी मुझे संभावना मालूम होती है ।

तो भी कुछ प्रवृत्ति फेरफारकी रक्खी है । तुम सबको मेरी (वैराग्यमयी) प्रवृत्तिविषयक मान्यता कुछ बाधासे पूर्ण लगती है, तथा मेरी उस श्रेणीके लिये किसी किसीका मानना शंकासे पूर्ण भी हो सकता है, इसलिये तुम सब मुझे वैराग्यमें जाते हुए रोकनेका प्रयत्न करो, और शंका करनेवाले उस वैराग्यसे उपेक्षित होकर माने नहीं, इससे खेद पाकर संसारकी वृद्धि करनी पड़े, इसी कारण मेरी यह मान्यता है कि इस पृथिवी मण्डलपर सत्य अंतःकरणके दिखानेकी प्रायः बहुत ही थोड़ी जगह संभव है ।

जैसे बने वैसे आत्मा आत्मामें लगकर यदि जीवनपर्यंत समाधिभावसे युक्त रहे, तो फिर उसे संसारसंबंधी खेदमें पड़ना ही न पड़े ।

अभी तो तुम जैसा देखते हो मैं वैसा ही हूँ । जो संसारी प्रवृत्ति होती है, वह करता हूँ । धर्मसंबंधी मेरी जो प्रवृत्ति उस सर्वज्ञ परमात्माके ज्ञानमें झलकती हो वह ठीक है । उसके विषयमें पूँछना योग्य न था । वह पूँछनेसे कही भी नही जा सकती । जो सामान्य उत्तर देना योग्य था वही दिया है । क्या होता है ? और पात्रता कहाँ है ? यह देख रहा हूँ । उदय आये हुए कर्मोंको भोग रहा हूँ, वास्तविक स्थितिमें अभी एकाध अंशमें भी आया होऊँ, ऐसा कहनेमें आत्मश्लाघा जैसी बात हो जानेकी संभावना है ।

यथाशक्ति प्रभुभक्ति, सत्संग, और सत्य व्यवहारके साथ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ प्राप्त करते रहो । जिस प्रयत्नसे आत्मा ऊर्ध्वगतिको प्राप्त हो वैसा करो ।

समय समयमें क्षणिक जीवन व्यतीत होता जाता है, उसमें भी प्रमाद करते हैं, यही महामोहनीयका बल है ।

वि. रायचंदका सत्पुरुषोंको नमस्कार सहित प्रणाम.

उसके बाद इस पृथ्वीपर ही ईषत् प्राग्भारा अर्थात् सिद्धि है, यह बात सत्रशास्त्रोंको मान्य है। (मनन करना।) यह कथन त्रिकालसिद्ध है।

३४

मोरबी, चैत्र वदी ९, १९४५

कर्मगति विचित्र है। निरंतर मैत्री, प्रमोद, करुणा और उपेक्षा भावना रखना।

मैत्री अर्थात् सब जगत्से निर्वैर बुद्धि; प्रमोद अर्थात् किसी भी आत्माका गुण देखकर हर्षित होना; करुणा अर्थात् संसार-तापसे दुखित आत्माके ऊपर दुःखसे अनुकंपा करना; और उपेक्षा अर्थात् निस्पृह भावसे जगत्के प्रतिबंधको भूलकर आत्म-हितमें लगना। ये भावनायें कल्याणमय और पात्रताकी देनेवाली हैं।

३५

मोरबी, चैत्र वदी १०, १९४५

चि०—

तुम्हारे दोनोंके पत्र मिले। स्याद्वाददर्शनका स्वरूप जाननेके लिये तुम्हारी परम जिज्ञासासे मुझे संतोष हुआ है। परन्तु यह एक बात अवश्य स्मरणमें रखना कि शास्त्रमें मार्ग कहा है, मर्म नहीं कहा। मर्म तो सत्पुरुषकी अंतरात्मामें ही है, इसलिये मिलनेपर ही विशेष चर्चा की जा सकेगी।

धर्मका रास्ता सरल, स्वच्छ और सहज है, परन्तु उसे विरली आत्माओंने ही पाया है, पाती हैं और पावेंगी।

जिस काव्यके लिये तुमने लिखा है उस काव्यको प्रसंग पाकर भेजूँगा। दोहोंके अर्थके लिये भी ऐसा ही समझो। हालमें तो इन चार भावनाओंका ध्यान करनाः—

मैत्री—सर्व जगत्के ऊपर निर्वैर बुद्धि.

अनुकंपा—उनके दुःखके ऊपर करुणा.

प्रमोद—आत्म-गुण देखकर आनंद.

उपेक्षा—निस्पृह बुद्धि.

इससे पात्रता आयगी।

३६

ववाणीआ, वैशाख सुदी १, १९४५

तुम्हारी शरीरसंबंधी शोचनीय स्थिति जानकर व्यवहारकी अपेक्षा खेद होता है। मेरे ऊपर अतिशय भावना रखकर चलनेकी तुम्हारी इच्छाको मैं रोक नहीं सकता, परन्तु ऐसी भावना रखनेके कारण यदि तुम्हारे शरीरको थोड़ीसी भी हानि हो तो ऐसा न करो। तुम्हारा मेरे ऊपर राग रहे इस कारण तुम्हारे ऊपर राग रखनेकी मेरी इच्छा नहीं है; परन्तु तुम एक धर्मपात्र और हो, मुझे धर्मपात्रोंके ऊपर कुछ विशेष अनुराग उत्पन्न करनेकी परम इच्छा है, इस कारण [illegible] तुम्हारे ऊपर कुछ थोड़ीसी इच्छा है।

किये हैं। इस मार्गके लिये ही विचरे, और उन्होंने अन्य किये शौच भी वे सफल हैं, और यदि इस मार्गको भूलकर वे विचरे, और वे उन्होंने अन्य किये जो भी वे सब निष्फल ही हैं।

श्रीमहावीर जिस मार्गसे पार हुए, उसी मार्गसे श्रीकृष्ण भी पार होंगे। जिस मार्गसे श्रीकृष्ण पार होंगे उसी मार्गसे श्रीमहावीर पार हुए हैं। यह मार्ग चाहे जहाँ बैठकर, चाहे जिस कालमें, चाहे जिस क्षेत्रमें, चाहे जिस योनिमें, जब कभी मिलेगा तभी उस पवित्र और शाश्वत सत्पदके अनंत अतीन्द्रिय स्वरूप अनुभव होगा। यह मार्ग सब धर्मोंमें संमत है। योग्य सामग्रीके न मिलनेसे मनुष्य भी इस मार्गको पानेसे रुके हुए हैं, रुकेंगे और रुके थे। किसी भी धर्मसंबंधी मतभेदको छोड़कर एकाग्रता और सत्पुरुषोंसे इसी मार्गकी खोज करनी चाहिये। अधिक क्या कहें ? यह मार्ग स्वयं आत्मामें ही मौजूद है। जब आत्मतत्त्वको पाने योग्य पुरुष अर्थात् निर्ग्रंथ-आत्मा आत्मतत्त्वकी योग्यता समझकर उस आत्मतत्त्वका अर्पण करेगा—उसका उदय करेगा—तभी वह उसको प्राप्त होगी, तभी वह मार्ग मिलेगा, तभी वे मतभेद आदि दूर होंगे। मतभेद रखकर किसीने भी मोक्ष नहीं पाया। जिसने विचारकर मतभेदको दूर किया उसने अंतर्वृत्ति पाकर क्रमसे शाश्वत मोक्षको पाया है, पाता है, और पायेगा।

---

२३ ववाणीआ, फाल्गुन सुदी ९, गी. १९४५

निरागी महात्माओंको नमस्कार

कर्म यह जड़ वस्तु है। ऐसा अनुभव होता है कि जिस जिस आत्माको इस जड़से जितना जितना अधिक आत्मबुद्धिपूर्वक समागम होता है उस आत्माको उतनी उतनी ही अधिक जड़ताकी अर्थात् अज्ञानताकी प्राप्ति होती है। आश्चर्यकी बात तो यह है कि कर्म स्वयं जड़ होनेपर भी चेतनको अचेतन बना रहा है! चेतन चेतन-भावको भूलकर उसको निजस्वरूप ही मान रहा है। जो पुरुष उस कर्म-संयोगको और उसके उदयमें उत्पन्न हुई पर्यायोंको निजस्वरूप नहीं मानते और जो सत्तामें रहनेवाले पूर्व संयोगोंको बंधरहित परिणामसे भोग रहे हैं, वे पुरुष स्वभावकी उत्तरोत्तर ऊर्ध्वश्रेणीको पाकर शुद्ध चेतन-भावको पावेंगे, ऐसा कहना सप्रमाण है; क्योंकि भूतकालमें ऐसा ही हुआ है, वर्तमानकालमें ऐसा ही हो रहा है, और भविष्यकालमें ऐसा ही होगा। जो कोई भी आत्मा उदयमें आनेवाले कर्मको भोगते हुए समता-श्रेणीमें प्रवेश करके अबंध-परिणामसे आचरण करेगी तो वह निश्चयसे चेतन-शुद्धिको प्राप्त करेगी।

यदि आत्मा विनयी (होकर) सरल और लघुत्वभावको पाकर सदैव सत्पुरुषके चरणकमलमें रहे तो जिन महात्माओंको नमस्कार किया गया है, उन महात्माओंकी जैसी ऋद्धि है, वैसी ऋद्धि प्राप्त की जा सकती है।

या तो अनंतकालमें सत्पात्रता ही नहीं हुई, अथवा सत्पुरुष (जिसमें सद्गुरुत्व, सत्संग और सत्कथा गर्भित है) नहीं मिले; नहीं तो निश्चयसे मोक्ष हथेलीमें ही है।

६. कैसे चले ! कैसे खड़ा हो ! कैसे बैठे ! कैसे शयन करे ! कैसे आहार ले ! कैसे बोले, जिससे पापकर्म न बँधे !

७. यतनासे चले; यतनासे खड़ा रहे; यतनासे बैठे; यतनासे शयन करे; यतनासे आहार ले; यतनासे बोले; तो पापकर्मका बँध नहीं होगा।

८. सब जीवोंको अपनी आत्माके समान देखे; मन, वचन और कायासे सम्यक् प्रकारसे सब जीवोंको देखे, प्रीति (!) आस्रवसे आत्माका दमन करे तो पापकर्म न बँधे।

९. उसके सबसे पहिले स्थानमें महावीरदेवने सब आत्माओंकी संयमरूप, निपुण अहिंसा मननपूर्वक विधान किया है।

१०. जगत्‌में जितने त्रस और स्थावर प्राणी हैं उनका जानकर अथवा अनजाने स्वयं घात न करे, और न उनका दूसरोंके द्वारा घात करावे।

११. सब जीव जीवित रहनेकी इच्छा करते हैं, कोई मरणकी इच्छा नहीं करता। इस कारणसे निर्ग्रंथको प्राणियोंका भयंकर वध छोड़ देना चाहिये।

१२. अपने और दूसरेके लिये क्रोधसे अथवा भयसे, जिससे प्राणियोंको कष्ट हो ऐसा असत्य स्वयं न बोले, और न दूसरोंसे बुलवावे।

१३. मृषावादका सब सत्पुरुषोंने निषेध किया है। वह प्राणियोंको अविश्वास उत्पन्न करता है, इसलिये उसका त्याग करे।

१४. सचित्त अथवा अचित्त थोड़ा अथवा बहुत यहाँतक कि दाँत कुरेदने तकके लिये भी एक सींकमात्र परिग्रहको भी बिना माँगे न ले।

१५. संयति पुरुष स्वयं बिना माँगी हुई वस्तुका ग्रहण न करे, दूसरोंसे नहीं लिवावे, तथा अन्य लेनेवालेका अनुमोदन भी न करे।

१६. इस जगत्‌में मुनि महारौद्र, प्रमादके रहनेका स्थान, और चारित्रको नाश करनेवाले ऐसे अब्रह्मचर्यका आचरण न करे।

१७. निर्ग्रंथ अधर्मके मूल और महादोषोंकी जन्मभूमि ऐसे मैथुनसंबंधी आलाप-प्रलापका त्याग कर दे।

१८. ज्ञातपुत्रके वचनमें प्रीति रखनेवाले मुनि सेंधा नमक, नमक, तेल, घी, गुड़, वगैरह आहारके पदार्थोंको रात्रिमें बासी न रक्खें। जो ऐसे किसी पदार्थोंको रात्रिमें बासी रखना चाहते हैं वे मुनि नहीं हैं किन्तु गृहस्थ हैं।

१९. लोभसे तृणका भी स्पर्श न करे।

२०. साधु वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरणको भी संयमकी रक्षाके लिये ही धारण करे, नहीं तो उनका भी त्याग ही करे।

२१. जो वस्तु संयमकी रक्षाके लिये रखनी पड़े उसे परिग्रह नहीं कहते, ऐसा छह कायके रक्षक ज्ञातपुत्रने कहा है, परन्तु मूर्च्छा ही परिग्रह है ऐसा पूर्व महर्षियोंने कहा है।

---

१ दशवैकालिक सूत्रके मूल पाठमें 'प्रीति आस्रव' के स्थानपर 'पिहियासव' (पिहित आस्रव) पाठ मिलता है। पिहित आस्रवका अर्थ सब प्रकारके आस्रवोंका निरोध करना होता है। अनुवादक।

२२. तत्त्वज्ञानको पाये हुए मनुष्य केवल छह कायके जीवोंके रक्षणके लिये केवल उतने ही परिग्रहको रखते हैं, वैसे तो वे अपनी देहमें भी ममत्व नहीं करते। (यह देह मेरी नहीं, इस उपयोगमें ही रहते हैं।)

२३. आश्चर्य ! जो निरंतर तपश्चर्यारूप है ! और जिसका सब सर्वज्ञोंने विधान किया है ऐसे संयमके अविरोधरूप और जीवनको टिकाये रखनेके लिये ही एक बार आहार ले।

२४. रात्रिमें त्रस और स्थावर—स्थूल और सूक्ष्म—जातिके जीव दिखाई नहीं देते इसलिये वह उस समय आहार कैसे कर सकता है !

२५. जहाँ पानी और बीजके आश्रित प्राणी पृथ्वीपर फैले पड़े हों उनके ऊपरसे जब दिनमें भी चलनेका निषेध किया गया है तो फिर संयमी रात्रिमें तो भिक्षाके लिये कहाँसे जा सकता है !

२६. इन हिंसा आदि दोषोंको देखकर ज्ञातपुत्र भगवान्ने ऐसा उपदेश किया है कि निर्ग्रंथ साधु रात्रिमें किसी भी प्रकारका आहार ग्रहण न करे।

२७. श्रेष्ठ समाधियुक्त साधु मनसे, वचनसे और कायसे स्वयं पृथ्वीकायकी हिंसा न करे; दूसरोंसे न करावे, और करते हुएका अनुमोदन न करे।

२८. पृथ्वीकायकी हिंसा करते हुए उस पृथिवीके आश्रयमें रहनेवाले चक्षुगम्य और अचक्षुगम्य विविध त्रस प्राणियोंका घात होता है—

२९. इसलिये, ऐसा जानकर दुर्गतिको बढ़ानेवाले पृथ्विकायके समारंभरूप दोषका आयुपर्यंतका त्याग करे।

३०. सुसमाधियुक्त साधु मन, वचन और कायसे स्वयं जलकायकी हिंसा न करे, दूसरोंसे न करावे, और करनेवालेका अनुमोदन न करे।

३१. जलकायकी हिंसा करते हुए जलके आश्रयमें रहनेवाले चक्षुगम्य और अचक्षुगम्य त्रस जातिके विविध प्राणियोंकी हिंसा होती है—

३२. इसलिये, ऐसा जानकर कि जलकायका समारंभ दुर्गतिको बढ़ानेवाला दोष है, इसका आयुपर्यंतके लिये त्याग कर दे।

३३. मुनि अग्निकायकी इच्छा न करे; यह जीवके घात करनेमें सबसे भयंकर और तीक्ष्ण शस्त्र है।

३४. अग्नि पूर्व, पश्चिम, ऊर्ध्व, कोणमें, नीचे, दक्षिण और उत्तर इन सब दिशाओंमें रहते हुए जीवोंको भस्म कर डालती है।

३५. यह अग्नि प्राणियोंका घात करनेवाली है, ऐसा संदेह रहित माने, और इस कारण उसे संयमि दीपकके अथवा तापनेके लिये भी न जलावे।

३६. इस कारण मुनि दुर्गतिके दोषको बढ़ानेवाले इस अग्निकायके समारंभको आयुपर्यंत न करे।

३७. पहिले ज्ञान और पीछे दया (ऐसा अनुभव करके) सब संयमी साधु रहें। अज्ञानी (संयममें) क्या करेगा, क्योंकि वह तो कल्याण अथवा पापको ही नहीं जानता।

३८. श्रवण करके कल्याणको जानना चाहिये, और पापको जानना चाहिये। दोनोंका श्रवण जाननेके बाद जो श्रेयस्कर हो उसको आचरण करना चाहिये।

३९. जो साधु जीव अर्थात् चैतन्यका स्वरूप नहीं जानता; जो अजीव अर्थात् जड़का स्वरूप नहीं जानता; अथवा इन दोनोंके तत्त्वको नहीं जानता, वह साधु संयमकी बात कहाँसे जान सकता है ?

४०. जो साधु चैतन्यका स्वरूप जानता है, जो जड़का स्वरूप जानता है, तथा जो इन दोनोंका स्वरूप जानता है; वह साधु संयमका स्वरूप भी जान सकता है।

४१. जब वह जीव और अजीव इन दोनोंको जान लेता है, तब वह अनेक प्रकारसे सब जीवोंकी गति-अगतिको जान सकता है।

४२. जब वह सब जीवोंकी बहुत प्रकारसे गति-अगतिको जान जाता है तभी वह पुण्य, पाप, बंध और मोक्षको जान सकता है।

४३. जब वह पुण्य, पाप, बंध और मोक्षको जान जाता है, तभी वह मनुष्य और देवसंबंधी भोगोंकी इच्छासे निवृत्त हो सकता है।

४४. जब वह देव और मनुष्यसंबंधी भोगोंसे निवृत्त होता है तभी सर्व प्रकारके बाह्य और अभ्यंतर संयोगका त्याग हो सकता है।

४५. जब वह बाह्याभ्यंतर संयोगका त्याग करता है तभी वह द्रव्य-भावसे मुंडित होकर मुनिकी दीक्षा लेता है।

४६. जब वह मुंडित होकर मुनिकी दीक्षा ले लेता है तभी वह उत्कृष्ट संवरकी प्राप्ति करता है, और उत्तम धर्मका अनुभव करता है।

४७. जब वह उत्कृष्ट संवरकी प्राप्ति करता है और उत्तम धर्मयुक्त होता है तभी वह जीवको मलिन करनेवाली और मिथ्यादर्शनसे उत्पन्न होनेवाली कर्मरजको दूर करता है।

४८. जब वह मिथ्यादर्शनसे उत्पन्न हुई कर्मरजको दूर कर देता है तभी वह सर्वज्ञानी और सर्वदर्शन युक्त हो जाता है।

४९. जब सर्वज्ञान और सर्वदर्शनकी प्राप्ति हो जाती है तभी वह केवली रागरहित होकर लोकालोकका स्वरूप जानता है।

५०. जब रागरहित होकर वह केवली लोकालोकका स्वरूप जान जाता है तभी वह स्थिर मन, वचन और कायके योगको रोककर शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होता है।

५१. जब वह योगको रोककर शैलेशी अवस्थाको प्राप्त हो जाता है तभी वह सब कर्मोंका क्षयकर निरंजन होकर सिद्धगति प्राप्त करता है।

---

३८ ववाणीआ, वैशाख सुदी ६ सोम. १९४५

सत्पुरुषोंको नमस्कार

मुझे यहाँ अपार दर्शन उत्पन्न ... हुआ था। धर्मके संबंधमें जो ...

३९. जो साधु जीव अर्थात् चैतन्यका स्वरूप नहीं जानता; जो अजीव अर्थात् जड़का स्वरूप नहीं जानता; अथवा इन दोनोंके तत्त्वको नहीं जानता, वह साधु संयमकी बात कहाँसे जान सकता है ?

४०. जो साधु चैतन्यका स्वरूप जानता है, जो जड़का स्वरूप जानता है, तथा जो इन दोनोंका स्वरूप जानता है; वह साधु संयमका स्वरूप भी जान सकता है।

४१. जब वह जीव और अजीव इन दोनोंको जान लेता है तब वह अनेक प्रकारसे सब जीवोंकी गति-अगतिको जान सकता है।

४२. जब वह सब जीवोंकी बहुत प्रकारसे गति-अगतिको जान जाता है तभी वह पुण्य, पाप, बंध और मोक्षको जान सकता है।

४३. जब वह पुण्य, पाप, बंध और मोक्षको जान जाता है, तभी वह मनुष्य और देवसंबंधी भोगोंकी इच्छासे निवृत्त हो सकता है।

४४. जब वह देव और मनुष्यसंबंधी भोगोंसे निवृत्त होता है तभी सर्व प्रकारके बाह्य और अभ्यंतर संयोगका त्याग हो सकता है।

४५. जब वह बाह्याभ्यंतर संयोगका त्याग करता है तभी वह द्रव्य-भावसे मुंडित होकर मुनिकी दीक्षा लेता है।

४६. जब वह मुंडित होकर मुनिकी दीक्षा ले लेता है तभी वह उत्कृष्ट संवरकी प्राप्ति करता है, और उत्तम धर्मका अनुभव करता है।

४७. जब वह उत्कृष्ट संवरकी प्राप्ति करता है और उत्तम धर्मयुक्त होता है तभी वह जीवको मलीन करनेवाली और मिथ्यादर्शनसे उत्पन्न होनेवाली कर्मरजको दूर करता है।

४८. जब वह मिथ्यादर्शनसे उत्पन्न हुई कर्मरजको दूर कर देता है तभी वह सर्वज्ञानी और सम्यक्दर्शन युक्त हो जाता है।

४९. जब सर्वज्ञान और सर्वदर्शनकी प्राप्ति हो जाती है तभी वह केवली रागरहित होकर लोकालोकका स्वरूप जानता है।

५०. जब रागहीन होकर वह केवली लोकालोकका स्वरूप जान जाता है तभी वह स्थिर मन, वचन और कायके योगको रोककर शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होता है।

५१. जब वह योगको रोककर शैलेशी अवस्थाको प्राप्त हो जाता है तभी वह सब कर्मोंका क्षयकर निरंजन होकर सिद्धगति प्राप्त करता है।

---

३८ ववाणीआ, वैशाख सुदी ६ सोम. १९४५

सत्पुरुषोंको नमस्कार

मुझे यहाँ आपका दर्शन लगभग सवा-मास पहले हुआ था। धर्मके संबंधमें जो थोड़ी

मांगलिक-चर्चा हुई थी वह आपको स्मरण होगी, ऐसा समझकर इस चर्चाके संबंधमें कुछ विशेष कहनेकी आज्ञा नहीं लेता।

धर्मके संबंधमें माध्यस्थ, उच्च और दंभरहित विचारोंके कारण आपके ऊपर मेरा कुछ विशेष प्रशस्त अनुराग हो गया है; इसलिये मैं कभी कभी आध्यात्मिक शैलीसंबंधी प्रश्न आपके समीप रखनेकी आज्ञा लेनेका आपको कष्ट दिया करता हूँ। यदि योग्य मालूम हो तो आप अनुकूल हों।

मैं अर्थ अथवा वयकी दृष्टिसे तो वृद्धस्थितिवाला नहीं हूँ; फिर भी कुछ ज्ञान-वृद्धता प्राप्त करनेके वास्ते आप जैसोंके सत्संगका, आप जैसोंके विचारोंका और सत्पुरुषकी चरण-रजके सेवन करनेका अभिलाषी हूँ। मेरी यह बाल्यवय विशेषतः इसी अभिलाषामें बीती है; और उससे मैं जो कुछ भी समझ सका हूँ उसे समयानुसार दो शब्दोंमें आप जैसोंके समीप रखकर विशेष आत्म-हित कर सकूँ; यही इस पत्रके द्वारा याचना करता हूँ।

इस कालमें आत्मा किसके द्वारा, किस प्रकार और किस श्रेणीमें पुनर्जन्मका निश्चय कर सकती है, इस संबंधमें जो कुछ मेरी समझमें आया है उसे यदि आपकी आज्ञा होगी तो आपके समीप रक्खूँगा।

लि. आपके माध्यस्थ विचारोंका अभिलाषी—
रायचंद रवजीभाईका पंचांगी प्रशस्तभावसे प्रणाम.

---

३९ ववाणीआ, वैशाख सुदी १२, १९४५

सत्पुरुषोंको नमस्कार

परमात्माका ध्यान करनेसे परमात्मा हो जाते हैं। परन्तु उस ध्यानको सत्पुरुषके चरणकमलकी विनयोपासना बिना आत्मा प्राप्त नहीं कर सकती, यह निर्ग्रंथ भगवान्का सर्वोत्कृष्ट वचनामृत है।

तुम्हें मैंने चार भावनाओंके विषयमें पहिले कुछ सूचित किया था। उस सूचनाको यहाँ कुछ विशेषतासे लिखता हूँ। आत्माको अनंत भ्रमणासे स्वरूपमय पवित्र श्रेणीमें लाना यह कैसा निरुपम सुख है! यह कहते हुए कहा नहीं जाता, लिखते हुए लिखा नहीं जाता, और मनमें विचार करनेपर उसका विचार भी नहीं होता।

इस कालमें शुक्लध्यानका पूरापूरा अनुभव भारतमें असंभव है। हाँ उस ध्यानकी परोक्ष कथारूप अमृत-रस कुछ पुरुष प्राप्त कर सकते हैं।

परन्तु मोक्षके मार्गकी अनुकूलताका सबसे पहला राजमार्ग धर्मध्यान ही है। इस कालमें रूपातीततकके धर्मध्यानकी प्राप्ति कुछ सत्पुरुषोंको स्वभावसे, कुछको सद्गुरुरूप निरुपम निमित्तसे, और कुछको सत्संग आदि अनेक साधनोंसे हो सकती है; परन्तु ऐसे पुरुष निर्ग्रंथमतके माननेवाले लाखोंमें भी कोई विरले ही निकल सकते हैं। बहुत करके वे सत्पुरुष त्यागी होकर एकांत भूमिमें ही वास करते हैं। बहुतसे बाह्य अत्यागके कारण संसारमें रहनेपर भी संसारीपना ही दिखाते हैं। पहिले पुरुषका ज्ञान प्रायः मुख्योत्कृष्ट और दूसरेका गौणोत्कृष्ट गिना जा सकता है।

चौथे गुणस्थानको प्राप्त पुरुषको पात्रताका प्राप्त होना माना जा सकता है। वहाँ धर्मध्यानकी गौणता है। पाँचवेंमें मध्यम गौणता है। छट्ठेमें मुख्यता तो है परन्तु वह मध्यम है। और सातवेंमें उसकी मुख्यता है।

हम गृहस्थाश्रममें सामान्य विधिसे अधिकसे अधिक पाँचवें गुणस्थानमें तो आ सकते हैं इसके सिवाय भावकी अपेक्षा तो कुछ और ही बात है।

इस धर्मध्यानमें चार भावनाओंसे भूषित होना संभवित है—

१ मैत्री—सब जगत्के जीवोंकी ओर निर्वैर बुद्धि।

२ प्रमोद—किसीके अंशमात्र गुणको भी देखकर रोमांचित होकर उल्लसित होना।

३ करुणा—जगत्के जीवोंके दुःख देकर अनुकंपा करना।

४ माध्यस्थ अथवा उपेक्षा—शुद्ध समदृष्टिके बलवीर्यके योग्य होना।

इसके चार आलंबन हैं। इसकी चार रुचि हैं। इसके चार पाये हैं। इस प्रकार धर्मध्यान अनेक भेदोंमें विभक्त है।

जो पवन (श्वास) का जय करता है, वह मनका जय करता है। जो मनका जय करता है वह आत्म-लीनता प्राप्त करता है—ऐसा जो कहा जाता है वह तो व्यवहारमात्र है। निश्चयसे निश्चय अर्थकी अपूर्व योजना तो सत्पुरुषका मन ही जानता है, क्योंकि श्वासका जय करते हुए भी सत्पुरुषकी आज्ञाका भंग होनेकी संभावना रहती है, इसलिये ऐसा श्वास-जय परिणाममें संसारको ही बढ़ाता है।

श्वासका जय वही है कि जहाँ वासनाका जय है। उसके दो साधन हैं—सद्गुरु और सत्संग उसकी दो श्रेणियाँ हैं—पर्युपासना और पात्रता। उसकी दो प्रकारसे वृद्धि होती है—परिचय और पुण्यानुबंधी पुण्यता। सबका मूल एक आत्माकी सत्पात्रता ही है। हालमें तो इस विषयमें इतना ही लिखता हूँ।

* * * *

प्रवीणसागर समझपूर्वक पढ़ा जाय तो यह दक्षता देनेवाला ग्रंथ है; नहीं तो यह अप्रशस्त राग-रंगोंको बढ़ानेवाला ग्रंथ है।

---

४० ववाणीआ, वि. १९४५ ज्येष्ठ सुदी १ रवि.

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥

—*श्रीहरिभद्राचार्य*

आपका वैशाख वदी ६ का धर्म-पत्र मिला। उस पत्रपर विचार करनेके लिये विशेष अवकाश लेनेमें यह उत्तर लिखनेमें मुझसे इतना विलम्ब हुआ है, इसलिये इस विलम्बके लिये क्षमा करें।

उस पत्रमें आप लिखते हैं कि किसी भी मार्गसे आध्यात्मिक ज्ञानका संपादन करना, यह ज्ञानियोंका उपदेश है, यह वचन मुझे भी मान्य है। प्रत्येक दर्शनमें आत्माका ही उपदेश किया

मौखिक-चर्चा हुई थी वह आपको स्मरण होगी, ऐसा समझकर इस चर्चाके संबंधमें कुछ विशेष कहनेकी आज्ञा नहीं लेता।

धर्मके संबंधमें माध्यस्थ, उच्च और दंभरहित विचारोंके कारण आपके ऊपर मेरा कुछ विशेष प्रशस्त अनुराग हो गया है इसलिये मैं कभी कभी आध्यात्मिक शैलीसंबंधी प्रश्न आपके समीप रखनेकी आज्ञा लेनेका आपको कष्ट दिया करता हूँ। यदि योग्य मालूम हो तो आप अनुकूल हों।

मैं अर्थ अथवा वयकी दृष्टिसे तो वृद्धस्थितिवाला नहीं हूँ; फिर भी कुछ ज्ञान-वृद्धता प्राप्त करनेके वास्ते आप जैसोंके सत्संगका, आप जैसोंके विचारोंका और सत्पुरुषकी चरण-रजके सेवन करनेका अभिलाषी हूँ। मेरी यह बालवय विशेषतः इसी अभिलाषामें बीती है; और उससे मैं जो कुछ भी समझ सका हूँ उसे समयानुसार दो शब्दोंमें आप जैसोंके समीप रखकर विशेष आत्म-हित कर सकूँ; यही इस पत्रके द्वारा याचना करता हूँ।

इस कालमें आत्मा किसके द्वारा, किस प्रकार और किस श्रेणीमें पुनर्जन्मका निश्चय कर सकती है, इस संबंधमें जो कुछ मेरी समझमें आया है उसे यदि आपकी आज्ञा होगी तो आपके समीप रक्खूँगा।

वि. आपके माध्यस्थ विचारोंका अभिलाषी—
रायचंद रवजीभाईका पंचांगी प्रशस्तभावसे प्रणाम.

---

२९ ववाणीआ, वैशाख सुदी १२, १९४५

सत्पुरुषोंको नमस्कार

परमात्माका ध्यान करनेसे परमात्मा हो जाते हैं। परन्तु उस ध्यानको सत्पुरुषके चरणकमलकी विनयोपासना बिना आत्मा प्राप्त नहीं कर सकती, यह निर्ग्रंथ भगवान्‌का सर्वोत्कृष्ट वचनामृत है।

तुम्हें मैंने चार भावनाओंके विषयमें पहिले कुछ सूचित किया था। उस सूचनाको यहाँ कुछ विशेषतासे लिखता हूँ। आत्माको अनंत भ्रमणासे स्वरूपमय पवित्र श्रेणीमें लाना यह कैसा निरुपम सुख है! यह कहते हुए कहा नहीं जाता, लिखते हुए लिखा नहीं जाता, और मनमें विचार करनेपर उसका विचार भी नहीं होता।

इस कालमें शुक्लध्यानका पूरापूरा अनुभव भारतमें असंभव है। हाँ उस ध्यानकी परोक्ष कथारूप अमृत-रस कुछ पुरुष प्राप्त कर सकते हैं।

परन्तु मोक्षके मार्गकी अनुकूलताका सबसे पहला राजमार्ग धर्मध्यान ही है। इस कालमें रूपातीततकके धर्मध्यानकी प्राप्ति कुछ सत्पुरुषोंको स्वभावसे, कुछको सद्गुरुरूप निरुपम निमित्तसे, और कुछको सत्संग आदि अनेक साधनोंसे हो सकती है; परन्तु ऐसे पुरुष निर्ग्रंथमतके माननेवाले लाखोंमें भी कोई विरले ही निकल सकते हैं। बहुत करके वे सत्पुरुष त्यागी होकर एकांत भूमिमें ही वास करते हैं। बहुतसे बाह्य अत्यागके कारण संसारमें रहनेपर भी संसारीपना ही दिखलाते हैं। पहिले पुरुषका ज्ञान प्रायः मुख्योत्कृष्ट और दूसरेका गौणोत्कृष्ट गिना जा सकता है।

अ. कई एक निर्णयोंके ऊपरसे मैं यह मानने लगा हूँ कि इस कालमें भी कोई कोई महात्मा पहले भवको जातिस्मरण ज्ञानसे जान सकते हैं; और यह जानना कल्पित नहीं परन्तु सम्यक् होता है। उत्कृष्ट संवेग, ज्ञान-योग और सत्संगसे भी यह ज्ञान प्राप्त होता है—अर्थात् पूर्वभव प्रत्यक्ष अनुभवमें आ जाता है।

जबतक पूर्वभव अनुभवगम्य न हो तबतक आत्मा भविष्यकालके लिये शंकितभावसे धर्म-प्रयत्न किया करती है, और ऐसा सशंकित प्रयत्न योग्य सिद्धि नहीं देता।

आ. 'पुनर्जन्म है' इस विषयमें जिस पुरुषको परोक्ष अथवा प्रत्यक्षसे निःशंकता नहीं हुई उस पुरुषको आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसा शास्त्र-शैली नहीं कहती। पुनर्जन्मकी सिद्धिके संबंधमें श्रुत-ज्ञानसे प्राप्त हुआ जो आशय मुझे अनुभवगम्य हुआ है उसे थोड़ासा यहाँ कहता हूँ:—

(१) 'चैतन्य' और 'जड़' इन दोनोंको पहिचाननेके लिये उन दोनोंमें जो भिन्न भिन्न गुण हैं उन्हें पहिचाननेकी पहिली आवश्यकता है। तथा उन भिन्न भिन्न गुणोंमें भी जो सबसे मुख्य भिन्नता दिखाई देती है वह यह है कि 'चैतन्य' में 'उपयोग' (अर्थात् जिससे किसी वस्तुका बोध होता है वह गुण) रहता है, और 'जड़'में वह नहीं रहता। यहाँ शायद कोई यह शंका करे कि 'जड़' में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध शक्तियाँ होती हैं, और चैतन्यमें ये शक्तियाँ नहीं पायी जाती, परन्तु यह भिन्नता आकाशकी अपेक्षा लेनेसे समझमें नहीं आ सकती; क्योंकि निरंजन, निराकार, अरूपी इत्यादि कई एक गुण ऐसे हैं जो आकाशकी तरह आत्मामें भी रहते है, इसलिये आकाशको आत्माके सदृश गिना जा सकता है, क्योंकि फिर इन दोनोंमें कोई भिन्न धर्म न रहा। इसका समाधान यह है कि इन दोनोंमें अन्तर है, और वह अन्तर आत्मामे पहिले कहा हुआ 'उपयोग' नामक गुण बताता है, क्योंकि वह गुण आकाशमें नहीं है। अब जड़ और चैतन्यका स्वरूप समझना सुगम हो जाता है।

(२) जीवका मुख्य गुण अथवा लक्षण 'उपयोग' (किसी भी वस्तुसंबंधी भावना; बोध; ज्ञान) है। जिस जीवात्मामें अशुद्ध और अपूर्ण उपयोग रहता है वह जीवात्मा, ('व्यवहारनयकी अपेक्षासे'—क्योंकि प्रत्येक आत्मा अपने शुद्ध नयसे तो परमात्मा ही है, परन्तु जहाँतक वह अपने स्वरूपको यथार्थ नहीं समझी वहाँतक जीवात्मा छद्मस्थ रहता है)—परमात्मदशामें नहीं आया। जिसमें शुद्ध और सम्पूर्ण यथार्थ उपयोग रहता है वह परमात्मदशाको प्राप्त हुई आत्मा मानी जाती है। अशुद्ध उपयोगी होनेसे ही आत्मा कल्पित ज्ञान (अज्ञान) को सम्यग्ज्ञान मान रही है; और उसे सम्यग्ज्ञानके बिना कुछ भी पुनर्जन्मका यथार्थ निश्चय नहीं हो पाता। अशुद्ध उपयोग होनेका कुछ भी निमित्त होना चाहिये। वह निमित्त अनुपूर्वीसे चले आते हुए बाह्यभावसे ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गल हैं। (इस कर्मका यथार्थ स्वरूप सूक्ष्मतासे समझने योग्य है, क्योंकि आत्माको ऐसी दशामें किसी भी निमित्तसे ही होना चाहिये। और वह निमित्त जबतक यथार्थ रीतिसे समझमें न आवे तबतक जिस रास्तेसे जाना है उस रास्तेपर आना ही हो नहीं सकता।) जिसका परिणाम विपर्यय हो उसका प्रसंग अशुद्ध उपयोगके बिना नहीं होता, और अशुद्ध उपयोग भूतकालके किसी भी संबंधके बिना नहीं होता। हम यदि वर्तमानकालमेंसे एक एक पलको निकालते जायँ और उसपर ध्यान देते रहें, तो

गया है, और सबका प्रयत्न मोक्षके लिये ही है। तो भी इतना तो आप भी मानेंगे कि जिस मार्गसे आत्माको आनन्द, सम्यग्ज्ञान, और यथार्थ दृष्टि मिले वही मार्ग सत्पुरुषकी आज्ञानुसार मान्य करना चाहिये। यहाँ किसी भी दर्शनका नामोल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं है, फिर भी यह तो कहा जा सकता है कि जिस पुरुषका वचन पूर्वापर अखंडित है, उसके द्वारा उपदेश किया हुआ दर्शन ही पूर्णरूपसे हितकारी है। जहाँसे आत्मा 'यथार्थ दृष्टि' अथवा 'वस्तुधर्म' प्राप्त करे वहींसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है, यह सर्वमान्य बात है।

आनन्द पानेके लिये क्या हेय है, क्या उपादेय है, और क्या ज्ञेय है, इस विषयमें प्रसंग पाकर सत्पुरुषकी आज्ञानुसार आपको थोड़ा थोड़ा लिखता रहूँगा। यदि ज्ञेय, हेय, और उपादेयरूपसे कोई पदार्थ—एक परमाणु भी नहीं जाना तो वहाँ आत्मा भी नहीं जानी। महावीरके उपदेश किये हुए आचारांग नामके सैद्धांतिक शास्त्रमें कहा है कि—**जे एगं जाणई से सव्वं जाणई, जे सव्वं जाणई से एगं जाणई**—अर्थात् जिसने एकको जाना उसने सब जाना, जिसने सब जाना उसने एकको जाना। यह वचनामृत ऐसा उपदेश करता है कि जब कोई भी एक आत्माको जाननेके लिये प्रयत्न करेगा, उस समय उसे सब जाननेका प्रयत्न करना होगा; और सब जाननेका प्रयत्न केवल एक आत्माके ही जाननेके लिये है। फिर भी जिसने विचित्र जगत्का स्वरूप नहीं जाना वह आत्माको नहीं जानता—यह उपदेश अयथार्थ नहीं ठहरता।

जिसे यह ज्ञान नहीं हुआ कि आत्मा किस कारणसे, कैसे, और किस प्रकारसे बँध गई है, उसे इस बातका भी ज्ञान नहीं हो सकता कि वह किस कारणसे, कैसे, और किस प्रकार मुक्त हो सकती है। और यह ज्ञान न हुआ तो यह वचनामृत ही प्रमाणभूत ठहरता है। महावीरके उपदेशकी मुख्य नींव ऊपरके वचनामृतसे शुरु होती है; और उन्होंने उसका स्वरूप सर्वोत्तमरूपसे समझाया है। इसके विषयमें यदि आपको अनुकूलता होगी तो आगे कहूँगा।

यहाँ आपको एक यह भी निवेदन कर देना योग्य है कि महावीर अथवा किसी भी दूसरे उपदेशकके पक्षपातके कारण मेरा कोई भी कथन अथवा मेरी कोई मान्यता नहीं है। परन्तु आनन्द पानेके लिये जिसका उपदेश अनुकूल है उसीके लिये मुझे पक्षपात (!)—दृष्टिराग—और प्रशस्तराग है, अथवा उसीके लिये मेरी मान्यता है, और उसीके आधारसे मेरी प्रवृत्ति भी है; इसलिये यदि मेरा कोई भी कथन आनन्दको, बाधा पहुँचानेवाला हो तो उसे बताकर उपकार करते रहिये। प्रत्यक्ष सत्संगकी तो बलिहारी ही है, और वह पुण्यानुबंधी पुण्यका ही फल है; तो भी जबतक ज्ञानी-दृष्टिके अनुसार परोक्ष सत्संग मिलता रहेगा तबतक उसे मैं अपना सद्भाग्य ही समझूँगा।

२. निर्ग्रंथ शासन ज्ञानवृद्धको सर्वोत्तम वृद्ध मानता है। जातिवृद्धता, पर्यायवृद्धता इत्यादि वृद्धताके अनेक भेद हैं; परन्तु ज्ञानवृद्धताके बिना ये सब वृद्धतायें केवल नामकी वृद्धतायें अथवा शून्य वृद्धतायें ही हैं।

३. पुनर्जन्मके संबंधमें अपने विचार प्रगट करनेके लिये आपने सूचन किया था, उसके संबंधमें यहाँ केवल प्रसंग जितना मात्र संक्षेपसे लिखता हूँ:—

प्रत्येक पल भिन्न भिन्न स्वरूपसे बीता हुआ माछ्म होगा (उसके भिन्न भिन्न होनेका कारण कुछ तो होगा ही)। एक मनुष्यने ऐसा दृढ़ संकल्प किया कि मैं जीवनपर्यंत स्रीका चिंतवनतक भी न करूँगा परन्तु पाँच पल भी न बीत पाये और उसका चिंतवन हो गया, तो फिर उसका कुछ तो कारण होना ही चाहिये। मुझे जो शास्त्रका अल्पज्ञान हुआ है उससे मैं यह कह सकता हूँ कि वह पूर्वकर्मके किसी भी अंशका उदय होना चाहिये। कैसे कर्मका? तो कहूँगा कि मोहनीय कर्मका। उसकी किस प्रकृतिका? तो कहूँगा कि पुरुषवेदका! (पुरुषवेदकी पन्द्रह प्रकृतियाँ हैं।) पुरुषवेदका उदय दृढ़ संकल्पसे रोकनेपर भी हो गया, उसका कारण अब कह सकते हैं कि वह कोई भूतकालीन कारण होना चाहिये; और अनुपूर्वीसे उसका स्वरूप विचार करनेसे वह कारण पुनर्जन्म ही सिद्ध होगा। इस बातको बहुतसे दृष्टांतोंद्वारा कहनेकी मेरी इच्छा थी, परन्तु जितना सोचा था उससे अधिक कथन बढ़ गया है; और आत्माको जो बोध हुआ है उसे मन यथार्थ नहीं जान सकता, और मनके बोधको वचन यथार्थ नहीं कह सकते, और वचनके कथन-बोधको कलम लिख नहीं सकती; ऐसा होनेके कारण, और इस विषयके ऊहापोहमें बहुतसे रूढ़ शब्दोंके उपयोगकी आवश्यकता होनेके कारण अभी हाल तो इस विषयको अपूर्ण छोड़े देता हूँ। यह अनुमान प्रमाण हुआ। प्रत्यक्ष प्रमाणके संबंधमें वह ज्ञानीगम्य होगा तो उसे फिर, अथवा भेंट होनेका अवसर मिला तो उस समय कुछ कह सकूँगा। आपके उपयोगमें ही रम रहा हूँ, तो भी आपकी प्रसन्नताके लिये एक-दो वचनोंको यहाँ लिखता हूँ:—

१. सबकी अपेक्षा आत्मज्ञान श्रेष्ठ है।

२. धर्म-विषय, गति, आगति निश्चयसे हैं।

३. ज्यों ज्यों उपयोगकी शुद्धता होती जाती है त्यों त्यों आत्मज्ञान प्राप्त होता जाता है।

४. इसके लिये निर्विकार दृष्टिकी आवश्यकता है।

५. 'पुनर्जन्म है' यह योगसे, शास्त्रसे और स्वभावसे अनेक पुरुषोंको सिद्ध हुआ है।

इस कालमें इस विषयमें अनेक पुरुषोंको निःशंकता नहीं होती, उसका कारण केवल सात्त्विकताकी न्यूनता, त्रिविध तापकी मूर्च्छा, श्रीगोकुलचरित्रमें आपकी बताई हुई निर्जनावस्थाकी कमी, सत्संगका न मिलना, स्वमान और अयथार्थ दृष्टि ही हैं।

आपकी अनुकूलता होगी तो इस विषयमें विशेष फिर कहूँगा। इससे मुझे आत्मोज्ज्वलताका परमलाभ है, इस कारण आपको अनुकूलता होगी ही। यदि समय हो तो दो चार बार इस पत्रके मनन करनेसे कहा हुआ अल्प आशय भी आपको बहुत दृष्टिगोचर हो जायगा। शैलीके कारण विस्तारसे कुछ लिखा है, तो भी मैं समझता हूँ कि जैसा चाहिये वैसा नहीं समझाया जा सका; परन्तु मैं समझता हूँ कि इस विषयको धीरे धीरे आपके पास सरलरूपसे रख सकूँगा।

*　　•　　•　　•

बुद्धभगवान्‌का जीवनचरित्र मेरे पास नहीं आया। अनुकूलता हो तो भिजवानेकी सूचना करें। सत्पुरुषोंका चरित्र दर्पणरूप है। बुद्ध और जैनदर्शनमें महान् अन्तर है।

कई एक ज्ञान-विचार लिखते समय उदासीनताकी वृद्धि हो जानेसे अभीष्टरूपमें रखनेमें नहीं आ पाते; और न उसे आप जैसोंको बताया ही जा सकता है। यह किसी का कारण।

क्रमरहित किसी भी रूपमें नाना प्रकारके विचार यदि आपके पास रक्खूँ तो उन्हें योग्यतापूर्वक आत्मगत करते हुए दोषके लिये—भविष्यके लिये भी क्षमाभाव ही रक्खें।

इस समय लघुत्वभावसे एक प्रश्न करनेकी आज्ञा चाहता हूँ। आपके लक्ष्में होगा कि प्रत्येक पदार्थकी प्रज्ञापनीयता चार प्रकारसे होती है:—द्रव्य (उसका वस्तुस्वभाव) से, क्षेत्र (उसकी औपचारिक अथवा अनौपचारिक व्यापकता) से, कालसे और भाव (उसके गुणादिक भाव) से। इन इनके बिना आत्माकी व्याख्या भी नहीं कर सकते। आप यदि अवकाश मिलनेपर इन प्रज्ञापनीयताओंसे इस आत्माकी व्याख्या लिखेंगे तो इससे मुझे बहुत संतोष होगा। इसमेंसे एक अद्भुत व्याख्या निकल सकती है; परन्तु आपके विचार पहिलेसे कुछ सहायक हो सकेंगे, ऐसा समझकर यह याचना की है।

धर्मोपजीवन प्राप्त करनेमें आपकी सहायताकी प्रायः आवश्यकता पड़ेगी, परन्तु सामान्यतः वृत्तिभावसंबंधी आपके विचार जान लेनेके बाद ही उस बातको जन्म देना, ऐसी इच्छा है।

शास्त्र, यह परोक्षमार्ग है; और.........प्रत्यक्षमार्ग है। इस समय तो इतना ही लिखकर यह पत्र विनय-भावपूर्वक समाप्त करता हूँ।

वि. आ. रायचंद रवजीभाईका प्रणाम.

यह भूमि श्रेष्ठ योग-भूमि है। यहाँ मुझे एक सत्मुनि इत्यादिका साथ रहता है।

४५

भड़ौंच, श्रावण सुदी १०, १९४५

जगत्में बाह्यभावसे व्यवहार करो, और अंतरंगमें एकांत शीतलीभूत अर्थात् निर्लेप रहो, यही मान्यता और उपदेश है।

४६

बम्बई, भाद्रपद वदी ४, शुक्र. १९४५

मेरे ऊपर समभावसे शुद्ध राग रक्खो, इससे अधिक और कुछ न करो। धर्मध्यान और व्यवहार इन दोनोंकी सँभाल रक्खो। लोभी गुरु, गुरु-शिष्य दोनोंकी अधोगतिका कारण है। मैं एक संसारी हूँ, मुझे अल्पज्ञान है। तुम्हें शुद्ध गुरुकी जरूरत है।

४७

बम्बई, भाद्रपद वदी १२ शनि. १९४५

(वंदामि पादे प्रभुवर्द्धमान)

प्रतिमासंबंधी विचारोंके कारण यहाँके समागममें आनेवाले लोग बिल्कुल प्रतिकूल रहते हैं। इन्हीं मतभेदोंके कारण आत्माने अनंत कालमें और अनंत जन्ममें भी आत्म-धर्म नहीं पाया, यही कारण है कि सत्पुरुष उसको पसंद नहीं करते, परन्तु स्वरूप श्रेणीकी ही इच्छा करते हैं।

बुद्धभगवान्‌का चरित्र मनन करने योग्य है; यह कथन पक्षपातरहित है।

अब मैं कुछ आध्यात्मिक तत्त्वोंसे युक्त वचनामृत लिख सकूँगा।

धर्मोपजीवनके इच्छुक रायचन्द्रका विनययुक्त प्रणाम.

---

४३ ववाणीआ, आषाढ़ वदी १२ बुध. १९४५

महासतीजी मोक्षमाला श्रवण करती हैं, यह बहुत सुख और लाभ दायक है। उनको मेरी तरफसे विनति करना कि वे इस पुस्तकको यथार्थ श्रवण करें और उसका मनन करें। इसमें जिनेश्वरके सुंदर मार्गसे बाहरका एक भी अधिक वचन रखनेका प्रयत्न नहीं किया गया। जैसा अनुभवमें आया और कालभेद देखा वैसे ही मध्यस्थतासे यह पुस्तक लिखी है। मुझे आशा है कि महासतीजी इस पुस्तकको एकाग्रभावसे श्रवण करके आत्म-कल्याणमें वृद्धि करेंगी।

---

४४ भरोंच, वि. सं. १९४५ श्रावण सुदी ३ बुध.

धजाणा नामके गाँवसे लिखा हुआ मेरा एक विनय-पत्र आपको मिला होगा।

मैं अपनी निवासभूमिसे लगभग दो माससे सद्योग और सत्संगकी वृद्धि करनेके लिये प्रवासरूपसे कुछ स्थलोंमें विहार कर रहा हूँ। लगभग एक सप्ताहमें आपके दर्शन और समागमकी प्राप्तिके लिये मेरा वहाँ आगमन होना संभव है।

सब शास्त्रोंको जाननेका, क्रियाका, ज्ञानका, योगका और भक्तिका प्रयोजन अपने स्वरूपकी प्राप्ति करना ही है; और यदि ये सम्यक् श्रेणियाँ आत्मगत हो जाँय तो ऐसा होना प्रत्यक्ष संभव है; परन्तु इन वस्तुओंको प्राप्त करनेके लिये सर्व-संग-परित्यागकी आवश्यकता है। केवल निर्जनावस्था और योगभूमिमें वास करनेसे सहज समाधिकी प्राप्ति नहीं होती, वह तो निकटमें सर्व-संग-परित्यागसे ही रहती है। देश (एकदेश) संग-परित्यागमें केवल उसकी भजना ही संभव है। जबतक पूर्वकर्मके बलसे गृहवास भोगना बाकी है, तबतक धर्म, अर्थ और कामको उल्लसित-उदासीन भावसे सेवन करना योग्य है। बाह्याभ्यंतर गृहस्थ-श्रेणी होनेपर अणुव्रत निर्ग्रन्थ-श्रेणीकी आवश्यकता है, और जहाँ वह हुई वहाँ सर्वसिद्धि है। इस श्रेणीमें मेरी आत्माभिलाषा बहुत महीनोंसे रहा करती है। कई एक व्यवहारोपाधिके कारण धर्मोपजीवनकी पूर्ण अभिलाषा सफल नहीं हो सकती; किन्तु उसमें प्रायः ही आत्मासे कल्याणके लिये होती है: यह बात संक्षिप्त ही है, और इसके विशेष [illegible] अभी लिखनेकी अपेक्षा नहीं है।

निर्ग्रंथके उपदेशकी [illegible] और [illegible] मान्य करते हुए अन्य दर्शनोंके उपदेशके [illegible] करना ही योग्य है। [illegible] और [illegible] दर्शनके [illegible] फिर [illegible] कोई अपेक्षा [illegible] नहीं। [illegible], [illegible] दर्शनसे, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] दर्शन और [illegible] [illegible] है, [illegible] और [illegible] हुई है। [illegible] है।

पार्श्वनाथ परमात्माको नमस्कार

४८ बम्बई, आसोज वदी २ गुरु. १९४५

जगत्को सुंदर बतानेकी अनंतबार कोशिश की, परन्तु उससे वह सुन्दर नहीं हुआ; क्योंकि अबतक परिभ्रमण और परिभ्रमणके हेतु मौजूद रहते हैं। यदि आत्माका एक भी भव सुन्दर हो जाय, सुन्दरतापूर्वक बीत जाय, तो अनंत भवकी कसर निकल जाय; ऐसा मैं लघुत्वभावसे समझा हूँ, और यही करनेमें मेरी प्रवृत्ति है। इस महाबंधनसे रहित होनेमें जो जो साधन और पदार्थ श्रेष्ठ लगें उन्हें ग्रहण करना, यही मान्यता है। तो फिर उसके लिये जगत्की अनुकूलता-प्रतिकूलताको क्या देखना? वह चाहे जैसे बोले, परन्तु आत्मा यदि बंधनरहित होती हो, समाधिमय दशा प्राप्त करती हो तो कर लेना। ऐसा करनेसे सदाके लिये कीर्ति-अपकीर्तिसे छूट जा सकोगे।

इस समय इनके और इनके पक्षके लोगोंके मेरे विषयमें जो विचार हैं वे मेरे ध्यानमें हैं; परन्तु उनको भूल जाना ही श्रेयस्कर है। तुम निर्भय रहना; मेरे विषयमें कोई कुछ कहे तो उसे सुनकर चुप रहना; उसके लिये कुछ भी शोक-हर्ष मत करना। जिस पुरुषपर तुम्हारा प्रशस्त राग है, उसके इष्टदेव परमात्मा जिन महायोगीन्द्र पार्श्वनाथ आदिका स्मरण रखना, और जैसे बने वैसे निर्मोही होकर मुक्त दशाकी इच्छा करना। जीवनके संबंधमें अथवा जीवनकी पूर्णताके संबंधमें कोई संकल्प-विकल्प नहीं करना।

उपयोगको शुद्ध करनेके लिये जगत्के संकल्प-विकल्पोंको भूल जाना; पार्श्वनाथ आदि योगीश्वरकी दशाकी स्मृति करना; और वही अभिलाषा रक्खे रहना, यही तुम्हें पुनः पुनः आशीर्वादपूर्वक मेरी शिक्षा है। यह अल्पज्ञ आत्मा भी उसी पदकी अभिलाषिणी और उसी पुरुषके चरणकमलमें तल्लीन हुई दीन शिष्य है, और तुम्हें भी ऐसी ही श्रद्धा करनेकी शिक्षा देती है। वीरस्वामीका उपदेश किया हुआ द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे सर्व-स्वरूप यथातथ्य है, यह मत भूलना। उसकी शिक्षाकी यदि किसी भी प्रकारसे विराधना हुई हो तो उसके लिये पश्चात्ताप करना। इस कालकी अपेक्षासे मन, वचन, कायाको आत्मभावसे उसकी गोदमें अर्पण करो, यही मोक्षका मार्ग है। जगत्के सम्पूर्ण दर्शनोंकी—मतोंकी श्रद्धाको भूल जाना, जैनसंबन्धी सब विचार भूलकर केवल उन सत्पुरुषोंके अद्भुत, योगस्फुरित चरित्रमें ही अपना उपयोग लगाना।

इस अपने माने हुए "सम्मान्य पुरुष" के लिये किसी भी प्रकारसे हर्ष-शोक नहीं करना। उसकी इच्छा केवल संकल्प-विकल्पसे रहित होनेकी ही है। उसको इस विचित्र जगत्से कुछ भी संबंध अथवा लेना देना नहीं है; इसलिये उसमेंसे उसके लिये कुछ भी विचार बँधे अथवा बोले जाँय, तो भी अब उनकी ओर जानेकी इच्छा नहीं है। जगत्मेंसे जो परमाणु पूर्वकालमें इकट्ठे किये हैं, उन्हें धीमे धीमे उसे देकर ऋणमुक्त हो जाना; यही उसकी निरंतर उपयोगपूर्ण, प्रिय, श्रेष्ठ और परम अभिलाषा है—इसके सिवाय उसे कुछ भी आता जाता नहीं, और न उसे दूसरा कुछ चाहना ही है; उसका जो कुछ विचरना है वह उसके पूर्वकर्मोंके कारण ही है, ऐसा समझकर परम संतोष रखना। यह बात गुप्त रखना। हम क्या मानते हैं, और हम कैसे बर्ताव करते हैं, इस बातको जगत्को दिखानेकी जरूरत नहीं। परन्तु आत्मासे इतना ही पूँछनेकी जरूरत है कि यदि तू मुक्तिकी इच्छा करती

यदि शुद्ध उपयोगकी प्राप्ति हो गई तो फिर वह प्रतिसमय पूर्वोपार्जित मोहनीयको भस्मीभूत कर सकेगी; यह अनुभवगम्य वचन है।

परन्तु जबतक मुझसे पूर्वोपार्जित कर्मका संबंध है तबतक मेरी किस तरहसे शांति हो? यह विचारनेसे मुझे निम्न लिखित समाधान हुआ है।

५२

वि. सं. १९४५

जगत्में जो भिन्न भिन्न मत और दर्शन देखनेमें आते हैं वे सब दृष्टिके भेद मात्र हैं।

भिन्न भिन्न जो मत दिखाई दे रहे हैं यह केवल एक दृष्टिका ही भेद है; वे सब मानो एक ही तत्त्वके मूलसे पैदा हुए हैं ॥ १ ॥

उस तत्त्वरूप वृक्षका मूल आत्मधर्म है; जो धर्म आत्मधर्मकी सिद्धि करता है, वही उपादेय धर्म है ॥ २ ॥

सबसे पहिले आत्माकी सिद्धि करनेके लिये ज्ञानका विचार करो; उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये अनुभवी गुरुकी सेवा करनी चाहिये, यही पण्डित लोगोंने निर्णय किया है ॥ ३ ॥

जिसकी आत्मामेंसे क्षण क्षणमें होनेवाली अस्थिरता और वैभाविक मोह दूर हो गया है, वह अनुभवी गुरु है ॥ ४ ॥

जिसके बाह्य और अभ्यंतर परिग्रहकी ग्रन्थियाँ नहीं रही हैं उसे ही सरल दृष्टिसे परम पुरुष मानो ॥ ५ ॥

५३

वि. सं. १९४

१. जिसकी मनोवृत्ति निराबाधरूपसे बहा करती है, जिसके संकल्प-विकल्प मंद पड़ गये हैं, जिसके पाँच विषयोंसे विरक्त बुद्धिके अंकुर प्रस्फुटित हुए हैं, जिसने क्लेशके कारण निर्मूल कर दिये हैं, जो अनेकांत-दृष्टियुक्त एकांत-दृष्टिका सेवन किया करता है; जिसकी केवल यही शुद्धवृत्ति है, वह प्रतापी पुरुष जयवान होओ।

२. हमें ऐसा बननेका प्रयत्न करना चाहिये।

५२

भिन्न भिन्न मत देखिये, भेददृष्टिनो एह,
एक तत्त्वना मूळमा, व्याप्या मानो तेह ॥ १ ॥
तेह तत्त्वरूपवृक्षनु, आत्मधर्म छे मूळ;
स्वभावनी सिद्धि करे, धर्म ते ज अनुकूळ ॥ २ ॥
प्रथम आत्मसिद्धि थवा, करिए ज्ञान विचार;
अनुभवि गुरुने सेविये, बुधजननो निर्धार ॥ ३ ॥
क्षण क्षण जे अस्थिरता, अने विभाविकमोह,
ते जेनामांथी गया, ते अनुभवि गुरु जोय ॥ ४ ॥
बाह्य तेम अभ्यन्तरे, ग्रंथ ग्रन्थि नहि होय;
परम पुरुष तेने कहो, सरळ दृष्टिथी जोय ॥ ५ ॥

जो संस्कार अत्यन्त अभ्यास करनेके बाद उत्पन्न होते हैं, वे सब मुझे बिना किसी परिश्रमके ही सिद्ध हो गये, तो फिर अब पुनर्जन्मकी क्या शंका है ! ॥ २ ॥

ज्यों ज्यों बुद्धिकी अल्पता होती जाती है और मोह बढ़ता जाता है, त्यों त्यों संसार-भ्रमण भी बढ़ता जाता है और अंतर्ज्योति मलीन हो जाती है ॥ ३ ॥

अनेक प्रकारके नास्तिरूप विचारोंपर मनन करनेपर यही निर्णय दृढ होता है कि आस्तिरूप विचार ही उत्तम है ॥ ४ ॥

पुनर्जन्मकी सिद्धिके लिये यही एक बड़ा अनुकूल तर्क है कि यह भव दूसरे भवके बिना नहीं हो सकता । इसको विचारनेसे आत्मधर्मका मूल प्राप्त हो जाता है ॥ ५ ॥

५१

वि. सं. १९४५

स्त्रीसंबंधी मेरे विचार

बहुत बहुत शान्त विचार करनेपर यह सिद्ध हुआ है कि निराबाध सुखका आधार शुद्ध ज्ञान है; और वहीं परम समाधि भी है । केवल बाह्य आवरणकी दृष्टिसे ही संसारका सर्वोत्तम सुख मान ली गई है, परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है । विवेक दृष्टिसे देखनेपर स्त्रीके साथ संयोगजन्य सुखके भोगनेका जो चिन्ह है वह वमन करने योग्य स्थान भी नहीं ठहरता । जिन जिन पदार्थोंपर हमें घृणा आती है वे सब पदार्थ स्त्रीके शरीरमें मौजूद हैं, और उनकी वह जन्मभूमि है । फिर यह सुख क्षणिक, खेद रूप, और खुजलीके रोगके समान ही है । उस समयका दृश्य हृदयमें अंकितकर यदि उसपर विचार करें तो हँसी आती है कि यह कैसी भूल है ! संक्षेपमें कहनेका अभिप्राय यह है कि उसमें कुछ भी सुख नहीं । और यदि उसमें सुख हो तो उसकी चर्मरहित दशाका वर्णन तो कर देखो ! तब उससे यही मालूम होगा कि यह मान्यता केवल मोहदशाके कारण हुई है । यहाँ मैं स्त्रीके भिन्न भिन्न अवयव आदिके भागोंका विवेचन करने नहीं बैठा हूँ, परन्तु उस ओर फिर कभी आत्मा न चली जाय, यह जो विवेक हुआ है, उसका सामान्य सूचन किया है । स्त्रीमें कोई दोष नहीं है, परन्तु दोष तो अपनी आत्मामें है । और इन दोषोंके निकल जानेसे आत्मा जो कुछ देखती है वह अद्भुत आनंदस्वरूप ही है; इसलिये इस दोषसे रहित होना, यही परम अभिलाषा है ।

जे संस्कार थवो घटे, अति अभ्यासे काय;
विना परिश्रम ते थयो, भवशंका शी त्याय ! ॥ २ ॥

जेम जेम मति अल्पता, अने मोह उद्योत;
तेम तेम भवशंकना, अपात्र अंतर् ज्योत ॥ ३ ॥

करी कल्पना दृढ करे, नाना नास्ति-विचार;
पण ‘ अस्ति ’ ते सूचवे, एज खरो निर्धार ॥ ४ ॥

आ भव वण भव छे नहीं, एज तर्क अनुकूळ;
विचारतां पामी गया, आत्मधर्मनुं मूळ ॥ ५ ॥

जैसा होनेकी मैंने कल्पना भी न की थी, तथा जिसके लिये मेरे विचारमें आनेवाला मेरा कोई प्रयत्न भी न था, तो भी अचानक फेरफार हुआ; कुछ दूसरा ही अनुभव हुआ; और यह अनुभव ऐसा था जो प्रायः न शास्त्रोंमें ही लिखा था, और न जड़वादियोंकी कल्पनामें ही था। यह अनुभव क्रमसे बढ़ा और बढ़कर अब एक 'तू ही, तू ही' का जाप करता है।

अब यहाँ समाधान हो जायगा। यह बात अवश्य आपकी समझमें आ जायगी कि मुझे भूतकालमें न भोगे हुए अथवा भविष्यकालीन भय आदिके दुःखमेंसे एक भी दुःख नहीं है। स्त्रीके सिवाय कोई दूसरा पदार्थ खास करके मुझे नहीं रोक सकता। दूसरा ऐसा कोई भी संसारी पदार्थ नहीं है जिसमें मेरी प्रीति हो, और मैं किसी भी भयसे अधिक मात्रामें घिरा हुआ भी नहीं हूँ। स्त्रीके संबन्धमें मेरी अभिलाषा कुछ और है और आचरण कुछ और है। यद्यपि एक पक्षमें उसका कुछ कालतक सेवन करना योग्य कहा गया है, फिर भी मेरी तो वहाँ सामान्य प्रीति-अप्रीति है, परन्तु दुःख यही है कि अभिलाषा न होनेपर भी पूर्वकर्म मुझे क्यों घेरे हुए है? इतनेसे ही इसका अन्त नहीं होता, परन्तु इसके कारण अच्छे न लगनेवाले पदार्थोंको देखना, सूँघना और स्पर्श करना पड़ता है, और इसी कारणसे प्रायः उपाधिमें रहना पड़ता है।

महारंभ, महापरिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा ऐसी ही अन्य बातें जगत्‌में कुछ भी नहीं, इस प्रकारका इनको भुला देनेका ध्यान करनेसे परमानंद रहता है।

उसको उपरोक्त कारणोंसे देखना पड़ता है, यही महाखेदकी बात है। अंतरंगचर्या भी कहीं प्रगट नहीं की जा सकती; ऐसे पात्रोंकी मुझे दुर्लभता हो गई है, यही बस मेरा महादुःखीपना कहा जा सकता है।

५६

वि. सं. १९४५

यहाँ कुशलता है। आपकी कुशलता चाहता हूँ। आज आपका जिज्ञासु-पत्र मिला। इस जिज्ञासु-पत्रके उत्तरके बदलेमें जो पत्र भेजना चाहिये वह पत्र यह है:—

इस पत्रमें गृहस्थाश्रमके संबंधमें अपने कुछ विचार आपके समीप रखता हूँ। इनके रखनेका हेतु केवल इतना ही है कि जिससे अपना जीवन किसी भी प्रकारके उत्तम क्रममें व्यतीत हो; और जबसे उस क्रमका आरंभ होना चाहिये वह काल अभी आपके द्वारा आरंभ हुआ है, अर्थात् आपको उस क्रमके बतानेका यह उचित समय है। इस तरह बताये हुए क्रमके विचार बहुत ही संस्कारपूर्ण हैं इसलिये इस पत्रद्वारा प्रकट हुए हैं। वे आपको तथा किसी भी आत्मोन्नति अथवा प्रशस्त क्रमकी इच्छा रखनेवालेको अवश्य ही बहुत उपयोगी होंगे, ऐसी मेरी मान्यता है।

तत्त्वज्ञानकी गहरी गुफाका यदि दर्शन करने जाँय तो वहाँ नेपथ्यमेंसे यही ध्वनि निकलेगी कि तुम कौन हो? कहाँसे आये हो? क्यों आये हो? तुम्हारे पास यह सब क्या है? क्या तुम्हें अपनी प्रतीति है? क्या तुम विनाशी, अविनाशी अथवा कोई तीसरी ही राशि हो? इस तरहके अनेक प्रश्न उस ध्वनिसे हृदयमें प्रवेश करेंगे; और जब आत्मा इन प्रश्नोंसे घिर गई तो फिर दूसरे विचारोंको बहुत ही थोड़ा अवकाश रहेगा। यद्यपि इन्हीं विचारोंसे ही अन्तमें सिद्धि है; इन्हीं विचारोंके विवेकसे जिस अव्याबाध

५४

वि. सं. १९४५

अहो हो ! कर्मकी कैसी विचित्र बंध-स्थिति है ? जिसकी स्वप्नमें भी इच्छा नहीं होती और जिसके लिये परम शोक होता है, उसी गंभीरतारहित दशासे चलना पड़ता है !

वे जिन–वर्द्धमान आदि सत्पुरुष कैसे महान् मनोविजयी थे। उन्हें मौन रहना, अमौन रहना दोनों ही सुलभ थे; उन्हें अनुकूल-प्रतिकूल सभी दिन समान थे; उन्हें लाभ-हानि दोनों समान थीं; उनका क्रम केवल आत्म-समताके लिये ही था। कैसे आश्चर्यकी बात है कि जिस एक कल्पनाका एक कल्पकालमें भी जय होना दुर्लभ है, ऐसी अनंत कल्पनाओंको उन्होंने कल्पके अनंतवें भागमें ही शान्त कर दिया।

५५

वि. सं. १९४५

यदि दुखिया मनुष्योंका प्रदर्शन किया जाय तो निश्चयसे मैं उनके सबसे अग्र भागमें आ सकता हूँ।

मेरे इन वचनोंको पढ़कर कोई विचारमें पड़कर भिन्न भिन्न कल्पनायें न करने लग जाय, अथवा इसे मेरा भ्रम न मान बैठे इसलिये इसका समाधान यहीं संक्षेपमें लिखे देता हूँ:—

तुम मुझे स्त्रीसंबंधी दुःख नहीं मानना, लक्ष्मीसंबंधी दुःख नहीं मानना, पुत्रसंबंधी दुःख नहीं मानना, कीर्तिसंबंधी दुःख नहीं मानना, भयसंबंधी दुःख नहीं मानना, शरीरसंबंधी दुःख नहीं मानना, अथवा अन्य सर्ववस्तुसंबंधी दुःख नहीं मानना; मुझे किसी दूसरी ही तरहका दुःख है। वह दुःख वातका नहीं, कफका नहीं, पित्तका नहीं; शरीरका नहीं, वचनका नहीं, मनका नहीं, अथवा गिनो तो इन सभीका है, और न गिनो तो एकका भी नहीं; परन्तु मेरी विज्ञप्ति उस दुःखको न गिननेके लिये ही है; क्योंकि इसमें कुछ और ही मर्म अन्तर्हित है।

इतना तो तुम जरूर मानना कि मैं बिना दिवानापनेके यह कलम चला रहा हूँ। मैं राजचन्द्र नामसे कहा जानेवाला ववाणीआ नामके एक छोटेसे गाँवका रहनेवाला, लक्ष्मीमें साधारण होनेपर भी आर्यरूपसे माना जानेवाला दशाश्रीमाली वैश्यका पुत्र गिना जाता हूँ। मैंने इस देहमें मुख्यरूपसे दो भव किये हैं, गौणका कुछ हिसाब नहीं।

छुटपनकी छोटी समझमें कौन जाने कहाँसे ये बड़ी बड़ी कल्पनायें आया करती थीं। सुखकी अभिलाषा भी कुछ कम न थी; और सुखमें भी महल, बाग, बगीचे, स्त्री तथा राग-रंगोंके भी कुछ कुछ ही मनोरथ थे, किंतु सबसे बड़ी कल्पना इस बातकी थी कि यह सब क्या है ? इस कल्पनाका एक बार तो ऐसा फल निकला कि न पुनर्जन्म है, न पाप है, और न पुण्य है; सुखसे रहना, और संसारका भोग करना, बस यही कृतकृत्यता है। इसमेंसे दूसरी झंझटोंमें न पड़कर धर्मकी वासनायें भी निकाल डालीं। किसी भी धर्मके लिये थोड़ा बहुत भी मान अथवा श्रद्धाभाव न रहा, किन्तु थोड़ा समय बीतनेके बाद इसमेंसे कुछ और ही हो गया।

५७

बम्बई, वि. सं. १९४६

भाई! इतना तो तुझे अवश्य करना चाहिये:—

१. इस देहमें जो विचार करनेवाला बैठा है वह देहसे भिन्न है? वह सुखी है या दुःखी? यह याद कर ले।

२. तुझे दुःख तो होता ही होगा, और दुःखके कारण भी तुझे दृष्टिगोचर ही होते होंगे, फिर भी यदि कदाचित् न होते हों तो मेरे० किसी भागको पढ़ जाना, इससे सिद्धि हो जायगी। इसे दूर करनेका जो उपाय है वह केवल इतना ही है कि उससे बाह्याभ्यंतरकी आसक्तिरहित रहना।

३. उस आसक्तिसे रहित होनेके बाद कुछ और ही दशाका अनुभव होता है, यह मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ।

४. उस साधनके लिये सर्वसंग-परित्यागी होनेकी आवश्यकता है। निर्ग्रंथ सद्गुरुके चरणमें जाकर पड़ना योग्य है।

५. जिस भावसे पड़ा जाय उस भावमें सदाकाल रहनेका सबसे पहिले निश्चय कर। यदि तुझे पूर्वकर्म बलवान लगते हों तो अत्यागी अथवा देशत्यागी ही रह, किन्तु उस वस्तुको भूलना मत।

६. सबसे पहिले जैसे बने तैसे तू अपने जीवनको जान। जाननेकी जरूरत इसलिये है जिससे भविष्य-समाधि हो सके। इस समय अप्रमादी होकर रहना।

७. इस आयुके मानसिक आत्मोपयोगको केवल वैराग्यमें रख।

८. जीवन बहुत छोटा है, उपाधि बहुत है, और उसका त्याग न हो सकता हो तो नीचेकी बातें पुनः पुनः स्मृतिमें रख:—

१ उसी वस्तुकी अभिलाषा रख।

२ संसारको बंधन मान।

३ पूर्वकर्म नहीं है, ऐसा मानकर प्रत्येक धर्मका सेवन करता जा; फिर भी यदि पूर्वकर्म दुःख दें तो शोक नहीं करना।

४ जितनी देहकी चिन्ता रखता है उतनी नहीं, किन्तु उससे अनंतगुनी चिन्ता आत्माकी रख, क्योंकि एक भवमें अनंतभव दूर करने हैं।

५ यदि तुझसे कुछ पालन न किया जा सके तो सुननेका अभ्यासी बन।

६ जितनेमें जितना कर सके उतना कर।

७ पारिणामिक विचारवाला बन।

८ अनुत्तरवासी होकर रह।

९. यथासमय अन्तिम उद्देश्यको मत भूल जाना; यही अनुरोध है, और यही धर्म है।

सुखकी इच्छा है उसकी प्राप्ति होती है; और इन्हीं विचारोंके मननसे अनंत कालका मोह दूर होता है; तथापि वे सबके लिये नहीं हैं। वास्तविक दृष्टिसे देखनेपर जो उसे अन्ततक पा सकें ऐसे पात्र बहुत ही कम हैं; काल बदल गया है। इन वस्तुओंके अंतको जल्दबाजी अथवा अशौचतासे लेने जानेपर ज़हर निकलता है, और वह भाग्यहीन अपात्र इन दोनों प्रकारके लोकोंसे भ्रष्ट होता है। इसलिये कुछ संतोंको अपवादरूप मानकर बाकीको उस क्रममें आनेके लिये उस गुफाका दर्शन करनेके लिये बहुत समयतक अभ्यासकी जरूरत है। कदाचित् यदि उस गुफाका दर्शन करनेकी उसकी इच्छा न हो तो भी अपने इस भवके सुखके लिये—पैदा होने और मरनेके बीचके भागको किसी तरह बितानेके लिये भी इस अभ्यासकी निश्चयसे जरूरत है; यह कथन अनुभवगम्य है, वह बहुतोंके अनुभवमें आया है, और बहुतसे आर्य-संतपुरुष उसके लिये विचार कर गये हैं। उन्होंने उसपर अधिकाधिक मनन किया है। उन्होंने आत्माको खोजकर उसके अपार मार्गमेंसे जो प्राप्ति हुई है उसकेद्वारा बहुतोंको भाग्यशाली बनानेके लिये अनेक क्रम बाँधे हैं। वे महात्मा जयवन्त हों! और उन्हें त्रिकाल नमस्कार हो!

हम थोड़ी देरके लिये तत्त्वज्ञानकी गुफाको विस्मरण करके जब आर्योंद्वारा उपदेश किये हुए अनेक क्रमोंपर आनेके लिये तैयार होते हैं, उस समयमें यह बता देना योग्य ही है कि हमें जो पूर्ण आल्हादकर लगता है, और जिसे हमने परमसुखकर, हितकर, और हृदयरूप माना है,—वह सब कुछ उसीमें है; वह अनुभवगम्य है, और यही तो इस गुफाका निवास है, और मुझे निरंतर इसीकी अभिलाषा रहा करती है। यद्यपि अभी हालमें उस अभिलाषाके पूर्ण होनेके कोई चिन्ह दिखाई नहीं देते, तो भी क्रम-क्रमसे इसमें इस लेखकको जय ही मिलेगी, ऐसी उसे निश्चयसे शुभाकांक्षा है, और यह अनुभवगम्य भी है। अभीसे ही यदि योग्य रीतिसे उस क्रमकी प्राप्ति हो जाय तो इस पत्रके लिखने जितनी ढील करनेकी भी इच्छा नहीं; परन्तु कालकी कठिनता है; भाग्यकी मंदता है; संतोंकी कृपादृष्टि दृष्टिगोचर नहीं है; और सत्संगकी कमी है। वहाँ कुछ ही—

तो भी हृदयमें उस क्रमका बीजारोपण अवश्य हो गया है, और यही सुखकर हुआ है। सृष्टिके राज्यसे भी जिस सुखके मिलनेकी आशा नहीं थी, तथा जो अनंत शांति किसी भी रीतिसे, किसी भी औषधिसे, साधनसे, स्त्रीसे, पुत्रसे, मित्रसे अथवा दूसरे अनेक उपचारोंसे नहीं होनेवाली थी वह अब हो गई है। अब सदाके लिये भविष्यकालकी भीति चली गई है, और एक साधारण जीवनमें आचरण करता हुआ यह तुम्हारा मित्र इसीके कारण जी रहा है, नहीं तो जीनेमें निश्चयसे शंका ही थी। विशेष क्या कहूँ! यह भ्रम नहीं है, वहम नहीं है, बिल्कुल सत्य ही है।

जो त्रिकालमें एकतम परमप्रिय और जीवन वस्तु है उसकी प्राप्तिका बीजारोपण कैसे और किस प्रकारसे हुआ? इस बातका विस्तारपूर्ण विवेचन करनेका यहाँ अवसर नहीं है, परन्तु यही मुझे निश्चयसे त्रिकालमान्य है, इतना ही मैं यहाँ कहना चाहता हूँ, क्योंकि लेखन-समय बहुत थोड़ा है।

इस प्रिय जीवनको सब कोई पा जाँय, सब कोई इसके लिये पात्र बने, यह सबको प्रिय लगे, सबको इसमें रुचि हो, ऐसा भूतकालमें कभी हुआ नहीं, वर्तमानकालमें होनेवाला नहीं, और भविष्यकालमें कभी होगा नहीं, और यही कारण है कि त्रिकालमें यह जगत् विचित्र बना रहता है।

जब हम मनुष्यके सिवाय दूसरे प्राणियोंकी जाति देखते हैं, तो उसमें इस वस्तुका विवेक नहीं मालूम होता; अब जो मनुष्य रहे उन सब मनुष्योंमें भी यह बात नहीं देख सकेंगे।———

———

पक्षपात भी नहीं है, ऐसा होनेपर भी कुछ बातें ऐसी हैं जिनको उसे बाह्याचारमें करना पड़ता है, इसके लिये उसे खेद है।

उसका अब एक विषयको छोड़कर दूसरे विषयमें ठिकाना नहीं। यद्यपि वह पुरुष तीक्ष्ण उपयोगवाला है, तथापि उस तीक्ष्ण उपयोगको दूसरे किसी भी विषयमें लगानेका वह इच्छुक नहीं है।

६१

बम्बई, वि. सं. १९४३

एक बार वह स्वभुवनमें बैठा था। जगत्‌में कौन सुखी है, उसे जरा देखूँ तो सही। फिर अपने लिये अपना विचार करूँ। इसकी इस अभिलाषाकी पूर्ति करनेके लिये अथवा स्वयं उस संस्थानको देखनेके लिये बहुतसे पुरुष (आत्मायें), और बहुतसे पदार्थ उसके पास आये।

" इनमें कोई जड़ पदार्थ न था।" " कोई अकेली आत्मा भी देखनेमें न आई।"

सिर्फ़ कुछ देहधारी ही थे। उस पुरुषको शंका हुई कि ये मेरी निवृत्तिके लिये आये हैं।

वायु, अग्नि, पानी और भूमि इनमेंसे कोई क्यों नहीं आया?

(नेपथ्य) वे सुखका विचार तक भी नहीं कर सकते। वे बिचारे दुःखसे पराधीन हैं।

द्वि-इन्द्रिय जीव क्यों नहीं आये?

(नेपथ्य) इसका भी यही कारण है। ज़रा आँख उठाकर देखो तो सही। उन बिचारोंको कितना अधिक दुःख है।

उनका कंपन, उनकी थरथराहट, पराधीनता इत्यादि देखे नहीं जाते। वे बहुत ही अधिक दुःखी हैं।

(नेपथ्य) इसी आँखसे अब तुम समस्त जगत् देख लो। फिर दूसरी बात करो।

अच्छी बात है। दर्शन हुआ, आनंद पाया, परन्तु पीछेसे खेद उत्पन्न हुआ।

(नेपथ्य) अब खेद क्यों करते हो?

मुझे जो कुछ दिखाई दिया क्या वह ठीक था?

" हाँ "

यदि ठीक था तो फिर चक्रवर्त्ती आदि दुःखी क्यों दिखाई देते हैं?

" जो दुःखी होते हैं वे दुःखी, और जो सुखी होते हैं वे सुखी दिखाई देते हैं।"

तो क्या चक्रवर्त्ती दुःखी नहीं है?

" जैसा देखो वैसा मानो। यदि विशेष देखना हो तो चलो मेरे साथ।"

चक्रवर्त्तीके अंतःकरणमें प्रवेश किया।

अंतःकरण देखते ही मुझे मालूम हुआ कि मैंने पहिले जो देखा था वही ठीक था। उसका अंतःकरण बहुत दुःखी था। वह अनंत प्रकारके भयोंसे थरथर काँप रहा था। काल आयुष्यकी डोरीको निगल रहा था। हाड़-माँसमें उसकी वृत्ति थी। कँकरोंमें उसकी प्रीति थी। क्रोध और मानका वह उपासक था। बहुत दुःख।

५८

बम्बई, कार्तिक वि. सं. १९४६

मतदृष्टिके अन्यमार्गी होनेवालेको पश्चात्ताप करनेके बहुत ही थोड़े अवसर आनेकी संभावना है।

हे नाथ! यदि सातवें तमतमप्रभा नामक नरककी वेदना मिली होती तो कदाचित् उसे स्वीकार कर लेता, परन्तु जगत्की मोहिनी स्वीकारी नहीं जाती।

यदि पूर्वके अशुभ कर्मका उदय होनेपर उसका वेदन करते हुए शोक करते हो तो अब इसका भी ध्यान रक्खो कि नये कर्मोंका बंध करते हुए वैसा दुःखद परिणाम देनेवाले कर्मोंका तो बंध नहीं कर रहे!

यदि आत्माको पहिचानना हो तो आत्माका परिचयी, और परवस्तुका त्यागी होना चाहिये।

जो कोई अपनी जितनी पौद्गलिक बड़ाई चाहता है उसकी उतनी ही आत्मिक अधोगति होनेकी संभावना है।

प्रशस्त पुरुषकी भक्ति करो, उसका स्मरण करो, उसका गुणचिंतन करो।

५९

बम्बई, वि. सं. १९४६

प्रत्येक पदार्थका अत्यंत विवेक करके इस जीवको उससे अलग रक्खे, ऐसा निर्ग्रंथ कहते हैं।

जैसे शुद्ध स्फटिकमें अन्य रंगका प्रतिभास होनेसे उसका मूल स्वरूप लक्षमें नहीं आता वैसे ही शुद्ध निर्मल यह चेतन अन्य संयोगके तद्रूप अध्याससे अपने स्वरूपके लक्षको नहीं पाता। इसी बातको थोड़े बहुत फेरफारके साथ जैन, वेदांत, सांख्य, योग आदिने भी कहा है।

६०

बम्बई, वि. सं. १९४६

सहज

जो पुरुष ग्रंथमें 'सहज' लिख रहा है वह पुरुष अपने भावको ही लक्ष्य करके यह सब कुछ लिख रहा है।

उसकी अब अंतरंगमें ऐसी दशा है कि बिना किसी अपवादके उसने सभी संसारी इच्छाओंको भी विस्मृत कर दिया है।

वह कुछ पा भी चुका है, और वह पूर्णका परम मुमुक्षु भी है, वह अन्तिम मार्गका निःशंक अभिलाषी है।

अभी हालमें जो आवरण उसके उदय आये हैं, उन आवरणोंसे उसे खेद नहीं, परन्तु वस्तुभावमें होनेवाली मंदताका उसे खेद है। वह धर्मकी विधि, अर्थकी विधि, और उसके आधारसे मोक्षकी विधिको प्रकाशित कर सकता है। इस कालमें बहुत ही कम पुरुषोंको प्राप्त हुआ होगा, ऐसे क्षयोपशमभावका धारक वह पुरुष है।

उसे अपनी स्मृतिके लिये गर्व नहीं है, तर्कके लिये गर्व नहीं है, तथा उसके लिये उसका

पदकी व्याख्या करनेके लिये भी हमारा यहाँ आना नहीं हुआ। हमारा आगमन तुम्हारे कल्याणके लिये हुआ है।"

इतना कहके शीघ्र कहे कि आप मेरा क्या कल्याण करेंगे ? इन आगन्तुक पुरुषोंका परिचय तो कराइये।

उसने इस प्रकार उनका परिचय देना शुरू कियाः—

"इस वर्गमें ४-५-६-७-८-९-१०-१२ नंबरवाले मुख्यतः मनुष्य ही हैं। और वे सब उसी पदके आराधक योगी हैं जिस पदको तुमने प्रिय माना है"

"नंबर चौथेसे लेकर वह पद सुगम्य है; और बाकीकी जगत्-व्यवस्था जैसे हम मानते हैं उसी तरह वे भी मानते हैं। उस पदके प्राप्त करनेकी उनकी हार्दिक अभिलाषा है परन्तु वे प्रयत्न नहीं कर सकते; क्योंकि थोड़े समयतक उन्हें अंतराय है।"

अंतराय क्या ! करनेके लिये तत्पर हुए कि वह हुआ ही समझना चाहिये।

वृद्धः—तुम जल्दी न करो। उसका समाधान तुम्हें अभी होनेवाला है, और हो ही जायगा।

ठीक, आपकी इस बातको मैं माने लेता हूँ।

वृद्धः—नंबर "५" वाला कुछ प्रयत्न भी करता है, और सब बातोंमें वह नं. "४" के ही अनुसार है।

नंबर "६" वाला सब प्रकारसे प्रयत्न करता है, परन्तु प्रमत्तदशामें उसके प्रयत्नमें मंदता आ जाती है।

नंबर "७" वाला सब प्रकारसे अप्रमत्तदशामें प्रयत्न करता है।

नंबर "८-९-१०" वाले उसकी अपेक्षा क्रमसे उत्कृष्ट हैं, किन्तु उसी जातिके हैं। नंबर "११" वाला पतित हो जाता है इसलिये उसका यहाँ आना नहीं हो सका। दर्शन होनेके लिये में बारहवेंसे ही (हाल होने उस पदको सम्पूर्ण देखने वाला हूँ) परिपूर्णता पानेवाला हूँ। आयु-स्थितिके पूरी होनेपर अपने देखे हुए पदमेंसे एक पदपर तुम मुझे भी देखोगे।

जिज्ञासुः—आप महाभाग्यशाली हैं।

ऐसे नंबर कितने हैं ?

वृद्धः—इसमेंके तीन नंबर तुम्हें अनुकूल नहीं आयेंगे। ग्यारहवाँ नंबर भी अनुकूल नहीं होगा। नंबर "१३-१४" वाले तुम्हारे पास आवें ऐसा उनको कोई निमित्त नहीं रहा है। नंबर "१३" वाला यदि आ जाय, परन्तु वैसा तुम्हारा पूर्वकर्म हो तो ही उसका आगमन हो सकता है, अन्यथा नहीं। चौदहवेंके आनेके कारण जाननेकी इच्छा भी मत करना। उसका कारण कुछ है ही नहीं।

(लेखक) "तुम इन सबोंके अन्तमें प्रवेश करो। मैं सहायक होता हूँ।"

चलो। नंबर ४ से लेकर ११+१२ तकमें क्रम क्रमसे गुणकी उत्तरोत्तर चढ़ती हुई धारा देख रहा हूँ

अधिक क्या कहूँ ! मुझे वह बहुत प्रिय लगा। और वहाँ मुझे अपना लगा।

कुछ ! और एक जगह निरावरणपना, दूसरी जगह आवरण, और तीसरी जगह निरावरण ऐसा कैसे बन सकता है ! इसका चित्र बनाकर विचार करो।

सर्वव्यापक आत्मा:—
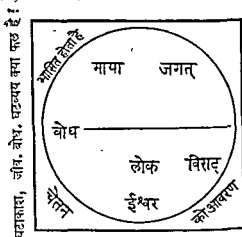
इस तरह तो यह ठीक ठीक नहीं बैठता।

(२) प्रकाशस्वरूप धाम है।

उसमें अनंत अप्रकाशसे भरे हुए अंतःकरण है। उससे फल क्या होता है ?

फल यह होता है कि जहाँ जहाँ वे अन्तःकरण व्याप्त हो जाते हैं वहाँ वहाँ माया भासमान होने लगती है, आत्मा संगरहित होनेपर भी संगसहित मालूम होने लगती है, अकर्त्ता होनेपर भी कर्त्ता मालूम होने लगती है, इत्यादि अनेक प्रकारकी विपरीतताएँ दिखाई देने लगती हैं।

तो उससे होना क्या है ?

आत्माको बंधकी कल्पना हो तो उसका क्या करें ?

अन्तःकरणका सम्बन्ध दूर करनेके लिये उसे उससे भिन्न समझें।

भिन्न समझनेसे क्या होता है ?

आत्मा निजस्वरूप दशामें रहती है।

फिर चाहे एकदेश निरावरण हो अथवा सर्वदेश निरावरण हो !

वृद्धने मेरे मनोगत भावको जानकर कहाः—बस, यही तुम्हारा कल्याण मार्ग है। इसपरसे होकर जाना चाहो तो अच्छी बात है; और अभी आना हो तो ये तुम्हारे साथी रहे।

मैं उठकर उनमें मिल गया। (स्वविचार भुवन, द्वार प्रथम)

६२

बम्बई, कार्तिक सुदी ७ गुरु. १९४६

इस पत्रके साथ अष्टक और **योग**बिन्दु नामकी दो पुस्तकें आपकी दृष्टिसे निकल जानेके लिये भेज रहा हूँ। योगबिन्दुका दूसरा पृष्ठ ढूँढ़नेपर भी नहीं मिल सका; तो भी बाकीका भाग समझमें आ सकने जैसा है, इसलिये यह पुस्तक भेजी है।

योगदृष्टिसमुच्चय बादमें भेजूँगा।

परम गूढ़ तत्त्वको सामान्य ज्ञानमें उतार देनेकी हरिभद्राचार्यकी चमत्कृति प्रशंसनीय है। किसी स्थलपर सापेक्ष खंडन मंडनका भाग होगा, उसकी ओर आपकी दृष्टि नहीं है, इससे मुझे आनंद है।

यदि समय मिलनेपर 'अथ' से लेकर 'इति' तक अवलोकन कर जायँगे तो मेरे ऊपर कृपा होगी। (जैनदर्शन मोक्षका अखंड उपदेश करनेवाला और वास्तविक तत्त्वमें ही श्रद्धा रखनेवाला दर्शन है फिर भी कुछ लोग उसे 'नास्तिक' कहकर पहिले उसका खंडन कर गये हैं, वह खंडन ठीक नहीं हुआ; इस पुस्तकके पढ़ जानेपर यह बात आपकी दृष्टिमें प्रायः आ जायगी)।

मैं आपको जैनधर्मसंबंधी अपना कुछ भी आग्रह नहीं बताता। और आत्माका जो स्वरूप है वह स्वरूप उसे किसी भी उपायद्वारा मिल जाय, इसके सिवाय दूसरी मेरी कोई आंतरिक अभिलाषा नहीं है; इसे किसी भी तरहसे कहकर यह कहनेकी आज्ञा माँगता हूँ कि जैनदर्शन भी एक पवित्र दर्शन है। यह केवल यही समझकर कह रहा हूँ कि जो वस्तु जिस रूपसे स्वानुभवमें आई हो, उसे उसी रूपसे कहना चाहिये।

सब सत्पुरुष केवल एक ही मार्गसे पार हुए हैं, और वह मार्ग वास्तविक आत्मज्ञान और उसकी अनुचारिणी देहकी स्थितिपर्यंत सत्क्रिया अथवा रागद्वेष और मोहरहित दशामें रहना है; ऐसी दशा रहनेसे ही वह तत्त्व उनको प्राप्त हुआ है, ऐसा मेरा स्वकीय मत है।

आत्मामें इस प्रकार लिखनेकी अभिलाषा थी इसलिये यह लिखा है। इसमें यदि कुछ न्यूनाधिक हो गया हो तो उसे क्षमा करें।

६३

बम्बई, वि. सं. १९४६ कार्तिक

(१) यह पूरा कागज़ है, वह मानों सर्वव्यापक चेतन है।

उसके कितने भागमें माया समझें? जहाँ जहाँ वह माया हो वहाँ वहाँ चेतनको बंध समझें या नहीं? उसमें जुदे जुदे जीवोंको किस तरह मानें? और उस जीवको बंध होना किस तरह मानें? उस बंधकी निवृत्ति किस प्रकार मानें? उस बंधकी निवृत्ति होनेपर चेतनके कौनसे भागको माया-रहित हुआ समझें? जिस भागमेंसे पहिले मुक्त हुए हों क्या उस भागको निरावरण समझें या और

शुद्ध! और एक जगह निरावरणपना, दूसरी जगह आवरण, और तीसरी जगह निरावरण ऐसा कैसे बन सकता है? इसका चित्र बनाकर विचार करो।

मर्यादक आत्मा:—

इस तरह तो यह ठीक ठीक नहीं बैठता।

(२) प्रकाशस्वरूप धाम है।
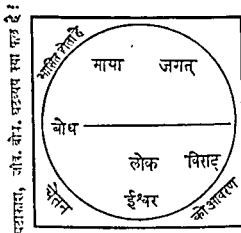
उसमें अनंत अप्रकाशमें भरे हुए अंतःकरण हैं। उससे फल क्या होता है?

फल यह होता है कि जहाँ जहाँ वे अन्तःकरण व्याप्त हो जाते हैं वहाँ वहाँ माया भासमान होने लगती है, आत्मा संगरहित होनेपर भी संगसहित मालूम होने लगती है, अकर्त्ता होनेपर कर्त्ता मालूम होने लगती है, इत्यादि अनेक प्रकारकी विपरीतताएँ दिखाई देने लगती हैं।

तो उसमें होता क्या है?

आत्माको बंधकी कल्पना हो तो उसका क्या करें?

अन्तःकरणका सम्बन्ध दूर करनेके लिये उसे उससे भिन्न समझो।

भिन्न समझनेसे क्या होता है?

आत्मा निजस्वरूप दशामें रहती है।

फिर चाहे एकदेश निरावरण हो अथवा सर्वदेश निरावरण हो?

२३वाँ वर्ष

६४ बम्बई, १९४६ कार्तिक सुदी १५

संवत् १९२४ में कार्तिक सुदी १५ को रविवारके दिन मेरा जन्म हुआ था। इससे सामान्य गणनासे आज मुझे बाईस वर्ष पूरे हो गये हैं। इस बाईस वर्षकी अल्पवयमें मैंने आत्मासंबंधी, मनसंबंधी, वचनसंबंधी, तनसंबंधी, और धनसंबंधी अनेक रंग देखे हैं। नाना प्रकारकी सृष्टिरचना, नाना प्रकारकी सांसारिक लहरें और अनंत दुःखके मूलकारण इन सबके अनेक प्रकारसे मुझे अनुभव हुए हैं। समर्थ तत्वज्ञानियोंने और समर्थ नास्तिकोंने जो जो विचार किये हैं, उसी तरहके अनेक विचार मैंने इसी अल्पवयमें किये हैं। महान् चक्रवर्तीद्वारा किये गये तृष्णापूर्ण विचार और एक निस्पृही आत्माद्वारा किये हुए निस्पृहापूर्ण विचार भी मैंने किये हैं। अमरत्वकी सिद्धि और क्षणिकत्वकी सिद्धिपर मैंने खूब मनन किया है। अल्पवयमें ही मैंने महान् विचार कर डाले हैं; और महान् विचित्रताकी प्राप्ति हुई है। जब इन सब बातोंको बहुत गंभीरभावसे आज मैं ध्यानपूर्वक देख जाता हूँ तब पहिलेकी उगती हुई मेरी विचारश्रेणी और आत्म-दशा तथा आजकी विचारश्रेणी और आत्म-दशामें आकाश पातालका अंतर दिखाई देता है। वह अंतर इतना बड़ा है कि मानों उसका और इसका अन्त कभी भी मिलाया नहीं मिलेगा। परन्तु तुम सोचोगे कि इतनी सब विचित्रताओंका किसी स्थलपर कुछ लेखन अथवा चित्रण कर रक्खा है या नहीं? तो उसका इतना ही उत्तर दे सकता हूँ कि यह सब लेखन-चित्रण स्मृतिके चित्रपटपर ही अंकित है, अन्यथा लेखनीको उठाकर उन्हें जगत्में बतानेका प्रयत्न कभी नहीं किया। यद्यपि मैं यह समझ सकता हूँ कि वह वय-चर्या-जनसमूहको बहुत उपयोगी, पुनः पुनः मनन करने योग्य, और परिणाममें उनकी तरफसे मुझे श्रेयकी प्राप्ति करानेवाली है, परन्तु मेरी स्मृतिने वैसा परिश्रम उठानेकी मुझे सर्वथा मना की थी, इसलिये लाचार होकर क्षमा माँगे लेता हूँ। पारिणामिक विचारसे उस स्मृतिकी इच्छाको दबाकर उसी स्मृतिको समझाकर यदि हो सका तो उस वय-चर्याको धीरे धीरे अवश्य धवल पत्रपर लिखूँगा।

तो भी समुच्चयवय-चर्याको सुना जाता हूँ:—

१. सात वर्षतक नितांत बालवय खेल-कूदमें बीती थी। उस समयका केवल इतना मुझे याद पड़ता है कि मेरी आत्मामें विचित्र कल्पनायें (कल्पनाके स्वरूप अथवा हेतुको समझे बिना ही) हुआ करती थीं। खेल-कूदमें भी विजय पानेकी और राजराजेश्वर जैसी ऊँची पदवी प्राप्त करनेकी मेरी परम अभिलाषा रहा करती थी। वस्त्र पहिननेकी, स्वच्छ रहनेकी, खाने पीनेकी, सोने बैठनेकी मेरी सभी दशायें विदेही थीं; फिर भी मेरा हृदय कोमल था। वह दशा अब भी मुझे बहुत याद आती है। यदि आजका विवेकयुक्त ज्ञान मुझे उस अवस्थामें होता तो मुझे मोक्षके लिये बहुत अधिक अभिलाषा न रह जाती। ऐसी निरपराध दशा होनेसे वह दशा मुझे पुनः पुनः याद आती है।

२. सात वर्षसे ग्यारह वर्ष तकका मेरा समय शिक्षा प्राप्त करनेमें बीता था। आज मेरी स्मृतिकी जितनी प्रसिद्धि है उस प्रसिद्धिके कारण वह कुछ हीन जैसी अवश्य मालूम होती है, परन्तु

कुछ ? और एक जगह निरावरणपना, दूसरी जगह आवरण, और तीसरी जगह निरावरण ऐसा कैसे बन सकता है ? इसका चित्र बनाकर विचार करो।

सर्वव्यापक आत्मा:—

इस तरह तो यह ठीक ठीक नहीं बैठता।

(२) प्रकाशस्वरूप धाम है।

उसमें अनंत अप्रकाशसे भरे हुए अंतःकरण हैं। उससे फल क्या होता है ?

फल यह होता है कि जहाँ जहाँ वे अन्तःकरण व्याप्त हो जाते हैं वहाँ वहाँ माया भासमान होने लगती है, आत्मा संगरहित होनेपर भी संगसहित मालूम होने लगती है, अकर्त्ता होनेपर भी कर्त्ता मालूम होने लगती है, इत्यादि अनेक प्रकारकी विपरीतताएँ दिखाई देने लगती हैं।

तो उससे होता क्या है ?

आत्माको बंधकी कल्पना हो तो उसका क्या करें ?

अन्तःकरणका सम्बन्ध दूर करनेके लिये उसे उससे भिन्न समझें।

भिन्न समझनेसे क्या होता है ?

आत्मा निजस्वरूप दशामें रहती है।

फिर चाहे एकदेश निरावरण हो अथवा सर्वदेश निरावरण हो ?

हुआ ? और एक जगह निरावरणपना, दूसरी जगह आवरण, और तीसरी जगह निरावरण ऐसा कैसे बन सकता है ? इसका चित्र बनाकर विचार करो।

सर्वव्यापक आत्मा:—

इस तरह तो यह ठीक ठीक नहीं बैठता।

(२) प्रकाशस्वरूप धाम है।

उसमें अनंत अवकाशमें भरे हुए अंतःकरण हैं। उससे फल क्या होता है ?

फल यह होता है कि जहाँ जहाँ वे अन्तःकरण व्याप्त हो जाते हैं वहाँ वहाँ माया भासमान होने लगती है, आत्मा संगरहित होनेपर भी संगसहित मालूम होने लगती है, अकर्ता होनेपर भी कर्ता मालूम होने लगती है, इत्यादि अनेक प्रकारकी विपरीतताएँ दिखाई देने लगती हैं।

तो उससे होता क्या है ?

आत्माको वैसी कल्पना हो तो उसका क्या करें ?

अन्तःकरणका सम्बन्ध दूर करनेके लिये उसे उससे भिन्न समझें।

भिन्न समझनेसे क्या होता है ?

आत्मा निजस्वरूप दशामें रहती है।

फिर वह एकदेश निरावरण हो अथवा सर्वदेश निरावरण हो ?

उस समयकी स्मृति विशुद्ध होनेसे केवल एकबार ही पाठका अवलोकन करना पड़ता था, फिर भी कैसी भी ख्याति पानेका हेतु न था इसलिये उपाधि बहुत कम थी। स्मृति इतनी अधिक प्रबल थी कि वैसी स्मृति इस कालमें इस क्षेत्रमें बहुत ही थोड़े मनुष्योंकी होगी। मैं अभ्यास करनेमें बहुत प्रमादी था, बात बनानेमें होशियार, खिलाड़ी और बहुत आनंदी जीव था। जिस समय पाठको शिक्षक पढ़ाता था उसी समय पढ़कर मैं उसका भावार्थ कह जाया करता था; बस इतनेसे ही इस तरफसे मुझे मिल जाती थी। उस समय मुझमें प्रीति और सरल वात्सल्य बहुत था; मैं सबसे मित्रता पैदा करना चाहता था; सबमें भ्रातृभाव हो तो ही सुख है, यह विश्वास मेरे मनमें स्वाभाविकरूपसे रहा करता था। लोगोंमें किसी भी प्रकारका जुदाईका अंकुर देखते ही मेरा अंतःकरण रो पड़ता था। उस समय कल्पित बातें करनेकी मुझे बहुत आदत थी। आठवें वर्षमें मैंने कविता की थी; जो पीछेसे जाँच करनेपर छंदशास्त्रके नियमानुकूल ठीक निकली।

अभ्यास मैंने इतनी शीघ्रतासे किया था कि जिस आदमीने मुझे पहिली पुस्तक सिखानी शुरू की थी, उसीको मैंने गुजराती भाषाका शिक्षण ठीक तरहसे प्राप्त करके, उसी पुस्तकको पढ़ाया था। उस समय मैंने कई एक काव्य-ग्रंथ पढ़ लिये थे, तथा अनेक प्रकारके छोटे मोटे, उलटे सीधे ज्ञान-ग्रंथ देख गया था, जो प्रायः अब भी स्मृतिमें हैं। उस समयतक मैंने स्वाभाविकरूपसे भद्रिकताका ही सेवन किया था। मैं मनुष्यजातिका बहुत विश्वासु था। स्वाभाविक सृष्टि-रचनापर मुझे बहुत ही प्रीति थी।

मेरे पितामह कृष्णकी भक्ति किया करते थे। उस वयमें मैंने उनके द्वारा कृष्ण-कीर्तनके पदोंको, तथा जुदे जुदे अवतारसंबंधी चमत्कारोंको सुना था। जिससे मुझे उन अवतारोंमें भक्तिके साथ साथ प्रीति भी उत्पन्न हो गई थी; और रामदासजी नामके साधुसे मैंने बाल-लीलामें कंठी भी बँधवाई थी। मैं नित्य ही कृष्णके दर्शन करने जाता था। मैं उनकी बहुत बार कथायें सुनता था, जिससे अवतारोंके चमत्कारोंपर बारबार मुग्ध हो जाया करता था, और उन्हें परमात्मा मानता था। इस कारण उनके रहनेका स्थल देखनेकी मुझे परम उत्कंठा थी। मैं उनके सम्प्रदायका महंत अथवा त्यागी होऊँ तो कितना आनंद मिले, बस यही कल्पना हुआ करती थी। तथा जब कभी किसी धन-वैभवकी विभूति देखता तो समर्थ वैभवशाली होनेकी इच्छा हुआ करती थी। उसी बीचमें प्रवीणसागर नामक ग्रंथ भी मैं पढ़ गया था। यद्यपि उसे अधिक समझा तो न था, फिर भी स्त्रीसंबंधी सुखमें लीन होऊँ और निरुपाधि होकर कथायें श्रवण करते होऊँ तो कैसी आनन्द-दशा हो! यही मेरी तृष्णा रहा करती थी।

गुजराती भाषाकी पाठमालामें कई एक जगहमें जगत्कर्त्ताके संबंधमें उपदेश किया गया है, वह उपदेश मुझे दृढ़ हो गया था। इस कारण जैन लोगोंसे मुझे बहुत घृणा रहा करती थी। कोई भी पदार्थ बिना बनाये कभी नहीं बन सकता, इसलिये जैन लोग मूर्ख हैं, उन्हें कुछ भी खबर नहीं। उस समय प्रतिमा-पूजनके अश्रद्धालु लोगोंकी क्रिया भी मुझे वैसी ही दिखाई देती थी; इसलिये उन क्रियाओंके मलीन लगनेके कारण उनसे मैं बहुत डरता था, अर्थात् वे क्रियायें मुझे प्रिय नहीं लगती थीं।

२३वाँ वर्ष

६४ बम्बई, १९४६ कार्तिक सुदी १५

संवत् १९२४ में कार्तिक सुदी १५ को रविवारके दिन मेरा जन्म हुआ था। इससे सामान्य गणनासे आज मुझे बाईस वर्ष पूरे हो गये हैं। इस बाईस वर्षकी अल्पवयमें मैंने आत्मासंबंधी, मनसंबंधी, वचनसंबंधी, तनसंबंधी, और धनसंबंधी अनेक रंग देखे हैं। नाना प्रकारकी सृष्टिरचना, नाना प्रकारकी सांसारिक लहरें और अनंत दुःखके मूलकारण इन सबके अनेक प्रकारसे मुझे अनुभव हुए हैं। समर्थ तत्त्वज्ञानियोंने और समर्थ नास्तिकोंने जो जो विचार किये हैं, उसी तरहके अनेक विचार मैंने इसी अल्पवयमें किये हैं। महान् चक्रवर्तीद्वारा किये गये तृष्णापूर्ण विचार और एक निस्पृही आत्माद्वारा किये हुए निस्पृहापूर्ण विचार भी मैंने किये हैं। अमरत्वकी सिद्धि और क्षणिकत्वकी सिद्धिपर मैंने खूब मनन किया है। अल्पवयमें ही मैंने महान् विचार कर डाले हैं; और महान् विचित्रताकी प्राप्ति हुई है। जब इन सब बातोंको बहुत गंभीरभावसे आज मैं ध्यानपूर्वक देख जाता हूँ तब पहिलेकी उगती हुई मेरी विचारश्रेणी और आत्म-दशा तथा आजकी विचारश्रेणी और आत्म-दशामें आकाश पातालका अंतर दिखाई देता है। वह अंतर इतना बड़ा है कि मानों उसका और इसका अन्त कभी भी मिलाया नहीं मिलेगा। परन्तु तुम सोचोगे कि इतनी सब विचित्रताओंका किसी स्थलपर कुछ लेखन अथवा चित्रण कर रक्खा है या नहीं? तो उसका इतना ही उत्तर दे सकता हूँ कि यह सब लेखन-चित्रण स्मृतिके चित्रपटपर ही अंकित हैं, अन्यथा लेखनीको उठाकर उन्हें जगत्में बतानेका प्रयत्न कभी नहीं किया। यद्यपि मैं यह समझ सकता हूँ कि वह वय-चर्या-जनसमूहको बहुत उपयोगी, पुनः पुनः मनन करने योग्य, और परिणाममें उनकी तरफसे मुझे श्रेयकी प्राप्ति करानेवाली है, परन्तु मेरी स्मृतिने वैसा परिश्रम उठानेकी मुझे सर्वथा मना की थी, इसलिये लाचार होकर क्षमा माँगे लेता हूँ। पारिणामिक विचारसे उस स्मृतिकी इच्छाको दबाकर उसी स्मृतिको समझाकर यदि हो सका तो उस वय-चर्याको धीरे धीरे अवश्य धवल पत्रपर लिखूँगा।

तो भी समुच्चयवय-चर्याको सुना जाता हूँ:—

१. सात वर्षतक नितांत बालवय खेल-कूदमें बीती थी। उस समयका केवल इतना मुझे याद पड़ता है कि मेरी आत्मामें विचित्र कल्पनायें (कल्पनाके स्वरूप अथवा हेतुको समझे बिना ही) हुआ करती थीं। खेल-कूदमें भी विजय पानेकी और राजराजेश्वर जैसी ऊँची पदवी प्राप्त करनेकी मेरी परम अभिलाषा रहा करती थी। वस्त्र पहिननेकी, स्वच्छ रहनेकी, खाने पीनेकी, सोने बैठनेकी मेरी सभी दशायें विदेही थीं; फिर भी मेरा हृदय कोमल था। वह दशा अब भी मुझे बहुत याद आती है। यदि आजका विवेकयुक्त ज्ञान मुझे उस अवस्थामें होता तो मुझे मोक्षके लिये बहुत अधिक अभिलाषा न रह जाती। ऐसी निरपराध दशा होनेसे वह दशा मुझे पुनः पुनः याद आती है।

२. सात वर्षसे ग्यारह वर्ष तकका मेरा समय शिक्षा प्राप्त करनेमें बीता था। आज मेरी स्मृतिकी जितनी प्रसिद्धि है उस प्रसिद्धिके कारण वह कुछ हीन जैसी अवश्य मालूम होती है, परन्तु

नित्यचर्या
वर्षकल्प
अन्तिम अवस्था

—ये बातें परम आवश्यक हैं.

देशत्यागी—

अवश्यक्रिया — नित्यकृत्य
भक्ति — अणुव्रत
दान, शील, तप, भावका स्वरूप, ज्ञानके लिये उसका अधिकार।

—ये बातें परम आवश्यक हैं.

(२)

ज्ञानका उद्धार—

श्रुतज्ञानका उदय करना चाहिये।

योगसंबंधी ग्रंथ	त्यागसंबंधी ग्रंथ
प्रक्रियासंबंधी ग्रंथ	अध्यात्मसंबंधी ग्रंथ
धर्मसंबंधी ग्रंथ	उपदेश ग्रंथ
आख्यान ग्रंथ	द्रव्यानुयोगी ग्रंथ

—इत्यादि विभाग करने चाहिये.

—उनका क्रम और उदय करना चाहिये.

निर्ग्रंथ धर्म	गच्छ
आचार्य	प्रवचन
उपाध्याय	द्रव्यलिंगी
मुनि	अन्य दर्शनसंबंधी
गृहस्थ	

—इन सबकी योजना करनी चाहिये.

मतमतांतर	मार्गकी शैली
उसका स्वरूप	जीवनका बिताना
उसको समझाना	उद्योत

—यह विचार।

---

६६ बम्बई, कार्तिक वदी १ शुक्र. १९४६

नाना प्रकारके मोहके क्षय होनेसे आत्माकी दृष्टि अपने स्वाभाविक गुणसे उत्पन्न सुखकी प्रतीतिकी ओर जाती है, और बादमें उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करती है, यही दृष्टि उसे उसकी सिद्धि प्रदान करती है।

है उसे कलम लिख नहीं सकती, वचनद्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता, और उसे मन भी न मनन कर सकता—

ऐसा है वह ।

६९

बम्बई, कार्तिक १९४

सब दर्शनोंसे उच्च गति हो सकती है, परन्तु मोक्षके मार्गको ज्ञानियोंने उन शब्दोंमें स्पष्ट रूपसे नहीं कहा, गौणतासे रक्खा है । उसे गौण क्यों रक्खा, इसका सर्वोत्तम कारण यही मालूम होता है: जिस समय निश्चय श्रद्धान, निर्ग्रंथ ज्ञानी गुरुकी प्राप्ति, उसकी आज्ञाका आराधन, उसके समीप सदैव रहना, अथवा सत्संगकी प्राप्ति, ये बातें हो जाँयगी उसी समय आत्म-दर्शन प्राप्त होगा ।

७०

बम्बई, कार्तिक १९४

नवपद-ध्यानियोंकी वृद्धि करनेकी मेरी आकांक्षा है ।

७१

बम्बई, मंगसिर सुदी १-२ रवि. १९४

हे गौतम ! उस कालमें और उस समयमें मैं छद्मस्थ अवस्थामें एकादश वर्षकी पर्यायसे, छट्ठ छट्ठमसे, सावधानीके साथ निरंतर तपश्चर्या और संयमपूर्वक आत्मत्वकी भावना भाते हुए पूर्वानुपूर्वीसे चलते हुए, एक गाँवसे दूसरे गाँवमें जाते हुए, सुसुमारपुर नामक नगरके अशोकवनखंड बागमें अशोकवर वृक्षके नीचे पृथ्वीशिलापट्टपर आया । वहाँ आकर अशोकवर वृक्षके नीचे, पृथ्वीशिला-पट्टके ऊपर, अष्टम भक्त ग्रहण करके, दोनों पैरोंको संकुचित करके, हाथोंको लंबा करके, एक पुद्गलमें दृष्टिको स्थिर करके, निमेषरहित नयनोंसे ज़रा नीचे मुख रखकर, योगकी समाधिपूर्वक, सब इन्द्रियोंको गुप्त करके एक रात्रिकी महाप्रतिमा धारण करके विचरता था । (चमर)

७२

बम्बई, मगसिर सुदी ९ रवि. १९४

तुमने मेरे विषयमें जो जो प्रशंसा लिखी उसपर मैंने बहुत मनन किया है । जिस तरह वैसे गुण मुझमें प्रकाशित हों, उस तरहका आचरण करनेकी मेरी अभिलाषा है, परन्तु वैसे गुण कहीं मुझमें प्रकाशित हो गये हैं, ऐसा मुझे तो मालूम नहीं होता । अधिकसे अधिक यह मान सकते हैं कि मात्र उनकी रुचि मुझमें उत्पन्न हुई है । हम सब जैसे बने तैसे एक ही पदके इच्छुक होकर प्रयत्नशील होते हैं, और वह प्रयत्न यह है कि " बँधे हुओंको छुड़ा लेना " । यह सर्वमान्य बात है कि जिस तरह यह बंधन छूट सके उस तरह छुड़ा लेना ।

अर्थ—जीवनमें सहायभूत वैभव, लक्ष्मी आदि सांसारिक साधन अर्थ है।

काम—नियमित रूपसे स्त्रीका सहवास करना काम है।

मोक्ष—सब बंधनोंसे मुक्ति हो जाना मोक्ष है।

धर्मको सबसे पहिले रखनेका कारण इतना ही है कि 'अर्थ' और 'काम' ऐसे होने चाहिं जिनका मूल 'धर्म' हो।

इसलिये अर्थ और कामको बादमें रक्खा गया है।

गृहस्थाश्रमी सर्वथा संपूर्ण धर्म-साधन करना चाहे तो वह उससे नहीं बन सकता। उस लिये तो सर्वसंग-परित्याग ही आवश्यक है। गृहस्थके लिये भिक्षा आदि कृत्य भी योग्य नहीं है।

और यदि गृहस्थाश्रम———

७७

बम्बई, पौष १९४

जिस कालमें आर्य-ग्रंथकर्त्ताओंद्वारा उपदेश किये हुए चार आश्रम देशके आभूषणके रूप वर्तमान थे, उस कालको धन्य है।

चारों आश्रमोंमें क्रमसे पहिला ब्रह्मचर्याश्रम, दूसरा गृहस्थाश्रम, तीसरा वानप्रस्थाश्रम, और चौ संन्यासाश्रम है।

परन्तु आश्चर्यके साथ यह कहना पड़ता है कि यदि जीवनका ऐसा अनुक्रम हो तो इन भोग किया जा सकता है। यदि कोई कुल सौ वर्षकी आयुवाला मनुष्य इन आश्रमोंके अनुसार चलता जा तो वह मनुष्य इन सब आश्रमोंका उपभोग कर सकता है। इस आश्रमके नियमोंसे मालूम होता कि प्राचीनकालमें अकाल मौतें कम होती होंगी।———

७८

बम्बई, पौष १९४

प्राचीनकालमें आर्यभूमिमें चार आश्रम प्रचलित थे, अर्थात् ये आश्रम-धर्म मुख्यरूपसे फैले हु थे। परमर्षि नाभिपुत्रने भारतमें निर्ग्रंथ धर्मको जन्म देनेके पहिले उस कालके लोगोंको इसी आश व्यवहारधर्मका उपदेश दिया था। कल्पवृक्षसे मनोवांछित पदार्थोंकी प्राप्ति होनेका उस समय लोगोंका व्यवहार अब घटता जा रहा था। अपूर्वज्ञानी ऋषभदेवजीने देख लिया कि भद्रता औ व्यवहारकी अज्ञानता होनेके कारण उन लोगोंको कल्पवृक्षोंका सर्वथा ह्रास हो जाना बहुत दुःखदा होगा; इस कारण प्रभुने उनपर परम करुणाभाव लाकर उनके व्यवहारका क्रम नियत कर दिया।

जब भगवान् तीर्थंकररूपसे विहार कर रहे थे उस समय उनके पुत्र भरतने व्यवहारशुद्धि लिये उनके उपदेशका अनुसरणकर तत्कालीन विद्वानोंद्वारा चार वेदोंकी योजना कराई। उनमें चार आश्रमोंके भिन्न भिन्न धर्मों तथा उन चारों वर्णोंकी नीति-रीतिका समावेश किया। भगवान्ने जो परमकरुणासे लोगोंको भविष्यमें धर्मप्राप्ति होनेके लिये व्यवहार-शिक्षा और व्यवहार-मार्ग बताया था, भरतजीके इस कार्यसे परम सुगमता हो गई।

७३

बम्बई, पौष सुदी ३ बुध. १९४६

नीचेके नियमोंपर बहुत लक्ष दिया जाना चाहिये—

१. एक बात करते हुए उसके बीचमें ही आवश्यकता बिना दूसरी बात न करनी चाहिये।

२. कही हुई बातको पूरी तरहसे सुनना चाहिये।

३. स्वयं धीरजके साथ उसका उत्तम उत्तर देना चाहिये।

४. जिसमें आत्म-श्लाघा अथवा आत्म-हानि न हो वह बात कहनी चाहिये।

५. धर्मके संबंधमें हालमें बहुत ही कम बात करना।

६. लोगोंसे धर्म-व्यवहारमें न पड़ना।

७४

बम्बई, पौष १९४६

मुझे तेरा समागम इस प्रकारसे क्यों हुआ? क्या कहीं तू गुप्त पड़ा हुआ था?

सर्वगुणांश ही सम्यक्त्व है।

७५

बम्बई, पौष सुदी ३ बुध. १९४६

बहुतसे उत्कृष्ट साधनोंसे यदि कोई ऐसा योजक पुरुष (होनेकी इच्छा करे तो) धर्म, अर्थ और कामकी एकत्रता प्रायः एक ही पद्धतिमें—एक ही समुदायमें—साधारण श्रेणीमें लानेका प्रयत्न करे, और वह प्रयत्न निराशभावसे ——————————

१. धर्मका प्रथम साधन.

२. फिर अर्थका साधन.

३. फिर कामका साधन.

४. अन्तमें मोक्षका साधन.

७६

बम्बई, पौष सुदी ३, १९४६

सत्पुरुषोंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंको प्राप्त करनेका उपदेश दिया है। ये चार पुरुषार्थ निम्न दो प्रकारसे समझमें आये हैं:—

१. वस्तुके स्वभावको धर्म कहते हैं।

२. जड़ और चैतन्यसंबंधी विचारोंको अर्थ कहते हैं।

३. चित्त-निरोधको काम कहते हैं।

४. सब बंधनोंसे मुक्त होनेको मोक्ष कहते हैं।

—ये चार प्रकार सर्वसंग-परित्यागीकी अपेक्षासे ठीक ठीक बैठते हैं।

सामान्य रीतिसे निम्नरूपसे—

धर्म—जो संसारमें अधोगतिमें गिरनेसे रोककर पकड़कर रखता है वह धर्म है।

८. तीर्थादि प्रवास करनेकी उमंग रखनेवाला,

९. आहार, विहार, और निहारका नियम रखनेवाला,

१०. अपनी गुरुताको छिपानेवाला,

—इन गुणोंसे युक्त कोई भी पुरुष महावीरके उपदेशका पात्र है— सम्यक्‌दशाका पात्र है। फिर भी पहिलेके समान एक भी नहीं है।

बम्बई, पौष १९४६

८१

प्रकाश भुवन

निश्चयसे यह सत्य है। ऐसी ही स्थिति है। तुम इस ओर फिरो—उन्होंने रूपकसे इसे कहा है। उसमें भिन्न भिन्न प्रकारसे ज्ञान हुआ है और होता है, परन्तु वह विभंगरूप है।

वह बोध सम्यक् है; तो भी यह बहुत ही सूक्ष्म है, और मोहके दूर होनेपर ही प्राप्त हो पाता है।

सम्यक् बोध भी सम्पूर्ण स्थितिमें नहीं रहा है, फिर भी जो कुछ बचा है वह योग्य ही है।

ऐसा समझकर अब योग्य मार्ग ग्रहण करो।

कारण मत ढूँढो, मना मत करो, तर्क-वितर्क न करो। वह तो ऐसा ही है।

वह पुरुष यथार्थ वक्ता था। उनको अयथार्थ कहनेका कुछ भी कारण न था।

बम्बई, माघ १९४६

८२

कुटुम्बरूपी काजलकी कोठड़ीमें निवास करनेसे संसार बढ़ता है। उसका कितना भी सुधार करो तो भी एकान्तवासमें जितना संसारका क्षय हो सकता है उसका सौवाँ भाग भी उस काजलके घरमें रहनेसे नहीं हो सकता; क्योंकि वह कषायका निमित्त है, और अनादिकालसे मोहके रहनेका पर्वत है। वह प्रत्येक अंतर गुफामें जाज्वल्यमान है। संभव है कि उसका सुधार करनेमें श्रद्धाकी उत्पत्ति हो जाय, इसलिये वहाँ अल्पभाषी होना, अल्पहासी होना, अल्पपरिचयी होना, अल्पप्रेमभाव दिखाना, अल्प-भावना दिखाना, अल्पसहचारी होना, अल्पगुरु होना, और परिणामका विचार करना, यही श्रेयस्कर है।

बम्बई, माघ वदी २ शुक्र. सं. १९४६

८३

जिनतत्त्वके कहे हुए पदार्थ यथार्थ ही हैं। यही इस समय अनुरोध है।

बम्बई, फाल्गुन सुदी ८ गुरु. १९४६

८४

... उपदेश करनेवाली है। तुम, वे ...

इसके ऊपरसे चार वेद, चार आश्रम, चार वर्ण और चार पुरुषार्थोंके संबंधमें यहाँ कुछ विचार करनेकी इच्छा है; उसमें भी मुख्यरूपसे चार आश्रम और चार पुरुषार्थोंके संबंधमें विचार करेंगे; और अन्तमें हेयोपादेयके विचारके द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावपर विचार करेंगे।

जिन चार वेदोंमें आर्य-गृहधर्मका मुख्यरूपसे उपदेश दिया गया था, वे वेद निम्नरूपसे थे—

७९

बम्बई, पौष १९४६

प्रयोजन

"जो मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंको प्राप्त कर सकनेकी इच्छा करते हों उनके विचारोंमें सहायक होना—"

इस वाक्यमें इस पत्रको लिखनेका सब प्रकारका प्रयोजन दिखा दिया है, उसे कुछ न कुछ स्फुरणा देना योग्य है।

इस जगत्‌में भिन्न भिन्न प्रकारके देहधारी जीव हैं; तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंसे यह सिद्ध हो चुका है कि उनमें मनुष्यरूपमें विद्यमान देहधारी आत्मायें इन चारों वर्गोंको सिद्ध कर सकनेमें विशेष सक्षम हैं।

मनुष्य जातिमें जितनी आत्मायें हैं वे सब कहीं समान वृत्तिकी, समान विचारकी, समान अभिलाषाकी और समान इच्छावाली नहीं हैं, यह बात हमें प्रत्यक्ष स्पष्ट दिखाई देती है। उनमेंसे हर किसीको सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर उनमें वृत्ति, विचार, अभिलाषा और इच्छाओंकी इतनी अधिक विचित्रता मालूम होती है कि बड़ा आश्चर्य होता है। इस आश्चर्य होनेका बहुत प्रकारसे विचार करनेपर यही कारण दिखाई देता है कि किसी भी अपवादके बिना सब प्राणियोंको सुख प्राप्त करनेकी इच्छा रहा करती है, और उसकी प्राप्ति बहुत कुछ अंशोंमें मनुष्य देहमें ही सिद्ध हो सकती है। ऐसा होनेपर भी वे प्राणी सुखके बदले दुःखको ही ले रहे हैं, उनकी यह दशा केवल मोहदृष्टिसे ही हुई है।

८०

बम्बई, पौष १९४६

महावीरके उपदेशका पात्र कौन है?

१. सत्पुरुषके चरणोंका इच्छुक.
२. सदैव सूक्ष्म बोधकी अभिलाषा रखनेवाला.
३. गुणोंपर प्रेमभाव रखनेवाला.
४. ब्रह्मव्रतमें प्रीति रखनेवाला.
५. अपने दोषोंको देखते ही उन्हें दूर करनेका उपयोग रखनेवाला.
६. प्रत्येक पलको भी उपयोगपूर्वक बितानेवाला.
७. एकांतवासकी प्रशंसा करनेवाला,

८. तीर्थादि प्रवास करनेकी उमंग रखनेवाला,

९. आहार, विहार, और निहारका नियम रखनेवाला,

१०. अपनी गुरुताको छिपानेवाला,

—इन गुणोंसे युक्त कोई भी पुरुष महावीरके उपदेशका पात्र है— सम्यक्दशाका पात्र है। फिर भी पहिलेके समान एक भी नहीं है।

बम्बई, पौष १९४६

८१

प्रकाश भुवन

निश्चयसे यह सत्य है। ऐसी ही स्थिति है। तुम इस ओर फिरो—उन्होंने रूपकमें इसे कहा है। उसमें भिन्न भिन्न प्रकारसे ज्ञान हुआ है और होता है, परन्तु वह विभंगरूप है।

यह बोध सम्यक् है; तो भी यह बहुत ही सूक्ष्म है, और मोहके दूर होनेपर ही प्राप्त हो पाता है।

सम्यक् बोध भी सम्पूर्ण स्थितिमें नहीं रहा है, फिर भी जो कुछ बचा है वह योग्य ही है।

ऐसा समझकर अब योग्य मार्ग ग्रहण करो।

कारण मत ढूँढो, मना मत करो, तर्क-वितर्क न करो। वह तो ऐसा ही है।

यह पुरुष यथार्थ वक्ता था। उनको अयथार्थ कहनेका कुछ भी कारण न था।

बम्बई, माघ १९४६

८२

कुटुम्बरूपी काजलकी कोठड़ीमें निवास करनेसे संसार बढ़ता है। उसका कितना भी सुधार करो तो भी एकांतवासमें जितना संसारका क्षय हो सकता है उसका सौवाँ भाग भी उस काजलके घरमें रहनेसे नहीं हो सकता; क्योंकि वह कषायका निमित्त है; और अनादिकालसे मोहके रहनेका पर्वत है। वह प्रत्येक अंतर गुफामें जाज्वल्यमान है। संभव है कि उसका सुधार करनेसे श्रद्धाकी उत्पत्ति हो जाय, इसलिये वहाँ अल्पभाषी होना, अल्पहासी होना, अल्पपरिचयी होना, अल्पप्रेममाव दिखाना, अल्पभावना दिखाना, अल्पसहचारी होना, अल्पगुरु होना, और परिणामका विचार करना, यही श्रेयस्कर है।

बम्बई, माघ वदी २ शुक्र. सं. १९४६

८३

जिनभगवान्‌के कहे हुए पदार्थ यथार्थ ही हैं। यही इस समय अनुरोध है।

बम्बई, फाल्गुन सुदी ८ गुरु. १९४६

८४

[illegible] शब्द है। रचनाकी विचित्रता सम्यग्ज्ञानका उपदेश करनेवाली है। तुम, वे [illegible]

और दूसरे तुम्हारे समान मंडलके लोग धर्मकी इच्छा करते हो; यदि यह सबकी अंतरात्माकी इच्छा है तब तो परम कल्याणरूप है। मुझे तुम्हारी धर्म-अभिलाषाकी यथार्थता देखकर संतोष होता है।

जनसमूहके भाग्यकी अपेक्षासे यह काल बहुत ही निकृष्ट है। अधिक क्या कहूँ? इस बातका एक अंतरात्मा ज्ञानी ही साक्षी है।

८५

लोक-अलोक रहस्य प्रकाश

(१) बम्बई, फाल्गुन वदी १, १९४६

लोकको पुरुषके आकारका वर्णन किया है, क्या तुमने इसके रहस्यको कुछ समझा है? क्या तुमने इसके कारणको कुछ समझा है, क्या तुम इसके समझानेकी चतुराईको समझे हो? ॥ १ ॥

यह उपदेश शरीरको लक्ष्य करके दिया गया है, और इसे ज्ञान और दर्शनकी प्राप्तिके उद्देशसे कहा है। इसपर मैं जो कहता हूँ वह सुनो, नहीं तो क्षेम-कुशलका लेना देना ही ठीक है ॥ २ ॥

(२)

क्या करनेसे हम सुखी होते हैं, और क्या करनेसे हम दुःखी होते हैं? हम स्वयं क्या हैं, और कहाँसे आये हैं? इसका शीघ्र ही अपने आपसे जवाब पूँछो ॥ १ ॥

(३)

जहाँ शंका है वहाँ संताप है; और जहाँ ज्ञान है वहाँ शंका नहीं रह सकती। जहाँ प्रभुकी भक्ति है वहाँ उत्तम ज्ञान है, और गुरु भगवान्‌द्वारा ही प्रभुकी प्राप्ति की जा सकती है ॥ १ ॥

गुरुको पहिचाननेके लिये अंतरंगमें वैराग्यकी आवश्यकता है, और यह वैराग्य पूर्वभाग्यके उदयसे ही प्राप्त हो सकता है। यदि पूर्वकालीन भाग्यका उदय न हो तो वह सत्संगद्वारा मिल सकता है, और यदि सत्संगकी प्राप्ति न हुई तो फिर यह किसी दुःखके पड़नेपर प्राप्त होता है ॥ २ ॥

८५

लोक अलोक रहस्यप्रकाश

(१)

लोक पुरुष संस्थाने कह्यो, एनो भेद तमे कंई लह्यो?
एनुं कारण समज्या कांई, के समजाव्यानी चतुराई? ॥ १ ॥
शरीरपरथी ए उपदेश, ज्ञान दर्शने के उद्देश,
जेम जणावो सुणिये तेम, कां तो लईए दईए क्षेम ॥ २ ॥

(२)

शुं करवाथी पोते सुखी? शुं करवाथी पोते दुःखी?
पोते शुं? क्याथी छे आप? एनो मागो शीघ्र जवाब ॥ १ ॥

(३)

ज्यां शंका त्यां गण संताप, ज्ञान तहां शंका नहि स्थाप;
प्रभुभक्ति त्यां उत्तम ज्ञान, प्रभु मेळववा गुरु भगवान ॥ १ ॥
गुरु ओळखवा घट वैराग्य, ते उपजवा पूर्वित भाग्य;
तेम नहीं तो कंई सत्संग, तेम नहीं तो कंई दुःखरंग ॥ २ ॥

और दूसरे तुम्हारे समान मंडलके लोग धर्मकी इच्छा करते हो; यदि यह सबकी अंतरात्माकी इच्छा है तब तो परम कल्याणरूप है। मुझे तुम्हारी धर्म-अभिलाषाकी यथार्थता देखकर संतोष होता है।

जनसमूहके भाग्यकी अपेक्षासे यह काल बहुत ही निकृष्ट है। अधिक क्या कहूँ? इस बातका एक अंतरात्मा ज्ञानी ही साक्षी है।

८५

लोक-अलोक रहस्य प्रकाश

(१) बम्बई, फाल्गुन वदी १, १९४६

लोकको पुरुषके आकारका वर्णन किया है, क्या तुमने इसके रहस्यको कुछ समझा है? क्या तुमने इसके कारणको कुछ समझा है, क्या तुम इसके समझानेकी चतुराईको समझे हो? ॥ १ ॥

यह उपदेश शरीरको लक्ष्य करके दिया गया है, और इसे ज्ञान और दर्शनकी प्राप्तिके उद्देशसे कहा है। इसपर मैं जो कहता हूँ वह सुनो, नहीं तो क्षेम-कुशलका लेना देना ही ठीक है ॥ २ ॥

(२)

क्या करनेसे हम सुखी होते हैं, और क्या करनेसे हम दुःखी होते हैं? हम स्वयं क्या हैं, और कहाँसे आये हैं? इसका शीघ्र ही अपने आपसे जवाब पूँछो ॥ १ ॥

(३)

जहाँ शंका है वहाँ संताप है; और जहाँ ज्ञान है वहाँ शंका नहीं रह सकती। जहाँ प्रभुकी भक्ति है वहाँ उत्तम ज्ञान है, और गुरु भगवान्‌द्वारा ही प्रभुकी प्राप्ति की जा सकती है ॥ १ ॥

गुरुको पहिचाननेके लिये अंतरंगमें वैराग्यकी आवश्यकता है, और यह वैराग्य पूर्वभाग्यके उदयसे ही प्राप्त हो सकता है। यदि पूर्वकालीन भाग्यका उदय न हो तो वह सत्संगद्वारा मिल सकता है, और यदि सत्संगकी प्राप्ति न हुई तो फिर यह किसी दुःखके पड़नेपर प्राप्त होता है ॥ २ ॥

८५

लोक अलोक रहस्यप्रकाश

(१)

लोक पुरुष संस्थाने कह्यो, एनो भेद तमे कंई लह्यो ?
एनुं कारण समज्या कांई, के समजावानी चतुराई ? ॥ १ ॥
शरीरपरथी ए उपदेश, ज्ञान दर्शन के उद्देश,
जेम जणावो सुणीए तेम, कां तो लईए दईए क्षेम ॥ २ ॥

(२)

शुं करवाथी पोते सुखी ? शुं करवाथी पोते दुःखी ?
पोते शुं ? क्यांथी छे आप ? एनो मागो शीघ्र जवाप ॥ १ ॥

(३)

ज्यां शंका त्यां गण संताप, ज्ञान त्यां शंका नहीं स्थाप ;
प्रभुभक्ति त्यां उत्तम ज्ञान, प्रभु मेळववा गुरु भगवान ॥ १ ॥
गुरु ओळखवा घट वैराग्य, ते उपजवा पूर्वित भाग्य,
तेम नहीं तो कंई सत्संग, तेम नहीं तो कंई दुःखरंग ॥ २ ॥

८. तीर्थादि प्रवास करनेकी उमंग रखनेवाला,

९. आहार, विहार, और निहारका नियम रखनेवाला,

१०. अपनी गुरुताको छिपानेवाला,

—इन गुणोंसे युक्त कोई भी पुरुष महावीरके उपदेशका पात्र है— सम्यक्‌दशाका पात्र है। फिर भी पहिलेके समान एक भी नहीं है।

८१

बम्बई, पौष १९४६

प्रकाश भुवन

निश्चयसे यह सत्य है। ऐसी ही स्थिति है। तुम इस ओर फिरो—उन्होंने रूपकसे इसे कहा है। उससे भिन्न भिन्न प्रकारसे ज्ञान हुआ है और होता है, परन्तु वह विभंगरूप है।

यह बोध सम्यक् है; तो भी यह बहुत ही सूक्ष्म है, और मोहके दूर होनेपर ही प्राप्त हो पाता है।

सम्यक् बोध भी सम्पूर्ण स्थितिमें नहीं रहा है, फिर भी जो कुछ बचा है वह योग्य ही है।

ऐसा समझकर अब योग्य मार्ग ग्रहण करो।

कारण मत ढूँढो, मना मत करो, तर्क-वितर्क न करो। वह तो ऐसा ही है।

यह पुरुष यथार्थ वक्ता था। उनको अयथार्थ कहनेका कुछ भी कारण न था।

८२

बम्बई, माघ १९४६

कुटुम्बरूपी काजलकी कोठड़ीमें निवास करनेसे संसार बढ़ता है। उसका कितना भी सुधार करो तो भी एकांतवासमें जितना संसारका क्षय हो सकता है उसका सौवाँ भाग भी उस काजलके घरमें रहनेसे नहीं हो सकता; क्योंकि वह कषायका निमित्त है; और अनादिकालसे मोहके रहनेका पर्वत है। वह प्रत्येक अंतर गुफामें जाज्वल्यमान है। संभव है कि उसका सुधार करनेसे श्रद्धाकी उत्पत्ति हो जाय, इसलिये वहाँ अल्पभाषी होना, अल्पहासी होना, अल्पपरिचयी होना, अल्पप्रेमभाव दिखाना, अल्प-भावना दिखानी, अल्पसहचारी होना, अल्पगुरु होना, और परिणामका विचार करना, यही श्रेयस्कर है।

८३

बम्बई, माघ वदी २ शुक. स. १९४६

जिनभगवान्‌के कहे हुए पदार्थ यथार्थ ही हैं। यही इस समय अनुरोध है।

८४

बम्बई, फाल्गुन सुदी ८ गुरु. १९४६

ज्योतिषकी चाह है। रचनाकी विचित्रता सम्यग्ज्ञानका उपदेश करनेवाली है। तुम, वे और

और दूसरे तुम्हारे समान मंडलके लोग धर्मकी इच्छा करते हो; यदि यह सबकी अंतरात्माकी इच्छा है तब तो परम कल्याणरूप है। मुझे तुम्हारी धर्म-अभिलाषाकी यथार्थता देखकर संतोष होता है।

जनसमूहके भाग्यकी अपेक्षासे यह काल बहुत ही निकृष्ट है। अधिक क्या कहूँ? इस बातका एक अंतरात्मा ज्ञानी ही साक्षी है।

८५

लोक-अलोक रहस्य प्रकाश

(१) बम्बई, फाल्गुन वदी १, १९४६

लोकको पुरुषके आकारका वर्णन किया है, क्या तुमने इसके रहस्यको कुछ समझा है? क्या तुमने इसके कारणको कुछ समझा है, क्या तुम इसके समझानेकी चतुराईको समझे हो? ॥ १ ॥

यह उपदेश शरीरको लक्ष्य करके दिया गया है, और इसे ज्ञान और दर्शनकी प्राप्तिके उद्देशसे कहा है। इसपर मैं जो कहता हूँ वह सुनो, नहीं तो क्षेम-कुशलका लेना देना ही ठीक है ॥ २ ॥

(२)

क्या करनेसे हम सुखी होते हैं, और क्या करनेसे हम दुःखी होते हैं? हम स्वयं क्या हैं, और कहाँसे आये हैं? इसका शीघ्र ही अपने आपसे जवाब पूँछो ॥ १ ॥

(३)

जहाँ शंका है वहाँ संताप है; और जहाँ ज्ञान है वहाँ शंका नहीं रह सकती। जहाँ प्रभुकी भक्ति है वहाँ उत्तम ज्ञान है, और गुरु भगवान्‌द्वारा ही प्रभुकी प्राप्ति की जा सकती है ॥ १ ॥

गुरुको पहिचाननेके लिये अंतरंगमें वैराग्यकी आवश्यकता है, और यह वैराग्य पूर्वभाग्यके उदयसे ही प्राप्त हो सकता है। यदि पूर्वकालीन भाग्यका उदय न हो तो वह सत्संगद्वारा मिल सकता है, और यदि सत्संगकी प्राप्ति न हुई तो फिर यह किसी दुःखके पड़नेपर प्राप्त होता है ॥ २ ॥

८५

लोक अलोक रहस्यप्रकाश

(१)

लोक पुरुष संस्थाने कह्यो, एनो भेद तमे कंई लह्यो?
एनुं कारण समज्या कांई, के समजावानी चतुराई? ॥ १ ॥
शरीरपरथी ए उपदेश, ज्ञान दर्शने के उद्देश,
जेम जणावो सुणिये तेम, कां तो लईए दईए क्षेम ॥ २ ॥

(२)

शुं करवाथी पोते सुखी? शुं करवाथी पोते दुःखी?
पोते शुं? क्यांथी छे आप? एनो मागो शीघ्र जवाप ॥ १ ॥

(३)

ज्यां शंका त्यां गण संताप, ज्ञान तहां शंका नहि स्थाप;
प्रभुभक्ति त्यां उत्तम ज्ञान, प्रभु मेळववा गुरु भगवान ॥ १ ॥
गुरु ओळखवा घट वैराग्य, ते उपजवा पूर्वित भाग्य;
तेम नहीं तो कंई सत्संग, तेम नहीं तो कंई दुःखरंग ॥ २ ॥

इन सबमें तेरे प्रति कोई प्रेमभाव नहीं है, फिर भी भिन्न भिन्न स्थलोंमें तू सुख मान बैठा है। हे मूढ़ ! ऐसा न कर ।

यह तुझे तेरा हित कहा । तेरे अन्तरमें सुख है ।

जगत्‌में कोई ऐसी पुस्तक, ऐसा कोई लेख अथवा कोई ऐसी साक्षी नहीं है जो दुःखी तुमको यह बता सके कि अमुक ही सुखका मार्ग है, अथवा तुम्हें अमुक प्रकारसे ही चलना चाहिये, अथवा सभी अमुक क्रमसे ही चलेंगे; यही इस बातको सूचित करता है कि इन सबकी गतिके पीछे कोई न कोई प्रबल कारण अन्तर्हित है ।

१. एक भोगी होनेका उपदेश करता है ।

२. एक योगी होनेका उपदेश करता है ।

३. इन दोनोंमेंसे हम किसको मानें ?

४. दोनों किसलिये उपदेश करते हैं ?

५. दोनों किसको उपदेश करते हैं ?

६. किसकी प्रेरणासे उपदेश करते हैं ?

७. किसीको किसीका, और किसीको किसीका उपदेश क्यों अच्छा लगता है ?

८. इसके क्या कारण हैं ?

९. उसकी कौन साक्षी है ?

१०. तुम क्या चाहते हो ?

११. वह कहाँसे मिलेगा, अथवा वह किसमें है ?

१२. उसे कौन प्राप्त करेगा ?

१३. उसे कहाँ होकर लाओगे ?

१४. उसको कौन सिखायेगा ?

१५. अथवा स्वयं ही सीखे हुए हो ?

१६. यदि सीखे हुए हो तो कहाँसे सीखे हो ?

१७. जीवन क्या है ?

१८. जीव क्या है ?

१९. तुम क्या हो ?

२०. सब कुछ तुम्हारी इच्छानुसार क्यों नहीं होता ?

२१. उसे कैसे कर सकोगे ?

२२. तुम्हें बाधा प्रिय है अथवा निराबाधता ?

२३. वह कहाँ कहाँ और किस किस तरह है ?

इसका निर्णय करो ।

अंतरमें सुख है । बाहर नहीं । सत्य कहता हूँ ।

और दूसरे तुम्हारे समान मंडलके लोग धर्मकी इच्छा करते हो; यदि यह सबकी अंतरात्माकी इच्छा है तब तो परम कल्याणरूप है। मुझे तुम्हारी धर्म-अभिलाषाकी यथार्थता देखकर संतोष होता है।

जनसमूहके भाग्यकी अपेक्षासे यह काल बहुत ही निकृष्ट है। अधिक क्या कहूँ? इस बातका एक अंतरात्मा ज्ञानी ही साक्षी है।

८५

लोक-अलोक रहस्य प्रकाश

(१)　　　　बम्बई, फाल्गुन वदी १, १९४६

लोकको पुरुषके आकारका वर्णन किया है, क्या तुमने इसके रहस्यको कुछ समझा है? क्या तुमने इसके कारणको कुछ समझा है, क्या तुम इसके समझानेकी चतुराईको समझे हो? ॥ १ ॥

यह उपदेश शरीरको लक्ष्य करके दिया गया है, और इसे ज्ञान और दर्शनकी प्राप्तिके उद्देशसे कहा है। इसपर मैं जो कहता हूँ वह सुनो, नहीं तो क्षेम-कुशलका लेना देना ही ठीक है ॥ २ ॥

(२)

क्या करनेसे हम सुखी होते हैं, और क्या करनेसे हम दुःखी होते हैं? हम स्वयं क्या हैं, और कहाँसे आये हैं? इसका शीघ्र ही अपने आपसे जवाब पूँछो ॥ १ ॥

(३)

जहाँ शंका है वहाँ संताप है; और जहाँ ज्ञान है वहाँ शंका नहीं रह सकती। जहाँ प्रभुकी भक्ति है वहाँ उत्तम ज्ञान है, और गुरु भगवान्द्वारा ही प्रभुकी प्राप्ति की जा सकती है ॥ १ ॥

गुरुको पहिचाननेके लिये अंतरंगमें वैराग्यकी आवश्यकता है, और यह वैराग्य पूर्वभाग्यके उदयसे ही प्राप्त हो सकता है। यदि पूर्वकालीन भाग्यका उदय न हो तो वह सत्संगद्वारा मिल सकता है, और यदि सत्संगकी प्राप्ति न हुई तो फिर यह किसी दुःखके पड़नेपर प्राप्त होता है ॥ २ ॥

८५

लोक अलोक रहस्यप्रकाश

(१)

लोक पुरुष संस्थाने कह्यो, एनो भेद तमे कंई लह्यो!
एनुं कारण समज्या कांई, के समजाव्यानी चतुराई! ॥ १ ॥
शरीरपरथी ए उपदेश, ज्ञान दर्शन के उद्देश,
जेम जणावो सुणिये तेम, कां तो लईए दईए क्षेम ॥ २ ॥

(२)

शुं करवाथी पोते सुखी! शुं करवाथी पोते दुःखी!
पोते शुं! क्यांथी छे आप! एनो मागो शीघ्र जवाप! १ ।

(३)

ज्यां शंका त्यां गण संताप, ज्ञान त्यां शंका नहीं स्थाप,
प्रभुभक्ति त्यां उत्तम ज्ञान, प्रभु मेळववा गुरु भगवान ॥ १ ॥
गुरु ओळखवा घट वैराग्य, ते उपजवा पूर्वित भाग्य,
तेम नहीं तो कंई सत्संग, तेम नहीं तो कंई दुःखरंग ॥ २ ।

—

यदि उसकी इसके सिवाय दूसरे किसी भी कारणसे संतोषवृत्ति न रहती हो तो तुझे उसके कहे अनुसार प्रवृत्ति करके उस प्रसंगको पूरा करना चाहिये, अर्थात् प्रसंगकी पूर्णाहुतितक ऐसा करनेमें तुझे संकोचित न होना चाहिये।

तेरे व्यवहारसे वे संतुष्ट रहें तो उदासीन वृत्तिसे निराग्रहभावसे उनका भला हो, तुझे ऐसा करनेकी सावधानी रखनी चाहिये।

८८

बम्बई, चैत्र १९४६

मोहाच्छादित दशामें विवेक नहीं होता, यह ठीक बात है, अन्यथा वस्तुरूपसे यह विवेक यथार्थ है। बहुत ही सूक्ष्म अवलोकन रखना।

१. सत्यको तो सत्य ही रहने दो।

२. जितना कर सको उतना ही कहो। अशक्यता न छिपाओ।

३. एकनिष्ठ रहो।

एकनिष्ठ रहो।

किसी भी प्रशस्त क्रममें एकनिष्ठ रहो।

वीतरागने यथार्थ ही कहा है।

हे आत्मन्! स्थितिस्थापक दशा प्राप्त कर।

इस दुःखको किससे कहें? और कैसे इसे दूर करें?

अपने आप अपने आपका वैरी है, यह कैसी सच्ची बात है!

८९

बम्बई, वैशाख वदी ४ गुरु. १९४६

आज मुझे अनुपम उल्लास हो रहा है; जान पड़ता है कि आज मेरा जन्म सफल हो गया है। वस्तु क्या है, उसका विवेक क्या है, उसका विवेचक कौन है, इस क्रमके साथ जाननेसे मुझे सब मालूम हो गया है ॥ १ ॥

९०

बम्बई, वैशाख वदी ४ गुरु. १९४६

होत आसवा परिस्रवा, नहिं इनमें सन्देह;
मात्र दृष्टिकी भूल है, भूल गये गत एहि ॥ १ ॥
रचना जिन-उपदेशकी, परमोत्तम तिनु काल,
इनमें सब मत रहत हैं, करते निज संभाल ॥ २ ॥

८९.
आज मने उछरंग अनुपम जन्मकृतार्थ जोग जणायो
वस्तु विवेक विवेचक ते क्रम सह सुगमीत जणायो ॥ १ ॥

हे जीव ! भूल मत, तुझे सत्य कहता हूँ।

सुख अंतरमें ही है; वह बाहर ढूँढनेसे नहीं मिलेगा।

अंतरंग सुख अंतरकी स्थितिमें है; उस सुखकी स्थिति होनेके लिये तू बाह्य पदार्थसंबंधी आश्चर्योंको भूल जा।

उस सुखकी स्थिति रहनी बहुत ही कठिन है, क्योंकि जैसे जैसे निमित्त मिलते जाते हैं, वैसे वैसे बारबार वृत्ति भी चलित हो जाया करती है; इसलिये वृत्तिका उपयोग दृढ़ रखना चाहिये।

यदि इस क्रमको तू यथायोग्य निबाहता चलेगा तो तुझे कभी हताश नहीं होने पड़ेगा। तू निर्भय हो जायगा।

हे जीव ! तू भूल मत। कभी कभी उपयोग चूककर किसीके रंजन करनेमें, किसीके द्वारा रंजित होनेमें, अथवा मनकी निर्बलताके कारण दूसरेके पास जो तू मंद हो जाता है, यह तेरी भूल है। उसे न कर।

८७

बम्बई, फाल्गुन १९४६

परम सत्य है।
परम सत्य है। } त्रिकालमें ऐसा ही है।
परम सत्य है।

व्यवहारके प्रसंगको सावधानीसे, मंद उपयोगसे, और समताभावसे निभाते आना।

दूसरे तेरा कहा क्यों नहीं मानते, यह प्रश्न तेरे अंतरमें कभी पैदा न हो।

दूसरे तेरा कहा मानते हैं, और यह बहुत ठीक है, तुझे ऐसा स्मरण कभी न हो।

तू सब तरहसे अपनेमें ही प्रवृत्ति कर।

जीवन-अजीवन पर समवृत्ति हो।

जीवन हो तो इसी वृत्तिसे पूर्ण हो।

जबतक गृहवास रहे तबतक व्यवहारका प्रसंग होनेपर भी सत्यको सत्य कहो।

गृहवासमें भी उसीमें ही लक्ष रहे।

गृहवासमें अपने कुटुम्बियोंको उचित वृत्ति रखना सिखा, सबको समान [illegible] न

उस समयतकका तेरा काल बहुत ही उचित व्यतीत होओ —

अमुक व्यवहारके प्रसंगका काल,
उसके सिवाय तत्संबंधी कायकाल,
पूर्वकर्मोदय काल,
निद्राकाल।

यदि तेरी स्वतंत्रता और तेरे मनसे तुझे [illegible] उपजीवन अर्थात् व्यवहारसंबंधी संताप हो तो उचित प्रकारसे अपना व्यवहार चलाना।

जिन सो ही है आतमा, अन्य होई सो कर्म;
कर्म कटे सो जिनवचन, तत्त्वज्ञानिको मर्म ॥ ३ ॥
जब जान्यो निजरूपको, तब जान्यो सब लोक।
नहिं जान्यो निजरूपको, सब जान्यो सो फोक ॥ ४ ॥
एहि दिशाकी मूढ़ता, है नहिं जिनपे भाव;
जिनसें भाव बिनु कबू, नहिं छूटत दुखदाव ॥ ५ ॥
व्यवहारसें देव जिन, निहचेसें है आप;
एहि वचनसें समज ले, जिनप्रवचनकी छाप ॥ ६ ॥
एहि नहीं है कल्पना, एही नहीं विभंग;
जब जागेंगे आतमा, तब लागेंगे रंग ॥ ७ ॥

---

९१ बम्बई, वैशाख वदी ४ गुरु. १९४६

मारग साचा मिल गया, छूट गये सन्देह;
होता सो तो जल गया, भिन्न किया निज देह ॥ १ ॥
समज पिछे सब सरल है, बिनू समज मुशकील;
ये मुशकीली क्या कहूँ ? ॥ २ ॥
खोज पिंड ब्रह्माण्डका, पत्ता तो लग जाय;
येहि ब्रह्माण्डि वासना, जब जावे तब.... ॥ ३ ॥
आप आपकुं भुल गया, इनसें क्या अंधेर !
समर समर अब हसत है, नहिं भुलेंगे फेर ॥ ४ ॥
जहाँ कलपना जलपना, तहाँ मानुं दुख छांई;
मिटे कलपना जलपना, तब वस्तू तिन पाई ॥ ५ ॥
हे[1] जीव ! क्या इच्छत हवे, है इच्छा दुखमूल;
जब इच्छाका नाश तब, मिटे अनादी भूल ॥ ६ ॥
ऐसी कहाँसे मति भई, आप आप है नाहिं।
आपनकुं जब भुल गये, अवर कहाँसे लाई,
आप आप ए शोधसें, आप आप मिट जाय;
आप मिलन नय बापको; ॥ ७ ॥

---

९२ बम्बई वैशाख वदी ५ गुरु. १९४६

इच्छारहित कोई भी प्राणी नहीं है। उसमें भी मनुष्य प्राणी तो विविध आशाओंसे घिरा हुआ

१ 'क्या इच्छत ! खोवत सबे' ऐसा भी पाठ है। अनुवादक।

१. कार्यप्रवृत्ति.
२. सकारण साधारण भाषण.
३. दोनोंके अंतःकरणकी निर्मल प्रीति.
४. धर्मानुष्ठान.
५. वैराग्यकी तीव्रता.

---

९७ — बम्बई, ज्येष्ठ वदी ११ शुक्र. १९४६

तुझे अपना अस्तित्व माननेमें कौनसी शंका है ? यदि कोई शंका है तो वह ठीक नहीं।

---

९८ — बम्बई, ज्येष्ठ वदी १२ शनि. १९४६

कल रातमें एक अद्भुत स्वप्न आया, जिसमें एक-दो पुरुषोंको इस जगत्की रचनाके स्वरूपका वर्णन किया; पहिले सब कुछ भुलाकर बादमें जगत्का दर्शन कराया। स्वप्नमें महावीरदेवकी शिक्षा प्रामाणिक सिद्ध हुई। इस स्वप्नका वर्णन बहुत सुन्दर और चमत्कारपूर्ण था इससे परमानंद हुआ। अब उसके संबंधमें अधिक फिर लिखूँगा।

---

९९ — बम्बई, आषाढ सुदी ४ शनि. १९४६

कलिकालने मनुष्यको स्वार्थपरायण और मोहके वश कर लिया है।
जिसका हृदय शुद्ध और संतोंके बताये हुए मार्गसे चलता है वह धन्य है।
सत्संगके बिना चढ़ी हुई आत्म-श्रेणी अधिकतर पतित हो जाती है।

---

१०० — बम्बई, आषाढ सुदी ५ रवि. १९४६

जब यह व्यवहारोपाधि ग्रहण की थी उस समय इसके ग्रहण करनेका हेतु यह था:—"भविष्यकालमें जो उपाधि अधिक समय लेगी, वह उपाधि यदि अधिक दुःखदायक भी होगी, तो भी उसे थोड़े समयमें भोग लेना, यही अधिक श्रेयस्कर है।"

ऐसा माना था कि यह उपाधि निम्नलिखित हेतुओंसे समाधिरूप होगी।

"इस कालमें गृहस्थावासके विषयमें धर्मसबंधी अधिक बातचीत न हो तो अच्छा।"

भले ही तुझे मुश्किल लगता हो, परन्तु इसी क्रमसे चल। निश्चय ही इसी क्रमसे चल। दुःखको सहन करके, क्रमको सँभालनेकी परिषह सहन करके, अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गोंको सहन करके तू अचल रह। आजकल यह कदाचित् अधिकतर कठिन मालूम होगा, परन्तु अन्तमें वह कठिनता सरल हो जायगी। फंदेमें फँसना मत। बारबार कहता हूँ कि फँसना मत। नाहक दुःखी होगा, और पश्चात्ताप करेगा। इसकी अपेक्षा अभीसे इन वचनोंको हृदयमें उतार—प्रीतिपूर्वक उतार।

१. किसीके भी दोष न देख। जो कुछ होता है वह सब तेरे अपने ही दोषसे होता है, ऐसा मान।

जिसका माहात्म्य अपार है, ऐसी तीर्थंकरदेवकी वाणीकी भक्ति करो।

---

१०६ बम्बई, आषाढ़ वदी ११ शनि. १९४६

(१) जिसका कोई अस्तित्व विद्यमान नहीं है, ऐसे बिना माँगेके इस जगत्को तो देखो।

बम्बई, आषाढ़ वदी १२ रवि. १९४६

(२) दृष्टि ऐसी स्वच्छ करो कि जिसमें सूक्ष्मसे सूक्ष्म दोष भी दिखाई दे सकें, और उन्हें देखते ही वे क्षय किये जा सकें।

---

१०७ बम्बई (नागदेवी), आषाढ़ वदी १२ रवि. १९४६

इसके साथ आपकी **योग**वासिष्ठ पुस्तक भेज रहा हूँ। उपाधिका ताप शमन करनेके लिये यह शीतल चंदन है; इसके पढ़ते हुए आधि-व्याधिका आगमन संभव नहीं। इसके लिये मैं आपका उपकार मानता हूँ।

आपके पास कभी कभी आनेमें भी एक इसी विषयकी ही जिज्ञासा है। बहुत वर्षोंसे आपके अंतःकरणमें वास करती हुई ब्रह्मविद्याका आपके ही मुखसे श्रवण मिले, तो अपूर्व शान्ति हो। किसी भी मार्गसे कल्पित वासनाओंका नाश करके यथायोग्य स्थितिकी प्राप्तिके सिवाय दूसरी कोई भी इच्छा नहीं है; परन्तु व्यवहारके संबंधमें बहुतसी उपाधियाँ रहती है, इसलिये सत्समागमका जितना अवकाश चाहिये उतना नहीं मिलता। तथा मैं समझता हूँ कि आप भी बहुतसे कारणोंसे उतना समय देनेमें असमर्थ हैं, और इसी कारणसे वारवार अंतःकरणकी अंतिम वृत्ति आपको नहीं बता सकता; तथा इस संबंधमें अधिक बातचीत भी नहीं हो सकती। यह एक पुण्यकी न्यूनता ही है, दूसरा क्या!

व्यवहारिक संबंधमें आपके संबंधसे किसी तरहका भी लाभ उठानेकी स्वप्नमें भी इच्छा नहीं की, तथा आपके समान दूसरोंसे भी इसकी इच्छा नहीं की। एक ही जन्म, और वह भी थोड़े ही कालका, उसे प्रारब्धानुसार बिता देनेमें दीनता करना उचित नहीं; यह निश्चयसे प्रिय है। सहज-भावसे आचरण करनेकी अभ्यास-प्रणालिका कुछ (थोड़ेसे) वर्षोंसे आरंभ कर रक्खी है, और इससे निवृत्तिकी वृद्धि हो रही है। इस बातको यहाँ बतानेका इतना ही हेतु है कि आप शंकारहित हों, तथापि पूर्वापरसे भी शंकारहित रहनेके लिये जिस हेतुसे मैं आपकी ओर देखता हूँ, उसे कह दिया है; और यह सन्देहहीनता संसारसे उदासीनभावको प्राप्त दशाकी सहायक होगी, ऐसा मान्य होनेसे (कहा है)।

योगवासिष्ठके संबंधमें (प्रसंग मिलनेपर) आपसे कुछ कहना चाहता हूँ।

जैनधर्मके आग्रहसे ही मोक्ष है, इस मान्यताको आत्मा बहुत समयसे भूल चुकी है। मुक्त मानने (!) ही मोक्ष है, ऐसी मेरी धारणा है; इसलिये निवेदन है कि बातचीतके समय आप कुछ अधिक कहते हुए न रुकें।

---

(२) तुम मेरे मिलापकी इच्छा करते हो, परन्तु यह किसी अनुचित कालका उदय आया है, इसलिये अपने मिलापसे भी मैं तुमको श्रेयस्कर हो सकूँगा ऐसी बहुत ही कम आशा है।

जिन्होंने यथार्थ उपदेश किया है ऐसे वीतरागके उपदेशमें तत्पर रहो, यह मेरा विनयपूर्वक तुम दोनों भाइयोंसे और दूसरोंसे अनुरोध है।

मोहाधीन मेरी आत्मा बाह्योपाधिसे कितनी तरहसे घिरी हुई है, यह सब तुम जानते ही हो, इसलिये अधिक क्या लिखूँ!

अभी हालमें तो तुम अपनेसे ही धर्म-शिक्षा लो, योग्य पात्र बनो, मैं भी योग्य पात्र बनूँ, अधिक फिर देखेंगे।

---

१०३   बम्बई, आषाढ़ सुदी १५ बुध. १९४६

(१) यद्यपि चि. सत्परायणके स्वर्गवाससूचक शब्द भयंकर हैं किन्तु ऐसे रत्नोंके जीवनका ऐसा होना कालको सह्य नहीं होता। धर्म-इच्छुकके ऐसे अनन्य सहायकका रहने देना, मायादेवीको योग्य न लगा। कालकी प्रबल दृष्टिने इस आत्माके–इस जीवनके–रहस्यमय विज्ञानको खींच लिया। ज्ञानदृष्टिसे शोकका कोई कारण नहीं दीखता; तथापि उनके उत्तमोत्तम गुण शोक करनेको बाध्य करते हैं। उनका बहुत अधिक स्मरण होता है; अधिक लिख नहीं सकता।

सत्परायणके स्मरणार्थ यदि हो सका तो एक शिक्षा-ग्रंथ लिखनेका विचार कर रहा हूँ।

(२) "आहार, विहार और निहारसे नियमित" इस वाक्यका संक्षेप अर्थ यह है:—

जिसमें योगदशा आती है; उसमें द्रव्य आहार, विहार और निहार (शरीरकी मलके त्याग करनेकी क्रिया), ये नियमित अर्थात् जैसी चाहिये वैसी—आत्माको किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचानेवाली—क्रियासे प्रवृत्ति करनेवाला।

धर्ममें संलग्न रहो यही बारबार अनुरोध है। यदि हम सत्परायणके मार्गका सेवन करेंगे तो अवश्यमेव सुखी होंगे और पार पावेंगे, ऐसी मुझे आशा है।

उपाधिमग्न रायचंदका यथायोग्य.

१०४   बम्बई, आषाढ़ वदी ४ रवि. १९४६

विश्वाससे प्रवृत्ति करके अन्यथा वर्ताव करनेवाला आज पश्चात्ताप करता है।

१०५   बम्बई, आषाढ़ वदी ७ सोम. १९४६

निरंतर निर्भयपनेसे रहित ऐसे इस भ्रान्तिरूप संसारमें वीतरागता ही अभ्यास करने योग्य है; निरंतर निर्भयपनेसे विचारना ही श्रेयस्कर है, तथापि कालकी और कर्मकी विचित्रतासे पराधीन होकर [illegible]

३. वचनका स्याद्वादपना (निराग्रहपना) ।

४. कायाकी वृक्ष-दशा (आहार विहारकी नियमितता) ।

अथवा सब संदेहोंकी निवृत्ति; सर्व भयका छूटना; और सर्व अज्ञानका नाश ।

संतोंने अनेक प्रकारसे शास्त्रोंमें उसका मार्ग बताया है; साधन बताये हैं; और योगादिसे उत्पन्न हुआ अपना अनुभव कहा है; फिर भी उससे यथायोग्य उपशमभाव आना दुर्लभ है । वह तो मार्ग है, परन्तु उसके प्राप्त करनेके लिये उपादानकी स्थिति बलवान होनी चाहिये । उपादानकी बलवान स्थिति होनेके लिये निरंतर सत्संग चाहिये, और वह नहीं है।

(२) शिशुवयमेंसे ही इस वृत्तिके उदय होनेसे किसी भी प्रकारका परभाषाका अभ्यास नहीं हो सका । अमुक संप्रदायके कारण शास्त्राभ्यास न हो सका । संसारके बंधनसे ऊहापोहाभ्यास भी न हो सका; और यह नहीं हो सका इसके लिये कैसा भी खेद या चिन्ता नहीं है, क्योंकि इनसे आत्मा और भी अधिक विकल्पमें पड़ जाती (इस विकल्पकी बातको मैं सबके लिये नहीं कह रहा, परन्तु मैं केवल अपनी अपेक्षासे ही कहता हूँ); और विकल्प आदि क्लेशका तो नाश ही करनेकी इच्छा की थी, इसलिये जो हुआ वह कल्याणकारक ही हुआ; परन्तु अब जिस प्रकार महानुभाव वसिष्ठभगवान्ने श्रीरामको इसी दोषका विस्मरण कराया था, वैसा अब कौन करावे ! अर्थात् भाषाके अभ्यासके बिना भी शास्त्रका बहुत कुछ परिचय हुआ है, धर्मके व्यवहारिक ज्ञाताओंका भी परिचय हुआ है, तथापि इससे इस आत्माका आनंदावरण दूर हो सके, यह बात नहीं है; एक सत्संगके सिवाय और योग-समाधिके सिवाय उसका कोई उपाय नहीं ! अब क्या करें !

इतनी बात भी कहनेका कोई सत्पात्र स्थल न था । भाग्यके उदयसे आप मिले, जिनके रोम रोममें यही रुचिकर है ।

(३) कायाकी नियमितता ।

वचनका स्याद्वादपना ।

मनकी उदासीनता ।

आत्माकी मुक्तता ।

—यही अन्तिम समझ है ।

११४ ववाणीआ, प्रथम भाद्र. सुदी ४, १९४६

आजके पत्रमें, मतांतरसे दुगुना लाभ होता है, ऐसा इस पर्यूषण पर्वको सम्यक्दृष्टिसे देखनेपर माळूम हुआ । यह बात अच्छी लगी, तथापि यह दृष्टि कल्याणके लिये ही उपयोगी है । समुदायके कल्याणकी दृष्टिसे देखनेसे दो पर्यूषणोंका होना दुःखदायक है । प्रत्येक समुदायमें मतांतर बढ़ने न चाहिये, किन्तु घटने ही चाहिये ।

३. वचनका स्याद्वादपना (निराग्रहपना)।

४. कायाकी वृक्ष-दशा (आहार विहारकी नियमितता)।

अथवा सब संदेहोंकी निवृत्ति; सर्व भयका छूटना; और सर्व अज्ञानका नाश।

संतोंने अनेक प्रकारसे शास्त्रोंमें उसका मार्ग बताया है; साधन बताये हैं; और योगादिसे उत्पन्न हुआ अपना अनुभव कहा है; फिर भी उससे यथायोग्य उपशमभाव आना दुर्लभ है। वह तो मार्ग है, परन्तु उसके प्राप्त करनेके लिये उपादानकी स्थिति बलवान होनी चाहिये। उपादानकी बलवान स्थिति होनेके लिये निरंतर सत्संग चाहिये, और वह नहीं है।

(२) शिशुवयमेंसे ही इस वृत्तिके उदय होनेसे किसी भी प्रकारका परभाषाका अभ्यास नहीं हो सका। अमुक संप्रदायके कारण शास्त्राभ्यास न हो सका। संसारके बंधनसे ऊहापोहाभ्यास भी न हो सका; और यह नहीं हो सका इसके लिये कैसा भी खेद या चिन्ता नहीं है, क्योंकि इनसे आत्मा और भी अधिक विकल्पमें पड़ जाती (इस विकल्पकी बातको मैं सबके लिये नहीं कह रहा, परन्तु मैं केवल अपनी अपेक्षासे ही कहता हूँ); और विकल्प आदि क्लेशका तो नाश ही करनेकी इच्छा की थी, इसलिये जो हुआ वह कल्याणकारक ही हुआ; परन्तु अब जिस प्रकार महानुभाव वसिष्ठभगवान्‌ने श्रीरामको इसी दोषका विस्मरण कराया था, वैसा अब कौन करावे? अर्थात् भाषाके अभ्यासके बिना भी शास्त्रका बहुत कुछ परिचय हुआ है, धर्मके व्यवहारिक ज्ञाताओंका भी परिचय हुआ है, तथापि इससे इस आत्माका आनंदावरण दूर हो सके, यह बात नहीं है; एक सत्संगके सिवाय और योग-समाधिके सिवाय उसका कोई उपाय नहीं! अब क्या करें!

इतनी बात भी कहनेका कोई सत्पात्र स्थल न था। भाग्यके उदयसे आप मिले, जिनके रोम रोममें यही रुचिकर है।

(३) कायाकी नियमितता।

वचनका स्याद्वादपना।

मनकी उदासीनता।

आत्माकी मुक्तता।

—यही अन्तिम समझ है।

११५   ववाणीआ. प्रथम भाद्र. सुदी ४, १९४६

आपके पत्रमें, मतांतरसे दुखना [illegible] होता है, [illegible] इस सम्बन्ध [illegible] सम्यक्‌दृष्टिसे देखनेपर मालूम हुआ। यह बात अभी नहीं, [illegible] के लिये ही उपयोगी है। मतवादके फलादिको दृष्टिसे देखनेसे तो [illegible] है। प्रत्येक मतवादसे [illegible] बढ़ने न चाहिये, किन्तु घटने ही चाहिये।

अंतःकरणसे उदय हुई अनेक उर्मियोंको बहुत बार समागममें मैंने तुम्हें बताई हैं; और उन्हें सुनकर उनको कुछ अंशोंमें धारण करनेकी तुम्हारी इच्छा देखनेमें आई है। मैं फिर अनुरोध करता हूँ कि जिन जिन स्थलोंपर उन उर्मियोंको बताया हो, उन उन स्थलोंमें जानेपर फिर फिर उनका अधिक स्मरण अवश्य करना।

आत्मा है।
वह बँधी हुई है।
वह कर्मकी कर्त्ता है।
वह कर्मकी भोक्ता है।
मोक्षका उपाय है।
आत्मा उसे सिद्ध कर सकती है।
—ये छह महाप्रवचन हैं, इनका निरंतर मनन करना।

प्रायः ऐसा ही होता है कि दूसरेकी विडंबनाका अनुग्रह नहीं करते हुए अपने अनुग्रहकी ही इच्छा करनेवाला जय नहीं पाता; इसलिये मैं चाहता हूँ कि तुमने जो स्वात्माके अनुग्रहमें दृष्टि लगाई है उसकी वृद्धि करते रहो; और इससे परका अनुग्रह भी कर सकोगे।

धर्म ही जिसकी अस्थि और धर्म ही जिसकी मज्जा है, धर्म ही जिसका रुधिर है, धर्म ही जिसका आमिष है, धर्म ही जिसकी त्वचा है, धर्म ही जिसकी इन्द्रियाँ है, धर्म ही जिसका कर्म है, धर्म ही जिसका चलना है, धर्म ही जिसका बैठना है, धर्म ही जिसका खड़ा रहना है, धर्म ही जिसका शयन है, धर्म ही जिसकी जागृति है, धर्म ही जिसका आहार है, धर्म ही जिसका विहार है, धर्म ही जिसका निहार (?) है, धर्म ही जिसका विकल्प है, धर्म ही जिसका संकल्प है, धर्म ही जिसका सर्वस्व है; ऐसे पुरुषकी प्राप्ति होना दुर्लभ है; और वह मनुष्य-देहमें ही परमात्मा है। इस दशाकी क्या हम इच्छा नहीं करते ? इच्छा करते हैं, तो भी प्रमाद और असत्संगके कारण उसमें दृष्टि नहीं देते।

आत्म-भावकी वृद्धि करना, और देह-भावको घटाना।

---

११८ (मोरबी) जेतपर, प्र. भाद्र. वदी ५ बुध. १९४६

भगवतीसूत्रके पाठके संबंधमें मुझे तो दोनोंके ही अर्थ ठीक लगते हैं। बाल-जीवोंकी अपेक्षासे टब्बाके लेखकका अर्थ हितकारक है; और मुमुक्षुओंके लिये तुम्हारा कल्पना किया हुआ अर्थ हितकारक है; तथा संतोंके लिये दोनों ही हितकारक हैं। जिससे मनुष्य ज्ञानके लिये प्रयत्न करे, इसके लिये ही इस स्थलपर प्रत्याख्यानको दुष्प्रत्याख्यान कहा गया है। यदि ज्ञानकी प्राप्ति जैसी चाहिये वैसी न हुई हो तो जो प्रत्याख्यान किया है, वह देव आदि गति देकर संसारका ही कारण होता है, इसलिये इसे दुष्प्रत्याख्यान कहा, परन्तु इस जगह ज्ञानके बिना प्रत्याख्यान बिलकुल भी करना ही नहीं, ऐसा कहनेका तीर्थंकरदेवका अभिप्राय नहीं है।

"कुछ भी हो, कितने ही दुःख क्यों न पड़ें, कितनी भी परिषह क्यों न सहन करनी पड़ें, कितने ही उपसर्ग क्यों न सहन करने पड़ें, कितनी ही व्याधियाँ क्यों न सहन करनी पड़े, कितनी ही उपाधियाँ क्यों न आ पड़ें, कितनी ही आधियाँ क्यों न आ पड़ें, चाहे जीवन-काल केवल एक समयका ही क्यों न हो, और कितने ही दुर्निमित्त क्यों न हों, परन्तु ऐसा ही करना।

हे जीव! ऐसा किये विना छुटकारा नहीं"—

इस तरह नेपथ्यमेंसे उत्तर मिलता है, और वह योग्य ही मालूम होता है।

क्षण क्षणमें पलटनेवाली स्वभाववृत्तिकी आवश्यकता नहीं; अमुक कालतक शून्यके सिवाय किसीकी भी आवश्यकता नहीं; यदि वह भी न हो तो अमुक कालतक संतोंके सिवाय किसीकी भी आवश्यकता नहीं; यदि वह भी न हो तो अमुक कालतक सत्संगके सिवाय किसीकी भी आवश्यकता नहीं; यदि वह भी न हो तो आर्याचरणके सिवाय किसीकी भी आवश्यकता नहीं; यदि वह भी न हो तो जिनभक्तिमें अति शुद्धभावसे लीन हो जानेके सिवाय किसीकी भी आवश्यकता नहीं; यदि वह भी न हो तो फिर माँगनेकी भी इच्छा नहीं। (आर्याचरण=आर्य पुरुषोंद्वारा किये हुए आचरण)।

समझे विना आगम अनर्थकारक हो जाते हैं।

सत्संगके विना ध्यान तरंगरूप हो जाता है।

संतके विना अंतिम बातका अंत नहीं मिलता।

लोक-संज्ञासे लोकके अग्रमें नहीं जा सकते।

लोक-त्यागके विना वैराग्यकी यथायोग्य स्थिति पाना दुर्लभ है।

---

११६ ववाणीआ, प्र. भाद्र. सुदी ७ शुक्र. सं. १९४६

बंबई इत्यादि स्थलोंमें सहनकी हुई उपाधिके कारण, तथा वहाँ आनेके बाद एकान्त आदिके अभाव (न होना), और दुष्टताकी अप्रियताके कारण जैसे बनेगा वैसे उस तरफ शीघ्र ही आऊँगा।

---

११७ ववाणीआ, प्र. भाद्रपद सुदी ११ भौम. १९४६

कुछ वर्ष हुए अंतःकरणमें एक महान् इच्छा रहा करती है: जिसे किसी भी स्थलपर नहीं कहा, जो नहीं कही जा सकी, नहीं कही जा सकती; और उसको कहनेकी आवश्यकता भी नहीं है। अनंत महान् परिश्रमसे ही उसमें सफलता मिल सकती है, तथापि उसके लिए जितना चाहिये उतना परिश्रम नहीं होता, यह एक आश्चर्य और प्रमादीपना है।

यह इच्छा स्वाभाविक ही उत्पन्न हुई थी। जबतक वह योग्य रीतिसे पूर्ण न हो तबतक आत्मा समाधिस्थ होना नहीं चाहती, अथवा समाधिस्थ न हो सकेगा। यदि कभी अवसर आयेगा तो उस इच्छाकी छाया बतानेका प्रयत्न करूँगा।

इस इच्छाके कारण जीव प्रायः विडंबना-दशासे ही जीवन व्यतीत करता रहता है। यद्यपि वह विडंबना-दशा भी कल्याणकारक ही है; तथापि दूसरोंके प्रति उतनी ही कल्याणकारक होनेसे वह कुछ कमीवाली है।

कारण केवल एक विषम आत्मा ही है, और वह यदि सम है, तो सब सुख ही है। इस वृत्तिके कारण समाधि रहती है; तो भी बाहरसे गृहस्थपनेकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, देह-भाव दिखाना नहीं सहा जाता, आत्म-भावसे प्रवृत्ति नहीं हो सकती, और बाह्यभावसे प्रवृत्ति करनेमें बहुतसे अंतराय हैं; तो फिर अब क्या करें? क्या पर्वतकी गुफामें चले जाँय, और अदृश्य हो जाँय? यही रटन रहा करती है; तो भी बाह्यरूपसे कुछ संसारी प्रवृत्ति करनी पड़ती है; उसके लिये शोक तो नहीं है, तो भी उसे सहन करनेके लिये जीव इच्छा नहीं करता। परमानन्द त्यागी इसकी इच्छा करे भी कैसे? और इसी कारणसे ज्योतिष आदिकी ओर हालमें चित्त नहीं है; किसी भी तरहके भविष्यज्ञान अथवा सिद्धियोंकी इच्छा नहीं है; तथा उनके उपयोग करनेमें भी उदासीनता रहती है; उसमें भी हालमें तो और भी अधिक रहती है। इसलिये इस ज्ञानसंबंधी पूँछे हुए प्रश्नोंके विषयमें चित्तकी स्वस्थता होनेपर विचार करके फिर लिखूँगा, अथवा समागम होनेपर कहूँगा।

जो प्राणी इस प्रकारके प्रश्नोंके उत्तर पानेसे आनन्द मानते हैं, वे मोहके अधीन हैं, और उनका परमार्थका पात्र होना भी दुर्लभ है, ऐसी मान्यता है; इसलिये ऐसे प्रसंगमें आना भी अच्छा नहीं लगता, परन्तु परमार्थके कारण प्रवृत्ति करनी पड़ेगी, तो कुछ करूँगा; इच्छा तो नहीं होती।

---

१२१ ववाणीआ, द्वितीय भाद्र. सुदी ८ रवि. १९४६

देहधारीको विडंबना हो यह तो एक धर्म है; फिर उसमें खेद करके आत्माका विस्मरण क्यों करना!

धर्म और भक्तिसे युक्त ऐसे तुमसे ऐसी याचना करनेका योग केवल पूर्वकर्मने ही दिया है। आत्मेच्छा तो इससे कंपित है। निरुपायताके सामने सहनशीलता ही सुखदायक है।

इस क्षेत्रमें इस कालमें इस देहधारीका जन्म होना योग्य न था। यद्यपि सब क्षेत्रोंमें जन्म लेनेकी इच्छाको उसने रोक ही दी है, तथापि प्राप्त हुए जन्मके लिये शोक प्रदर्शन करनेके लिये ऐसा.......लिखा है। किसी भी प्रकारसे विदेही-दशाके बिना, यथायोग्य जीवनमुक्त-दशाके बिना, यथायोग्य निर्ग्रंथ-दशाके बिना एक क्षणभरका भी जीवन देखना जीवको रुचिकर नहीं लगता, तो फिर बाकी रही हुई शेष आयु कैसे बीतेगी? यह आत्मेच्छाकी विडंबना है।

यथायोग्य दशाका अब भी मैं मुमुक्षु हूँ; कुछ तो प्राप्ति हो गई है; तो भी सम्पूर्णता प्राप्त हुए बिना यह जीव शांतिको प्राप्त करे, ऐसी दशा मालूम नहीं होती। एकके ऊपर राग और दूसरेके ऊपर द्वेष, ऐसी स्थिति उसे एक रोममें भी प्रिय नहीं। अधिक क्या कहा जाय? दूसरेका परमार्थ करनेके सिवाय देह भी तो अच्छी नहीं लगती!

आत्म-कल्याणमें प्रवृत्ति करना।

---

१२२ ववाणीआ, द्वितीय भाद्र. सुदी १४ रवि. १९४६

मुमुक्षुताके अंशोंसे ग्रहण किया हुआ तुम्हारा हृदय परम संतोष देता है। अनादिकालका

प्रत्याख्यान आदि क्रियाओंसे ही मनुष्यत्व मिलता है; उच्च गोत्र और आर्यदेशमें जन्म मिलता है, और उसके बाद ज्ञानकी प्राप्ति होती है, इसलिये ऐसी क्रियाको भी ज्ञानकी साधनभूत समझनी चाहिये।

---

११९ ववाणीआ, प्र. भाद्र. वदी १३ शुक्र. १९४६

क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका, भवति भवार्णवतरणे नौका

सत्पुरुषोंका क्षणभरका भी समागम संसाररूपी समुद्रको पार करनेमें नौकारूप होता है—यह वाक्य महात्मा शंकराचार्यजीका है; और यह यथार्थ ही मालूम होता है। अंतःकरणमें निरंतर ऐसा ही आया करता है कि परमार्थरूप होना, और अनेकोंको परमार्थके साध्य करनेमें सहायक होना, यही कर्तव्य है; तो भी अभी ऐसे योगका समागम नहीं है।

---

१२० ववाणीआ, द्वितीय भाद्र. सुदी २ सोम. १९४६

यहाँ जो उपाधि है, वह एक अमुक कालसे उत्पन्न हुई है; और उस उपाधिके लिये क्या होगा, ऐसी कोई कल्पना भी नहीं होती, अर्थात् उस उपाधिके संबंधमें कोई चिंता करनेकी वृत्ति नहीं है। यह उपाधि पहिलेकालके प्रसंगसे एक पहिलेकी संगतिसे उत्पन्न हुई है, और उसके लिये जैसा होना होगा, वह थोड़े कालमें हो रहेगा। ऐसी उपाधिका इस संसारमें आना, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं।

ईश्वरपर विश्वास रखना यह एक सुखदायक मार्ग है। जिसका दृढ़ विश्वास होता है, वह दुःखी नहीं होता, अथवा दुःखी हो भी तो वह उस दुःखका अनुभव नहीं करता, उसे दुःख उल्टा सुखरूप हो जाता है। अंतःकरण ऐसी ही रहती है कि सबके प्रारब्धके अनुसार चाहे जिसी भी प्रकारका शुभ अशुभ कर्मका उदय हो, परन्तु उसके प्रति प्रीति अप्रीति करनेका हमें संकल्पमात्र भी न करना चाहिये।

सात दिन एक परमार्थ विषयका ही मनन रहा करता है। आहार भी नहीं है, निद्रा भी नहीं है, [illegible] भी नहीं है, [illegible] भी नहीं है, [illegible] भी नहीं है, [illegible] भी नहीं है, [illegible] भी नहीं है, और [illegible] भी नहीं है [illegible] दिन [illegible] [illegible]

परिभ्रमण अब समाप्त हो, बस यही अभिलाषा है, यह भी एक कल्याण ही है। जब कोई ऐसा योग्य समय आ पहुँचेगा, तब इष्ट वस्तुकी प्राप्ति हो जायगी। वृत्तियोंको निरन्तर लिखते रहना; जिज्ञासाको उत्तेजन देते रहना; तथा निम्नलिखित धर्म-कथाको तुमने श्रवण किया होगा तो भी फिर फिरसे उसका स्मरण करना।

सम्यक्‌दशाके पाँच लक्षण हैं—

शम
संवेग
निर्वेद } अनुकंपा
आस्था

क्रोध आदि कषायोंका शान्त हो जाना, उदय आई हुई कषायोंमें मंदता होना, केन्द्रीभूत की जा सके ऐसी आत्म-दशाका हो जाना, अथवा अनादिकालकी वृत्तियोंका शान्त हो जाना ही शम है।

मुक्त होनेके सिवाय दूसरी किसी भी प्रकारकी इच्छा और अभिलाषाका न होना ही संवेग है।

जबसे ऐसा समझमें आया है कि केवल भ्रांतिसे ही परिभ्रमण किया, तबसे अब बहुत हुआ! अरे जीव! अब तो ठहर, ऐसा भाव होना यह निर्वेद है।

परम माहात्म्यवाले निस्पृही पुरुषोंके वचनमें ही तल्लीन रहना यही श्रद्धा—आस्था है।

इन सबके द्वारा यावन्मात्र जीवोंमें अपनी आत्माके समान बुद्धि होना यह अनुकंपा है।

ये लक्षण अवश्य मनन करने योग्य हैं, स्मरण करने योग्य हैं, इच्छा करने योग्य हैं, और अनुभव करने योग्य हैं।

---

१२३ ववाणीआ, द्वितीय भाद्रपद सुदी १४ रवि. १९४६

आपका संवेगपूर्ण पत्र मिला। पत्रोंसे अधिक क्या बताऊँ। जबतक आत्मा आत्म-भावसे अन्यथारूपसे अर्थात् देह-भावसे आचरण करेगी, 'मैं करता हूँ,' ऐसी बुद्धि करेगी, 'मैं ऋद्धि आदिमें अधिक हूँ,' ऐसे मानेगी, शास्त्रोंको जालरूप समझेगी, मर्मके लिये मिथ्यामोह करेगी, उस समयतक उसको शांति मिलना दुर्लभ है। इस पत्रसे यही कहता हूँ। इसमें ही बहुत कुछ समाया हुआ है। बहुत जगह बाँचा हो, सुना हो तो भी इसपर अधिक लक्ष रखना।

---

१२४ मोरबी, द्वितीय भाद्रपद बदी ४ गुरु. १९४६

पत्र मिला। शांतिप्रकाश नहीं मिला।

आत्मशांतिमें प्रवृत्ति करना। योग्यता प्राप्त करना, इसी तरहसे वह मिलेगी। पात्रताकी प्राप्तिका अधिक प्रयास करो।

---

१२५ मोरबी, द्वितीय भाद्रपद बदी ७ रवि. १९४६

(१) आठ रुचक प्रदेशोंके विषयमें तुम्हारा प्रथम प्रश्न है।

वस्तु ही न मिली, तो फिर चौदह पूर्वका ज्ञान अज्ञानरूप ही हुआ—यहाँ 'एकदेश कम' चौदह पूर्वका ज्ञान समझना चाहिये। यहाँ 'एकदेश कम' कहनेसे अपनी साधारण बुद्धिमें तो यही समझमें आता है पढ़ते पढ़ते चौदह पूर्वके अन्ततक पहुँचनेमें जो कोई एकाध अध्ययन बाकी रह गया हो, तो उसके कारण भटक पड़े; परन्तु वस्तुतः इसका ऐसा मतलब नहीं है। इतने अधिक ज्ञानका अभ्यासी भी यदि केवल एक अल्पभागके कारण ही अभ्यासमें पराभव प्राप्त करे, यह बात मानने जैसी नहीं है; अर्थात शास्त्रकी भाषा अथवा अर्थ कोई ऐसा कठिन नहीं है जो उन्हें स्मरणमें रखना कठिन पड़े, किन्तु वास्तविक कारण यही है कि उन्हें उस मूलवस्तुका ही ज्ञान नहीं हो सका, और यही सबसे बड़ी कमी है, और इसीने चौदह पूर्वके समस्त ज्ञानको निष्फल बना दिया। एक नयसे ऐसा विचार भी हो सकता है कि यदि तत्त्व ही प्राप्त न हुआ तो शास्त्र—लिखे हुए पत्र—का बोझा ढोना और पढ़ना इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं; क्योंकि दोनोंने ही बोझेको उठाया है। जिसने पत्रोंका बोझा ढोया उसने शरीरसे बोझा उठाया, और जो पढ़ गया उसने मनसे बोझा उठाया; परन्तु वास्तविक लक्ष्यार्थ बिना उनकी निरुपयोगिता ही सिद्ध होती है, ऐसा समझमें आता है। जिसके घर समस्त लवणसमुद्र है, वह तृषातुरकी तृषा मिटानेमें समर्थ नहीं; परन्तु जिसके घर मीठे पानीकी कुँइया भी है वह अपनी और दूसरे बहुतसोंकी तृषा मिटानेमें समर्थ है, और ज्ञानदृष्टिसे देखनेसे महत्त्व भी उसीका है।

तो भी अब दूसरे नयपर दृष्टि करनी पड़ती है; और वह यह कि यदि किसी तरह भी शास्त्राभ्यास होगा तो कुछ न कुछ पात्र होनेकी अभिलाषा होगी, और काल आनेपर पात्रता भी मिलेगी ही, और वह दूसरोंको भी पात्रता प्रदान करेगा; इसलिये यहाँ शास्त्राभ्यासके निषेध करनेका अभिप्राय नहीं, परन्तु मूलवस्तुसे दूर ले जानेवाले शास्त्राभ्यासका निषेध करें, तो हम एकांतवादी नहीं कहे जाँयगे।

इस तरह इन दो प्रश्नोंका संक्षेपमें उत्तर लिख रहा हूँ। लिखनेकी अपेक्षा वचनसे अधिक समझाया जा सकता है; तो भी आशा है कि इससे समाधान होगा, और वह पात्रताके कुछ न कुछ अंशोंकी वृद्धि करेगा और एकांत-दृष्टिको घटायेगा, ऐसी मान्यता है।

अहो! अनंत भवके पर्यटनमें किसी सत्पुरुषके प्रतापसे इस दशाको प्राप्त इस देहधारीको तुम चाहते हो और उससे धर्मकी इच्छा करते हो, परन्तु वह तो अभी किसी आश्चर्यकारक उपाधिमें पड़ा है! यदि वह निवृत्त होता तो बहुत उपयोगी होता। अच्छा, तुम्हें उसके लिये जो इतनी अधिक श्रद्धा रहती है, उसका क्या कुछ मूलकारण मालूम हुआ है? इसके ऊपर की हुई श्रद्धा, और इसका कहा हुआ धर्म अनुभव करनेपर अनर्थकारक तो नहीं लगता है न? अर्थात् अभी उसकी पूर्ण कसौटी करना, और ऐसे करनेमें वह प्रसन्न है; उसके साथ ही साथ तुम्हें योग्यताकी प्राप्ति होगी; और कदाचित् पूर्वापर भी शंकारहित श्रद्धा ही रही तो उसको तो वैसी ही रखनेमें कल्याण है, ऐसा स्पष्ट कहना योग्य मालूम होता था, इसलिये आज कह दिया है।

आजके पत्रकी भाषा बहुत ही ग्रामीण लिखी है, परन्तु उसका उद्देश केवल परमार्थ ही है। आगमके उल्लासकी वृद्धि करना—जरूर।

रायचन्द्रजीका प्रणाम.

उत्तराध्ययनसिद्धांतमें जो सब प्रदेशोंसे कर्म-संबंध बताया है, उसका हेतु यह समझमें आता है कि ऐसा कहना केवल उपदेशके लिये है । 'सब प्रदेशोंसे' कहनेसे शास्त्रकर्त्ता यह निषेध करते हों कि आठ रुचक प्रदेश कर्मोंसे रहित नहीं हैं, यह नहीं समझना चाहिये । परन्तु बात यह है कि जब असंख्यात प्रदेशी आत्मामें केवल आठ ही प्रदेश कर्मरहित हैं, तब असंख्यात प्रदेशोंके सामने वे कौनसी गिनतीमें हैं? असंख्यातके सामने उनका इतना अधिक लघुत्व है कि शास्त्रकारने उपदेशकी अधिकताके लिये इस बातको अंतःकरणमें रखकर बाहरसे इस प्रकार उपदेश किया है; और इसी शास्त्रकारोंकी यही शैली है । उदाहरणके लिये अंतर्मुहूर्तका साधारण अर्थ दो घड़ीके भीतरका कोई भी समय होता है; परन्तु शास्त्रकारकी शैलीके अनुसार इसका यह अर्थ करना पड़ता है कि आठ समयके बाद और दो घड़ीके भीतरका समय ही अंतर्मुहूर्त है । परन्तु रूढ़ीमें तो जैसे पहले कहा है, इसका अर्थ दो घड़ीके भीतरका कोई भी समय समझा जाता है; तो भी शास्त्रकारकी शैली ही मान्य की जाती है । जिस प्रकार यहाँ आठ समयकी बात बहुत लघु होनेसे शास्त्रमें स्थल स्थलपर उसका उल्लेख नहीं किया गया, इसी तरह आठ रुचक प्रदेशोंकी बात भी है, ऐसा मैं समझता हूँ, और इस बातकी भगवती, प्रज्ञापना, ठाणांग आदि सिद्धांत पुष्टि करते हैं ।

इसके सिवाय मैं तो ऐसा समझता हूँ कि यदि शास्त्रकारने समस्त शास्त्रोंमें न होनेवाली भी किसी बातका उल्लेख शास्त्रमें किया हो तो यह भी कुछ चिंताकी बात नहीं है; उसके साथ ऐसा समझना चाहिये कि सब शास्त्रोंकी रचना करते हुए उस एक शास्त्रमें कही हुई बात शास्त्रकारके ध्यानमें थी । और समस्त शास्त्रोंकी अपेक्षा कोई विचित्र बात किसी शास्त्रमें कही हो तो इसे अधिक मानने योग्य समझना चाहिये; कारण कि यह बात किसी विरले मनुष्यके लिए ही कही हुई होती है; बाकी कथन तो साधारण मनुष्योंके लिये ही होता है। ठीक यही बात आठ रुचक प्रदेशोंको लागू पड़ती है. इसलिये आठ रुचक प्रदेश बंधनरहित हैं, इस बातका निषेध नहीं किया गया है, यह मेरी समझ है। बाकीके चार अस्तिकायोंके प्रदेशोंके स्थलपर इन रुचक प्रदेशोंको छोड़कर जो केवलीके समुद्घात करनेका वर्णन है वह बहुतसी अपेक्षाओंसे जीवका मूल कर्मभाव नहीं, ऐसा समझानेके लिये कहा इस बातकी प्रसंग पाकर समागम होनेपर चर्चा करो तो ठीक होगा ।

(२) दूसरा प्रश्न यह है कि ज्ञानमें कुछ ही न्यून चौदह पूर्वधारी तो अनंतनिगोदमें हैं, और जघन्य ज्ञानवाले अधिकसे अधिक पन्द्रह भवोंमें मोक्ष जाते हैं; इस बातका समाधान कैसे करते हो?

इसका उत्तर जो मेरे हृदयमें है, उसे ही कह देता हूँ, कि यह जघन्य ज्ञान दूसरा है, और प्रसंग दूसरा है । जघन्य ज्ञान अर्थात् सामान्यरूपसे भी मूलवस्तुका ज्ञान, अतिशय न्यून होनेपर मोक्षका बीजरूप है, इसीलिये ऐसा कहा है। तथा 'एकदेश कम' ऐसा चौदह पूर्वधारीका ज्ञान एक वस्तुके ज्ञानके सिवाय दूसरी सब वस्तुओंका जाननेवाला तो हो गया, परन्तु यह देह-मंदिरमें रहे शाश्वत पदार्थको नहीं जान सका; और यदि यह शाश्वत पदार्थको ही न जान सका तो फिर, लक्ष्यके बिना फेंका हुआ तीर लक्ष्यार्थकी सिद्धि नहीं करता, उसी तरह यह भी व्यर्थ गया । जिस वस्तुके प्राप्त करनेके लिये जिनभगवानने चौदह पूर्वके ज्ञानका उपदेश किया है, वही

वस्तु ही न मिली, तो फिर चौदह पूर्वका ज्ञान अज्ञानरूप ही हुआ—यहाँ 'एकदेश कम' चौदह पूर्वका ज्ञान समझना चाहिये। यहाँ 'एकदेश कम' कहनेसे अपनी साधारण बुद्धिमें तो यही समझमें आता है पढ़ते पढ़ते चौदह पूर्वके अन्ततक पहुँचनेमें जो कोई एकाध अध्ययन बाकी रह गया हो, तो उसके कारण भटक पड़े; परन्तु वस्तुतः इसका ऐसा मतलब नहीं है। इतने अधिक ज्ञानका अभ्यासी भी यदि केवल एक अल्पभागके कारण ही अभ्यासमें पराभव प्राप्त करे, यह बात मानने जैसी नहीं है; अर्थात् शास्त्रकी भाषा अथवा अर्थ कोई ऐसा कठिन नहीं है जो उन्हें स्मरणमें रखना कठिन पड़े, किन्तु वास्तविक कारण यही है कि उन्हें उस मूलवस्तुका ही ज्ञान नहीं हो सका, और यही सबसे बड़ी कमी है, और इसीने चौदह पूर्वके समस्त ज्ञानको निष्फल बना दिया। एक नयसे ऐसा विचार भी हो सकता है कि यदि तत्त्व ही प्राप्त न हुआ तो शास्त्र—लिखे हुए पत्र—का बोझा ढोना और पढ़ना इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं; क्योंकि दोनोंने ही बोझेको उठाया है। जिसने पत्रोंका बोझा ढोया उसने शरीरसे बोझा उठाया, और जो पढ़ गया उसने मनसे बोझा उठाया; परन्तु वास्तविक लक्ष्यार्थ बिना उनकी निरुपयोगिता ही सिद्ध होती है, ऐसा समझमें आता है। जिसके घर समस्त लवणसमुद्र है, वह तृषातुरकी तृषा मिटानेमें समर्थ नहीं; परन्तु जिसके घर मीठे पानीकी कुँइया भी है वह अपनी और दूसरे बहुतसोंकी तृषा मिटानेमें समर्थ है, और ज्ञानदृष्टिसे देखनेसे महत्त्व भी उसीका है।

तो भी अब दूसरे नयपर दृष्टि करनी पड़ती है; और वह यह कि यदि किसी तरह भी शास्त्राभ्यास होगा तो कुछ न कुछ पात्र होनेकी अभिलाषा होगी, और काल आनेपर पात्रता भी मिलेगी ही, और वह दूसरोंको भी पात्रता प्रदान करेगा; इसलिये यहाँ शास्त्राभ्यासके निषेध करनेका अभिप्राय नहीं, परन्तु मूलवस्तुसे दूर ले जानेवाले शास्त्राभ्यासका निषेध करें, तो हम एकांतवादी नहीं कहे जाँयगे।

इस तरह इन दो प्रश्नोंका संक्षेपमे उत्तर लिख रहा हूँ। लिखनेकी अपेक्षा वचनसे अधिक समझाया जा सकता है: तो भी आशा है कि इससे समाधान होगा, और वह पात्रताके कुछ न कुछ अंशोंकी वृद्धि करेगा और एकांत-दृष्टिको घटायेगा, ऐसी मान्यता है।

अहो! अनंत भवके पर्यटनमें किसी सत्पुरुषके प्रतापसे इस दशाको प्राप्त इस देहधारीको तुम चाहते हो और उससे धर्मकी इच्छा करते हो, परन्तु वह तो अभी किसी आश्चर्यकारक उपाधिमें पड़ा है! यदि वह निवृत्त होता तो बहुत उपयोगी होता। अच्छा, तुम्हे उसके लिये जो इतनी अधिक श्रद्धा रहती है, उसका क्या कुछ मूलकारण मालूम हुआ है? इसके ऊपर की हुई श्रद्धा, और इसका कहा हुआ धर्म अनुभव करनेपर अनर्थकारक तो नहीं लगता है न? अर्थात् अभी उसकी पूर्ण कसौटी करना, और ऐसे करनेमें वह प्रसन्न है: उसके साथ ही साथ तुम्हे योग्यताकी प्राप्ति होगी: और कदाचित् पूर्वापर भी शंकारहित श्रद्धा ही रही तो उसको तो वैसी ही रखनेमें कल्याण है. ऐसा स्पष्ट कहना योग्य मालूम होता था, इसलिये आज कह दिया है।

आजके पत्रकी भाषा बहुत ही ग्रामीण लिखी है. परन्तु उसका उद्देश केवल परमार्थ ही है। आगमके उल्लासकी वृद्धि करना—जरूर।

अनामजीका प्रणाम.

१२६ ववाणीआ, द्वितीय भाद्र. वदी १२ शुक्र. १९

व्यासभगवान् कहते हैं कि—

इच्छाद्वेषविहीनेन, सर्वत्र समचेतसा ।
भगवद्भक्तियुक्तेन, प्राप्ता भगवती गतिः ॥

इच्छा और द्वेषके बिना सब जगह समदृष्टिसे देखनेवाले पुरुषोंने भगवान्‌की भक्तिसे युक्त होकर भागवती गतिको अर्थात् निर्वाणको प्राप्त किया है—

आप देखें, इस वचनमें उन्होंने कितना अधिक परमार्थ भर दिया है ! प्रसंगवश इस वाक्यका स्मरण होनेसे इसे लिखा है ।

निरंतर साथ रहने देनेमें भगवान्‌का क्या नुकसान होता होगा !

आज्ञांकित—

---

१२७ ववाणीआ, द्वितीय भाद्र. वदी १२ शनि. १९

नीचेकी बातोंका अभ्यास करते ही रहना:—

१. किसी भी प्रकारसे उदय आई हुई और उदयमें आनेवाली कषायोंको शान्त करना ।

२. सब प्रकारकी अभिलाषाकी निवृत्ति करते रहना ।

३. इतने कालतक जो किया उस सबसे निवृत्त होओ, उसे करनेसे अब रुको ।

४. तुम परिपूर्ण सुखी हो, ऐसा मानो, और दूसरे प्राणियोंपर अनुकंपा करते रहो ।

५. किसी एक सत्पुरुषको ढूँढ लो, और उसके कैसे भी वचन हों उनमें श्रद्धा रक्खो ।

ये पाँचों प्रकारके अभ्यास अवश्य ही योग्यता प्रदान करते हैं । पाँचवेंमें फिर चारों समा हो जाते हैं, ऐसा अवश्य मानो ।

अधिक क्या कहूँ ? किसी भी समय इस पाँचवेंको प्राप्त किये बिना इस परिभ्रमणका अन्त नहीं आयगा ।

बाकीके चार इस पाँचवेंको प्राप्त करनेमें सहायक हैं ।

पाँचवें अभ्यासके सिवाय—उसकी प्राप्तिके सिवाय—मुझे दूसरा कोई निर्वाणका मार्ग नहीं सूझता, और सभी महात्माओंको भी ऐसा ही सूझा होगा (सूझा है) ।

अब तुम्हें जैसा योग्य मालूम हो वैसा करो । यह तुम सबकी इच्छा है, फिर भी अधिक इच्छा करो; जल्दी न करो । जितनी जल्दी उतनी ही कचाई, और जितनी कचाई उतनी ही खटाई, इस अपेक्षित कथनको ध्यानमें रखना ।

प्रारब्धमें जीवित रायचन्द्रका यथायोग्य.

१३२ ववाणीआ, आसोज सुदी १० गुरु. १९४६

(१)

बीजज्ञान खोज करे तो केवलज्ञान

भगवान् महावीरदेव.

यह कुछ कहे जाने योग्य स्वरूप नहीं।

ज्ञानी. रत्नाकर

१ ३

\+

२ ४

ये सब नियतियाँ किसने कहीं?

हमने ज्ञानसे देखकर जैसा योग्य मालूम हुआ वैसी व्याख्या की।

भगवान् महावीरदेव

१०, ९, ८, ७, ६, ५, ४, ३, २, १.

(२)

करीब पाँच दिन पहले पत्र मिला था (यह पत्र जिस पत्रमें लक्ष्मी आदिकी विचित्र दशाका वर्णन किया है)।

जब आत्मा ऐसे अनेक प्रकारके परित्यागी विचारोंको पलट पलटकर एकत्व बुद्धिको पाकर महात्माके संगकी आराधना करेगी, अथवा स्वयं किसी पूर्वके स्मरणको प्राप्त करेगी तो वह इष्ट सिद्धिको पायेगी, इसमें संशय नहीं है।

(३)

धर्मध्यान, विद्याभ्यास इत्यादिकी वृद्धि करना।

---

१३३ ववाणीआ, वि. सं. १९४६ आसोज

यह मैं तुझे मौतकी औषधि देता हूँ।

उपयोग करनेमें भूल नहीं करना।

तुझे कौन प्रिय है? मुझे पहिचाननेवाला।

ऐसा क्यों करते हो? अभी देर है।

क्या होनेवाला है यह?

हे कर्म! तुझे निश्चित आज्ञा करता हूँ कि नीति और नेकीके ऊपर मेरा पैर नहीं रखवाना।

---

१३४ वि. सं. १९४६ आसोज

तीन प्रकारका वीर्य कहा है:—

(१) महावीर्य (२) मध्यवीर्य (३) अल्पवीर्य

१२८ ववाणीआ, द्वितीय भाद्र. वदी १३, १९४६

तुम तथा और जो जो दूसरे भाई मुझसे कुछ आत्म-लाभकी इच्छा करते हो, वे सब आत्म-लाभको पाओ, यही मेरी अंतःकरणसे इच्छा है; तो भी उस लाभके प्रदान करनेकी यथायोग्य पात्रतामें मुझे अभी कुछ आवरण है; और उस लाभको लेनेकी इच्छा करनेवालोंकी योग्यताकी भी मुझे अनेक तरहसे न्यूनता मालूम हुआ करती है; इसलिये जबतक ये दोनों योग परिपक्व न हो जाँय, तबतक इस सिद्धिमें विलंब है, ऐसी मेरी मान्यता है। बार बार अनुकंपा आ जाती है, परन्तु निरुपायताके सामने क्या करूँ? अपनी किसी न्यूनताको पूर्णता कैसे कह दूँ?

इसके ऊपरसे मेरी ऐसी इच्छा रहा करती है कि हालमें अब तो जिस तरह तुम सब योग्यतामें आ सको उस तरहका कुछ निवेदन करता रहूँ, और जो कोई खुलासा पूँछो उसे बुद्धि-अनुसार स्पष्ट करता रहूँ, अन्यथा योग्यता प्राप्त करते रहो, इसी बातको बार बार सूचित करता रहूँ।

---

१२९ ववाणीआ, द्वि. भाद्रपद वदी १३ सोम. १९४६

चैतन्यका निरंतर अविच्छिन्न अनुभव प्रिय है; यही चाहिये भी, इसके सिवाय दूसरी कुछ भी इच्छा नहीं रहती; यदि रहती हो तो भी उसे रखनेकी इच्छा नहीं। बस एक 'तू ही तू' यही एक अस्खलित प्रवाह निरन्तर चाहिये। अधिक क्या कहा जाय? यह लिखनेसे लिखा नहीं जाता, और कहनेसे कहा नहीं जाता; यह केवल ज्ञानके गम्य है; अथवा यह श्रेणी श्रेणीसे समझमें आ सकता है। बाकी तो सब कुछ अव्यक्त ही है।

इसलिये जिस निस्पृह दशाका ही रटन है, उसके मिलनेपर—इस कल्पितको भूल जानेपर ही—छुटकारा है।

---

१३० ववाणीआ, आसोज सुदी ५ शनि. १९४६

ऊंच नीचनो अंतर नथी, समज्या ते पाम्या सद्गती

तीर्थंकरदेवने राग करनेका निषेध किया है, अर्थात् जबतक राग रहता है तबतक मोक्ष नही होती; तो फिर मुझ संबंधी राग तुम सबको हितकारक कैसे होगा?

लिखनेवाला अव्यक्तदशा.

---

१३१ ववाणीआ, आसोज सुदी ६ रवि. १९४६

आज्ञामें ही तन्मय हुए बिना परमार्थके मार्गकी प्राप्ति बहुत ही दुर्लभ है; इसके लिये तुम क्या उपाय करोगे, अथवा तुमने क्या उपाय सोचा है?

अधिक क्या? इस समय इतना ही बहुत है।

रहा करता था। इतनेमें पद मिला; और मूलपदका अतिशय स्मरण हुआ; एकतान हो गया। एकाकारवृत्तिका वर्णन शब्दसे कैसे किया जा सकता है? यह दशा दिनके बारह बजेतक रही। अपूर्व आनन्द तो अब भी वैसाका वैसा ही है, परन्तु उसके बादका काल दूसरी बातें (ज्ञानकी) करनेमें चला गया।

"केवलज्ञान हवे पामशुं, पामशुं, पामशुं रे के०" ऐसा एक पद बनाया।

हृदय बहुत आनन्दमें है।

(२)

जीवके अस्तित्वका तो किसी भी कालमें संशय न हो।

जीवके नित्यपनेका–त्रिकालमें होनेका–किसी भी समय संशय न हो।

जीवके चैतन्यपनेका–त्रिकाल अस्तित्वका–किसी भी समय संशय न हो।

उसको किसी भी प्रकारसे बंधदशा रहती है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

उस बंधकी निवृत्ति किसी भी प्रकारसे निस्सन्देह योग्य है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

मोक्षपद है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

---

१३७ ववाणीआ, आसोज सुदी १२ शनि. १९४६

संसारमें रहना और मोक्ष होनी कहना, यह बनना कठिन है।

उदासीनता अध्यात्मकी जननी है।

---

१३८ मोरबी, आसोज १९४६

दूसरे बहुत प्रकारके साधन जुटाये, और स्वयं अपने आप बहुतसी कल्पनायें कीं, परन्तु असद्गुरुके कारण उलटा संताप ही बढ़ता गया॥ १॥

जिस समय पूर्वपुण्यके उदयसे सद्गुरुका योग मिला, उस समय वचनरूपी अमृतके कानोंमें पड़नेसे हृदयमेंसे सब प्रकारका शोक दूर हो गया॥ २॥

इससे मुझे निश्चय हो गया कि यहींपर संताप नष्ट होगा। बस फिर मैं एक लक्षसे नित्य उस सद्गुरुका सत्संग करने लगा॥ ३॥

१३८

बीजा साधन बहु कर्यां, करी कल्पना आप। अथवा असद्गुरु थकी, उल्टो वध्यो उताप॥ १॥
पूर्व पुण्यना उदयथी, मळ्यो सद्गुरु योग। वचन-सुधा श्रवणे जतां, थयु हृदय गतशोग॥ २॥
निश्चय एथी आवियो, टळशे अहीं उताप। नित्य कर्यो सत्संग में, एक लक्षथी आप॥ ३॥

तीन प्रकारका महावीर्य कहा है:—

(१) सात्विक (२) राजसिक (३) तामसिक

तीन प्रकारका सात्विक शुद्ध महावीर्य कहा है:—

(१) सात्विक शुद्ध (२) सात्विक धर्म (३) सात्विक मिश्र

तीन प्रकारका सात्विक शुद्ध महावीर्य कहा है:—

(१) शुद्धज्ञान (२) शुद्धदर्शन (३) शुद्धचारित्र (शील)

सात्विक धर्म दो प्रकारका कहा है:—

(१) प्रशस्त (२) प्रसिद्ध प्रशस्त

इसे भी दो प्रकारका कहा है:—

(१) पलंतसे (२) अपलंतसे ।

सामान्य केवली

तीर्थंकर

यह अर्थ समर्थ है ।

---

१३५ ववाणीआ, आसोज सुदी ११ शुक्र. १९४६

(१)

यह बँधा हुआ ही मोक्ष पाता है, ऐसा क्यों नहीं कह देते?

ऐसी किसकी इच्छा है कि वैसा होने देता है?

जिनभगवान्‌के वचनकी रचना अद्भुत है; इसकी तो नाहीं कर ही नहीं सकते।

परन्तु पाये हुए पदार्थका स्वरूप उसके शास्त्रोंमें क्यों नहीं?

क्या उसको आश्चर्य नहीं मालूम हुआ होगा, क्यों छिपाया होगा?

(२)

एक बार वह अपने भुवनमें बैठा था......प्रकाश था, किन्तु झाँखा था।

मंत्रीने आकर उससे कहा, आप किस विचारका कष्ट उठा रहे हैं? यदि वह योग्य हो तो उसे इस दीनसे कहकर उपकृत करें।

---

१३६ ववाणीआ, आसोज सुदी ११ शुक्र. १९४६

(१)

पद मिला। सर्वार्थसिद्धकी ही बात है।

जैनसिद्धांतमें ऐसा कहा गया है कि सर्वार्थसिद्ध महाविमानकी ध्वजासे बारह योजन दूरपर मुक्ति-शिला है। कबीर भी ध्वजाके नामसे आनंद आनंदमें आ गये हैं।

वह पद बाँचकर परमानन्द हुआ। प्रभातमें जल्दी उठा, उसी समयसे कोई अपूर्व ही आनन्द

रहा करता था। इतनेमें पद मिला; और मूलपदका अतिशय स्मरण हुआ; एकतान हो गया। एकाकारवृत्तिका वर्णन शब्दसे कैसे किया जा सकता है? यह दशा दिनके बारह बजेतक रही। अपूर्व आनन्द तो अब भी वैसाका वैसा ही है, परन्तु उसके बादका काल दूसरी बातें (ज्ञानकी) करनेमें चला गया।

" केवलज्ञान हवे पामशुं, पामशुं, पामशुं रे के० " ऐसा एक पद बनाया।

हृदय बहुत आनन्दमें है।

(२)

जीवके अस्तित्वका तो किसी भी कालमें संशय न हो।

जीवके नित्यपनेका–त्रिकालमें होनेका–किसी भी समय संशय न हो।

जीवके चैतन्यपनेका–त्रिकाल अस्तित्वका–किसी भी समय संशय न हो।

उसको किसी भी प्रकारसे बंधदशा रहती है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

उस बंधकी निवृत्ति किसी भी प्रकारसे निस्सन्देह योग्य है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

मोक्षपद है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

---

१३७ ववाणीआ, आसोज सुदी १२ शनि. १९४६

संसारमें रहना और मोक्ष होनी कहना, यह बनना कठिन है।

उदासीनता अध्यात्मकी जननी है।

---

१३८ मोरबी, आसोज १९४६

दूसरे बहुत प्रकारके साधन जुटाये, और स्वयं अपने आप बहुतसी कल्पनायें कीं, परन्तु असद्गुरुके कारण उल्टा संताप ही बढ़ता गया ॥ १ ॥

जिस समय पूर्वपुण्यके उदयसे सद्गुरुका योग मिला, उस समय वचनरूपी अमृतके कानोंमें पड़नेसे हृदयमेंसे सब प्रकारका शोक दूर हो गया ॥ २ ॥

इससे मुझे निश्चय हो गया कि यहींपर संताप नष्ट होगा। बस फिर मैं एक लक्षसे नित्य ही उस सद्गुरुका सत्संग करने लगा ॥ ३ ॥

१३८

बीजा साधन बहु कर्यां, करी कल्पना आप। अथवा असद्गुरु थकी, उलटो वध्यो उताप ॥ १ ॥
पूर्व पुण्यना उदयथी, मळ्यो सद्गुरु योग। वचन-सुधा श्रवणे जतां, थयु हृदय गतशोग ॥ २ ॥
निश्चय एथी आवियो, टळशे अहीं उताप। नित्य कर्यो सत्संग मैं, एक लक्षथी आप ॥ ३ ॥

१३९

मोरबी, ३

जहाँ उपयोग है वहाँ धर्म है।

महावीरदेवको नमस्कार.

१. अन्तिम निर्णय होना चाहिए।
२. सब प्रकारका निर्णय तत्त्वज्ञानमें है।
३. आहार, विहार और निहारकी नियमितता।
४. अर्थकी सिद्धि।

आर्यजीवन

उत्तम पुरुषोंने आचरण किया है।

१४०

बम्बई, वि.

नित्यस्मृति

१. जिस महाकार्यके लिये तू पैदा हुआ है उस महाकार्यका बारंबार चिन्तवन क

२. ध्यान धर ले; समाधिस्थ हो जा।

३. व्यवहार-कार्यको विचार जा। उसमें जिस कार्यका प्रमाद हुआ है, अ
प्रमाद न हो, ऐसा कर। जिस कार्यमें साहस हुआ हो, अब उसमें वैसा न हो ऐसा उप

४. तुम दृढ़ योगी हो, वैसे ही रहो।

५. कोई भी छोटीसे छोटी भूल तेरी स्मृतिमेंसे नहीं जाती, यह महाकल्याणकी

६. किसीसे भी खिन्न न होना।

७. महागंभीर बन।

८. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका विचार जा।

९. यथार्थ कर।

१०. कार्य-सिद्धि करता हुआ चला जा।

१४१

बम्बई, वि.

सहजप्रकृति

१. परहितको ही निजहित समझना, और परदुःखको ही अपना दुःख समझना

२. सुख-दुःख ये दोनों ही मनकी कल्पनायें हैं।

३. क्षमा ही मोक्षका भव्य दरवाजा है।

४. सबके साथ [illegible] है।

रहा करता था। इतनेमें पद मिला; और मूलपदका अतिशय स्मरण हुआ; एकतान हो गया। एकाकारवृत्तिका वर्णन शब्दसे कैसे किया जा सकता है ? यह दशा दिनके बारह बजेतक रही। अपूर्व आनन्द तो अब भी वैसाका वैसा ही है, परन्तु उसके बादका काल दूसरी बातें (ज्ञानकी) करनेमें चला गया।

"केवलज्ञान हवे पामशुं, पामशुं, पामशुं रे के०" ऐसा एक पद बनाया।

हृदय बहुत आनन्दमें है।

(२)

जीवके अस्तित्वका तो किसी भी कालमें संशय न हो।

जीवके नित्यपनेका—त्रिकालमें होनेका—किसी भी समय संशय न हो।

जीवके चैतन्यपनेका—त्रिकाल अस्तित्वका—किसी भी समय संशय न हो।

उसको किसी भी प्रकारसे बंधदशा रहती है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

उस बंधकी निवृत्ति किसी भी प्रकारसे निस्सन्देह योग्य है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

मोक्षपद है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

---

१३७ ववाणीआ, आसोज सुदी १२ शनि. १९४६

संसारमें रहना और मोक्ष होनी कहना, यह बनना कठिन है।

उदासीनता अध्यात्मकी जननी है।

---

१३८ मोरबी, आसोज १९४६

दूसरे बहुत प्रकारके साधन जुटाये, और स्वयं अपने आप बहुतसी कल्पनायें कीं, परन्तु असद्गुरुके कारण उल्टा संताप ही बढ़ता गया ॥ १ ॥

जिस समय पूर्वपुण्यके उदयसे सद्गुरुका योग मिला, उस समय वचनरूपी अमृतके कानोंमें पड़नेसे हृदयमेंसे सब प्रकारका शोक दूर हो गया ॥ २ ॥

इससे मुझे निश्चय हो गया कि यहींपर संताप नष्ट होगा। बस फिर मैं एक लक्ष्यसे नित्य ही उस सद्गुरुका सत्संग करने लगा ॥ ३ ॥

१३८

बीजा साधन बहु कर्यां, करी कल्पना आप। अथवा असद्गुरु थकी, उलटो वध्यो उताप ॥ १ ॥
पूर्व पुण्यना उदयथी, मळ्यो सद्गुरु योग। वचन-सुधा श्रवणे जतां, थयुं हृदय गतशोग ॥ २ ॥
निश्चय एथी आवियो, टळशे अहीं उताप। नित्य कर्यो सत्संग में, एक लक्षथी आप ॥ ३ ॥

१३९

मोरबी, आसोज १९४६

जहाँ उपयोग है वहाँ धर्म है ।

महावीरदेवको नमस्कार.

१. अन्तिम निर्णय होना चाहिए ।
२. सब प्रकारका निर्णय तत्त्वज्ञानमें है ।
३. आहार, विहार और निहारकी नियमितता ।
४. अर्थकी सिद्धि ।

आर्यजीवन

उत्तम पुरुषोंने आचरण किया है ।

१४०

बम्बई, वि. सं. १९४६

नित्यस्मृति

१. जिस महाकार्यके लिये तू पैदा हुआ है उस महाकार्यका बारंबार चिन्तवन कर ।
२. ध्यान धर ले; समाधिस्थ हो जा ।
३. व्यवहार-कार्यको विचार जा । उसमें जिस कार्यका प्रमाद हुआ है, अब उसके लिये प्रमाद न हो, ऐसा कर । जिस कार्यमें साहस हुआ हो, अब उसमें वैसा न हो ऐसा उपदेश ले ।
४. तुम दृढ़ योगी हो, वैसे ही रहो ।
५. कोई भी छोटीसे छोटी भूल तेरी स्मृतिमेंसे नहीं जाती, यह महाकल्याणकी बात है ।
६. किसीमें भी लिप्त न होना ।
७. महागंभीर बन ।
८. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको विचार जा ।
९. यथार्थ कर ।
१०. कार्य-सिद्धि करता हुआ चला जा ।

१४१

बम्बई, वि. सं. १९४६

सहजप्रकृति

१. पर-हितको ही निज-हित समझना, और परदुःखको ही अपना दुःख समझना ।
२. सुख-दुःख ये दोनों ही मनकी मात्र कल्पनायें हैं ।
३. क्षमा ही मोक्षका भव्यद्वार है ।
४. सबके साथ नम्रभावसे रहना ही सच्चा भूषण है ।
५. शांत स्वभाव ही सज्जनताका यथार्थ मूल है ।

रहा करता था। इतनेमें पद मिला; और मूलपदका अतिशय स्मरण हुआ; एकतान हो गया। एकाकारवृत्तिका वर्णन शब्दसे कैसे किया जा सकता है? यह दशा दिनके बारह बजेतक रही। अपूर्व आनन्द तो अब भी वैसाका वैसा ही है, परन्तु उसके बादका काल दूसरी बातें (ज्ञानकी) करनेमें चला गया।

" केवलज्ञान हवे पामशुं, पामशुं, पामशुं रे के० " ऐसा एक पद बनाया।

हृदय बहुत आनन्दमें है।

(२)

जीवके अस्तित्वका तो किसी भी कालमें संशय न हो।

जीवके नित्यपनेका–त्रिकालमें होनेका–किसी भी समय संशय न हो।

जीवके चैतन्यपनेका–त्रिकाल अस्तित्वका–किसी भी समय संशय न हो।

उसको किसी भी प्रकारसे बंधदशा रहती है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

उस बंधकी निवृत्ति किसी भी प्रकारसे निस्सन्देह योग्य है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

मोक्षपद है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

---

१३७ ववाणीआ, आसोज सुदी १२ शनि. १९४६

संसारमें रहना और मोक्ष होनी कहना, यह बनना कठिन है।

उदासीनता अध्यात्मकी जननी है।

---

१३८ मोरबी, आसोज १९४६

दूसरे बहुत प्रकारके साधन जुटाये, और स्वयं अपने आप बहुतसी कल्पनायें कीं, परन्तु असद्गुरुके कारण उल्टा संताप ही बढ़ता गया ॥ १ ॥

जिस समय पूर्वपुण्यके उदयसे सद्गुरुका योग मिला, उस समय वचनरूपी अमृतके कानोंमें पड़नेसे हृदयमेंसे सब प्रकारका शोक दूर हो गया ॥ २ ॥

इससे मुझे निश्चय हो गया कि यहींपर संताप नष्ट होगा। बस फिर मैं एक लक्ष्यसे नित्य उस सद्गुरुका सत्संग करने लगा ॥ ३ ॥

१३८

बीजा साधन बहु कर्यां, करी कल्पना आप। अथवा असद्गुरु थकी, उलटो वध्यो उताप ॥ १ ॥
पूर्व पुण्यना उदयथी, मळ्यो सद्गुरु योग। वचन-सुधा श्रवणे जतां, थयुं हृदय गतशोग ॥ २ ॥
निश्चय एथी आवियो, टळशे अहीं उताप। नित्य कर्यो सत्संग मैं, एक लक्षथी आप ॥ ३ ॥

१३९

मोरबी, आसोज १९४६

जहाँ उपयोग है वहाँ धर्म है।

महावीरदेवको नमस्कार.

१. अन्तिम निर्णय होना चाहिए।

२. सर्व प्रकारका निर्णय तत्त्वज्ञानमें है।

३. आहार, विहार और निहारकी नियमितता।

४. अर्थकी सिद्धि।

आर्यजीवन

उत्तम पुरुषोंने आचरण किया है।

१४०

बम्बई, वि. सं. १९४६

नित्यस्मृति

१. जिस महाकार्यके लिये तू पैदा हुआ है उस महाकार्यका बारंबार चिन्तवन कर।

२. ध्यान धर ले; समाधिस्थ हो जा।

३. व्यवहार-कार्यको विचार जा। उसमें जिस कार्यका प्रमाद हुआ है, अब उसके लिये प्रमाद न हो, ऐसा कर। जिस कार्यमें साहस हुआ हो, अब उसमें वैसा न हो ऐसा उपदेश ले।

४. तुम दृढ़ योगी हो, वैसे ही रहो।

५. कोई भी छोटीसे छोटी भूल तेरी स्मृतिमेंसे नहीं जाती, यह महाकल्याणकी बात है।

६. किसीमें भी लिप्त न होना।

७. महागंभीर बन।

८. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको विचार जा।

९. यथार्थ कर।

१०. कार्य-सिद्धि करता हुआ चला जा।

१४१

बम्बई, वि. सं. १९४६

सहजप्रकृति

१. पर-हितको ही निज-हित समझना, और परदुःखको ही अपना दुःख समझना।

२. सुख-दुःख ये दोनों ही मनकी मात्र कल्पनायें हैं।

३. क्षमा ही मोक्षका भव्यद्वार है।

४. सबके साथ नम्रभावसे रहना ही सच्चा भूषण है।

५. शांत स्वभाव ही सज्जनताका यथार्थ मूल है।

रहा करता था। इतनेमें पद मिला; और मूलपदका अतिशय स्मरण हुआ; एकतान हो गया। एकाकारवृत्तिका वर्णन शब्दसे कैसे किया जा सकता है ? यह दशा दिनके बारह बजेतक रही। अपूर्व आनन्द तो अब भी वैसाका वैसा ही है, परन्तु उसके बादका काल दूसरी बातें (ज्ञानकी) करनेमें चला गया।

" केवलज्ञान हवे पामशुं, पामशुं, पामशुं रे के० " ऐसा एक पद बनाया।

हृदय बहुत आनन्दमें है।

(२)

जीवके अस्तित्वका तो किसी भी कालमें संशय न हो।

जीवके नित्यपनेका–त्रिकालमें होनेका–किसी भी समय संशय न हो।

जीवके चैतन्यपनेका–त्रिकाल अस्तित्वका–किसी भी समय संशय न हो।

उसको किसी भी प्रकारसे बंधदशा रहती है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

उस बंधकी निवृत्ति किसी भी प्रकारसे निस्सन्देह योग्य है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

मोक्षपद है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

---

१३७ ववाणीआ, आसोज सुदी १२ शनि. १९४६

संसारमें रहना और मोक्ष होनी कहना, यह बनना कठिन है।

उदासीनता अध्यात्मकी जननी है।

---

१३८ मोरबी, आसोज १९४६

दूसरे बहुत प्रकारके साधन जुटाये, और स्वयं अपने आप बहुतसी कल्पनायें कीं, परन्तु असद्गुरुके कारण उल्टा संताप ही बढ़ता गया ॥ १ ॥

जिस समय पूर्वपुण्यके उदयसे सद्गुरुका योग मिला, उस समय वचनरूपी अमृतके कानोंमें पड़नेसे हृदयमेंसे सब प्रकारका शोक दूर हो गया ॥ २ ॥

इससे मुझे निश्चय हो गया कि यहींपर संताप नष्ट होगा। बस फिर मैं एक लक्षसे नित्य उस सद्गुरुका सत्संग करने लगा ॥ ३ ॥

१३८

बीजा साधन बहु कर्यां, करी कल्पना आप। अथवा असद्गुरु थकी, उलटो वध्यो उताप ॥ १ ॥
पूर्व पुण्यना उदयथी, मळ्यो सद्गुरु योग। वचन-सुधा श्रवणे जतां, थयुं हृदय गतशोग ॥ २ ॥
निश्चय एथी आवियो, टळशे अहीं उताप। नित्य कर्यो सत्संग में, एक लक्षथी आप ॥ ३ ॥

१३९

मोरबी, आसोज १९४६

जहाँ उपयोग है वहाँ धर्म है ।

महावीरदेवको नमस्कार.

१. अन्तिम निर्णय होना चाहिए ।

२. सब प्रकारका निर्णय तत्वज्ञानमें है ।

३. आहार, विहार और निहारकी नियमितता ।

४. अर्थकी सिद्धि ।

आर्यजीवन

उत्तम पुरुषोंने आचरण किया है ।

१४०

बम्बई, वि. सं. १९४६

नित्यस्मृति

१. जिस महाकार्यके लिये तू पैदा हुआ है उस महाकार्यका वारंवार चिन्तवन कर ।

२. ध्यान धर ले; समाधिस्थ हो जा ।

३. व्यवहार-कार्यको विचार जा । उसमें जिस कार्यका प्रमाद हुआ है, अब उसके लिये प्रमाद न हो, ऐसा कर । जिस कार्यमें साहस हुआ हो, अब उसमें वैसा न हो ऐसा उपदेश ले ।

४. तुम दृढ़ योगी हो, वैसे ही रहो ।

५. कोई भी छोटीसे छोटी भूल तेरी स्मृतिमेंसे नहीं जाती, यह महाकल्याणकी बात है ।

६. किसीमें भी लिप्त न होना ।

७. महागंभीर बन ।

८. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको विचार जा ।

९. यथार्थ कर ।

१०. कार्य-सिद्धि करता हुआ चला जा ।

१४१

बम्बई, वि. सं. १९४६

सहजप्रकृति

१. पर-हितको ही निज-हित समझना, और परदुःखको ही अपना दुःख समझना ।

२. सुख-दुःख ये दोनों ही मनकी मात्र कल्पनायें हैं ।

३. क्षमा ही मोक्षका भव्यद्वार है ।

४. सबके साथ नम्रभावसे रहना ही सच्चा भूषण है ।

५. शांत स्वभाव ही सज्जनताका यथार्थ मूल है ।

रहा करता था। इतनेमें पद मिला; और मूलपदका अतिशय स्मरण हुआ; एकतान हो गया। एकाकारवृत्तिका वर्णन शब्दसे कैसे किया जा सकता है ? यह दशा दिनके बारह बजेतक रही। भर्यु आनन्द तो अब भी वैसाका वैसा ही है, परन्तु उसके बादका काल दूसरी बातें (ज्ञानकी) करनेमें चला गया।

" केवलज्ञान हवे पामशुं, पामशुं, पामशुं रे के० " ऐसा एक पद बनाया।

हृदय बहुत आनन्दमें है।

(२)

जीवके अस्तित्वका तो किसी भी कालमें संशय न हो।

जीवके नित्यपनेका–त्रिकालमें होनेका–किसी भी समय संशय न हो।

जीवके चैतन्यपनेका–त्रिकाल अस्तित्वका–किसी भी समय संशय न हो।

उसको किसी भी प्रकारसे बंधदशा रहती है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

उस बंधकी निवृत्ति किसी भी प्रकारसे निस्सन्देह योग्य है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

मोक्षपद है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

१३७

ववाणीआ, आसोज सुदी १२ शनि. १९४६

संसारमें रहना और मोक्ष होनी कहना, यह बनना कठिन है।

उदासीनता अध्यात्मकी जननी है।

१३८

मोरबी, आसोज १९४६

दूसरे बहुत प्रकारके साधन जुटाये, और स्वयं अपने आप बहुतसी कल्पनायें कीं, परन्तु अन्य गुरुके कारण उल्टा संताप ही बढ़ता गया ॥ १ ॥

जिस समय पूर्वपुण्यके उदयसे सद्गुरुका योग मिला, उस समय वचनरूपी अमृतके कानोंमें पड़नेसे हृदयमेंसे सब प्रकारका शोक दूर हो गया ॥ २ ॥

इससे मुझे निश्चय हो गया कि यहींपर संताप नष्ट होगा। बस फिर मैं एक लक्ष्यसे नित्य ही उस सद्गुरुका सत्संग करने लगा ॥ ३ ॥

१३८

बीजा साधन बहु कर्यां, करी कल्पना आप। अथवा असद्गुरु थकी, उलटो वध्यो उताप ॥ १ ॥
पूर्व पुण्यना उदयथी, मळ्यो सद्गुरु योग। वचन-सुधा श्रवणे जतां, थयुं हृदय गतशोग ॥ २ ॥
निश्चय एथी आवियो, टळशे अहीं उताप। नित्य कर्यो सत्संग में, एक लक्षथी आप ॥ ३ ॥

१३९

मोरबी, आसोज १९४६

जहाँ उपयोग है वहाँ धर्म है।

महावीरदेवको नमस्कार.

१. अन्तिम निर्णय होना चाहिए।

२. सब प्रकारका निर्णय तत्त्वज्ञानमें है।

३. आहार, विहार और निहारकी नियमितता।

४. अर्थकी सिद्धि।

आर्यजीवन

उत्तम पुरुषोंने आचरण किया है।

१४०

बम्बई, वि. सं. १९४६

नित्यस्मृति

१. जिस महाकार्यके लिये तू पैदा हुआ है उस महाकार्यका बारंबार चिन्तवन कर।

२. ध्यान धर ले; समाधिस्थ हो जा।

३. व्यवहार-कार्यको विचार जा। उसमें जिस कार्यका प्रमाद हुआ है, अब उसके लिये प्रमाद न हो, ऐसा कर। जिस कार्यमें साहस हुआ हो, अब उसमें वैसा न हो ऐसा उपदेश ले।

४. तुम दृढ़ योगी हो, वैसे ही रहो।

५. कोई भी छोटीसे छोटी भूल तेरी स्मृतिमेंसे नहीं जाती, यह महाकल्याणकी बात है।

६. किसीमें भी लिप्त न होना।

७. महागंभीर बन।

८. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको विचार जा।

९. यथार्थ कर।

१०. कार्य-सिद्धि करता हुआ चला जा।

१४१

बम्बई, वि. सं. १९४६

सहजप्रकृति

१. पर-हितको ही निज-हित समझना, और परदुःखको ही अपना दुःख समझना।

२. सुख-दुःख ये दोनों ही मनकी मात्र कल्पनायें हैं।

३. क्षमा ही मोक्षका भव्यद्वार है।

४. सबके साथ नम्रभावसे रहना ही सच्चा भूषण है।

५. शांत स्वभाव ही सज्जनताका यथार्थ मूल है।

रहा करता था। इतनेमें पद मिला; और मूलपदका अतिशय स्मरण हुआ; एकतान हो गया। एकाकारवृत्तिका वर्णन शब्दमें कैसे किया जा सकता है? यह दशा दिनके बारह बजेतक रही। अपूर्व आनन्द तो अब भी वैसाका वैसा ही है, परन्तु उसके बादका काल दूसरी बातें (ज्ञानकी) करनेमें चला गया।

“केवलज्ञान हवे पामशुं, पामशुं, पामशुं रे के०” ऐसा एक पद बनाया।

हाल बहुत आनन्दमें है।

(२)

जीवके अस्तित्वका तो किसी भी कालमें संशय न हो।

जीवके नित्यपनेका—त्रिकालमें होनेका—किसी भी समय संशय न हो।

जीवके चैतन्यपनेका—त्रिकाल अस्तित्वका—किसी भी समय संशय न हो।

उसको किसी भी प्रकारसे बंधदशा रहती है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

उस बंधकी निवृत्ति किसी भी प्रकारसे निस्सन्देह योग्य है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

मोक्षपद है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

१३७ ववाणीआ, आसोज सुदी १२ शनि. १९

संसारमें रहना और मोक्ष होनी कहना, यह बनना कठिन है।

उदासीनता अध्यात्मकी जननी है।

१३८ मोरबी, आसोज १९

दूसरे बहुत प्रकारके साधन जुटाये, और स्वयं अपने आप बहुतसी कल्पनायें कीं, परन्तु असद्गुरुके कारण उल्टा संताप ही बढ़ता गया ॥ १ ॥

जिस समय पूर्वपुण्यके उदयसे सद्गुरुका योग मिला, उस समय वचनरूपी अमृतके कानमें पड़ते ही हृदयमेंसे सब प्रकारका शोक दूर हो गया ॥ २ ॥

इससे मुझे निश्चय हो गया कि यहींपर संताप नष्ट होगा। बस फिर मैं एक लक्ष्यसे इस सत्संगका सेवन करने लगा ॥ ३ ॥

१३८

बीजा साधन बहु कर्यां, करी कल्पना आप। अथवा असद्गुरु थकी, [illegible] ॥
पूर्व पुण्यना उदयथी, मळ्यो सद्गुरु योग। वचन-सुधा श्रवणे जतां, थयुं हृदय [illegible] ॥
निश्चय एथी आवियो, टळशे अहीं उताप। नित्य कर्यो सत्संग मैं, एक लक्षथी आप ॥

१३९

मोरबी, आसोज १९४६

जहाँ उपयोग है वहाँ धर्म है।

महावीरदेवको नमस्कार.

१. अन्तिम निर्णय होना चाहिए।

२. सब प्रकारका निर्णय तत्त्वज्ञानमें है।

३. आहार, विहार और निहारकी नियमितता।

४. अर्थकी सिद्धि।

आर्यजीवन

उत्तम पुरुषोंने आचरण किया है।

१४०

बम्बई, वि. सं. १९४६

नित्यस्मृति

१. जिस महाकार्यके लिये तू पैदा हुआ है उस महाकार्यका बारंबार चिन्तवन कर।

२. ध्यान धर ले; समाधिस्थ हो जा।

३. व्यवहार-कार्यको विचार जा। उसमें जिस कार्यका प्रमाद हुआ है, अब उसके लिये प्रमाद न हो, ऐसा कर। जिस कार्यमें साहस हुआ हो, अब उसमें वैसा न हो ऐसा उपदेश ले।

४. तुम दृढ़ योगी हो, वैसे ही रहो।

५. कोई भी छोटीसे छोटी भूल तेरी स्मृतिमेंसे नहीं जाती, यह महाकल्याणकी बात है।

६. किसीमें भी लिप्त न होना।

७. महागंभीर बन।

८. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको विचार जा।

९. यथार्थ कर।

१०. कार्य-सिद्धि करता हुआ चला जा।

१४१

बम्बई, वि. सं. १९४६

सहजप्रकृति

१. पर-हितको ही निज-हित समझना, और परदुःखको ही अपना दुःख समझना।

२. सुख-दुःख ये दोनों ही मनकी मात्र कल्पनायें हैं।

३. क्षमा ही मोक्षका भव्य द्वार है।

४. सबके साथ नम्रभावसे रहना ही सच्चा भूषण है।

५. शांत स्वभाव ही सज्जनताका यथार्थ मूल है।

रहा करता था। इतनेमें पद मिला; और मूलपदका अतिशय स्मरण हुआ; एकतान हो गया। एकाकारवृत्तिका वर्णन शब्दसे कैसे किया जा सकता है? यह दशा दिनके बारह बजेतक रही। आनन्द तो अब भी वैसाका वैसा ही है, परन्तु उसके बादका काल दूसरी बातें (ज्ञानकी) करनेमें गया।

"केवलज्ञान हवे पामशुं, पामशुं, पामशुं रे के०" ऐसा एक पद बनाया।

हृदय बहुत आनन्दमें है।

(२)

आत्माके अस्तित्वका तो किसी भी कालमें संशय न हो।

आत्माके नित्यत्वका—त्रिकालमें होनेका—किसी भी समय संशय न हो।

आत्माके चैतन्यत्वका—त्रिकाल अस्तित्वका—किसी भी समय संशय न हो।

उसको किसी भी प्रकारसे बंधदशा रहती है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

उस बंधकी निवृत्ति किसी भी प्रकारसे निस्सन्देह योग्य है, इस बातका किसी समय संशय न हो।

मोक्षपद है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

१३७ ववाणीआ, आसोज सुदी १२ शनि. १९

संसारमें रहना और मोक्ष होनी कहना, यह बनना कठिन है।

उदासीनता अध्यात्मकी जननी है।

१३८ मोरबी, आसोज १९

मैंने बहुत प्रकारके साधन जुटाये, और स्वयं अपने आप बहुतसी कल्पनायें कीं, परन्तु गुरुसे उलटा संताप ही बढ़ता गया ॥ १ ॥

जिस समय पूर्वपुण्यके उदयसे सद्गुरुका योग मिला, उस समय वचनरूपी अमृतके कानोंमें पड़ते ही मेरे हृदयमेंसे सब प्रकारका शोक दूर हो गया ॥ २ ॥

इससे मुझे निश्चय हो गया कि यहींपर संताप नष्ट होगा। बस फिर मैं एक लक्ष्यसे इस सद्गुरुका सत्संग करने लगा ॥ ३ ॥

१३८

में साधन बहु कर्यां, करी कल्पना आप। अथवा असद्गुरु थकी, ऊलटो वध्यो उताप ॥ १ ॥
पूर्व पुण्यना उदयथी, मळ्यो सद्गुरु योग। वचन सुधा श्रवणे जतां, थयुं हृदय गतशोक ॥ २ ॥
निश्चय एथी आवियो, टळशे अहीं उताप। नित्य कर्यो सत्संग में, एक लक्षथी आप ॥ ३ ॥

१३९

मोरबी, आसोज १९४६

जहाँ उपयोग है वहाँ धर्म है।

महावीरदेवको नमस्कार.

१. अन्तिम निर्णय होना चाहिए।

२. सब प्रकारका निर्णय तत्त्वज्ञानमें है।

३. आहार, विहार और निहारकी नियमितता।

४. अर्थकी सिद्धि।

आर्यजीवन

उत्तम पुरुषोंने आचरण किया है।

१४०

बम्बई, वि. सं. १९४६

नित्यस्मृति

१. जिस महाकार्यके लिये तू पैदा हुआ है उस महाकार्यका बारंबार चिन्तवन कर।

२. ध्यान धर ले; समाधिस्थ हो जा।

३. व्यवहार-कार्यको विचार जा। उसमें जिस कार्यका प्रमाद हुआ है, अब उसके लिये प्रमाद न हो, ऐसा कर। जिस कार्यमें साहस हुआ हो, अब उसमें वैसा न हो ऐसा उपदेश ले।

४. तुम दृढ़ योगी हो, वैसे ही रहो।

५. कोई भी छोटीसे छोटी भूल तेरी स्मृतिमेंसे नहीं जाती, यह महाकल्याणकी बात है।

६. किसीमें भी लिप्त न होना।

७. महागंभीर बन।

८. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको विचार जा।

९. यथार्थ कर।

१०. कार्य-सिद्धि करता हुआ चला जा।

१४१

बम्बई, वि. सं. १९४६

सहजप्रकृति

१. पर-हितको ही निज-हित समझना, और परदुःखको ही अपना दुःख समझना।

२. सुख-दुःख ये दोनों ही मनकी मात्र कल्पनायें हैं।

३. क्षमा ही मोक्षका भव्यद्वार है।

४. सबके साथ नम्रभावसे रहना ही सच्चा भूषण है।

५. शांत स्वभाव ही सज्जनताका यथार्थ मूल है।

रण करता था। इतनेमें पद मिला; और मूलपदका अतिशय स्मरण हुआ; एकतान हो गया। एकाकारवृत्तिका वर्णन शब्दसे कैसे किया जा सकता है? यह दशा दिनके बारह बजेतक रही। अपूर्व आनन्द तो अब भी वैसाका वैसा ही है, परन्तु उसके बादका काल दूसरी बातें (ज्ञानकी) करनेमें चला गया।

"केवलज्ञान हवे पामशुं, पामशुं, पामशुं रे के०" ऐसा एक पद बनाया।

हृदय बहुत आनन्दमें है।

(२)

जीवके अस्तित्वका तो किसी भी कालमें संशय न हो।

जीवके नित्यपनेका—त्रिकालमें होनेका—किसी भी समय संशय न हो।

जीवके चैतन्यपनेका—त्रिकाल अस्तित्वका—किसी भी समय संशय न हो।

उसको किसी भी प्रकारसे बंधदशा रहती है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

उस बंधकी निवृत्ति किसी भी प्रकारसे निस्सन्देह योग्य है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

मोक्षपद है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

---

१३७ ववाणीआ, आसोज सुदी १२ शनि. १९४६

संसारमें रहना और मोक्ष होनी कहना, यह बनना कठिन है।

उदासीनता अध्यात्मकी जननी है।

---

१३८ मोरबी, आसोज १९४६

मैंने बहुत प्रकारके साधन जुटाये, और स्वयं अपने आप बहुतसी कल्पनायें कीं, परन्तु उसके कारण उल्टा संसार ही बढ़ता गया ॥ १ ॥

जिस समय पूर्वपुण्यके उदयसे सद्गुरुका योग मिला, उस समय वचनरूपी अमृतके कानोंमें पड़नेसे हृदयमेंसे सब प्रकारका शोक दूर हो गया ॥ २ ॥

इससे मुझे निश्चय हो गया कि यहींपर संताप नष्ट होगा। बस फिर मैं एक लक्षसे नित्य उस सद्गुरुका सत्संग करने लगा ॥ ३ ॥

१३८

बीजा साधन बहु कर्यां, करी कल्पना आप। अथवा असद्गुरु थकी, ऊलटो वध्यो उताप ॥ १ ॥
पूर्व पुण्यना उदयथी, मळ्यो सद्गुरु योग। वचन-सुधा श्रवणे जतां, थयुं हृदय गतशोग ॥ २ ॥
निश्चय एथी आवियो, टळशे अहीं उताप। नित्य कर्यो सत्संग में, एक लक्षथी आप ॥ ३ ॥

१३९

मोरबी, आसोज १९४६

जहाँ उपयोग है वहाँ धर्म है।

महावीरदेवको नमस्कार.

१. अन्तिम निर्णय होना चाहिए।
२. सब प्रकारका निर्णय तत्त्वज्ञानमें है।
३. आहार, विहार और निहारकी नियमितता।
४. अर्थकी सिद्धि।

आर्यजीवन

उत्तम पुरुषोंने आचरण किया है।

१४०

बम्बई, वि. सं. १९४६

नित्यस्मृति

१. जिस महाकार्यके लिये तू पैदा हुआ है उस महाकार्यका वारंवार चिन्तवन कर।
२. ध्यान धर ले; समाधिस्थ हो जा।
३. व्यवहार-कार्यको विचार जा। उसमें जिस कार्यका प्रमाद हुआ है, अब उसके लिये प्रमाद न हो, ऐसा कर। जिस कार्यमें साहस हुआ हो, अब उसमें वैसा न हो ऐसा उपदेश ले।
४. तुम दृढ़ योगी हो, वैसे ही रहो।
५. कोई भी छोटीसे छोटी भूल तेरी स्मृतिमेंसे नहीं जाती, यह महाकल्याणकी बात है।
६. किसीमें भी लिप्त न होना।
७. महागंभीर बन।
८. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको विचार जा।
९. यथार्थ कर।
१०. कार्य-सिद्धि करता हुआ चला जा।

१४१

बम्बई, वि. सं. १९४६

सहजप्रकृति

१. पर-हितको ही निज-हित समझना, और परदुःखको ही अपना दुःख समझना।
२. सुख-दुःख ये दोनों ही मनकी मात्र कल्पनायें हैं।
३. क्षमा ही मोक्षका भव्यद्वार है।
४. सबके साथ नम्रभावसे रहना ही सच्चा भूषण है।
५. शांत स्वभाव ही सज्जनताका यथार्थ मूल है।

रहा करता था। इतनेमें पद मिला; और मूलपदका अतिशय स्मरण हुआ; एकतान हो गया। एकाकारवृत्तिका वर्णन शब्दसे कैसे किया जा सकता है ? यह दशा दिनके बारह बजेतक रही। वही आनन्द तो अब भी वैसाका वैसा ही है, परन्तु उसके बादका काल दूसरी बातें (ज्ञानकी) करनेमें चला गया।

" केवलज्ञान हवे पामशुं, पामशुं, पामशुं रे के० " ऐसा एक पद बनाया।

हृदय बहुत आनन्दमें है।

(२)

जीवके अस्तित्वका तो किसी भी कालमें संशय न हो।

जीवके नित्यपनेका–त्रिकालमें होनेका–किसी भी समय संशय न हो।

जीवके चैतन्यपनेका–त्रिकाल अस्तित्वका–किसी भी समय संशय न हो।

उसको किसी भी प्रकारसे बंधदशा रहती है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

उस बंधकी निवृत्ति किसी भी प्रकारसे निस्सन्देह योग्य है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

मोक्षपद है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

---

१३७ ववाणीआ, आसोज सुदी १२ शनि. १९४६

संसारमें रहना और मोक्ष होनी कहना, यह बनना कठिन है।

उदासीनता अध्यात्मकी जननी है।

---

१३८ मोरबी, आसोज १९४६

दूसरे बहुत प्रकारके साधन जुटाये, और स्वयं अपने आप बहुतसी कल्पनायें कीं, परन्तु असद्गुरुके कारण उल्टा संताप ही बढ़ता गया ॥ १ ॥

जिस समय पूर्वपुण्यके उदयसे सद्गुरुका योग मिला, उस समय वचनरूपी अमृतके कानोंमें पड़नेसे हृदयमेंसे सब प्रकारका शोक दूर हो गया ॥ २ ॥

इससे मुझे निश्चय हो गया कि यहींपर संताप नष्ट होगा। बस फिर मैं एक लक्ष्यसे नित्य ही उस सद्गुरुका सत्संग करने लगा ॥ ३ ॥

१३८

बीजां साधन बहु कर्यां, करी कल्पना आप। अथवा असद्गुरु थकी, उल्टो वध्यो उताप ॥ १ ॥
पूर्व पुण्यना उदयथी, मळ्यो सद्गुरु योग। वचन-सुधा श्रवणे जतां, थयुं हृदय गतशोक ॥ २ ॥
निश्चय एथी आवियो, टळशे अहीं उताप। नित्य कर्यो सत्संग मैं, एक लक्षथी आप ॥ ३ ॥

१३९

मोरबी, आसोज १९४६

जहाँ उपयोग है वहाँ धर्म है।

महावीरदेवको नमस्कार.

१. अन्तिम निर्णय होना चाहिए।

२. सब प्रकारका निर्णय तत्त्वज्ञानमें है।

३. आहार, विहार और निहारकी नियमितता।

४. अर्थकी सिद्धि।

आर्यजीवन

उत्तम पुरुषोंने आचरण किया है।

१४०

बम्बई, वि. सं. १९४६

नित्यस्मृति

१. जिस महाकार्यके लिये तू पैदा हुआ है उस महाकार्यका बारंबार चिन्तवन कर।

२. ध्यान धर ले; समाधिस्थ हो जा।

३. व्यवहार-कार्यको विचार जा। उसमें जिस कार्यका प्रमाद हुआ है, अब उसके लिये प्रमाद न हो, ऐसा कर। जिस कार्यमें साहस हुआ हो, अब उसमें वैसा न हो ऐसा उपदेश ले।

४. तुम दृढ़ योगी हो, वैसे ही रहो।

५. कोई भी छोटीसे छोटी भूल तेरी स्मृतिमेंसे नहीं जाती, यह महाकल्याणकी बात है।

६. किसीमें भी लिप्त न होना।

७. महागंभीर बन।

८. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको विचार जा।

९. यथार्थ कर।

१०. कार्य-सिद्धि करता हुआ चला जा।

१४१

बम्बई, वि. सं. १९४६

सहजप्रकृति

१. पर-हितको ही निज-हित समझना, और परदुःखको ही अपना दुःख समझना।

२. सुख-दुःख ये दोनों ही मनकी मात्र कल्पनायें हैं।

३. क्षमा ही मोक्षका भव्यद्वार है।

४. सबके साथ नम्रभावसे रहना ही सच्चा भूषण है।

५. शान्त स्वभाव ही सज्जनताका यथार्थ मूल है।

१३९

मोरबी, आसोज १९४६

जहाँ उपयोग है वहाँ धर्म है।

महावीरदेवको नमस्कार.

१. अन्तिम निर्णय होना चाहिए।

२. सब प्रकारका निर्णय तत्त्वज्ञानमें है।

३. आहार, विहार और निहारकी नियमितता।

४. अर्थकी सिद्धि।

आर्यजीवन

उत्तम पुरुषोंने आचरण किया है।

१४०

बम्बई, वि. सं. १९४६

नित्यस्मृति

१. जिस महाकार्यके लिये तू पैदा हुआ है उस महाकार्यका बारंबार चिन्तवन कर।

२. ध्यान धर ले; समाधिस्थ हो जा।

३. व्यवहार-कार्यको विचार जा। उसमें जिस कार्यका प्रमाद हुआ है, अब उसके लिये प्रमाद न हो, ऐसा कर। जिस कार्यमें साहस हुआ हो, अब उसमें वैसा न हो ऐसा उपदेश ले।

४. तुम दृढ़ योगी हो, वैसे ही रहो।

५. कोई भी छोटीसे छोटी भूल तेरी स्मृतिमेंसे नहीं जाती, यह महाकल्याणकी बात है।

६. किसीमें भी लिप्त न होना।

७. महागंभीर बन।

८. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको विचार जा।

९. यथार्थ कर।

१०. कार्य-सिद्धि करता हुआ चला जा।

१४१

बम्बई, वि. सं. १९४६

सहजप्रकृति

१. पर-हितको ही निज-हित समझना, और परदुःखको ही अपना दुःख समझना।

२. सुख-दुःख ये दोनों ही मनकी मात्र कल्पनायें हैं।

३. क्षमा ही मोक्षका भव्यद्वार है।

४. सबके साथ नम्रभावसे रहना ही सच्चा भूषण है।

५. शांत स्वभाव ही सज्जनताका यथार्थ मूल है।

१४६ बम्बई, कार्तिक सुदी १३ सोम. १९४७

१. जिसने इसके स्वप्नका दर्शन प्राप्त किया है, उसका मन किसी दूसरी भी जगह भ्रमण नहीं करता। जिसे कृष्णका लेशमात्र भी समागम रहता है, उसके मनको संसारका समागम ही अच्छा नहीं लगता ॥ १ ॥

मै जिस समय हँसते-खेलते हुए प्रगटरूपसे हरिको देखूँ, उसी समय मेरा जीवन सफल है। ओधाकवि कहते हैं कि हे उन्मुक्त आनन्दमें विहार करनेवाले! तू ही हमारे जीवनका एक मात्र आधार है ॥ २ ॥

२. ग्यारहवें गुणस्थानमेंसे च्युत हुआ जीव कमसे कम तीन, और अधिकसे अधिक पन्द्रह भव करता है, ऐसा अनुभव होता है। ग्यारहवेंमें प्रकृतियोंका उपशमभाव होनेसे मन, वचन और कायाका योग प्रबल शुभभावमें रहता है, इससे साताका बंध होता है, और यह साता बहुत करके पाँच अनुत्तर विमानोंमें ले जानेवाली ही होती है।

१४६

एनुं स्वप्ने जो दर्शन पामेरे, तेनुं मन न चढे बीजे भामेरे;
थाय कृष्णनो लेश प्रसंगरे, तेने न गमे संसारनो संगरे ॥ १ ॥
हसतां रमतां प्रगट हरी देखुंरे, मारूं जीव्युं सफळ तव लेखुंरे;
मुक्तानन्दनो नाथ विहारीरे, ओधा जीवनदोरी अमारीरे ॥ २ ॥

१४६ बम्बई, कार्तिक सुदी १३ सोम. १९४७

१. जिसने इसके स्वप्नका दर्शन प्राप्त किया है, उसका मन किसी दूसरी भी जगह भ्रमण नहीं करता। जिसे कृष्णका लेशमात्र भी समागम रहता है, उसके मनको संसारका समागम ही अच्छा नहीं लगता ॥ १ ॥

मै जिस समय हँसते-खेलते हुए प्रगटरूपसे हरिको देखूँ, उसी समय मेरा जीवन सफल है। ओधाकवि कहते हैं कि हे उन्मुक्त आनन्दमें विहार करनेवाले ! तू ही हमारे जीवनका एक मात्र आधार है ॥ २ ॥

२. ग्यारहवें गुणस्थानमेंसे च्युत हुआ जीव कमसे कम तीन, और अधिकसे अधिक पन्द्रह भव करता है, ऐसा अनुभव होता है । ग्यारहवेंमें प्रकृतियोंका उपशमभाव होनेसे मन, वचन और कायाका योग प्रबल शुभभावमें रहता है, इससे साताका बंध होता है, और यह साता बहुत करके पाँच अनुत्तर विमानोंमें ले जानेवाली ही होती है।

१४६

एवुं स्वप्ने जो दर्शन पामेरे, तेनुं मन न चढे बीजे भामेरे;
थाय कृष्णनो लेश प्रसंगरे, तेने न गमे संसारनो संगरे ॥ १ ॥
हसतां रमतां प्रगट हरी देखुंरे, मारूं जीव्युं सफळ तव लेखुंरे;
मुक्तानन्दनो नाथ विहारीरे, ओधा जीवनदोरी अमारीरे ॥ २ ॥

१४६ बम्बई, कार्तिक सुदी १३ सोम. १९४…

१. जिसने इसके स्वप्नका दर्शन प्राप्त किया है, उसका मन किसी दूसरी भी जगह भ्रमण नहीं करता। जिसे कृष्णका लेशमात्र भी समागम रहता है, उसके मनको संसारका समागम ही अच्छा नहीं लगता ॥ १ ॥

मैं जिस समय हँसते-खेलते हुए प्रगटरूपसे हरिको देखूँ, उसी समय मेरा जीवन सफल है। ओधाकवि कहते हैं कि हे उन्मुक्त आनन्दमें विहार करनेवाले! तू ही हमारे जीवनका एक मात्र आधार है ॥ २ ॥

२. ग्यारहवें गुणस्थानमेंसे च्युत हुआ जीव कमसे कम तीन, और अधिकसे अधिक पन्द्रह भव करता है, ऐसा अनुभव होता है। ग्यारहवेंमें प्रकृतियोंका उपशमभाव होनेसे मन, वचन और कायाका योग प्रबल शुभभावमें रहता है, इससे साताका बंध होता है, और यह साता बहुत करके पाँच अनुत्तर विमानोंमें ले जानेवाली ही होती है।

१४६

एनुं स्वप्ने जो दर्शन पामेरे, तेनुं मन न चढे बीजे भामेरे;
थाय कृष्णनो लेश प्रसंगरे, तेने न गमे संसारनो संगरे ॥ १ ॥
हसतां रमतां प्रगट हरी देखुंरे, मारू जीव्युं सफळ तव लेखुंरे;
मुक्तानन्दनो नाथ विहारीरे, ओधा जीवनदोरी अमारीरे ॥ २ ॥

१४६ बम्बई, कार्तिक सुदी १३ सोम. १९४७

१. जिसने इसके स्वप्नका दर्शन प्राप्त किया है, उसका मन किसी दूसरी भी जगह भ्रमण नहीं करता। जिसे कृष्णका लेशमात्र भी समागम रहता है, उसके मनको संसारका समागम ही अच्छा नहीं लगता ॥ १ ॥

मैं जिस समय हँसते-खेलते हुए प्रगटरूपसे हरिको देखूँ, उसी समय मेरा जीवन सफल है। ओधाकवि कहते हैं कि हे उन्मुक्त आनन्दमें विहार करनेवाले! तू ही हमारे जीवनका एक मात्र आधार है ॥ २ ॥

२. ग्यारहवें गुणस्थानमेंसे च्युत हुआ जीव कमसे कम तीन, और अधिकसे अधिक पन्द्रह भव करता है, ऐसा अनुभव होता है। ग्यारहवेंमें प्रकृतियोंका उपशमभाव होनेसे मन, वचन और कायाका योग प्रबल शुभभावमें रहता है, इससे साताका बंध होता है, और यह साता बहुत करके पाँच अनुत्तर विमानोंमें ले जानेवाली ही होती है।

१४६

एनुं स्वप्ने जो दर्शन पामेरे, तेनुं मन न चढे बीजे भामेरे;
थाय कृष्णनो लेश प्रसंगरे, तेने न गमे संसारनो संगरे ॥ १ ॥
हसतां रमतां प्रगट हरी देखुंरे, मारूं जीव्युं सफळ तव लेखुंरे;
मुक्तानन्दनो नाथ विहारीरे, ओधा जीवनदोरी अमारीरे ॥ २ ॥

१४६ बम्बई, कार्तिक सुदी १३ सोम. १९४७

१. जिसने इसके स्वप्नका दर्शन प्राप्त किया है, उसका मन किसी दूसरी भी जगह भ्रमण नहीं करता। जिसे कृष्णका लेशमात्र भी समागम रहता है, उसके मनको संसारका समागम ही अच्छा नहीं लगता ॥ १ ॥

मैं जिस समय हँसते-खेलते हुए प्रगटरूपसे हरिको देखूँ, उसी समय मेरा जीवन सफल है। ओधाकवि कहते हैं कि हे उन्मुक्त आनन्दमें विहार करनेवाले! तू ही हमारे जीवनका एक आधार है ॥ २ ॥

२. ग्यारहवें गुणस्थानमेंसे च्युत हुआ जीव कमसे कम तीन, और अधिकसे अधिक पन्द्रह भव करता है, ऐसा अनुभव होता है। ग्यारहवेंमें प्रकृतियोंका उपशमभाव होनेसे मन, वचन और कायाका योग प्रबल शुभभावमें रहता है, इससे साताका बंध होता है, और यह साता बहुत करके पाँच अनुत्तर विमानोंमें ले जानेवाली ही होती है।

१४६

पनुं स्वप्ने जो दर्शन पामेरे, तेनुं मन न चढे बीजे भामेरे;
थाय कृष्णनो लेश प्रसंगरे, तेने न गमे संसारनो संगरे ॥ १ ॥
हसतां रमतां प्रगट हरी देखुंरे, मारूं जीव्युं सफळ तव लेखुंरे;
मुक्तानन्दनो नाथ विहारीरे, ओधा जीवनदोरी अमारीरे ॥ २ ॥

१४६ बम्बई, कार्तिक सुदी १३ सोम. १९

१. जिसने इसके स्वप्नका दर्शन प्राप्त किया है, उसका मन किसी दूसरी भी जगह भ्रमण करता। जिसे कृष्णका लेशमात्र भी समागम रहता है, उसके मनको संसारका समागम ही अच्छा लगता ॥ १ ॥

मैं जिस समय हँसते-खेलते हुए प्रगटरूपसे हरिको देखूँ, उसी समय मेरा जीवन सफल ओधाकवि कहते हैं कि हे उन्मुक्त आनन्दमें विहार करनेवाले! तू ही हमारे जीवनका एक आधार है ॥ २ ॥

२. ग्यारहवें गुणस्थानमेंसे च्युत हुआ जीव कमसे कम तीन, और अधिकसे अधिक पन्द्रह करता है, ऐसा अनुभव होता है। ग्यारहवेंमें प्रकृतियोंका उपशमभाव होनेसे मन, वचन कायाका योग प्रबल शुभभावमें रहता है, इससे साताका बंध होता है, और यह साता बहुत क पाँच अनुत्तर विमानोंमें ले जानेवाली ही होती है।

१४६

पनुं स्वप्ने जो दर्शन पामेरे, तेनुं मन न चढे बीजे भामेरे;
थाय कृष्णनो लेश प्रसंगरे, तेने न गमे संसारनो संगरे ॥ १ ॥
हसतां रमतां प्रगट हरी देखुंरे, मारूं जीव्युं सफळ तव लेखुंरे;
मुक्तानन्दनो नाथ विहारीरे, ओधा जीवनदोरी अमारीरे ॥ २ ॥

श्रीमद् राजचंद्र.

और वही याचना भी है; और योग (मन, वचन और काय) बाह्यरूपमें पूर्वकर्मको भोग रहा है। वेदोदयका नाश होनेतक गृहस्थावासमें रहना योग्य लगता है। परमेश्वर जान बूझकर देरीसे लगा है; कारण कि पंचमकालमें परमार्थकी वर्षा ऋतु होने देनेकी उसकी थोड़ी ही इच्छा मालूम होती है।

तीर्थंकरने जो जो समझा अथवा जो जो प्राप्त किया है उसे......इस कालमें न समझ सकें अथवा न पा सकें, ऐसी कोई भी बात नहीं है; यह निर्णय बहुत समयसे कर रक्खा है। यद्यपि तीर्थंकर होनेकी इच्छा नहीं है, परन्तु तीर्थंकरके किये अनुसार करनेकी इच्छा है, इतनी अधिक उन्मत्तता आ गई है; उसके शमन करनेकी शक्ति भी आ गई है, परन्तु जान बूझकर ही शमन करनेकी इच्छा नहीं की।

आपसे विज्ञप्ति है कि वृद्धसे युवा बनें, और इस अलख-वार्ताके अग्रणीके भी अग्रणी बनें। थोड़े लिखेको बहुत समझना।

गुणठाणाओंके भेद केवल समझनेके लिये किये हैं। उपशम और क्षपक ये दो तरहकी श्रेणियाँ हैं। उपशममें प्रत्यक्ष-दर्शनकी संभावना नहीं होती, किन्तु क्षपकमें होती है। प्रत्यक्ष-दर्शनकी संभावनाके अभावमें यह जीव ग्यारहवें गुणस्थानतक जाकर वहाँसे पीछे लौटता है। उपशमश्रेणी दो प्रकारकी है—एक आज्ञारूप; और दूसरी मार्गको जाने बिना स्वाभाविक उपशम होनेरूप। आज्ञारूप उपशमश्रेणीवाला आज्ञाका आराधन होनेतक पतित नहीं होता, किन्तु पिछला तो एकदम ठेठ पहुँच जानेके बाद भी मार्ग न जाननेके कारण पतित हो जाता है। यह आँखसे देखी हुई, और आत्मामें अनुभव की हुई बात है। संभव है, यह किसी शास्त्रमें मिल भी जाय, और न मिले तो कोई हर्ज नहीं। यह बात तीर्थंकरके हृदयमें थी, यह हमने जान लिया है।

दशपूर्वधारी इत्यादिकी आज्ञाका आराधन करनेकी महावीरदेवकी शिक्षाके विषयमें आपने जो लिखा है वह ठीक है। इसने तो बहुत ही अधिक कहा था; परन्तु उसमेंसे थोड़ा ही बाकी बचा है; और प्रकाशक पुरुष गृहस्थावासमें है, बाकीके गुफामें हैं। कोई कोई जानते भी हैं, परन्तु उनमें इतना योगबल नहीं।

आधुनिक कहे जानेवाले मुनियोंका सूत्रार्थ सुननेतकके भी योग्य नहीं। सूत्र लेकर उपदेश करनेकी कुछ दिनों पीछे जरूरत नहीं पड़ेगी। सूत्र और उसके कोने कोने सब कुछ जाने हुए हैं।

(२)

(१) जिनसे मार्ग चला है, ऐसे महान् पुरुषोंके विचार, बल, निर्भयता आदि गुण भी महान् ही थे।

एक राज्यके प्राप्त करनेमें जितने पराक्रमकी आवश्यकता है उससे भी कहीं अधिक पराक्रमकी आवश्यकता अपूर्व अभिप्रायसहित धर्म-संततिके चलानेके लिये चाहिए।

थोड़े समय पहिले मुझमें वैसी तथारूप शक्ति मालूम होती थी, अभी उसमें विकलता देखी आती है, उसका हेतु क्या होना चाहिये, यह विचार करने योग्य है।

(४) मूल.
लोकसंस्थान !
धर्म अधर्म अस्तिकायरूप द्रव्य !
स्वाभाविक अभव्यत्व !
अनादि अनंत सिद्धि !
अनादि अनंतका ज्ञान किस तरह हो !
आत्माका संकोच-विस्तार !
सिद्ध ऊर्ध्वगमन—चेतन, खंडकी तरह क्यों नहीं है ?
केवलज्ञानमें लोकालोकका ज्ञान कैसा होता है ?
लोकस्थिति मर्यादाका हेतु !
शाश्वत वस्तु लक्षण !

उत्तर.
उन उन स्थानोंमें रहनेवाले सूर्य चन्द्र आदि वस्तु अथवा नियमित गति हेतु !
दुःषम सुषम आदि काल !
मनुष्यकी ऊँचाई आदिका प्रमाण !
अग्निकाय आदिका निमित्तयोगसे एकदम उत्पन्न हो जाना !
एक सिद्धमें अनंत सिद्धोंकी अवगाहना !

बम्बई, कार्तिक १९४७

१४८

(१)

उपशमभाव

सोलह भावनाओंसे भूषित होनेपर भी जहाँ स्वयं सर्वोत्कृष्ट माना गया है, वहाँ दूसरोंकी उत्कृष्टताके कारण अपनी न्यूनता होती हो, और कोई मत्सरभाव आकर चला जाय तो वह उसको उपशमभाव था, क्षायिक नहीं था; यह नियम है।

(२)

वह दशा क्यों घट गई ? और वह दशा बढ़ी क्यों नहीं ? लोकके संगसे, मानेच्छासे, अजागृतपनेसे, और स्त्री आदि परिषहोंकी जय न करनेसे।

जिस क्रियामें जीवको रँग लगता है, उसकी वहीं स्थिति होती है, ऐसा जो जिनभगवान्‌का अभिप्राय है वह सत्य है।

श्रीतीर्थंकरने महामोहनीयके जो तीस स्थान कहे हैं, वे सत्य हैं।

अनंतज्ञानी पुरुषोंने जिसका कोई भी प्रायश्चित्त नहीं कहा और जिसके त्यागकी ही एकदम आज्ञा दी है, ऐसे कामसे जो व्याकुल नहीं हुआ, वही परमात्मा है।

बम्बई, कार्तिक सुदी १४, १९४७

१४९

अनन्तकालसे अपनेको आत्मविषयक जो भ्रान्ति हो रही है, वह एक अवाच्य अद्भुत विचार करने जैसी बात है। जहाँ मतिकी गति नहीं, वहाँ वचनकी गति कैसे हो सकती है ?

निरन्तर उदासीनताके क्रमका सेवन करना; सत्पुरुषकी भक्तिमें लीन होना, सत्पुरुषोंके चरित्रोंका स्मरण करना; सत्पुरुषोंके लक्षणोंका चिन्तवन करना; सत्पुरुषोंकी मुखाकृतिका हृदयसे अवलोकन

संभव है, वह मार्ग संप्रदायकी रीतिद्वारा बहुतसे जीवोंको मिल भी जाय, किन्तु दर्शनकी रीतिसे तो वह विरले ही जीवोंको प्राप्त होता है।

यदि जिनभगवान्‌का अभिमत मार्ग निरूपण करने योग्य गिना जाय तो उसका संप्रदाय-भेदकी कोटिसे निरूपण होना बिलकुल असंभव है, क्योंकि उस मार्गकी रचनाको सांप्रदायिक स्वरूपमें लाना अत्यन्त कठिन है।

दर्शनकी अपेक्षासे किसी जीवका उपकारी होने जितना विरोध आता है।

(२) जो कोई महान् पुरुष हुए हैं वे पहिलेसे ही स्वस्वरूप (निजशक्ति) समझ सकते थे, भावी महान् कार्यके बीजको पहिलेसे ही अव्यक्तरूपमें वपन किये रखते थे—अथवा स्वाचरणको अविरोध जैसा रखते थे।

मुझमें वह दशा विशेष विरोधमें पड़ी हुई जैसी मालूम होती है। वह विरोध क्यों मालूम होता है, उसके कारणोंको भी यहाँ लिख देता हूँ:—

१. संसारीकी रीतिके समान विशेष व्यवहार रहनेसे।

२. ब्रह्मचर्यका धारण।

(३)

वीतराग दर्शन

(१) उद्देश प्रकरण.
सर्वज्ञ-मीमांसा.
षट्‌दर्शन अवलोकन.
वीतराग अभिप्राय विचार.
व्यवहार प्रकरण.
मुनिधर्म.
आगारधर्म.
मतमतांतर निराकरण.
उपसंहार.
(२) नवतत्त्वविवेचन.
गुणस्थानविवेचन.
कर्मप्रकृतिविवेचन.
विचारपद्धति.
श्रवणादिविवेचन.
बोधबीजसंपत्ति.
जीवाजीवविभक्ति.
शुद्धात्मपदभावना.

(३) अंग. उपांग. मूल. छेद.
आशय प्रकाशिता टीका.
व्यवहारहेतु.
परमार्थहेतु.
परमार्थ गौणताकी प्रसिद्धि.
व्यवहार विस्तारका पर्यवसान.
अनेकांतदृष्टि हेतु.
स्वगत मतांतर निवृत्तिप्रयत्न.
उपक्रम. उपसंहार. अविसंवि. लोकवर्णन
स्थूलत्व हेतु.
वर्तमानकालमें आत्मसाधन भूमिका.
वीतरागदर्शन व्याख्याका अनुक्रम.

करना; उनके मन, वचन और कायकी प्रत्येक चेष्टाके अद्भुत रहस्योंका फिर फिरसे निदिध्यासन करना; और उनके द्वारा माने हुएको सर्वथा मान्य करना।

---

१५० बम्बई, कार्तिक सुदी १४, बुध. १९४७

निरंतर एक ही श्रेणी रहती है। पूर्ण हरि-कृपा है।

(सत् श्रद्धाको पाकर)

जो कोई तुम्हारी धर्मके निमित्तसे इच्छा करे उसका संग रक्खो।

---

१५१ बम्बई, कार्तिक वदी ३ शनि. १९४७

यह दृढ़ विश्वासपूर्वक मानना कि यदि इसको उदयकालमें व्यवहारका बंधन न होता तो यह तुम्हें और दूसरे बहुतसे मनुष्योंको अपूर्व हितको देनेवाला होता। जो कुछ प्रवृत्ति होती है, उसके कारणसे उसमें कुछ विषमता नहीं आती, परंतु यदि उसे निवृत्ति होती तो वह दूसरी आत्माओंके लिये मार्ग मिलनेका कारण हो जाता। अभी उसे विलंब होगा। पंचमकालकी भी प्रवृत्ति है; इस भवमें मोक्ष जानेवाले मनुष्योंका संभव होना भी कम है; इत्यादि कारणोंसे ऐसा ही हुआ होगा, तो उसके लिये कुछ खेद नहीं।

---

१५२ बम्बई, कार्तिक वदी ५ सोम. १९४७

संतकी शरणमें जा

सत्संग यह बड़ेसे बड़ा साधन है।

सत्पुरुषकी श्रद्धाके बिना छुटकारा नहीं।

इन दो विषयोंका शास्त्र इत्यादिसे उनको उपदेश करते रहना। सत्संगकी वृद्धि करना।

---

१५३ बम्बई, [illegible], कार्तिक वदी [illegible] शुक्र. १९४७

एक ओर तो परमार्थ-मार्गको [illegible] प्रकाशित करनेकी इच्छा है, और दूसरी ओर [illegible] 'लय'में [illegible] हो जानेकी [illegible] है। [illegible] 'लय'में पूरी पूरी [illegible] हो गई है। [illegible]

[illegible] होती [illegible] हो [illegible]।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

अनेक महापुरुषोंने इस कालको कठिन कहा है; यह बात निस्सन्देह सत्य है; क्योंकि संत और सत्संग विदेश चले गये हैं, अर्थात् संप्रदायमें नहीं रहे, और इनके मिले बिना जीवका छुटकारा नहीं। इस कालमें इनका मिलना दुःषम हो गया है, इसीलिये इस कालको दुःषम कहा है, यह बात ठीक ही है। दुःषमके विषयमें कमसे कम लिखनेकी इच्छा होती है, परन्तु लिखने अथवा बोलनेकी अधिक इच्छा नहीं रही। चेष्टाके ऊपरसे ही समझमें आ जाया करे ऐसी निश्चल इच्छा है।

ॐ श्रीसद्गुरुचरणाय नमः

१५४

बम्बई, कार्तिक वदी ९ शुक्र. १९४७

मुनि.......के संबंधमें आपका लिखना यथार्थ है। भव-स्थितिकी परिपक्वता हुए बिना, दीनबंधुकी कृपा बिना, और संत-चरणकी सेवा बिना तीनों कालमें भी मार्गका मिलना कठिन ही है।

जीवके संसार-परिभ्रमणके जो जो कारण हैं, उनमें मुख्य सबसे बड़े कारण ये हैं कि जिस ज्ञानके विषयमें शंकित है, उसी ज्ञानका उपदेश करना; प्रगटरूपमें उसी मार्गकी रक्षा करना; तथा उसके लिये हृदयमें चल-विचल भाव होनेपर भी अपने श्रद्धालुओंको उसी मार्गके यथार्थ होनेका उपदेश देना। इसी तरह यदि आप उस मुनिके संबंधमें विचार करेंगे तो यह बात ठीक ठीक लागू होगी।

जिसका जीव स्वयं ही शंकामें डुबकियाँ खाता हो, फिर भी यदि वह निःशंक मार्गके उपदेश देनेका दंभ रखकर समस्त जीवन बिता दे, तो यह उसके लिये परम शोचनीय है। मुनिके संबंधमें यहाँ पर कुछ कठोर भाषामें लिखा गया है, ऐसा मालूम होता है; फिर भी यहाँ वैसा अभिप्राय बिलकुल भी नहीं है। जैसा है वैसाका वैसा ही करुणार्द्र चित्तसे लिखा है। इसी तरहसे दूसरे अनंत जीव पूर्वकालमें भटके हैं, वर्तमानकालमें भटक रहे हैं, और भविष्यकालमें भी भटकेंगे।

जो छूटनेके लिये ही जीता है, वह बंधनमें नहीं आता, यह वाक्य निःसंदेह अनुभवका है। बंधनका त्याग करनेपर ही छुटकारा होता है, ऐसा समझनेपर भी उसी बंधनकी वृद्धि करते रहना, उसमें अपना महत्व स्थापित करना, और पूज्यताका प्रतिपादन करना; यह जीवको बहुत ही भटकानेवाला है। यह बुद्धि संसार-सीमाके निकट आये हुए जीवको ही होती है; और ऐसे चक्रवर्ती जैसी पदवीपर आरूढ होनेपर भी उसका त्याग करके कर-पात्रमें भिक्षा माँगकर जीनेवाले ऐसे जीव संतके चरणोंको अनन्त अनन्त प्रेमभावसे पूजते हैं, और वे जल्दी ही छूट जाते हैं।

दीनबंधुकी ऐसी दृष्टि है कि छूटनेके इच्छुकको बाँधना नहीं, और बँधनेके इच्छुकको छोड़ना नहीं। यहाँ किसी विकल्पी जीवको ऐसी शंका हो सकती है कि जीवको तो बँधना कहीं भी अच्छा नहीं लगता, सबको छूटनेकी ही इच्छा रहती है, तो फिर जीव क्यों बँध जाता है? इस शंकाका इतना ही समाधान है कि ऐसा अनुभव हुआ है कि जिसे छूटनेकी दृढ इच्छा होती है, उसके [illegible] [illegible] ही सिद्ध करते हैं, और इस कथनका साक्षी यह सत् है।

करना; उनके मन, वचन और कायकी प्रत्येक चेष्टाके अद्भुत रहस्योंका फिर फिरसे निदिध्यासन ---; और उनके द्वारा माने हुएको सर्वथा मान्य करना।

---

१५० बम्बई, कार्तिक सुदी १४, बुध. १९४७

निरंतर एक ही श्रेणी रहती है। पूर्ण हरि-कृपा है।

(सत् श्रद्धाको पाकर)

जो कोई तुम्हारी धर्मके निमित्तसे इच्छा करे उसका संग रक्खो।

---

१५१ बम्बई, कार्तिक वदी ३ शनि. १९४७

यह दृढ़ विश्वासपूर्वक मानना कि यदि इसको उदयकालमें व्यवहारका बंधन न होता तो यह ; और दूसरे बहुतसे मनुष्योंको अपूर्व हितको देनेवाला होता। जो कुछ प्रवृत्ति होती है, उसके कारणसे ने कुछ विषमता नहीं मानी, परंतु यदि उसे निवृत्ति होती तो वह दूसरी आत्माओंके लिये मार्ग नेका कारण हो जाता। अभी उसे विलंब होगा। पंचमकालकी भी प्रवृत्ति है; इस भवमें मोक्ष नेवाले मनुष्योंका संभव होना भी कम है; इत्यादि कारणोंसे ऐसा ही हुआ होगा, तो उसके लिये छ खेद नहीं।

---

१५२ बम्बई, कार्तिक वदी ५ सोम. १९४७

संतकी शरणमें जा

सत्संग यह बड़ेसे बड़ा साधन है।

सत्पुरुषकी श्रद्धाके बिना छुटकारा नहीं।

न दो विषयोंका शास्त्र इत्यादिसे उनको उपदेश करते रहना। सत्संगकी वृद्धि करना।

---

१५३ बम्बई, कालुदा मोहल्ला, कार्तिक वदी ९ शुक्र. १९४७

एक ओर तो परमार्थ-मार्गको शीघ्रतासे प्रकाशित करनेकी इच्छा है, और दूसरी ओर अलख 'लय' में लीन हो जानेकी इच्छा रहती है। यह आत्मा अलख 'लय' में पूरी पूरी समाविष्ट हो गई है। योगके द्वारा समावेश करना यही एक रटन लगी हुई है। परमार्थके मार्गको यदि बहुतसे मुमुक्षु पावें, अलख-समाधि पावें, तो बहुत अच्छा हो, और इसीके लिये कुछ मनन भी है। दीनबंधुकी जैसी इच्छा होगी वैसा हो रहेगा।

निरंतर ही अद्भुत दशा रहा करती है। हम अवधूत हुए हैं; और अवधूत करनेकी बहुतसे जीवोंके प्रति दृष्टि है।

महावीरदेवने इस कालको पंचमकाल कहकर दुःषम कहा, व्यासने कलियुग कहा, इस प्रकार

अनेक महापुरुषोंने इस कालको कठिन कहा है; यह बात निस्सन्देह सत्य है; क्योंकि भक्ति और सत्संग विदेश चले गये है, अर्थात् संप्रदायमें नहीं रहे, और इनके मिले बिना जीवका छुटकारा नहीं। इस कालमें इनका मिलना दुःषम हो गया है, इसीलिये इस कालको दुःषम कहा है, यह बात सत्य ही है। दुःषमके विषयमें कमसे कम लिखनेकी इच्छा होती है, परन्तु लिखने अथवा बोलनेकी अधिक इच्छा नहीं रही। चेष्टाके ऊपरसे ही समझमें आ जाया करे ऐसी निश्चल इच्छा है।

ॐ श्रीसद्गुरुचरणाय नमः

१५४ बम्बई, कार्तिक वदी ९ शुक्र. १९५१

मुनि........के संबंधमें आपका लिखना यथार्थ है। भव-स्थितिकी परिपक्वता हुए बिना, दीनबंधुकी कृपा बिना, और संत-चरणकी सेवा बिना तीनों कालमें भी मार्गका मिलना कठिन ही है।

जीवके संसार-परिभ्रमणके जो जो कारण हैं, उनमें मुख्य सबसे बड़े कारण ये हैं कि स्वयं जिस ज्ञानके विषयमें शंकित हैं, उसी ज्ञानका उपदेश करना; प्रगटरूपमें उसी मार्गकी रक्षा करनी; तथा उसके लिये हृदयमें चल-विचल भाव होनेपर भी अपने श्रद्धालुओंको उसी मार्गके यथार्थ होनेका उपदेश देना। इसी तरह यदि आप उस मुनिके संबंधमें विचार करेंगे तो यह बात ठीक ठीक लागू होगी।

जिसका जीव स्वयं ही शंकामें डुबकियाँ खाता हो, फिर भी यदि वह निःशंक मार्गके उपदेश करनेका दंभ रखकर समस्त जीवन बिता दे, तो यह उसके लिये परम शोचनीय है। मुनिके संबंधमें यहाँ पर कुछ कठोर भाषामें लिखा गया है, ऐसा मालूम होता है; फिर भी यहाँ वैसा अभिप्राय बिलकुल भी नहीं है। जैसा है वैसाका वैसा ही करुणार्द्र चित्तसे लिखा है। इसी तरहसे दूसरे अनंत जीव पूर्वकालमें भटके हैं, वर्तमानकालमें भटक रहे हैं, और भविष्यकालमें भी भटकेंगे।

जो छूटनेके लिये ही जीता है, वह बंधनमें नहीं आता, यह वाक्य निःसंदेह अनुभवपूर्ण है। बंधनका त्याग करनेपर ही छुटकारा होता है, ऐसा समझनेपर भी उसी बंधनकी वृद्धि करते हुए, उसमें अपना महत्त्व स्थापित करना, और पूज्यताका प्रतिपादन करना; यह जीवको बहुत ही अधिक भटकानेवाला है। यह बुद्धि संसार-सीमाके निकट आये हुए जीवको ही होती है; और छः खंडके चक्रवर्ती जैसी पदवीपर आरूढ होनेपर भी उसका त्याग करके कर-पात्रमें भिक्षा माँगकर जीनेवाले ऐसे जीव संतके चरणोंको अनंत अनन्त प्रेमभावसे पूजते हैं, और वे जरूर ही छूट जाते हैं।

दीनबंधुकी ऐसी दृष्टि है कि छूटनेके इच्छुकको बाँधना नहीं, और बँधनेके इच्छुकको छोड़ना नहीं। यहाँ किसी शंकाशील जीवको ऐसी शंका हो सकती है कि जीवको तो बँधना कभी भी अच्छा नहीं लगता, सबको छूटनेकी ही इच्छा रहती है, तो फिर जीव क्यों बँध जाता है? इस शंकाका इतना ही समाधान है कि ऐसा अनुभव हुआ है कि जिसे छूटनेकी दृढ़ इच्छा होती है, उसको बंधनकी शंका ही मिट जाती है; और इस कथनका साक्षी यह सत् है।

---

१५५ बम्बई, कार्तिक वदी १४ गुरु. १९४७

अंतरकी परमार्थ वृत्तियोंको थोड़े समयतक प्रगट करनेकी इच्छा नहीं होती। धर्मकी इच्छा करनेवाले प्राणियोंके पत्र, प्रश्न आदिको तो इस समय बंधनरूप माना है; क्योंकि जिन इच्छाओंको अभी हालमें प्रगट करनेकी इच्छा नहीं, उनके कुछ अंश विवश होकर इनके कारणसे प्रगट करने पड़ते हैं।

निज नियममें तुम्हें तथा अन्य सब भाइयोंको इस समय तो मैं इतना ही कहता हूँ कि जिस किसी भी मार्गसे अनंतकालसे ग्रसित आग्रहता, स्वच्छंदता, और असत्संगका नाश हो उसी मार्गमें वृत्ति लगानी चाहिये; यही चिंतवन रखनेसे और परभवका दृढ़ विश्वास रखनेसे कुछ अंशोंमें जय प्राप्त हो सकेगी।

---

१५६ बम्बई, कार्तिक वदी १४ शुक्र. १९४७

अभी हालमें तो मैं किसीको भी स्पष्टरूपसे धर्मोपदेश देनेके योग्य नहीं, अथवा ऐसा करनेकी मेरी इच्छा नहीं है। इच्छा न होनेका कारण उदयमें रहनेवाले कर्म ही हैं। मैं तो यही चाहता हूँ कि कोई भी जिज्ञासु हो वह धर्मप्राप्त महापुरुषसे ही धर्मको प्राप्त करे, तथापि मैं जिस वर्तमानकालमें हूँ वह काल ऐसा नहीं है।

सबसे पहिले मनुष्यमें यथायोग्य जिज्ञासुता आना चाहिये; पूर्वके आग्रहों और असत्संगको हटाना चाहिये; और जिससे धर्म प्राप्त करनेकी इच्छा हो वह स्वयं भी उसे पाया हुआ है कि नहीं, इस बातकी पूर्ण जाँच करनी चाहिये; यह संतकी समझने जैसी बात है।

---

१५७ बम्बई, मंगसिर सुदी ४ सोम. १९४७

नीचे एक वाक्यपर सामान्यतः स्याद्वाद घटाया है:—

" इस कालमें कोई भी मोक्ष नहीं जाता। "

" इस कालमें कोई भी इस क्षेत्रसे मोक्ष नहीं जाता। "

" इस कालमें, कोई भी इस कालमें उत्पन्न हुआ इस क्षेत्रसे मोक्ष नहीं जाता। "

" इस कालमें, कोई भी इस कालमें उत्पन्न हुआ सर्वथा मोक्ष नहीं जाता। "

" इस कालमें, कोई भी इस कालमें उत्पन्न हुआ सब कर्मोंसे सर्वथा मुक्त नहीं होता। "

अब इसके ऊपर सामान्य विचार करते हैं। पहिले एक आदमीने कहा कि इस कालमें कोई भी मोक्ष नहीं जाता। ज्योंही यह वाक्य निकला त्योंही शंका हुई कि क्या इस कालमें महाविदेहसे भी मोक्ष नहीं जाते? वहाँसे तो जा सकते हैं, इसलिये फिरसे वाक्य बोलो। अब उसने दूसरी बार कहा:—इस कालमें कोई भी इस क्षेत्रसे मोक्ष नहीं जाता। तब फिर प्रश्न हुआ कि जंबू, सुधर्मास्वामी इत्यादि कैसे मोक्ष चले गये? वह भी तो यही काल था; इसलिये फिर वह समझनेवाला पुरुष विचार करके बोला:—'इस कालमें, कोई भी इस कालमें जन्मा हुआ इस क्षेत्रसे मोक्ष नहीं जाता।' फिर प्रश्न

हुआ कि किसीका मिथ्यात्व तो नाश होगा या नहीं ? उत्तर मिला कि हाँ, होता है। तो फिर शंकाकारने पूँछा कि यदि मिथ्यात्व नष्ट हो सकता है तो मिथ्यात्वमें मोक्ष हुआ कहा जायगा या नहीं ? फिर सामनेवालेने जवाब दिया कि हाँ, ऐसा तो हो सकता है। अन्तमें शंकाकार बोला कि ऐसा नहीं, परन्तु ऐसा होगा कि 'इस कालमें, कोई भी इस कालमें उत्पन्न हुआ सब कर्मोंसे सर्वथा मुक्त नहीं होता।'

इसमें भी अनेक भेद हैं। परन्तु यहाँतक कदाचित् साधारण स्याद्वाद मानें तो यह जैनशास्त्रके लिये स्पष्टीकरण हुआ जैसा गिना जायगा। वेदान्त आदि तो इस कालमें भी सब कर्मोंसे सर्वथा मुक्तिका प्रतिपादन करते हैं, इसलिये अभी और भी आगे जाना पड़ेगा; उसके बाद जाकर वाक्यकी सिद्धि हो पावे। इस तरह वाक्य बोलनेकी अपेक्षा रखना उचित कहा जा सकता परन्तु ज्ञानके उत्पन्न हुए बिना इस अपेक्षाका स्मृत रहना संभव नहीं; अथवा हो सकता है तो सत्पुरुषकी कृपासे ही सिद्ध हो सकता है।

इस समय बस यही। थोड़े लिखेको बहुत समझना। ऊपर लिखी हुई सिर घुमादेनेवाली बातें मुझे पसंद नहीं। शक्करके श्रीफलका सभीने बखान किया है; परन्तु यहाँ तो छालसहित अमृतका फल है, इसलिये यह कैसे पसंद आ सकता है, परन्तु साथ ही इसे नापसंद भी नहीं किया जा सकता।

अन्तमें आज, कल और हमेशाके लिये यही कहना है कि इसका संग होनेके बाद सब प्रकारसे निर्भय रहना सीखना। आपको यह वाक्य कैसा लगता है ?

१५८

बम्बई, मंगसिर सुदी ९ शनि. १९

ॐ, सत्स्वरूप

यहाँ तो तीनों ही काल समान हैं। बाह्य व्यवहारके प्रति विषमता नहीं है, और उ त्यागनेकी इच्छा रक्खी है, परन्तु पूर्व प्रकृतियोंके हटाये बिना कोई छुटकारा नहीं।

कालकी दुःषमता........से यह प्रवृत्ति मार्ग बहुतसे जीवोंको सत्का दर्शन करनेसे रोकता

तुम सबसे यही अनुरोध है कि इस आत्माके संबंधमें दूसरोंसे कोई बातचीत मत करना।

१५९

बम्बई, मंगसिर सुदी १३ बुध. १९

आप हृदयके जो जो उद्गार लिखते हैं, उन्हें पढ़कर आपकी योग्यताके लिये प्रसन्न हो परम प्रसन्नता होती है, और फिर फिरसे सत्युगका स्मरण हो आता है।

आप भी जानते ही हैं कि इस कालमें मनुष्योंके मन मायामय संपत्तिकी इच्छायुक्त हो गये किन्हीं विरले मनुष्योंका ही निर्वाण-मार्गकी दृढ़ इच्छायुक्त रहना संभव है; अथवा यह इच्छा विरलोंको ही सत्पुरुषके चरणोंके सेवन करनेसे प्राप्त होती है। इसमें संदेह नहीं कि महा अन्धकार इस कालमें अपना जन्म किसी कारणसे तो हुआ ही है, परन्तु क्या उपाय किया जाय, इससे उसकी सम्पूर्णतासे जब वह सुझायेगा तभी कुछ उपाय बन सकेगा।

हुआ कि किसीका मिथ्यात्व तो नाश होगा या नहीं ? उत्तर मिला कि हाँ, होना है। तो फिर शंकाकारने पूँछा कि यदि मिथ्यात्व नष्ट हो सकता है तो मिथ्यात्वसे मोक्ष हुआ कहा जायगा या नहीं ? फिर सामनेवालेने जवाब दिया कि हाँ, ऐसा तो हो सकता है। अन्तमें शंकाकार बोला कि ऐसा नहीं, परन्तु ऐसा होगा कि ' इस कालमें, कोई भी इस कालमें उत्पन्न हुआ सब कर्मोंसे सर्वथा मुक्त नहीं होता।'

इसमें भी अनेक भेद हैं। परन्तु यहाँतक कदाचित् साधारण स्याद्वाद मानें तो यह जैनशास्त्रके लिये स्पष्टीकरण हुआ जैसा गिना जायगा। वेदान्त आदि तो इस कालमें भी सब कर्मोंसे सर्वथा मुक्तिका प्रतिपादन करते हैं, इसलिये अभी और भी आगे जाना पड़ेगा; उसके बाद कहीं जाकर वाक्यकी सिद्धि हो पावे। इस तरह वाक्य बोलनेकी अपेक्षा रखना उचित कहा जा सकता है, परन्तु ज्ञानके उत्पन्न हुए बिना इस अपेक्षाका स्मृत रहना संभव नहीं; अथवा हो सकता है तो यह सत्पुरुषकी कृपासे ही सिद्ध हो सकता है।

इस समय बस यही। थोड़े लिखेको बहुत समझना। ऊपर लिखी हुई सिर घुमादेनेवाली बातें लिखना मुझे पसंद नहीं। शक्करके श्रीफलका सभीने बखान किया है; परन्तु यहाँ तो छालसहित अमृतका नारियल है, इसलिये यह कैसे पसंद आ सकता है, परन्तु साथ ही इसे नापसंद भी नहीं किया जा सकता।

अन्तमें आज, कल और हमेशाके लिये यही कहना है कि इसका संग होनेके बाद सब प्रकारसे निर्भय रहना सीखना। आपको यह वाक्य कैसा लगता है ?

१५८

बम्बई, मंगसिर सुदी ९ शनि. १९४७

ॐ, सत्स्वरूप

यहाँ तो तीनों ही काल समान हैं। चालू व्यवहारके प्रति विषमता नहीं है, और उससे त्यागनेकी इच्छा रक्खी है, परन्तु पूर्व प्रकृतियोंके हटाये बिना कोई छुटकारा नहीं।

कालकी दुःषमता.... ...से यह प्रवृत्ति मार्ग बहुतसे जीवोंको सत्का दर्शन करनेसे रोकता है।

तुम सबसे यही अनुरोध है कि इस आत्माके संबंधमें दूसरोंसे कोई बातचीत मत करना।

१५९

बम्बई, मंगसिर सुदी १३ बुध. १९४७

आप हृदयके जो जो उद्गार लिखते हैं, उन्हें पढ़कर आपकी योग्यताके लिये प्रसन्न होता हूँ। परम प्रसन्नता होती है, और फिर फिरसे सत्युगका स्मरण हो आता है।

आप भी जानते ही हैं कि इस कालमें मनुष्योंके मन मायामय संपत्तिकी इच्छायुक्त हो गये हैं। किन्हीं विरले मनुष्योंका ही निर्वाण-मार्गकी दृढ़ इच्छायुक्त रहना संभव है; अथवा वह इच्छा किन्हीं विरलोंको ही सत्पुरुषके चरणोंके सेवन करनेसे प्राप्त होती है। इसमें संदेह नहीं कि महा अंधकारसे इस कालमें अपना जन्म किसी कारणसे तो हुआ ही है, परन्तु क्या उपाय किया जाय, इसको तो सम्पूर्णतासे जब वह सुधारेगा तभी कुछ उपाय बन सकेगा।

निरन्तर सेवन किया करते हैं; और इनके इस दासत्वके प्रति हमारा दासत्व होनेका भी यही कारण है। मीरा भक्त, निरांत कोली इत्यादि पुरुष योगी (परम योग्यतावाले) थे।

निरंजनदेवको समझनेवाले निरंजन कैसी स्थितिमें रहते हैं, यह विचारनेपर उनकी अलौकिक [illegible] मन[illegible] हँसी आती है।

अब हम अपनी दशा किसी भी प्रकारसे नहीं कह सकते; फिर लिख तो कहाँसे सकेंगे? आपका दर्शन होनेपर ही जो कुछ वाणी कह सकेगी वह कहेगी, बाकी तो लाचारी है। हमें कुछ मुक्ति भी चाहिये नहीं, और जिस पुरुषको जैनदर्शनका केवलज्ञान भी नहीं चाहिये, उस पुरुषको परमेश्वर अब कौनसा पद देगा, क्या यह कुछ आपके विचारमें आता है? यदि आता हो तो आश्चर्य करना; अन्यथा यहाँसे किसी रीतिसे कुछ भी बाहर निकाला जा सके ऐसी संभावना दिखाई नहीं देती।

आप बारम्बार लिखते हैं कि दर्शनके लिये बहुत आतुरता है, परन्तु महावीरदेवने इसे पंचमकाल कहा है, और व्यासभगवान्‌ने कलियुग कहा है; यह कहाँसे साथ रहने दे सकता है? और यदि रहने दे तो आपको उपाधिमुक्त क्यों न रखे?

१६२

बम्बई, मंगसिर वदी १४, १९४७

यह भूमि (बम्बई) उपाधिका शोभास्थान है।

......अबकी बार यदि एकबार भी आपका सत्संग हो जाय तो जहाँ एक लक्ष करना चाहिये वहाँ लक्ष हो सकता है, अन्यथा होना दुर्लभ है, क्योंकि हालमें हमारी बाह्यवृत्ति बहुत कम है।

१६३

बम्बई, पौष सुदी ५ गुरु. १९४७

अलख नाम धुनी लगी गगनमें, मगन भया मन मेरा जी।
आसन मारी सुरत दृढ धारी, दिया अगम घर डेरा जी।
दरस्या अलख देदारा जी।

१६४

बम्बई, पौष सुदी १० सोम. १९४७

[illegible] बहुत माहात्म्य कहा है, उसका मनन भी किया था।

दूसरे हरिजनकी संगतिके अभावसे काल कठिनतासे व्यतीत होता है। हरिजनकी [illegible] बहुत प्रिय लगता है।

आपकी [illegible] है, वह ईश्वरेच्छा हुई तो किसी अपूर्व [illegible] हो जायगी। [illegible] दुर्लभ हो गया है, [illegible] परन्तु अभी इसमें कुछ [illegible] बहुत [illegible]।

अप्रमत्त रहना चाहिये, तभी मार्गकी प्राप्ति होकर अंधापन हट सकता है। अनादिकालसे जीव उलटे मार्गपर चल रहा है; यद्यपि उसने जप, तप, शास्त्राध्ययन वगैरे अनन्तबार किये हैं, तथापि जो कुछ करना आवश्यक था वह उसने नहीं किया, जो कि हमने पहिले ही कह दिया है।

सूयगडांगसूत्रमें जहाँ भगवान् ऋषभदेवजीने अपने अट्ठानवें पुत्रोंको उपदेश किया है, और उन्हें मोक्ष-मार्गपर चढ़ाया है, वहाँ इस तरहका उपदेश दिया है:—हे आयुष्मानो! इस जीवने एक बात छोड़कर सब कुछ किया है; तो बताओ कि वह एक बात क्या है? तो निश्चयपूर्वक कहते हैं कि सत्पुरुषका कहा हुआ वचन—उसका उपदेश; इसे इस जीवने नहीं सुना, और ठीक रीतिसे नहीं धारण किया; और हमने उसीको मुनियोंका सामायिक (आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति) कहा है।

सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीको उपदेश देते हैं कि, जिसने समस्त जगत्का दर्शन किया है, ऐसे महावीरभगवान्ने हमें इस तरह कहा है:—गुरुके आधीन होकर आचरण करनेवाले ऐसे अनन्त पुरुषोंने मार्ग पाकर मोक्ष प्राप्त किया है।

एक इसी जगह नहीं परन्तु सब जगह और सब शास्त्रोंमें यही बात कहनेका उद्देश है।

आणाए धम्मो आणाए तवो

आज्ञाका आराधन ही धर्म है; आज्ञाका आराधन ही तप है—

यह आशय जीवको समझमें नहीं आया, इसके कारणोंमेंसे प्रधान कारण स्वच्छंद है।

बम्बई, पौष १९४७

१६८

सत्स्वरूपको अभेदरूपसे अनन्य भक्तिसे नमस्कार

जिसको मार्गकी इच्छा उत्पन्न हुई है, उसे सब विकल्पोंको छोड़कर केवल यही एक विकल्प निरन्तर स्मरण करना आवश्यक है:—

"अनंतकालसे जीव परिभ्रमण कर रहा है, फिर भी उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती? और वह निवृत्ति क्या करनेसे हो सकती है?"

इस वाक्यमें अनन्त अर्थ समाविष्ट हैं; तथा इस वाक्यमें उपरोक्त चिन्तवन किये बिना और उसके लिये दृढ़ होकर तन्मय हुए बिना मार्गकी दिशाका किंचित् भी भान नहीं होता, पूर्वमें नहीं हुआ, और भविष्यकालमें भी नहीं होगा। हमने तो ऐसे ही जाना है, इसलिये तुम सबको भी इसी खोज करना है; फिर उसके बाद ही, दूसरा क्या जाननेकी जरूरत है, उस बातका पता चलता है।

बम्बई, माघ सुदी ७ शु. १९४७

१६९

जिसे दु– दर्शनसे रहना पड़ता है ऐसे जिज्ञासु!

जीवके दो बड़े बंधन हैं—एक स्वच्छंद और दूसरा प्रतिबंध। जिसकी स्वच्छंदता हटानेकी इच्छा है, उसे ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन करना चाहिये; तथा जिसकी प्रतिबंध हटानेकी इच्छा है, उसे सब प्रकारके संगका त्याग होना चाहिये। यदि ऐसा न होगा तो बंधनका नाश न होगा। जिसका स्वच्छंद नष्ट हो

अप्रमत्त रहना चाहिये, तभी मार्गकी प्राप्ति होकर अंधापन दूर हो सकता है। अनादिकालसे जीव उल्टे मार्गपर चल रहा है; यद्यपि उसने जप, तप, शास्त्राध्ययन वगैरे अनन्तबार किये हैं, तथापि जो कुछ करना आवश्यक था वह उसने नहीं किया, जो कि हमने पहिले ही कह दिया है।

सूयगडांगसूत्रमें जहाँ भगवान् ऋषभदेवजीने अपने अट्ठानवें पुत्रोंको उपदेश किया है, और उन्हें मोक्ष-मार्गपर चढ़ाया है, वहाँ इस तरहका उपदेश दिया है:—हे आयुष्मानो! इस जीवने एक बात छोड़कर सब कुछ किया है; तो बताओ कि वह एक बात क्या है? तो निश्चयपूर्वक कहते हैं कि सत्पुरुषका कहा हुआ वचन—उसका उपदेश; इसे इस जीवने नहीं सुना, और ठीक रीतिसे नहीं धारण किया; और हमने उसीको मुनियोंका सामायिक (आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति) कहा है।

सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीको उपदेश देते हैं कि, जिसने समस्त जगत्का दर्शन किया है, ऐसे महावीरभगवान्ने हमें इस तरह कहा है:—गुरुके आधीन होकर आचरण करनेवाले ऐसे अनन्त पुरुषोंने मार्ग पाकर मोक्ष प्राप्त किया है।

एक इसी जगह नहीं परन्तु सब जगह और सब शास्त्रोंमें यही बात कहनेका उद्देश है।

आणाए धम्मो आणाए तवो

आज्ञाका आराधन ही धर्म है; आज्ञाका आराधन ही तप है—

यह आशय जीवको समझमें नहीं आया, इसके कारणोंमेंसे प्रधान कारण स्वच्छंद है।

बम्बई, पौष १९४७

१६८

सत्स्वरूपको अभेदरूपसे अनन्य भक्तिसे नमस्कार

जिसको मार्गकी इच्छा उत्पन्न हुई है, उसे सब विकल्पोंको छोड़कर केवल यही एक [illegible] स्मरण करना आवश्यक है:—

“अनंतकालसे जीव परिभ्रमण कर रहा है, फिर भी उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती? और वह निवृत्ति क्या करनेसे हो सकती है?

इस वाक्यमें अनन्त अर्थ समाविष्ट हैं; तथा इस वाक्यमें उपरोक्त चिन्तन किये बिना और उसके लिये दृढ होकर तन्मय हुए बिना मार्गकी दिशाका किंचित् भी भान नहीं होता, पूर्वमें नहीं हुआ, और भविष्यकालमें भी नहीं होगा। हमने तो ऐसे ही जाना है, इसलिये तुम सबको भी इसी खोज करना है; फिर उसके बाद ही, दूसरा क्या जाननेकी जरूरत है, उस बातका पता चलता है।

१६९

बम्बई, माघ सुदी ७ [illegible] १९४७

जिसे मु— पनेसे रहना पड़ता है ऐसे जिज्ञासु!

जीवके दो बड़े बंधन हैं—एक स्वच्छंद और दूसरा प्रतिबंध। जिसकी स्वच्छंदता दूर करनेकी इच्छा है, उसे ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन करना चाहिये; तथा जिसकी प्रतिबंध दूर करनेकी इच्छा है, उसे सर्व-संगका त्यागी होना चाहिये। यदि ऐसा न होगा तो बंधनका नाश न होगा। जिसका स्वच्छंद [illegible]

जो कोई दूसरे भी तुम्हारे सहवासी (श्रावक आदि) धर्म-क्रियाके नामसे क्रिया करते हों, उसका निषेध नहीं करना। जिसने हालमें उपाधिरूप इच्छा स्वीकार की है ऐसे उस पुरुषको भी किसी प्रकारसे प्रगट न करना। ऐसी धर्म-कथा किसी दृढ जिज्ञासुसे ही थोड़े शब्दोंमें करना (यह भी यदि वह रुचि रखता हो तो), जिससे उसका लक्ष मार्गकी ओर फिरे। बाकी हालमें तो तुम सब अपनी सत्ताके लिये ही मिथ्या धर्म-वासनाओंका, विषय आदिकी प्रियताका, और प्रतिबंधका त्याग करना सीखो। जो कुछ प्रिय करने योग्य है, उसे जीवने कभी नहीं जाना; और बाकी कुछ भी प्रिय करने योग्य नहीं, यह हमारा निश्चय है।

योग्यताके लिये ब्रह्मचर्य महान् साधन है, और असत्संग महान् विघ्न है।

---

१७२ बम्बई, माघ सुदी ११ गुरु. १९४७

उपाधि-योगके कारण यदि शास्त्र-वाचन न हो सकता हो तो अभी उसे रहने देना, परन्तु उपाधिसे नित्य थोड़ा भी अवकाश लेकर जिससे चित्तवृत्ति स्थिर हो, ऐसी निवृत्तिमें बैठनेकी बहुत आवश्यकता है, और उपाधिमें भी निवृत्तिके लक्ष रखनेका ध्यान रखना।

जितना आयुका समय है उस संपूर्ण समयको यदि जीव उपाधियोंमें लगाये रखे तो मनुष्यत्वका सफल होना कैसे संभव हो सकता है! मनुष्यत्वकी सफलताके लिये ही जीना कल्याणकारक है, ऐसा निश्चय करना चाहिये। तथा उस सफलताके लिये जिन जिन साधनोंकी प्राप्ति करना योग्य है, उन्हें प्राप्त करनेके लिये नित्य ही निवृत्ति प्राप्त करनी चाहिये। निवृत्तिका अभ्यास किये बिना जीवकी प्रवृत्ति दूर नहीं हो सकती, यह एक ऐसी बात है जो प्रत्यक्ष समझमें आ जाती है।

जीवका बंधन धर्मके रूपमें मिथ्या वासनाओंके सेवन करनेसे हुआ है; इस महाबंधको दूर... ऐसी मिथ्या वासनायें किस तरह दूर हों, इसका विचार करनेका प्रयत्न चालू रखना।

---

१७३ बम्बई, माघ सुदी १९४७

(१)

वचनावली

१. जीव अपने आपको भूल गया है, और इसी कारण उसका सत्सुखसे वियोग हुआ है, ऐसा सब धर्मोंमें माना है।

२. ज्ञान मिलनेसे ही अपने आपको भूलजानेरूपी अज्ञानका नाश होता है, ऐसा निःशंक रीतिसे मानना।

३. उस ज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानीके पाससे ही होनी चाहिये; यह स्वाभाविकरूपसे समझमें आनेवाली बात है; तो भी जीव लोक-लज्जा आदि कारणोंसे अज्ञानीका आश्रय नहीं छोड़ता, यही अनंतानुबंधी कषायका मूल है।

४. जो ज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छा करता है उसे ज्ञानीकी इच्छानुसार चलना चाहिये, ऐसा जिनागम आदि सभी शास्त्र कहते हैं। अपनी इच्छासे चलते हुए जीव अनादिकालसे भटक रहा है।

जो कोई दूसरे भी तुम्हारे सहवासी (श्रावक आदि) धर्म-क्रियाके नामसे क्रिया करते हों, उसका निषेध नहीं करना। जिसने हालमें उपाधिरूप इच्छा स्वीकार की है ऐसे उस पुरुषको भी किसी प्रकारसे प्रगट न करना। ऐसी धर्म-कथा किसी दृढ़ जिज्ञासुसे ही थोड़े शब्दोंमें करना (वह भी यदि वह इच्छा रखता हो तो), जिससे उसका लक्ष मार्गकी ओर फिरे। बाकी हालमें तो तुम सब अपनी समझके लिये ही मिथ्या धर्म-वासनाओंका, विषय आदिकी प्रियताका, और प्रतिबंधका त्याग करना सीखो। जो कुछ प्रिय करने योग्य है, उसे जीवने कभी नहीं जाना; और बाकी कुछ भी प्रिय करने योग्य है नहीं, यह हमारा निश्चय है।

योग्यताके लिये ब्रह्मचर्य महान् साधन है, और असत्संग महान् विघ्न है।

१७२

बम्बई, माघ सुदी ११ गुरु. १९४७

उपाधि-योगके कारण यदि शास्त्र-वाचन न हो सकता हो तो अभी उसे रहने देना, परन्तु उपाधिसे नित्य थोड़ा भी अवकाश लेकर जिससे चित्तवृत्ति स्थिर हो, ऐसी निवृत्तिमें बैठनेकी बहुत आवश्यकता है, और उपाधिमें भी निवृत्तिके लक्ष रखनेका ध्यान रखना।

जितना आयुका समय है उस संपूर्ण समयको यदि जीव उपाधियोंमें लगाये रक्खे तो मनुष्यत्वका सफल होना कैसे संभव हो सकता है? मनुष्यत्वकी सफलताके लिये ही जीना कल्याणकारक है, ऐसा निश्चय करना चाहिये। तथा उस सफलताके लिये जिन जिन साधनोंकी प्राप्ति करने योग्य है, उन्हें प्राप्त करनेके लिये नित्य ही निवृत्ति प्राप्त करनी चाहिये। निवृत्तिका अभ्यास किये बिना जीवकी प्रवृत्ति दूर नहीं हो सकती, यह एक ऐसी बात है जो प्रत्यक्ष समझमें आ जाती है।

जीवका बंधन धर्मके रूपमें मिथ्या वासनाओंके सेवन करनेसे हुआ है; इस महालक्षको रखते हुए ऐसी मिथ्या वासनाएं किस तरह दूर हों, इसका विचार करनेका प्रयत्न चालू रखना।

१७३

बम्बई, माघ सुदी १९४७

(१)

वचनावली

१. जीव अपने आपको भूल गया है, और इसी कारण उसका सत्सुखसे वियोग हुआ है, ऐसा सब धर्मोंमें माना है।

२. ज्ञान मिलनेसे ही अपने आपको भूलजानेरूपी अज्ञानका नाश होता है, ऐसा संदेह-रहित मानना।

३. उस ज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानीके पाससे ही होनी चाहिये; यह स्वाभाविकरूपसे समझमें आनेवाली बात है; तो भी जीव लोक-लज्जा आदि कारणोंसे अज्ञानीका आश्रय नहीं छोड़ता, यही अनंतानुबंधी कषायका मूल है।

४. जो ज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छा करता है उसे ज्ञानीकी इच्छानुसार चलना चाहिये, ऐसा जिनागम आदि सभी शास्त्र कहते हैं। अपनी इच्छासे चलते हुए जीव अनादिकालसे भटक रहा है

५. जबतक प्रत्यक्ष-ज्ञानीकी इच्छानुसार, अर्थात् उसकी आज्ञानुसार नहीं चला जाय, तबतक अज्ञानकी निवृत्ति होना संभव नहीं।

६. ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन वही कर सकता है जो एकनिष्ठासे तन, मन, धनकी आसक्तिका त्याग करके उसकी भक्तिमें लगे।

७. यद्यपि ज्ञानी लोग भक्तिकी इच्छा नहीं करते, परन्तु उसको किये बिना मोक्षाभिलाषीको उपदेश नहीं लगता, तथा वह उपदेश मनन और निदिध्यासन आदिका हेतु नहीं होता, इसलिये मुमुक्षुओंको ज्ञानीकी भक्ति अवश्य करना चाहिये, ऐसा सत्पुरुषोंने कहा है।

८. ऋषभदेवजीने अपने अट्ठानवें पुत्रोंको शीघ्रसे शीघ्र मोक्ष जानेका यही मार्ग बताया था।

९. परीक्षित राजाको शुकदेवजीने यही उपदेश किया है।

१०. यदि जीव अनन्त कालतक भी अपनी इच्छानुसार चलकर परिश्रम करता रहे तो भी वह अपने आपसे ज्ञान नहीं प्राप्त कर पाता, परन्तु ज्ञानीकी आज्ञाका आराधक अन्तमुहूर्तमें भी केवलज्ञान पा सकता है।

११. शास्त्रमें कही हुई आज्ञायें परोक्ष हैं, और वे जीवको अधिकारी होनेके लिये ही कही गई हैं; मोक्षप्राप्तिके लिये तो ज्ञानीकी प्रत्यक्ष आज्ञाका आराधन होना चाहिये।

(२)

चाहे जैसे विकट मार्गसे भी यदि परमात्मामें परमस्नेह होता हो तो भी उसे करना ही योग्य है। सरल मार्ग मिलनेपर उपाधिके कारणसे तन्मय भक्ति नहीं रहती, और एकसरीखा स्नेह नहीं उभराता; इस कारण खेद रहा करता है, और बारम्बार वनवासकी इच्छा हुआ करती है। यद्यपि वैराग्य तो ऐसा है कि प्रायः घर और वनमें आत्माको कोई भी भेद नहीं लगता, परन्तु उपाधिके प्रसंगके कारण उसमें उपयोग रखनेकी बारम्बार जरूरत रहा करती है, जिससे कि उस समय परम स्नेहपर आवरण लाना पड़ता है, और ऐसे परम स्नेह और अनन्य प्रेमभक्तिके आये बिना देहत्याग करनेकी इच्छा नहीं होती।

यदि कदाचित् सब आत्माओंकी ऐसी ही इच्छा हो तो कैसी भी दीनतासे उस इच्छाको निवृत्त करना, किन्तु प्रेमभक्तिकी पूर्ण लय आये बिना देहत्याग नहीं किया जा सकता, और बारम्बार यही रटन रहनेसे हमेशा यही मन रहता है कि 'वनमें जाँय' 'वनमें जाँय'। यदि आपका निरंतर सत्संग रहा करे तो हमें घर भी वनवास ही है।

श्रीमद्भागवतमें गोपांगनाकी सुंदर आख्यायिका दी हुई है, और उनकी प्रेमभक्तिका वर्णन किया है। ऐसी प्रेमभक्ति इस कलिकालमें प्राप्त होना कठिन है, यद्यपि यह सामान्य कथन है, तथापि कलिकालमें निश्चय मतिसे यही रटन लगी रहे तो परमात्मा अनुग्रह करके शीघ्र ही यह भक्ति प्रदान करता है। यह दशा बारम्बार याद आती है; और ऐसा उन्मत्तपना परमात्माको पानेका परमद्वार है; यही दशा विदेही थी।

भरतजीको हरिणके संगसे जन्मकी वृद्धि हुई थी, और उससे वे जड़भरतके भवमें असंग होकर

जो कोई दूसरे भी तुम्हारे सहवासी (श्रावक आदि) धर्म-क्रियाके नामसे क्रिया करते हों, उनका निषेध नहीं करना। जिसने हालमें उपाधिरूप इच्छा स्वीकार की है ऐसे उस पुरुषको भी किसी प्रकारसे प्रगट न करना। ऐसी धर्म-कथा किसी दृढ़ जिज्ञासुसे ही थोड़े शब्दोंमें करना (वह भी यदि वह इच्छा रखता हो तो), जिससे उसका लक्ष मार्गकी ओर फिरे। बाकी हालमें तो तुम सब अपनी सफलताके लिये ही मिथ्या धर्म-वासनाओंका, विषय आदिकी प्रियताका, और प्रतिबंधका त्याग करना सीखो। जो कुछ प्रिय करने योग्य है, उसे जीवने कभी नहीं जाना; और बाकी कुछ भी प्रिय करने योग्य है नहीं, यह हमारा निश्चय है।

योग्यताके लिये ब्रह्मचर्य महान् साधन है, और असत्संग महान् विघ्न है।

१७२

बम्बई, माघ सुदी ११ गुरु. १९४७

उपाधि-योगके कारण यदि शास्त्र-वाचन न हो सकता हो तो अभी उसे रहने देना, परन्तु उपाधिसे नित्य थोड़ा भी अवकाश लेकर जिससे चित्तवृत्ति स्थिर हो, ऐसी निवृत्तिमें बैठनेकी बहुत आवश्यकता है, और उपाधिमें भी निवृत्तिके लक्ष रखनेका ध्यान रखना।

जितना आयुका समय है उस संपूर्ण समयको यदि जीव उपाधियोंमें लगाये रखे तो मनुष्यत्वका सफल होना कैसे संभव हो सकता है? मनुष्यत्वकी सफलताके लिये ही जीना कल्याणकारक है, ऐसा निश्चय करना चाहिये। तथा उस सफलताके लिये जिन जिन साधनोंकी प्राप्ति करना योग्य है, उन्हें प्राप्त करनेके लिये नित्य ही निवृत्ति प्राप्त करनी चाहिये। निवृत्तिका अभ्यास किये बिना जीवकी प्रवृत्ति दूर नहीं हो सकती, यह एक ऐसी बात है जो प्रत्यक्ष समझमें आ जाती है।

जीवका बंधन धर्मके रूपमें मिथ्या वासनाओंके सेवन करनेसे हुआ है; इस महादोषको रखते हुए ऐसी मिथ्या वासनाएं किस तरह दूर हों, इसका विचार करनेका प्रयत्न चालू रखना।

१७३

बम्बई, माघ सुदी १९४७

(१)

वचनावली

१. जीव अपने आपको भूल गया है, और इसी कारण उसका सत्सुखसे वियोग हुआ है, ऐसा सब धर्मोंमें माना है।

२. ज्ञान मिलनेसे ही अपने आपको भूलजानेरूपी अज्ञानका नाश होता है, ऐसा संदेह-रहित मानना।

३. उस ज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानीके पाससे ही होनी चाहिये; यह स्वाभाविकरूपसे समझमें आनेवाली बात है; तो भी जीव लोक-लज्जा आदि कारणोंसे अज्ञानीका आश्रय नहीं छोड़ता, यही अनंतानुबंधी कषायका मूल है।

४. जो ज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छा करता है उसे ज्ञानीकी इच्छानुसार चलना चाहिये, ऐसा जिनागम आदि सभी शास्त्र कहते हैं। अपनी इच्छासे चलते हुए जीव अनादिकालसे भटक रहा है।

जो कोई दूसरे भी तुम्हारे सहवासी (श्रावक आदि) धर्म-क्रियाके नामसे क्रिया करते हों, उनका निषेध नहीं करना। जिसने हालमें उपाधिरूप इच्छा स्वीकार की है ऐसे उस पुरुषको भी किसी प्रकारसे प्रगट न करना। ऐसी धर्म-कथा किसी दृढ़ जिज्ञासुसे ही थोड़े शब्दोंमें करना (वह भी यदि वह इच्छा करता हो तो), जिससे उसका लक्ष मार्गकी ओर फिरे। बाकी हालमें तो तुम सब अपनी [illegible] लिये ही मिथ्या धर्म-वासनाओंका, विषय आदिकी प्रियताका, और प्रतिबंधका त्याग करना सीखो। जो कुछ प्रिय करने योग्य है, उसे जीवने कभी नहीं जाना; और बाकी कुछ भी प्रिय करने जैसा नहीं, यह हमारा निश्चय है।

योगमार्गके लिये ब्रह्मचर्य महान् साधन है, और असत्संग महान् विघ्न है।

१७२ बम्बई, माघ सुदी ११ गुरु. १९४७

उपाधि-योगके कारण यदि शास्त्र-वाचन न हो सकता हो तो अभी उसे रहने देना, परन्तु उपाधिसे निवृत्त होकर थोड़ा भी अवकाश लेकर जिससे चित्तवृत्ति स्थिर हो, ऐसी निवृत्तिमें बैठनेकी बहुत आवश्यकता है, और उपाधिमें भी निवृत्तिके लक्ष रखनेका ध्यान रखना।

जितना आयुका समय है उस संपूर्ण समयको यदि जीव उपाधियोंमें लगाये रक्खे तो मनुष्यत्वका सफल होना कैसे संभव हो सकता है? मनुष्यत्वकी सफलताके लिये ही जीना कल्याणकारक है, ऐसा निश्चय करना चाहिये। तथा उस सफलताके लिये जिन जिन साधनोंकी प्राप्ति करना योग्य है, उन्हें प्राप्त करनेके लिये नित्य ही निवृत्ति प्राप्त करनी चाहिये। निवृत्तिके अभ्यासके बिना जीवकी प्रवृत्ति दूर नहीं हो सकती, यह एक ऐसी बात है जो प्रत्यक्ष समझमें आ जाती है।

जीवका बंधन धर्मके रूपमें मिथ्या वासनाओंके सेवन करनेसे हुआ है; इस महापुरुषको [illegible] हुए ऐसी मिथ्या वासनायें किस तरह दूर हों, इसका विचार करनेका प्रयत्न चालू रखना।

१७३ बम्बई, माघ सुदी १९४७

(१)

वचनावली

१. जीव अपने आपको भूल गया है, और इसी कारण उसको सत्सुखका वियोग हुआ है, ऐसा सब धर्मोंने माना है।

२. ज्ञान मिलनेसे ही अपने आपको भूल जानेरूपी अज्ञानका नाश होता है, ऐसा निःशंक मानना।

३. उस ज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानीके पाससे ही होनी चाहिये, यह स्वाभाविकरूपसे समझमें आता है; फिर भी जीव लोक-लज्जा आदि कारणोंसे अज्ञानीका आश्रय नहीं छोड़ता, यही अनन्तानुबंधी कषायका मूल है।

४. जो ज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छा करता है उसे ज्ञानीकी इच्छानुसार चलना चाहिये, ऐसा जिनागम आदि सभी शास्त्र कहते हैं। अपनी इच्छासे चलते हुए जीव अनादिकालसे भटक रहा है।

जो कोई दूसरे भी तुम्हारे सहवासी (श्रावक आदि) धर्म-क्रियाके नामसे क्रिया करते हों, उसका निषेध नहीं करना। जिसने हालमें उपाधिरूप इच्छा स्वीकार की है ऐसे उस पुरुषको भी किसी प्रसंगमें प्रगट न करना। ऐसी धर्म-कथा किसी दृढ जिज्ञासुसे ही थोड़े शब्दोंमें करना (वह भी यदि वह इच्छा रखता हो तो), जिससे उसका लक्ष मार्गकी ओर फिरे। बाकी हालमें तो तुम सब अपनी इच्छाके लिये ही मिथ्या धर्म-वासनाओंका, विषय आदिकी प्रियताका, और प्रतिबंधका त्याग करना सीखो। जो कुछ प्रिय करने योग्य है, उसे जीवने कभी नहीं जाना; और बाकी कुछ भी प्रिय करने देना नहीं, यह हमारा निश्चय है।

योग्यताके लिये ब्रह्मचर्य महान् साधन है, और असत्संग महान् विघ्न है।

१७२

बम्बई, माघ सुदी ११ गुरु. १९४७

उपाधि-योगके कारण यदि शास्त्र-वाचन न हो सकता हो तो अभी उसे रहने देना, परन्तु उपाधिसे नित्य थोड़ा भी अवकाश लेकर जिससे चित्तवृत्ति स्थिर हो, ऐसी निवृत्तिमें बैठनेकी बहुत आवश्यकता है, और उपाधिमें भी निवृत्तिके लक्ष रखनेका ध्यान रखना।

जितना आयुका समय है उस संपूर्ण समयको यदि जीव उपाधियोंमें लगाये रखे तो मनुष्यत्वका सफल होना कैसे संभव हो सकता है? मनुष्यत्वकी सफलताके लिये ही जीना कल्याणकारक है, ऐसा निश्चय करना चाहिये। तथा उस सफलताके लिये जिन जिन साधनोंकी प्राप्ति करने योग्य है, उन्हें प्राप्त करनेके लिये नित्य ही निवृत्ति प्राप्त करनी चाहिये। निवृत्तिका अभ्यास किये बिना जीवकी प्रवृत्ति दूर नहीं हो सकती, यह एक ऐसी बात है जो प्रत्यक्ष समझमें आ जाती है।

जीवका बंधन धर्मके रूपमें मिथ्या वासनाओंके सेवन करनेसे हुआ है; इस महाबंधको रखते हुए ऐसी मिथ्या वासनाएं किस तरह दूर हों, इसका विचार करनेका प्रयत्न चालू रखना।

१७३

बम्बई, माघ सुदी १९४७

(१)

वचनावली

१. जीव अपने आपको भूल गया है, और इसी कारण उसका सत्सुखसे वियोग हुआ है, ऐसा सब धर्मोंमें माना है।

२. ज्ञान मिलनेसे ही अपने आपको भूलजानेरूपी अज्ञानका नाश होता है, ऐसा संदेह रहित मानना।

३. उस ज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानीके पाससे ही होनी चाहिये; यह स्वाभाविकरूपसे समझमें आनेवाली बात है; तो भी जीव लोक-लज्जा आदि कारणोंसे अज्ञानीका आश्रय नहीं छोड़ता, यह अनंतानुबंधी कषायका मूल है।

४. जो ज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छा करता है उसे ज्ञानीकी इच्छानुसार चलना चाहिये, ऐसा जिनागम आदि सभी शास्त्र कहते हैं। अपनी इच्छासे चलते हुए जीव अनादिकालसे भटकता है।

जो कोई दूसरे भी तुम्हारे सहवासी (श्रावक आदि) धर्म-क्रियाके नामसे क्रिया करते हैं, उनका निषेध नहीं करना। जिसने हालमें उपाधिरूप इच्छा स्वीकार की है ऐसे उस पुरुषको भी किसी प्रकारसे प्रगट न करना। ऐसी धर्म-कथा किसी दृढ़ जिज्ञासुसे ही थोड़े शब्दोंमें करना (वह भी यदि वह लक्ष रखता हो तो), जिससे उसका लक्ष मार्गकी ओर फिरे। बाकी हालमें तो तुम सब अपनी इच्छासे ही मिथ्या धर्म-वासनाओंका, विषय आदिकी प्रियताका, और प्रतिबंधका त्याग करना सीखो। जो कुछ प्रिय करने योग्य है, उसे जीवने कभी नहीं जाना; और बाकी कुछ भी प्रिय करने जैसा नहीं, यह हमारा निश्चय है।

योग्यताके लिये ब्रह्मचर्य महान् साधन है, और असत्संग महान् विघ्न है।

१७२

बम्बई, माघ सुदी ११ गुरु. १९४७

उपाधि-योगके कारण यदि शास्त्र-वाचन न हो सकता हो तो अभी उसे रहने देना, पर उसमें नित्य थोड़ा भी अवकाश लेकर जिससे चित्तवृत्ति स्थिर हो, ऐसी निवृत्तिमें बैठनेकी बहुत आवश्यकता है, और उपाधिमें भी निवृत्तिके लक्ष रखनेका ध्यान रखना।

जितना आयुका समय है उस संपूर्ण समयको यदि जीव उपाधियोंमें लगाये तो मनुष्यत्वका सफल होना कैसे संभव हो सकता है? मनुष्यत्वकी सफलताके लिये ही जीना कल्याणकारक है, ऐसा निश्चय करना चाहिये। तथा उस सफलताके लिये जिन जिन साधनोंकी प्राप्ति करनी योग्य है, उन्हें प्राप्त करनेके लिये नित्य ही निवृत्ति प्राप्त करनी चाहिये। निवृत्तिका अभ्यास किये बिना जीवकी प्रवृत्ति दूर नहीं हो सकती, यह एक ऐसी बात है जो प्रत्यक्ष समझमें आ सकती है।

जीवका बंधन धर्मके रूपमें मिथ्या वासनाओंके सेवन करनेसे हुआ है; इस महादोषको दूर ऐसी मिथ्या वासनाएं किस तरह दूर हों, इसका विचार करनेका प्रयत्न चालू रखना।

१७३

बम्बई, माघ सुदी १९४७

(१)

वचनावली

१. जीव अपने आपको भूल गया है, और इसी कारण उसको सत्सुखका वियोग हुआ है, ऐसा सब धर्मोंने कहा है।

२. ज्ञान मिलनेसे ही अपने आपको भूल जानेरूपी अज्ञानका नाश होता है, ऐसा निःशंक मानना।

३. उस ज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानीके पाससे ही होनी चाहिये, यह स्वाभाविकरूपसे समझमें आता है; तो भी जीव लोक-लज्जा आदि कारणोंसे अज्ञानीका आश्रय नहीं छोड़ता, यह अनंतानुबंधी कषायका मूल है।

४. जो ज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छा करता है उसे ज्ञानीकी इच्छानुसार चलना चाहिये, ऐसा जिनागम आदि सभी शास्त्र कहते हैं। अपनी इच्छासे चलते हुए जीव अनादिकालसे भटक रहा है।

जो कोई दूसरे भी तुम्हारे सहवासी (श्रावक आदि) धर्म-क्रियाके नामसे क्रिया करते हों, उनका निषेध नहीं करना। जिसने हालमें उपाधिरूप इच्छा स्वीकार की है ऐसे उस पुरुषको भी किसी प्रकारसे प्रगट न करना। ऐसी धर्म-कथा किसी दृढ़ जिज्ञासुसे ही थोड़े शब्दोंमें करना (वह भी यदि वह इच्छा रखता हो तो), जिससे उसका लक्ष मार्गकी ओर फिरे। बाकी हालमें तो तुम सब अपनी इच्छाके लिये ही मिथ्या धर्म-वासनाओंका, विषय आदिकी प्रियताका, और प्रतिबंधका त्याग करना सीखो। जो कुछ प्रिय करने योग्य है, उसे जीवने कभी नहीं जाना; और बाकी कुछ भी प्रिय करने योग्य है नहीं, यह हमारा निश्चय है।

योग्यताके लिये ब्रह्मचर्य महान् साधन है, और असत्संग महान् विघ्न है।

१७२ बम्बई, माघ सुदी ११ गुरु. १९४७

उपाधि-योगके कारण यदि शास्त्र-वाचन न हो सकता हो तो अभी उसे रहने देना, परन्तु उपाधिसे नित्य थोड़ा भी अवकाश लेकर जिससे चित्तवृत्ति स्थिर हो, ऐसी निवृत्तिमें बैठनेकी बहुत आवश्यकता है, और उपाधिमें भी निवृत्तिके लक्ष रखनेका ध्यान रखना।

जितना आयुका समय है उस संपूर्ण समयको यदि जीव उपाधियोंमें लगाये रक्खे तो मनुष्यत्वका सफल होना कैसे संभव हो सकता है? मनुष्यत्वकी सफलताके लिये ही जीना कल्याणकारक है, ऐसा निश्चय करना चाहिये। तथा उस सफलताके लिये जिन जिन साधनोंकी प्राप्ति करनी योग्य है, उन्हें प्राप्त करनेके लिये नित्य ही निवृत्ति प्राप्त करनी चाहिये। निवृत्तिका अभ्यास किये बिना जीवकी प्रवृत्ति दूर नहीं हो सकती, यह एक ऐसी बात है जो प्रत्यक्ष समझमें आ जाती है।

जीवका बंधन धर्मके रूपमें मिथ्या वासनाओंके सेवन करनेसे हुआ है; इस महादुःखको रखते हुए ऐसी मिथ्या वासनाएं किस तरह दूर हों, इसका विचार करनेका प्रयत्न चालू रखना।

१७३ बम्बई, माघ सुदी १९४७

(१)

वचनावली

१. जीव अपने आपको भूल गया है, और इसी कारण उसका सत्सुखसे वियोग हुआ है, ऐसा सब धर्मोंमें माना है।

२. ज्ञान मिलनेसे ही अपने आपको भूलजानेरूपी अज्ञानका नाश होता है, ऐसा संदेह रहित मानना।

३. उस ज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानीके पाससे ही होनी चाहिये; यह स्वाभाविकरूपसे समझमें आनेवाली बात है; तो भी जीव लोक-लज्जा आदि कारणोंसे अज्ञानीका आश्रय नहीं छोड़ता, यह अनंतानुबंधी कषायका मूल है।

४. जो ज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छा करता है उसे ज्ञानीकी इच्छानुसार चलना चाहिये, ऐसा जिनागम आदि सभी शास्त्र कहते हैं। अपनी इच्छासे चलते हुए जीव अनादिकालसे भटक रहा है।

रहे थे । इसी कारणसे मुझे भी असंगता बहुत याद आती है, और कभी कभी तो ऐसा हो जाता है कि असंगताके बिना परम दुःख होता है । अनंतकालसे प्राणीको जितना यम दुःखदायक नहीं लगा उससे भी अधिक हमें संग दुःखदायक लगता है । ऐसी बहुतसी अंतर्वृत्तियाँ हैं जो एक ही प्रकारकी हैं, जो लिखी भी नहीं जातीं, और उन्हें लिखे बिना चुप भी रहा नहीं जाता; और आपका वियोग हमें खलता रहता है; कोई सुगम उपाय भी नहीं मिलता । उदयकर्म भोगते हुए दीनता करना उचित नहीं । भविष्यके एक क्षणकी भी चिन्ता नहीं है ।

सत् सत् और सत्के साधन स्वरूप आप वहाँ हैं । अधिक क्या कहें! ईश्वरकी इच्छा ऐसी ही है, और उसे प्रसन्न रक्खे बिना छुटकारा नहीं; नहीं तो ऐसी उपाधियुक्त दशामें न रहें और मनचाहा करें । परम............के कारण प्रेमभक्तिमय ही रहें, परन्तु प्रारब्ध कर्म प्रबल है ।

१७४

बम्बई, माघ वदी ३, १९४

सर्वथा निर्विकार होनेपर भी परब्रह्म प्रेममय पराभक्तिके वश है, यह गुप्त शिक्षा, जिसने हृदयमें इस बातका अनुभव किया है, ऐसे ज्ञानियोंकी है

यहाँ परमानन्द है । असंगवृत्ति होनेसे समुदायमें रहना बहुत कठिन मालूम होता है । जिसका यथार्थ आनन्द किसी भी प्रकारसे नहीं कहा जा सकता, ऐसा सत्स्वरूप जिसके हृदयमें प्रकाशित हुआ है, ऐसे महाभाग्य ज्ञानियोंकी और आपकी हमारे ऊपर कृपा रहे; हम तो आपकी चरण-रज हैं; और तीनों कालमें निरंजनदेवसे यही प्रार्थना है कि ऐसा ही प्रेम बना रहे ।

आज प्रभातसे निरंजनदेवका कोई अद्भुत अनुग्रह प्रकाशित हुआ है । आज बहुत दिनसे इच्छित पराभक्ति किसी अनुपमरूपमें उदित हुई है । श्रीभागवतमें एक कथा है कि गोपियाँ भगवान् वासुदेव (कृष्णचन्द्र) को मक्खनकी मटकीमें रखकर बेचनेके लिये निकली थीं; वह प्रसंग आज बहुत याद आ रहा है । जहाँ अमृत प्रवाहित होता है, वही सहस्रदल-कमल है, और वही यह मक्खनकी मटकी है; और जो आदिपुरुष उसमें विराजमान है, वे ही यहाँ भगवान् वासुदेव हैं । सत्पुरुषकी चित्तवृत्तिरूपी गोपीको उसकी प्राप्ति होनेपर वह गोपी उल्लासमें आकर दूसरी किन्हीं मुमुक्षु आत्माओंसे कहती है कि 'कोई माधव लो, हाँरे कोई माधव लो'—अर्थात् वह वृत्ति कहती है कि हमें आदिपुरुषकी प्राप्ति हो गई है, और बस यह एक ही प्राप्त करनेके योग्य है, दूसरा कुछ भी प्राप्त करनेके योग्य नहीं, इसलिये तुम इसे प्राप्त करो । उल्लासमें वह फिर फिर कहती जाती है कि तुम उस पुराणपुरुषको प्राप्त करो, और यदि उस प्राप्तिकी इच्छा अचल प्रेमसे करते हो तो हम तुम्हें इस आदिपुरुषको दे दें । हम इसे मटकीमें रखकर बेचने निकलीं हैं, योग्य ग्राहक देखकर ही देतीं हैं; कोई ग्राहक बने, अचल प्रेमसे कोई ग्राहक बनो, तो हम वासुदेवकी प्राप्ति करा दें ।

मटकीमें रखकर बेचनेको निकलनेका गूढ आशय यह है कि हमें सहस्रदल-कमलमें वासुदेव भगवान् मिल गये हैं । मक्खनका केवल नाममात्र ही है । यदि समस्त सृष्टिको मथकर मक्खन निकालें तो केवल एक अमृतरूपी वासुदेवभगवान् ही निकलते हैं । इस कथाका असली सूक्ष्म स्वरूप

रहे थे। इसी कारणसे मुझे भी असंगता बहुत याद आती है, और कभी कभी तो ऐसा हो जाता है कि असंगताके बिना परम दुःख होता है। अनंतकालसे प्राणीको जितना यम दुःखदायक नहीं लगा उससे भी अधिक हमें संग दुःखदायक लगता है। ऐसी बहुतसी अंतर्वृत्तियाँ हैं जो एक ही प्रकारकी हैं, जो लिखी भी नहीं जातीं, और उन्हें लिखे बिना चुप भी रहा नहीं जाता; और आपका वियोग कष्ट खलता रहता है; कोई सुगम उपाय भी नहीं मिलता। उदयकर्म भोगते हुए दीनता करना उचित नहीं। भविष्यके एक क्षणकी भी चिन्ता नहीं है।

सत् सत् और सत्के साधन स्वरूप आप वहाँ हैं। अधिक क्या कहें! ईश्वरकी इच्छा ऐसी है है, और उसे प्रसन्न रक्खे बिना छुटकारा नहीं; नहीं तो ऐसी उपाधियुक्त दशामें न रहें और मनन करें। परम...........के कारण प्रेमभक्तिमय ही रहें, परन्तु प्रारब्ध कर्म प्रबल है।

१७४

बम्बई, माघ वदी ३, १९४७

सर्वथा निर्विकार होनेपर भी परब्रह्म प्रेममय पराभक्तिके वश है, यह गुप्त शिक्षा, जिसने हृदयमें इस बातका अनुभव किया है, ऐसे ज्ञानियोंकी है

यहाँ परमानन्द है। असंगवृत्ति होनेसे समुदायमें रहना बहुत कठिन मालूम होता है। जिसका यथार्थ आनन्द किसी भी प्रकारसे नहीं कहा जा सकता, ऐसा सत्स्वरूप जिसके हृदयमें प्रकाशित हुआ है, ऐसे महाभाग्य ज्ञानियोंकी और आपकी हमारे ऊपर कृपा रहे; हम तो आपकी चरण-रज हैं; और तीनों कालमें निरंजनदेवसे यही प्रार्थना है कि ऐसा ही प्रेम बना रहे।

आज प्रभातसे निरंजनदेवका कोई अद्भुत अनुग्रह प्रकाशित हुआ है। आज बहुत दिनसे इच्छित पराभक्ति किसी अनुपमरूपमें उदित हुई है। श्रीभागवतमें एक कथा है कि गोपियाँ भगवान् वासुदेव (कृष्णचन्द्र) को मक्खनकी मटकीमें रखकर बेचनेके लिये निकली थीं; वह प्रसंग आज बहुत याद आ रहा है। जहाँ अमृत प्रवाहित होता है, वही सहस्रदल-कमल है, और वही यह मक्खनकी मटकी है; और जो आदिपुरुष उसमें विराजमान हैं, वे ही यहाँ भगवान् वासुदेव हैं। सत्पुरुषकी चित्तवृत्तिरूपी गोपीको उसकी प्राप्ति होनेपर वह गोपी उल्लासमें आकर दूसरी किन्हीं मुमुक्षु आत्माओंसे कहती है कि 'कोई माधव लो, हाँरे कोई माधव लो'—अर्थात् वह वृत्ति कहती है कि हमें आदिपुरुषकी प्राप्ति हो गई है, और बस यह एक ही प्राप्त करनेके योग्य है, दूसरा कुछ भी प्राप्त करनेके योग्य नहीं, इसलिये तुम इसे प्राप्त करो। उल्लासमें वह फिर फिर कहती जाती है कि तुम उस पुराणपुरुषको प्राप्त करो, और यदि उस प्राप्तिकी इच्छा अचल प्रेमसे करते हो तो हम तुम्हें इस आदिपुरुषको दे दें। हम इसे मटकीमें रखकर बेचने निकली हैं, योग्य ग्राहक देखकर ही देती हैं; कोई ग्राहक बनो, अचल प्रेमसे कोई ग्राहक बनो, तो हम वासुदेवकी प्राप्ति करा दें।

मटकीमें रखकर बेचनेको निकलनेका गूढ़ आशय यह है कि हमें सहस्रदल-कमलमें वासुदेव भगवान् मिल गये हैं। मक्खनका केवल नाममात्र ही है। यदि समस्त सृष्टिको मथकर मक्खन निकालें तो केवल एक अमृतरूपी वासुदेवभगवान् ही निकलते हैं। इस कथाका असली सूक्ष्म स्वरूप

रहे थे । इसी कारणसे मुझे भी असंगता बहुत याद आती है, और कभी कभी तो ऐसा [illegible] कि असंगताके बिना परम दुःख होता है । अनंतकालसे प्राणीको जितना यम दुःखदायक नहीं लगा उससे भी अधिक हमें संग दुःखदायक लगता है । ऐसी बहुतसी अंतर्वृत्तियाँ हैं जो एक ही प्रकारकी हैं, जो लिखी भी नहीं जातीं, और उन्हें लिखे बिना चुप भी रहा नहीं जाता; और आपका वियोग [illegible] खलता रहता है; कोई सुगम उपाय भी नहीं मिलता । उदयकर्म भोगते हुए दीनता करना उचित नहीं । भविष्यके एक क्षणकी भी चिन्ता नहीं है ।

सत् सत् और सत्के साधन स्वरूप आप वहाँ हैं । अधिक क्या कहें! ईश्वरकी इच्छा ऐसी ही है, और उसे प्रसन्न रक्खे बिना छुटकारा नहीं; नहीं तो ऐसी उपाधियुक्त दशामें न रहें और मनमाना करें । परम..........के कारण प्रेमभक्तिमय ही रहें, परन्तु प्रारब्ध कर्म प्रबल है ।

१७४

बम्बई, माघ वदी ३, १९४७

सर्वथा निर्विकार होनेपर भी परब्रह्म प्रेममय पराभक्तिके वश है, यह गुप्त शिक्षा, जिसने हृदयमें इस बातका अनुभव किया है, ऐसे ज्ञानियोंकी है

यहाँ परमानन्द है । असंगवृत्ति होनेसे समुदायमें रहना बहुत कठिन मालूम होता है । जिसका यथार्थ आनन्द किसी भी प्रकारसे नहीं कहा जा सकता, ऐसा सत्स्वरूप जिसके हृदयमें प्रकाशित हुआ है, ऐसे महाभाग्य ज्ञानियोंकी और आपकी हमारे ऊपर कृपा रहे; हम तो आपकी चरण-रज हैं; और तीनों कालमें निरंजनदेवसे यही प्रार्थना है कि ऐसा ही प्रेम बना रहे ।

आज प्रभातसे निरंजनदेवका कोई अद्भुत अनुग्रह प्रकाशित हुआ है । आज बहुत दिनसे इच्छित पराभक्ति किसी अनुपमरूपमें उदित हुई है । श्रीभागवतमें एक कथा है कि गोपियाँ भगवान् वासुदेव (कृष्णचन्द्र) को मक्खनकी मटकीमें रखकर बेचनेके लिये निकली थीं; वह प्रसंग आज मुझे याद आ रहा है । जहाँ अमृत प्रवाहित होता है, वही सहस्रदल-कमल है, और वही यह मक्खनकी मटकी है; और जो आदिपुरुष उसमें विराजमान हैं, वे ही यहाँ भगवान् वासुदेव हैं । सत्पुरुषकी चित्तवृत्तिरूपी गोपीको उसकी प्राप्ति होनेपर वह गोपी उल्लासमें आकर दूसरी किन्हीं मुमुक्षु आत्माओंसे कहती है कि 'कोई माधव लो, हाँरे कोई माधव लो'—अर्थात् वह वृत्ति कहती है कि हमें आदिपुरुषकी प्राप्ति हो गई है, और बस यह एक ही प्राप्त करनेके योग्य है, दूसरा कुछ भी प्राप्त करनेके योग्य नहीं, इसलिये तुम इसे प्राप्त करो । उल्लासमें वह फिर फिर कहती जाती है कि तुम उस पुरुषोत्तमको प्राप्त करो, और यदि उस प्राप्तिकी इच्छा अचल प्रेमसे करते हो तो हम तुम्हें इस आदिपुरुषको दे दें। हम इसे मटकीमें रखकर बेचने निकली हैं, योग्य ग्राहक देखकर ही देतीं हैं; कोई ग्राहक बनो, अचल प्रेमसे कोई ग्राहक बनो, तो हम वासुदेवकी प्राप्ति करा दें ।

मटकीमें रखकर बेचनेको निकलनेका गूढ़ आशय यह है कि हमें सहस्रदल-कमलमें वासुदेव भगवान् मिल गये हैं । मक्खनका केवल नाममात्र ही है । यदि समस्त सृष्टिको मथकर मक्खन निकालें तो केवल एक अमृतरूपी वासुदेवभगवान् ही निकलते हैं । इस कथाका असली सूक्ष्म [illegible]

रहे थे । इसी कारणसे मुझे भी असंगता बहुत याद आती है, और कभी कभी तो ऐसा हो जाता है कि असंगताके बिना परम दुःख होता है । अनंतकालसे प्राणीको जितना यम दुःखदायक नहीं लगा उससे भी अधिक हमें संग दुःखदायक लगता है । ऐसी बहुतसी अंतर्वृत्तियाँ हैं जो एक ही प्रकारकी हैं, जो लिखी भी नहीं जातीं, और उन्हें लिखे बिना चुप भी रहा नहीं जाता; और आपका वियोग खलता रहता है; कोई सुगम उपाय भी नहीं मिलता । उदयकर्म भोगते हुए दीनता करना ठीक नहीं । भविष्यके एक क्षणकी भी चिन्ता नहीं है ।

सत् सत् और सत्के साधन स्वरूप आप वहाँ हैं । अधिक क्या कहें ! ईश्वरकी इच्छा ऐसी ही है, और उसे प्रसन्न रक्खे बिना छुटकारा नहीं; नहीं तो ऐसी उपाधियुक्त दशामें न रहें और मनन करें । परम............के कारण प्रेमभक्तिमय ही रहें, परन्तु प्रारब्ध कर्म प्रबल है ।

१७४

बम्बई, माघ वदी ३, १९४७

सर्वथा निर्विकार होनेपर भी परब्रह्म प्रेममय पराभक्तिके वश है, यह गुप्त शिक्षा, जिसने हृदयमें इस बातका अनुभव किया है, ऐसे ज्ञानियोंकी है

यहाँ परमानन्द है । असंगवृत्ति होनेसे समुदायमें रहना बहुत कठिन मालूम होता है । जिसका यथार्थ आनन्द किसी भी प्रकारसे नहीं कहा जा सकता, ऐसा सत्स्वरूप जिसके हृदयमें प्रकाशित हुआ है, ऐसे महाभाग्य ज्ञानियोंकी और आपकी हमारे ऊपर कृपा रहे; हम तो आपकी चरण-रज हैं; और तीनों कालमें निरंजनदेवसे यही प्रार्थना है कि ऐसा ही प्रेम बना रहे ।

आज प्रभातसे निरंजनदेवका कोई अद्भुत अनुग्रह प्रकाशित हुआ है । आज बहुत दिनसे इच्छित पराभक्ति किसी अनुपमरूपमें उदित हुई है । श्रीभागवतमें एक कथा है कि गोपियाँ भगवान् वासुदेव (कृष्णचन्द्र) को मक्खनकी मटकीमें रखकर बेचनेके लिये निकलीं थीं; वह प्रसंग आज यहाँ याद आ रहा है । जहाँ अमृत प्रवाहित होता है, वही सहस्रदल-कमल है, और वही यह मक्खनकी मटकी है; और जो आदिपुरुष उसमें विराजमान हैं, वे ही यहाँ भगवान् वासुदेव हैं । सत्पुरुषकी चित्तवृत्तिरूपी गोपीको उसकी प्राप्ति होनेपर वह गोपी उल्लासमें आकर दूसरी किन्हीं मुमुक्षु आत्माओंसे कहती है कि 'कोई माधव लो, हाँरे कोई माधव लो'—अर्थात् वह वृत्ति कहती है कि हमें आदिपुरुषकी प्राप्ति हो गई है, और बस यह एक ही प्राप्त करनेके योग्य है, दूसरा कुछ भी प्राप्त करनेके योग्य नहीं, इसलिये तुम इसे प्राप्त करो । उल्लासमें वह फिर फिर कहती जाती है कि तुम उस पुराणपुरुषको प्राप्त करो, और यदि उस प्राप्तिकी इच्छा अचल प्रेमसे करते हो तो हम तुम्हें इस आदिपुरुषको देंगे । हम इसे मटकीमें रखकर बेचने निकली हैं, योग्य ग्राहक देखकर ही देती हैं; कोई ग्राहक बनो, अचल प्रेमसे कोई ग्राहक बनो, तो हम वासुदेवकी प्राप्ति करा दें ।

मटकीमें रखकर बेचनेको निकलनेका गूढ आशय यह है कि हमें सहस्रदल-कमलमें वासुदेव भगवान् मिल गये हैं । मक्खनका केवल नाममात्र ही है । यदि समस्त सृष्टिको मथकर मक्खन निकालें तो केवल एक अमृतरूपी वासुदेवभगवान् ही निकलते हैं । इस कथाका असली मूल तत्त्व

रहे थे । इसी कारणसे मुझे भी असंगता बहुत याद आती है, और कभी कभी तो ऐसा हो
कि असंगताके बिना परम दुःख होता है । अनंतकालसे प्राणीको जितना यम दुःखदायक नहीं
उससे भी अधिक हमें संग दुःखदायक लगता है । ऐसी बहुतसी अंतर्वृत्तियाँ हैं जो एक ही
हैं, जो लिखी भी नहीं जातीं, और उन्हें लिखे बिना चुप भी रहा नहीं जाता; और आपका वि
खलता रहता है; कोई सुगम उपाय भी नहीं मिलता । उदयकर्म भोगते हुए दीनता करना
नहीं । भविष्यके एक क्षणकी भी चिन्ता नहीं है ।

सत् सत् और सत्के साधन स्वरूप आप वहाँ हैं । अधिक क्या कहें! ईश्वरकी इच्छा
है, और उसे प्रसन्न रक्खे बिना छुटकारा नहीं; नहीं तो ऐसी उपाधियुक्त दशामें न रहें और
करें । परम............के कारण प्रेमभक्तिमय ही रहें, परन्तु प्रारब्ध कर्म प्रबल है ।

१७४

बम्बई, माघ वदी ३,

सर्वथा निर्विकार होनेपर भी परब्रह्म प्रेममय पराभक्तिके वश है, यह गुप्त रहस्य जिसने हृदयमें इस बातका अनुभव किया है, ऐसे ज्ञानियोंकी है

यहाँ परमानन्द है । असंगवृत्ति होनेसे समुदायमें रहना बहुत कठिन मालूम होता है ।
यथार्थ आनन्द किसी भी प्रकारसे नहीं कहा जा सकता, ऐसा सत्स्वरूप जिसके हृदयमें प्रकाशित
है, ऐसे महाभाग्य ज्ञानियोंकी और आपकी हमारे ऊपर कृपा रहे; हम तो आपकी चरणरज
तीनों कालमें निरंजनदेवसे यही प्रार्थना है कि ऐसा ही प्रेम बना रहे ।

आज प्रभातसे निरंजनदेवका कोई अद्भुत अनुग्रह प्रकाशित हुआ है । आज बहुत
इच्छित पराभक्ति किसी अनुपमरूपमें उदित हुई है । श्रीभागवतमें एक कथा है कि गोपियाँ
वासुदेव (कृष्णचन्द्र) को मक्खनकी मटकीमें रखकर बेचनेके लिये निकलीं थीं; वह प्रसंग आज
याद आ रहा है । जहाँ अमृत प्रवाहित होता है, वही सहस्रदल-कमल है, और वही यह
मटकी है; और जो आदिपुरुष उसमें विराजमान हैं, वे ही यहाँ भगवान् वासुदेव हैं । स
चित्तवृत्तिरूपी गोपीको उसकी प्राप्ति होनेपर वह गोपी उल्लासमें आकर दूसरी किन्हीं मुमुक्षु
कहती है कि 'कोई माधव लो, हाँरे कोई माधव लो'—अर्थात् वह वृत्ति कहती है कि हमें आदि
प्राप्ति हो गई है, और बस यह एक ही प्राप्त करनेके योग्य है, दूसरा कुछ भी प्राप्त करनेके यो
इसलिये तुम इसे प्राप्त करो । उल्लासमें वह फिर फिर कहती जाती है कि तुम उस पुरु
प्राप्त करो, और यदि उस प्राप्तिकी इच्छा अचल प्रेमसे करते हो तो हम तुम्हें इस आदिपुरुष
हम इसे मटकीमें रखकर बेचने निकली हैं, योग्य ग्राहक देखकर ही देती हैं; कोई ग्रा
अचल प्रेमसे कोई ग्राहक बनो, तो हम वासुदेवकी प्राप्ति करा दें ।

मटकीमें रखकर बेचनेको निकलनेका गूढ़ आशय यह है कि हमें सहस्रदल-कमलमें
भगवान् मिल गये हैं । मक्खनका केवल नाममात्र ही है । यदि समस्त सृष्टिको मथकर
निकालें तो केवल एक अमृतरूपी वासुदेवभगवान् ही निकलते हैं । इस कथाका असली सू

रहे थे। इसी कारणसे मुझे भी असंगता बहुत याद आती है, और कभी कभी तो ऐसा हो जाता है कि असंगताके बिना परम दुःख होता है। अनंतकालसे प्राणीको जितना यम दुःखदायक नहीं लगता उससे भी अधिक हमें संग दुःखदायक लगता है। ऐसी बहुतसी अंतर्वृत्तियाँ हैं जो एक ही प्रकारकी हैं, जो लिखी भी नहीं जातीं, और उन्हें लिखे बिना चुप भी रहा नहीं जाता; और आपका वियोग खलता रहता है; कोई सुगम उपाय भी नहीं मिलता। उदयकर्म भोगते हुए दीनता करना उचित नहीं। भविष्यके एक क्षणकी भी चिन्ता नहीं है।

सत् सत् और सत्के साधन स्वरूप आप वहाँ हैं। अधिक क्या कहें? ईश्वरकी इच्छा ऐसी ही है, और उसे प्रसन्न रक्खे बिना छुटकारा नहीं; नहीं तो ऐसी उपाधियुक्त दशामें न रहें और मनन करें। परम..........के कारण प्रेमभक्तिमय ही रहें, परन्तु प्रारब्ध कर्म प्रबल है।

१७४

बम्बई, माघ वदी ३, १९४७

सर्वथा निर्विकार होनेपर भी परब्रह्म प्रेममय पराभक्तिके वश है, यह गुप्त शिक्षा, जिसने हृदयमें इस बातका अनुभव किया है, ऐसे ज्ञानियोंकी है

यहाँ परमानन्द है। असंगवृत्ति होनेसे समुदायमें रहना बहुत कठिन मालूम होता है। जिसका यथार्थ आनन्द किसी भी प्रकारसे नहीं कहा जा सकता, ऐसा सत्स्वरूप जिसके हृदयमें प्रकाशित हुआ है, ऐसे महाभाग्य ज्ञानियोंकी और आपकी हमारे ऊपर कृपा रहे; हम तो आपकी चरण-रज हैं; और तीनों कालमें निरंजनदेवसे यही प्रार्थना है कि ऐसा ही प्रेम बना रहे।

आज प्रभातसे निरंजनदेवका कोई अद्भुत अनुग्रह प्रकाशित हुआ है। आज बहुत दिनसे इच्छित पराभक्ति किसी अनुपमरूपमें उदित हुई है। श्रीभागवतमें एक कथा है कि गोपियाँ भगवान् वासुदेव (कृष्णचन्द्र) को मक्खनकी मटकीमें रखकर बेचनेके लिये निकलीं थीं; वह प्रसंग आज बहुत याद आ रहा है। जहाँ अमृत प्रवाहित होता है, वही सहस्रदल-कमल है, और वही यह मक्खनकी मटकी है; और जो आदिपुरुष उसमें विराजमान हैं, वे ही यहाँ भगवान् वासुदेव हैं। सत्पुरुषकी चित्तवृत्तिरूपी गोपीको उसकी प्राप्ति होनेपर वह गोपी उल्लासमें आकर दूसरी किन्हीं मुमुक्षु आत्माओंसे कहती है कि 'कोई माधव लो, हाँरे कोई माधव लो'—अर्थात् वह वृत्ति कहती है कि हमें आदिपुरुषकी प्राप्ति हो गई है, और बस यह एक ही प्राप्त करनेके योग्य है, दूसरा कुछ भी प्राप्त करनेके योग्य नहीं, इसलिये तुम इसे प्राप्त करो। उल्लासमें वह फिर फिर कहती जाती है कि तुम उस पुराणपुरुषको प्राप्त करो, और यदि उस प्राप्तिकी इच्छा अचल प्रेमसे करते हो तो हम तुम्हें इस आदिपुरुषको देंगी। हम इसे मटकीमें रखकर बेचने निकलीं हैं, योग्य ग्राहक देखकर ही देतीं हैं; कोई ग्राहक हो, अचल प्रेमसे कोई ग्राहक बनो, तो हम वासुदेवकी प्राप्ति करा दें।

मटकीमें रखकर बेचनेको निकलनेका गूढ़ आशय यह है कि हमें सहस्रदल-कमलमें इनके भगवान् मिल गये हैं। मक्खनका केवल नाममात्र ही है। यदि समस्त सृष्टिको मथकर मक्खन निकालें तो केवल एक अमृतरूपी वासुदेवभगवान् ही निकलते हैं। इस कथाका असली मूल स्वरूप

जगत् भी, जहाँ मायापूर्वक ही परमात्माका दर्शन है, कुछ विचारकर पग रखने जैसा लगता है; इसी-लिये हम असंगताकी इच्छा करते हैं, अथवा आपके संगकी इच्छा करते हैं, यह योग्य ही है।

१७७

बम्बई, माघ वदी १३ रवि. १९४७

गाढ़ परिचयके लिये आपने कुछ नहीं लिखा, सो लिखें।

पारमार्थिक विषयमें हालमें मौन रहनेका कारण परमात्माकी इच्छा है। जबतक हम असंग न होंगे, और उसके बाद उसकी इच्छा न होगी, तबतक हम प्रगट रीतिसे मार्गोपदेश न करेंगे, और सब महात्माओंका ऐसा ही रिवाज है; हम तो केवल दीन हैं। भागवतवाली बात हमने अन्तर्ज्ञानसे जानी है।

१७८

बम्बई, माघ वदी १३ रवि. १९४७

आपको मेरे प्रति परम उल्लास होता है, और उस विषयमें आप बारम्बार प्रसन्नता प्रगट करते हैं; परन्तु हमारी प्रसन्नता अभीतक अपने ऊपर नहीं होती; क्योंकि जैसी चाहिये वैसी असंग दशामें नहीं रहा जाता; और मिथ्या प्रतिबंधमें वास रहता है। यद्यपि परमार्थके लिये परिपूर्ण इच्छा है, परन्तु अभी उसमें जबतक ईश्वरेच्छाकी सम्मति नहीं हुई तबतक मेरे विषयमें मन ही मनमें समझ रखना; और चाहे जैसे दूसरे मुमुक्षुओंको भी मेरा नाम लेकर कुछ न कहना। अभी हालमें हमें ऐसी दशामें ही रहना प्रिय है।

१७९

बम्बई, माघ वदी १३, १९४७

यद्यपि किसी भी क्रियाका भंग नहीं किया जाता तो भी उनको वैसा लगता है, इसका कोई कारण होना चाहिये; उस कारणको दूर करना यह कल्याणरूप है।

परिणाममें 'सत्' को प्राप्त करानेवाली और प्रारभमें 'सत्' की हेतुभूत ऐसी उनकी इच्छाको प्रसन्नता देनेवाली वैराग्य-कथाका प्रसंग पाकर उनके साथ परिचय करोगे, तो उनके समागममें भी कल्याण ही वृद्धिगत होगा, और पहिला कारण भी दूर हो जायगा।

जिसमें पृथिवी आदिका विस्तारसे विचार किया है, ऐसे वचनोंकी अपेक्षा 'वैराग्य' अथवा ऐसे वचन वैराग्यकी वृद्धि करते हैं, और उसमें दूसरे मतवाले प्राणीको भी अरुचि नहीं होती।

जो साधु तुम्हारा अनुसरण करते हों, उन्हें समय समयपर कहते रहना कि "धर्म उसीको कहा जा सकता है जो धर्म होकर परिणमे; ज्ञान उसीको कहा जा सकता है कि जो ज्ञान होकर परिणमे; यदि तुम मेरे कहनेका यह हेतु न समझो कि हम जो सब क्रियायें और ज्ञान इत्यादि करते हैं, वे मिथ्या हैं, तो मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ"। इस प्रकार कहकर उन्हें यह कहना चाहिये कि यह जो कुछ हम करते हैं, उसमें कोई ऐसी बात रह जाती है कि जिससे 'धर्म और ज्ञान' हमें अपने अपने रूपमें नहीं परिणमाते, इस कारण और

मिथ्यात्व (संदेह) मंद नहीं होते; इसलिये हमें जीवके कल्याणका पुनः पुनः विचार करना चाहिये; और उसका विचार करनेपर हम कुछ न कुछ फल पाये बिना न रहेंगे। हम लोग सब कुछ जाननेका तो प्रयत्न करते हैं, परन्तु हमारा 'संदेह' कैसे दूर हो, यह जाननेका प्रयत्न नहीं करते। और जबतक ऐसा न करेंगे तबतक सन्देह कैसे जा सकता है; और जबतक सन्देह है, तबतक ज्ञान भी नहीं हो सकता; इसलिये सन्देह हटानेका प्रयत्न करना चाहिये। वह संदेह यह है कि जीव भव्य है या अभव्य? मिथ्यादृष्टि है या सम्यग्दृष्टि? आसानीसे बोध पानेवाला है या कठिनतासे बोध पानेवाला? निकट संसारी है या अधिक संसारी? जिससे हमें ये सब बातें मालूम हो सकें ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकारकी ज्ञान-कथाका उनसे प्रसंग रखना योग्य है।

परमार्थके ऊपर प्रीति होनेमें सत्संग ही सर्वोत्कृष्ट और अनुपम साधन है; परन्तु इस कालमें वैसा संयोग मिलना बहुत ही कठिन है; इसलिये जीवको इस विकटतामें रहकर पार पानेमें विकट पुरुषार्थ करना योग्य है; और वह यह कि "अनादिकालसे जितना जाना है उतना सबका सब अज्ञान ही है; उस सबका विस्मरण करना चाहिये।"

'सत्' सत् ही है, सरल है, और सुगम है, उसकी सर्वत्र प्राप्ति हो सकती है; परन्तु 'सत्को' बतानेवाला कोई 'सत्' चाहिये।

नय अनंत हैं। प्रत्येक पदार्थमें अनन्त गुण—धर्म—हैं; उनमें अनंत नय परिणमते हैं; इसलिये एक अथवा दो चार नयोंद्वारा वस्तुका सम्पूर्ण वर्णन कर देना संभव नहीं है; इसलिये नय आदिमें समतावान ही रहना चाहिये। ज्ञानियोंकी वाणी 'नय' में उदासीन रहती है; उस वाणीको नमस्कार हो!

---

१८० बम्बई, माघ वदी १३, १९४७

(१)

नय अनन्त हैं; प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुणोंसे, और अनन्त धर्मोंसे युक्त है। एक एक गुण और एक एक धर्ममें अनंत नयोंका परिणमन होता रहता है; इसलिये इस मार्गसे पदार्थका निर्णय करना चाहें तो नहीं हो सकता, इसका कोई दूसरा ही मार्ग होना चाहिये; बहुत करके इस बातको ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं; और वे नय आदि मार्गके प्रति उदासीन रहते हैं; इससे किसी नयका एकांत खंडन भी नहीं होता, और न किसी नयका एकान्त मण्डन ही होता है। जितनी जिसकी योग्यता है उस नयकी उतनी सत्ता ज्ञानी पुरुषोंको मान्य होती है। जिन्हें मार्ग प्राप्त नहीं हुआ ऐसे मनुष्य 'नय' का आग्रह करते हैं; और उससे विषम फलकी प्राप्ति होती है। जहाँ किसी भी नयका विरोध नहीं होता ऐसे ज्ञानियोंके वचनोंको हम नमस्कार करते हैं। जिसको ज्ञानीके मार्गकी इच्छा हो ऐसे प्राणीको तो नय आदिमें उदासीन रहनेका ही अभ्यास करना चाहिये; किसी भी नयमें आग्रह नहीं करना चाहिये; और किसी भी प्राणीको इस मार्गसे कष्ट न देना चाहिये; और जिसका यह आग्रह दूर हो गया है, वह किसी भी तरहसे प्राणियोंको क्लेश पहुँचानेकी इच्छा नहीं करता।

(२)

नाना प्रकारके नय, नाना प्रकारके प्रमाण, नाना प्रकारके भंगजाल, और नाना प्रकारके अनुयोग ये सब लक्षणारूप ही हैं; लक्ष तो केवल एक सच्चिदानन्द है।

१८१

बम्बई, माघ वदी १३, १९४७

' सत् ' कुछ दूर नहीं है, परन्तु दूर लगता है; और यही जीवका मोह है। ' सत् ' जो कुछ है, वह ' सत् ही ' है, वह सरल है, सुगम है; और उसकी सर्वत्र प्राप्ति हो सकती है; परन्तु जिसको भ्रांतिरूप आवरण-तम छाया हुआ है उस प्राणीको उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? अंधकारके चाहे कितने भी भेद क्यों न करें किन्तु उनमें कोई ऐसा भेद नहीं आ सकता जो उजाला हो। जिसे आवरण-तिमिर व्याप्त है ऐसे प्राणीकी कल्पनामेंकी कोई भी कल्पना ' सत् ' मालूम नहीं होती; और वह प्राणी ' सत् ' के पासतक भी आ सके यह संभव नहीं है। जो ' सत् ' है वह भ्रांति नहीं है, वह भ्रांतिसे सर्वथा व्यतिरिक्त (जुदा) है; कल्पनासे ' पर ' (दूर) है; इसलिये जिसने उसको प्राप्त करनेका दृढ़ निश्चय किया है, उसे ' वह स्वयं कुछ भी नहीं जानता,' ऐसा पहिले दृढ़ निश्चय-युक्त विचार करना चाहिये, और बादमें ' सत् ' की प्राप्तिके लिये ज्ञानीकी शरणमें जाना चाहिये; ऐसा करनेसे अवश्य ही मार्गकी प्राप्ति होती है।

ये जो वचन लिखे हैं, वे सब मुमुक्षुओंको परमबन्धुके समान हैं, परमरक्षकके समान हैं, और उन्हें सम्यक् प्रकारसे विचार करनेपर ये परमपदको देनेवाले हैं। इनमें निर्ग्रन्थ प्रवचनकी समस्त द्वादशांगी, षट्दर्शनका सर्वोत्तम तत्त्व, और ज्ञानीके उपदेशका बीज संक्षेपसे कह दिया है; इसलिये फिर फिरसे उनकी सँभाल करना, विचारना, समझना, समझनेका प्रयत्न करना; इनको बाधा पहुँचानेवाले दूसरे प्रकारोंसे उदासीन रहना; और इन्हींमें ही वृत्तिका लय करना; तुम्हें और अन्य किसी भी मुमुक्षुको गुप्त रीतिसे कहनेका हमारा यही एक मंत्र है। इसमें ' सत् ' ही कहा है, यह समझनेके लिये अधिकसे अधिक समय अवश्य लगाना।

१८२

बम्बई, माघ वदी १३, १९४७

सत्स्वरूपको अभेदभावसे नमोनमः

क्या लिखें? वह तो कुछ सूझता भी नहीं; क्योंकि दशा कुछ जुदी ही रहती है; फिर भी प्रसंग पाकर कोई सद्वृत्ति देनेवाली पुस्तक होगी तो भेजूँगा।

हमारे ऊपर तुम्हारी चाहे जैसी भी भक्ति क्यों न हो, तो भी बाकीके सब जीवोंके और विशेष करके धर्म-जीवोंके तो हम तीनों कालमें दास ही हैं। हालमें तो सबको इतना ही करना चाहिये कि पुराना छोड़े बिना तो छुटकारा ही नहीं, और यह छोड़ने योग्य ही है, यह भावना दृढ़ करना। मार्ग सरल है; पर प्राप्ति दुर्लभ है।

१८४ बम्बई, फाल्गुन सुदी ९ शनि.

पुराणपुरुषको नमोनमः

यह लोक त्रिविध तापसे आकुल व्याकुल है, और ऐसा दीन है कि मृगतृष्णाके जलको लेनेके लिये दौड़ दौड़ करके उससे अपनी तृषा बुझानेकी इच्छा करता है। यह अज्ञानके कारण अपने स्वरूपको भूल बैठा है, और इसके कारण उसे भयंकर परिभ्रमण प्राप्त हुआ है। समय समयपर यह अतुल खेद, ज्वर आदि रोग, मरण आदि भय, और वियोग आदि दुःखोंका अनुभव करता रहता है। ऐसी अशरणताबाले इस जगत्को एक सत्पुरुष ही शरण है; सत्पुरुषकी वाणीके बिना दूसरा कोई भी इस ताप और तृषाको शान्त नहीं कर सकता, ऐसा निश्चय है; अतएव फिर फिरसे हम उस सत्पुरुषके चरणोंका ध्यान करते हैं।

संसार सर्वथा असातामय है। यदि किसी प्राणीको जो अल्प भी साता दीख पड़ती है तो वह भी सत्पुरुषका ही अनुग्रह है। किसी भी प्रकारके पुण्यके बिना साताकी प्राप्ति नहीं होती; और उस पुण्यको भी सत्पुरुषके उपदेशके बिना कोई नहीं जान पाया। बहुत काल पूर्व उपदेश किया हुआ वह पुण्य आज अमुक थोड़ीसी रूढ़ियोंमें मान लिया गया है; इस कारण ऐसा मालूम होता है कि मानों वह ग्रंथ आदि द्वारा प्राप्त हुआ है, परन्तु वस्तुतः इसका मूल एक सत्पुरुष ही है; अतएव हम तो यही जानते हैं कि साताके एक अंशसे लेकर संपूर्ण आनन्दतककी सब समाधियोंका मूल एक सत्पुरुष ही है। इतनी अधिक सामर्थ्य होनेपर भी जिसको कोई भी स्पृहा नहीं, उन्मत्तता नहीं, अहंभाव नहीं, गर्व नहीं, गौरव नहीं, ऐसे आश्चर्यकी प्रतिमारूप सत्पुरुषके नामको हम फिर फिरसे स्मरण करते हैं।

त्रिलोकके नाथ वशमें होनेपर भी वे किसी ऐसी ही अटपटी दशामें रहते हैं कि जिससे साधारण मनुष्यको पहिचान भी होना दुर्लभ है; ऐसे सत्पुरुषका हम फिर फिरसे स्तवन करते हैं।

एक समयके लिये भी सर्वथा असंगपनेसे रहना, यह त्रिलोकको वश करनेकी अपेक्षा भी अधिक कठिन कार्य है; जो त्रिकालमें ऐसे असंगपनेसे रहता है, ऐसे सत्पुरुषके अंतःकरणको देखकर हम उसे परम आश्चर्यसे नमन करते हैं।

हे परमात्मन्! हम तो ऐसा ही मानते हैं कि इस कालमें भी जीवको मोक्ष हो सकता है। फिर भी जैसा कि जैन ग्रंथोंमें कहीं कहीं प्रतिपादन किया गया है कि इस कालमें मोक्ष नहीं होता, तो इस प्रतिपादनको इस क्षेत्रमें तू अपने पास ही रख, और हमें मोक्ष देनेकी अपेक्षा, हम सत्पुरुषके चरणका ध्यान करें, और उसीके समीपमें रहें, ऐसा योग प्रदान कर।

हे पुरुषपुराण! हम तुझमें और सत्पुरुषमें कोई भी भेद नहीं समझते; तेरी अपेक्षा हमें तो सत्पुरुष ही विशेष मालूम होता है, क्योंकि तू भी उसीके आधीन रहता है; और हम सत्पुरुषको पहिचाने बिना तुझे नहीं पहिचान सके; तेरी यही दुर्घटता हमें सत्पुरुषके प्रति प्रेम उत्पन्न करती है। क्योंकि तुझे वश करनेपर भी वे उन्मत्त नहीं होते; और वे तुझसे भी अधिक सरल हैं, इसलिये अब तू जैसा कहे वैसा करें।

हे नाथ! तू बुरा न मानना कि हम तुझसे भी सत्पुरुषका ही अधिक स्तवन करते हैं, जगत्

आपकी सर्वोत्तम प्रज्ञाको हम नमस्कार करते हैं। कलिकालमें यदि परमात्माको किसी भक्तिमान पुरुषके ऊपर प्रसन्न होना हो तो उनमेंसे आप भी एक हैं। हमें इस कालमें आपका सहारा मिला और उसीसे हम जीवित हैं।

---

१८७ बम्बई, फाल्गुन सुदी ११, १९४७

'सत्' सत् है, सरल है, सुगम है; उसकी प्राप्ति सर्वत्र होती है।

'सत्' है, उसे कालसे बाधा नहीं, वह सबका अधिष्ठान है, और वह वाणीसे अकथ्य है; उसकी प्राप्ति होती है; और उसकी प्राप्तिका उपाय है।

सभी सम्प्रदायों एवं दर्शनोंके महात्माओंका लक्ष एक 'सत्' ही है। वाणीद्वारा अगम्य होनेके कारण उसे मूक-श्रेणीसे समझाया गया है; जिससे उनके कथनमें कुछ भेद मालूम होता है, किन्तु वस्तुतः उसमें कोई भेद नहीं है।

सब कालमें लोकका स्वरूप एकसा नहीं रहता; वह क्षणक्षणमें बदलता रहता है; उसके अनेक नये नये रूप होते हैं; अनेक स्थितियाँ पैदा होती हैं; और अनेक लय होती जाती हैं; एक क्षण पहिले जो रूप बाह्यज्ञानसे माळूम न होता था वह सामने दिखाई देने लगता है, तथा क्षणभरमें बहुत दीर्घ विस्तारवाले रूप लय हो जाते हैं। महात्माके ज्ञानमें झलकनेवाला लोकका स्वरूप अज्ञानीके अनुग्रह करनेके लिये कुछ जुदे रूपसे कहा जाता है; परन्तु जिसकी सर्व कालमें एकसी स्थिति नहीं, ऐसा यह रूप 'सत्' नहीं है, इस कारण उसे चाहे जिस रूपसे वर्णन करके उस समय भ्रांति दूर की गई है; और इसके कारण यह नियम नहीं है कि सर्वत्र यही स्वरूप होता है; ऐसा समझनेमें आता है। बाल-जीव तो उस स्वरूपको शाश्वतरूप मानकर भ्रांतिमें पड़ जाते हैं, परन्तु कोई सत्पात्र जीव ही ऐसे विविधतापूर्ण कथनसे तंग आकर 'सत्' की तरफ झुकता है। बहुत करके सब मुमुक्षुओंने इसी तरहसे मार्ग पाया है। इस जगत्के बारम्बार भ्रांतिरूप वर्णन करनेका बड़े पुरुषोंका एक यही उद्देश है कि उस स्वरूपको विचार करनेसे प्राणी भ्रांति पाते हैं कि और वस्तुका स्वरूप क्या है? इस तरह तो अनेक प्रकारसे कहा गया है, उसमें क्या मानूँ? और मुझे कल्याणकारक क्या है?' ऐसे विचार करते करते, इसको एक भ्रांतिका ही विषय मानकर, 'जहाँसे 'सत्' की प्राप्ति होती है ऐसे संतकी शरण बिना छुटकारा नहीं,' ऐसा समझकर वे उसकी खोज करते हैं, और उसकी शरणमें जाकर 'सत्' पाते हैं और स्वयं सत्रूप हो जाते हैं।

जनक विदेही संसारमें रहनेपर भी विदेही रह सके, यह यद्यपि एक बड़ा आश्चर्य है, और यह महाकठिन है; तथापि परमज्ञानमें ही जिसकी आत्मा तन्मय हो गई है, ऐसी वह तन्मय आत्मा जिस तरहसे रहती है उसी तरह वह भी रहता है; चाहे जैसा कर्मका उदय क्यों न आ जाय फिर भी उसके तदनुसार रहनेमें बाधा नहीं पहुँचती। जिनको देहतकका भी अहपना दूर हो गया है, ऐसे उन महाभाग्यकी देह भी मानों आत्मभावसे ही रहती थी, तो फिर उनकी दशा भेदवाली कैसे हो सकती है?

श्रीकृष्ण महात्मा थे। वे ज्ञानी होनेपर भी उदयभावसे संसारमें रहे थे, इतना तो जैन ग्रंथे

आपकी सर्वोत्तम प्रज्ञाको हम नमस्कार करते हैं। कलिकालमें यदि परमात्माको किसी भक्तिमान पुरुषके ऊपर प्रसन्न होना हो तो उनमेंसे आप भी एक हैं। हमें इस कालमें आपका सहारा मिला, और उसीसे हम जीवित हैं।

---

१८७ <u>बम्बई, फाल्गुन सुदी ११, १९४७</u>

'सत्' सत् है, सरल है, सुगम है; उसकी प्राप्ति सर्वत्र होती है।

'सत्' है, उसे कालसे बाधा नहीं, वह सबका अधिष्ठान है, और वह वाणीसे अकथ्य है, उसकी प्राप्ति होती है; और उसकी प्राप्तिका उपाय है।

सभी सम्प्रदायों एवं दर्शनोंके महात्माओंका लक्ष एक 'सत्' ही है। वाणीद्वारा अकथ्य होनेके कारण उसे मूक-श्रेणीसे समझाया गया है; जिससे उनके कथनमें कुछ भेद माद्धम होता है, किन्तु वस्तुतः उसमें कोई भेद नहीं है।

सब कालमें लोकका स्वरूप एकसा नहीं रहता; वह क्षणक्षणमें बदलता रहता है; उसके अनेक नये नये रूप होते हैं; अनेक स्थितियाँ पैदा होती हैं; और अनेक लय होती जाती हैं; एक क्षणके पहिले जो रूप बाह्यज्ञानसे माद्धम न होता था वह सामने दिखाई देने लगता है, तथा क्षणभरमें बहुत दीर्घ विस्तारवाले रूप लय हो जाते हैं। महात्माके ज्ञानमें झलकनेवाला लोकका स्वरूप अज्ञानीके अनुग्रह करनेके लिये कुछ जुदे रूपसे कहा जाता है; परन्तु जिसकी सर्व कालमें एकसी स्थिति नहीं, ऐसा यह रूप 'सत्' नहीं है, इस कारण उसे चाहे जिस रूपसे वर्णन करके उस समय भ्रांति दूर की गई है; और इसके कारण यह नियम नहीं है कि सर्वत्र यही स्वरूप होता है; ऐसा समझमें आता है। बाल-जीव तो उस स्वरूपको शाश्वतरूप मानकर भ्रांतिमें पड़ जाते हैं, परन्तु कोई सपात्र जीव ही ऐसे विविधतापूर्ण कथनसे तंग आकर 'सत्' की तरफ झुकता है। बहुत करके सब मुमुक्षुओंने इस तरहसे मार्ग पाया है। इस जगत्के बारम्बार भ्रांतिरूप वर्णन करनेका बड़े पुरुषोंका एक यही उद्देश है कि उस स्वरूपको विचार करनेसे प्राणी भ्रांति पाते हैं कि और वस्तुका स्वरूप क्या है? इस तरह जो अनेक प्रकारसे कहा गया है, उसमें क्या मानूँ? और मुझे कल्याणकारक क्या है? ' ऐसे विचार करते करते, इसको एक भ्रांतिका ही विषय मानकर, ' जहाँसे 'सत्' की प्राप्ति होती है ऐसे संतकी शरण बिना छुटकारा नहीं,' ऐसा समझकर वे उसकी खोज करते हैं, और उसकी शरणमें जाकर 'सत्' पाते हैं और स्वयं सत्रूप हो जाते हैं।

जनक विदेही संसारमें रहनेपर भी विदेही रह सके, यह यद्यपि एक बड़ा आश्चर्य है, और यह महाकठिन है; तथापि परमज्ञानमें ही जिसकी आत्मा तन्मय हो गई है, ऐसी वह तन्मय आत्मा जिस तरहसे रहती है उसी तरह वह भी रहता है; चाहे जैसा कर्मका उदय क्यों न आ जाय फिर भी उसके तदनुसार रहनेमें बाधा नहीं पहुँचती। जिनको देहतकका भी अहंपना दूर हो गया है, ऐसे उन महाभाग्यकी देह भी मानों आत्मभावसे ही रहती थी, तो फिर उनकी दशा भेदवाली कैसे हो सकती है!

श्रीकृष्ण महात्मा थे। वे ज्ञानी होनेपर भी उदयभावसे संसारमें रहे थे, इतना तो जैन ग्रंथोंसे

आपकी सर्वोत्तम प्रज्ञाको हम नमस्कार करते हैं। कलिकालमें यदि परमात्माको किसी भक्तिमान पुरुषके ऊपर प्रसन्न होना हो तो उनमेंसे आप भी एक हैं। हमें इस कालमें आपका सहाय मिला, और उसीसे हम जीवित हैं।

---

१८७ बम्बई, फाल्गुन सुदी ११, १९४७

'सत्' सत् है, सरल है, सुगम है; उसकी प्राप्ति सर्वत्र होती है।

'सत्' है, उसे कालसे बाधा नहीं, वह सबका अधिष्ठान है, और वह वाणीसे अकथ्य है, उसकी प्राप्ति होती है; और उसकी प्राप्तिका उपाय है।

सभी सम्प्रदायों एवं दर्शनोंके महात्माओंका लक्ष एक 'सत्' ही है। वाणीद्वारा अकथ्य होनेके कारण उसे मूक-श्रेणीसे समझाया गया है; जिससे उनके कथनमें कुछ भेद मालूम होता है, किन्तु वस्तुतः उसमें कोई भेद नहीं है।

सब कालमें लोकका स्वरूप एकसा नहीं रहता; वह क्षणक्षणमें बदलता रहता है; उसके अनेक नये नये रूप होते हैं; अनेक स्थितियाँ पैदा होती हैं; और अनेक लय होती जाती हैं; एक क्षणके पहिले जो रूप बाह्यज्ञानसे मालूम न होता था वह सामने दिखाई देने लगता है, तथा क्षणभरमें बहुत दीर्घ विस्तारवाले रूप लय हो जाते हैं। महात्माके ज्ञानमें झलकनेवाला लोकका स्वरूप अज्ञानीके अनुग्रह करनेके लिये कुछ जुदे रूपसे कहा जाता है; परन्तु जिसकी सर्व कालमें एकसी स्थिति नहीं, ऐसा यह रूप 'सत्' नहीं है, इस कारण उसे चाहे जिस रूपसे वर्णन करके उस समय भ्रांति दूर की गई है; और इसके कारण यह नियम नहीं है कि सर्वत्र यही स्वरूप होता है; ऐसा समझमें आता है। बाल-जीव तो उस स्वरूपको शाश्वतरूप मानकर भ्रांतिमें पड़ जाते हैं, परन्तु कोई सुपात्र जीव ही ऐसे विचित्रतापूर्ण कथनसे तंग आकर 'सत्' की तरफ झुकता है। बहुत करके सब मुमुक्षुओंने इसी तरहसे मार्ग पाया है। इस जगत्के बारम्बार भ्रांतिरूप वर्णन करनेका बड़े पुरुषोंका एक यही उद्देश है कि उस स्वरूपको विचार करनेसे प्राणी भ्रांति पाते हैं कि और वस्तुका स्वरूप क्या है? इस तरह तो अनेक प्रकारसे कहा गया है, उसमें क्या मानूँ? और मुझे कल्याणकारक क्या है?' ऐसे विचार करते करते, इसको एक भ्रांतिका ही विषय मानकर, 'जहाँसे 'सत्' की प्राप्ति होती है ऐसे सत्पुरुषकी शरण बिना छुटकारा नहीं,' ऐसा समझकर वे उसकी खोज करते हैं, और उसकी शरणमें जाकर 'सत्' पाते हैं और स्वयं सत्रूप हो जाते हैं।

जनक विदेही संसारमें रहनेपर भी विदेही रह सके, यह यद्यपि एक बड़ा आश्चर्य है, और यह महाकठिन है; तथापि परमज्ञानमें ही जिसकी आत्मा तन्मय हो गई है, ऐसी वह तन्मय आत्मा जिस तरहसे रहती है उसी तरह वह भी रहता है; चाहे जैसा कर्मका उदय क्यों न आ जाय फिर भी उनके तदनुसार रहनेमें बाधा नहीं पहुँचती। जिनको देहतकका भी अहपना दूर हो गया है, ऐसे उस महाभाग्यकी देह भी मानों आत्मभावसे ही रहती थी, तो फिर उनकी दशा भेदवाली कैसे हो सकती है?

श्रीकृष्ण महात्मा थे। वे ज्ञानी होनेपर भी उदयभावसे संसारमें रहे थे, इतना तो जैन दर्शनसे

आपकी सर्वोत्तम प्रज्ञाको हम नमस्कार करते हैं। कलिकालमें यदि परमात्माको किसी भक्तिमान पुरुषके ऊपर प्रसन्न होना हो तो उनमेंसे आप भी एक हैं। हमें इस कालमें आपका सहाय मिला, और उसीसे हम जीवित हैं।

---

१८७ बम्बई, फाल्गुन सुदी ११, १९४७

'सत्' सत् है, सरल है, सुगम है; उसकी प्राप्ति सर्वत्र होती है।

'सत्' है, उसे कालसे बाधा नहीं, वह सबका अधिष्ठान है, और वह वाणीसे अकथ्य है, उसकी प्राप्ति होती है; और उसकी प्राप्तिका उपाय है।

सभी सम्प्रदायों एवं दर्शनोंके महात्माओंका लक्ष एक 'सत्' ही है। वाणीद्वारा अकथ्य होनेके कारण उसे मूक-श्रेणीसे समझाया गया है; जिससे उनके कथनमें कुछ भेद मालूम होता है, किन्तु वस्तुतः उसमें कोई भेद नहीं है।

सब कालमें लोकका स्वरूप एकसा नहीं रहता; वह क्षणक्षणमें बदलता रहता है; उसके अनेक नये नये रूप होते हैं; अनेक स्थितियाँ पैदा होती हैं; और अनेक लय होती जाती हैं; एक क्षणके पहिले जो रूप बाह्यज्ञानसे मालूम न होता था वह सामने दिखाई देने लगता है, तथा क्षणभरमें बहुत दीर्घ विस्तारवाले रूप लय हो जाते हैं। महात्माके ज्ञानमें झलकनेवाला लोकका स्वरूप अज्ञानीपर अनुग्रह करनेके लिये कुछ जुदे रूपसे कहा जाता है; परन्तु जिसकी सर्व कालमें एकसी स्थिति नहीं, ऐसा यह रूप 'सत्' नहीं है, इस कारण उसे चाहे जिस रूपसे वर्णन करके उस समय भ्रांति दूर की गई है; और इसके कारण यह नियम नहीं है कि सर्वत्र यही स्वरूप होता है; ऐसा समझमें आता है। बाल-जीव तो उस स्वरूपको शाश्वतरूप मानकर भ्रांतिमें पड़ जाते हैं, परन्तु कोई सत्पात्र जीव ही ऐसे विविधतापूर्ण कथनसे तंग आकर 'सत्' की तरफ झुकता है। बहुत करके सब मुमुक्षुओंने इसी तरहसे मार्ग पाया है। इस जगत्के बारम्बार भ्रांतिरूप वर्णन करनेका बड़े पुरुषोंका एक यही उद्देश है कि उस स्वरूपको विचार करनेसे प्राणी भ्रांति पाते हैं कि और वस्तुका स्वरूप क्या है? इस तरह तो अनेक प्रकारसे कहा गया है, उसमें क्या मानूँ? और मुझे कल्याणकारक क्या है?' ऐसे विचार करते करते, इसको एक भ्रांतिका ही विषय मानकर, 'जहाँसे 'सत्' की प्राप्ति होती है ऐसे संतकी शरण बिना छुटकारा नहीं,' ऐसा समझकर वे उसकी खोज करते है, और उसकी शरणमें जाकर 'सत्' पाते हैं और स्वयं सत्रूप हो जाते हैं।

जनक विदेही संसारमें रहनेपर भी विदेही रह सके, यह यद्यपि एक बड़ा आश्चर्य है, और यह महाकठिन है; तथापि परमज्ञानमें ही जिसकी आत्मा तन्मय हो गई है, ऐसी वह तन्मय आत्मा जिस तरहसे रहती है उसी तरह वह भी रहता है; चाहे जैसा कर्मका उदय क्यों न आ जाय फिर भी उनको तदनुसार रहनेमें बाधा नहीं पहुँचती। जिनको देहतकका भी अहंपना दूर हो गया है, ऐसे उन महाभाग्यकी देह भी मानों आत्मभावसे ही रहती थी, तो फिर उनकी दशा भेदवाली कैसे हो सकती है!

श्रीकृष्ण महात्मा थे। वे ज्ञानी होनेपर भी उदयभावसे संसारमें रहे थे, इतना तो जैन ग्रंथोंसे

आपकी सर्वोत्तम प्रज्ञाको हम नमस्कार करते हैं । कलिकालमें यदि परमात्माको किसी भक्तिमान पुरुषके ऊपर प्रसन्न होना हो तो उनमेंसे आप भी एक हैं । हमें इस कालमें आपका सहाय मिला, और उसीसे हम जीवित हैं ।

---

१८७ बम्बई, फाल्गुन सुदी ११, १९४७

'सत्' सत् है, सरल है, सुगम है; उसकी प्राप्ति सर्वत्र होती है ।

'सत्' है, उसे कालसे बाधा नहीं, वह सबका अधिष्ठान है, और वह वाणीसे अकथ्य है, उसकी प्राप्ति होती है; और उसकी प्राप्तिका उपाय है ।

सभी सम्प्रदायों एवं दर्शनोंके महात्माओंका लक्ष एक 'सत्' ही है । वाणीद्वारा अकथ्य होनेके कारण उसे मूक-श्रेणीसे समझाया गया है; जिससे उनके कथनमें कुछ भेद मालूम होता है, किन्तु वस्तुतः उसमें कोई भेद नहीं है ।

सब कालमें लोकका स्वरूप एकसा नहीं रहता; वह क्षणक्षणमें बदलता रहता है; उसके अनेक नये नये रूप होते हैं; अनेक स्थितियाँ पैदा होती हैं; और अनेक लय होती जाती हैं; एक क्षणके पहिले जो रूप बाह्यज्ञानसे मालूम न होता था वह सामने दिखाई देने लगता है, तथा क्षणभरमें बहुत दीर्घ विस्तारवाले रूप लय हो जाते हैं । महात्माके ज्ञानमें झलकनेवाला लोकका स्वरूप अज्ञानीके अनुग्रह करनेके लिये कुछ जुदे रूपसे कहा जाता है; परन्तु जिसकी सर्व कालमें एकसी स्थिति नहीं, ऐसा यह रूप 'सत्' नहीं है, इस कारण उसे चाहे जिस रूपसे वर्णन करके उस समय भ्रांति दूर की गई है; और इसके कारण यह नियम नहीं है कि सर्वत्र यही स्वरूप होता है; ऐसा समझमें आता है। बाल-जीव तो उस स्वरूपको शाश्वतरूप मानकर भ्रातिमें पड़ जाते हैं, परन्तु कोई सत्पात्र जीव ही ऐसे विविधतापूर्ण कथनसे तंग आकर 'सत्' की तरफ झुकता है । बहुत करके सब मुमुक्षुओंने इसी तरहसे मार्ग पाया है । इस जगत्के बारम्बार भ्रांतिरूप वर्णन करनेका बड़े पुरुषोंका एक यही उद्देश है कि उस स्वरूपको विचार करनेसे प्राणी भ्रांति पाते हैं कि और वस्तुका स्वरूप क्या है ? इस तरह तो अनेक प्रकारसे कहा गया है, उसमें क्या मानूँ? और मुझे कल्याणकारक क्या है? ' ऐसे विचार करते करते, इसको एक भ्रांतिका ही विषय मानकर, ' जहाँसे 'सत्' की प्राप्ति होती है ऐसे सत्की शरण बिना छुटकारा नहीं,' ऐसा समझकर वे उसकी खोज करते हैं, और उसकी शरणमें जाकर 'सत्' पाते हैं और स्वयं सत्रूप हो जाते हैं ।

जनक विदेही संसारमें रहनेपर भी विदेही रह सके, यह यद्यपि एक बड़ा आश्चर्य है, और यह महाकठिन है; तथापि परमज्ञानमें ही जिसकी आत्मा तन्मय हो गई है, ऐसी वह तन्मय आत्मा जिस तरहसे रहती है उसी तरह वह भी रहता है; चाहे जैसा कर्मका उदय क्यों न आ जाय फिर भी उनके तदनुसार रहनेमें बाधा नहीं पहुँचती । जिनको देहतकका भी अहपना दूर हो गया है, ऐसे उस महाभाग्यकी देह भी मानों आत्मभावसे ही रहती थी, तो फिर उनकी दशा भेदवाली कैसे हो सकती है!

श्रीकृष्ण महात्मा थे । वे ज्ञानी होनेपर भी उदयभावसे संसारमें रहे थे, इतना तो जैन ग्रंथों

आपकी सर्वोत्तम प्रज्ञाको हम नमस्कार करते हैं । कलिकालमें यदि परमात्माको किसी पुरुषके ऊपर प्रसन्न होना हो तो उनमेंसे आप भी एक हैं । हमें इस कालमें आपका सहारा मिला और उसीसे हम जीवित हैं ।

---

१८७ बम्बई, फाल्गुन सुदी ११, १९४७

'सत्' सत् है, सरल है, सुगम है; उसकी प्राप्ति सर्वत्र होती है ।

'सत्' है, उसे कालसे बाधा नहीं, वह सबका अधिष्ठान है, और वह वाणीसे अकथ्य है, उसकी प्राप्ति होती है; और उसकी प्राप्तिका उपाय है ।

सभी सम्प्रदायों एवं दर्शनोंके महात्माओंका लक्ष एक 'सत्' ही है । वाणीद्वारा अकथ्य होनेके कारण उसे मूक-श्रेणीसे समझाया गया है; जिससे उनके कथनमें कुछ भेद मालूम होता है, किन्तु वस्तुतः उसमें कोई भेद नहीं है ।

सब कालमें लोकका स्वरूप एकसा नहीं रहता; वह क्षणक्षणमें बदलता रहता है; उसके अनेक नये नये रूप होते हैं; अनेक स्थितियाँ पैदा होती हैं; और अनेक लय होती जाती हैं; एक क्षणके पहिले जो रूप बाह्यज्ञानसे मालूम न होता था वह सामने दिखाई देने लगता है, तथा क्षणमें बहुत दीर्घ विस्तारवाले रूप लय हो जाते हैं। महात्माके ज्ञानमें झलकनेवाला लोकका स्वरूप अज्ञानीके अनुग्रह करनेके लिये कुछ जुदे रूपसे कहा जाता है; परन्तु जिसकी सर्व कालमें एकसी स्थिति नहीं, ऐसा यह रूप 'सत्' नहीं है, इस कारण उसे चाहे जिस रूपसे वर्णन करके उस समय भ्रांति दूर की गई है; और इसके कारण यह नियम नहीं है कि सर्वत्र यही स्वरूप होता है; ऐसा समझमें आता है। बाल-जीव तो उस स्वरूपको शाश्वतरूप मानकर भ्रांतिमें पड़ जाते हैं, परन्तु कोई सत्पात्र जीव ही ऐसे विविधतापूर्ण कथनसे तंग आकर 'सत्' की तरफ झुकता है । बहुत करके सब मुमुक्षुओंने इसी तरहसे मार्ग पाया है । इस जगत्के बारम्बार भ्रांतिरूप वर्णन करनेका बड़े पुरुषोंका एक यही उद्देश है कि उस स्वरूपको विचार करनेसे प्राणी भ्रांति पाते हैं कि और वस्तुका स्वरूप क्या है ? इस तरह तो अनेक प्रकारसे कहा गया है, उसमें क्या मानूँ ? और मुझे कल्याणकारक क्या है ? ' ऐसे विचार करते करते, इसको एक भ्रांतिका ही विषय मानकर, ' जहाँसे 'सत्' की प्राप्ति होती है ऐसे संतकी शरण बिना छुटकारा नहीं,' ऐसा समझकर वे उसकी खोज करते हैं, और उसकी शरणमें जाकर 'सत्' पाते हैं और स्वयं सत्रूप हो जाते हैं ।

जनक विदेही संसारमें रहनेपर भी विदेही रह सके, यह यद्यपि एक बड़ा आश्चर्य है, और यह महाकठिन है; तथापि परमज्ञानमें ही जिसकी आत्मा तन्मय हो गई है, ऐसी वह तन्मय आत्मा जिस तरहसे रहती है उसी तरह वह भी रहता है; चाहे जैसा कर्मका उदय क्यों न आ जाय फिर भी उसके तदनुसार रहनेमें बाधा नहीं पहुँचती । जिनको देहतकका भी अहपना दूर हो गया है, ऐसे उन महाभाग्यकी देह भी मानों आत्मभावसे ही रहती थी, तो फिर उनकी दशा भेदवाली कैसे हो सकती है ?

श्रीकृष्ण महात्मा थे । वे ज्ञानी होनेपर भी उदयभावसे संसारमें रहे थे, इतना तो जैन दर्शन

भी जाना जा सकता है, और वह यथार्थ ही है; तथापि उनकी गतिके संबंधमें जो भेद बताया गया है, उसका कुछ जुदा ही कारण है।

स्वर्ग, नरक आदिकी प्रतीतिका उपाय योग-मार्ग है। उसमें भी जिनको दूरंदेशी सिद्धि प्राप्त होती है, वह उसकी प्रतीतिके लिये योग्य है। यह प्रतीति सर्वकालमें प्राणियोंको दुर्लभ ही रहती है। ज्ञान-मार्गमें इस विशेष बातका उल्लेख नहीं किया, परन्तु ये सब है जरूर।

जितने स्थानमें मोक्ष बताई गई है वह सत्य है। कर्मसे, भ्रांतिसे, अथवा मायासे छूटनेका नाम ही मोक्ष है; यही मोक्ष शब्दकी व्याख्या है।

जीव एक भी है, और अनेक भी है।

---

१८८ बम्बई, फाल्गुन वदी १ गुरु. १९४७

"एक देखिये जानिये" इस दोहेके विषयमें आपने लिखा है। इस दोहेको हमने आपको निःशंकताकी दृढता होनेके लिये नहीं लिखा था; परन्तु यह दोहा स्वाभाविक तौरसे हमें प्रशस्त लगा इसलिये इसे आपको लिख भेजा था। ऐसी ही तो गोपांगनाओंने थी। श्रीमद्भागवतमें महात्मा व्यासने वासुदेव भगवान्के प्रति गोपियोंकी प्रेम-भक्तिका वर्णन किया है, वह परम आल्हादक और आश्चर्यकारक है।

नारद-भक्तिसूत्र नामका एक छोटासा शिक्षाशास्त्र महर्षि नारदजीका रचा हुआ है। उसमें प्रेम-भक्तिका सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादन किया गया है।

---

१८९ बम्बई, फाल्गुन वदी ८ बुध. १९४७

श्रीमद्भागवत परमभक्तिरूप ही है। इसमें जो जो वर्णन किया गया है, वह सब केवल लक्षको सूचित करनेके लिये है।

यदि मुनिसे सर्वव्यापक अधिष्ठान—आत्माके विषयमें पूँछा जाय तो उनसे लक्षरूप कुछ भी उत्तर नहीं मिल सकता; और कल्पित उत्तरसे कार्य-सिद्धि नहीं होती। आपको ज्योतिष आदिकी भी हालमें इच्छा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वह कल्पित है; और कल्पितपर हमारा कुछ भी लक्ष नहीं है।

---

१९० बम्बई, फाल्गुन वदी ८ बुध. १९४७

परमात्माकी कृपासे परस्पर समागम लाभ हो, ऐसी मेरी इच्छा है।

यहाँ उपाधियोग विशेष रहता है, तथापि समाधिमें योगकी अप्रियता कभी न हो, ऐसा ईश्वरका अनुग्रह रहेगा, ऐसा मालूम होता है।

---

१९१ बम्बई, फाल्गुन वदी १० शनि. १९४७

आज जन्मकुंडलीके साथ आपका पत्र मिला। जन्मकुंडलीके संबंधमें अभी उत्तर नहीं मिल

सकना। भक्तिविषयक प्रश्नोंका उत्तर प्रसंग पाकर लिखूँगा। हमने आपको जिस विस्तारपूर्वक " अधिष्ठान " के संबंधमें लिखा था, वह आपसे भेंट होनेपर ही समझमें आ सकता है।

" अधिष्ठान " अर्थात् जिसमेंसे वस्तु उत्पन्न हुई हो, जिसमें वह स्थिर रहे, और जिसमें वह लय पावे। " जगत्का अधिष्ठान " का अर्थ इसी व्याख्याके अनुसार ही समझना।

जैनदर्शनमें चैतन्यको सर्वव्यापक नहीं कहा है। इस विषयमें आपके जो कुछ भी लक्षमें हो उसे लिखें।

१९२

बम्बई, फाल्गुन वदी ११ रवि. १९४७

ज्योतिषको कल्पित कहनेका यही हेतु है कि यह विषय पारमार्थिक ज्ञानकी अपेक्षासे कल्पित ही है; और पारमार्थिक ही सत्य है, और उसीकी ही रटन लगी हुई है।

हालमें ईश्वरने मेरे सिरपर उपाधिका बोझा विशेष रख रक्खा है; ऐसे करनेमें उसकी इच्छाको सुखरूप ही मानता हूँ। जैनग्रंथ इस कालको पंचमकालके नामसे कहते हैं, और पुराणग्रंथ इसे कलिकालके नामसे कहते हैं; इस तरह इस कालको कठिन ही काल कहा गया है। उसका यही हेतु है कि इस कालमें जीवको ' सत्संग और सत्शास्त्र ' का संयोग मिलना अति कठिन है, और इसीलिये इस कालको ऐसा उपनाम दिया गया है। हमें भी पंचमकाल अथवा कलियुग हालमें तो अनुभव दे रहा है। हमारा चित्त अतिशय निस्पृह है, और हम जगत्में सस्पृह होकर रह रहे हैं; यह सब कलियुगकी ही कृपा है।

१९३

बम्बई, फाल्गुन वदी १४ बुध. १९४७

देहाभिमाने गलिते, विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति, तत्र तत्र समाधयः॥

' मैं कर्त्ता हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, ' इत्यादि रूपसे रहनेवाला जिसका देहाभिमान नष्ट हो गया है, और जिसने सर्वोत्तम पदरूप परमात्माको जान लिया है, उसका मन जहाँ कहीं भी जाता है, वहाँ वहाँ उसको समाधि ही है।

कई बार आपके विस्तृत पत्र मिलते हैं, और ये पत्र पढ़कर पहिले तो आपके समागममें ही रहनेकी इच्छा होती है; तथापि····कारणसे उस इच्छाका किसी भी तरहसे विस्मरण करना पड़ता है; तथा पत्रका सविस्तर उत्तर लिखनेकी इच्छा होती है, तो वह इच्छा भी बहुत करके शायद ही पूर्ण हो पाती है। इसके दो कारण हैं:—एक तो यह है कि इस विषयमें अधिक लिखने योग्य दशा नहीं रही; और दूसरा कारण उपाधियोग है। उपाधियोगकी अपेक्षा विद्यमान दशावाला कारण अधिक बलवान है। यह दशा बहुत निस्पृह है, और उसके कारण मन अन्य विषयमें प्रवेश नहीं करता, और उसमें भी परमार्थके विषयमें लिखनेके लिये तो केवल हो है; इस विषयमें लेखन-

परमात्माके स्वरूपकी दृष्टिसे तो यह सरलता ही है; और ऐसा ही हो। ऋभु राजाने कठोर तप करके परमात्माका आराधन किया; परमात्माने उसे देहधारीके रूपमें दर्शन दिया, और वर माँगनेके लिये कहा। इसपर ऋभु राजाने वर माँगा कि हे भगवन्! आपने जो ऐसी राज्यलक्ष्मी मुझे दी है, वह बिलकुल भी ठीक नहीं; यदि मेरे ऊपर तेरा अनुग्रह हो तो यह वर दे कि पंचविषयकी साधनरूप इस राज्यलक्ष्मीका फिरसे मुझे स्वप्न भी न हो। परमात्मा आश्चर्यचकित होकर 'तथास्तु' कहकर स्वधामको पधार गये।

कहनेका आशय यह है कि ऐसा ही योग्य है; कठिनता और सरलता, साता और असाता ये भगवान्के भक्तको सब समान ही हैं। और सच पूँछो तो कठिनाई और असाता तो उसके लिये विशेष अनुकूल हैं, क्योंकि वहाँ मायाका प्रतिबंध दृष्टिगत नहीं होता।

आप तो यह बात जानते ही हैं; तथा कुटुम्ब आदिके विषयमें कठिनता होना ही ठीक नहीं है, यदि ऐसा लगता हो तो उसका कारण यही है कि परमात्मा ऐसा कहते हैं कि 'तुम अपने कुटुम्बके प्रति स्नेह रहित होओ, और उसके प्रति समभावी होकर प्रतिबंध रहित बनो, यह तुम्हारा है ऐसा न समझो, और प्रारब्ध योगके कारण ऐसा माना जाता है; उसके हटानेके लिये ही मैंने यह कठिनाई भेजी है'। अधिक क्या कहें! यह ऐसा ही है।

१९४

बम्बई, फागुन १९४७

सत्स्वरूपको अभेद भक्तिसे नमस्कार

कल्याणके उपाय करनेके लिये उनकी सूचना है, और उसका सर्वोत्तम उपाय तो ज्ञानी पुरुषका संग मिलना ही है। इस मुमुक्षुता हो और कुछ कालतक ऐसा योग मिला हो तो जीवका कल्याण हो जाय।

तुम सब सत्संग, सत्शास्त्र आदिके विषयमें अभी कैसे (योगसे) रहते हो, यह लिखना। इस संगके लिये प्रमाद करना बिलकुल भी योग्य नहीं है। हाँ, यदि पूर्वका कोई गाढ़ प्रतिबंध हो तो आत्मा इस विषयमें असमर्थ हो सकती है। तुम्हारी इच्छापूर्तिके लिये कुछ भी लिखना चाहिये, इस कारण प्रसंग विशेष लिखता हूँ। बाकी तो अभी इसमें सम्यक् लिखी जा सके, ऐसी दशा (इच्छा !) नहीं है।

१९५

बम्बई, फागुन १९४७

[illegible] अल्प [illegible] है। उसमें [illegible] होता। जैसे [illegible] नहीं [illegible], वैसे ही [illegible] नहीं होता, कुछ [illegible] ही होता है। [illegible] है, और [illegible] है। [illegible] लिये [illegible]

परमात्माके लक्षकी दृष्टिसे तो यह सरलता ही है; और ऐसा ही हो। ऋभु राजाने कठोर तप करके परमात्माका आराधन किया; परमात्माने उसे देहधारीके रूपमें दर्शन दिया, और वर माँगनेके लिये कहा। इसपर ऋभु राजाने वर माँगा कि हे भगवन्! आपने जो ऐसी राज्यलक्ष्मी मुझे दी है, वह बिल्कुल भी ठीक नहीं; यदि मेरे ऊपर तेरा अनुग्रह हो तो यह वर दे कि पंचविषयकी साधनरूप इस राज्यलक्ष्मीका फिरसे मुझे स्वप्न भी न हो। परमात्मा आश्चर्यचकित होकर 'तथास्तु' कह कर स्वधामको पधार गये।

कहनेका आशय यह है कि ऐसा ही योग्य है; कठिनता और सरलता, साता और असाता ये भगवान्‌के भक्तको सब समान ही हैं। और सच पूँछो तो कठिनाई और असाता तो उसके लिये विशेष अनुकूल हैं, क्योंकि वहाँ मायाका प्रतिबंध दृष्टिगत नहीं होता।

आप तो यह बात जानते ही हैं; तथा कुटुम्ब आदिके विषयमें कठिनता होना ही ठीक नहीं है, यदि ऐसा लगता हो तो उसका कारण यही है कि परमात्मा ऐसा कहते हैं कि 'तुम अपने कुटुम्बके प्रति स्नेह रहित होओ, और उसके प्रति समभावी होकर प्रतिबंध रहित बनो, वह तुम्हारा है ऐसा न मानो, और प्रारब्ध योगके कारण ऐसा माना जाता है; उसके हटानेके लिये ही मैंने यह कठिनाई भेजी है'। अधिक क्या कहें? यह ऐसा ही है।

१९४

बम्बई, फाल्गुन १९४७

सत्स्वरूपको अभेद भक्तिसे नमस्कार

वासनाके उपशम करनेके लिये उनकी सूचना है; और उसका सर्वोत्तम उपाय तो ज्ञानी पुरुषका योग मिलना ही है। दृढ़ मुमुक्षुता हो और कुछ कालतक वैसा योग मिला हो तो जीवका कल्याण हो जाय।

तुम सब सत्संग, सत्शास्त्र आदिके विषयमें अभी कैसे (योगसे) रहते हो, यह लिखना। इस योगके लिये प्रमादमात्र करना बिल्कुल भी योग्य नहीं है। हाँ, यदि पूर्वका कोई गाढ़ प्रतिबंध हो तो आत्मा इस विषयमें अप्रमत्त हो सकती है। तुम्हारी इच्छापूर्तिके लिये कुछ भी लिखना चाहिये, इस कारण प्रसंग मिलनेपर लिखता हूँ। बाकी तो अभी हालमें सत्कथा लिखी जा सके, ऐसी दशा (इच्छा !) नहीं है।

१९५

बम्बई, फाल्गुन १९४७

अनंतकालसे जीवको असत् वासनाका अभ्यास है। उसमें सत्का संस्कार एकदम स्थिर नहीं होता। जैसे मलिन दर्पणमें जैसा चाहिये वैसा प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता, वैसे ही असत् वासनायुक्त चित्तमें भी सत्का संस्कार योग्य प्रकारसे प्रतिबिम्बित नहीं होता; कुछ अंशसे ही होता है। वहाँ जीव फिर अपने अनंतकालके मिथ्या अभ्यासके विकल्पमें पड़ जाता है, और इस कारण उन सत्के अंशोंपर भी क्वचित् आवरण छा जाता है। सत्संबंधी संस्कारोंकी दृढ़ताके लिये सब प्रकारसे

नेके लिये जीवको योग्य होना प्रशस्त है। उस योग्य होनेमें बाधा करनेवाला यह मायाप्रपंच है, जिसका परिचय ज्यों ज्यों कम हो वैसा आचरण किये विना योग्यताका आवरण भंग नहीं होता। पग पगपर भयपूर्ण अज्ञान-भूमिमें जीव विना विचारे ही करोडों योजन तक चलता चला जाता है, वहाँ योग्यताका अवकाश कहाँसे मिल सकता है? ऐसा न होनेके लिए, किये हुए कार्योंके उपद्रवको जैसे बने वैसे शान्त करके (इस विषयकी) सर्व प्रकारसे निवृत्ति करके योग्य व्यवहारमें आनेका प्रयत्न करना ही उचित है। यदि सर्वथा लाचारी हो तो व्यवहार करना चाहिये, किन्तु उस व्यवहारको प्रारब्धका उदय समझकर केवल निस्पृह-बुद्धिसे करना चाहिये। ऐसे व्यवहारको ही योग्य व्यवहार मानना। यहाँ ईश्वरानुग्रह है।

(२) कार्यरूपी जालमें आ फँसनेके बाद प्रायः प्रत्येक जीवको पश्चात्ताप होता है, कार्यके जन्म होनेके पहिले ही विचार हो जाय और वह दृढ रहे, ऐसा होना बहुत ही कठिन है—ऐसा जो विचक्षण मनुष्य कहते हैं वह यथार्थ ही है। पश्चात्ताप करनेसे कार्यका आया हुआ परिणाम अन्यथा नहीं होता, किन्तु किसी ऐसे ही दूसरे प्रसंगमें उससे उपदेश अवश्य मिल सकता है। ऐसा ही होना योग्य था, ऐसा मानकर शोकका परित्याग करना और केवल मायाकी प्रबलताका विचार करना यही उत्तम है। मायाका स्वरूप ही ऐसा है कि इसमें 'सत्' प्राप्त ज्ञानी पुरुषको भी रहना मुश्किल है, तो फिर जिसमें अभी मुमुक्षुताके अंशोंकी भी मलिनता है, ऐसे पुरुषको उसके स्वरूपमें स्थिर रहना अत्यन्त कठिन, संभ्रममें डालनेवाला एवं चलायमान करनेवाला हो, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है—ऐसा जरूर मानना।

१९९

बम्बई, चैत्र सुदी ९, शुक्र. १९४७.

जम्बूस्वामीका दृष्टान्त प्रसंगको प्रबल करनेवाला और बहुत आनन्दकारक लिखा गया है।

लुटा देनेकी इच्छा होनेपर भी, चोरोंद्वारा अपहरण हो जानेके कारण जम्बूका त्याग है, ऐसी लोक-प्रवाहकी मान्यता परमार्थके लिये कलंकरूप है, ऐसा जो महात्मा जंबूका आशय था वह सत्य था।

इस प्रकार यहाँ इस बातका अन्त करके अब आपको प्रश्न होगा कि चित्तकी बातके प्रसंगोंमें आकुल-व्याकुलता हो, और उसमें आत्मा चिंतित रहा करे, क्या यह ईश्वर-प्रसन्नताका मार्ग है? तथा अपनी बुद्धिसे नहीं, किन्तु लोक-प्रवाहके कारण भी कुटुम्ब आदिके कारणसे शोकयुक्त होना, क्या यह वास्तविक मार्ग है? क्या हम आकुल होकर कुछ कर सकते हैं? और यदि कर सकते हैं तो फिर ईश्वरपर विश्वास रखनेका क्या फल हुआ?

निस्पृह पुरुष क्या ज्योतिष जैसे कल्पित विषयको सांसारिक प्रसंगमें लक्ष करते हों? हालमें तो हमारी यही इच्छा है कि आप, हम ज्योतिष जानते हैं अथवा कुछ कर सकते हैं, ऐसा न मानें तो ठीक हो।

लोक-लज्जाकी उपेक्षा करके सत्संगका परिचय करना ही श्रेयस्कर है। किसी भी बड़े कारणकी सिद्धिमें लोक-लज्जाका तो सब प्रकारसे त्याग करना ही पड़ता है। सामान्यतः सत्संगका लोक-समुदायमें तिरस्कार नहीं है, जिससे लोक-लज्जा दुःखदायक नहीं होती; केवल चित्तमें सत्संगके लाभका विचार करके निरंतर अभ्यास करते रहें तो परमार्थविषयक दृढ़ता होती है।

१९६　　बम्बई, चैत्र सुदी ५ सोम. १९४७

एक पत्र मिला, जिसमें कि 'बहुतसे जीवोंमें योग्यता तो है परन्तु मार्ग बतानेवाला कोई नहीं,' इत्यादि बात लिखी है। इस विषयमें पहिले आपको बहुत करके खुलासा किया था, यद्यपि वह कुछ गूढ़ ही था; तथापि आपमें अत्यधिक परमार्थकी उत्सुकता है, इस कारण वह खुलासा आपको विस्मरण हो जाय, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

फिर भी आपको स्मरण रहनेके लिये इतना लिखता हूँ कि जबतक ईश्वरेच्छा न होगी तबतक हमसे कुछ भी न हो सकेगा। एक तुच्छ तृणके दो टुकड़े करनेकी भी सत्ता हममें नहीं है। अधिक क्या कहें?

आप तो करुणामय हैं। फिर भी आप हमारी करुणाके संबंधमें क्यों लक्ष नहीं देते, और ईश्वरको क्यों नहीं समझाते?

१९७　　बम्बई, चैत्र सुदी ७ बुध. १९४७.

महात्मा कबीरजी तथा नरसी मेहताकी भक्ति अनन्य, अलौकिक, अद्भुत, और सर्वोत्कृष्ट थी; ऐसा होनेपर भी वह निस्पृह थी। ऐसी दुखी स्थिति होनेपर भी उन्होंने स्वप्नमें भी आजीविकाके लिये—व्यवहारके लिये परमेश्वरके प्रति दीनता प्रकट नहीं की। यद्यपि दीनता प्रकट किये बिना ईश्वरेच्छानुसार व्यवहार चलता गया है, तथापि उनकी दरिद्रावस्था आजतक जगत्प्रसिद्ध ही है; और यही उनका सबल माहात्म्य है। परमात्माने इनका 'परचा' पूरा किया है, और वह भी इन भक्तोंकी इच्छाके विरुद्ध जाकर किया है; क्योंकि वैसी भक्तोंकी इच्छा ही नहीं होती, और यदि ऐसी इच्छा हो तो उन्हें भक्तिके रहस्यकी प्राप्ति भी न हो। आप भले ही हजारों बातें लिखें परन्तु जबतक आप निस्पृही नहीं हैं (अथवा न हों) तबतक सब विडंबना ही है।

१९८　　बम्बई, चैत्र सुदी ९ शुक्र. १९४७

परेच्छानुचारीके शब्दभेद नहीं होता

(१) मायाका प्रपंच प्रतिक्षण बाधा करता है। उस प्रपंचके तापकी निवृत्ति मानों किसी कल्पवृक्षकी छायासे होती है, अथवा तो केवल दशासे होती है। इन दोनोंमें भी कल्पवृक्षकी छाया प्रशस्त है; इसके सिवाय तापकी निवृत्ति नहीं होती; और इस कल्पवृक्षको वास्तविकरूपसे पहिचान-

नेके लिये जीवको योग्य होना प्रशस्त है। उस योग्य होनेमें बाधा करनेवाला यह मायाप्रपंच है, जिसका परिचय ज्यों ज्यों कम हो वैसा आचरण किये बिना योग्यताका आवरण भंग नहीं होता। पग पगपर भयपूर्ण अज्ञान-भूमिमें जीव बिना विचारे ही करोड़ों योजन तक चलता चला जाता है, वहाँ योग्यताका अवकाश कहाँसे मिल सकता है? ऐसा न होनेके लिए, किये हुए कार्के उपद्रवको जैसे बने वैसे शान्त करके (इस विषयकी) सर्व प्रकारसे निवृत्ति करके योग्य व्यवहारमें आनेका प्रयत्न करना ही उचित है। यदि सर्वथा लाचारी हो तो व्यवहार करना चाहिये, किन्तु उस व्यवहारको प्रारब्धका उदय समझकर केवल निस्पृह-बुद्धिसे करना चाहिये। ऐसे व्यवहारको ही योग्य व्यवहार मानना। यहाँ ईश्वरानुग्रह है।

(२) कार्यरूपी जालमें आ फँसनेके बाद प्रायः प्रत्येक जीवको पश्चात्ताप होता है, कार्यके जन्म होनेके पहिले ही विचार हो जाय और वह दृढ़ रहे, ऐसा होना बहुत ही कठिन है—ऐसा जो विचक्षण मनुष्य कहते हैं वह यथार्थ ही है। पश्चात्ताप करनेसे कार्यका आया हुआ परिणाम अन्यथा नहीं होता, किन्तु किसी ऐसे ही दूसरे प्रसंगमें उससे उपदेश अवश्य मिल सकता है। ऐसा ही होना योग्य था, ऐसा मानकर शोकका परित्याग करना और केवल मायाकी प्रबलताका विचार करना यही उत्तम है। मायाका स्वरूप ही ऐसा है कि इसमें 'सत्' प्राप्त ज्ञानी पुरुषको भी रहना मुश्किल है, तो फिर जिसमें अभी मुमुक्षुताके अंशोंकी भी मलिनता है, ऐसे पुरुषको उसके स्वरूपमें स्थिर रहना अत्यन्त कठिन, संभ्रममें डालनेवाला एवं चलायमान करनेवाला हो, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है—ऐसा जरूर मानना।

१९९

बम्बई, चैत्र सुदी ९ शुक्र. १९४७.

जम्बूस्वामीका दृष्टान्त प्रसंगको प्रबल करनेवाला और बहुत आनन्दकारक लिखा गया है।

लुटा देनेकी इच्छा होनेपर भी, चोरोंद्वारा अपहरण हो जानेके कारण जम्बूका त्याग है, ऐसी लोक-प्रवाहकी मान्यता परमार्थके लिये कलंकरूप है, ऐसा जो महात्मा जम्बूका आशय था वह सत्य था।

इस प्रकार यहाँ इस बातका अन्त करके अब आपको प्रश्न होगा कि चित्तको मारनेके प्रसंगोंमें आकुल-व्याकुलता हो, और उसमें आत्मा चिंतित रहा करे, क्या यह ईश्वर-प्रसन्नताका मार्ग है? तथा अपनी बुद्धिसे नहीं, किन्तु लोक-प्रवाहके कारण भी कुटुम्ब आदिके कारणसे शोकातुर होना, क्या यह वास्तविक मार्ग है? क्या हम आकुल होकर कुछ कर सकते हैं? और यदि कर सकते हैं तो फिर ईश्वरपर विश्वास रखनेका क्या फल हुआ?

निस्पृह पुरुष क्या ज्योतिष जैसे कल्पित विषयको सांसारिक प्रसंगमें लक्ष करते होंगे? हालमें तो हमारी यही इच्छा है कि आप, हम ज्योतिष जानते हैं अथवा कुछ कर सकते हैं, ऐसा न मानें तो ठीक हो।

२०३

बम्बई, चैत्र वदी ३ शनि. १९४७

उस पूर्णपदकी ज्ञानी लोग परम प्रेमसे उपासना करते हैं

लगभग चार दिन पहले आपका पत्र मिला। परमस्वरूपके अनुग्रहसे यहाँ समाधि है। समाधि रखनेकी आपकी इच्छा रहती है—यह पढ़कर बारम्बार आनन्द होता है। चित्तकी सरलताका वैराग्य और 'सत्' प्राप्त होनेकी अभिलाषा—ये प्राप्त होना परम दुर्लभ है; और उसकी प्राप्तिमें परम कारणरूप 'सत्संग' का प्राप्त होना तो और भी परम दुर्लभ है। महान् पुरुषोंने इस कालको कठिन काल कहा है, उसका मुख्य कारण तो यही है कि जीवको 'सत्संग' का योग मिलना बहुत कठिन है, और ऐसा होनेसे ही कालको भी कठिन कहा है। चौदह राजू लोक मायामय अग्निसे प्रज्वलित है। उस मायामें जीवकी बुद्धि रच-पच रही है, और उससे जीव भी उस त्रिविध तापरूपी अग्निमें जल रहा है; उसके लिये परमकारुण्य मूर्तिका उपदेश ही परम शीतल जल है; तथापि जीवको अपने अपूर्ण पुण्यके कारण उसकी प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन हो गई है।

परन्तु इसी वस्तुका चिन्तन रखना। 'सत्' में प्रीति, साक्षात् 'सत्' रूप संतमें प्रीति, और उसके मार्गकी अभिलाषा—यही निरन्तर स्मरण रखने योग्य है; और इनके स्मरण रहनेमें वैराग्य आदि अधिकारी पुस्तकें, वैराग्ययुक्त सरल चित्तवाले मनुष्योंका संग और अपनी चित्त-शुद्धि—ये सुन्दर कारण हैं। इन्हींकी प्राप्तिकी रटन रखना कल्याणकारक है। यहाँ समाधि है।

२०४

बम्बई, चैत्र वदी ७ गुरु. १९४७

आप्युं सौने ते अक्षरधामरे

यद्यपि काल बहुत उपाधि संयुक्त जाता है, किन्तु ईश्वरेच्छानुसार चलना श्रेयस्कर और योग्य है, इसलिये जैसे चल रहा है, वैसे चाहे उपाधि हो तो भी ठीक, और न हो तो भी ठीक; हमें तो दोनों समान ही है।

ऐसा तो मनमें आता है कि भेदका भेद दूर होनेपर ही वास्तविक तत्त्व समझमें आता है। परम अभेदरूप 'सत्' सर्वत्र है।

२०५

बम्बई, चैत्र वदी १४ गुरु. १९४७

जिसे लगी है, उसीको ही लगी है, और उसीने उसे जानी है, और वही "पी पी" पुकारता फिरता है। यह ब्राह्मी वेदना कैसे कही जाय? जहाँ कि वाणीका भी प्रवेश नहीं है। अधिक क्या कहें! जिसे लगी है उसीको ही लगी है। उसीके चरणकी शरण संगसे मिलती है; और जब वह लगी है तभी छुटकारा होता है। इसके बिना दूसरा सुगम मोक्षमार्ग है ही नहीं; तथापि कोई प्रयत्न नहीं करता। मोह बड़ा बलवान है!

---

२०० बम्बई, चैत्र सुदी १० शनि. १९४७

सर्वात्मस्वरूपको नमस्कार

यह दशा जिससे अपना और पराया कुछ भी भेदभाव नहीं रहता—उसकी प्राप्ति अब समीप ही है, (इस देहमें है); और उसके कारण परेच्छासे रहते हैं। पूर्वमें भिन्न भिन्न विद्या, योग, जप, और त्यागकी प्राप्ति हो गई है, उन सबको इस अवस्थामें ही विस्मरण करके निर्विकल्प हुए बिना छुटकारा नहीं; और इसी कारण इस तरहसे रहते हैं; तथापि आपकी अत्यधिक आकुलता देखकर यत्किंचित् आपको उत्तर देना पड़ा है; और यह भी स्वेच्छासे नहीं दिया है। ऐसा होनेसे आपसे प्रार्थना है कि इस सब मायायुक्त विद्या अथवा मायायुक्त मार्गके संबंधमें आपकी तरफसे मेरे दूसरी दशा होनेतक स्मरण न दिलाया जाय, यही उचित है।

---

२०१ बम्बई, चैत्र सुदी १४ गुरु. १९४७

ज्ञानीकी परिपक्व अवस्था (दशा) होनेपर रागद्वेषकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है, ऐसी हमारी मान्यता है।

ईश्वरेच्छाके अनुसार जो हो उसे होने देना, यह भक्तिमानके लिये सुख देनेवाली बात है।

---

२०२ बम्बई, चैत्र सुदी १५ शुक्र. १९४७

यथार्थमें नीचेकी बातें विशेष उपयोगी हैं:—

१. पार होनेके लिये जीवको पहिले क्या जानना चाहिये?

२. जीवके परिभ्रमण करनेमें मुख्य कारण क्या है?

३. वह कारण किस तरह दूर हो सकता है?

४. उसके लिये सुगमसे सुगम अर्थात् अल्पकालमें ही फल देनेवाला उपाय कौनसा है?

५. क्या ऐसा कोई पुरुष है कि जिससे इस विषयका निर्णय हो सके? क्या तुम जानते हो इस कालमें कोई ऐसा पुरुष होगा? और जानते हो तो किस कारणसे? ऐसे पुरुषके कौनसे लक्षण हो सकते हैं? वर्तमानमें ऐसा पुरुष तुम्हें किस उपायसे प्राप्त हो सकता है?

६. क्या यह हो सकता है कि सत्पुरुषकी प्राप्ति होनेपर जीवको मार्ग न मिले? ऐसा हो तो उसका क्या कारण है? यदि इससे जीवकी अयोग्यता मान पड़े तो वह योग्यता किस विषयकी है?

७. ....के संगसे योग्यता आनेपर क्या उसके पाससे ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है?

ज्ञानकी प्राप्तिके लिये योग्यता बहुत बलवान कारण है। ईश्वरेच्छा बलवान है और सुखदायक है। वारम्वार यही शंका मनमें उठा करती है कि क्या केवलज्ञान कभी देहमें रह सकता है? आपकी इस विषयमें क्या मत है?

२०३

बम्बई, चैत्र वदी ३ रवि. १९४७

उस पूर्णपदकी ज्ञानी लोग परम प्रेमसे उपासना करते हैं

लगभग चार दिन पहले आपका पत्र मिला। परमस्वरूपके अनुग्रहसे यहाँ समाधि है। सद्वृत्तियें रखनेकी आपकी इच्छा रहती है—यह पढ़कर वारम्वार आनन्द होता है। चित्तकी सरलताका वैराग्य और 'सत्' प्राप्त होनेकी अभिलाषा-ये प्राप्त होना परम दुर्लभ है; और उसकी प्राप्तिमें परम कारण रूप 'सत्संग' का प्राप्त होना तो और भी परम दुर्लभ है। महान् पुरुषोंने इस कालको कठिन काल कहा है, उसका मुख्य कारण तो यही है कि जीवको 'सत्संग' का योग मिलना बहुत कठिन है, और ऐसा होनेसे ही कालको भी कठिन कहा है। चौदह राजू लोक मायामय अग्निसे प्रज्वलित है। उस मायामें जीवकी बुद्धि रच-पच रही है, और उससे जीव भी उस त्रिविध तापरूपी अग्निमें जला करता है; उसके लिये परमकारुण्य मूर्तिका उपदेश ही परम शीतल जल है; तथापि जीवको चारों ओरसे अपूर्ण पुण्यके कारण उसकी प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन हो गई है।

परन्तु इसी वस्तुका चिंतवन रखना। 'सत्' में प्रीति, साक्षात् 'सत्' रूप संतमें प्रीति, और उसके मार्गकी अभिलाषा—यही निरन्तर स्मरण रखने योग्य है; और इनके स्मरण रहनेमें वैराग्य आदि चरित्रवाली पुस्तकें, वैराग्ययुक्त सरल चित्तवाले मनुष्योंका संग और अपनी चित्त-शुद्धि—ये इसके कारण हैं। इन्हींकी प्राप्तिकी रटन रखना कल्याणकारक है। यहाँ समाधि है।

२०४

बम्बई, चैत्र वदी ७ गुरु. १९४७

आप्युं सौने ते अक्षरधामरे

यद्यपि काल बहुत उपाधि संयुक्त जाता है, किन्तु ईश्वरेच्छानुसार चलना श्रेयस्कर और योग्य है, इसलिये जैसे चल रहा है, वैसे चाहे उपाधि हो तो भी ठीक, और न हो तो भी ठीक; इन दोनों समान ही हैं।

ऐसा तो समझमें आता है कि भेदका भेद दूर होनेपर ही वास्तविक तत्त्व समझमें आता है। परम अभेदरूप 'सत्' सर्वत्र है।

२०५

बम्बई, चैत्र वदी १४ गुरु १९४७

जिसे लगी है, उसीको ही लगी है, और उसीने उसे जानी है, और वही "पी पी" पुकारता फिरता है। यह ब्राह्मी वेदना कैसे कही जाय? जहाँ कि वाणीका भी प्रवेश नहीं है। अधिक क्या कहें? जिसे लगी है उसीको ही लगी है। उसीके चरणकी शरण संगसे मिलती है; और जब मिल जाती है तभी छुटकारा होता है। इसके बिना दूसरा सुगम मोक्षमार्ग है ही नहीं; तथापि कोई प्रयत्न नहीं करता। मोह बड़ा बलवान है!

२०६

बम्बई, चैत्र १९४७

सुदृढ़ स्वभावसे आत्मार्थका प्रयत्न करना। आत्म-कल्याण प्राप्त करनेमें प्रायः प्रबल परिषहोंके बारम्बार आनेकी संभावना है, परन्तु यदि उन परिषहोंको शांत चित्तसे सह लिया जाय तो दीर्घकाल-में हो सकने योग्य कल्याण बहुत अल्पकालमें ही सिद्ध हो जाता है।

तुम सब ऐसे शुद्ध आचरणसे रहना कि जिससे तुमको काल बीतनेपर, विषम दृष्टिसे देखनेवाले मनुष्योंमेंसे बहुतोंको, अपनी उस दृष्टिपर पश्चात्ताप करनेका समय आवे।

धैर्य रखकर आत्म-कल्याणमें निर्भय रहना। निराश न होना। आत्मार्थमें प्रयत्न करते रहना।

२०७

बम्बई, वैशाख सुदी ७ शुक्र. १९४७

परब्रह्म आनंदमूर्त्ति है; हम उसका तीनों कालोंमें अनुग्रह चाहते हैं

कुछ निवृत्तिका समय मिला करता है। परब्रह्म-विचार तो ज्योंका त्यों रहा ही करता है। कभी कभी तो उसके लिये आनन्दकी किरणें बहुत बहुत स्फुरित होने लगती हैं और कुछकी कुछ (अभेद) बात समझमें आती है; परन्तु वह ऐसी है जो किसीसे कही नहीं जा सकती; हमारी यह वेदना अथाह है। वेदनाके समय कोई न कोई साता पूँछनेवाला चाहिये, ऐसा व्यावहारिक मार्ग है; परन्तु हमें इस परमार्थ-मार्गमें साता पूँछनेवाला कोई नहीं मिलता; और जो है भी उसका वियोग रहता है।

२०८

बम्बई, वैशाख वदी ३, १९४७

विरहको भी सुखदायक मानना।

जैसे हरिके प्रति विरहाग्निके जलनेसे उसकी साक्षात् प्राप्ति होती है, वैसे ही संतके विरहानु-भवसे साक्षात् उसकी प्राप्ति होती है। ईश्वरेच्छासे अपने संबंधमें भी ऐसा ही समझना।

पूर्णकाम हरिका स्वरूप है; उसमें जिसकी निरन्तर लौ लगी रहती है, ऐसे पुरुषोंसे भारत क्षेत्र प्रायः शून्य जैसा हो गया है; मायामोह ही सर्वत्र दिखाई देता है; मुमुक्षु क्वचित् ही दिखाई देते हैं; और उसमें भी मतांतर आदिके कारणोंसे ऐसे मुमुक्षुओंको भी योगका मिलना अति कठिन हो गया है। आप जो हमें बारम्बार प्रेरित करते हो; उसके लिये हमारी जैसी चाहिये वैसी योग्यता नहीं है; और जबतक हरिने साक्षात् दर्शन देकर उस बातकी प्रेरणा नहीं की, तबतक उस विषयमें मेरी कोई इच्छा नहीं होती, और होगी भी नहीं।

२०९

बम्बई, वैशाख वदी ८ रवि. १९४७

हरिके प्रतापसे जब हरिका स्वरूप मिलेगा तब समझाऊँगा

चित्तकी दशा चैतन्यमय रहा करती है; इस कारण हमारे व्यवहारके सब काम प्रायः अव्य-वस्थासे ही होते हैं। हरि-इच्छाको सुखदायक मानते हैं, इसलिये जो उपाधि-योग रहता है उसे भी हम समाधि-योग मानते हैं।

चित्तकी अव्यवस्थाके कारण मुहूर्त मात्रमें हो सकनेवाले कार्यके विचार विचारमें ही कई दिन निकल जाते हैं और कभी तो उस कार्यके बिना किये ही रह जाना पड़ता है। सभी प्रसंगोंमें यदि ऐसा ही होता रहे तो भी हानि नहीं मानी; परन्तु आपको कुछ कुछ ज्ञान-वार्ता कही जाय तो विशेष आनन्द रहता है; और इस संबंधमें चित्तको कुछ व्यवस्थित करनेकी इच्छा रहा करती है; फिर भी उस स्थितिमें अभी हाल हमें प्रवेश नहीं किया जा सकता, ऐसी चित्तकी निरंकुश दशा हो रही है; और उस निरंकुशताकी प्राप्तिमें हरिकी परम कृपा ही कारणीभूत है, ऐसा हम मानते हैं; और उस निरंकुशताको पूर्ण किये बिना चित्त यथोचित समाधियुक्त नहीं होता, ऐसा लगता है। इस समय तो सब-कुछ अच्छा लगता है, और कुछ भी अच्छा नहीं लगता, ऐसी स्थिति हो रही है। जब सब-कुछ मात्र अच्छा ही लगा करेगा तभी निरंकुशताकी पूर्णता होगी। इसीका अपर नाम पूर्ण कामना है—जहाँ सर्वत्र हरि ही हरि स्पष्ट दिखाई देते हैं। इस समय वे कुछ अस्पष्ट जैसे दीखते हैं, परन्तु वे हैं स्पष्ट, ऐसा अनुभव है।

जो रस जगत्‌का जीवन है, उस रसका अनुभव होनेके बाद हरिके प्रति अतिशय लय लगी है, और उसका परिणाम ऐसा आयेगा कि हम जहाँ जिस रूपमें हरि-दर्शन करनेकी इच्छा करेंगे, उसी रूपमें हरि दर्शन देंगे, ऐसा भविष्यकाल ईश्वरेच्छाके कारण लिखा है।

हम अपने अंतरंग विचारको लिख सकनेमें अतिशय अशक्त हो गये हैं; इस कारण समागमकी इच्छा करते हैं; परन्तु ईश्वरेच्छा अभी ऐसा करनेमें असम्मत मालूम होती है, इसलिये वियोगमें ही रहते हैं।

इस पूर्णस्वरूप हरिमें जिसकी परम भक्ति है, ऐसा कोई भी पुरुष हालमें दिखाई नहीं देता, इसका क्या कारण है? तथा ऐसी अति तीव्र अथवा तीव्र मुमुक्षुता भी किसीमें दिखाई नहीं देती, इसका क्या कारण होना चाहिये? यदि कहीं तीव्र मुमुक्षुता दिखाई भी देती होगी तो वहाँ अनन्तगुण-गंभीर ज्ञानावतार पुरुषका लक्ष क्यों नहीं देखनेमें आता, इसके कारणके संबंधमें जो आपको लगे सो लिखना।

दूसरी बड़ी आश्चर्यकारक बात तो यह है कि आप जैसोंको सम्यग्ज्ञानके बीजकी—पराभक्तिके मूलकी—प्राप्ति होनेपर भी उसके बादका भेद क्यों नहीं प्राप्त होता? तथा हरिविषयक अखंड लय जितनी होनी चाहिये उतनी क्यों वृद्धिगत नहीं होती? इसका जो कुछ भी कारण आपके ध्यानमें आता हो सो लिखना।

हमारे चित्तकी ऐसी अव्यवस्था हो जानेके कारण किसी भी काममें जैसा चाहिये वैसा उपयोग नहीं रहता, स्मृति नहीं रहती, अथवा खबर ही नहीं रहती; उसके लिये क्या करें? क्या करें? इसमें हमारा आशय यह है कि ज्ञानदशामें रहनेपर भी ऐसी सर्वोत्तम दशा दूसरे किसीको दुःखरूप न हो, ऐसा हम क्या करें? अभी तो हमारे आचरण ऐसे हैं कि कभी कभी इससे किसीको दुःख पहुँच जाता है।

हम दूसरे किसीको भी अनुकूल करें, इसकी हरिको चिन्ता रहती है; इसलिये वे ही करेंगे। हमारा काम तो उस दशाकी पूर्णता प्राप्त करनेका है, ऐसा मानते हैं; तथा दूसरे किसीको भी अनुकूल करनेका तो [illegible] नहीं है, हम तो सबके दास हैं, तो फिर हमें दुःखरूप कौन कहेगा!

जिनमें सत्संग आदिके माहात्म्यका वर्णन किया हो ऐसी जो पुस्तकें, पद या काव्य हों, उन्हें बारम्बार मनन करना और उन्हें स्मृतिमें रखना उचित समझना।

अभी हालमें यदि जैनसूत्रोंके पढ़नेकी इच्छा हो तो उसे निवृत्त करना ही ठीक है, क्योंकि उनके (जैनसूत्रोंके) पढ़ने और समझनेमें अधिक योग्यता होनी चाहिये; उसके बिना यथार्थ फलकी प्राप्ति नहीं होती; तथापि यदि दूसरी पुस्तकें न हों तो "उत्तराध्ययन" अथवा "सूयगडं" के दूसरे अध्ययनको पढ़ना और विचारना।

---

२१५ बम्बई, आषाढ़ सुदी १ सोम. १९४७.

जबतक गुरुके द्वारा भक्तिका परम स्वरूप समझा नहीं गया, और उसकी प्राप्ति नहीं हुई, तबतक भक्तिमें प्रवृत्ति करनेसे अकाल और अशुचि दोष होता है। अकाल और अशुचिका महान् विस्तार है, तो भी संक्षेपमें लिखा है। 'एकांतमें' प्रभातका प्रथम पहर यह सेव्य-भक्तिके लिये योग्य काल है। स्वरूप-चिंतवन भक्ति तो सभी कालोंमें सेव्य है। सर्व प्रकारकी शुचियोंका कारण एक केवल ब्रह्मचर्य मन है। बाह्य मल आदिसे रहित तन और शुद्ध स्पष्ट वाणी, इसीका नाम शुचि है।

---

२१६ बम्बई, आषाढ़ सुदी ८ भौम. १९४७.

(१)

निःशंकतासे निर्भयता उत्पन्न होती है; और उससे निःसंगता प्राप्त होती है

प्रकृतिके विस्तारकी दृष्टिसे जीवके कर्म अनंत प्रकारकी विचित्रता लिये हुए हैं; और इस कारण दोषोंके प्रकार भी अनन्त ही मालूम होते हैं; परन्तु सबसे बड़ा दोष तो यह है कि जिससे 'तीव्र मुमुक्षुता' उत्पन्न नहीं होती, अथवा 'मुमुक्षुता' ही उत्पन्न नहीं होती।

प्रायः करके मनुष्यात्मा किसी न किसी धर्म-मतमें होता ही है, और इस कारण उसे उसी धर्म-मतके अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिये—ऐसा वह मानता है; परन्तु इसका नाम मुमुक्षुता नहीं है।

मुमुक्षुता तो उसका नाम है कि सब प्रकारकी मोहासक्तिसे छूटकर केवल एक मोक्षके लिये ही यत्न करना; और तीव्र मुमुक्षुता उसे कहते हैं कि अनन्य प्रेमपूर्वक प्रतिदिन मोक्षके मार्गमें प्रवृत्ति करना।

तीव्र मुमुक्षुताके विषयमें यहाँ कुछ कहना नहीं है; परन्तु मुमुक्षुताके विषयमें ही कहना है। अपने दोष देखनेमें निष्पक्षपात होना, यही मुमुक्षुताके उत्पन्न होनेका लक्षण है, और इससे स्वच्छंदका नाश होता है। जहाँ स्वच्छंदकी थोड़ी अथवा बहुत हानि हुई है, वहाँ उतनी ही बोधबीजके योग्य भूमिका तैयार होती है। जहाँ स्वच्छंद प्रायः दब गया है, वहाँ फिर 'मार्गप्राप्ति' को रोकनेवाले केवल तीन कारण ही मुख्यरूपसे होते हैं, ऐसा हम मानते हैं।

इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा, परम विनयकी न्यूनता, और पदार्थका अनिर्णय, इन सब कारणोंको दूर करनेके बीजको फिर कभी कहेंगे। उससे पहिले उन्हीं कारणोंको विस्तारसे कहते हैं।

इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा, यह [illegible] तीव्र मुमुक्षुताकी उत्पत्ति होनेके पहिले

जैसी अपनी योग्यता है, वैसी योग्यता रखनेवाले पुरुषोंके संगको ही सत्संग कहते हैं। अपनेसे बड़े पुरुषके संगके निवासको हम परम सत्संग कहते हैं; क्योंकि इसके समान कोई हितकारक साधन इस जगत्में हमने न देखा है और न सुना है।

पूर्वकालीन महान् पुरुषोंका चिंतवन करना यद्यपि कल्याणकारक है, तथापि वह स्वरूप-स्थितिका कारण नहीं हो सकता; क्योंकि जीवको क्या करना चाहिये—यह बात उनके स्मरण करने मात्रसे समझमें नहीं आती। प्रत्यक्ष संयोग होनेपर बिना समझाये भी स्वरूप-स्थिति होनी संभव लगती है, और उससे यही निश्चय होता है कि उस योगका और उस प्रत्यक्ष चिंतवनका फल मोक्ष होता है; क्योंकि सत् पुरुष ही मूर्तिमान मोक्ष है।

मोक्षगत (अर्हंत आदि) पुरुषका चिंतवन बहुत कालसे भावानुसार मोक्ष आदि फलका देनेवाला होता है।

सम्यक्त्वप्राप्त पुरुषका निश्चय होनेपर और योग्यताके कारणसे जीव सम्यक्त्व पाता है।

२१२

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १५ रवि. १९४७.

ॐ

और भक्तिकी पूर्णता पानेके योग्य तभी होता है जब कि यह एक तृण मात्र भी हरिसे नहीं माँगता, और सब दशाओंमें भक्तिमय ही रहता है।

व्यवहार-चिन्ताओंसे अरुचि होनेपर सत्संगके अभावमें किसी भी प्रकारसे शान्ति नहीं होती, ऐसा जो आपने लिखा सो ठीक ही है; तो भी व्यावहारिक चिन्ताओंकी अरुचि करना उचित नहीं है। सर्वत्र हरि इच्छा बलवान है; यह बतानेके लिये ही हरिने ऐसा किया है, ऐसा निस्सन्देह समझना; इसलिये जो कुछ भी हो उसे देखते जाओ; और फिर यदि उससे अरुचि पैदा हो तो देख लेंगे। अब जब कभी समागम होगा तब इस विषयमें हम बातचीत करेंगे। अरुचि मत करना। हम तो इसी मार्गसे पार हुए हैं।

छोटम ज्ञानी पुरुष थे। उनके पदकी रचना बहुत श्रेष्ठ है। 'साकाररूपसे हरिकी प्रगट प्राप्ति' इसी शब्दको मैं प्रायः 'प्रत्यक्षदर्शन' लिखता हूँ।

२१३

बम्बई, ज्येष्ठ वदी ६ शनि. १९४७

हरि-इच्छासे जीना है, और पर इच्छासे चलना है। अधिक क्या कहें?

[illegible]

२१४

बम्बई, ज्येष्ठ १९४७

इसमें छोटमकृत पद-संग्रह वगैरह पुस्तकें बाँचनेका परिचय रखना। वगैरह शब्दसे ऐसी पुस्तकें समझना जिनमें सत्संग, भक्ति, और वीतरागताके माहात्म्यका वर्णन किया हो।

हुआ करती है। उसके होनेके कारण ये हैं कि "वह 'सत्' है" इस प्रकारकी निःशंकपनेसे इच्छा नहीं हुई, अथवा "वह परमानंदरूप ही है" ऐसा निश्चय नहीं हुआ; अथवा तो मुमुक्षुतामें भी कुछ आनन्दका अनुभव होता है, इससे बाह्य साताके कारण भी कई बार प्रिय लगते हैं, और इस कारण इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा रहा करती है, जिससे जीवकी योग्यता रुक हो जाती है।

याथातथ्य परिचय होनेपर सद्गुरुमें परमेश्वर-बुद्धि रखकर उनकी आज्ञानुसार चलना, इसे परम विनय कहा है। उससे परम योग्यताकी प्राप्ति होती है। जबतक यह परम विनय नहीं आती, तबतक जीवको योग्यता नहीं आती।

कदाचित् ये दोनों प्राप्त भी हुए हों, तथापि वास्तविक तत्त्व पानेकी कुछ योग्यताकी कमीके कारण पदार्थ-निर्णय न हुआ हो, तो चित्त व्याकुल रहता है, मिथ्या समता आती है, और कल्पित पदार्थमें 'सत्' की मान्यता होने लगती है; जिससे बहुत काल व्यतीत हो जानेपर भी उस अपूर्व पदार्थसंबंधी परम प्रेम उत्पन्न नहीं होता, और यही परम योग्यताकी हानि है।

ये तीनों कारण, हमें मिले हुए अधिकांश मुमुक्षुओंमें हमने देखे हैं। केवल दूसरे कारणकी यत्किंचित् न्यूनता किसी किसीमें देखी है। और यदि उनमें सब प्रकारसे परम विनयकी कमीकी पूर्ति होनेका प्रयत्न हो तो योग्य हो, ऐसा हम मानते हैं। परम विनय इन तीनोंमें बलवान साधन है। अधिक क्या कहें ? अनन्त कालमें केवल यही एक मार्ग है।

पहिला और तीसरा कारण दूर करनेके लिये दूसरे कारणकी हानि करनी और परम विनयमें रहना योग्य है।

यह कलियुग है, इसलिये क्षणभर भी वस्तुके विचार बिना न रहना ऐसी महात्माओंकी शिक्षा है।

(२)

मुमुक्षुके नेत्र महात्माको पहिचान लेते हैं।

२१७

बम्बई, आषाढ़ सुदी १३, १९४७

ॐ

सुखना सिंधु श्रीसहजानन्दजी, जगजीवनके जगवंदजी;
शरणागतना सदा सुखकंदजी, परमस्नेही छो परमानन्दजी।

हालमें हमारी दशा कैसी है, यह जाननेकी आपकी इच्छा है, परन्तु वह जैसे विस्तारसे चाहिये वैसे विस्तारसे नहीं लिखी जा सकती, इसलिये इसे पुनः पुनः नहीं लिखी। यहाँ संक्षेपमें लिखते हैं।

एक पुराण-पुरुष और पुराण-पुरुषकी प्रेम-संपत्ति बिना हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता; हमें किसी भी पदार्थमें बिलकुल भी रुचि नहीं रही; कुछ भी प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं होती; व्यवहार कैसे चलता है, इसका भी भान नहीं; जगत् किस स्थितिमें है, इसकी भी स्मृति नहीं रहती; शत्रु-मित्रमें कोई भी भेदभाव नहीं रहा; कौन शत्रु है और कौन मित्र है, इसकी भी खबर रक्खी नहीं जाती; हम देहधारी हैं या और कुछ, जब यह याद करते हैं तब मुश्किलसे जान पाते हैं; हमें क्या करना है; यह किसीकी भी समझमें आने जैसा नहीं है; हम सभी पदार्थोंसे उदास हो जानेसे चाहे जैसे

बहुतसे मुमुक्षुओंकी दशा नहीं है; सिद्धांत-ज्ञान भी साथमें होना चाहिये। यह सिद्धांतज्ञान हमारे हृदयमें आवरितरूपसे पड़ा हुआ है। यदि हरिकी इच्छा प्रगट होने देनेकी होगी तो वह प्रगट होगा।

हमारा देश हरि है, जाति हरि है, काल हरि है, देह हरि है, रूप हरि है, नाम हरि है, दिशा हरि है, सब कुछ हरि ही हरि है, और फिर भी हम इस प्रकार कारबारमें लगे हुए हैं, यह इसीकी इच्छाका कारण है। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

२१८

बम्बई, आषाढ़ वदी ४ शनि. १९४७

जीव स्वभावसे ही दूषित है, तो फिर उसके दोषकी ओर देखना, यह अनुकम्पाका त्याग करने जैसी बात है, और बड़े पुरुष इस तरहकी आचरण करनेकी इच्छा नहीं करते। कलियुगमें असत्संग एवं नासमझीके कारण भूलसे भरे हुए रास्तेपर न चला जाय, ऐसा होना बहुत ही कठिन है।

२१९

बम्बई, आषाढ़ १९४७

(१)

श्रीसद्गुरु-कृपा माहात्म्य

बिना नयन पावे नहीं, बिना नयनकी बात।
सेवे सद्गुरुके चरन, सो पावे साक्षात्॥ १ ॥
बुझी चहत जो प्यासको, है बुझनकी रीत;
पावे नहीं गुरुगम बिना, एही अनादि स्थित॥ २ ॥
एही नहीं है कल्पना, एहि नहीं विभंग,
कई नर पंचमकालमें, देखी वस्तु अभंग॥ ३ ॥
नहि दे तुं उपदेशकुं, प्रथम लेहि उपदेश;
सबसे न्यारा अगम है, वो ज्ञानीका देश॥ ४ ॥
जप, तप, और व्रतादि सब, तहां लगी भ्रमरूप;
जहाँ लगी नहीं संतकी, पाई कृपा अनूप॥ ५ ॥
पायाकी ए बात है, निज छंदनको छोड़;
पिछे लाग सत्पुरुषके, तो सब बंधन तोड़॥ ६ ॥

(२)

तृषातुरको पिलानेकी मेहनत करना। जो तृषातुर नहीं, उसे तृषातुर करनेकी अभिलाषा पैदा करना। जिसे यह अभिलाषा पैदा न हो, उसके प्रति उदासीन रहना।

उपाधि इतनी लगी हुई है कि यह काम भी नहीं हो पाता। परमेश्वरको अनुकूल नहीं आया, तो क्या करें!

२२३

बम्बई, श्रावण सुदी १९४७

इस जगत्में, चतुर्थकाल जैसे कालमें भी सत्संगकी प्राप्ति होना बहुत दुर्लभ है, तो फिर इस दुःषमकालमें तो उसकी प्राप्ति होना अत्यन्त ही दुर्लभ है; ऐसा समझकर जिस जिस प्रकारसे सत्संगका वियोग रहनेपर भी आत्मामें गुणोत्पत्ति हो सके, उस उस प्रकारसे आचरण करनेका पुरुषार्थ बारम्बार, जब कभी भी और प्रसंग प्रसंगपर करना चाहिये; तथा निरन्तर सत्संगकी इच्छा—असत्संगमें उदासीनता—रहनेमें उसका मुख्य कारण पुरुषार्थ ही है, ऐसा समझकर निवृत्तिके जो कोई कारण हों उन उन कारणोंका बारम्बार विचार करना योग्य है।

हमको इस तरह लिखते हुए यह स्मरण आ रहा है कि "क्या करें" अथवा "किसी भी प्रकारसे नहीं होता" ऐसा विचार तुम्हारे चित्तमें बारम्बार आता रहता होगा; तथापि ऐसा योग्य माद्रम होता है कि जो पुरुष दूसरे सब प्रकारके विचारको अकर्तव्यरूप समझकर आत्म-कल्याणमें ही उद्यमी होता है, उसको कुछ न जाननेपर भी उसी विचारके परिणाममें रहना योग्य है, और 'किसी भी प्रकारसे नहीं होता' इस तरह माद्रम होनेके प्रगट होनेका कारण या तो जीवको उत्पन्न हो जाता है, अथवा कृतकृत्यताका स्वरूप उत्पन्न हो जाता है।

ज्ञानी पुरुषने दोषपूर्ण स्थितिमें इस जगत्के जीवोंको तीन प्रकारसे देखा है:—(१) जीव किसी भी प्रकारसे दोष अथवा कल्याणका विचार नहीं कर सका, अथवा विचार करनेकी स्थितिमें यह बेसुध है—ऐसे जीवोंका यह प्रथम प्रकार है। (२) जीव अज्ञानतासे असत्संगके अभ्याससे भासमान होनेवाले बोधसे दोष करता है, और उस क्रियाको कल्याण-स्वरूप मानता है—ऐसे जीवोंका यह दूसरा प्रकार है। (३) जिसकी स्थिति मात्र उदयके आधीन रहती है, और सब प्रकारके पर-स्वरूपका साक्षी ऐसा बोध-स्वरूप जीव केवल उदासीनतासे कर्ता दिखाई देता है—ऐसे जीवोंका यह तीसरा प्रकार है।

इस प्रकार ज्ञानी पुरुषने तीन प्रकारके जीवोंके समूहको देखा है। प्रायः करके प्रथम प्रकारमें स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, आदिकी प्राप्ति-अप्राप्तिके प्रकारमें तद्रूप परिणामीके समान माद्रम होनेवाले जीवोंका समावेश होता है। दूसरे प्रकारमें जुदा जुदा धर्मोंकी नाम-क्रिया करनेवाले जीव, अथवा स्वच्छंद परिणामी, जो अपने आपको परमार्थ-मार्गपर चलनेवाला मानते हैं, ऐसी बुद्धिसे गृहीत जीवोंका समावेश होता है। तीसरे प्रकारमें ऐसे जीवोंका समावेश होता है कि जिन्हें स्त्री, पुत्र, मित्र आदिकी प्राप्ति-अप्राप्ति आदिके भावमें वैराग्य उत्पन्न हो गया है, अथवा वैराग्य हुआ करता है; जिनके स्वच्छंद परिणाम नष्ट हो गये हैं, और जो निरन्तर ही ऐसे भावके विचारमें रहते हैं। अपना विचार तो ऐसा है कि जिससे तीसरा प्रकार सिद्ध हो जाय। जो विचारवान हैं उन्हें यथाबुद्धिपूर्वक, सद्ग्रंथसे और सत्संगसे यह विचार प्राप्त होता है, और उनमें अनुक्रमसे दोषरहित वैसा स्वरूप उत्पन्न होता है। यह बात फिर फिरसे सोते हुए, जागते हुए, और दूसरी तरहसे भी विचारने और मनन करने योग्य है।

आत्मा जबतक बंध और मोक्षके संबंधसे अज्ञात रहती है, तबतक अपने स्वभावका त्याग ही रहता है, यह जिनभगवान्ने कहा है ॥ ४ ॥

आत्मा अपने पदकी अज्ञानतासे बंधके प्रसंगमें प्रवृत्ति करती है, परन्तु इससे आत्मा स्वयं जड़ नहीं हो जाती, यह सिद्धांत प्रमाण है ॥ ५ ॥

अरूपी रूपीको पकड़ लेता है, यह बहुत आश्चर्यकी बात है; जीव बंधनको जानता ही नहीं, यह कैसा अनुपम जिनभगवान्का सिद्धांत है ॥ ६ ॥

पहले देह-दृष्टि थी इससे देह ही देह दिखाई देती थी, परन्तु अब आत्मामें दृष्टि हो गई है, इसलिये देहसे स्नेह दूर हो गया है ॥ ७ ॥

जड़ और चेतनका यह संयोग अनादि अनंत है; उसका कोई भी कर्त्ता नहीं है, यह जिन-भगवान्ने कहा है ॥ ८ ॥

मूलद्रव्य न तो उत्पन्न ही हुआ था, और न कभी उसका नाश ही होगा, यह अनुभवसे सिद्ध है, ऐसा जिनवरने कहा है ॥ ९ ॥

जो वस्तु मौजूद है उसका नाश नहीं होता, और जिस वस्तुका सर्वथा अभाव है उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; पदार्थोंकी अवस्था देखो, जो बात एक समयके लिये है वह हमेशाके लिये है ॥१०॥

(२) परम पुरुष, सद्गुरु, परम ज्ञान और सुखके धाम जिस प्रभुने निजका ज्ञान दिया, उसे सदा प्रणाम है ॥ १ ॥

(३) जिस जिस प्रकारसे आत्माका चिंतवन किया हो, वह उसी उसी प्रकारसे प्रतिभासित होती है ।

विषयार्त्तपनेसे मूढ़ताको प्राप्त विचार-शक्तिवाले जीवको आत्माकी नित्यता नहीं भासित होती, ऐसा प्रायः दिखाई देता है, और ऐसा होता है; यह बात यथार्थ ही है; क्योंकि अनित्य विषयमें आत्म-बुद्धि होनेके कारण उसे अपनी भी अनित्यता ही भासित होती है ।

विचारवानको आत्मा विचारवान लगती है । शून्यतासे चितवन करनेवालेको आत्मा शून्य लगती है, अनित्यतासे चितवन करनेवालेको आत्मा अनित्य लगती है; और नित्यतासे चिंतवन करनेवालेको आत्मा नित्य लगती है ।

बंध मोक्ष संयोगथी, ज्यांलग आत्म अभान; पण त्याग स्वभावनो, भाखे जिनभगवान ॥ ४ ॥
वर्त्ते बंधप्रसंगमां, ते निजपद अज्ञान; पण जडता नहिं आत्मने, ए सिद्धांत प्रमाण ॥ ५ ॥
ग्रहे अरूपी रूपीने, ए अचरजनी वात, जीव बंधन जाणे नहीं, केवो जिनसिद्धांत ॥ ६ ॥
प्रथम देह दृष्टि हती, तेथी भास्यो देह; हवे दृष्टि थई आतममां, गयो देहथी नेह ॥ ७ ॥
जड चेतन संयोग आ, खाण अनादि अनंत; कोई न कर्त्ता तेहनो, भाखे जिनभगवंत ॥ ८ ॥
मूळ द्रव्य उत्पन्न नहिं, नहिं नाश पण तेम, अनुभवथी ते सिद्ध छे, भाखे जिनवर एम ॥ ९ ॥
होय तेहनो नाश नहिं, नहिं तेह नहिं होय; एक समय ते सौ समय, भेद अवस्था जोय ॥ १० ॥
(२) परम पुरुष प्रभु सद्गुरु, परम ज्ञान सुख धाम; जेणे आप्युं भान निज, तेने सदा प्रणाम ॥ १ ॥

आत्मा जबतक बंध और मोक्षके संबंधसे अज्ञात रहती है, तबतक अपने स्वभावका त्याग हो रहता है, यह जिनभगवान्‌ने कहा है ॥ ४ ॥

आत्मा अपने पदकी अज्ञानतासे बंधके प्रसंगमें प्रवृत्ति करती है, परन्तु इससे आत्मा स्वयं जड़ नहीं हो जाती, यह सिद्धांत प्रमाण है ॥ ५ ॥

अरूपी रूपीको पकड़ लेता है, यह बहुत आश्चर्यकी बात है; जीव बंधनको जानता ही नहीं, यह कैसा अनुपम जिनभगवान्‌का सिद्धांत है ॥ ६ ॥

पहले देह-दृष्टि थी इससे देह ही देह दिखाई देती थी, परन्तु अब आत्मामें दृष्टि हो गई है, इसलिये देहसे स्नेह दूर हो गया है ॥ ७ ॥

जड़ और चेतनका यह संयोग अनादि अनंत है; उसका कोई भी कर्त्ता नहीं है, यह जिन-भगवान्‌ने कहा है ॥ ८ ॥

मूलद्रव्य न तो उत्पन्न ही हुआ था, और न कभी उसका नाश ही होगा, यह अनुभवसे सिद्ध है, ऐसा जिनवरने कहा है ॥ ९ ॥

जो वस्तु मौजूद है उसका नाश नहीं होता, और जिस वस्तुका सर्वथा अभाव है उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; पदार्थोंकी अवस्था देखो, जो बात एक समयके लिये है वह हमेशाके लिये है ॥ १० ॥

(२) परम पुरुष, सद्गुरु, परम ज्ञान और सुखके धाम जिस प्रभुने निजका ज्ञान दिया, उसे सदा प्रणाम है ॥ १ ॥

(३) जिस जिस प्रकारसे आत्माका चिंतवन किया हो, वह उसी उसी प्रकारसे प्रतिभासित होती है ।

विषयार्त्तपनेसे मूढ़ताको प्राप्त विचार-शक्तिवाले जीवको आत्माकी नित्यता नहीं भासित होती, ऐसा प्रायः दिखाई देता है, और ऐसा होता है; यह बात यथार्थ ही है; क्योंकि अनित्य विषयमें आत्म-बुद्धि होनेके कारण उसे अपनी भी अनित्यता ही भासित होती है ।

विचारवानको आत्मा विचारवान लगती है । शून्यतासे चिंतवन करनेवालेको आत्मा शून्य लगती है, अनित्यतासे चिंतवन करनेवालेको आत्मा अनित्य लगती है; और नित्यतासे चिंतवन करनेवालेको आत्मा नित्य लगती है ।

बंध मोक्ष संयोगथी, ज्यांलग आत्म अभान, पण त्याग स्वभावनो, भाखे जिनभगवान ॥ ४ ॥
वर्ते बंधप्रसंगमां, ते निजपद अज्ञान; पण जडता नहिं आत्मने, ए सिद्धांत प्रमाण ॥ ५ ॥
ग्रहे अरूपी रूपीने, ए अचरजनी वात, जीव बंधन जाणे नहीं, केवो जिनसिद्धांत ॥ ६ ॥
प्रथम देह दृष्टि हती, तेथी भास्यो देह, हवे दृष्टि थई आत्ममां, गयो देहथी नेह ॥ ७ ॥
जड चेतन संयोग आ, खाण अनादि अनंत; कोई न कर्ता तेहनो, भाखे जिनभगवंत ॥ ८ ॥
मूळ द्रव्य उत्पन्न नहिं, नहिं नाश पण तेम, अनुभवथी ते सिद्ध छे, भाखे जिनवर एम ॥ ९ ॥
होय तेहनो नाश नहिं, नहिं तेह नहिं होय, एक समय ते सौ समय, भेद अवस्था जोय ॥ १० ॥

(२) परम पुरुष प्रभु सद्गुरु, परम ज्ञान सुख धाम; जेणे आप्युं भान निज, तेने सदा प्रणाम ॥ १ ॥

२२७

राळज, भाद्रपद १९४७.

(१)

हे सब भव्यो ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है—

जिसने नव-पूर्वोंको भी पढ़ लिया, परन्तु यदि उसने जीवको नहीं पहिचाना, तो यह सब अज्ञान ही कहा गया है; इसमें आगम साक्षी है। ये समस्त पूर्व जीवको विशेषरूपसे निर्मल बनानेके लिये कहे गये हैं। हे सब भव्यो ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ १ ॥

ज्ञानको किसी ग्रंथमें नहीं बताया; कविकी चतुराईको भी ज्ञान नहीं कहा; मंत्र-तंत्रोंको भी ज्ञान नहीं बताया; ज्ञान कोई भाषा भी नहीं है; ज्ञानको किसी दूसरे स्थानमें नहीं कहा—ज्ञानको ज्ञानीमें ही देखो। हे सब भव्यो ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ २ ॥

जबतक ' यह जीव है ' और ' यह देह है ' इस प्रकारका भेद माळूम नहीं पड़ा, तबतक पच्चक्खाण करनेपर भी उसे मोक्षका हेतु नहीं कहा। यह सर्वथा निर्मल उपदेश पाँचवें अंगमें कहा गया है। हे सब भव्यो ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ ३ ॥

न केवल ब्रह्मचर्यसे, और न केवल संयमसे ही ज्ञान पहिचाना जाता है; परन्तु ज्ञानको केवल ज्ञानसे ही पहिचानो। हे सब भव्यो ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ ४ ॥

विशेष शास्त्रोंको जाने या न जाने, किन्तु उसके साथ अपने स्वरूपका ज्ञान करना अथवा वैसा विश्वास करना, इसे ही ज्ञान कहा गया है। इसके लिये सन्मति आदि ग्रन्थ देखो। हे सब भव्यो ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ ५ ॥

यदि ज्ञानीके परमार्थसे आठ समितियोंको जान लिया, तो ही उसे मोक्षार्थका कारण होनेसे ज्ञान कहा गया है; केवल अपनी कल्पनाके बलसे करोड़ों शास्त्र रच देना, यह केवल मनका अहंकार ही है। हे सब भव्यो ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ ६ ॥

२२७

जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो—

जो होय पूर्व भणेल नव पण, जीवने जाण्यो नहीं, तो सर्व ते अज्ञान भाख्युं, साक्षी छे आगम अहीं;
ए पूर्व सर्व कह्यां विशेषे, जीव करवा निर्मळो, जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥ १ ॥
नहि ग्रंथ मांहि ज्ञान भाख्युं, ज्ञान नहि कवि-चातुरी, नहि मंत्र तंत्रो ज्ञान दाख्यां, ज्ञान नहि भाषा ठरी,
नहि अन्य स्थाने ज्ञान भाख्युं, ज्ञान ज्ञानीमां कळो, जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥ २ ॥
आ जीव अने आ देह एवो, भेद जो भास्यो नहीं, पच्चखाण कीधां त्यां सुधी, मोक्षार्थ ते भाख्यां नहीं.
ए पांचमे अंगे कह्यो, उपदेश केवळ निर्मळो. जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥ ३ ॥
केवळ नहि ब्रह्मचर्यथी,
केवळ नहि संयमथकी, पण ज्ञान केवळथी कळो, जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥ ४ ॥
शास्त्रो विशेष सहित पण जो, जाणियुं निजरूपने, कां तेहवो आश्रय, करजो, भावथी साचा मने.
तो ज्ञान तेने भाखियुं, जो सन्मति आदि स्थळो. जिनवर कहे छे ज्ञान तेने. सर्व भव्यो सांभळो ॥ ५ ॥
आठ समिति जाणीए जो, ज्ञानीना परमार्थथी; तो ज्ञान भाख्युं तेहने, अनुसार ते मोक्षार्थथी,
निज कल्पनाथी कोटि शास्त्रो, मात्र मननो आमळो, जिनवर कहे छे ज्ञान तेने सर्व भव्यो सांभळो ॥ ६ ॥

चार वेद तथा पुराण आदि शास्त्र सब मिथ्या शास्त्र हैं, यह बात, जहाँ सिद्धांतके भेदोंका वर्णन किया है, वहाँ नंदिसूत्रमें कही है। ज्ञान तो ज्ञानीको ही होता है, और यही ठीक बैठता भी है। हे सब भव्यो! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ ७ ॥

न कोई व्रत किया, न कोई पच्चक्खाण किया, और न किसी वस्तुका त्याग ही किया; परन्तु ठाणांगसूत्र देख लो, श्रेणिक आगे जाकर महापद्मतीर्थंकर होगा। उसने अनंत भवोंको छेद दिया ॥ ८ ॥

(२)

दृष्टि-विष नष्ट होनेके बाद चाहे जो शास्त्र हो, चाहे जो कथन हो, चाहे जो वचन हो, और चाहे जो स्थल हो, वह प्रायः अहितका कारण नहीं होता।

२२८

राळज, भादरवा १९४७

(प्रश्न)	ॐ (उत्तर)
वेदस्य शीश क्यांथी ईश्यो !	आत्म भावथी (श्रीमद् पुरुषोत्तमथकी).
अने शीश क्यां रह्या !	त्यां रह्या.
तेने पमाय केम !	हृद्गुहथी.
प्रथम जीव क्यांथी आव्यो !	अश्वत्थामथी (श्रीमत् पुरुषोत्तमथी).
अने जीव जडी क्यां !	जडी थयो.
तेने पमाय केम !	सद्गुरुथी.

२२९

ववाणीआ, भाद्र. वदी ४ भौम. १९४७

ॐ "सत्"

भ्रम नहीं है कि जहाँ एक ही अभिप्राय हो; प्रकाश थोड़ा हो अथवा ज्यादा, परन्तु प्रकाश एक ही है।

शब्द आदिके ज्ञानसे निस्तारा नहीं, परन्तु निस्तारा अनुभवज्ञानसे है।

चार वेद पुराण आदि शास्त्र सौ मिथ्यात्वनां, श्रीनंदिसूत्रे भाखियां छे, भेद ज्यां सिद्धांतनां।
पण ज्ञानीने ते ज्ञान भास्यां, एज ठेकाणे ठरो, जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥ ७ ॥
व्रत नहीं पच्चखाण नहीं, नहीं त्याग वस्तु कोईनो, महापद्म तीर्थंकर थशे, श्रेणिक ठाणांग जोई ल्यो,
छेद जाण ॥ ८ ॥

१ यहाँ प्रश्न और उत्तर दोनों लिखे हैं। [illegible] 'कुदरत' है। [illegible] इस प्रथम शब्दमें ही कुदरत बना है। [illegible] 'कुदरत' बनता है। [illegible] अनुवादक

वेद कहाँसे आये? — अश्वत्थामासे (श्रीमद् पुरुषोत्तमसे)
और कहाँ जाकर समाये? — वहीं समाये
उन्हें कैसे पाया जाय? — सद्गुरुसे.

स्वार्थ नहीं है; इसलिये कह देना योग्य है कि वे प्रायः केवल 'सत्' से विमुख मार्गमें ही प्रवृत्ति करते हैं। जो उस तरह आचरण नहीं करता, वह हालमें तो अप्रगट रहनेकी ही इच्छा करता है। आश्चर्यकी बात तो यह कि कलिकालने थोड़े समयमें परमार्थको घेरकर अनर्थको परमार्थ बना दिया है।

---

२३५ ववाणीआ, भाद्रपद वदी ७, १९४७

चित्त उदास रहता है; कुछ भी अच्छा नहीं लगता; और जो कुछ अच्छा नहीं लगता वही अधिक नज़र पड़ता है; वही सुनाई देता है; तो अब क्या करें! मन किसी भी कार्यमें प्रवृत्ति नहीं कर सकता। इस कारण प्रत्येक कार्य स्थगित करना पड़ता है; कुछ भी बाँचन, लेखन अथवा जन-समागममें रुचि नहीं होती। प्रचलित मतके भेदोंकी बात कानमें पड़नेसे हृदयमें मृत्युसे भी अधिक वेदना होती है। या तो तुम इस स्थितिको जानते हो, या जिसे इस स्थितिका अनुभव हुआ है वह जानता है, अथवा हरि जानते हैं।

---

२३६ ववाणीआ, भाद्रपद वदी १० रवि. १९४७

"जो आत्मामें रमण कर रहे हैं ऐसे निर्ग्रन्थ मुनि भी निष्कारण ही भगवान्‌की भक्तिमें प्रवृत्त रहते हैं, क्योंकि भगवान्‌के गुण ऐसे ही हैं"—श्रीमद्भागवत।

---

२३७ ववाणीआ, भाद्रपद वदी ११ सोम. १९४७

जबतक जीवको सत्‌का संयोग न हो तबतक मतमतान्तरमें मध्यस्थ रहना ही योग्य है।

---

२३८ ववाणीआ, भाद्रपद वदी १२ भौम. १९४७

हमारे चित्तमें तो यह है कि जो सत्स्वरूपमें अभेद स्थिर हो गया है (जैसे नाम [illegible] [illegible]); [illegible] उस दशाके वर्णन करनेकी सत्ता सर्वाधार हरिने वाणीमें पूर्णरूपसे नहीं दी, [illegible] उस वर्णनका अनन्तवाँ भाग भी मुश्किलसे आ सकता है। यह [illegible] कारण यही है कि पुरुषोत्तमके स्वरूपमें हमारी और तुम्हारी अनन्य प्रेम-भक्ति अखण्ड रहे, [illegible] परिपूर्ण प्राप्त होओ, यही याचना करते हुए—अब अधिक नहीं लिखता।

[illegible]

२३९ ववाणीआ, भाद्रपद वदी १४ गुरु. १९४७

ॐ सत्

परम विश्राम सुभाग्य!

जैसे महात्मा कबीरजीको हुआ था, वैसा ही अब हमारा भी हाल है। [illegible] [illegible] अखण्ड-आनन्द नहीं हुए थे; क्योंकि उन्होंने हरिरस अखण्डरूपसे नहीं पिया था। [illegible]

२४१ ववाणीआ, आसोज सुदी ७ शुक्र. १९४७

ॐ

(१)

अपनेसे अपने आपको अपूर्वकी प्राप्ति होना दुर्लभ है; जिससे यह प्राप्त होता है उसके स्वरूपकी पहिचान होना दुर्लभ है, और जीवकी भूल भी यही है.

इस पत्रमें लिखे हुए प्रश्नोंका संक्षेपमें नीचे उत्तर लिखा है:—

१–२–३ ये तीनों प्रश्न स्मृतिमें होंगे। इनमें यह कहा गया है :—

" १. ठाणांगमें जो आठ वादी कहे गये हैं, उनमें आप और हम कौनसे वादमें गर्भित होते हैं?

२. इन आठ वादोंके अतिरिक्त कोई जुदा मार्ग ग्रहण करने योग्य हो तो उसे जाननेकी पूर्ण आकांक्षा है।

३. अथवा आठों वादियोंका एकीकरण करना, यही मार्ग है, या कोई दूसरा? अथवा क्या उन आठों वादियोंके एकीकरणमें कुछ न्यूनाधिकता करके मार्ग ग्रहण करना योग्य है? और है तो वह क्या है?"—

इस संबंधमें यह जानना चाहिये कि इन आठ वादियोंके अतिरिक्त दूसरे दर्शन—संप्रदायोंमें मार्ग कुछ (अन्वय) संबंधित रहता है, नहीं तो प्रायः (व्यतिरिक्त) जुदा ही रहता है। वे वादी, दर्शन, और सम्प्रदाय—ये सब किसी रीतिसे उसकी प्राप्तिमें कारणरूप होते हैं, परन्तु सम्यग्ज्ञानीके बिना दूसरे जीवोंको तो वे बंधन भी होते हैं। जिसे मार्गकी इच्छा उत्पन्न हुई है, उसे इन सबोंके साधारण ज्ञानको बाँचना और विचारना चाहिये; और बाकीमें मध्यस्थ रहना ही योग्य है। यहाँ 'साधरण ज्ञान' का अर्थ ऐसा ज्ञान करना चाहिये कि जिस ज्ञानके सब शास्त्रोंमें वर्णन किये जानेपर भी जिसमें अधिक भिन्नता न आई हो।

" जिस समय तीर्थंकर आकर गर्भमें उत्पन्न होते हैं अथवा जन्म लेते हैं, उस समय अथवा उस समयके पश्चात् क्या देवता लोग जान लेते हैं कि ये तीर्थंकर हैं? और यदि जान लेते हैं तो किस तरह जानते हैं?"—इसका उत्तर इस तरह है कि जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो गया है ऐसे देव अवधिज्ञानद्वारा तीर्थंकरको जानते हैं; सब नहीं जानते। जिन प्रकृतियोंके नाश हो जानेसे जन्मसे तीर्थंकर अवधिज्ञानसे युक्त होते हैं, उन प्रकृतियोंके उनमें दिखाई न देनेसे वे सम्यग्ज्ञानी देव तीर्थंकरको पहिचान सकते है।

(२)

मुमुक्षुताके सन्मुख होनेकी इच्छा करनेवाले तुम दोनोंको यथायोग्य प्रणाम करता हूँ।

हालमें अधिकतर परमार्थ-मौनसे प्रवृत्ति करनेका कर्म उदयमें रहता है, और इस कारण उसी तरह प्रवृत्ति करनेमें काल व्यतीत होता है, और इसी कारणसे आपके प्रश्नोंका संक्षेपमें ही उत्तर दिया है।

शातमूर्ति सौभाग्य हालमें मोरबी है।

यही हाल है। परम प्रेमसे अखंड हरिरसका अखंडपनेसे अनुभव करना अभी कहाँसे आ सकता है! और जबतक ऐसा न हो तबतक हमें जगत्‌में की एक वस्तुका एक अणु भी अच्छा लगनेवाला नहीं।

जिस युगमें भगवान् व्यासजी थे वह युग दूसरा था; यह कलियुग है; इसमें हरिस्वरूप, हरिनाम, और हरिजन देखनेमें नहीं आते, सुनने तकमें भी नहीं आते; इन तीनोंमेंसे किसीकी भी स्मृति हो, ऐसी कोई भी चीज़ देखनेमें नहीं आती। सब साधन कलियुगसे घिर गये हैं। प्रायः सभी जीव उन्मार्गमें प्रवृत्ति कर रहे हैं, अथवा सन्मार्गके सन्मुख चलनेवाले जीव दृष्टिगोचर नहीं होते। कहीं कोई मुमुक्षु हैं भी, परन्तु उन्हें अभी मार्गकी सन्निकटता प्राप्त नहीं हुई है।

निष्कपटीपना भी मनुष्योंमेंसे चला हीसा गया है; सन्मार्गका एक भी अंश और उसका सौवाँ अंश भी किसीमें नज़र नहीं पड़ता; केवलज्ञानका मार्ग तो सर्वथा विसर्जन ही हो गया है। कौन जाने हरिकी क्या इच्छा है! ऐसा कठिन काल तो अभी ही देखा है। सर्वथा मंद पुण्यवाले प्राणियोंको देखकर परम अनुकंपा उत्पन्न होती है; और सत्संगकी न्यूनताके कारण कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

बहुत बार थोड़ा थोड़ा करके कहा गया है, तो भी ठीक ठीक शब्दोंमें कहनेसे अधिक स्मरणमें रहेगा, इसलिये कहते हैं कि बहुत समयसे किसीके साथ अर्थ-संबंध और काम-संबंध बिलकुल ही अच्छा नहीं लगता। अब तो धर्म-संबंध और मोक्ष-संबंध भी अच्छा नहीं लगता। धर्म-संबंध और मोक्ष-संबंध तो प्रायः योगियोंको भी अच्छा लगता है; और हम तो उससे भी विरक्त ही रहना चाहते हैं। हालमें तो हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता, और जो कुछ अच्छा लगता भी है उसका अत्यन्त वियोग है। अधिक क्या लिखें! सहन करना ही सुगम है।

--

२४० ववाणीआ, आसोज सुदी ६ गुरु. १९४७

१. 'परसमय' के जाने बिना 'स्वसमय' जान लिया है, ऐसा नहीं कह सकते।

२. 'परद्रव्य' के जाने बिना 'स्वद्रव्य' जान लिया है, ऐसा नहीं कह सकते।

३. सन्मतितर्कमें श्रीसिद्धसेन दिवाकरने कहा है कि जितने वचन-मार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं, और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय हैं।

४. अखाभगत कविने कहा है:—

कर्ता मटे तो छूटे कर्म, ए छे महा भजननो मर्म।
जो तुं जीव तो कर्त्ता हरी, जो तुं शिव तो वस्तु खरी।
तुं छो जीव ने तुं छो नाथ, एम कही अखे झटक्या हाथ।

यदि कर्तापनेका भाव मिट जाय तो कर्म छूट जाता है, यह महा भजनका मर्म है। यदि तू जीव है तो हरि कर्त्ता है; यदि तू शिव है तो वस्तु भी सच है। तू ही जीव है और तू ही नाथ है, ऐसा कहकर 'अखाजी' ने हाथ झटक लिया।

तुम लोग भी, जो हमें जानते हैं उन लोगोंके सिवाय अधिक लोगोंको, हमें नाम, स्थान और गाँवसे बताना नहीं।

एकसे अनंत है; जो अनन्त है वह एक है।

---

२४४ ववाणीआ, आसोज वदी ५, १९४७

आदि-पुरुष खेल लगाकर बैठा है

एक आत्म-वृत्तिके सिवाय नया-पुराना तो हमारे है कहाँ? और उसके लिखने जितना मनको अवकाश भी कहाँ है? नहीं तो सभी कुछ नया ही है, और सभी कुछ पुराना है।

---

२४५ ववाणीआ, आसोज वदी १० सोम. १९४७

ॐ

(१) परमार्थ-विषयमें मनुष्योंका पत्र-व्यवहार अधिक चलता है; और हमें यह अनुकूल नहीं आता। इस कारण बहुतसे उत्तर तो लिखे ही नहीं जाते; ऐसी हरि इच्छा है; और हमें यह बात प्रिय भी है।

(२) एक दशासे प्रवृत्ति है; और यह दशा अभी बहुत समयतक रहेगी। उस दशाके उदयानुसार प्रवृत्ति करना योग्य समझा है; इसलिये किसी भी प्रसंगपर पत्र आदिकी पहुँच लिखनेमें यदि विलम्ब हो जाय अथवा पहुँच न दी जाय, अथवा कुछ उत्तर न दिया जाय, तो उसके लिये खेद करना योग्य नहीं, ऐसा निश्चय करके ही हमसे पत्र-व्यवहार रखना।

---

२४६ ववाणीआ, आसोज वदी १९४७

(१) यही स्थिति—यही मार्ग और यही स्वरूप है। भले ही आप कल्पना करके दूसरी तरह ले लें किन्तु यदि यथार्थ चाहते हो तो यह....लो।

जिनका ज्ञान-दर्शन अन्य दर्शनमें माना गया है। इसमें मुख्य प्रवर्तकोंने जिस धर्म-मार्गका बोध दिया है, उसके सम्यक् होनेके लिये स्यात् मुद्राकी आवश्यकता है।

स्यात् मुद्रा स्वरूपस्थित आत्मा है। श्रुतज्ञानकी अपेक्षा स्वरूपस्थित आत्माने कही हुई शिक्षा है।

(२) पुनर्जन्म है—जरूर है—इसके लिये मैं अनुभवसे हाँ कहनेमें अचल हूँ।

(३) इस कालमें मेरा जन्म लेना, मानूँ तो दुःखदायक है, और मानूँ तो सुखदायक भी है।

(४) अब ऐसा कोई वाँचन नहीं रहा कि जिसे बाँचनेकी जरूरत हो। जिसके सत्संगसे अनन्त स्वरूपकी प्राप्ति हो जाया करती थी, ऐसे सत्संगकी इस कालमें न्यूनता हो गई है।

विकराल काल! ... विकराल कर्म! ... ...विकराल आत्मा!.........

— ... ...जैसे परन्तु इस तरह . . ..

अब ध्यान रखो। यही कल्याण है।

२४२

ववाणीआ, आसोज सुदी १९४७

ॐ सत्.

हम परदेशी पंखी साधु, और देशके नांहि रे.

एक प्रश्नके सिवाय बाकीके प्रश्नोंका उत्तर जान-बूझकर नहीं लिख सका। "काल क्या खाता है?" इसका उत्तर तीन प्रकारसे लिखता हूँ।

सामान्य उपदेशमें काल क्या खाता है, इसका उत्तर यह है कि वह प्राणी मात्रकी आयु खाता है। व्यवहारनयसे काल 'पुराना' खाता है। निश्चयनयसे काल पदार्थ मात्रका रूपान्तर करता है—पर्यायान्तर करता है।

अन्तके दो उत्तर अधिक विचार करनेसे ठीक बैठ सकेंगे। 'व्यवहारनयसे काल पुराना खाता है!' ऐसा जो लिखा है, उसे नीचे विशेष स्पष्ट किया है:—

"काल पुराना खाता है"—पुराना किसे कहते हैं? जिस चीज़को उत्पन्न हुए एक समय हो गया, वही दूसरे समयमें पुरानी कही जाती है। (ज्ञानीकी अपेक्षासे) उस चीज़को तीसरे समय, चौथे समय, इस तरह संख्यात समय, असंख्यात समय, अनंत समय काल बदला ही करता है। वह दूसरे समयमें जैसी होती है वैसी तीसरे समयमें नहीं होती; अर्थात् दूसरे समयमें पदार्थका जो स्वरूप था, उसे खाकर तीसरे समयमें कालने पदार्थको कुछ दूसरा ही रूप प्रदान कर दिया; अर्थात् वह पुरानेको खा गया। पदार्थ पहिले समयमें उत्पन्न हुआ, और उसी समय काल उसको खा जाय, ऐसा व्यवहारनयसे बनना संभव नहीं है। पहिले समयमें पदार्थका नयापन गिना जायगा, परन्तु उस समय काल उसे खा नहीं जाता, किन्तु दूसरे समयमें बदल देता है, इसलिये ऐसा कहा है कि वह पुरानेको खाता है।

निश्चयनयसे यावन्मात्र पदार्थ रूपान्तरित होते ही हैं। कोई भी पदार्थ किसी भी कालमें कभी भी सर्वथा नाश नहीं होता, ऐसा सिद्धान्त है; और यदि पदार्थ सर्वथा नाश हो जाया करता तो आज कुछ भी न रहता; इसीलिये ऐसा कहा है कि काल खाता नहीं, परन्तु रूपान्तर करता है। इन तीन प्रकारके उत्तरोंमें पहिला उत्तर ऐसा है जो आसानीसे सबको समझमें आ सकता है।

यहाँ भी दशाके प्रमाणमें बाह्य उपाधि विशेष है। आपने इस बार कुछ थोड़ेसे व्यावहारिक (यद्यपि शास्त्रसंबंधी) प्रश्न लिखे थे, परन्तु हालमें ऐसे बाँचनमें भी चित्त पूरी तरह नहीं रहता, फिर उनका उत्तर कैसे लिखा जा सके?

२४३

ववाणीआ, आसोज वदी १ रवि. १९४७

ॐ

यह तो आप जानते ही हो कि पूर्वापर अविरुद्ध भगवत्संबंधी ज्ञानके प्रगट करनेके लिये जबतक उसकी इच्छा नहीं, तबतक किसीका अधिक समागम नहीं किया जाता।

जबतक हम अभिन्नरूप हरिपदको अपनेमें न मानें तबतक हम प्रगट-मार्ग नहीं कहेंगे।

२५०

बम्बई, १९४७

यदि चित्तकी स्थिरता हुई हो तो ऐसे समयमें यदि सत्पुरुषोंके गुणोंका चिन्तवन, उनके वचनोंका मनन, उनके चारित्रका कथन, कीर्तन, और प्रत्येक चेष्टाका फिर फिरसे निदिध्यासन हो सकता हो, तो इससे मनका निग्रह अवश्य हो सकता है; और मनको जीतनेकी सचमुच यही कसौटी है।

ऐसा होनेसे ध्यान क्या है, यह समझमें आ जायगा; परन्तु उदासीनभावसे चित्त-स्थिरताके समयमें उसकी खूबी मालूम पड़ेगी।

२५१

बम्बई, १९४७

१. उदयको अबंध परिणामसे भोगा जाय, तो ही उत्तम है।

२. "दोके अंतमें रहनेवाली वस्तुको कितना भी क्यों न छेदें, फिर भी छेदी नहीं जाती, और भेदनेसे भेदी नहीं जाती"—श्रीआचारांग।

२५२

बम्बई, १९४७

आत्माके लिये विचार-मार्ग और भक्ति-मार्गकी आराधना करना योग्य है; परन्तु जिसकी विचार-मार्गकी सामर्थ्य नहीं उसे उस मार्गका उपदेश करना योग्य नहीं, इत्यादि जो लिखा वह ठीक ही है।

श्री....स्वामीने केवलदर्शनसंबंधी कही हुई जो शंका लिखी उसे बाँची है। दूसरी बहुतसी बातें समझ लेनेके बाद ही उस प्रकारकी शंकाका समाधान हो सकता है, अथवा प्रायः उस प्रकारकी समझनेकी योग्यता आती है।

हालमें ऐसी शंकाको संक्षिप्त करके अथवा शान्त करके विशेष निकट आत्मार्थका विचार ही योग्य है।

२५३

ववाणीआ, कार्तिक सुदी ४ गुरु. १९४८

काल विषम आ गया है। सत्संगका योग नहीं है, और वीतरागता विशेष है, इसलिये कहीं भी सुहाता नहीं, अर्थात् मन कहीं भी विश्रांति नहीं पाता। अनेक प्रकारकी विडंबना तो हमें नहीं है, तथापि निरन्तर सत्संग नहीं, यही बड़ी भारी विडम्बना है। लोक-संग अच्छा नहीं लगता।

२५४

ववाणीआ, कार्तिक सुदी ७ शनि. १९४८

चाहे जो क्रिया, जप, तप अथवा शास्त्र-वाचन करके भी एक ही कार्य सिद्ध करना है, और वह यह है कि जगत्को विस्मृत कर देना, और सत्के चरणमें रहना।

और इस एक ही लक्षके ऊपर प्रवृत्ति करनेसे जीवको उसे क्या करना योग्य है, और क्या करना अयोग्य है, यह बात समझमें आ जाती है, अथवा समझमें आने लगती है।

(५) यदि इतनी ही खोज कर सको तो सब कुछ पा जाओगे; निश्चयसे इसीमें है। मुझे अनुभव है। सत्य कहता हूँ। यथार्थ कहता हूँ। निःशंक मानो।

इस स्वरूपके संबंधमें कुछ कुछ किसी स्थलपर लिख डाला है।

---

२४७ ववाणीआ, आसोज वदी १२ गुरु. १९४७

ॐ पूर्णकामचित्तको नमो नमः

आत्मा ब्रह्म-समाधिमें है; मन वनमें है; एक दूसरेके आभाससे अनुक्रमसे देह कुछ क्रिया करती है। इस स्थितिमें तुम दोनोंके पत्रोंका विस्तारपूर्वक और संतोषरूप उत्तर कैसे लिखा जाय, यह तुम्हीं कहो?

जिनका धर्ममें ही निवास है, ऐसे इन मुमुक्षुओंकी दशा और रीति तुमको स्मरणमें रखनी योग्य है, और अनुकरण करने योग्य है।

जिससे एक समयके लिये भी विरह न हो; इस तरहसे सत्संगमें ही रहनेकी इच्छा है; परन्तु वह तो हरि इच्छाके आधीन है।

कलियुगमें सत्संगकी परम हानि हो गई है; अंधकार छाया हुआ है; इस कारण सत्संगकी अपूर्वताका जीवको यथार्थ भान नहीं होता।

तुम सब परमार्थ विषयमें कैसी प्रवृत्तिमें रहते हो, यह लिखना।

किसी एक नहीं कहे हुए प्रसंगके विषयमें विस्तारसे पत्र लिखनेकी इच्छा थी, उसका भी निरोध करना पड़ा है। वह प्रसंग गंभीर होनेके कारण उसको इतने पर्यंतक हृदयमें ही रक्खा है। अब समझते हैं कि कहें, परन्तु तुम्हारी सत्संगतिके मिलने पर कहें तो कहें।

---

२४८ ववाणीआ, आसोज वदी १२ गुरु. १९४७

श्री...स्वमूर्तिरूप श्री....विरहकी वेदना हमें अधिक रहती है, क्योंकि वीतरागता विशेष है; अन्य संगमें बहुत उदासीनता है। परन्तु हरि इच्छाका अनुसरण करके प्रसन्न रहकर विरहमें रहना पड़ता है, और उस इच्छाको सुखदायक मानते हैं, ऐसा नहीं है। भक्ति और सत्संगमें विरह रहनेकी इच्छा सुखदायक माननेमें हमारा विचार नहीं रहता। श्रीहरिकी अपेक्षा इस विषयमें हम अधिक स्वतंत्र हैं।

---

२४९ बम्बई, १९४७

आर्तध्यानका ध्यान करनेकी अपेक्षा धर्मध्यानमें वृत्ति लाना, यही श्रेयस्कर है, और जिसके लिये आर्तध्यानका ध्यान करना पड़ता हो, वहाँसे या तो मनको उठा लेना चाहिये, अथवा उस कृत्यको कर डालना चाहिये कि जिससे [illegible] हुआ जा सके।

स्वच्छंद जीवके लिये बहुत बड़ा रोग है। जो जिसका जो होना है, उसे स्वीकार कर लेना बहुत सुगम है।

इस लक्षके सन्मुख हुए बिना जप, तप, ध्यान अथवा दान किसीकी भी यथायोग्य सिद्धि नहीं है, और जबतक यह नहीं तबतक ध्यान आदि कुछ भी कामके नहीं हैं।

इसलिये इनमेंसे जो जो साधन हो सकते हों उन सबको, एकलक्षकी—जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया है—प्राप्ति होनेके लिये, करना चाहिये। जप, तप आदि कुछ निषेध करने योग्य नहीं; तथापि वे सब एकलक्षकी प्राप्तिके लिये ही हैं, और इस लक्षके बिना जीवको सम्यक्त्व-सिद्धि नहीं होती।

अधिक क्या कहें ! जितना ऊपर कहा है उतना ही समझनेके लिये समस्त शास्त्र रचे गये हैं।

---

२५५ ववाणीआ, कार्त्तिक सुदी ८, १९४८

ॐ

किसी भी प्रकारका दर्शन हो, उसे महान् पुरुषोंने सम्यग्ज्ञान माना है—ऐसा नहीं समझना चाहिये। पदार्थके यथार्थ-बोध प्राप्त होनेको ही सम्यग्ज्ञान माना गया है।

जिनका एक धर्म ही निवास है, वे अभी उस भूमिकामें नहीं आये। दर्शन आदिकी अपेक्षा यथार्थ-बोध श्रेष्ठ पदार्थ है। इस बातके कहनेका यही अभिप्राय है कि किसी भी तरहकी कल्पनासे तुम कोई भी निर्णय करते हुए निवृत्त होओ।

ऊपर जो कल्पना शब्दका प्रयोग किया गया है वह इस अर्थमें है कि "हमारे तुम्हें उस समागमकी सम्मति देनेसे समागमी लोग वस्तु-ज्ञानके संबंधमें जो कुछ प्ररूपण करते हैं, अथवा बोध करते हैं, वैसी ही हमारी भी मान्यता है; अर्थात् जिसे हम सत् कहते हैं, उसे भी हम हालमें मौन रहनेके कारण उनके समागमसे उस ज्ञानका बोध तुम्हें प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं।"

---

२५६ ववाणीआ, कार्त्तिक सुदी ८ सोम. १९४८

यदि जगत् आत्मरूप माननेमें आये; और जो कुछ हुआ करे वह ठीक ही माननेमें आये; दूसरेके दोष देखनेमें न आयें; अपने गुणोंकी उत्कृष्टता सहन करनेमें आये; तो ही इस संसारमें रहना योग्य है; अन्य प्रकारसे नहीं।

२६३

बम्बई, पौष सुदी ७ गुरु. १९४८

ज्ञानीकी आत्माका अवलोकन करते हैं; और वैसे ही हो जाते हैं.

आपकी स्थिति लक्षमें है । अपनी इच्छा भी लक्षमें है । गुरु-अनुग्रहवाली जो बात लिखी है वह भी सत्य है । कर्मका उदय भोगना पड़ता है, यह भी सत्य ही है । आपको पुनः पुनः अतिशय खेद होता है, यह भी जानते हैं । आपको वियोगका असह्य ताप रहता है, यह भी जानते हैं बहुत प्रकारसे सत्संगमें रहना योग्य है, ऐसा मानते हैं, तथापि हालमें तो ऐसा ही सहन करना योग्य माना है ।

चाहे जैसे देश-कालमें यथायोग्य रहना—यथायोग्य रहनेकी ही इच्छा करना—यही उपदेश है । तुम अपने मनकी कितनी भी चिन्ता क्यों न लिखो तो भी हमें तुम्हारे ऊपर खेद नहीं होगा। ज्ञानी अन्यथा नहीं करता, अन्यथा करना उसे सूझता भी नहीं; फिर दूसरे उपायकी इच्छा भी नहीं करना, ऐसा निवेदन है ।

कोई इस प्रकारका उदय है कि अपूर्व वीतरागता होनेपर भी व्यापारसंबंधी कुछ प्रवृत्ति कर सकते हैं, तथा दूसरी खाने-पीनेकी प्रवृत्ति मुश्किलसे कर सकते हैं । मनको कहीं भी विश्राम नहीं मिलता; प्रायः करके वह यहाँ किसीके समागमकी इच्छा नहीं करता । कुछ लिखा नहीं जा सकता। अधिक परमार्थ-वाक्य बोलनेकी इच्छा नहीं होती । किसीके पूँछे हुए प्रश्नोंके उत्तर जाननेपर भी लिख नहीं सकते; चित्तका भी अधिक संग नहीं है; आत्मा आत्म-भावसे रहती है ।

प्रति समयमें अनंत गुणविशिष्ट आत्मभाव बढ़ता जाता हो, ऐसी दशा है । जो प्रायः समझनेमें नहीं आती अथवा इसे जान सकें ऐसे पुरुषका समागम नहीं है ।

श्रीवर्धमानकी आत्माको स्वाभाविक स्मरणपूर्वक प्राप्त हुआ ज्ञान था, ऐसा मालूम होता है। पूर्ण वीतरागका-सा बोध हमें स्वाभाविक ही स्मरण हो आता है, इसीलिये ००० हमने ०००० लिखा था कि तुम 'पदार्थ' को समझो । ऐसा लिखनेमें और कोई दूसरा अभिप्राय न था ।

२६४

बम्बई, पौष सुदी ११ सोम. १९४८

(१)

स्वरूप स्वभावमें है । ज्ञानीके चरण-सेवनके बिना अनन्तकालतक भी प्राप्त न हो सके, ऐसा वह दुर्लभ भी है । आत्म-संयमका स्मरण करते रहते हैं। यथारूप वीतरागताकी पूर्णताकी इच्छा करते हैं।

हम और तुम हालमें प्रत्यक्षरूपसे वियोगमें रहा करते हैं । यह भी पूर्व-निबंधनका कोई बड़ा प्रबंध उदयमें होनेके ही कारणसे हुआ मालूम होता है ।

(२)

हम कभी कोई काव्य, पद अथवा चरण लिखकर भेजें और यदि आपने उन्हें कहीं अन्यत्र बाँचा अथवा सुना भी हो, तो भी उन्हें अपूर्व ही समझें । हम स्वयं तो हालमें यथाशक्य ऐसा कुछ करनेकी इच्छा करने जैसी दशामें नहीं हैं ।

श्रीबोधस्वरूपका यथायोग्य.

ज्ञानीद्वारा किये हुए निश्चयको जानकर प्रवृत्ति करनेमें ही कल्याण है—फिर तो जैसी होनहार। सुधाके विषयमें हमें सन्देह नहीं है। तुम उसका स्वरूप समझो, और तब ही फल मिलेगा।

२६०

बम्बई, मंगसिर वदी १४ गुरु. १९४८

अनुक्रमे संयम स्पर्शतोजी, पाम्यो क्षायकभाव रे,
संयमश्रेणी फूलडेजी, पूजूं पद निप्पाव रे।

(आत्माकी अभेद चिंतनारूप) संयमके एकके बाद एक क्रमका अनुभव करके क्षायिकभाव (जड़ परिणतिका त्याग) को प्राप्त जो श्रीसिद्धार्थके पुत्र, उनके निर्मल चरण-कमलको संयम-श्रेणीरूप फूलोंसे पूजता हूँ।

ऊपरके वचन अतिशय गंभीर हैं। यथार्थबोध स्वरूपका यथायोग्य.

२६१

बम्बई, पौष सुदी ३ रवि. १९४८

अनुक्रमे संयम स्पर्शतोजी, पाम्यो क्षायकभाव रे,
संयमश्रेणी फूलडेजी, पूजूं पद निप्पाव रे।[1]

दर्शन सकलना नय ग्रहे, आप रहे निज भावे रे,
हितकरी जनने संजीवनी, चारो तेह चरावे रे।[2]

दर्शन जे थयां जूजवां, ते ओघ नजरने फेरे रे,
दृष्टि थिरादिक तेहमां, समकित दृष्टिने हेरे रे।[3]

योगनां बीज इहां ग्रहे, जिनवर शुद्ध प्रणामो रे,
भावाचारज सेवना, भव उद्वेग सुठामो रे।[4]

२६२

बम्बई, पौष सुदी ५, १९४८

क्षायिक चरित्रको स्मरण करते हैं

जनक विदेहीकी बात लक्षमें है। करसनदासका पत्र लक्षमें है।

बोधस्वरूपका यथायोग्य.

---

१ इस पदके अर्थके लिये देखो ऊपर नं. २६०. अनुवादक.

२ समस्त दर्शनोंको नयरूपसे समझे, और स्वयं निजभावमें लीन रहे। तथा मनुष्योंको हितकर संजीवनीका चारा चरावे।

३ जो हमें भिन्न भिन्न दर्शन दिखाई पड़ते हैं, वे केवल ओघ-दृष्टिके फेरसे ही दिखाई देते हैं। स्थिरा आदि दृष्टिका भेद समकित-दृष्टिसे होता है।

४ इस दृष्टिमें योगका बीज ग्रहण करे, तथा जिनवरको शुद्ध प्रणाम करे; भावाचार्यकी सेवा और संसारसे उद्वेग हो, यही मोक्षकी प्राप्तिका मार्ग है।

२६३ बम्बई, पौष सुदी ७ गुरु. १९४८

ज्ञानीकी आत्माका अवलोकन करते हैं; और वैसे ही हो जाते हैं.

आपकी स्थिति लक्षमें है। अपनी इच्छा भी लक्षमें है। गुरु-अनुग्रहवाली जो बात लिखी है, वह भी सत्य है। कर्मका उदय भोगना पड़ता है, यह भी सत्य ही है। आपको पुनः पुनः अतिशय खेद होता है, यह भी जानते हैं। आपको वियोगका असह्य ताप रहता है, यह भी जानते हैं। बहुत प्रकारसे सत्संगमें रहना योग्य है, ऐसा मानते हैं, तथापि हालमें तो ऐसा ही सहन करना योग्य माना है।

चाहे जैसे देश-कालमें यथायोग्य रहना—यथायोग्य रहनेकी ही इच्छा करना—यही उपदेश है। तुम अपने मनकी कितनी भी चिन्ता क्यों न लिखो तो भी हमें तुम्हारे ऊपर खेद नहीं होगा। ज्ञानी अन्यथा नहीं करता, अन्यथा करना उसे सूझता भी नहीं; फिर दूसरे उपायकी इच्छा भी नहीं करना, ऐसा निवेदन है।

कोई इस प्रकारका उदय है कि अपूर्व वीतरागता होनेपर भी व्यापारसंबंधी कुछ प्रवृत्ति कर सकते हैं, तथा दूसरी खाने-पीनेकी प्रवृत्ति मुश्किलसे कर सकते हैं। मनको कहीं भी विश्राम नहीं मिलता; प्रायः करके वह यहाँ किसीके समागमकी इच्छा नहीं करता। कुछ लिखा नहीं जा सकता। अधिक परमार्थ-वाक्य बोलनेकी इच्छा नहीं होती। किसीके पूँछे हुए प्रश्नोंके उत्तर जाननेपर भी लिख नहीं सकते; चित्तका भी अधिक संग नहीं है; आत्मा आत्म-भावसे रहती है।

प्रति समयमें अनंत गुणविशिष्ट आत्मभाव बढ़ता जाता हो, ऐसी दशा है। जो प्रायः समझनेमें नहीं आती अथवा इसे जान सकें ऐसे पुरुषका समागम नहीं है।

श्रीवर्धमानकी आत्माको स्वाभाविक स्मरणपूर्वक प्राप्त हुआ ज्ञान था, ऐसा मालूम होता है। पूर्ण वीतरागका-सा बोध हमें स्वाभाविक ही स्मरण हो आता है, इसीलिये ००० हमने ०००० लिखा था कि तुम 'पदार्थ' को समझो। ऐसा लिखनेमें और कोई दूसरा अभिप्राय न था।

---

२६४ बम्बई, पौष सुदी ११ सोम. १९४

(१)

स्वरूप स्वभावमें है। ज्ञानीके चरण-सेवनके बिना अनन्तकालतक भी प्राप्त न हो सके, ऐसा वह दुर्लभ भी है। आत्म-संयमका स्मरण करते रहते हैं। यथारूप वीतरागताकी पूर्णताकी इच्छा करते हैं।

हम और तुम हालमें प्रत्यक्षरूपसे वियोगमें रहा करते हैं। यह भी पूर्व-निबंधनका कोई बड़ा प्रबंध उदयमें होनेके ही कारणसे हुआ मालूम होता है।

(२)

हम कभी कोई काव्य, पद अथवा चरण लिखकर भेजें और यदि आपने उन्हें कहीं अन्यत्र बाँचा अथवा सुना भी हो, तो भी उन्हें अपूर्व ही समझें। हम स्वयं तो हालमें यथाशक्य ऐसा कुछ करनेकी इच्छा करने जैसी दशामें नहीं हैं। श्रीबोधस्वरूपका यथायोग्य.

उन्हें वह स्वभावतः आत्मामेंसे हुई थी, तथापि मायाके किसी दुरंत प्रसंगमें जैसे मुमुक्षमें नाव यत्किंचित् डोलायमान होती है, वैसे ही परिणामोंका डोलायमान होना संभव होनेसे, प्रत्येक मायाके प्रसंगमें जिसकी सर्वथा उदास अवस्था थी, ऐसे निजगुरु अष्टावक्रकी शरण स्वीकार करनेके कारण, वे मायाको आसानीसे पार कर सकने योग्य हो सके थे; क्योंकि महात्माके आलम्बनका ऐसा ही प्राबल्य है।

(२)

(१) यदि तुम और हम ही लौकिक दृष्टिसे प्रवृत्ति करेंगे तो फिर अलौकिक दृष्टिसे प्रवृत्ति कौन करेगा?

आत्मा एक है अथवा अनेक; कर्त्ता है या अकर्त्ता; जगत्का कोई कर्त्ता है अथवा जगत् स्वतः ही उत्पन्न हुआ है; इत्यादि बातें क्रमपूर्वक सत्संग होनेपर ही समझने योग्य हैं; ऐसा समझकर इस विषयमें हालमें पत्रद्वारा नहीं लिखा।

सम्यक् प्रकारसे ज्ञानीमें अखंड विश्वास रखनेका फल निश्चयसे मुक्ति है।

संसारसंबंधी तुम्हें जो जो चिंतायें हैं, उन चिंताओंको प्रायः हम जानते हैं; और इस विषयमें तुम्हें जो अमुक अमुक विकल्प रहा करते हैं, उन्हें भी हम जानते हैं। इसी तरह सत्संगके वियोगके कारण तुम्हें परमार्थ-चिंता भी रहा करती है, उसे भी हम जानते हैं; दोनों ही प्रकारके विकल्प होनेसे तुम्हें आकुलता-व्याकुलता रहा करती है, इसमें भी आश्चर्य नहीं मालूम होता, अथवा असंभवता नहीं मालूम होती। अब इन दोनों ही प्रकारोंके विषयमें जो कुछ मेरे मनमें है; उसे खुले शब्दोंमें नीचे लिखनेका प्रयत्न किया है।

संसारसंबंधी जो तुम्हें चिंता है, उसे ज्यों ज्यों वह उदयमें आये, त्यों त्यों उसे वेदन करना—सहन करना—चाहिये। इस चिंताके होनेका कारण ऐसा कोई कर्म नहीं है कि जिसे दूर करनेके लिये ज्ञानी पुरुषको प्रवृत्ति करते हुए बाधा न आये। जबसे यथार्थ बोधकी उत्पत्ति हुई है, तभीसे किसी भी प्रकारके सिद्धि-योगसे अथवा विद्याके योगसे निजसंबंधी अथवा परसंबंधी सांसारिक साधन न करनेकी प्रतिज्ञा ले रक्खी है; और यह याद नहीं पड़ता कि इस प्रतिज्ञामें अबतक एक पलभरके लिये भी मंदता आई हो। तुम्हारी चिंता हम जानते हैं, और हम उस चिंताके किसी भी भागको जितना बन सके उतना वेदन करना चाहते हैं; परन्तु ऐसा तो कभी हुआ नहीं, वह अब कैसे हो? हमें भी उदय-काल ऐसा ही रहता है कि हालमें ऋद्धि-योग हाथमें नहीं है।

प्राणीमात्र प्रायः आहार-पानी पा जाते हैं, तो फिर तुम जैसे प्राणीको कुटुम्बके लिये इससे विरुद्ध परिणाम आये, ऐसा सोचना कदापि योग्य ही नहीं है। कुटुम्बकी लाज बारम्बार बीचमें आकर जो आकुलता पैदा करती है, उसे चाहे तो रक्खो अथवा न रक्खो, तुम्हारे लिये दोनों ही समान हैं; क्योंकि जिसमें अपनी लाचारी है, उसमें तो जो हो सके उसे ही योग्य मानना, यही दृष्टि सम्यक् है।

हमें जो निर्विकल्प नामकी समाधि है, वह तो आत्माकी स्वरूप-परिणति रहनेके कारण ही है। आत्माके स्वरूपके संबंधमें तो हमें प्रायः करके निर्विकल्पता ही रहना संभव है, क्योंकि अन्य भावमें मुख्यतः हमारी बिलकुल भी प्रवृत्ति नहीं है।

जिसे यथार्थ आत्मभाव समझमें आया है, और वह उसे निश्चल रहता है, उसे ही यह सन्धि प्राप्त होती है।

हम सम्यग्दर्शनका मुख्य लक्षण वीतरागताको मानते हैं; और ऐसा ही अनुभव है।

२७२

बम्बई, माघ वदी ९ सोम. १९४८

जबहीतैं चेतन विभावसौं उलटि आपु,
समै पाइ अपनौ सुभाव गहि लीनौ है;
तबहीतैं जो जो लेन जोग सो-सो सब लीनौ है,
जो जो त्यागजोग सो सो सब छांड़ि दीनौ है।
लैवेकौ न रही ठौर, त्यागिविकौं नाहीं और,
बाकी कहा उबर्यौ जु, कारजु नवीनौ है;
संग त्यागि, अंग त्यागि, वचन तरंग त्यागि,
मन त्यागि, बुद्धि त्यागि, आपा सुद्ध कीनौ है।

कैसी अद्भुत दशा है!

२७३

बम्बई, माघ वदी १० भौम. १९४८

जिस समय आत्मरूपसे केवल जागृत अवस्था रहती है, अर्थात् आत्मा अपने स्वरूपमें सर्वथा जागृत हो जाती है, उस समय उसे 'केवलज्ञान' होता है, ऐसा कहना योग्य है, ऐसा श्रीतीर्थंकरका आशय है।

जिस पदार्थको तीर्थंकरने "आत्मा" कहा है, उसी पदार्थकी उसी स्वरूपसे प्रतीति हो—उसी परिणामसे आत्मा साक्षात् भासित हो—तब उसे 'परमार्थ सम्यक्त्व' है, ऐसा श्रीतीर्थंकरका अभिप्राय है।

जिसे ऐसा स्वरूप भासित हुआ है, ऐसे पुरुषोंमें जिसे निष्काम श्रद्धा है, उस पुरुषको 'बीजरुचि सम्यक्त्व' है।

जिस जीवमें ऐसे गुण हों कि जिससे ऐसे पुरुषकी बाधारहित निष्काम भक्ति प्राप्त हो, वह जीव 'मार्गानुसारी' है, ऐसा जिनभगवान् कहते हैं।

हमारा देहके प्रति यदि कुछ भी अभिप्राय है तो वह मात्र एक आत्मार्थके लिये ही है, दूसरे प्रयोजनके लिये नहीं। यदि दूसरे किसी भी पदार्थके लिये अभिप्राय हो तो वह अभिप्राय पदार्थके लिये नहीं, परन्तु आत्मार्थके लिये ही है। वह आत्मार्थ उस पदार्थकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हो, ऐसा हमें लक्ष नहीं होता। "आत्मत्व" इस ध्वनिके सिवाय कोई दूसरी ध्वनि किसी भी पदार्थके ग्रहण अथवा त्याग करनेमें स्मरण करने योग्य नहीं। निरन्तर आत्मत्व जाने बिना—उस स्थितिके बिना—अन्य सब कुछ क्लेशरूप ही है।

जिसे यथार्थ आत्मभाव समझमें आया है, और वह उसे निश्चल रहता है, उसे ही यह दशा प्राप्त होती है।

हम सम्यग्दर्शनका मुख्य लक्षण वीतरागताको मानते हैं; और ऐसा ही अनुभव है।

२७२

बम्बई, माघ वदी ९ सोम. १९४८

जबहीतें चेतन विभावसौं उलटि आपु,
समै पाइ अपनौ सुभाव गहि लीनौ है;
तबहीतें जो जो लेन जोग सो सो सब लीनौ है,
जो जो त्यागजोग सो सो सब छांड़ि दीनौ है।
लैवेकौ न रही ठौर, त्यागिवेकौं नाहीं और,
बाकी कहा उबर्यौ जु, कारजु नवीनौ है;
संग त्यागि, अंग त्यागि, वचन तरंग त्यागि,
मन त्यागि, बुद्धि त्यागि, आपा सुद्ध कीनौ है।

कैसी अद्भुत दशा है !

२७३

बम्बई, माघ वदी १० भौम. १९४८

जिस समय आत्मरूपसे केवल जागृत अवस्था रहती है, अर्थात् आत्मा अपने स्वरूपमें सर्वदा जागृत हो जाती है, उस समय उसे 'केवलज्ञान' होता है, ऐसा कहना योग्य है, ऐसा श्रीतीर्थंकरका आशय है।

जिस पदार्थको तीर्थंकरने "आत्मा" कहा है, उसी पदार्थकी उसी स्वरूपसे प्रतीति हो—उसी परिणामसे आत्मा साक्षात् भासित हो—तब उसे 'परमार्थ सम्यक्त्व' है, ऐसा श्रीतीर्थंकरका अभिप्राय है।

जिसे ऐसा स्वरूप भासित हुआ है, ऐसे पुरुषोंमें जिसे निष्काम श्रद्धा है, उस पुरुषको 'बीजरुचि सम्यक्त्व' है।

जिस जीवमें ऐसे गुण हों कि जिससे ऐसे पुरुषकी बाधारहित निष्काम भक्ति प्राप्त हो, वह जीव 'मार्गानुसारी' है, ऐसा जिनभगवान् कहते हैं।

हमारा देहके प्रति यदि कुछ भी अभिप्राय है तो वह मात्र एक आत्मार्थके लिये ही है, दूसरे पदार्थके लिये नहीं। यदि दूसरे किसी भी पदार्थके लिये अभिप्राय हो तो वह अभिप्राय पदार्थके लिये नहीं, परन्तु आत्मार्थके लिये ही है। वह आत्मार्थ उस पदार्थकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हो, ऐसा हमें मालूम नहीं होता। "आत्मत्व" इस ध्वनिके सिवाय कोई दूसरी ध्वनि किसी भी पदार्थके ग्रहण अथवा त्याग करनेमें स्मरण करने योग्य नहीं। निरन्तर आत्मत्व जाने बिना—उस स्थितिके बिना—अन्य सब कुछ क्लेशरूप ही है।

---

२७४ बम्बई, माघ वदी ११ बुध. १९४८

सुद्धता विचारै ध्यावै, सुद्धतामें केलि करै,
सुद्धतामें थिर व्है अमृतधारा बरसै। (समयसार-नाटक)

---

२७५ बम्बई, माघ वदी १४ शनि. १९४८

अद्भुत दशाके काव्यका जो अर्थ लिखकर भेजा है वह यथार्थ है। अनुभवकी ज्यों ज्यों सामर्थ्य उत्पन्न होती जाती है त्यों त्यों ऐसे काव्य, शब्द, वाक्य याथातथ्यस्वरूपसे परिणमते जाते हैं; इसमें आश्चर्यकारक दशाका वर्णन है।

जीवको सत्पुरुषकी पहिचान नहीं होती और उसके प्रति भी अपने जैसी व्यावहारिक कल्पना रहती है। जीवकी यह कल्पना किस उपायसे दूर हो, सो लिखना। उपाधिका प्रसंग बहुत रहता है। सत्संगके बिना जी रहे हैं।

---

२७६ बम्बई, माघ वदी १४ रवि. १९४८

लैवेकौं न रही ठौर, त्यागिवेकौं नाहीं और,
बाकी कहा उबर्यो जु, कारज नवीनो है।

स्वरूपका भान होनेसे पूर्णकामता प्राप्त हुई; इसलिये अब किसी भी जगहमें कुछ भी लेनेके लिये नहीं रहा। मूर्ख भी अपने रूपका तो कभी भी त्याग करनेकी इच्छा नहीं करता; और जहाँ केवल स्वरूप-स्थिति है वहाँ तो फिर दूसरा कुछ रहा ही नहीं; इसलिये त्यागकी भी जरूरत नहीं रही। इस तरह जब कि लेना, देना ये दोनों ही निवृत्त हो गये तो दूसरा कोई नवीन कार्य करनेके लिये फिर बचा ही क्या? अर्थात् जैसा होना चाहिये वैसा हो गया तो फिर दूसरी लेने-देनेकी जंजाल कहाँसे हो सकती है? इसीलिये ऐसा कहा गया है कि यहाँ पूर्णकामता प्राप्त हुई है।

२७७ बम्बई, माघ वदी १९४८

ॐ

एक क्षणके लिये भी कोई अप्रिय करना नहीं चाहता, तथापि वह करना पड़ता है, यह बात ऐसा सूचित करती है कि पूर्वकर्मका कोई निबंधन अवश्य है।

अविकल्प समाधिका ध्यान क्षणभरके लिये भी नहीं मिटता, तथापि अनेक वर्ष हुए विकल्प-रूप उपाधिकी आराधना करते जाते हैं।

जबतक संसार है तबतक किसी तरहकी उपाधि होना तो संभव है, तथापि अविकल्प समाधिमें स्थिर रहनेको भी वह उपाधि भी कोई बाधा नहीं करती, अर्थात् उसे तो समाधि ही है।

जिसे यथार्थ आत्मभाव समझमें आया है, और वह उसे निश्चल रहता है, उसे ही यह समकित प्राप्त होती है।

हम सम्यग्दर्शनका मुख्य लक्षण वीतरागताको मानते हैं; और ऐसा ही अनुभव है।

२७२

बम्बई, माघ वदी ९ सोम. १९४८

जबहीतें चेतन विभावसौं उलटि आपु,
समै पाइ अपनौ सुभाव गहि लीनौ है;
तबहीतें जो जो लेन जोग सो-सो सब लीनौ है,
जो जो त्यागजोग सो सो सब छांड़ि दीनौ है।
लैवेकौ न रही ठौर, त्यागिविकौं नाहीं और,
बाकी कहा उबर्यौ जु, कारजु नवीनौ है;
संग त्यागि, अंग त्यागि, वचन तरंग त्यागि,
मन त्यागि, बुद्धि त्यागि, आपा सुद्ध कीनौ है।

कैसी अद्भुत दशा है !

२७३

बम्बई, माघ वदी १० भौम. १९४८

जिस समय आत्मरूपसे केवल जागृत अवस्था रहती है, अर्थात् आत्मा अपने स्वरूपमें सर्वथा जागृत हो जाती है, उस समय उसे 'केवलज्ञान' होता है, ऐसा कहना योग्य है, ऐसा श्रीतीर्थंकरका आशय है।

जिस पदार्थको तीर्थंकरने "आत्मा" कहा है, उसी पदार्थकी उसी स्वरूपसे प्रतीति हो—उसी परिणामसे आत्मा साक्षात् भासित हो—तब उसे 'परमार्थ सम्यक्त्व' है, ऐसा श्रीतीर्थंकरका अभिप्राय है।

जिसे ऐसा स्वरूप भासित हुआ है, ऐसे पुरुषोंमें जिसे निष्काम श्रद्धा है, उस पुरुषको 'बीजरुचि सम्यक्त्व' है।

जिस जीवमें ऐसे गुण हों कि जिससे ऐसे पुरुषकी बाधारहित निष्काम भक्ति प्राप्त हो, वह जीव 'मार्गानुसारी' है, ऐसा जिनभगवान् कहते हैं।

हमारा देहके प्रति यदि कुछ भी अभिप्राय है तो वह मात्र एक आत्मार्थके लिये ही है, दूसरे प्रयोजनके लिये नहीं। यदि दूसरे किसी भी पदार्थके लिये अभिप्राय हो तो वह अभिप्राय पदार्थके लिये नहीं, परन्तु आत्मार्थके लिये ही है। वह आत्मार्थ उस पदार्थकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हो, ऐसा हमें मालूम नहीं होता। "आत्मत्व" इस ध्वनिके सिवाय कोई दूसरी ध्वनि किसी भी पदार्थके ग्रहण अथवा त्याग करनेमें स्मरण करने योग्य नहीं। निरन्तर आत्मत्व जाने बिना—उस स्थितिके बिना—अन्य सब कुछ क्लेशरूप ही है।

---

२७४ बम्बई, माघ वदी ११ बुध. १९४८

सुद्धता विचारे ध्यावे, सुद्धतामें केलि करै,
सुद्धतामें थिर व्है अमृतधारा बरसै। (समयसार-नाटक)

---

२७५ बम्बई, माघ वदी १४ शनि. १९४८

अद्भुत दशाके काव्यका जो अर्थ लिखकर भेजा है वह यथार्थ है। अनुभवकी ज्यों ज्यों सामर्थ्य उत्पन्न होती जाती है त्यों त्यों ऐसे काव्य, शब्द, वाक्य याथातथ्यरूपसे परिणमते जाते हैं; इसमें आश्चर्यकारक दशाका वर्णन है।

जीवको सत्पुरुषकी पहिचान नहीं होती और उसके प्रति भी अपने जैसी व्यावहारिक कल्पना रहती है। जीवकी यह कल्पना किस उपायसे दूर हो, सो लिखना। उपाधिका प्रसंग बहुत रहता है। सत्संगके बिना जी रहे हैं।

---

२७६ बम्बई, माघ वदी १४ रवि. १९४८

लैवेकौं न रही ठौर, त्यागिवेकौं नाहीं और,
बाकी कहा उबर्यो जु, कारज नवीनो है।

स्वरूपका भान होनेसे पूर्णकामता प्राप्त हुई; इसलिये अब किसी भी जगहमें कुछ भी लेनेके लिये नहीं रहा। मूर्ख भी अपने रूपका तो कभी भी त्याग करनेकी इच्छा नहीं करता; और जहाँ केवल स्वरूप-स्थिति है वहाँ तो फिर दूसरा कुछ रहा ही नहीं; इसलिये त्यागकी भी जरूरत नहीं रही। इस तरह जब कि लेना, देना ये दोनों ही निवृत्त हो गये तो दूसरा कोई नवीन कार्य करनेके लिये फिर बचा ही क्या! अर्थात् जैसा होना चाहिये वैसा हो गया तो फिर दूसरी लेने-देनेकी जंजाल कहाँसे हो सकती है! इसीलिये ऐसा कहा गया है कि यहाँ पूर्णकामता प्राप्त हुई है।

---

२७७ बम्बई, माघ वदी १९४८

ॐ

एक क्षणके लिये भी कोई अप्रिय करना नहीं चाहता, तथापि वह करना पड़ता है, यह बात ऐसा सूचित करती है कि पूर्वकर्मका कोई निबंधन अवश्य है।

अविकल्प समाधिका ध्यान क्षणभरके लिये भी नहीं मिटता; तथापि अनेक वर्ष हुए विकल्प-रूप उपाधिकी आराधना करते जाते हैं।

जबतक संसार है तबतक किसी तरहकी उपाधि होना तो संभव है; तथापि अविकल्प समाधिमें स्थित ज्ञानीको तो वह उपाधि भी कोई बाधा नहीं करती, अर्थात् उसे तो समाधि ही है।

जिसे यथार्थ आत्मभाव समझमें आया है, और वह उसे निश्चल रहता है, उसे ही यह समाधि प्राप्त होती है।

हम सम्यग्दर्शनका मुख्य लक्षण वीतरागताको मानते हैं; और ऐसा ही अनुभव है।

२७२

बम्बई, माघ वदी ९ सोम. १९४८

जबहीतें चेतन विभावसौं उलटि आपु,
समै पाइ अपनौ सुभाव गहि लीनौं है;
तबहीतें जो जो लेन जोग सो सो सब लीनौ है,
जो जो त्यागजोग सो सो सब छांड़ि दीनौं है।
लैवेकौं न रही ठौर, त्यागिविकौं नाहीं और,
बाकी कहा उबर्यौ जु, कारजु नवीनौ है;
संग त्यागि, अंग त्यागि, वचन तरंग त्यागि,
मन त्यागि, बुद्धि त्यागि, आपा सुद्ध कीनौं है।

कैसी अद्भुत दशा है ?

२७३

बम्बई, माघ वदी १० भौम. १९४८

जिस समय आत्मरूपसे केवल जागृत अवस्था रहती है, अर्थात् आत्मा अपने स्वरूपमें सर्वथा जागृत हो जाती है, उस समय उसे 'केवलज्ञान' होता है, ऐसा कहना योग्य है, ऐसा श्रीतीर्थंकरका आशय है।

जिस पदार्थको तीर्थंकरने "आत्मा" कहा है, उसी पदार्थकी उसी स्वरूपसे प्रतीति हो-उसी परिणामसे आत्मा साक्षात् भासित हो—तब उसे 'परमार्थ सम्यक्त्व' है, ऐसा श्रीतीर्थंकरका अभिप्राय है।

जिसे ऐसा स्वरूप भासित हुआ है, ऐसे पुरुषोंमें जिसे निष्काम श्रद्धा है, उस पुरुषको 'बीजरुचि सम्यक्त्व' है।

जिस जीवमें ऐसे गुण हों कि जिससे ऐसे पुरुषकी बाधारहित निष्काम भक्ति प्राप्त हो, वह जीव 'मार्गानुसारी' है, ऐसा जिनभगवान् कहते हैं।

हमारा देहके प्रति यदि कुछ भी अभिप्राय है तो वह मात्र एक आत्मार्थके लिये ही है, दूसरे प्रयोजनके लिये नहीं। यदि दूसरे किसी भी पदार्थके लिये अभिप्राय हो तो वह अभिप्राय पदार्थके लिये नहीं, परन्तु आत्मार्थके लिये ही है। वह आत्मार्थ उस पदार्थकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हो, ऐसा हमें मालूम नहीं होता। "आत्मत्व" इस ध्वनिके सिवाय कोई दूसरी ध्वनि किसी भी पदार्थके ग्रहण अथवा त्याग करनेमें स्मरण करने योग्य नहीं। निरन्तर आत्मत्व जाने बिना—उस स्थितिके बिना—अन्य सब कुछ क्लेशरूप ही है।

जिसे यथार्थ आत्मभाव समझमें आया है, और वह उसे निश्चल रहता है, उसे ही यह समाधि प्राप्त होती है।

हम सम्यग्दर्शनका मुख्य लक्षण वीतरागताको मानते हैं; और ऐसा ही अनुभव है।

२७२

बम्बई, माघ वदी ९ सोम. १९४

जबहींतें चेतन विभावसौं उलटि आपु,
समै पाइ अपनौ सुभाव गहि लीनौ है;
तबहींतें जो जो लेन जोग सो सो सब लीनो है,
जो जो त्यागजोग सो सो सब छांड़ि दीनौ है।
लैवेकौ न रही ठौर, त्यागिवेकौं नाहीं और,
बाकी कहा उबर्यौ जु, कारजु नवीनौ है;
संग त्यागि, अंग त्यागि, वचन तरंग त्यागि,
मन त्यागि, बुद्धि त्यागि, आपा सुद्ध कीनौ है।

कैसी अद्भुत दशा है !

२७३

बम्बई, माघ वदी १० भौम. १९४

जिस समय आत्मरूपसे केवल जागृत अवस्था रहती है, अर्थात् आत्मा अपने स्वरूपमें केवल जागृत हो जाती है, उस समय उसे 'केवलज्ञान' होता है, ऐसा कहना योग्य है, ऐसा श्रीतीर्थंकरका आशय है।

जिस पदार्थको तीर्थंकरने "आत्मा" कहा है, उसी पदार्थकी उसी स्वरूपसे प्रतीति हो—उसी परिणामसे आत्मा साक्षात् भासित हो—तब उसे 'परमार्थ सम्यक्त्व' है, ऐसा श्रीतीर्थंकरका अभिप्राय है।

जिसे ऐसा स्वरूप भासित हुआ है, ऐसे पुरुषोंमें जिसे निष्काम श्रद्धा है, उस पुरुषको 'बीजरुचि सम्यक्त्व' है।

जिस जीवमें ऐसे गुण हों कि जिससे ऐसे पुरुषकी बाधारहित निष्काम भक्ति प्राप्त हो, वह जीव 'मार्गानुसारी' है, ऐसा जिनभगवान् कहते हैं।

हमारा देहके प्रति यदि कुछ भी अभिप्राय है तो वह मात्र एक आत्मार्थके लिये ही है, दूसरे किसी प्रयोजनके लिये नहीं। यदि दूसरे किसी भी पदार्थके लिये अभिप्राय हो तो वह अभिप्राय पदार्थके लिये नहीं, परन्तु आत्मार्थके लिये ही है। वह आत्मार्थ उस पदार्थकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हो, ऐसा हमें मालूम नहीं होता। "आत्मत्व" इस ध्वनिके सिवाय कोई दूसरी ध्वनि किसी भी पदार्थके ग्रहण अथवा त्याग करनेमें स्मरण करने योग्य नहीं। निरन्तर आत्मत्व जाने बिना—उस स्थितिके बिना—अन्य सब कुछ क्लेशरूप ही है।

इस देहको धारण करके यद्यपि कोई महान् श्रीमंतता नहीं भोगी, शब्द आदि विषयोंका पूर्ण वैभव प्राप्त नहीं हुआ, कोई विशेष राज्याधिकार सहित दिन नहीं विताये, अपने निजके गिने जानेवाले ऐसे किसी धाम-आरामका सेवन नहीं किया, और अभी हालमें तो युवावस्थाका पहिला भाग ही चालू है, तथापि इनमेंसे किसीकी हमें आत्मभावसे कोई इच्छा उत्पन्न नहीं होती, यह एक बड़ा आश्चर्य मानकर प्रवृत्ति करते हैं। और इन पदार्थोंकी प्राप्ति–अप्राप्ति दोनों समान जानकर बहुत प्रकारसे अविकल्प समाधिका ही अनुभव करते हैं।

ऐसा होनेपर भी बारम्बार वनवासकी याद आया करती है; किसी भी प्रकारका लोक-परिचय रुचिकर नहीं लगता; सत्संगकी ही निरंतर कामना रहा करती है; और हम अव्यवस्थित दशामें उपाधि-योगमें रहते हैं।

एक अविकल्प समाधिके सिवाय दूसरा कुछ वास्तविक रीतिसे स्मरण नहीं रहता, चिन्तन नहीं रहता, रुचि नहीं रहती, अथवा कोई भी काम नहीं किया जाता।

ज्योतिष आदि विद्या अथवा अणिमा आदि सिद्धिको मायिक पदार्थ जानकर आत्माको इनका क्वचित् ही स्मरण होता है। इनके द्वारा कोई बात जानना अथवा सिद्ध करना कभी भी योग्य मालूम नहीं होता, और इस बातमें किसी प्रकारसे हालमें चित्तका प्रवेश भी नहीं रहा।

पूर्वनिबंधन जिस जिस प्रकारसे उदय आये, उस उस प्रकारसे ००० अनुक्रमसे वेदन करते जाना, ऐसा करना ही योग्य लगा है।

तुम भी, ऐसे अनुक्रममें भले ही थोड़ेसे थोड़े अंशमें ही प्रवृत्त क्यों न हुआ जाय, तो भी प्रवृत्ति करनेका अभ्यास रखना; और किसी भी कामके प्रसंगमें अधिक शोकमें पड़ जानेका अनुभव कम करना; ऐसा करना अथवा होना यही ज्ञानीकी अवस्थामें प्रवेश करनेका द्वार है।

तुम किसी भी प्रकारका उपाधिका प्रसंग लिखते हो, वह यद्यपि बाँचनेमें तो आता ही है, तथापि उस विषयका चित्तमें जरा भी आभास न पड़नेके कारण प्रायः उत्तर लिखना भी नहीं बनता; इसे आप चाहे दोष कहो या गुण, परन्तु वह क्षमा करने योग्य है।

हमें भी सांसारिक उपाधि कोई कम नहीं है; तथापि उसमें निजपना नहीं रह जानेके कारण उससे घबराहट पैदा नहीं होती। उस उपाधिके उदय-कालके कारण हालमें समाधिका अविच्छिन्न गौणसा हो रहा है; और उसके लिये शोक रहा करता है। वीतरागभावका यथायोग्य.

बम्बई, माघ. १९४८

२७८

दीर्घकालतक यथार्थ-बोधका परिचय होनेसे बोध-बीजकी प्राप्ति होती है; और यह बोध-बीज प्रायः निश्चय सम्यक्त्व ही होता है।

जिनभगवान्ने जो बाईस प्रकारके परिषह कहे हैं उनमें 'दर्शन' परिषह नामका भी एक परिषह कहा गया है। इन दोनों परिषहोंका विचार करना योग्य है। यह विचार करनेसे

नहीं हो जाता तबतक निश्चयसे अप्रमत्तपनेसे बारम्बार पुरुषार्थका स्वीकार करना ही योग्य है यह बात तीनों कालमें संदेहरहित है, ऐसा जानकर निष्कामरूपसे लिखी है ।

---

२८० बम्बई, फाल्गुन सुदी ४ बुध. १९४८

(१)

आरंभ और परिग्रहका ज्यों ज्यों मोह दूर होता जाता है, ज्यों ज्यों उनसे अपनेपनका अभिमान मंद पड़ता जाता है, त्यों त्यों मुमुक्षुता बढ़ती जाती है । अनंतकालसे जिससे परिचय चला आ रहा है ऐसा यह अभिमान प्रायः एकदम निवृत्त नहीं हो जाता; इस कारण तन, मन, धन आदि जिनमें अपनापन आ गया है, उन सबको ज्ञानीके प्रति अर्पण किया जाता है; ज्ञानी प्रायः उन्हें कुछ ग्रहण नहीं करते, परन्तु उनमेंसे अपनेपनके दूर करनेका उपदेश देते हैं; और करने योग्य भी यही है कि आरंभ, परिग्रहको बारम्बारके प्रसंगमें विचार विचारकर अपना होते हुए रोकना; तभी मुमुक्षुता निर्मल होती है ।

(२)

" जीवको सत्पुरुषकी पहिचान नहीं होती; उसके प्रति भी अपने समान ही व्यावहारिक कल्पना रहा करती है—जीवकी यह दशा किस उपायसे दूर हो ! " इस प्रश्नका उत्तर यथार्थ ही लिखा है । यह उत्तर वैसा है जिसे ज्ञानी अथवा ज्ञानीके आश्रयमें रहनेवाला ही जान सकता है, कह सकता है, अथवा लिख सकता है । मार्ग कैसा होना चाहिये, यह जिसे बोध नहीं है, ऐसे शास्त्राभ्यासी पुरुष, उसका यथार्थ उत्तर न दे सकें, यह भी यथार्थ ही है । " शुद्धता विचारे ध्यावे " इस पदके विषयमें फिर कभी लिखेंगे ।

अंबारामजीकी पुस्तकके संबंधमें आपने विशेष बाँचन करके जो अभिप्राय लिखा है, उसके विषयमें बातचीत होनेपर फिर कभी कहेंगे । हमने इस पुस्तकका बहुतसा भाग देखा है, परन्तु उनकी बातें सिद्धान्त-ज्ञानसे बराबर बैठती हुई नहीं मालूम होती। और ऐसा ही है; तथापि उस पुरुषकी दशा अच्छी है, मार्गानुसारी जैसी है, ऐसा तो कह सकते हैं । जिसे हमने सैद्धान्तिक अथवा यथार्थ ज्ञान माना है, वह तो अत्यन्त ही सूक्ष्म है, और वह प्राप्त हो सकनेवाला ज्ञान है । विशेष फिर ।

---

२८१ बम्बई, फाल्गुन सुदी १० बुध. १९४८

' फिर कभी लिखेंगे, फिर कभी लिखेंगे ' ऐसा बहुतबार लिखकर भी लिखा नहीं जा सका, यह क्षमा करने योग्य है; क्योंकि चित्तकी स्थिति प्रायः करके विदेही जैसी रहती है; इसलिये कार्यमें अव्यवस्था हो जाती है । हालमें जैसी चित्त-स्थिति है वैसी अमुक समयतक रखे बिना छुटकारा नहीं है ।

ज्ञानी पुरुष बहुत बहुत हो गये हैं, परन्तु उनमें हमारे जैसे उपाधि-प्रसंग और उदासीन—अत्यन्त उदासीन–चित्तस्थितिवाले प्रायः थोड़े ही हुए हैं । उपाधिके प्रसंगके कारण आत्मासंबंधी जो

(२)

विशेष करके वैराग्य प्रकरणमें, श्रीरामको जो अपने वैराग्यके कारण माद्रम हुए, वे सच्चे हैं, वे फिर फिरसे विचार करने जैसे हैं।

---

२८३ बम्बई, फाल्गुन सुदी ११॥ गुरु. १९

नि. चंदुके स्वर्गवासकी खबर पढ़कर खेद हुआ। जो जो प्राणी देह धारण करते हैं, वे देहका त्याग करते हैं, यह बात हमें प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध दिखाई देती है; ऐसा होनेपर भी अ चित्त इस देहकी अनित्यता विचारकर नित्य पदार्थके मार्गमें नहीं चलता, इस शोचनीय बा बारम्बार विचार करना योग्य है।

मनको धीरज देकर उदासी छोड़े बिना काम नहीं चलेगा। दिलगीरी न करते हुए धीर उस दुःखको सहन करना, यही अपना धर्म है।

इस देहको भी कभी न कभी इसी तरह त्याग देना है, यह बात स्मरणमें आया करे और संसारके प्रति विशेष वैराग्य रहा करता है।

पूर्वकर्मके अनुसार जो कुछ भी सुख-दुःख प्राप्त हो उसे समानभावसे वेदन करना, यह ज्ञानी शिक्षा याद आ जाती है, सो लिखी है। मायाकी रचना गहन है।

---

२८४ बम्बई, फाल्गुन सुदी १३ शुक्र. १९

परिणाममें अत्यंत उदासीनता रहा करती है। ज्यों ज्यों ऐसा होता है त्यों त्यों प्रवृत्ति प्रसंग भी बढ़ा करता है। जिस प्रवृत्तिका प्रसंग होगा, ऐसी कल्पना भी न की थी, वह प्रसंग प्राप्त हो जाया करता है; और इस कारण ऐसा मानते हैं कि पूर्वमें बाँधे हुए कर्म निवृत्त होनेके शीघ्रतासे उदयमें आ रहे हैं।

---

२८५ बम्बई, फा. सुदी १४ शुक्र. १९

किसीका दोष नहीं; हमने कर्म बाँधे हैं इसलिये हमारा ही दोष है.

ज्योतिषकी आम्नायसम्बन्धी जो थोड़ीसी बातें लिखीं, वे पढ़ी हैं। उसका बहुतसा भाग ज्ञात है, तथापि उसमें चित्त जरा भी प्रवेश नहीं करता; और उस विषयका पढ़ना अथवा सुनना कदाचित् भी हो तो भी भारभूत ही माद्रम होता है; उसमें जरासी भी रुचि नहीं रही है।

हमें तो केवल एक अपूर्व सत्के ज्ञानमें ही रुचि रहती है; दूसरा जो कुछ भी करनेमें अनुसरण करनेमें आता है, वह सब आसपासके बंधनके कारण ही करते हैं।

हालमें जो कुछ व्यवहार करते हैं, उसमें देह और मनको बाह्य उपयोगमें प्रवर्तना पड़ता है, इससे अत्यन्त आकुलता आ जाती है।

जो कुछ पूर्वमें बंधन किया गया है, उन कर्मोंके निवृत्त होनेके लिये—

२८९

बम्बई, फाल्गुन वदी १० बुध. १९४

(१)

ॐ

उपाधि उदयरूपसे है। जिससे पूर्वकर्म तुरत ही निवृत्त हों, ऐसा करते हैं।

(२)

किसी भी प्रकारसे सत्संगका योग बने तो उसे किये रहना यही कर्त्तव्य है, और जि प्रकारसे जीवको अपनापन विशेष हुआ करता हो अथवा यह बढ़ा करता हो, तो उस प्रकारसे जैसे बने तैसे संकोच करते रहना, यह भी सत्संगमें फल-देनेवाली भावना है।

२९०

बम्बई, सोमवती अमावस्या फा. वदी सोम. १९४

ॐ

हम जानते हैं कि जो परिणाम बहुत समयमें प्राप्त होनेवाला है, वह उससे थोड़े समयमें प्र होनेके लिये ही यह उपाधि-योग विशेषरूपसे रहता है।

हालमें हम यहाँ व्यावहारिक काम तो प्रमाणमें बहुत करते हैं, उसमें मन भी पूरी तरहसे दे हैं; तो भी वह मन व्यवहारमें लगता नहीं है; अपने ही विषयमें रहता है; इसलि व्यवहार बहुत बोझारूप रहता है। समस्त लोक तीनों कालमें दुःखसे पीड़ित माना गया है, औ उसमें भी यह काल रहता है, यह तो महादुःषम काल है; और सर्वथा विश्रांतिका कारण कर्तव्यरू जो 'श्रीसत्संग' है, वह तो सर्वकालमें प्राप्त होना दुर्लभ ही है; फिर वह इस कालमें प्राप्त होना बहुत ही दुर्लभ हो, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। हमारा मन प्रायः क्रोधसे, मानसे, माया लोभसे, हास्यसे, रतिसे, अरतिसे, भयसे, शोकसे, जुगुप्सासे अथवा शब्द आदि विषयोंसे अप्रति जैसा है; कुटुम्बसे, धनसे, पुत्रसे, वैभवसे, स्त्रीसे, अथवा देहसे मुक्त जैसा है; उस मनको भी सत्सं बंधन रखना बहुत बहुत रहा करता है।

२९१

बम्बई, चैत्र सुदी २ बुध. १९४

यह लोक-स्थिति ही ऐसी है कि उसमें सत्यकी भावना करना परम कठिन है। समस्त रच असत्यके आग्रहकी भावना करानेवाली है।

लोक-स्थिति आश्चर्यकारक है।

ज्ञानीको सर्वसंग-परित्याग करनेका हेतु क्या होगा?

२९२

बम्बई, चैत्र सुदी ९ बुध. १९४

किन्हीं किन्हीं दुःखके प्रसंगोंमें ग्लानि हो आती है और उसके कारण वैराग्य भी रहा करता परन्तु जीवका सच्चा कल्याण और सुख तो ऐसा समझनेमें मालूम होता है कि इस सब ग्लानिका कारण अ

थोड़े ही कालमें भोग लेनेके लिये—इस व्यापार नामके व्यावहारिक कामका दूसरेके लिये सेवन कर रहे हैं।

इस कामकी प्रवृत्ति करते समय जितनी हमारी उदासीन दशा थी, उससे भी आज विशेष है।

कोई भी जीव परमार्थकी इच्छा करे, और व्यावहारिक संगमें प्रीति रक्खे, और परमार्थ प्राप्त हो जाय, ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता। पूर्वकर्म देखते हुए तो इस कामकी निवृत्ति हालमें ही हो जाय, ऐसा दिखाई नहीं देता।

इस कामके पीछे 'त्याग' ऐसा हमने ज्ञानमें देखा था; और हालमें भी ऐसा ही स्वरूप दिखाई देता है, इतनी आश्चर्यकी बात है। हमारी वृत्तिको परमार्थके कारण अवकाश नहीं है, ऐसा होनेपर भी बहुत कुछ समय इस काममें बिताते हैं।

---

२८६ बम्बई, फाल्गुन सुदी १५ रवि. १९४८

जिस ज्ञानसे भवका अन्त होता है, उस ज्ञानका प्राप्त होना जीवको बहुत दुर्लभ है; तथापि वह ज्ञान, स्वरूपसे तो अत्यन्त ही सुगम है, ऐसा हम मानते हैं। उस ज्ञानके सुगमतासे प्राप्त होनेमें जिस दशाकी आवश्यकता है, वह दशा प्राप्त होनी भी बहुत बहुत कठिन है, और उसके प्राप्त होनेके जो कारण हैं उनके मिले बिना जीवको अनंतकालसे भटकना पड़ा है। इन दो कारणोंके मिलनेपर मोक्ष होता है।

---

२८७ बम्बई, फाल्गुन वदी ४ गुरु. १९४८

चित्तमें अविक्षिप्तपनेसे रहना—समाधि रखना। इस बातको चित्तमें निवृत्ति आनेके लिये आपको लिखी है, और इससे उस जीवकी अनुकंपाके सिवाय और कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है। हमें तो चाहे जो कुछ भी हो, तो भी समाधि ही रखनेकी इच्छा रहती है। अपने ऊपर यदि कोई आपत्ति, विषमता, [illegible] अथवा ऐसा ही कुछ आ पड़े, तो उसके लिये [illegible] करनेकी हमारी इच्छा नहीं होती। तथा उसे परमार्थ-दृष्टिसे देखनेसे तो वह [illegible] ही होता है; व्यावहारिक-दृष्टिसे देखनेपर नहीं [illegible] है, और [illegible] व्यावहारिक-दृष्टि होती है [illegible] बहुत सुन्दर है।

[illegible]

---

२८८ [illegible]

[illegible]

'सत् शास्त्र' के प्रति, और परेच्छासे परमार्थके निमित्त कारण 'दान आदि' के प्रति रही है। अब तो कृतार्थ हुआ जान पड़ता है।

२९६

बम्बई, चैत्र वदी ५ रवि. १९४८

जगत्‌के अभिप्रायको देखकर जीवने पदार्थका बोध प्राप्त किया है; ज्ञानीके अभिप्रायको देखकर नहीं प्राप्त किया। जो जीव ज्ञानीके अभिप्रायसे बोध पाता है, उस जीवको सम्यग्दर्शन होता है.

मार्ग हम दो प्रकारके मानते हैं। एक उपदेश प्राप्तिका मार्ग और दूसरा वास्तविक मार्ग। विचारसागर उपदेश-प्राप्तिके लिये विचारने योग्य ग्रंथ है। जब हम जैन शास्त्रोंको बाँचनेके लिये कहते हैं तब जैनी होनेके लिये नहीं कहते; जब वेदांत शास्त्र बाँचनेके लिये कहते हैं तो वेदांती होनेके लिये नहीं कहते; इसी तरह अन्य शास्त्रोंको बाँचनेके लिये जो कहते हैं तो अन्य होनेके लिये नहीं कहते। जो कहते हैं वह केवल तुम सब लोगोंको उपदेश देनेके लिये ही कहते हैं। हालमें जैन और वेदांत आदिके भेदका त्याग करो। आत्मा वैसी नहीं है।

२९७

बम्बई, चैत्र वदी १२ रवि. १९४८

जहाँ पूर्ण-कामता है, वहाँ सर्वज्ञता है.

जिसे बोध-बीजकी उत्पत्ति हो जाती है, उसे स्वरूप-सुखसे परितृप्ति रहती है, और विषयके प्रति अप्रयत्न दशा रहती है।

जिस जीवनमें क्षणिकता है, उसी जीवनमें ज्ञानियोंने नित्यता प्राप्त की है, यह अचरजकी बात है।

यदि जीवको परितृप्ति न रहा करती हो तो उसे अखंड आत्म-बोध हुआ नहीं समझना।

२९८

बम्बई, वैशाख सुदी ३ शुक्र. १९४८ अक्षय तृतीया

(१)

भाव-समाधि है; बाह्य उपाधि है; जो भावको गौण कर सके ऐसी वह स्थितिवाली है; तथापि समाधि रहती है।

(२)

हमने जो पूर्ण-कामताके विषयमें लिखा है, वह इस आशयसे लिखा है कि जिस प्रमाणसे ज्ञानका प्रकाश होता जाता है, उस प्रमाणसे शब्द आदि व्यावहारिक पदार्थोंसे निस्पृहता आती जाती है; आत्म-सुखके कारण परितृप्ति रहती है। अन्य किसी भी सुखकी इच्छा न होनी यह पूर्ण ज्ञानका लक्षण है।

ज्ञानी अनित्य जीवनमें नित्यता प्राप्त करता है, ऐसा जो लिखा है वह इस आशयसे लिखा है कि उसे मृत्युसे भी निर्भयता रहती है। जिसे ऐसा हो जाय उसे फिर अनित्यता रही है, ऐसा न कहें, तो यह बात सत्य ही है।

' सत् शास्त्र ' के प्रति, और परेच्छासे परमार्थके निमित्त कारण ' दान आदि ' के प्रति रही है। अन्य तो कृतार्थ हुआ जान पड़ता है।

२९६ बम्बई, चैत्र वदी ५ रवि. १९४८

जगत्के अभिप्रायको देखकर जीवने पदार्थका बोध प्राप्त किया है; ज्ञानीके अभिप्रायको देखकर नहीं प्राप्त किया। जो जीव ज्ञानीके अभिप्रायसे बोध पाता है, उस जीवको सम्यग्दर्शन होता है.

मार्ग हम दो प्रकारके मानते हैं। एक उपदेश प्राप्तिका मार्ग और दूसरा वास्तविक मार्ग। विचारसागर उपदेश-प्राप्तिके लिये विचारने योग्य ग्रंथ है। जब हम जैन शास्त्रोंको बाँचनेके लिये कहते हैं तब जैनी होनेके लिये नहीं कहते; जब वेदांत शास्त्र बाँचनेके लिये कहते हैं तो वेदान्ती होनेके लिये नहीं कहते; इसी तरह अन्य शास्त्रोंको बाँचनेके लिये जो कहते हैं तो अन्य होनेके लिये नहीं कहते जो कहते हैं वह केवल तुम सब लोगोंको उपदेश देनेके लिये ही कहते हैं। हालमें जैन और वेदांत आदिके भेदका त्याग करो। आत्मा वैसी नहीं है।

२९७ बम्बई, चैत्र वदी १२ रवि. १९४८

जहाँ पूर्ण-कामता है, वहाँ सर्वज्ञता है.

जिसे बोध-बीजकी उत्पत्ति हो जाती है, उसे स्वरूप-सुखसे परितृप्ति रहती है, और विषयके प्रति अप्रयत्न दशा रहती है।

जिस जीवनमें क्षणिकता है, उसी जीवनमें ज्ञानियोंने नित्यता प्राप्त की है, यह अचरजकी बात है।

यदि जीवको परितृप्ति न रहा करती हो तो उसे अखंड आत्म-बोध हुआ नहीं समझना।

२९८ बम्बई, वैशाख सुदी ३ शुक्र. १९४८ अक्षय तृतीया

(१)

भाव-समाधि है; बाह्य उपाधि है; जो भावको गौण कर सके ऐसी वह स्थितिवाली है; तब समाधि रहती है।

(२)

हमने जो पूर्ण-कामताके विषयमें लिखा है, वह इस आशयसे लिखा है कि जिस प्रमाणसे ज्ञानका प्रकाश होता जाता है, उस प्रमाणसे शब्द आदि व्यावहारिक पदार्थोंसे निस्पृहता आती जाती है; आत्म-सुखके कारण परितृप्ति रहती है। अन्य किसी भी सुखकी इच्छा न होनी यह पूर्ण ज्ञानका लक्षण है।

ज्ञानी अनित्य जीवनमें नित्यता प्राप्त करता है, ऐसा जो लिखा है वह इस आशयसे लिखा है कि उसे मृत्युसे भी निर्भयता रहती है। जिसे ऐसा हो जाय उसे फिर अनित्यता रही है, ऐसा न कहें तो यह बात सत्य ही है।

जिसे दोष देना नहीं आता, ऐसे जीवको ज्ञानीके आश्रयसे धीरजपूर्वक चलनेसे आपत्तिका नाश होता है; अथवा आपत्ति बहुत मंद पड़ जाती है, ऐसा मानते हैं; तथापि इस कालमें ऐसी धीरज रहना बहुत ही कठिन है, और इस कारण जैसा कि ऊपर कहा है, बहुतबार ऐसा परिणाम आनेसे रुक जाता है।

हमें तो ऐसी जंजालमें उदासीनता रहती है; हमारे भीतर विद्यमान परम वैराग्य व्यवहार-विषयमें मनको कभी भी नहीं लगने देता, और व्यवहारका प्रतिबंध तो सारे दिन ही रखना पड़ता है। हमें तो ऐसा उदय चल रहा है। इससे माळूम होता है कि वह भी सुखका ही हेतु है।

आज पाँच मास हुए तबसे हम जगत्, ईश्वर और अन्यभाव—इन सबसे उदासीनरूपसे रहते हैं, तथापि यह बात गंभीर होनेके कारण तुम्हें नहीं लिखी। तुम जिस प्रकारसे ईश्वर आदिके विषयमें श्रद्धाशील हो, तुम्हारे लिये उसी तरह प्रवृत्ति करना कल्याणकारक है। हमें तो किसी भी तरहका भेदभाव उत्पन्न न होनेके कारण सब कुछ जंजालरूप ही है; अर्थात् ईश्वर आदि तकमें उदासीनता रहती है। हमारे इस प्रकारके लिखनेको पढ़कर तुम्हें किसी प्रकारसे संदेहमें पड़ना योग्य नहीं।

हालमें तो हम 'अत्ररूप' से रहते हैं, इस कारण किसी प्रकारकी ज्ञान-वार्ता भी नहीं लिख सकते; परन्तु मोक्ष तो हमें सर्वथा निकटरूपसे ही है; यह बात तो शंकारहित है। हमारा चित्त आत्माके सिवाय किसी दूसरे स्थलपर प्रतिबद्ध होता ही नहीं; क्षणभरके लिये भी अन्य-भावमें स्थिर नहीं रहता—स्वरूपमें ही स्थिर रहता है। ऐसा जो हमारा आश्चर्यकारक स्वरूप है, वह हमसे तो कैसे भी कहा नहीं जाता। बहुत महिने बीत जानेके कारण तुम्हें लिखकर ही संतोष माने लेते हैं। नमस्कार बाँचना। हम भेदरहित हैं।

---

३०२ बम्बई, वैशाख वदी १३ भौम. १९४८

जिसे निरंतर ही अभेद-ध्यान रहा करता है, ऐसे श्रीबोध-पुरुषका यथायोग्य बाँचना। यहाँ भावविषयक तो समाधि ही रहती ही है, और बाह्यविषयक उपाधि-योग रहता है; तुम्हारे आये हुए तीनों पत्र प्राप्त हुए हैं, और इसी कारण प्रत्युत्तर नहीं लिखा।

इस कालकी ऐसी विषमता है कि जिसको बहुत समयतक सत्संगका सेवन हुआ हो, तो ही लोक-विषयक लोक-भावना कम हो सकती है, अथवा लयको प्राप्त हो सकती है। लोक-भावनाके आवरणके कारण ही जीवको परमार्थ भावनाके प्रति उल्लास-परिणति नहीं होती, और जबतक यह नहीं हुई तबतक लोक-सहवास भवरूप ही होता है।

जो निरन्तर सत्संगके सेवन करनेकी इच्छा करता है ऐसे मुमुक्षु जीवको, जबतक उस दोषका विरह रहता है, तबतक दृढ़ भावसे उस भावनाकी इच्छासहित प्रत्येक कार्य करते हुए विचारपूर्वक प्रवृत्ति करके अपनेको लघु मानकर, अपने देखनेमें आनेवाले दोषकी निवृत्ति चाह करके, सत्शास्त्रमें वर्तन करते रहना योग्य है; और जिस कार्यके द्वारा उस भावनाकी उन्नति हो, ऐसी ज्ञान-वार्ता अथवा ज्ञान-लेख अथवा ग्रन्थका कुछ कुछ विचार करते रहना योग्य है।

ऐसा हमारा निश्चय है कि जिन पुरुषोंने इस सूत्रकृतांगकी रचनाकी है वे आत्मस्वरूप पुरुष थे। 'जीवको यह कर्मरूपी जो क्लेश प्राप्त हुआ है, वह कैसे दूर हो?' इस प्रश्नको मुमुक्षु शिष्यके हृदयमें उद्भूत करके, वह 'बोध प्राप्त करनेसे दूर हो सकता है' यह सूत्रकृतांगका प्रथम वाक्य है। फिर शिष्यको दूसरा प्रश्न होता है कि 'वह बंधन क्या है, और वह क्या जाननेसे दूर हो सकता है, तथा उस बंधनको वीरस्वामीने किस प्रकारसे कहा है?' इस प्रकारके वाक्यद्वारा यह प्रश्न रक्खा है; अर्थात् शिष्यके प्रश्नमें यह वाक्य रखकर ग्रन्थकार ऐसा कहते हैं कि हम तुम्हें आत्मज्ञ ऐसे श्रीवीरस्वामीका कहा हुआ आत्मस्वरूप कहेंगे; क्योंकि आत्मस्वरूपके लिये आत्मस्वरूप पुरुष ही अत्यंत प्रतीतिके योग्य है। इसके पश्चात् ग्रन्थकार जो उस बंधनका स्वरूप कहते हैं, वह फिर फिर विचार करने योग्य है। तत्पश्चात् इसपर विशेष विचार करनेसे ग्रन्थकारको याद आया कि यह समाधि-मार्ग आत्माके निश्चयके बिना प्राप्त नहीं होता; तथा जगत्वासी जीव अज्ञानी उपदेशकोंने बंधका अन्यथा स्वरूप जानकर—कल्याणका अन्यथा स्वरूप जानकर—अन्यथाको ही सत्य मान बैठे हैं, इस निश्चयका भंग हुए बिना—उस निश्चयमें सन्देह पड़े बिना—जो समाधि-मार्ग हमने अनुभव किया है, वह उन्हें किस प्रकारसे सुनानेसे कैसे फलीभूत होगा—ऐसा जानकर ग्रन्थकार कहते हैं कि 'ऐसे मार्गका त्याग करके कोई एक श्रमण ब्राह्मण अज्ञानपनेसे, बिना विचारे अन्यथा प्रकारसे मार्ग कहते हैं।' इस अन्यथा प्रकारके कथनके पश्चात् ग्रन्थकार निवेदन करते हैं कि कोई पंचमहाभूतका ही अस्तित्व मानते हैं, और इन्हींसे आत्माका उत्पन्न होना भी मानते हैं; जो ठीक नहीं बैठता, ऐसा कहकर ग्रन्थकार आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन करते हैं। जिस जीवने अपनी नित्यता ही नहीं जानी, तो फिर वह निर्वाणका यत्न किस प्रयोजनसे करेगा? ऐसा अभिप्राय बताकर नित्यता दिखलाई गई है। इसके पश्चात् भिन्न भिन्न प्रकारसे कल्पित अभिप्राय दिखाकर यथार्थ अभिप्रायका उपदेश करके यथार्थ मार्गके बिना छुटकारा नहीं, गर्भ दूर नहीं होता, जन्म दूर नहीं होता, मरण दूर नहीं होता, दुःख दूर नहीं होता, आधि, व्याधि और उपाधि कुछ भी दूर नहीं होती; और जैसा हम ऊपर कह आये हैं कि ऐसे सबके सब मतवादी ऐसे ही विषयोंमें निमग्न हैं कि जिससे जन्म, जरा, मरण आदिका नाश नहीं होता—इस प्रकार विशेष उपदेशरूप आग्रहपूर्वक प्रथम अध्ययन समाप्त किया है। उसके पश्चात् अनुक्रमसे इससे बढ़ते हुए परिणामसे आत्मार्थके लिये उपशम-कल्याणका उपदेश दिया है। इसे लक्षपूर्वक पढ़ना और श्रवण करना योग्य है। कुल-धर्मके लिये सूत्रकृतांगका पढ़ना और श्रवण करना निष्फल है।

३०६

बम्बई, वैशाख वदी १९४

श्रीस्तंभतीर्थवासी जिज्ञासुको श्री००० मोहमयीसे अमोहस्वरूप श्री०००० का आत्मस्मृति-भावकी स्मृतिपूर्वक यथायोग्य बाँचना।

हालमें यहाँ बाह्य प्रवृत्तिका संयोग विशेषरूपसे रहता है। ज्ञानीका देह उपार्जन किये हुए पूर्वकर्मके निवृत्त करनेके लिये और अन्यकी अनुकंपाके लिये होता है।

ऐसा हमारा निश्चय है कि जिन पुरुषोंने इस सूत्रकृतांगकी रचना की है वे आत्मस्वरूप पुरुष थे। ' जीवको यह कर्मरूपी जो क्लेश प्राप्त हुआ है, वह कैसे दूर हो? ' इस प्रश्नको मुमुक्षु शिष्यके हृदयमें उद्भूत करके, वह ' बोध प्राप्त करनेसे दूर हो सकता है ' यह सूत्रकृतांगका प्रथम वाक्य है। फिर शिष्यको दूसरा प्रश्न होता है कि ' वह बंधन क्या है, और वह क्या जाननेसे दूर हो सकता है, तथा उस बंधनको वीरस्वामीने किस प्रकारसे कहा है? ' इस प्रकारके वाक्यद्वारा यह प्रश्न रक्खा गया है; अर्थात् शिष्यके प्रश्नमें यह वाक्य रखकर ग्रन्थकार ऐसा कहते हैं कि हम तुम्हें अनन्त ऐसे श्रीवीरस्वामीका कहा हुआ आत्मस्वरूप कहेंगे; क्योंकि आत्मस्वरूपके लिये आत्मस्वरूप पुरुष ही अत्यंत प्रतीतिके योग्य है। इसके पश्चात् ग्रन्थकार जो उस बंधनका स्वरूप कहते हैं, वह फिर फिर विचार करने योग्य है। तत्पश्चात् इसपर विशेष विचार करनेसे ग्रन्थकारको याद आया कि यह कल्याण-मार्ग आत्माके निश्चयके विना प्राप्त नहीं होता; तथा जगत्वासी जीव अज्ञानी उपदेशकोंने अन्य अन्यथा स्वरूप जानकर—कल्याणका अन्यथा स्वरूप जानकर—अन्यथाको ही सत्य मान बैठे हैं, उस निश्चयका भंग हुए विना—उस निश्चयमें सन्देह पड़े विना—जो समाधि-मार्ग हमने अनुभव किया है, वह उन्हें किस प्रकारसे सुनानेसे कैसे फलीभूत होगा—ऐसा जानकर ग्रन्थकार कहते हैं कि ' इस मार्गका त्याग करके कोई एक श्रमण ब्राह्मण अज्ञानपनेसे, विना विचारे अन्यथा प्रकारसे मार्ग कहते हैं। ' इस अन्यथा प्रकारके कथनके पश्चात् ग्रन्थकार निवेदन करते हैं कि कोई पंचमहाभूतका ही अस्तित्व मानते हैं, और इन्हींसे आत्माका उत्पन्न होना भी मानते हैं; जो ठीक नहीं बैठता; ऐसा कहकर ग्रन्थकार आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन करते हैं। जिस जीवने अपनी नित्यता ही नहीं जानी, तो फिर वह निर्वाणका यत्न किस प्रयोजनसे करेगा? ऐसा अभिप्राय बताकर नित्यता दिखाई गई है। इसके पश्चात् भिन्न भिन्न प्रकारसे कल्पित अभिप्राय दिखाकर यथार्थ अभिप्रायका उपदेश करते हैं कि मार्गके विना छुटकारा नहीं, गर्भ दूर नहीं होता, जन्म दूर नहीं होता, मरण दूर नहीं होता, दुःख दूर नहीं होता, आधि, व्याधि और उपाधि कुछ भी दूर नहीं होती; और जैसा हम ऊपर कह आये हैं कि ऐसे सबके सब मतवादी ऐसे ही विषयोंमें निमग्न हैं कि जिससे जन्म, जरा, मरण आदिका नाश नहीं होता—इस प्रकार विशेष उपदेशरूप आग्रहपूर्वक प्रथम अध्ययन समाप्त किया है। इसके पश्चात् अनुक्रमसे इससे बढ़ते हुए परिणामसे आत्मार्थके लिये उपशम-कल्याणका उपदेश दिया है। इस लक्षपूर्वक पढ़ना और श्रवण करना योग्य है। कुल-धर्मके लिये सूत्रकृतांगका पढ़ना और श्रवण करना निष्फल है।

३०६

बम्बई, वैशाख वदी १९४८

श्रीस्तंभतीर्थवासी जिज्ञासुको श्री००० मोहमयीसे अमोहस्वरूप श्री०००० का अनन्त-भावकी स्मृतिपूर्वक यथायोग्य बाँचना।

हालमें यहाँ बाह्य प्रवृत्तिका संयोग विशेषरूपसे रहता है। ज्ञानीका देह उपार्जन किये हुए पूर्वकर्मके निवृत्त करनेके लिये और अन्यकी अनुकंपाके लिये होता है।

ईश्वरेच्छा शब्दको भी अर्थान्तरसे समझना योग्य है। ईश्वरेच्छारूप आलंबन, यह आश्रयवचन भी भक्तिको ही योग्य है। निराश्रय ज्ञानीको तो सभी कुछ समान है। अथवा ज्ञानी सहज-परिणामी है, सहज-स्वरूपी है; सहज-स्वभावसे स्थित है; सहज-स्वभावसे प्राप्त उदयको भोगता है; सहज स्वभावसे जो होता है सो होता है, जो नहीं होता सो नहीं होता; वह कर्त्तव्यरहित है; कर्त्तव्यभाव उसमें लय हो जाता है; इसलिए तुम्हें ऐसा जानना चाहिये कि उस ज्ञानीके स्वरूपमें प्रारब्धके उदयकी सहज-प्राप्ति अधिक योग्य है। जिसने ईश्वरेच्छाके विषयमें किसी प्रकारसे इच्छा स्थापित की है, उसे इच्छारूप कहना योग्य है। ज्ञानी इच्छारहित है या इच्छासहित, ऐसा कहना भी नहीं बनता, वह तो केवल सहज-स्वरूप है।

३०८

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १० रवि. १९४८

ईश्वर आदिके संबंधमें जो निश्चय है, उस विषयमें हालमें विचारका त्याग करके सामान्यरूपसे समयसारका पढ़ना योग्य है; अर्थात् ईश्वरके आश्रयसे हालमें धीरज रहता है, वह धीरज उसके विकल्पमें पड़ जानेसे रहना कठिन है।

निश्चयसे अकर्त्ता, और व्यवहारसे कर्त्ता इत्यादि व्याख्यान जो समयसारमें है, वह विचारने योग्य है, परन्तु यह व्याख्यान ऐसे ज्ञानीसे समझना चाहिये कि जिसके बोधसंबंधी दोष निवृत्त हो गये हैं।

जो है वह........स्वरूप, समझने तो योग्य ऐसे ज्ञानीसे है कि जिसे निर्विकल्पता प्राप्त हो गई है; उसीके आश्रयसे जीवके दोष नष्ट होकर उसकी प्राप्ति होती है, और वह समझमें आता है।

छह मास संपूर्ण हुए तबसे, जिसे परमार्थके प्रति एक भी विकल्प उत्पन्न नहीं हुआ ऐसे श्री.........को नमस्कार है।

३०९

बम्बई ज्येष्ठ वदी १० शुक्र. १९४८

जिसकी प्राप्तिके पश्चात् अनंतकालकी याचकता दूर होकर सर्व कालके लिये अयाचकता प्राप्त होती है, ऐसा जो कोई भी हो तो उसे हम तरण-तारण मानते हैं—उसीको भजो.

मोक्ष तो इस कालमें भी प्राप्त हो सकता है अथवा होता है, परन्तु उस मुक्तिका दान करनेवाले पुरुषकी प्राप्ति परम दुर्लभ है; अर्थात् मोक्ष दुर्लभ नहीं, दाता दुर्लभ है।

संसारसे अरुचि प्राप्त किये हुए तो बहुत काल हो गया है; तथापि अभी संसारका प्रसंग विश्रान्तिको प्राप्त नहीं होता, यह एक प्रकारका महान् क्लेश रहा रहता है।

हालमें तो निर्बल होकर अपनेको श्रीहरिके हाथमें सौंपे देते हैं।

हमें तो कुछ भी करनेके लिये मन नहीं होता, और लिखनेके लिये भी मन नहीं होता, कुछ कुछ वाणीसे प्रवृत्ति करते हैं, उसमें भी मन नहीं होता! केवल आत्मरूप मौन और तत्संबंधी प्रसंगमें ही मन रहता है; और संग तो इससे भिन्न प्रकारका ही रहता है।

ईश्वरेच्छा शब्दको भी अर्थान्तरसे समझना योग्य है। ईश्वरेच्छारूप आलंबन, यह आश्रयरूप है, भक्तिको ही योग्य है। निराश्रय ज्ञानीको तो सभी कुछ समान है। अथवा ज्ञानी सहज-परिणामी है, सहज-स्वरूपी है; सहज-स्वभावसे स्थित है; सहज-स्वभावसे प्राप्त उदयको भोगता है; सहज स्वभावसे जो होना है सो होता है, जो नहीं होता सो नहीं होता; वह कर्त्तव्यरहित है; कर्त्तव्यभाव उसमें [illegible] हो जाता है; इसलिए तुम्हें ऐसा जानना चाहिये कि उस ज्ञानीके स्वरूपमें प्रारब्धके उदयकी [illegible] प्राप्ति अधिक योग्य है। जिसने ईश्वरेच्छाके विषयमें किसी प्रकारसे इच्छा स्थापित की है, उसे [illegible] कहना योग्य है। ज्ञानी इच्छारहित है या इच्छासहित, ऐसा कहना भी नहीं बनता, वह तो [illegible] सहज-स्वरूप है।

३०८

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १० शनि. १९४९

ईश्वर आदिके संबंधमें जो निश्चय है, उस विषयमें हालमें विचारका त्याग करके सामान्यतासे समयसारका पढ़ना योग्य है; अर्थात् ईश्वरके आश्रयसे हालमें धीरज रहता है, वह धीरज उसके विकल्पमें पड़ जानेसे रहना कठिन है।

निश्चयसे अकर्त्ता, और व्यवहारसे कर्त्ता इत्यादि व्याख्यान जो समयसारमें है, वह विचारने योग्य है, परन्तु यह व्याख्यान ऐसे ज्ञानीसे समझना चाहिये कि जिसके बोधसंबंधी दोष निवृत्त हो गये हैं।

जो है वह........स्वरूप, समझने तो योग्य ऐसे ज्ञानीसे है कि जिसे निर्विकल्पता प्राप्त हो गई है; उसीके आश्रयसे जीवके दोष नष्ट होकर उसकी प्राप्ति होती है, और वह समझमें आता है।

छह मास संपूर्ण हुए तबसे, जिसे परमार्थके प्रति एक भी विकल्प उत्पन्न नहीं हुआ ऐसे श्री..........को नमस्कार है।

३०९

बम्बई ज्येष्ठ वदी १० गुरु. १९४९

जिसकी प्राप्तिके पश्चात् अनंतकालकी याचकता दूर होकर सर्व कालके
लिये अयाचकता प्राप्त होती है, ऐसा जो कोई भी हो
तो उसे हम तरण-तारण मानते हैं—उसीको भजो.

मोक्ष तो इस कालमें भी प्राप्त हो सकता है अथवा होता है, परन्तु उस मुक्तिका दान [illegible] पुरुषकी प्राप्ति परम दुर्लभ है, अर्थात् मोक्ष दुर्लभ नहीं, दाता दुर्लभ है।

संसारसे अरुचि प्राप्त किये हुए तो बहुत काल हो गया है; तथापि अभी [illegible] निवृत्तिको प्राप्त नहीं होता, यह एक प्रकारका महान् क्लेश रहा करता है।

हालमें तो निर्बल होकर अपनेको श्रीहरिके हाथमें सौंपे देते हैं।

हमें तो कुछ भी करनेके लिये मन नहीं होता, और लिखनेके लिये भी मन नहीं होता [illegible] कुछ वाणीसे प्रवृत्ति करते हैं, उसमें भी मन नहीं होता! केवल आत्मरूप मौन और [illegible] ही रहा करता है, और मन तो इससे भिन्न प्रकारका ही रहता है।

यहाँ आत्मभावसे समाधि है। उदय-भावके प्रति उपाधि रहती है। श्रीतीर्थंकरने तेरहवें गुणस्थानकमें रहनेवाले पुरुषका निम्नलिखित स्वरूप कहा है:—

आत्मभावके लिये जिसने सर्व संसार संवृत कर दिया है—अर्थात् जिसके सब संसारकी ओर बढ़ती हुई इच्छा निरुद्ध हो गई है, ऐसे निर्ग्रन्थको—सत्पुरुषको—तेरहवें गुणस्थानकमें समझना चाहिये।

मनसमितिसे युक्त, वचनसमितिसे युक्त, कायसमितिसे युक्त, किसी भी वस्तुका ग्रहण और त्याग करते हुए समितिसे युक्त, दीर्घ शंका आदिका त्याग करते हुए समितिसे युक्त, मनका संकोच करनेवाला, वचनका संकोच करनेवाला, कायाका संकोच करनेवाला, सर्व इन्द्रियोंके संकोचपूर्वक ब्रह्मचारी, उपयोगपूर्वक चलनेवाला, उपयोगपूर्वक खड़ा होनेवाला, उपयोगपूर्वक बैठनेवाला, उपयोगपूर्वक शयन करनेवाला, उपयोगपूर्वक बोलनेवाला, उपयोगपूर्वक आहार लेनेवाला, उपयोगपूर्वक श्वासोच्छ्वास लेनेवाला, आँखके एक निमेषमात्र भी उपयोगरहित आचरण न करनेवाला, अथवा जिसकी उपयोगरहित एक भी क्रिया नहीं है, ऐसे निर्ग्रन्थको एक समयमें क्रियाका बँध होता है, दूसरे समयमें उसका वेदन होता है, तीसरे समयमें वह कर्मरहित हो जाता है, अर्थात् चौथे समयमें उसकी क्रिया संबंधी सर्व चेष्टायें निवृत्त हो जाती हैं।

श्रीतीर्थंकर जैसेको कैसा अत्यन्त निश्चल——

(अपूर्ण)

३१२

बम्बई, आषाढ़ सुदी ९ बी. १९४८

जिनका चित्त शब्द आदि पाँच विषयोंकी प्राप्तिकी इच्छासे अत्यन्त व्याकुल रहा करता है, ऐसे जीव जहाँ विशेषरूपसे दिखाई देते हैं, ऐसा दुःषमकाल कलियुग नामका काल है। उसमें भी जिसे परमार्थके संबंधमें विह्वलता नहीं हुई, जिसके चित्तको विक्षेप नहीं हुआ, जिसे संगदोष प्राप्त नहीं हुआ, जिसका चित्त दूसरी प्रीतिके संबंधसे आवृत नहीं हुआ, जिसका विश्वास दूसरे कारणोंसे नहीं रहा—ऐसा जो कोई भी हो तो वह इस कालमें 'दूसरा श्रीराम' ही है।

फिर भी देखकर खेदपूर्वक आश्चर्य होता है कि इन गुणोंसे किसी अंशमें भी संपन्न अल्प जीव भी दृष्टिगोचर नहीं होते।

निद्राके सिवाय बाकीके समयमेंसे एकाध घंटेके सिवाय शेष समय मन, वचन और कायासे उपाधिके योगमें रहता है। कोई उपाय नहीं है, इसलिये सम्यक्परिणतिसे संवेदन करना ही योग्य है।

महान् आश्चर्यको प्राप्त करानेवाले ऐसे जल, वायु, चन्द्र, सूर्य, अग्नि आदि पदार्थोंके गुण सामान्य प्रकारसे भी जीवोंकी दृष्टिमें नहीं आते, और अपने छोटेसे घरमें अथवा और भी दूसरी किन्हीं चीजोंमें किसी प्रकारका मानो आश्चर्यकारक स्वरूप देखकर अहंभाव रहता है, यह देखकर ऐसा होता है कि लोगोंका अनादिकालका दृष्टि-भ्रम दूर नहीं हुआ। जिससे वह दूर हो ऐसे उपायमें जीवका अल्प भी ज्ञान भी नहीं रहता, और उसकी पहिचान होनेपर भी स्वेच्छासे बर्ताव करनेकी बुद्धि बारम्बार उदित होती रहती है, ऐसे बहुतसे जीवोंकी स्थिति देखकर ऐसा समझो कि यह लोक अभी अनन्तकाल रहनेवाला है।

वहाँ आत्मभावसे समाधि है। उदय-भावके प्रति उपाधि रहती है। श्रीतीर्थंकरने तेरहवें गुणस्थानकमें रहनेवाले पुरुषका निम्नलिखित स्वरूप कहा है:—

आत्मभावके लिये जिसने सर्व संसार संवृत कर दिया है—अर्थात् जिसके सब संसारी भावोंकी इच्छा निरुद्ध हो गई है, ऐसे निर्ग्रन्थको—सत्पुरुषको—तेरहवें गुणस्थानकमें समझना चाहिये।

मनसमितिसे युक्त, वचनसमितिसे युक्त, कायसमितिसे युक्त, किसी भी वस्तुका ग्रहण और त्याग करते हुए समितिसे युक्त, दीर्घ शंका आदिका त्याग करते हुए समितिसे युक्त, मनका संकोच करनेवाला, वचनका संकोच करनेवाला, कायाका संकोच करनेवाला, सर्व इन्द्रियोंके संकोचपूर्वक ब्रह्मचारी, उपयोगपूर्वक चलनेवाला, उपयोगपूर्वक खड़ा होनेवाला, उपयोगपूर्वक बैठनेवाला, उपयोगपूर्वक शयन करनेवाला, उपयोगपूर्वक बोलनेवाला, उपयोगपूर्वक आहार लेनेवाला, उपयोगपूर्वक श्वासोच्छ्वास लेनेवाला, आँखके एक निमेषमात्र भी उपयोगरहित आचरण न करनेवाला, अथवा जिसके उपयोगरहित एक भी क्रिया नहीं है, ऐसे निर्ग्रन्थको एक समयमें क्रियाका बँध होता है, दूसरे समयमें उसका वेदन होता है, तीसरे समयमें वह कर्मरहित हो जाता है, अर्थात् चौथे समयमें उसकी क्रियासंबंधी सर्व चेष्टायें निवृत्त हो जाती हैं।

श्रीतीर्थंकर जैसेको कैसा अत्यन्त निश्चल——

(अपूर्ण)

३१२

बम्बई, आषाढ सुदी ९ वी. १९४७

जिनका चित्त शब्द आदि पाँच विषयोंकी प्राप्तिकी इच्छासे अत्यन्त व्याकुल रहा करता है, ऐसे जीव जहाँ विशेषरूपसे दिखाई देते हैं, ऐसा दुःषमकाल कलियुग नामका काल है। उसमें भी जिसे परमार्थके संबंधमें विह्वलता नहीं हुई, जिसके चित्तको विक्षेप नहीं हुआ, जिसे संगदोष प्राप्त नहीं हुआ, जिसका चित्त दूसरी प्रीतिके संबंधसे आवृत नहीं हुआ, जिसका विश्वास दूसरे कारणोंमें नहीं रहा—ऐसा जो कोई भी हो तो वह इस कालमें 'दूसरा श्रीराम' ही है।

फिर भी देखकर खेदपूर्वक आश्चर्य होता है कि इन गुणोंसे किसी अंशमें भी सम्पन्न अल्प जीव भी दृष्टिगोचर नहीं होते।

निद्राके सिवाय बाकीके समयमेंसे एकाध घंटेके सिवाय शेष समय मन, वचन और कायाके उपाधिके योगमें रहता है। कोई उपाय नहीं है, इसलिये सम्यक्परिणतिसे सहन करना ही योग्य है।

महान् आश्चर्यको प्राप्त करनेवाले ऐसे जल, वायु, चन्द्र, सूर्य, अग्नि आदि पदार्थोंके गुण सामान्य प्रकारसे भी जीवोंकी दृष्टिमें नहीं आते, और अपने छोटेसे घरमें अथवा और भी दूसरी किसी चीजमें किसी प्रकारका मानो आश्चर्यकारक स्वरूप देखकर अहंभाव रहता है, यह देखकर ऐसा होता है कि लोगोंका अनादिकालका दृष्टिभ्रम दूर नहीं हुआ। जिससे वह दूर हो ऐसे उपायमें जीवका ध्यान भी नहीं रहता, और उसकी परिचान होनेपर भी स्वेच्छासे वर्ताव करनेकी बुद्धि बारम्बार उदित होती रहती है; ऐसे बहुतसे जीवोंकी स्थिति देखकर ऐसा समझो कि यह लोक अभी अनन्तकाल परिभ्रमण करनेवाला है।

३१४

बम्बई, आषाढ वदी १९४८

सम-आत्मप्रदेश स्थितिसे यथायोग्य.

पत्र मिले हैं। यहाँ उपाधि नामसे प्रारब्ध उदय है।

उपाधिमें विक्षेपरहित होकर प्रवृत्ति करना, यह बात अत्यंत कठिन है; जो रहती है वह ज्ञानि थोड़े ही समयमें परिपक्क समाधिरूप हो जाती है।

३१५

बम्बई, श्रावण सुदी १९४८

जीवको अपना स्वरूप जाने सिवाय छुटकारा नहीं; तबतक यथायोग्य समाधि नहीं। वह जाननेके लिये मुमुक्षुता और ज्ञानीकी पहिचान उत्पन्न होने योग्य है। जो ज्ञानीको यथायोग्यरूपसे पहिचानता है वह ज्ञानी हो जाता है—क्रमसे ज्ञानी हो जाता है।

आनन्दघनजीने एक स्थलपर ऐसा कहा है कि—

जिन थइ जिनने जे आराधे, ते सहि जिनवर होवे रे;
भृंगी ईलीकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे।

जिन होकर अर्थात् सांसारिकभावसंबंधी आत्मभाव त्यागकर जो कोई जिनभगवान्‌की अर्थात् कैवल्यज्ञानीकी—वीतरागकी—आराधना करता है, वह निश्चयसे जिनवर अर्थात् कैवल्यपदसे युक्त हो जाता है।

इसके लिये भ्रमरी और लटका प्रत्यक्षसे समझमें आनेवाला दृष्टांत दिया है।

यहाँ हमें भी उपाधि-योग रहता है; यद्यपि अन्य भावमें आत्मभाव उत्पन्न नहीं होता, और यही मुख्य समाधि है।

३१६

बम्बई, श्रावण सुदी ४ बुध. १९४८

आत्मप्रदेश-समस्थितिसे नमस्कार.

"जिसमें जगत् सोता है उसमें ज्ञानी जागता है—जिसमें ज्ञानी जागता है उसमें जगत् सोता है। जिसमें जगत् जागता है उसमें ज्ञानी सोता है"[१]—ऐसा श्रीकृष्ण कहते हैं।

३१७

बम्बई, श्रावण सुदी ५, १९४८

जगत् और मोक्षका मार्ग ये दोनों एक नहीं हैं। जिसे जगत्‌की इच्छा, रुचि और भावना है, उसे मोक्षकी अनिच्छा, अरुचि और अभावना होती है, ऐसा मालूम होता है।

---

१ या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ भ. गीता.

तुलना करो—जा णिसि सयलहं देहियहं, जोग्गिउ तहिं जग्गेइ।
जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु, सा णिसि मणिवि सुवेइ॥
योगीन्द्रदेव—परमात्मप्रकाश २-४६।
—अनुवादक.

इसी भावका द्योतक वाक्य आचारांगसूत्रमें भी मिलता है।

३१४

बम्बई, आषाढ वदी १९४८

सम-आत्मप्रदेश स्थितिसे यथायोग्य.

पत्र मिले हैं। यहाँ उपाधि नामसे प्रारब्ध उदय है।

उपाधिमें विक्षेपरहित होकर प्रवृत्ति करना, यह बात अत्यंत कठिन है; जो रहती है वह थोड़े ही समयमें परिपक्व समाधिरूप हो जाती है।

शांतिः

३१५

बम्बई, श्रावण सुदी १९४८

जीवको अपना स्वरूप जाने सिवाय छुटकारा नहीं; तबतक यथायोग्य समाधि नहीं। वह जाननेके लिये मुमुक्षुता और ज्ञानीकी पहिचान उत्पन्न होने योग्य है। जो ज्ञानीको यथार्थरूपसे पहिचानता है वह ज्ञानी हो जाता है—क्रमसे ज्ञानी हो जाता है।

आनन्दघनजीने एक स्थलपर ऐसा कहा है कि—

जिन थइ जिनने जे आराधे, ते सहि जिनवर होवे रे;
भृंगी ईलीकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे।

जिन होकर अर्थात् सांसारिकभावसंबंधी आत्मभाव त्यागकर जो कोई जिनभगवान्की अर्थात् कैवल्यज्ञानीकी—वीतरागकी—आराधना करता है, वह निश्चयसे जिनवर अर्थात् कैवल्यपदसे युक्त हो जाता है।

इसके लिये भ्रमरी और लटका प्रत्यक्षसे समझमें आनेवाला दृष्टांत दिया है।

यहाँ हमें भी उपाधि-योग रहता है; यद्यपि अन्य भावमें आत्मभाव उत्पन्न नहीं होता, और यही मुख्य समाधि है।

३१६

बम्बई, श्रावण सुदी ४ बुध. १९४८

आत्मप्रदेश-समस्थितिसे नमस्कार.

"जिसमें जगत् सोता है उसमें ज्ञानी जागता है—जिसमें ज्ञानी जागता है उसमें जगत् सोता है। जिसमें जगत् जागता है उसमें ज्ञानी सोता है"—ऐसा श्रीकृष्ण कहते हैं[1]।

३१७

बम्बई, श्रावण सुदी ५, १९४८

जगत् और मोक्षका मार्ग ये दोनों एक नहीं हैं। जिसे जगत्की इच्छा, रुचि और भावना है उसे मोक्षकी अनिच्छा, अरुचि और अभावना होती है, ऐसा मालूम होता है।

---

१ या निशा सर्व भूताना तस्या जागर्ति संयमी।
यस्या जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ भ. गीता.
तुलना करो—जा णिसि सयलहं देहियहं, जोग्गिउ तहिं जग्गेइ।
जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु, सा णिसि मणिवि सुवेइ॥
योगीन्द्रदेव—परमात्मप्रकाश २-४७।
—अनुवादक.

इसी भावका द्योतक वाक्य आचारांगसूत्रमें भी मिलता है।

यदि कोई दूसरा भी परमार्थसंबंधी विचार—प्रश्न—उत्पन्न हो और यदि उसे लिखकर रख सको तो लिख रखनेका विचार योग्य है।

पूर्वमें आराधना की हुई, जिसका नाम केवल उपाधि है, ऐसी समाधि उदयरूपसे रहती है।

हालमें वहाँ बाँचन, श्रवण, और मननका साधन किस प्रकार रहता है?

आनन्दघनजीके दो वाक्य याद आ रहे हैं, उन्हें लिखकर यह पत्र समाप्त करता हूँ।

> ईणविध परखी मन विसरामी, जिनवर गुण जे गावे रे,
> दीनबंधुनी महेर नजरथी, आनंदघन पद पावे हो।
> मल्लिजिन सेवक किम अवगणिये हो।

मन महिलानुं वहाला उपरे, बीजां काम करंत रे।

३२०

बम्बई, श्रावण वदी १०, १९४९

> मन महिलानुं वहाला उपरे, बीजां काम करंत रे,
> तेम श्रुतधर्मे मन दृढ धरे, ज्ञानाक्षेपकवंत रे।
> धन धन सासन श्रीजिनवरतणुं।

जिस प्रकार घरसंबंधी दूसरे समस्त कार्य करते हुए भी पतिव्रता (महिला) स्त्रीका मन [illegible] प्रिय भर्तारमें ही लीन रहता है, उसी तरह सम्यग्दृष्टि जीवका चित्त संसारमें रहकर समस्त कार्य प्रसंगमें प्रवृत्ति करते हुए भी, वह ज्ञानीसे श्रवण किये हुए उपदेश-धर्ममें ही लीन रहता है।

समस्त संसारमें स्त्री और पुरुषके स्नेहको ही प्रधान माना गया है, उसमें भी पुरुषके प्रति स्त्रीका प्रेम इससे भी किसी प्रकार विशेष प्रधान माना गया है; और इसमें भी पतिके प्रति पतिव्रता स्त्रीका स्नेह तो सर्वप्रधान गिना गया है। यह स्नेह ऐसा सर्वप्रधान क्यों माना गया है? इसके उत्तरमें [illegible] स्नेहको प्रत्यक्षरूपसे दिखानेके लिये इस दृष्टान्तको देनेवाले सिद्धान्तकार कहते हैं कि हम इस स्नेहको [illegible] प्रधान इसलिये समझते हैं कि दूसरे सब घरसंबंधी (और दूसरे भी) काम करते रहनेपर भी उस पतिव्रता महिलाका चित्त पतिमें ही लीनरूपसे, प्रेमरूपसे, स्मरणरूपसे, ध्यानरूपसे और इच्छारूपसे रहता है।

परन्तु सिद्धान्तकार कहते हैं कि इस स्नेहका कारण तो संसार प्रत्ययी है और वही तो [illegible] उत्पन्न करनेके लिये कहनेका लक्ष है; इसलिये जिसमें यह स्नेह लीनरूपसे, प्रेमरूपसे, [illegible] [illegible] और इच्छारूपसे करना योग्य है—जिसमें यह स्नेह आत्मा-परिणमन [illegible] प्राप्त करता है—उस उपदेश-धर्मको कहते हैं।

उस स्नेहको पतिव्रतारूप देकर मुमुक्षुको [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] करनेका [illegible] है; और [illegible] [illegible] उसके लिये उसी प्रकारसे आचरण करता है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] होनेमें सिद्ध हो जाता है, ऐसा हम मानते हैं।

---

* [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] [illegible] है।

३१८ बम्बई, श्रावण सुदी १० बुध. १९४८

(१)

ॐ नमः

निष्काम यथायोग्य.

जिन उपार्जित कर्मोंको भोगते हुए भविष्यमें बहुत समय व्यतीत होगा, वे कर्म यदि तीव्रतासे उदयमें आकर क्षय होते हों तो वैसा होने देना योग्य है, ऐसा बहुत वर्षोंका संकल्प है।

जिससे व्यावहारिक प्रसंगसंबंधी चारों तरफसे चिन्ता उत्पन्न हो, ऐसे कारणोंको देखकर भी निर्विकल्पतासे उदासीन रहना ही योग्य है। मार्ग इसी तरह है।

आपको हम कुछ विशेष नहीं लिख सकते, इसके लिये क्षमा माँगते हैं।

नागरसुख पामर नव जाणे, वल्लभसुख न कुमारी रे,
अनुभवविण तेम ध्यानतणुं सुख, कोण जाणे नर नारी रे[1]।

मन महिलानुं वहाला उपरे, बीजां काम करंत रे।

(२)

'सत्' एक प्रदेशमात्र भी दूर नहीं है, परन्तु उसके प्राप्त करनेमें अनंत अंतराय रहा करते हैं और एक एक अंतराय लोकके बराबर है। जीवका कर्तव्य यही है कि उस सत्का अप्रमत्ततासे श्रवण, मनन, और निदिध्यासन करनेका अखंड निश्चय रक्खे।

(३)

हे राम! जिस अवसरपर जो प्राप्त हो जाय उसीमें संतोषपूर्वक रहना, यह सत्पुरुषोंका कहा हुआ सनातन धर्म है—ऐसा वसिष्ठ कहते थे।

---

३१९ बम्बई, श्रावण सुदी १० बुध. १९४८

मन महिलानुं वहाला उपरे, बीजां काम करंत रे,
तेम श्रुतधर्मे मन दृढ धरे ज्ञानाक्षेपकवंत रे।

जिस पत्रमें मनकी व्याकुलताके विषयमें लिखा है, जिस पत्रमें पारिजातके पत्तेका दृष्टान्त लिखा है, जिस पत्रमें "यम नियम संजम आप कियो" इत्यादि काव्य आदिके विषयमें लिखा है, जिस पत्रमें मन आदिके निरोध करनेसे शरीर आदि व्यथा उत्पन्न होनेके विषयमें सूचना की है, और इसके बादका एक सामान्य पत्र—ये सब पत्र मिले हैं। इन विषयमें मुख्य भक्तिसंबंधी इच्छा और वृत्तिका प्रत्यक्ष होना, इस बातके संबंधमें प्रधान वाक्य बाँचा है; वह लक्षमें है।

इस प्रश्नके सिवाय बाकीके पत्रोंका उत्तर लिखनेका अनुक्रमसे विचार होते हुए भी हालमें हम उसे समागममें पूछना ही योग्य समझते हैं, अर्थात् यह बता देना हालमें योग्य मालूम होता है।

---

१ जिस प्रकार नागरिक लोगोंके सुखको पामर लोग नहीं जान सकते, और कुमारी पतिजन्य सुखको नहीं जान सकती, इसी तरह अनुभवके बिना कोई भी नर या नारी ध्यानका सुख नहीं जान सकते।

३२१

बम्बई, श्रावण वदी १९४८

ॐ

तेम श्रुतधर्मे मन दृढ धरे, ज्ञानाक्षेपकवंत रे.

जिसका विचार-ज्ञान विक्षेपरहित हो गया है, ऐसा 'ज्ञानाक्षेपकवंत'—आत्म-कल्याणकी इच्छावाला पुरुष ज्ञानीके मुखसे श्रवण किये हुए आत्म-कल्याणरूप धर्ममें निश्चल परिणामसे मनको धारण करता है—यह ऊपरके पदोंका सामान्य भाव है।

उस निश्चल परिणामका स्वरूप वहाँ कैसे घटता है, इस बातको पहले ही बता दिया है। यह इसी तरह घटता है कि जिस तरह घरके दूसरे कामोंमें प्रवृत्ति करते हुए भी पतिव्रता स्त्रीका मन अपने प्रिय स्वामीमें ही लीन रहता है। इस पदका विशेष अर्थ पहिले लिखा है, उसे स्मरण करके सिद्धांतरूप ऊपरके पदके साथ उसका अनुसंधान करना योग्य है, क्योंकि "मन महिलानुं वहाला उपरे" यह पद जो है वह केवल दृष्टांतरूप ही है।

अत्यन्त समर्थ सिद्धांतका प्रतिपादन करते हुए जीवके परिणाममें उस सिद्धांतके ठीक ठीक बैठ जानेके लिये समर्थ दृष्टांत ही देना योग्य है, ऐसा मानकर ग्रंथकर्त्ता इस स्थलपर जगत्में—संसारमें—प्रायः मुख्य, पुरुषके प्रति क्लेश आदि भावरहित जो स्त्रीका काम्य-प्रेम है, उसी प्रेमको सत्पुरुषसे श्रवण किये हुए धर्ममें परिणमित करनेके लिये कहते हैं। उस सत्पुरुषद्वारा श्रवण किये हुए धर्ममें, अन्य सब पदार्थोंके प्रति जो प्रेम है, उससे उदासीन होकर एक लयसे, एक स्मरणसे, एक श्रेणीसे, एक उपयोगसे, और एक परिणामसे, सर्व वृत्तिमें रहनेवाले काम्य-प्रेमको हटाकर, श्रुतधर्मरूप करनेका उपदेश किया गया है। इस काम्य-प्रेमसे भी अनंत गुणविशिष्ट प्रेम श्रुतके प्रति करना योग्य है, फिर भी दृष्टांत इसकी सीमा नहीं बना सका। इस कारण जहाँतक दृष्टांत पहुँच सका, वहींतकका प्रेम कहा गया है, यहाँ दृष्टांत सिद्धांतकी चरम सीमातक नहीं पहुँच सका है।

अनादि कालसे जीवको संसाररूप अनंत परिणति प्राप्त होनेके कारण उसे असंसाररूप किसी भी अंशका ज्ञान नहीं है। बहुतसे कारणोंका संयोग मिलनेपर उस अंश-दृष्टिके प्रगट होनेका योग यदि उसे मिला भी तो इस विषम संसार-परिणतिके कारण उसे यह अवकाश नहीं मिलता। जबतक यह अवकाश नहीं मिलता तबतक जीवको निजकी प्राप्तिका भान कहना योग्य नहीं; और जबतक इसकी प्राप्ति नहीं तबतक जीवको कोई सुख कहना योग्य नहीं है—उसे दुःखी कहना ही योग्य है। ऐसा देखकर जिन्हें अत्यंत अनंत करुणा प्राप्त हुई है, ऐसा आप्त पुरुष, दुःख दूर करनेके जिस मार्गको उसने जाना है, वह उस मार्गको कहता था, कहता है, और भविष्यमें कहेगा। वह मार्ग यही है कि जिसमें जीवका स्वाभाविक रूप प्रगट हुआ है—जिसमें जीवका स्वाभाविक सुख प्रगट हुआ है—ऐसा ज्ञानी पुरुष ही उस अज्ञान-परिणति और इससे प्राप्त जो दुःख-परिणाम है, उससे आत्माको स्वाभाविकरूपसे समझा सकनेके योग्य है—कह सकनेके योग्य है—और यह वचन आत्माके स्वाभाविक ज्ञानपूर्वक ही होता है, इसलिये वह उस दुःखको दूर कर सकनेमें समर्थ है। इसलिये यदि वह वचन किसी भी प्रकारसे जीवको प्राप्त हो, उसे अपूर्वभावरूप जानकर उसमें परम प्रेम स्फुरित हो, तो तत्काल ही अथवा अनुक्रमसे आत्माका स्वाभाविक रूप प्रगट हो सकता है।

३२३

बम्बई, श्रावण वदी ११ गुरु. १९४८

शुभेच्छा संपन्न भाई ०००० स्तंभतीर्थ.

जिसकी आत्मस्वरूपमें स्थिति है ऐसा जो....उसका निष्काम स्मरणपूर्वक यथायोग्य वाँचना। इस तरफसे "आजकल क्षायिक समकित नहीं होता" इत्यादि संबंधी व्याख्यानकी चर्चाविषयक तुम्हारा लिखा हुआ पत्र प्राप्त हुआ है। जो जीव उस उस प्रकारसे प्रतिपादन करते हैं—उपदेश करते हैं, और इस संबंधमें जीवोंको विशेषरूपसे प्रेरणा करते हैं, वे जीव यदि उतनी प्रेरणा—गवेषणा—जीवके कल्याणके विषयमें करेंगे तो इस प्रश्नके समाधान होनेका उन्हें कभी न कभी अवश्य अवसर मिलेगा। उन जीवोंके प्रति दोष-दृष्टि करना योग्य नहीं है, केवल निष्काम करुणासे ही उन जीवोंको देखना योग्य है। इस संबंधमें किसी प्रकारका चित्तमें खेद लाना योग्य नहीं, उस उस प्रसंगपर जीवको उनके प्रति क्रोध आदि करना योग्य नहीं। कदाचित् उन जीवोंको उपदेश देकर समझानेकी तुम्हें चिन्ता होती हो तो भी उसके लिये तुम वर्तमान दशाको देखते हुए तो लाचार ही हो, इसलिये अनुकंपा-बुद्धि और समता-बुद्धि पूर्वक उन जीवोंके प्रति सरल परिणामसे देखना, तथा ऐसी ही इच्छा करना चाहिये; और यही परमार्थ मार्ग है, ऐसा निश्चय रखना योग्य है।

हालमें उन्हें जो कर्मसंबंधी आवरण है, उसे भंग करनेके लिये यदि उन्हें स्वयं ही चिन्ता उत्पन्न हो तो फिर तुमसे अथवा तुम जैसे दूसरे सत्संगीके मुखसे, उन्हें कुछ भी बारम्बार श्रवण करनेकी उल्लास-वृत्ति उत्पन्न हो; तथा किसी आत्मस्वरूप सत्पुरुषके संयोगसे मार्गकी प्राप्ति हो; परन्तु ऐसी चिन्ता उत्पन्न होनेका यदि उनके पास साधन भी हो तो हालमें वे ऐसी चेष्टापूर्वक आचरण न करें। और जबतक उस उस प्रकारकी जीवकी चेष्टा रहती है तबतक तीर्थंकर जैसे ज्ञानी-पुरुषका वाक्य भी उनके लिये निष्फल होता है; तो फिर तुम लोगोंके वाक्य निष्फल हों और उन्हें यह क्लेशरूप मालूम पड़े, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं। ऐसा समझकर ऊपर प्रदर्शित की हुई अंतरंग भावनासे उनके प्रति बर्ताव करना, और किसी प्रकारसे भी जिससे उन्हें तुम्हारेसे क्लेशका कम कारण उपस्थित हो ऐसा विचार करना, यह मार्गमें योग्य गिना गया है।

फिर, एक दूसरा अनुरोध कर देना भी स्पष्टरूपसे लिखने योग्य मालूम होता है, इसलिये लिखे देते हैं। वह यह है कि हमने पहिले तुम लोगोंसे कहा था कि जैसे बने वैसे हमारे संबंधमें दूसरे जीवोंसे कम ही बात करना। इस अनुक्रममें चलनेका लक्ष यदि विस्मृत हो गया हो तो अब फिरसे स्मरण रखना। हमारे संबंधमें और हमारेद्वारा कहे गये अथवा लिखे गये वाक्योंके संबंधमें ऐसा करना योग्य है; और हालमें इसके कारणोंको तुम्हें स्पष्ट बता देना योग्य नहीं। परन्तु यदि यह लक्ष अनुक्रमसे अनुसरण करनेमें विस्मृत होता है, तो यह दूसरे जीवोंको क्लेश आदिका कारण होता है, यह भी अब "क्षायिककी चर्चा" इत्यादिके संबंधसे तुम्हारे अनुभवमें आ गया है। इससे परिणाम यह होता है कि जो कारण जीवको प्राप्त होनेसे कल्याणके कारण हों, उन जीवोंको उन कारणोंकी प्राप्ति इस भवमें होती हुई रुक जाती है; क्योंकि वे तो अपनी अज्ञानतासे, जिसकी पहिचान नहीं हुई ऐसे सत्पुरुषके संबंधमें तुम लोगोंसे जानी हुई बातसे, उस सत्पुरुषके प्रति विमुख होते हैं, उसके विषयमें अपवादके

पढ़ा है, और सुना भी है; और यह वाक्य मिथ्या है अथवा मृषा है, ऐसा हमारा अभिप्राय नहीं है, तथा वह वाक्य जिस प्रकारसे लिखा है, वह एकांत अभिप्रायसे ही लिखा है, ऐसा भी हमें नहीं लगता। कदाचित् ऐसा समझो कि वह वाक्य एकांतरूपसे ऐसा ही हो तो भी किसी भी प्रकारसे व्याकुल होने योग्य नहीं। कारण कि यदि इन सब व्याख्याओंको सत्पुरुषके आशयपूर्वक नहीं जाना तो फिर वे व्याख्यायें ही सफल नहीं हैं। कदाचित् समझो कि इसके स्थानमें, जिनागममें लिखा हो कि चौथे कालकी तरह पाँचवें कालमें भी बहुतसे जीवोंको मोक्ष होगा, तो इस बातका श्रवण करना कोई दूसरे और हमारे लिये कल्याणकारी नहीं हो सकता, अथवा मोक्ष-प्राप्तिका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि जिस दशामें वह मोक्ष-प्राप्ति कही है, उसी दशाकी प्राप्ति ही इष्ट है, उपयोगी है, और कल्याणकारी है। श्रवण करना तो एक बात मात्र है, इसी तरह इससे प्रतिकूल वाक्य भी मात्र एक बात ही है। वे दोनों ही बातें लिखी हों, अथवा कोई एक ही लिखी हो, अथवा दोनोंमेंसे एक भी बात न लिखकर कोई भी व्यवस्था न बताई गई हो, तो भी वह बंध अथवा मोक्षका कारण नहीं है।

केवल बंध दशा ही बंध है, और मोक्ष दशा ही मोक्ष है, क्षायिक दशा ही क्षायिक है, अन्य दशा ही अन्य है, जो श्रवण है वह श्रवण है, जो मनन है वह मनन है, जो परिणाम है वह परिणाम है, जो प्राप्ति है वह प्राप्ति है—ऐसा सत्पुरुषका निश्चय है। जो बंध है वह मोक्ष नहीं है, जो मोक्ष है वह बंध नहीं है, जो जो है वह वही है, जो जिस स्थितिमें है वह उसी स्थितिमें है। जिस प्रकार बंध-बुद्धि दूर हुए बिना मोक्ष—जीवन्मुक्ति—मानना कार्यकारी नहीं है, उसी तरह अक्षायिक दशामें क्षायिक मानना भी कार्यकारी नहीं है। केवल माननेका फल नहीं, फल केवल दशाका ही है।

जब यह बात है तो फिर अब अपनी आत्मा हालमें कौनसी दशामें है, और उस क्षायिक समकिती जीवकी दशाका विचार करने योग्य है या नहीं; अथवा उससे उतरती हुई अथवा उससे चढ़ती हुई दशाके विचारको जीव यथार्थरूपसे कर सकता है अथवा नहीं? इसीका विचार करना जीवको श्रेयस्कर है। परन्तु अनंतकाल बीत गया, फिर भी जीवने ऐसा विचार नहीं किया। उसे ऐसा विचार करना योग्य है, ऐसा उसे भासित भी नहीं हुआ; और यह जीव अनंतबार निष्फलतासे सिद्ध-पदतकका उपदेश कर चुका है; ऊपर कहे हुए उस क्रमको उसने बिना विचारे ही किया है—विचारपूर्वक यथार्थ विचारसे नहीं किया। जिस प्रकार जीवने पूर्वमें यथार्थ विचारके बिना ही ऐसा किया है, उसी तरह यह उस दशा (यथार्थ विचारदशा) के बिना वर्तमानमें ऐसा करता है, और जबतक जीवको अपने ज्ञानके बलका भान नहीं होगा, तबतक वह भविष्यमें भी इसी तरह प्रवृत्ति करता रहेगा। जीवके किसी भी महापुण्यके योगका त्याग करनेसे, तथा वैसे मिथ्या उपदेशपर चलनेसे जीवका बोध-बल आवरणको प्राप्त हो गया है, ऐसा जानकर इस विषयमें सावधान होकर यदि वह निरावरण होनेका विचार करेगा तो वह वैसा उपदेश करनेसे, दूसरेको प्रेरणा करनेसे और आग्रहपूर्वक बोलनेसे रुक जायगा। अधिक क्या कहें? एक अक्षर बोलते हुए भी अतिशय अतिशय प्रेरणासे भी वाणी मौनको ही प्राप्त होगी। और उस मौनको प्राप्त होनेके पहिले ही जीवसे एक अक्षरका सत्य बोला जाना भी अशक्य है; यह बात किसी भी प्रकारसे तीनों कालमें संदेह करने योग्य नहीं है।

दूसरी-दूसरी चेष्टायें कल्पित कर लेते हैं, और फिरसे ऐसा संयोग मिलनेपर वैसी विमुखता प्रायः करके और बलवान हो जाती है। ऐसा न होने देनेके लिये, और इस भवमें यदि उन्हें ऐसा संयोग अजानपनेसे मिल भी जाय तो वे कदाचित् श्रेयको प्राप्त कर सकेंगे, ऐसी धारणा रखकर, अंतरंगमें ऐसे सत्पुरुषको प्रगट रखकर बाह्यरूपसे गुप्त रखना ही अधिक योग्य है। यह गुप्तपना कुछ माया-कपट नहीं है, क्योंकि इस तरह बर्ताव करना माया-कपटका हेतु नहीं है; वह भविष्य-कल्याणका ही हेतु है। यदि ऐसा हो तो वह माया-कपट नहीं होता, ऐसा मानते हैं।

जिसे दर्शनमोहनीय उदयमें बलवानरूपसे है, ऐसे जीवको अपनेद्वारा किसी प्रकार सत्पुरुष आदिके विषयमें अवज्ञापूर्वक बोलनेका अवसर प्राप्त न हो, इतना उपयोग रखकर चलना, यह उसका और उपयोग रखनेवाले दोनोंके कल्याणका कारण है।

ज्ञानी पुरुषके विषयमें अवज्ञापूर्वक बोलना, तथा इस प्रकारके प्रसंगमें उत्साही होना, यह जीवके अनंत संसारके बढ़नेका कारण है, ऐसा तीर्थंकर कहते हैं। उस पुरुषके गुणगान करना, उस प्रसंगमें उत्साही होना, और उसकी आज्ञामें सरल परिणामसे परम उपयोग-दृष्टिपूर्वक रहना, इसे तीर्थंकर अनंत संसारका नाश करनेवाला कहते हैं; और ये वाक्य जिनागममें हैं। बहुतसे जीव इन वाक्योंको श्रवण करते होंगे, फिर भी जिन्होंने प्रथम वाक्यको निष्फल और दूसरे वाक्यको सफल किया हो, ऐसे जीव तो क्वचित् ही देखनेमें आते हैं। जीवने अनंतबार प्रथम वाक्यको सफल और दूसरे वाक्यको निष्फल किया है। उस तरहके परिणाममें आनेमें उसे बिलकुल भी समय नहीं लगता, क्योंकि अनादि कालसे उसकी आत्मामें मोह नामकी मदिरा व्याप्त हो रही है; इसलिये बारम्बार विचारकर वैसे वैसे प्रसंगमें यथाशक्ति, यथाबल और वीर्यपूर्वक ऊपर कहे अनुसार आचरण करना योग्य है।

कदाचित् ऐसा मान लो कि 'इस कालमें क्षायिक समकित नहीं होता,' ऐसा जिन आगममें स्पष्ट लिखा है। अब उस जीवको विचार करना योग्य है कि 'क्षायिक समकितका क्या अर्थ होता है?' जिसके एक नवकारमंत्र जितना भी व्रत-प्रत्याख्यान नहीं होता, फिर भी वह जीव अधिकसे अधिक तीन भवमें और नहीं तो उसी भवमें परम पदको प्राप्त करता है, ऐसी महान् आश्चर्य करनेवाली उस समकितकी व्याख्या है; फिर अब ऐसी वह कौनसी दशा समझनी चाहिये कि जिसे क्षायिक समकित कहा जाय? 'यदि तीर्थंकर भगवान्की दृढ़ श्रद्धा' का नाम क्षायक समकित मानें तो उस श्रद्धाको कैसी समझनी चाहिये? और जो श्रद्धा हम समझते हैं वह तो निश्चयसे इस कालमें होती ही नहीं। यदि ऐसा मालूम नहीं होता कि अमुक दशा अथवा अमुक श्रद्धाको क्षायिक समकित कहा है, तो फिर हम कहते हैं कि जिनागमके शब्दोंका केवल यही अर्थ हुआ कि क्षायिक समकित होता ही नहीं। अब यदि ऐसा समझो कि ये शब्द किसी दूसरे आशयसे कहे गये हैं, अथवा किसी पीछेके कालके विसर्जन दोषसे लिख दिये गये हैं, तो जिन जीवने इस विषयमें आग्रहपूर्वक प्रतिपादन किया हो, वह जीव कैसे दोषको प्राप्त होगा, यह सखेद करुणापूर्वक विचारना योग्य है।

हालमें जिन्हें जिनसूत्रोंके नामसे कहा जाता है, उन सूत्रोंमें 'क्षायिक समकित नहीं है' ऐसा स्पष्ट नहीं लिखा है, तथा परम्परागत और दूसरे भी बहुतसे ग्रन्थोंमें यह बात चली आती है, ऐसा हमने

परमार्थकी प्राप्ति होती है ऐसे पुरुषोंका संयोग दुर्लभ ही है; परन्तु ऐसे कालमें तो वह अत्यंत ही दुर्लभ हो रहा है। जीवोंकी परमार्थवृत्ति क्षीण होती जा रही है, इस कारण उसके प्रति ज्ञानी पुरुषोंके उपदेशका बल कम होता जाता है, और इससे परम्परासे वह उपदेश भी क्षीण होता जा रहा है— अर्थात् अब क्रम क्रमसे परमार्थ-मार्गके व्यवच्छेद होनेका काल आ रहा है।

इस कालमें, और उसमें भी आजकल लगभग सौ वर्षोंसे मनुष्योंकी परमार्थवृत्ति बहुत क्षीण हो गई है, और यह बात प्रत्यक्ष है। सहजानंदस्वामीके समयतक मनुष्योंमें जो सरल वृत्ति थी, उसमें और आजकी सरल वृत्तिमें महान् अन्तर हो गया है। उस समयतक मनुष्योंकी वृत्तिमें कुछ कुछ आज्ञाकारित्व, परमार्थकी इच्छा, और तत्संबंधी निश्चयमें दृढ़ता–ये बातें जैसी थीं वैसी आज नहीं रही हैं; इस कारण आज तो बहुत ही क्षीणता आ गई है। यद्यपि अभी इस कालमें परमार्थवृत्तिका सर्वथा व्यवच्छेद नहीं हुआ, तथा भूमि भी सत्पुरुषोंसे रहित नहीं हुई है, तो भी यह काल उस कालकी अपेक्षा अधिक विषम है—बहुत विषम है—ऐसा मानते हैं।

इस प्रकारका कालका स्वरूप देखकर हृदयमें अंखडरूपसे महान् अनुकंपा रहा करती है। किसी भी प्रकारसे जीवोंकी अत्यंत दुःखकी निवृत्तिका उपाय जो सर्वोत्तम परमार्थ, यदि उस परमार्थसंबंधी वृत्ति कुछ बढ़ती जाती हो, तो ही उसे सत्पुरुषकी पहिचान होती है, नहीं तो नहीं होती। वह वृत्ति फिरसे जीवित हो, और किन्हीं भी जीवोंको—बहुतसे जीवोंको—परमार्थसंबंधी मार्ग प्राप्त हो, ऐसी अनुकंपा अखंडरूपसे रहा करती है; तो भी ऐसा होना हम बहुत दुर्लभ मानते हैं, और उसके कारण भी ऊपर बता दिये हैं।

जिस पुरुषका चौथे कालमें मिलना दुर्लभ था, ऐसे पुरुषका संयोग इस कालमें हुआ है, परन्तु जीवोंकी परमार्थसंबंधी चिंता अत्यंत क्षीण हो गयी है; अर्थात् उस पुरुषकी पहिचान होना अत्यंत कठिन है। उसमें भी गृहवास आदिके प्रसंगमें उस पुरुषकी स्थिति देखकर तो जीवको प्रतीति आना और भी दुर्लभ है—अत्यंत ही दुर्लभ है; और यदि कदाचित् प्रतीति आ भी गई तो हालमें जो उसका प्रारब्धका क्रम रहता है, उसे देखकर उसका निश्चय रहना दुर्लभ है; और यदि कदाचित् उसका निश्चय भी हो जाय तो भी उसका सत्संग रहना दुर्लभ है; और परमार्थका जो मुख्य कारण है वह तो यही है; उसे ऐसी स्थितिमें देखकर ऊपर बताये हुए कारणोंको अधिक बलवानरूपसे देखते हैं, और यह बात देखकर फिर फिरसे अनुकंपा उत्पन्न हो आती है।

ईश्वरेच्छासे जिस किसी जीवका भी कल्याण वर्तमानमें होना होगा, वह तो उसी तरह होगा, और हम इस विषयमें ऐसा भी मानते हैं कि वह दूसरेसे नहीं परन्तु हमसे ही होगा। परन्तु हम ऐसा मानते हैं कि जैसी हमारी अनुकंपायुक्त इच्छा है, जिससे जीवोंको वैसा परमार्थ-विचार और परमार्थ-प्राप्ति हो सके, वैसा संयोग हमें किसी प्रकारसे कम ही हुआ है। हम ऐसा मानते हैं कि यदि यह देह गंगा-तट आदिके प्रदेशमें अथवा गुजरात देशमें उत्पन्न हुई होती—वहाँ वृद्धिगत हुई होती तो यह एक बलवान कारण होता। तथा हम ऐसा मानते हैं कि यदि प्रारब्धमें गृहवास बाकी न होता और ब्रह्मचर्य या वनवास होता तो यह भी एक दूसरा बलवान कारण होता। कदाचित् गृहवास बाकी होता और उसमें

तीर्थंकरने भी ऐसा ही कहा है; और यह हालमें उसके आगममें भी है, ऐसा ज्ञात है। कदाचित् यदि ऐसे कहा हुआ अर्थ आगममें नहीं भी हो, तो भी जो शब्द ऊपर कहे हैं वे आगम ही हैं—जिनागम ही हैं। ये शब्द राग, द्वेष और अज्ञान इन तीनों कारणोंसे रहित, प्रगटरूपसे लिखे गये हैं, इसलिये सेवनीय हैं।

थोड़ेसे वाक्योंमें ही लिख डालनेके लिये विचार किया हुआ यह पत्र विस्तृत हो गया है, और यद्यपि यह बहुत ही संक्षेपमें लिखा है, फिर भी बहुत प्रकारसे अपूर्ण स्थितिसे यह पत्र अब समाप्त करना पड़ता है।

तुम्हें तथा तुम्हारे जैसे दूसरे जिन जिन भाईयोंका तुम्हें समागम है उन्हें, उस प्रकारके प्रसंगमें इस पत्रके प्रथम भागको विशेषरूपसे स्मरणमें रखना योग्य है; और बाकीका दूसरा भाग तुम्हें और दूसरे अन्य मुमुक्षु जीवोंको बारम्बार विचारना योग्य है। यहाँ समाधि है।　　" प्रारब्धदेही. "

३२४　बम्बई, श्रावण वदी १४ रवि. १९४८

ॐ

स्वस्ति श्रीसायला ग्राम शुभस्थाने स्थित, परमार्थके अखंड निश्चयी, निष्कामस्वरूप (........) के बारम्बार स्मरणरूप, मुमुक्षु पुरुषोंसे अनन्य प्रेमसे सेवन करने योग्य, परम सरल, और शान्तमूर्ति ऐसे श्री " सुभाग्य " के प्रति श्री " मोहमयी " स्थानसे निष्कामस्वरूप ऐसे स्मरणरूप सत्पुरुषका विनयपूर्वक यथायोग्य पहुँचे।

जिसमें प्रेम-भक्ति प्रधान निष्कामरूपसे लिखी है ऐसे तुम्हारे लिखे हुए बहुतसे पत्र अनुक्रमसे प्राप्त हुए हैं। आत्माकार-स्थिति और उपाधि-योगरूप कारणसे केवल इन पत्रोंकी पहुँच मात्र लिख सका हूँ।

यहाँ भाई रेवाशंकरकी शारीरिक स्थिति यथायोग्य न रहनेसे, और व्यवहारसंबंधी काम-काजके बढ़ जानेसे उपाधि-योग भी विशेष रहना आया है, और रहा करता है; इस कारण इस चौमासेमें बाहर निकलना अशक्य हो गया है; और इसके कारण तुम्हारा निष्काम समागम प्राप्त नहीं हो सका, और फिर दिवालीके पहिले उस प्रकारका संयोग प्राप्त होना संभव भी नहीं है।

तुम्हारे लिखे हुए बहुतसे पत्रोंमें जीव आदि स्वभाव और परभावके बहुतसे प्रश्न लिखे हुए आते थे, इसी कारणसे उनका भी प्रत्युत्तर नहीं लिखा जा सका। इस बीचमें दूसरे भी जिज्ञासुओंके बहुतसे पत्र मिले हैं, प्रायः करके इसी कारणसे ही उनका भी उत्तर नहीं लिखा जा सका।

हालमें जो उपाधि-योग रहता है, यदि उस योगके प्रतिबंधके त्यागनेका विचार करें तो त्याग हो सकता है; तथापि उस उपाधि योगके सहन करनेसे जिस प्रारब्धकी निवृत्ति होती है, उसे उसी प्रकारसे सहन करनेके सिवाय दूसरी इच्छा नहीं होती; इसलिये इसी योगसे उस प्रारब्धको निवृत्त होने देना योग्य है, ऐसा समझते हैं, और ऐसी ही स्थिति है।

शास्त्रोंमे इस कालको क्रम क्रमसे क्षीण होनेके योग्य कहा है; और इस प्रकारसे क्रम क्रमसे हुआ भी करता है। मुख्यरूपसे यह क्षीणता परमार्थसंबंधी क्षीणता ही कही है। जिस कालमें अत्यन्त कठिनतासे परमार्थकी प्राप्ति हो, उस कालको दुःषम काल कहना चाहिये। यद्यपि जिससे सर्वकालमें

है कि तीनों कालमें हमारे संबंधमें यह मालूम होना कल्पित ही समझना चाहिये, अर्थात् संग-दृश वृत्तिसे हमें निरन्तर उदास भाव ही रहता है। ये वाक्य यह समझकर नहीं लिखे कि तुम्हारा हमारे प्रति कुछ कम निश्चय है, अथवा यदि होगा तो वह निवृत्त हो जायगा; इन्हें किसी दूसरे ही हेतुसे लिखा है।

जगत्‌में किसी भी प्रकारसे जिसकी किसी भी जीवके प्रति भेद-दृष्टि नहीं, ऐसे श्री... निरंजन आत्मस्वरूपको नमस्कार पहुँचे।

“ उदासीन ” शब्दका अर्थ सम भाव है।

३२५

बम्बई, श्रावण १९४८

मुमुक्षुजन यदि सत्संगमें हों तो वे निरन्तर उल्लासित परिणाममें रहकर अल्प कालमें ही आत्म-साधन कर सकते हैं, यह बात यथार्थ है। तथा सत्संगके अभावमें सम परिणति रहना कठिन है; फिर भी ऐसे करनेमें ही आत्म-साधन रहता है, इसलिये चाहे जैसे मिथ्या निमित्तमें भी जिस प्रकारसे सम परिणति आ सके, उसी प्रकारसे प्रवृत्ति करना योग्य है। यदि ज्ञानीके आश्रयमें ही निरन्तर वास हो तो थोड़े ही साधनसे भी सम परिणति आती है, इसमें तो कोई भी विवाद नहीं। परन्तु जब पूर्वकर्म-बंधनसे अनुकूल न आनेवाले निमित्तमें रहना होता है, उस समय चाहे किसी भी तरह, जिससे उनके प्रति द्वेषरहित परिणाम रहे, ऐसे प्रवृत्ति करना ही हमारी वृत्ति है, और यही शिक्षा भी है।

वे जिस तरह सत्पुरुषके दोषका उच्चारण भी न कर सकें, उस तरह यदि तुमसे प्रवृत्ति करना बन सकता हो तो कष्ट सहकर भी उस तरह आचरण करना योग्य है। हालमें हमारी तुम्हें ऐसी कोई शिक्षा नहीं है कि जिससे तुम्हें उनसे बहुत तरहसे प्रतिकूल चलना पड़े। यदि किसी बातमें वे तुम्हें बहुत प्रतिकूल समझते हों तो वह जीवका अनादिका अभ्यास है, ऐसा जानकर धीरज रखना ही अधिक योग्य है।

जिसके गुणगान करनेसे जीव भव-मुक्त हो जाता है, उसके गुणगानसे प्रतिकूल होकर दोषभावसे प्रवृत्ति करना, यह जीवको महा दुःखका देनेवाला है, ऐसा मानते हैं; और जब ऐसे प्रसंगमें जीव आकर फँस जाते हैं तो हम समझते हैं कि जीवको कोई ऐसा ही पूर्वकर्मका बंध होना चाहिये। हमें तो इस विषयमें द्वेषरहित परिणाम ही रहता है; और उनके प्रति करुणा आती है। तुम भी इस गुणका अनुकरण करो; और जिस तरह उन लोगोंको गुणगान करनेके योग्य सत्पुरुषके अवर्णवाद बोलनेका अवसर उपस्थित न हो, ऐसा योग्य मार्ग ग्रहण करो, यही अनुरोध है।

हम स्वयं उपाधि-प्रसंगमें रहते आते हैं और रह रहे हैं, इसके ऊपरसे हम स्पष्ट जानते हैं कि उस प्रसंगमें सम्पूर्ण आत्मभावसे प्रवृत्ति करना दुर्लभ है; इसलिये निरुपाधिपूर्ण द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका सेवन करना आवश्यक है। ऐसा जानते हुए भी हालमें तो हम ऐसा ही कहते हैं कि जिससे उस उपाधिका वहन करते हुए निरुपाधिका विसर्जन न हो जाय, ऐसा ही करते रहो।

जब हम जैसे भी असमाधिका सेवन करते हैं, तो फिर यह तुम्हें कैसे अनुकूल हो सकता है, यह जानते हैं; परन्तु हालमें तो हम पूर्वकर्मको ही भज रहे हैं, इसलिये तुम्हें दूसरा मार्ग हम कैसे बतावें, यह तुम ही लिखो।

निरंतर हमारे सत्संगमें रहनेके संबंधमें जो तुम्हारी इच्छा है, उस विषयमें हालमें कुछ लिख सकना असंभव है। तुम्हें माद्धम हुआ होगा कि हमारा जो यहाँ रहना होना है वह उपाधिपूर्वक ही होता है, और वह उपाधि इस प्रकारसे है कि ऐसे प्रसंगमें श्रीतीर्थंकर जैसे पुरुषके विषयमें भी कुछ निर्णय करना हो तो भी कठिन हो जाय, क्योंकि अनादि कालसे जीवको केवल बाह्य प्रवृत्तिकी अथवा बाह्य निवृत्तिकी ही पहिचान हो रही है; और इसीके आधारसे ही वह सत्पुरुषको असत्पुरुष कल्पना करता आया है। कदाचित् किसी सत्संगके योगसे यदि जीवको ऐसा जाननेमें आया भी कि "यह सत्पुरुष है", तो भी फिर निरंतर उनके बाह्य प्रवृत्तिरूप योगको देखकर जैसा चाहिये वैसा निश्चय नहीं रहता, अथवा निरंतर वृद्धिंगत होता हुआ भक्तिभाव नहीं रहता, और कभी तो जीव संदेहको प्राप्त होकर वैसे सत्पुरुषके योगको त्यागकर, जिसकी केवल बाह्य निवृत्ति ही माद्धम होती है, ऐसे असत्पुरुषका दृढाग्रहपूर्वक सेवन करने लगता है। इसलिये जिस कालमें सत्पुरुषको निवृत्ति-प्रसंग रहता हो, वैसे प्रसंगमें उसके समीप रहना, यह जीवको हम विशेष हितकर समझते हैं—इस बातका इस समय इससे अधिक लिखना असम्भव है। यदि किसी प्रसंगपर हमारा समागम हो तो उस समय तुम इस विषयमें पूँछना, और उस समय यदि कुछ विशेष कहने योग्य प्रसंग होगा तो उसे कह सकना संभव है।

यदि दीक्षा लेनेकी बारम्बार इच्छा होती हो तो भी हालमें उस प्रवृत्तिको शान्त ही करना चाहिये। तथा कल्याण क्या है, और वह किस तरह हो सकता है, इसका बारम्बार विचार और गवेषणा करनी चाहिए। इस क्रममें अनंत कालसे भूल होती आती है, इसलिये अत्यंत विचारपूर्वक ही पैर उठाना योग्य है।

३२८

बम्बई, भाद्रपद सुदी ७ सोम. १९४८

उदय देखकर उदास नहीं होना.

संसारका सेवन करनेके आरंभ कालसे लगाकर आजतक तुम्हारे प्रति जो कुछ अविनय, अभक्ति, और अपराध आदि दोष उपयोगपूर्वक अथवा अनुपयोगसे हुए हों, उन सबकी अत्यंत नम्रतासे क्षमा चाहता हूँ।

श्रीतीर्थंकरने जिसे धर्म-पर्व गिनने योग्य माना है, ऐसी इस वर्षकी संवत्सरी व्यतीत हुई। किसी भी जीवके प्रति किसी भी प्रकारसे किसी भी कालमें अत्यंत अल्प दोष भी करना योग्य नहीं, ऐसी बात जिसकेद्वारा परमोत्कृष्टरूपसे निश्चित हुई है, ऐसे इस चित्तको नमस्कार करते हैं; और इस वाक्यके एक मात्र स्मरण करने योग्य ऐसे तुम्हें ही लिखा है; इस वाक्यको तुम निःशंकरूपसे जानते हो।

"तुम्हें रविवारको पत्र लिखूँगा" ऐसा लिखा था परन्तु नहीं लिख सका, यह क्षमा करने योग्य है। तुमने व्यवहार-प्रसंगके विवेचनाके सम्बन्धमें जो पत्र लिखा था, उस विवेचनाको चितने उसको और विचारनेकी इच्छा थी, परन्तु वह इच्छा चित्तके आत्माकार हो जानेसे निष्फल हो गई है; और इस समय कुछ लिखना बन सके, ऐसा माद्धम नहीं होता; इसके लिये अत्यंत नम्रतापूर्वक क्षमा माँगकर इस पत्रको समाप्त करता हूँ।

सहजस्वरूप.

एक क्षणभरके लिये भी इस संसर्गमें रहना अच्छा नहीं लगता; ऐसा होनेपर भी बहुत समयसे इसे सेवन किये चले आते हैं; और अभी अमुक कालतक सेवन करनेका विचार रखना पड़ा है; और तुम्हें भी यही अनुरोध कर देना योग्य समझा है। जैसे बने तैसे विनय आदि साधनसे संपन्न होकर सत्संग, सद्शास्त्राभ्यास, और आत्मविचारमें प्रवृत्ति करना ही श्रेयस्कर है।

एक समयके लिये भी प्रमाद करनेकी तीर्थंकरदेवकी आज्ञा नहीं है।

३२६

बम्बई, श्रावण वदी १९४८

जिस पुरुषको द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे किसी भी प्रकारकी प्रतिबद्धता नहीं रहती, वह पुरुष नमन करने योग्य है, कीर्तन करने योग्य है, परम प्रेमपूर्वक गुणगान करने योग्य है, और फिर फिरसे विशिष्ट आत्मपरिणामसे ध्यान करने योग्य है।

आपके बहुतसे पत्र मिले हैं। उपाधि संयोग इस प्रकारसे रहता है कि उसकी विद्यमानतामें पत्र लिखने योग्य अवकाश नहीं रहता, अथवा उस उपाधिको उदयरूप समझकर मुख्यरूपसे आराधना करते हुए, तुम जैसे पुरुषको भी जानबूझकर पत्र नहीं लिखा; इसके लिये क्षमा करें।

जबसे चित्तमें इस उपाधि-योगकी आराधना कर रहे हैं, उस समयसे जैसा मुक्तभाव रहता है, वैसा मुक्तभाव अनुपाधि-प्रसंगमें भी नहीं रहता था, ऐसी निश्चल दशा मंगसिर सुदी ६ से एकधारासे चली आ रही है।

३२७

बम्बई, भाद्रपद सुदी १ भौम. १९४८

ॐ सत्

तुम्हारा वैराग्य आदि विचारोंसे पूर्ण एक सविस्तर पत्र करीब तीन दिन पहले मिला था। जीवको वैराग्य उत्पन्न होना, इसे हम एक महान् गुण मानते हैं। और इसके साथ शम, दम, विवेक आदि साधनोंका अनुक्रमसे उत्पन्न होनेरूप योग मिले तो जीवको कल्याणकी प्राप्ति सुलभ हो जाती है, ऐसा मानते हैं। (ऊपरकी लाइनमें जो योग शब्द लिखा है उसका अर्थ प्रसंग अथवा सत्संग करना चाहिये)।

अनंत कालसे जीव संसारमें परिभ्रमण कर रहा है, और इस परिभ्रमणमें इसने अनंत जप, तप, वैराग्य आदि साधन किये मालूम होते हैं, फिर भी जिससे यथार्थ कल्याण सिद्ध होता है, ऐसा एक भी साधन हो सका हो, ऐसा मालूम नहीं होता। ऐसे तप, जप, अथवा वैराग्य, अथवा दूसरे साधन केवल संसाररूप ही हुए हैं; ऐसा जो हुआ है वह किस कारणसे हुआ? यह बात फिर फिरसे विचारने योग्य है। (यहाँपर किसी भी प्रकारसे जप, तप, वैराग्य आदि साधन सब निष्फल हैं, ऐसा कहनेका अभिप्राय नहीं है, परन्तु वे जो निष्फल हुए हैं, उसका क्या हेतु होगा, उसे विचार करनेके लिये यह लिखा गया है। जिसे कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है, ऐसे जीवको वैराग्य आदि साधन तो निश्चयसे होते ही हैं)।

३३३

बम्बई, भाद्रपद वदी ३ शुक्र. १९४७

यहाँसे लिखे हुए पत्रके तुम्हें मिलनेसे होनेवाले आनंदको निवेदन करते हुए, तुमने दीक्षासंबंधी वृत्तिके क्षोभ प्राप्त करनेके विषयमें जो लिखा, सो वह क्षोभ हालमें योग्य ही है।

क्रोध आदि अनेक प्रकारके दोषोंके क्षय हो जानेपर ही संसार-त्यागरूप दीक्षा लेना योग्य है, अथवा किसी महान् पुरुषके संयोगसे कोई योग्य प्रसंग आनेपर ऐसा करना योग्य है। इसके सिवाय किसी दूसरी प्रकारसे दीक्षाका धारण करना कार्यकारी नहीं होता; और जीव वैसी दूसरी प्रकारकी दीक्षारूप भ्रान्तिसे मग्न होकर अपूर्व कल्याणको चूकता है; अथवा जिससे विशेष अन्तराय उत्पन्न हो ऐसे योगका उपार्जन करता है; इसलिये हालमें तो तुम्हारे क्षोभको हम योग्य ही समझते हैं।

यह हम जानते हैं कि तुम्हारी यहाँ समागममें आनेकी विशेष इच्छा है; फिर भी हालमें इस संयोगकी इच्छाका निरोध करना ही योग्य है; अर्थात् यह संयोग बनना असंभव है; और इस बातका खुलासा जो प्रथमके पत्रमें लिखा है, उसे तुमने पढ़ा ही होगा। इस तरफ आनेकी इच्छामें तुम्हारे बड़ों आदिका जो निरोध है, हालमें उस निरोधको उल्लंघन करनेकी इच्छा करना योग्य नहीं।

मनःप्रश्नमें बुद्धिको उदासीन करना ही योग्य है; और हालमें तो गृहस्थ धर्मको अनुसरण करना भी योग्य है। अपना हितरूप जानकर अथवा समझकर आरंभ-परिग्रहका सेवन करना योग्य नहीं, और इस परमार्थको बारम्बार विचार करके सद्ग्रंथका बाँचन, श्रवण, और मनन आदि करना योग्य है।

निष्काम यथायोग.

३३४

बम्बई, भाद्रपद वदी ८ बुध. १९४७

ॐनमस्कार

जिस जिस कालमें जो जो प्रारब्ध उदय आये उस सबको सहन करते जाना, यही ज्ञानी पुरुषोंका सनातन आचरण है, और यही आचरण हमें उदय रहा करता है; अर्थात् जिस संसारमें स्नेह नहीं रहा, उस संसारके कार्यकी प्रवृत्तिका उदय रहता है, और उस उदयका अनुक्रमसे वेदन हुआ करता है। उदयके इस क्रममें किसी भी प्रकारकी हानि-वृद्धि करनेकी इच्छा उत्पन्न नहीं होती; और हम ऐसा समझते हैं कि ज्ञानी पुरुषोंका भी यही सनातन आचरण है; फिर भी जिसमें स्नेह नहीं रहा, ऐसे स्नेह रखनेकी इच्छा निवृत्त हो गई है, अथवा निवृत्त होने आई है, ऐसे इस संसारमें कार्यरूप कारणरूपसे प्रवृत्ति करनेकी इच्छा नहीं रही, इस कारण आत्मामें निवृत्ति ही रहा करती है। ऐसा होनेपर भी जिसके उसके अनेक प्रकारके संग-प्रसंगमें प्रवृत्ति करना पड़े, ऐसे पूर्वमें किसी प्रारब्धका उपार्जन किया है, जिसे हम सम परिणामसे वेदन करते हैं, परन्तु अभी भी कुछ समय तक वह उदय है, ऐसा जानकर कभी कभी खेद होता है, कभी कभी विशेष खेद होता है। और उस खेदका कारण विचारकर देखनेसे तो वह परानुकम्पारूप ही मालूम होता है। हालमें तो उस प्रारब्धको स्वाभाविक उदयके अनुसार वेदन किये बिना अन्य इच्छा उत्पन्न नहीं होती, तथापि उस उदयमें रहकर किसीको दुःख, दूषण, खेद, द्वेष, मान और अज्ञानके कारणरूपसे मालूम होते हैं, इस कारण होनेसे खेद-अनुकम्पासे [illegible] होता है। जिस मार्गसे [illegible]

३२९ बम्बई, भाद्रपद सुदी १० गुरु. १९४८

जिस जिस प्रकारसे आत्मा आत्म-भावको प्राप्त करे, वे सब धर्मके ही भेद हैं। जिस प्रकारसे आत्मा अन्य भावको प्राप्त करे वह भेद अन्यरूप ही है, धर्मरूप नहीं। तुमने हालमें जो वचन सुननेके पश्चात् निष्ठा अंगीकार की है, वह निष्ठा श्रेयस्कर है। वह निष्ठा आदि मुमुक्षुको दृढ़ सत्संग मिलनेपर अनुक्रमसे वृद्धिको प्राप्त होकर आत्मस्थितिरूप होती है।

जीवको, धर्मको केवल अपनी ही कल्पनासे अथवा कल्पना-प्राप्त किसी अन्य पुरुषसे श्रवण करना, मनन करना अथवा आराधना करना योग्य नहीं है। जो केवल आत्म-स्थितिसे ही रहता है, ऐसे सत्पुरुषसे ही आत्मा अथवा आत्मधर्मका श्रवण करना योग्य है—यावज्जीवन आराधना करना योग्य है।

३३० बम्बई, भाद्रपद सुदी १० गुरु. १९४८

संसार-कालसे लगाकर इस क्षणतक तुम्हारे प्रति किसी भी प्रकारको अविनय, अभक्ति, असत्कार अथवा ऐसा ही अन्य दूसरे प्रकारका कोई भी अपराध मन, वचन और कायाके परिणामसे हुआ हो, उन सबको अत्यंत नम्रतासे, उन सब अपराधोंके अत्यंत लय परिणामरूप आत्मस्थितिपूर्वक, मैं सब प्रकारसे क्षमा माँगता हूँ; और इसे क्षमा करानेके मैं योग्य हूँ। तुम्हें किसी भी प्रकारसे उस अपराध आदिका अनुपयोग हो तो भी अत्यंतरूपसे, हमारी किसी भी प्रकारसे वैसी पूर्वकालसंबंधी भावना समझकर, इस क्षणमें अत्यंतरूपसे क्षमा करने योग्य आत्मस्थिति करनेके लिये लघुतासे प्रार्थना है।

३३१ बम्बई, भाद्रपद सुदी १० गुरु. १९४८

इस क्षणपर्यंत तुम्हारे प्रति किसी भी प्रकारसे पूर्व आदि कालमें मन वचन और कायाके योगसे जो जो कुछ अपराध आदि हुए हों, उन सबको अत्यंत आत्मभावसे विस्मरण करके क्षमा चाहता हूँ। इसके बाद किसी भी कालमें तुम्हारे प्रति उस प्रकारके अपराधका होना असंभव समझता हूँ, ऐसा होनेपर भी किसी अनुपयोग भावसे देहपर्यंत, यदि वह अपराध कभी हो भी जाय तो उस विषयमें भी यहीं अत्यंत नम्र परिणामसे क्षमा चाहता हूँ; और उस क्षमाभावरूप इस पत्रको विचारते हुए बारम्बार चिंतवन करके तुम भी हमारे पूर्वकालके उस सर्व प्रकारके अपराधको भूल जाने योग्य हो।

३३२ बम्बई, भाद्रपद सुदी १२ रवि. १९४८

परमार्थ शीघ्र प्रकाशित होनेके विषयमें तुम दोनोंका आग्रहपूर्ण वचन प्राप्त हुआ; तथा तुमने जो व्यवहार-चिंताके विषयमें लिखा, और उसमें भी सकामभाव निवेदन किया, वह भी आग्रहपूर्वक प्राप्त हुआ है।

हालमें तो इस सबके विसर्जन कर देनेरूप उदासीनता ही रहती है, और उस सबको ईश्वरेच्छाके आधीन ही सौंप देना योग्य है। हालमें ये दोनों बातें जबतक हम फिरसे न लिखें तबतक विस्मरण ही करने योग्य हैं।

नहीं भी होता, परन्तु जिसकी आत्मामें पूर्ण शुद्धता रहती है, वह पुरुष तो निश्चयसे उस ज्ञानको जानता है—भवांतरको जानता है। आत्मा नित्य है, अनुभवरूप है, वस्तु है—इन सब प्रकारोंके अत्यंतरूपसे दृढ होनेके लिये शास्त्रमें वे प्रसंग कहे गये हैं।

यदि किसीको भवांतरका स्पष्ट ज्ञान न होता हो तो यह यह कहनेके बराबर है कि किसीको आत्माका स्पष्ट ज्ञान भी नहीं होता; परन्तु ऐसा तो है नहीं। आत्माका स्पष्ट ज्ञान तो होता है, और भवांतर भी स्पष्ट माल्म होता है। अपने तथा परके भव जाननेके ज्ञानमें किसी भी प्रकारका विसंवाद नहीं है।

तीर्थंकरको भिक्षाके लिये जाते समय प्रत्येक स्थानपर सुवर्ण-वृष्टि इत्यादि हो ही हो—ऐसा शास्त्रके कहनेका अर्थ नहीं समझना चाहिये। अथवा शास्त्रमें कहे हुए वाक्योंका यदि उस प्रकारका अर्थ होता हो तो वह सापेक्ष ही है। यह वाक्य लोक-भाषाका ही समझना चाहिये। जैसे यदि किसीके घर किसी सज्जन पुरुषका आगमन हो तो वह कहता है कि 'आज अमृतका मेघ बरसा'; जैसे उसका यह कहना सापेक्ष है—यथार्थ है, परन्तु वह शब्दके भावार्थसे ही यथार्थ है, शब्दके मूल अर्थमें यथार्थ नहीं है। इसी तरह तीर्थंकर आदिकी भिक्षाके विषयमें भी है। फिर भी ऐसा ही मानना योग्य है कि 'आत्मस्वरूपमें पूर्ण ऐसे पुरुषके प्रभावके बलसे यह होना अत्यंत संभवित है'। ऐसा कहनेका प्रयोजन नहीं है कि सर्वत्र ही ऐसा हुआ है, परन्तु कहनेका अभिप्राय यह है कि ऐसा होना संभव है—ऐसा होना योग्य है। जहाँ पूर्ण आत्मस्वरूप है, वहाँ सर्व-महत्-प्रभाव-योग आश्रितरूपसे रहता है, यह निश्चयात्मक बात है—निःसन्देह अंगीकार करने योग्य बात है। जहाँ पूर्ण आत्मस्वरूप रहता है वहाँ यदि सर्व-महत्-प्रभाव-योग न रहता हो तो फिर वह दूसरी कौनसी जगह रहे? यह विचारने योग्य है। उस प्रकारका दूसरा तो कोई स्थान होना संभव नहीं, तो फिर सर्व-महत्-प्रभाव-योगका अभाव ही होगा। परन्तु जब पूर्ण आत्मस्वरूपका प्राप्त होना भी अभावरूप नहीं है, तो फिर महत् प्रभाव-योगका अभाव तो कहाँसे हो सकता है? और यदि कदाचित् ऐसा कहा जाय कि आत्मस्वरूपकी पूर्ण प्राप्ति होना तो योग्य है, किन्तु महत् प्रभाव-योगकी प्राप्ति होना योग्य नहीं, तो यह कहना एक विसंवाद पैदा करनेके सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह कहनेवाला शुद्ध आत्मस्वरूपके महत्पनेसे अत्यंत हीन ऐसे प्रभाव-योगको महान् समझता है—अंगीकार करता है; और यह ऐसा सूचित करता है कि वह वक्ता आत्मस्वरूपका जाननेवाला नहीं है।

उस आत्मस्वरूपसे कोई भी महान् नहीं है। जो प्रभाव-योग पूर्ण आत्मस्वरूपको भी प्राप्त न हो, इस प्रकारका इस सृष्टिमें कोई प्रभाव-योग उत्पन्न हुआ नहीं, वर्तमानमें है नहीं, और आगे उत्पन्न होगा नहीं। परन्तु इस प्रभाव-योगमें आत्मस्वरूपको कोई प्रवृत्ति कर्त्तव्य नहीं है, यह बात तो अवश्य है; और यदि उसे उस प्रभाव-योगमें कोई कर्त्तव्य माल्म होता है तो वह पुरुष आत्मस्वरूपके अत्यंत अज्ञानमें ही स्थित है, ऐसा मानते हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि आत्मरूप महाभाग्य तीर्थंकरमें सब प्रकारका प्रभाव-योग होना योग्य है—होता है; परन्तु उसके एक अंशका भी प्रकट करना उन्हें योग्य नहीं। किन्हीं स्वाभाविक पुण्यके प्रभावसे सुवर्ण-वृष्टि इत्यादि हो, ऐसा कहना असंभव नहीं, और वह तीर्थंकरके बाधाकारक भी नहीं है। जो तीर्थंकर हैं वे आत्मस्वरूपके सिवाय कोई अन्य प्रभाव आदि नहीं करते, और जो करते हैं वे आत्मरूप तीर्थंकर कहे जाने योग्य नहीं; ऐसा मानते हैं, और ऐसा ही है।

जाता है, उस संसारमें उस साक्षीके साक्षीरूप रहना, और कर्त्तारूपसे भासमान होना, यह दुधारी तलवारपर चलनेके समान है।

ऐसा होनेपर भी यदि वह साक्षी-पुरुष भ्रांतियुक्त लोगोंको, किसीको खेद, दुःख और अलाभका कारण मालूम न पड़े, तो उस प्रसंगमें उस साक्षी-पुरुषको अत्यंत कठिनाई नहीं है। हमें तो अत्यंत कठिनाईके प्रसंगका उदय रहता है।

इसमें भी उदासीनभाव ही ज्ञानीका सनातन धर्म है (यहाँ धर्म शब्द आचरणके अर्थमें है)।

एक बार जब एक तुच्छ तिनकेके दो भाग करनेकी क्रियाके कर सकनेकी शक्तिका भी उपशम हो, उस समय जो ईश्वरेच्छा होगी वही होगा। अचिन्त्यदशास्वरूप.

---

३३५ बम्बई, आसोज सुदी १ बुध. १९४८

जीवके कर्तृत्व-अकर्तृत्वको समागममें श्रवण करके निदिध्यासन करना योग्य है।

वनस्पति आदिके संयोगसे पारेका बँधकर चाँदी वगैरह रूप हो जाना संभव नहीं होता, यह बात नहीं है। योग-सिद्धिके भेदसे किसी तरह ऐसा हो सकता है, और जिसे उस योगके आठ अंगोंमेंसे पाँच अंग प्राप्त हो गये हैं, उसे सिद्धि-योग होता है। इसके सिवाय कोई दूसरी कल्पना करना केवल कालक्षेपरूप ही है। यदि उसका विचार भी उत्पन्न हो तो वह भी एक कौतुकरूप ही है, और कौतुक आत्म-परिणामके लिये योग्य नहीं है। पारेका स्वाभाविकरूप पारापन ही है।

---

३३६ बम्बई, आसोज सुदी ७ भौम. १९४८

प्रगट आत्मस्वरूप अविच्छिन्नरूपसे भजन करने योग्य है।

वास्तविक बात तो ऐसी है कि किये हुए कर्म बिना भोगे निवृत्त होते नहीं, और नहीं किये हुए किसी कर्मका फल मिलता नहीं। किसी किसी समय अकस्मात् किसीको वर अथवा शाप देनेसे जो शुभ अथवा अशुभ फल मिलता हुआ देखनेमें आता है, वह किसी नहीं किये हुए कर्मका फल नहीं है—वह भी किसी प्रकारसे किये हुए कर्मका ही फल है।

एकेन्द्रियका एकावतारीपना अपेक्षासे समझने योग्य है।

---

३३७ बम्बई, आसोज सुदी १०. १९४८

ॐ

(१)

भगवती आदि सिद्धांतोंमें जो किन्हीं किन्हीं जीवोंके भवान्तरका वर्णन किया है, उसमें कुछ संशय होने जैसी बात नहीं। तीर्थंकर तो पूर्ण आत्मस्वरूप हैं; परन्तु जो पुरुष केवल योग, ध्यान आदिके अभ्याससे रहते हैं, उन पुरुषोंमें भी बहुतसे पुरुष भवान्तरको जान सकते हैं; और ऐसा होना कुछ कल्पित बात नहीं है। जिन पुरुषोंको आत्माका निश्चयात्मक ज्ञान है, उन्हें भवान्तरका ज्ञान होना योग्य है—होता है। क्वचित् ज्ञानके तारतम्य-क्षयोपशम-भेदसे वैसा नहीं,

नहीं भी होता, परन्तु जिसकी आत्मामें पूर्ण शुद्धता रहती है, वह पुरुष तो निश्चयसे उस ज्ञानको जानता है—भवांतरको जानता है। आत्मा नित्य है, अनुभवरूप है, वस्तु है—इन सब प्रकारोंके अत्यंत दृढ़ रूपसे दृढ होनेके लिये शास्त्रमें वे प्रसंग कहे गये हैं।

यदि किसीको भवांतरका स्पष्ट ज्ञान न होता हो तो यह यह कहनेके बराबर है कि किसीको आत्माका स्पष्ट ज्ञान भी नहीं होता; परन्तु ऐसा तो है नहीं। आत्माका स्पष्ट ज्ञान तो होता है, और भवांतर भी स्पष्ट माद्धम होता है। अपने तथा परके भव जाननेके ज्ञानमें किसी भी प्रकारका विसंवाद नहीं है।

तीर्थंकरको भिक्षाके लिये जाते समय प्रत्येक स्थानपर सुवर्ण-वृष्टि इत्यादि हो ही हो—ऐसा शास्त्रके कहनेका अर्थ नहीं समझना चाहिये। अथवा शास्त्रमें कहे हुए वाक्योंका यदि उस प्रकारका अर्थ होता हो तो वह सापेक्ष ही है। यह वाक्य लोक-भाषाका ही समझना चाहिये। जैसे यदि किसीके घर किसी सज्जन पुरुषका आगमन हो तो वह कहता है कि 'आज अमृतका मेघ बरसा'; जैसे उसका यह कहना सापेक्ष है—यथार्थ है, परन्तु वह शब्दके भावार्थसे ही यथार्थ है, शब्दके मूल अर्थमें यथार्थ नहीं है। इसी तरह तीर्थंकर आदिकी भिक्षाके विषयमें भी है। फिर भी ऐसा ही मानना योग्य है कि 'आत्मस्वरूपमें पूर्ण ऐसे पुरुषके प्रभावके बलसे यह होना अत्यंत संभवित है'। ऐसा कहनेका प्रयोजन नहीं है कि सर्वत्र ही ऐसा हुआ है, परन्तु कहनेका अभिप्राय यह है कि ऐसा होना संभव है—ऐसा होना योग्य है। जहाँ पूर्ण आत्मस्वरूप है, वहाँ सर्व महत् प्रभाव-योग आश्रितरूपसे रहता है, यह निश्चयात्मक बात है—निःसन्देह अंगीकार करने योग्य बात है। जहाँ पूर्ण आत्मस्वरूप रहता है वहाँ यदि सर्व-महत्-प्रभाव-योग न रहता हो तो फिर वह दूसरी कौनसी जगह रहे ? यह विचारने योग्य है। उस प्रकारका दूसरा तो कोई स्थान होना संभव नहीं, तो फिर महत्-प्रभाव-योगका अभाव ही होगा। परन्तु जब पूर्ण आत्मस्वरूपका प्राप्त होना भी असंभव नहीं है, तो फिर महत् प्रभाव-योगका अभाव तो कहाँसे हो सकता है ? और यदि कदाचित् ऐसा कहा जाय कि आत्मस्वरूपकी पूर्ण प्राप्ति होना तो योग्य है, किन्तु महत् प्रभाव-योगकी प्राप्ति होना योग्य नहीं, तो यह कहना एक विसंवाद पैदा करनेके सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यह कहने वाला शुद्ध आत्मस्वरूपके महत्पनेसे अत्यंत हीन ऐसे प्रभाव-योगको महान् समझता है—ऐसा सिद्ध करता है; और यह ऐसा सूचित करता है कि यह वक्ता आत्मस्वरूपका जाननेवाला नहीं है।

उस आत्मस्वरूपसे कोई भी महान् नहीं है। जो प्रभाव-योग पूर्ण आत्मस्वरूपको भी प्राप्त न हो, इस प्रकारका इस सृष्टिमें कोई प्रभाव-योग उत्पन्न हुआ नहीं, वर्तमानमें है नहीं, और आगे उत्पन्न होगा नहीं। परन्तु इस प्रभाव-योगमें आत्मस्वरूपको कोई प्रवृत्ति कर्त्तव्य नहीं है, यह बात तो अवश्य है; और यदि उसे उस प्रभाव-योगमें कोई कर्त्तव्य माद्धम होता है तो वह पुरुष आत्मस्वरूपके अत्यंत अज्ञानमें ही है, ऐसा मानते हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि आत्मरूप महाभाग्य तीर्थंकरमें सब प्रकारका प्रभाव-योग होना योग्य है—होता है; परन्तु उसके एक अंशका भी प्रकट करना उन्हें योग्य नहीं। किन्तु स्वाभाविक पुण्यके प्रभावसे सुवर्ण-वृष्टि इत्यादि हो, ऐसा कहना असंभव नहीं, और वह तीर्थंकरके बाधाकारक भी नहीं है। जो तीर्थंकर हैं वे आत्मस्वरूपके सिवाय कोई अन्य प्रभाव आदि नहीं करते, और जो करते हैं वे आत्मरूप तीर्थंकर कहे जाने योग्य नहीं; ऐसा मानते हैं, और ऐसा ही है।

और उपाधिमें क्या होता है, यह आगे चलकर देख लेंगे। देख लेंगे—इसका अर्थ बहुत गंभीर है। सर्वात्मा हरि समर्थ है। महंत पुरुषोंकी कृपासे निर्बल मति कम ही रहती है। यद्यपि आपके उपाधि-योगमें लक्ष रहा करता है, परन्तु जो कुछ सत्ता है वह सब सर्वात्माके ही हाथ है। और वह सत्ता निश्चयसे आकांक्षारहित ऐसे ज्ञानीको ही प्राप्त होती है। जबतक उस सर्वात्मा हरिकी इच्छा जैसे हो, वैसे ज्ञानीको भी चलना, यह आज्ञांकित धर्म है।

ऊपर जो उपाधिमेंसे अहंभावके छोड़नेके वचन लिखे हैं, उनके ऊपर आप थोड़े समय विचार करें। आपकी उसीमें उस प्रकारकी दशा हो जाय ऐसी आपकी मनोवृत्ति है। फिरसे निवेदन है कि उपाधिमें जैसे बने तैसे निःशंक रहकर उद्यम करना। आगे क्या होगा, यह विचार छोड़ देना।

३३९

बम्बई, आसोज वदी ८, १९४८

लोक-व्यापक अंधकारमें अपनेद्वारा प्रकाशित ज्ञानी पुरुष ही याथातथ्य देखते हैं। लोककी शब्द आदि कामनाओंके प्रति देखते हुए भी उदासीन रहकर जो केवल अपनेको ही स्पष्टरूपसे देखते हैं, ऐसे ज्ञानीको हम नमस्कार करते हैं, और इस समय इतना ही लिखकर ज्ञानसे स्फुरित आत्मभावको तटस्थ करते हैं।

३४०

बम्बई, आसोज १९४८

ॐ

(१) जो कुछ उपाधि की जाती है, वह कुछ निज-भावके कारण करनेमें नहीं आती—उस प्रकारसे नहीं की जाती। वह जिस कारणसे की जाती है, वह कारण अनुक्रमसे वेदन करने योग्य ऐसा प्रारब्ध कर्म है। जो कुछ उदयमें आये उसका *अविसंवाद परिणामसे* वेदन करना, इस प्रकार जो ज्ञानीका बोध है, वह हममें निश्चल रहता है—अर्थात् हम उसी प्रकारसे वेदन करते हैं। परन्तु इच्छा तो ऐसी रहती है कि अल्प कालमें ही—एक समयमें ही—यदि वह उदय असत्ताको प्राप्त होता हो तो हम इन सबमेंसे उठकर चले जाँय—आत्मामें इतनी स्वतंत्रता रहा करती है। फिर भी निद्रा-काल, भोजन-काल तथा अमुक अवकाश-कालके सिवाय उपाधिका प्रसंग रहा करता है; और कुछ भिन्नरूप नहीं होता, तो भी किसी भी प्रसंगपर आत्मोपयोग अप्रधानभावका सेवन करते हुए देखा जाता है, और उस प्रसंगपर मृत्युके शोकसे भी अधिक शोक होता है, यह बात निस्सन्देह है।

ऐसा होनेके कारण, और जबतक गृहस्थ-प्रत्ययी प्रारब्ध उदयमें रहे, तबतक सर्वथा अप्रतिबंध भावके सेवन करनेमें चित्त रहनेमें ही ज्ञानी पुरुषोंका मार्ग रहता है, इस कारण हम उसीका सेवन करते हैं। यदि उस मार्गकी उपेक्षा करें तो भी हम ज्ञानीका विरोध नहीं करते, फिर भी उसकी उपेक्षा नहीं हो सकती। यदि उसकी उपेक्षा करें तो गृहस्थ अवस्था भी वनवाससदृशसे सेवन होने लग जाय, ऐसा तीव्र वैराग्य रहा करता है।

सर्व प्रकारके कर्तव्यमें उदासीनरूप ऐसे हमसे यदि कुछ हो सकता हो तो एक यही हो सकता

जो जिनभगवान्‌के कहे हुए शास्त्र माने जाते हैं, उनमें बहुत से बोलोंके विच्छेद हो जानेका कथन है, और उनमें केवलज्ञान आदि दस बोल मुख्य हैं; और इन दस बोलोंके विच्छिन्न हुए दिखानेका आशय यही मालूम होता है कि इस कालमें 'सर्वथा मुक्ति नहीं होती'। ये दस बोल जिसे प्राप्त हो गये हों, अथवा जिसे इनमेंसे एक भी बोल प्राप्त हो गया हो, उसे चरमशरीरी जीव कहना योग्य है, ऐसा समझकर इस कालमें विच्छेद माना है। फिर भी शब्दोंमें ऐसा ही कहना योग्य नहीं—ऐसा हमें मालूम होता है, और ऐसा ही है। क्योंकि इन बोलोंमें क्षायिक समकितका भी निषेध है, और वह चरमशरीरीके ही हो, ऐसा तो है नहीं, अथवा ऐसा एकांत भी नहीं है। महाराजा श्रेणिकको क्षायिक समकित होनेपर भी वे चरमशरीरी नहीं थे, इस प्रकार उन्हीं जिनभगवान्‌के शास्त्रोंमें कथन है। तथा जिनकल्पी मुनिके विहारका व्यवच्छेद कहना श्वेताम्बरोंका ही कथन है, दिगम्बरोंका कथन नहीं। 'सर्वथा मोक्ष होना' इस कालमें संभव नहीं है, ऐसा दोनोंका ही अभिप्राय है; और वह भी अत्यंत एकांतरूपसे नहीं कहा जा सकता। हम मानते हैं कि इस कालमें चरमशरीरिता नहीं है, परन्तु यदि अशरीरी-भावसे आत्म-स्थिति है, तो वह भावनयसे चरमशरीरिता ही नहीं, किन्तु सिद्धत्व भी है। और वह अशरीरीभाव इस कालमें नहीं है—यदि यहीं ऐसा कहें तो यह यह कहनेके तुल्य है कि हम ही स्वयं मौजूद नहीं हैं। विशेष क्या कहें? यह कथन एकांत नहीं है। कदाचित् यह एकांत हो भी तो वह, जिसने आगमने कहा है, उसी आशयको सद्गुरुद्वारा समझने योग्य है, और यही आत्मस्थितिका उपाय है।

(२)

पुनर्जन्म है—अवश्य है, इसके लिये मैं अनुभवसे 'हाँ' कहनेमें अचल हूँ।

(३)

परम प्रेमरूप भक्तिके बिना ज्ञान शून्य ही है। जो अटका है वह केवल योग्यताकी कमीके ही कारण अटका हुआ है।

ज्ञानीके पाससे ज्ञानकी इच्छा करनेकी अपेक्षा बोधस्वरूप समझकर भक्तिकी इच्छा करना, यह परम फलदायक है। जिसपर ईश्वर कृपा करे उसे कलियुगमें उस पदार्थकी प्राप्ति हो। यह महाकठिन है।

---

३३८ बम्बई, आसोज वदी ६, १९४८

ॐ

(१) यहाँ आत्माकारता रहती है। आत्माके ज्ञान-स्वरूपभावसे परिणामके होनेको आत्माकारता कहते हैं।

(२) जो कुछ होता है उसे होने देना। न उदासीन होना। न अनुद्यमी होना। न परमात्मासे भी इच्छा करनी, और न व्याकुल होना। यदि अहंभाव रुकावट डालता हो तो जितना बने उसको रोकना; और ऐसा होनेपर भी यदि वह दूर न होता हो तो उसे ईश्वरके लिये अर्पण कर देना। परन्तु दीनता न आने देना। आगे क्या होगा, इसका विचार नहीं करना, और जो हो उसे करते रहना। अधिक उधेड़-बुन करनेका प्रयत्न नहीं करना। अल्प भी भय नहीं रखना। जो कुछ करनेका अभ्यास हो गया है उसे विस्मरण किये रहना—तो ही ईश्वर प्रसन्न होगा—तो ही परमभक्ति पानेका फल मिलेगा—तो ही हमारा और तुम्हारा संयोग हुआ योग्य है।

४. उस प्रकारकी सुदृढता हो जानेके पश्चात् चन्द्रको दाहिनी आँखमें और सूर्यको बाँई आँखमें स्थापित करना।

५. इस भावनाको तबतक सुदृढ बनाना, जबतक यह भावना उस पदार्थके आकार आदिके दर्शनको उत्पन्न न कर दे। (यह जो दर्शन कहा है, उसे भास्यमान-दर्शन समझना।)

६. इन दोनों प्रकारोंकी उल्टी-सीधी भावनाओंके सिद्ध हो जानेपर भृकुटीके मध्य भागमें उन दोनोंका चिंतवन करना।

७. पहिले इस चिंतवनको आँख खोलकर करना।

८. उस चिंतवनके अनेक तरहसे दृढ हो जानेके बाद आँख बंद रखकर, उस पदार्थके दर्शनकी भावना करनी।

९. उस भावनासे दर्शनके सुदृढ हो जानेके पश्चात् हृदयमें एक अष्टदल कमलका चिंतवन करके, उन दोनों पदार्थोंको अनुक्रमसे स्थापित करना।

१०. हृदयमें इस प्रकारका एक अष्टदल कमल माना गया है, परन्तु वह ऐसा माना गया है कि वह विमुखरूपसे रहता है, इसलिये उसे सन्मुखरूपसे अर्थात् सीधी तरहसे चिंतवन करना।

११. उस अष्टदल कमलमें पहिले चन्द्रके तेजको स्थापित करना, फिर सूर्यके तेजको स्थापित करना, और फिर अखंड दिव्याकार अग्निकी ज्योति स्थापित करना।

१२. उस भावके दृढ हो जानेके बाद, उसमें जिनका ज्ञान, दर्शन और आत्मचारित्र पूर्ण है ऐसे श्रीवीतरागदेवकी प्रतिमाका महातेजोमय स्वरूपसे चिंतवन करना।

१३. उस परम प्रतिमाका न बाल, न युवा और न वृद्ध, इस प्रकार दिव्यस्वरूपसे चिंतवन करना।

१४. ऐसी भावना करना कि संपूर्ण ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होनेसे श्रीवीतरागदेव यहाँ स्वरूप-समाधिमें विद्यमान हैं।

१५. ऐसी भावना करना कि स्वरूप-समाधिमें स्थित वीतराग आत्माके स्वरूपमें ही तदाकार हैं।

१६. ऐसी भावना करना कि उनके मूर्धस्थानसे उस समय ॐकारकी ध्वनि निकल रही है।

१७. ऐसी भावना करना कि उन भावनाओंके दृढ हो जानेपर वह ॐकार सब प्रकारके वक्तव्य-ज्ञानका उपदेश कर रहा है।

१८. जिस प्रकारके सम्यक्मार्गसे वीतरागदेवने वीतराग-निष्पन्नताको प्राप्त किया है, ऐसा ज्ञान उस उपदेशका रहस्य है, ऐसा चिंतवन करते करते वह ज्ञान क्या है, ऐसी भावना करना।

१९. उस भावनाके दृढ हो जानेके पश्चात् उन्होंने जो द्रव्य आदि पदार्थ कहे हैं, उनकी भावना करके आत्माका निज स्वरूपमें चिंतवन करना—सर्वांगसे चिंतवन करना।

(२) ध्यानके अनेकनेक भेद हैं। इन सबमें श्रेष्ठ ध्यान तो वही कहा जाता है जिसमें आत्मा मुख्यभावसे रहती है; और प्रायः करके आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिके बिना यह आत्म-ध्यानकी प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार आत्मज्ञान यथार्थ बोधकी प्राप्तिके सिवाय उत्पन्न नहीं होता। इस यथार्थ बोधकी प्राप्ति प्रायः करके क्रम क्रमसे बहुतसे जीवोंको होती है, और उसका मुख्य मार्ग बोधस्वरूप ऐसे ज्ञानी पुरुषका आश्रय अथवा संग, और उसके प्रति बहुमान—प्रेम—है। ज्ञानी पुरुषका उस उस प्रकारका उ

(४)
मोह-कषाय

हरेक जीवकी अपेक्षासे ज्ञानीने क्रोध, मान, माया और लोभ—यह क्रम रक्खा है। यह
इन कषायोंके क्षय होनेकी अपेक्षासे रक्खा है।

पहिली कषायके क्षय होनेसे क्रमसे दूसरी कषायोंका क्षय होता है। तथा अमुक अमुक जीवों
अपेक्षासे मान, माया, लोभ और क्रोध ऐसा जो क्रम रक्खा गया है वह देश, काल और क्षेत्रको देख
ही रक्खा गया है। पहिले जीवको अपने आपको दूसरेसे ऊँचा समझनेसे मान उत्पन्न होता है; फिर उस
लिये वह छल-कपट करता है, और उससे पैसा पैदा करता है; और वैसा करनेमें विघ्न करनेवा
ऊपर क्रोध करता है। इस तरहसे कषायकी प्रकृतियाँ अनुक्रमसे बँधती हैं; जिसमें लोभकी तो इतनी प्र
मिठास है कि जीव उसमें अपने भानतकको भी भूल जाता है, और उसकी परवाहतक भी नहीं कर
इसलिये मानरूपी कषायके कम करनेसे अनुक्रमसे दूसरी कषाय भी इसके साथ साथ कम हो जाती है

(५)
आस्था और श्रद्धा

हरेक जीवको जीवके अस्तित्वसे लगाकर मोक्षतककी पूर्णरूपसे श्रद्धा रखनी चाहिये। इसमें ज
भी शंका नहीं रखनी चाहिये। इस जगह अश्रद्धा रखना, यह जीवके पतित होनेका कारण है, अ
यह इस प्रकारका स्थानक है कि वहाँसे नीचे गिर जानेसे फिर कोई भी स्थिति नहीं रह जाती।

एक अंतर्मुहूर्तमें सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति बँधती है; जिसके कारण जीवको असंख्य
भवोंमें भ्रमण करना पड़ता है।

चारित्रमोहसे गिरा हुआ तो ठिकाने लग भी जाता है, पर दर्शनमोहसे गिरा हुआ ठिका
नहीं लगता। कारण यह है कि समझमें फेर होनेसे करनेमें भी फेर हो जाता है। वीतरागरूप ज्ञानी
वचनमें अन्यथाभाव होना संभव नहीं है। उसके अवलंबनमें रहकर मानों अमृत ही निकला हो, इ
रीतिसे श्रद्धाको जरा भी न्यून नहीं करना चाहिये। जब जब शंकाके उपस्थित होनेका प्रसंग उपस्थि
हो, तब तब जीवको विचारना चाहिये कि उसमें अपनी ही भूल होती है। जिस मतिसे वीतरा
पुरुषोंने ज्ञानको कहा है, वह मति इस जीवमें है ही नहीं; और इस जीवकी मति तो यदि शाकमें नम
कम पड़ा हो तो इतने मात्रमें ही रुक जाती है; तो फिर वीतरागके ज्ञानकी मतिका मुकाबला तो व
कहाँसे कर सकता है! इस कारण बारहवें गुणस्थानकके अंततक भी जीवको ज्ञानीका अवलंबन ले
चाहिये, ऐसा कहा है।

अधिकारी न होनेपर भी जो ऊँचे ज्ञानका उपदेश दिया जाता है, वह केवल इस जीव
अपनेको ज्ञानी और चतुर मान लेनेके कारण—उसके मान नष्ट करनेके कारण—ही दिया जाता है
और जो नीचेके स्थानकोंमें बात कही जाती है, वह केवल इसलिये कही जाती है कि वैसा स्था
प्राप्त होनेपर भी जीव नीचेका नीचे ही रहे।

जीवको अनंतकालमें बहुत बार हो चुका है, परन्तु 'यह पुरुष ज्ञानी है, इसलिये अब उसका आश्रय ग्रहण करना ही कर्त्तव्य है' ऐसा ज्ञान इस जीवको नहीं हुआ, और इसी कारण जीवको परिभ्रमण करना पड़ा है, हमें तो ऐसा दृढ़तापूर्वक मालूम होता है।

(३) ज्ञानी-पुरुषकी पहिचान न होनेमें प्रायः करके जीवके इन तीन महान् दोष मानते हैं:—

(१) एक तो 'मैं जानता हूँ, मैं समझता हूँ', इस प्रकारसे जीवको मान रहता है, वह मान।

(२) दूसरे, ज्ञानी पुरुषके ऊपर राग करनेकी अपेक्षा परिग्रह आदिमें विशेष राग होना।

(३) तीसरे, लोक-भयके कारण, अपकीर्ति-भयके कारण, और अपमान-भयके कारण ज्ञानीसे विमुख रहना—उसके प्रति जिस प्रकार विनयान्वित होना चाहिये उस प्रकार न होना।

ये तीन कारण जीवको ज्ञानीसे अज्ञात ही रखते हैं। जीवको ज्ञानीमें भी अपने समान ही कल्पना रहा करती है; अपनी कल्पनाके अनुसार ही ज्ञानीके विचारका और शास्त्रका भी माप किया जाता है; ग्रंथोंके पठन आदिसे थोड़ा भी ज्ञान प्राप्त हो जानेसे, जीवको उसे अनेक प्रकारसे दिखानेकी इच्छा रहा करती है—इत्यादि दोष ऊपर बताये हुए तीन दोषोंमें ही गर्भित हो जाते हैं; और इन तीनों दोषोंका उपादान कारण तो एक 'स्वच्छंद' नामका महादोष ही है; और उसका निमित्त कारण असत्संग है।

जिसको तुम्हारे प्रति 'तुम्हें किसी प्रकार कुछ भी परमार्थकी प्राप्ति हो' इस प्रयोजनके सिवाय दूसरी कोई भी स्पृहा नहीं, ऐसा मैं इस बातको यहाँ स्पष्ट बता देना चाहता हूँ कि तुम्हें अभी ऊपर बताये हुए दोषोंके प्रति प्रेम रहता है। 'मैं जानता हूँ, मैं समझता हूँ', यह दोष अनेकबार प्रवृत्तिमें रहा करता है; असार परिग्रह आदिमें भी महत्ताकी इच्छा रहती है—इत्यादि जो दोष हैं, वे ध्यान और ज्ञान इन सबके कारणभूत ज्ञानी पुरुष और उसकी आज्ञाका अनुसरण करनेमें बाधा डालते हैं। इसलिये ऐसा मानते हैं कि जैसे बने तैसे आत्मामें वृत्ति करके उनके कम करनेका प्रयत्न करना, और अलौकिक भावनाके प्रतिबंधसे उदास होना यही कल्याणकारक है।

(२)

शरीरमें यदि पहिले आत्मभावना होती हो तो उसे होने देना, क्रमसे फिर प्राणमें आत्मभावना करना, फिर इन्द्रियोंमें आत्मभावना करना, फिर संकल्प-विकल्परूप परिणाममें आत्मभावना करना, और फिर स्थिर ज्ञानमें आत्मभावना करना—वहाँ सब प्रकारकी अन्य आलंबनोंसे रहित स्थिति करना चाहिये।

(३)

प्राण,	}	सोहं	
वाणी,	}		उसका ध्यान करना।
रस.	}	अनहद	

---

३४३ आसोज वि. सं. १९४८

हे परमकृपालु देव ! जन्म, ...ओंके अत्यन्त क्षय करनेवाले ऐसे

३४८

बम्बई, कार्तिक सुदी १९४९

जिनागममें इस कालको जो ' दुःषम ' संज्ञा कही है, वह प्रत्यक्ष दिखाई देता है; क्योंकि जो 'दुःखसे प्राप्त होने योग्य हो' उसे दुःषम कहते हैं। उस दुःखसे प्राप्त होने योग्य तो मुख्यरूपसे एक परमार्थ-मार्ग कहा जा सकता है और उस प्रकारकी स्थिति प्रत्यक्ष देखनेमें आती है। यद्यपि परमार्थ-मार्गकी दुर्लभता सर्व कालमें है, परन्तु इस कालमें तो काल भी विशेषरूपसे दुर्लभताका कारणभूत है।

यहाँ कहनेका यह प्रयोजन है कि प्रायः करके इस क्षेत्रमें वर्तमान कालमें पूर्वमें जिसने परमार्थ-मार्गका आराधन किया है, वह देह-धारण नहीं करता। और यह सत्य है, क्योंकि यदि उस प्रकारके जीवोंका समूह इस क्षेत्रमें देहधारीरूपसे रहता होता, तो उन्हें और उनके समागममें आनेवाले अनेक जीवोंको परमार्थ-मार्गकी प्राप्ति सुखपूर्वक हो सकी होती; और इससे फिर इस कालको दुःषम काल कहनेका कोई कारण न रह जाता। इस प्रकार पूर्वाराधक जीवोंकी अल्पता इत्यादि होनेपर भी वर्तमान कालमें यदि कोई भी जीव परमार्थ-मार्गका आराधन करना चाहे तो वह अवश्य ही आराधन कर सकता है, क्योंकि दुःखपूर्वक भी इस कालमें परमार्थ-मार्ग प्राप्त तो हो सकता है, ऐसा पूर्वज्ञानियोंका कथन है।

वर्तमान कालमें सब जीवोंको मार्ग दुःखसे ही प्राप्त हो, ऐसा एकान्त अभिप्राय नहीं समझना चाहिये; परन्तु प्रायः करके मार्ग दुःखसे प्राप्त होता है ऐसा अभिप्राय समझने योग्य है। उसके बहुतसे कारण प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं:—

(१) प्रथम कारण यह है जैसा ऊपर बताया है कि प्रायः करके जीवकी पूर्वकी आराधकता नहीं है।

(२) दूसरा कारण यह है कि उस प्रकारकी आराधकता न होनेके कारण वर्तमान देहमें उस आराधक-मार्गकी रीति भी पहिले न समझनेसे, अनाराधक-मार्गको ही आराधक-मार्ग मानकर जीवकी प्रवृत्ति होती है।

(३) तीसरा कारण यह है कि प्रायः करके कहीं ही सत्समागम अथवा सद्गुरुका योग होता है, और वह भी क्वचित् ही होता है।

(४) चौथा कारण यह है कि असत्संग आदि कारणोंसे जीवको सद्गुरु आदिकी पहिचान होना भी दुष्कर होता है, और प्रायः करके असद्गुरु आदिमें ही सत्य प्रतीति मानकर जीव वहीं रुक जाता है।

(५) पाँचवा कारण यह है कि क्वचित् सत्समागमका संयोग बने तो भी बल-वीर्य आदिकी इस प्रकारकी शिथिलता रहती है कि जीव तथारूप मार्गको ग्रहण नहीं कर सकता, अथवा उसे समझ नहीं सकता, अथवा असत्समागम आदिमें या अपनी कल्पनासे मिथ्याको सत्यरूपसे प्रतीति कर बैठता है।

प्रायः करके वर्तमानमें जीवने या तो शुष्क-क्रियाकी प्रधानतामें मोक्ष-मार्गकी कल्पना की है, अथवा बाह्य-क्रिया और शुद्ध व्यवहार-क्रियाके उत्थापन करनेमें मोक्ष-मार्गकी कल्पना की है, अथवा

३५१ बम्बई, मंगसिर वदी ९ सोम. १९४९

(१) उपाधिके सहन करनेके लिये जितनी चाहिये उतनी कठिनाई मेरेमें नहीं है, इसलिये उपाधिसे अत्यंत निवृत्ति पानेकी इच्छा रहा करती है, फिर भी उदयरूप जानकर वह यथाशक्ति सहन होती है।

परमार्थका दुःख मिटनेपर भी संसारका प्रासंगिक दुःख तो रहा ही करता है; और वह दुःख अपनी इच्छा आदिके कारण नहीं, परन्तु दूसरेकी अनुकम्पा तथा उपकार आदिके कारण ही रहता है; और उस विडंबनामें चित्त कभी कभी विशेष उद्वेगको प्राप्त हो जाता है।

इतने लेखके ऊपरसे वह उद्वेग स्पष्ट समझमें नहीं आ सकता; कुछ अंशमें तुम्हें समझमें आयेगा। इस उद्वेगके सिवाय हमें दूसरा कोई भी संसारके प्रसंगका दुःख नहीं माळूम होता। जिस प्रकारके संसारके पदार्थ हैं, यदि उन सबमें निस्पृहता हो और उद्वेग रहता हो, तो वह अन्यकी अनुकंपा अथवा उपकार अथवा इसी प्रकारके किसी कारणसे रहता है, ऐसा मुझे निश्चयरूपसे माळूम होता है।

इस उद्वेगके कारण कभी तो आँखोंमें आँसु आ जाते हैं; और उन सब कारणोंके प्रति प्रवृत्ति करनेका मार्ग अमुक अंशमें परतंत्र ही दिखाई देता है, इसलिये समान उदासीनता आ जाती है।

ज्ञानीके मार्गका विचार करनेपर माळूम होता है कि यह देह किसी भी प्रकारसे मूर्छा करने योग्य नहीं है; उसके दुःखसे इस आत्माको शोक करना योग्य नहीं। आत्माको आत्म-अज्ञानसे शोक करनेके सिवाय उसे दूसरा कोई शोक करना योग्य नहीं है। प्रगटरूपसे यमको समीपमें देखनेपर भी जिसकी देहमें मूर्छा नहीं आती, उस पुरुषको नमस्कार है। इसी बातका चिंतवन रखना, यह हमें तुम्हें और सबको योग्य है।

देह आत्मा नहीं है। आत्मा देह नहीं है। जैसे घड़ेको देखनेवाला घड़ेसे भिन्न है, इसी तरह देहको देखनेवाली, जाननेवाली आत्मा देहसे भिन्न है, अर्थात् वह देह नहीं है।

विचार करनेसे यह बात प्रगट अनुभवसे सिद्ध होती है, तो फिर इससे भिन्न देहके स्वाभाविक क्षय-वृद्धिरूप आदि परिणामको देखकर हर्ष-शोक युक्त होना किसी भी प्रकारसे योग्य नहीं है; और तुम्हें और हमें उसका निर्धारण करना–रखना–योग्य है, और यही ज्ञानीके मार्गकी मुख्य ध्वनि है।

(२) व्यापारमें यदि कोई यान्त्रिक व्यापार सूझ पड़े तो आजकल कुछ लाभ होना संभव है।

---

३५२ बम्बई, मंगसिर वदी १३ शनि. १९४९

भावसार खुशालरायजीने मंदवाड़में केवल पाँच मिनिटके भीतर देहको त्याग दिया है। संसारमें उदासीन रहनेके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है।

---

३५३ बम्बई, माघ सुदी ९ गुरु. १९४९

तुम सब मुमुक्षुओंके प्रति नम्रतासे यथायोग्य पहुँचे। हम निरन्तर ज्ञानी पुरुषकी सेवाकी इच्छा

शम, संवेग आदि गुणोंके उत्पन्न होनेपर अथवा वैराग्यविशेष, निष्पक्षता होनेपर, कषाय आदिके कृश होनेपर अथवा किसी भी प्रज्ञाविशेषसे समझनेकी योग्यता होनेपर, जो सद्गुरुके पाससे समझने योग्य अध्यात्म ग्रंथोंको—जो वहाँतक प्रायः करके शस्त्र जैसे हैं—अपनी कल्पनासे जैसे तैसे पढ़कर निश्चय करके, उस प्रकारके अंतर्भेदके उत्पन्न हुए बिना ही अथवा दशाके बदले बिना ही, विभावके दूर हुए बिना ही, अपने आपमें ज्ञानकी कल्पना कर लेता है, तथा क्रिया और शुद्ध व्यवहाररहित होकर प्रवृत्ति करता है—यह शुष्क-अध्यात्मीका तीसरा भेद है। जीवको जगह जगह इस प्रकारका संयोग मिलता आया है, अथवा ज्ञानरहित गुरु या परिग्रह आदिके इच्छुक गुरु, केवल अपने मान पूजा आदिकी कामनासे फिरनेवाले जीवोंको, अनेक प्रकारसे कुमार्गपर चढ़ा देते हैं; और प्रायः करके कोई ही ऐसी जगह होती है, जहाँ ऐसा नहीं होता। इससे ऐसा माल्रम होता है कि कालकी दुःषमता है।

यह जो दुःषमता लिखी है वह कुछ जीवको पुरुषार्थरहित करनेके लिये नहीं लिखी, परन्तु पुरुषार्थकी जागृतिके लिये ही लिखी है।

अनुकूल संयोगमें तो जीवको कुछ कम जागृति हो तो भी कदाचित् हानि न हो, परन्तु जहाँ इस प्रकारका प्रतिकूल योग रहता हो वहाँ मुमुक्षुको अवश्य ही अधिक जागृत रहना चाहिये, जिससे तथारूप पराभव न हो, और वह उस प्रकारके किसी प्रवाहमें प्रवाहित न हो जाय।

यद्यपि वर्तमान कालको दुःषम काल कहा है, फिर भी यह ऐसा भी है कि इसमें अनंत भवको छेदकर केवल एक भव बाकी रखनेवाला एकावतारीपना भी प्राप्त हो सकता है। इसलिये विचारवान जीवको इस लक्षको रखकर, ऊपर कहे हुए प्रवाहोंमें न पड़ते हुए, यथाशक्ति वैराग्य आदिका अवश्य ही आराधन करके, सद्गुरुका योग प्राप्त करके, कषाय आदि दोषको नष्ट करनेवाले और अज्ञानसे रहित होनेके सत्य मार्गको प्राप्त करना चाहिये। मुमुक्षु जीवमें जो शम आदि गुण कहे हैं, वे गुण अवश्य संभव होते हैं; अथवा उन गुणोंके बिना मुमुक्षुता ही नहीं कही जा सकती।

नित्य ही उस प्रकारका परिचय रखते हुए, उस उस बातको श्रवण करते हुए, विचारते हुए, फिर फिरसे पुरुषार्थ करते हुए वह मुमुक्षुता उत्पन्न होती है। उस मुमुक्षुताके उत्पन्न होनेपर जीवको परमार्थ-मार्ग अवश्य समझमें आता है।

---

३४९ बम्बई, कार्तिक वदी ९, १९४९

प्रमादके कम होनेका उपयोग, इस जीवको मार्गके विचारमें स्थिति कराता है, और विचार-मार्गमें स्थिति कराता है। इस बातको फिर फिरसे विचार करके उस प्रयत्नको वहाँ किसी भी तरह दूर करना योग्य है। यह बात भूलने योग्य नहीं है।

---

३५० बम्बई, कार्तिक वदी १२ बुध. १९४९

"पुनर्जन्म है—अवश्य है, इसके लिये मैं अनुभवसे हाँ कहनेमें अचल हूँ," यह वाक्य पूर्वभवके किसी संयोगके स्मरण होते समय सिद्ध होनेसे लिखा है। जिसको पुनर्जन्म आदि भावरूप किया है उस पदार्थको किसी प्रकारसे जानकर ही यह वाक्य लिखा गया है।

ऐसा होना संभव नहीं, और यह इस मार्गसे होना योग्य नहीं, ऐसा हमें लगता है। जिनसे वह संभव होना योग्य है, अथवा इसका जो मार्ग है, वह ज्ञानीमें तो प्रवृत्तिके उदयमें है; और जबतक वह कारण उनके लक्षमें न आ जाय, तबतक कोई दूसरा उपाय प्रतिबंधरूप ही है—निःसंशय प्रतिबंधरूप ही है। जीव यदि अज्ञान-परिणामी हो तो जिस तरह उस अज्ञानको नियमितरूपसे आराधन करनेसे कल्याण नहीं है, उसी तरह मोहरूप मार्ग अथवा इस प्रकारका जो इस लोकसंबंधी मार्ग है, वह मात्र संसार ही है। उसे फिर चाहे जिस आकारमें रक्खो तो भी वह संसार ही है। उस संसार परिणामको रहित करनेके लिये जब असंसारगत वाणीका अस्वच्छंद परिणामसे आधार प्राप्त होता है, उस समय उस संसारका आकार निराकारताको प्राप्त होता जाता है। वे अपनी दृष्टिके अनुसार दूसरा प्रतिबंध किया करते हैं, तथा अपनी उस दृष्टिसे यदि वे ज्ञानीके वचनकी भी आराधना करें तो कल्याण होना योग्य मालूम नहीं होता।

इसलिये तुम उन्हें ऐसा लिखो कि यदि तुम किसी कल्याणके कारणके नजदीक होनेके उपायकी इच्छा करते हो, तो उसके प्रतिबंधका कम होनेका उपाय करो; और नहीं तो कल्याणकी तृष्णाका त्याग करो। शायद तुम ऐसा समझते हो कि जैसे तुम स्वयं आचरण करते हो वैसे ही कल्याण है, मात्र वह अव्यवस्था हो गई है, यही एक अकल्याण है। परन्तु यदि ऐसा समझते हो तो वह यथार्थ नहीं है। वास्तवमें जो तुम्हारा आचरण है, उससे कल्याण भिन्न है, और वह तो जब जब जिस जिस जीवको उस प्रकारका भवस्थिति आदि योग समीपमें हो, तब तब उसे वह प्राप्त होने योग्य है। समस्त समूहमें ही कल्याण मान लेना योग्य नहीं है, और यदि ऐसे कल्याण होता हो तो उसका फल संसारार्थ ही है; क्योंकि पूर्वमें इसीसे जीव संसारी रहता आया है; इसलिये वह विचार तो जब जिसे आना होगा तब आयेगा। हालमें तुम अपनी रुचिके अनुसार अथवा जो तुम्हें भास होता है, उसे कल्याण मानकर प्रवृत्ति करते हो, इस विषयमें सहज ही, किसी प्रकारकी मानकी इच्छाके बिना ही, कल्याणकी इच्छाके बिना ही, तुम्हें क्लेश उत्पन्न करनेकी इच्छाके बिना ही, मुझे जो कुछ चित्तमें लगता है, सो कह देता हूँ।

जिस मार्गसे कल्याण होता है उस मार्गके दो मुख्य कारण देखनेमें आते हैं। एक तो यह कि जिस सम्प्रदायमें आत्मार्थके लिये ही सम्पूर्ण असंगतायुक्त क्रियायें हों—दूसरे किसी भी प्रयोजनकी इच्छासे न हों, और निरन्तर ही ज्ञान-दशाके ऊपर जीवोंका चित्त रहता हो, उसमें अवश्य ही कल्याणके उत्पन्न होनेका योग मानते हैं। यदि ऐसा न हो तो योगका मिलना संभव नहीं है। यहाँ तो सब व्यवहार लोकसंज्ञासे, मानके लिये, पूजाके लिये, पदके महत्त्वके लिये, श्रावक आदिके अपनेपनके लिये, अथवा इसी तरहके किसी दूसरे कारणोंसे जप, तप आदि व्याख्यान आदिके करनेकी प्रवृत्ति चल रही है, वह वह किसी भी तरह आत्मार्थके लिये नहीं है—आत्मार्थके प्रतिबंधरूप ही है। इसलिये यदि तुम कुछ इच्छा करते हो तो उसका उपाय करनेके लिये जो दूसरा कारण कहते हैं, उसके प्राप्त होनेसे [illegible] होनेसे किसी समय भी कल्याण होना संभव है।

असंगता अर्थात् आत्मार्थके सिवाय संग-प्रसंगमें नहीं पड़ना—शिष्य आदि बनानेके कारण संसारके लोगोंके साथ बातचीत करनेका प्रसंग नहीं रखना, शिष्य आदि बनानेके लिये [illegible]

करते हैं, परन्तु इस दुःषम कालमें तो उसकी प्राप्ति परम दुःषम देखते हैं, और इससे ज्ञानी पुरुषके आश्रयमें जिसकी बुद्धि स्थिर है, ऐसे मुमुक्षुजनको सत्संगपूर्वक भक्तिमार्गसे रहनेकी प्राप्तिको महाभाग्य-रूप मानते हैं; फिर भी हालमें तो उससे विपर्यय ही प्रारब्धोदय रहता है। हमारा सत्संगका लक्ष आत्मामें ही रहता है, फिर भी उदयाधीन स्थिति है; और वह हालमें इस प्रकारके परिणाममें रहती है कि उन मुमुक्षुजनोंके पत्रकी पहुँचमात्र भी विलंबसे दी जाती है। परन्तु किसी भी स्थितिमें हमारे अपराध-योग्य परिणाम नहीं हैं।

३५४　　बम्बई, माघ वदी ७ बुध. १९४९

यदि कोई मनुष्य हमारे विषयमें कुछ कहे तो उसे जहाँतक बने गंभीर मनसे सुन रखना, इतना ही मुख्य कार्य है। वह बात ठीक है या नहीं, यह जाननेके पहिले कोई हर्ष-विषाद जैसा नहीं होता।

मेरी चित्त-वृत्तिके विषयमें जो कभी कभी लिखा जाता है, उसका अर्थ परमार्थके ऊपर लेना चाहिये; और इस लिखनेका अर्थ व्यवहारमें कुछ मिथ्या परिणामवाला दिखाना योग्य नहीं है।

पड़े हुए संस्कारोंका मिटना दुर्लभ होता है। कुछ कल्याणका कार्य हो अथवा चिंतन हो, यही साधनका मुख्य कारण है, बाकी ऐसा कोई भी विषय नहीं कि जिसके पीछे उपाधि-तापसे दीन-तापूर्वक तपना योग्य हो, अथवा इस प्रकारका कोई भय रखना योग्य नहीं कि जो अपनेको केवल लोक-संज्ञासे ही रहता हो।

३५५　　बम्बई, माघ वदी ११ रवि. १९४९

ॐ

यहाँ प्रवृत्ति-उदयसे समाधि है।

प्रभावके विषयमें जो आपके विचार रहते हैं वे करुणाभावके कारण रहा करते हैं, ऐसा हम मानते हैं। कोई भी जीव परमार्थके प्रति केवल एक अंशसे भी प्राप्त होनेके कारणको प्राप्त हो, ऐसा निष्कारण करुणाशील ऋषभदेव आदि तीर्थंकरोंने भी किया है। क्योंकि सत्पुरुषोंके सम्प्रदायकी ऐसी ही सनातन करुणावस्था होती है कि समयमात्रके अनवकाशसे समस्त लोक आत्मावस्थाके प्रति सन्मुख हो, आत्मस्वरूपके प्रति सन्मुख हो, आत्मसमाधिके प्रति सन्मुख हो; और अन्य अवस्थाके प्रति सन्मुख न हो, अन्य स्वरूपके प्रति सन्मुख न हो, अन्य आधिके प्रति सन्मुख न हो; जिस ज्ञानसे स्वात्मस्थ परिणाम होता है, वह ज्ञान सब जीवोंको प्रगट हो, अनवकाशरूपसे सब जीव उस ज्ञानके प्रति रुचिसम्पन्न हों—इसी प्रकारका जिसका करुणाशील स्वभाव है, वह सनातन पुरुषोंका सम्प्रदाय है।

आपके अंतःकरणमें इसी प्रकारकी करुणा-वृत्तिसे प्रभावके विषयमें बारम्बार विचार आया करता है। और आपके विचारका एक अंश भी फल प्राप्त हो, अथवा उस फलके प्राप्त होनेका एक अंशमात्र भी कारण उत्पन्न हो, तो इस पंचम कालमें तीर्थंकरका मार्ग बहुत अंशोंसे प्रगट होनेके बराबर है; परन्तु

निवृत्ति, सत्संग आदि साधनोंको इस कालमें परम दुर्लभ जानकर, पूर्वके पुरुषोंने इस कालको 'हुंडा अवसर्पिणी' काल कहा है; और यह बात स्पष्ट भी है। प्रथमके तीन साधनोंका संयोग तो कभी भी दूसरे किसी कालमें प्राप्त हो जाना सुगम था, परन्तु सत्संग तो सभी कालमें दुर्लभ ही मालूम होता है, तो फिर इस कालमें तो वह सत्संग कहाँसे सुलभ हो सकता है? प्रथमके तीन साधनोंको भी किसी विरले जीव इस कालमें पा जाय, तो भी धन्य है। कालसंबंधी तीर्थंकरकी वाणीको सत्य करनेके लिये ऐसे प्रकारका उदय रहता है, और वह समाधिरूपसे सहन करने योग्य है।

आत्मस्वरूप.

(२) बम्बई, फाल्गुन वदी १४, १९५१

इसके साथ मणिरत्नमाला तथा योगकल्पद्रुम पढ़नेके लिये भेजे हैं। जो कुछ बाँधे हुए कर्म हैं, उन्हें भोगे बिना कोई उपाय नहीं है। चिंतारहित परिणामसे जो कुछ उदयमें आये, उसे सहन करना, इस प्रकारका श्रीतीर्थंकर आदि ज्ञानियोंका उपदेश है।

३५८

बम्बई, चैत्र सुदी १, १९५१

ॐ

(१)

समता रमता उरधता, ज्ञायकता सुखभास;
वेदकता चैतन्यता, ए सब जीवविलास।

जिस तीर्थंकरदेवने स्वरूपस्थ आत्मस्वरूप होकर, वक्तव्यरूपसे — जिस प्रकारसे वह आत्मा कही जा सकती है उस प्रकारसे — उसे अत्यंत यथायोग्य कहा है, उस तीर्थंकरको दूसरी सब प्रकारकी अपेक्षाका त्याग करके हम नमस्कार करते हैं।

पूर्वमें बहुतसे शास्त्रोंका विचार करनेसे, उस विचारके फलमें सत्पुरुषमें जिसके वचनसे भक्ति उत्पन्न हुई है, उस तीर्थंकरके वचनको हम नमस्कार करते हैं।

बहुत प्रकारसे जीवका विचार करनेसे, वह जीव आत्मस्वरूप पुरुषके बिना जाना जाय, यह संभव नहीं, इस प्रकारकी निश्चल श्रद्धा उत्पन्न करके उस तीर्थंकरके मार्गबोधको हम नमस्कार करते हैं।

भिन्न भिन्न प्रकारसे उस जीवका विचार करनेके लिये — उस जीवके प्राप्त होनेके लिये — योग आदि अनेक साधनोंका बलवान परिश्रम करनेपर भी जिसकी प्राप्ति न हुई, ऐसा वह जीव, जिसके द्वारा सहज ही प्राप्त हो जाता है — वही कहनेका जिसका उद्देश है — उस तीर्थंकरके उद्देश-वचनको हम नमस्कार करते हैं।

—— (अपूर्ण)

(२)

इस कालमें जिसमें सर्वोत्कृष्ट विचारशक्ति मौजूद है, ऐसा मनुष्यप्राणी कल्याणका विचार करनेके लिये सबसे अधिक योग्य है। फिर भी प्रायः जीवको अनन्तबार मनुष्यभव प्राप्त होनेपर भी [illegible] सिद्ध नहीं हुआ, जिससे [illegible] करना पड़ा है। [illegible]

३६० बम्बई, चैत्र सुदी ९, १९४९

(१)

आरंभ, परिग्रह, असत्संग आदि कल्याणमें प्रतिबंध करनेवाले कारणोंका, जैसे बने तैसे कम ही परिचय हो, और उनमें उदासीनता प्राप्त हो—यही विचार हालमें मुख्यरूपसे रखना योग्य है।

(२)

हालमें उस तरफ श्रावकों आदिके होनेवाले समागमके संबंधमें समाचार पढ़े हैं। उस प्रसंगमें जीवको रुचि अथवा अरुचि उत्पन्न नहीं हुई, इसे श्रेयका कारण जानकर, उसका अनुसरण करके, निरंतर प्रवृत्ति करनेका परिचय करना योग्य है। और उस असत्संगका परिचय, जैसे कम हो वैसे, उसकी अनुकंपाकी इच्छा करके रहना योग्य है। जैसे बने वैसे सत्संगके संयोगकी इच्छा करना और अपने दोषको देखना योग्य है।

---

३६१ बम्बई, चैत्र वदी १ रवि. १९४९

धार तरवारनी सोहली दोहली, चौदमा जिनतणी चरणसेवा;
धारपर नाचता देख बाजीगरा, सेवना-धारपर रहे न देवा।[1]

(आनंदघन—अनंतजिन-स्तवन)

इस प्रकारके मार्गको किस कारणसे अत्यंत कठिन कहा है, यह विचारने योग्य है।

---

३६२ बम्बई, चैत्र वदी ९ रवि. १९४९

जिसे संसारसंबंधी कारणके पदार्थोंकी प्राप्ति सुलभतासे निरन्तर हुआ करे, और कोई बंधन न हो, यदि ऐसा कोई पुरुष है, तो उसे हम तीर्थंकरतुल्य मानते हैं। परन्तु प्रायः इस प्रकारकी सुलभ-प्राप्तिके योगसे जीवको अल्प कालमें संसारसे अत्यंत वैराग्य नहीं आता, और स्पष्ट आत्मज्ञान उत्पन्न नहीं होता—ऐसा जानकर जो कुछ उस सुलभ-प्राप्तिको हानि करनेवाला संयोग मिलता है, उसे उपकारका कारण जानकर, सुखपूर्वक रहना ही योग्य है।

---

३६३ बम्बई, चैत्र वदी ९ रवि. १९४९

संसारी-वेशसे रहते हुए कौनसी स्थितिसे व्यवहार करें तो ठीक हो, ऐसा कदाचित् मालूम हो तो भी उस व्यवहारका करना तो प्रारब्धके ही आधीन है। किसी प्रकारके किसी राग, द्वेष अथवा अज्ञानके कारणसे जो न होता हो, उसका कारण उदय ही मालूम होता है।

जलमें स्वाभाविक शीतलता है, परन्तु सूर्य आदिके तापके संबंधसे वह उष्ण होता हुआ दिखाई

---

[1] तलवारकी धारपर चलना तो सहज है, परन्तु चौदहवें तीर्थंकरके चरणोंकी सेवा करना कठिन है। बाजीगर लोग तलवारकी धारपर नाचते हुए देखे जाते हैं, परन्तु प्रभुके चरणोंकी सेवारूप धारपर तो देवता भी नहीं ठहर सकते।

श्रीकृष्णके वचनके अनुसार मुमुक्षु जीवको वे सब प्रसंग, जिन प्रसंगोंके कारण आत्म-साधन सूझता है, सुखदायक ही मानने योग्य हैं।

अमुक समयतक अनुकूल प्रसंगयुक्त संसारमें कदाचित् यदि सत्संगका संयोग हुआ हो, तो भी इस कालमें उससे वैराग्यका जैसा चाहिये वैसा वेदन होना कठिन है। परन्तु उसके बाद यदि कोई प्रसंग प्रतिकूल ही प्रतिकूल बनता चला जाय तो उसके विचारसे—उसके पश्चात्तापसे—क्रमशः हितकारक हो जाता है, यह जानकर जिस किसी प्रतिकूल प्रसंगकी प्राप्ति हो, उसे आत्म-साधनका कारणरूप मानकर समाधि रखकर जागृत रहना चाहिये।

कल्पितमात्रमें किसी प्रकारसे भूले हुएके समान नहीं है।

३६७

बम्बई, वैशाख वदी ९, १९४९

श्रीमहावीरदेवसे गौतम आदि मुनिजन पूँछते थे कि हे पूज्य! माहण श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रंथ इन शब्दोंका क्या अर्थ है, सो हमें कहिये। उसके उत्तरमें श्रीतीर्थंकर इस अर्थको विस्तारसे कहते थे। वे अनुक्रमसे इन चारोंकी बहुत प्रकारकी वीतराग अवस्थाओंको विशेष–अति विशेषरूपसे कहते थे, और इस तरह शिष्य उस शब्दके अर्थको धारण करते थे।

निर्ग्रंथकी अनेक दशाओंको कहते समय निर्ग्रन्थके तीर्थंकर 'आत्मवादप्राप्त' इस प्रकारका एक शब्द कहते थे। टीकाकार शीलांकाचार्य उस 'आत्मवादप्राप्त' शब्दका अर्थ इस प्रकार कहते हैं— "उपयोग जिसका लक्षण है, असंख्य-प्रदेशी, संकोच-विकासका भाजन, अपने किये हुए कर्मका भोक्ता, व्यवस्थासे द्रव्य-पर्यायरूप, नित्य-अनित्य आदि अनंत धर्मात्मक ऐसी आत्माको जाननेवाला आत्मवादप्राप्त" है।

३६८

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी ११ शुक्र. १९४९

सब परमार्थके साधनोंमें परम साधन सत्संग–सत्पुरुषके चरणके समीप निवास–है। सब कालमें उसकी कठिनता है; और इस प्रकारके विषम कालमें तो ज्ञानी पुरुषोंने उसकी अत्यंत ही कठिनता मानी है।

ज्ञानी-पुरुषोंकी प्रवृत्ति, प्रवृत्ति जैसी नहीं होती। जैसे गरम पानीमें अग्निका मुख्य गुण नहीं कहा जा सकता, वैसे ही ज्ञानीकी प्रवृत्ति है; फिर भी ज्ञानी-पुरुष भी किसी प्रकारसे निवृत्तिकी ही इच्छा करता है। पूर्वकालमें आराधन किये हुए निवृत्तिके क्षेत्र, वन, उपवन, योग, समाधि और सत्संग आदि ज्ञानी-पुरुषको प्रवृत्तिमें होनेपर भी बारम्बार याद आ जाते हैं; फिर भी ज्ञानी उदयरूप प्रारब्धका ही अनुसरण करते हैं। सत्संगकी रुचि रहती है, उसका लक्ष रहता है, परन्तु वह इस समय नियमित नहीं है।

कल्याणविषयक जो जो प्रतिबंधरूप कारण हैं, उनका जीवको बारम्बार विचार करना योग्य है। उन सब कारणोंको बारम्बार विचार करके दूर करना योग्य है, और इस मार्गके अनुसरण किये बिना कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती। मल, विक्षेप, और अज्ञान ये जीवके अनादिके तीन दोष हैं। ज्ञानी पुरुषोंके वचनकी प्राप्ति होनेपर, उसका यथायोग्य विचार करनेसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है। उस

हमारे समागमका अंतराय जानकर चित्तको प्रमादका अवकाश देना योग्य नहीं, परस्पर मुमुक्षु भाईयोंके समागमको अव्यवस्थित होने देना योग्य नहीं, निवृत्तिके क्षेत्रके प्रसंगको न्यून होने देना योग्य नहीं, कामनापूर्वक प्रवृत्ति करना उचित नहीं—ऐसा विचारकर जैसे बने तैसे अप्रमत्तताका, परस्परके समागमका, निवृत्तिके क्षेत्रका और प्रवृत्तिकी उदासीनताका आराधन करना चाहिये।

जो प्रवृत्ति यहाँ उदयमें है, वह इस प्रकारकी है कि उसे दूसरे किसी मार्गसे चलनेपर भी छोड़ी नहीं जा सकती—वह सहन ही करने योग्य है। इसलिये उसका अनुसरण करते हैं, फिर भी सम्यक् तो अव्याबाध स्थितिमें जैसीकी तैसी ही है।

आज यह हम आठवाँ पत्र लिखते हैं। इसे तुम सब जिज्ञासु भाईयोंके बारम्बार विचार करनेके लिये लिखा है। चित्त इस प्रकारके उदयवाला कभी कभी ही रहता है। आज उस प्रकारका अनुक्रमसे उदय होनेसे उस उदयके अनुसार लिखा है। जब हम भी सत्संगकी तथा निवृत्तिकी कामना रखते हैं, तो फिर यह तुम सबको रखनी योग्य हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। जब हम भी व्यवहारमें रहते हुए अल्पारंभको और अल्प परिग्रहको, प्रारब्ध-निवृत्तिरूपसे चाहते हैं, तो फिर तुम्हें उस तरह वर्ताव करना योग्य हो, इसमें कोई संशय करना योग्य नहीं। इस समय ऐसा नहीं सूझता कि समागम होनेके संयोगका नियमित समय लिखा जा सके।

३६९

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १५ भौम. १९४९

जीव तुं शीद शोचना धरे ? कृष्णने करवुं होय ते करे;
जीव तुं शीद शोचना धरे ? कृष्णने करवुं होय ते करे।

'पूर्वमें ज्ञानी-पुरुष हो गये हैं, उन ज्ञानियोंमें बहुतसे ज्ञानी-पुरुष सिद्धि-योगवाले भी हो गये हैं, यह जो लौकिक-कथन है वह सच्चा है या झूठा'? यह आपका प्रश्न है; और 'यह सच्चा मालूम होता है', ऐसा आपका अभिप्राय है; तथा 'यह साक्षात् देखनेमें नहीं आता', यह आपकी जिज्ञासा है।

कितने ही मार्गानुसारी पुरुष और अज्ञान-योगी पुरुषोंमें भी सिद्धि-योग होता है। प्रायः करके वह सिद्धि-योग उनके चित्तकी अत्यंत सरलतासे अथवा सिद्धि-योग आदिको अज्ञान-योगसे स्फुरणा प्रदान करनेसे प्रवृत्ति करता है।

सम्यक्दृष्टि पुरुष—जिनके चौथा गुणस्थान होता है—जैसे ज्ञानी-पुरुषोंके क्वचित् सिद्धि होती है, और क्वचित् सिद्धि नहीं होती। जिनके होती है, उनको उसके प्रगट करनेकी प्रायः इच्छा नहीं होती; और प्रायः करके जब इच्छा होती है तब उस समय होती है, जब जीव प्रमादके वश होता है; और यदि उस प्रकारकी इच्छा हुई तो वह सम्यक्त्वसे गिर जाता है। प्रायः पाँचवें और छठे गुणस्थानमें भी उत्तरोत्तर सिद्धि-योग विशेष संभव होता जाता है; और वहाँ भी यदि प्रमाद आदिके योगसे जीव सिद्धिमें प्रवृत्ति करे तो उसका प्रथम गुणस्थानमें आ जाना संभव है।

सातवें, आठवें, नवमें और दशवें गुणस्थानमें, प्रायः करके प्रमादका अवकाश कम होता है। ग्यारहवें गुणस्थानमें सिद्धि-योगका लोभ संभव होनेके कारण, वहाँसे प्रथम गुणस्थानमें आ जाना संभव है।

इस कालको तीर्थंकर आदिने स्वभावसे ही दुःषम काल कहा है। उसमें भी विशेष करके व्यवहारमें अनार्यताके योग्यभूत ऐसे इस क्षेत्रमें तो यह काल और भी बलवानरूपसे रहता है। लोगोंकी आत्म-प्रत्ययके योग्य-बुद्धि अत्यंत नाश होने योग्य हो गई है। इस प्रकारके सब तरहके दुःषम योगमें व्यवहार करते हुए परमार्थका भूल जाना अत्यंत सुलभ है, और परमार्थकी स्मृति होना अत्यंत अत्यंत दुर्लभ है। इस क्षेत्रकी दुःषमताकी इतनी विशेषता है जितनी कि आनन्दघनजीने चौदहवें जिन भगवान्के स्तवनमें कही है; और आनन्दघनजीके कालकी अपेक्षा तो वर्तमान काल और भी विशेष दुःषम-परिणामी है। उसमें यदि आत्म-प्रत्ययी पुरुषके बचने योग्य कोई उपाय हो तो केवल एक निरंतर अविच्छिन्न धारासे सत्संगकी उपासना करना ही माछूम होता है।

जिसे प्रायः सब कामनाओंके प्रति उदासीनभाव है, ऐसे हमें भी यह सब व्यवहार और काल आदि, गोते खाते खाते संसार-समुद्रसे मुश्किलसे ही पार होने देता है। फिर भी प्रति समय उस परिश्रमका अत्यंत खेद उत्पन्न हुआ करता है; और संताप उत्पन्न होकर सत्संगरूप जलकी अत्यंतरूपसे तृषा रहा करती है; और यही एक दुःख माछूम हुआ करता है।

ऐसा होनेपर भी इस प्रकार व्यवहारको सेवन करते हुए उसके प्रति द्वेष-परिणाम करना योग्य नहीं है—इस प्रकार जो सर्व ज्ञानी-पुरुषोंका अभिप्राय है, वह उस व्यवहारको प्रायः समताभावसे कराता है। ऐसा लगा करता है कि आत्मा उस विषयमें मानों कुछ करती ही नहीं।

विचार करनेसे ऐसा भी नहीं लगता कि यह जो उपाधि उदयमें है, वह सब प्रकारसे कष्टरूप ही है। जिससे पूर्वोपार्जित प्रारब्ध शान्त होता है, उस उपाधि-परिणामको आत्म-प्रत्ययी कहना चाहिये।

मनमें हमें ऐसा रहा करता है कि अल्प कालमें ही यह उपाधि-योग दूर होकर बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रंथता प्राप्त हो तो अधिक योग्य है, परन्तु यह बात अल्प कालमें हो सके, ऐसा नहीं सूझता; और जबतक ऐसा न हो तबतक उस चिंताका दूर होना संभव नहीं है।

यदि वर्तमानमें ही दूसरा समस्त व्यवहार छोड़ दिया हो, तो यह बन सकता है। दो-तीन उदयके व्यवहार इस प्रकारके रहते हैं कि जो भोगनेसे ही निवृत्त हो सकते हैं; और वे इस प्रकारके हैं कि कष्टमें भी उस विशेष कालकी स्थितिमेंसे अल्प कालमें उनका वेदन नहीं किया जा सकता; और इस कारण हम मूर्खकी तरह ही इस व्यवहारका सेवन किया करते हैं।

किसी द्रव्यमें, किसी क्षेत्रमें, किसी कालमें और किसी भावमें स्थिति हो जाय, ऐसा प्रसंग मानों कहीं भी दिखाई नहीं देता। उसमेंसे केवल सब प्रकारका अप्रतिबद्धभाव होना ही योग्य है, फिर भी निवृत्ति-क्षेत्र, निवृत्ति-काल, सत्संग और आत्म-विचारमें हमें प्रतिबद्ध रुचि रहती है।

यह योग किसी प्रकारसे भी जैसे बने तैसे थोड़े ही कालमें हो जाय—इसी चिन्तनमें रात-दिन रहा करते हैं।

होता है, वहीं सब प्रकारकी आशाकी समाधि होकर जीवके स्वरूपसे जीवित रहा जाता है। जिस वस्तुकी कोई भी मनुष्य इच्छा करता है, वह उसकी प्राप्तिकी भविष्यमें ही इच्छा करता है; और इस प्राप्तिकी इच्छारूप आशासे ही उसकी कल्पना जीवित रहती है; और वह कल्पना प्रायः करके कल्पना ही रहा करती है। यदि जीवको वह कल्पना न हो और ज्ञान भी न हो, तो उसकी दुःखकारक भयंकर स्थितिका अकथनीय हो जाना संभव है।

सब प्रकारकी आशा—और उसमें भी आत्माके सिवाय दूसरे अन्य पदार्थोंकी आशामें, समाधि किस प्रकारसे प्राप्त हो, यह कहो?

---

३७४ बम्बई, द्वितीय आषाढ़ सुदी ६ बुध. १९४८

रक्खा हुआ कुछ रहता नहीं, और छोड़ा हुआ कुछ जाता नहीं—इस प्रकार परमार्थ विचार करके किसीके प्रति दीनता करना अथवा विशेषता दिखाना योग्य नहीं है। समागममें दीनता नहीं आना चाहिये।

---

३७५ बम्बई, द्वितीय आषाढ़ वदी ६, १९४८

श्रीकृष्ण आदिकी क्रिया उदासीन जैसी थी। जिस जीवको सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाय, उसे उसी समय सब प्रकारकी सांसारिक क्रियायें न रहें, यह कोई नियम नहीं है। हाँ, सम्यक्त्व उत्पन्न हो जानेके बाद सांसारिक क्रियाओंका रसरहित हो जाना संभव है। प्रायः करके ऐसी कोई भी क्रिया उस जीवकी नहीं होती जिससे परमार्थमें भ्रांति उत्पन्न हो; और जबतक परमार्थमें भ्रांति न हो, तबतक दूसरी क्रियाओंसे सम्यक्त्वको बाधा नहीं आती। इस जगत्के लोग सर्पको पूजते हैं, परन्तु वे स्वाभाविक पूज्य-बुद्धिसे उसे नहीं पूजते, किन्तु भयसे पूजते हैं—भावसे नहीं पूजते; और इष्टदेवको लोग अत्यंत भावसे पूजते हैं। इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि जीव इस संसारका जो सेवन करता हुआ दिखाई देता है, वह पूर्वमें बाँधे हुए प्रारब्ध-कर्मसे ही दिखाई देता है—वास्तविक दृष्टिसे भावपूर्वक उस सेवनमें उसे कोई भी प्रतिबंध नहीं होता, वह केवल पूर्वकर्मके उदयरूप भयसे ही है होता। जितने अंशमें भाव-प्रतिबंध न हो, उतने अंशमें ही उस जीवके सम्यक्दृष्टिपना होता है।

अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभका सम्यक्त्वके सिवाय नाश होना संभव नहीं है, ऐसा जो कहा जाता है वह यथार्थ है। संसारी पदार्थोंमें जीवको तीव्र स्नेहके बिना क्रोध, मान, माया और लोभ नहीं होते, जिससे जीवको संसारका अनंत अनुबंध हो। जिस जीवको संसारी पदार्थोंमें तीव्र स्नेह रहता हो, उसे किसी प्रसंगमें भी अनंतानुबंधी चतुष्कमेंसे किसीका भी उदय होना संभव है, और जबतक उन पदार्थोंमें तीव्र स्नेह हो, तबतक जीव अवश्य ही परमार्थ-मार्गवाला नहीं होता। परमार्थ-मार्ग उसे कहते हैं कि जिसमें अपरमार्थका सेवन करता हुआ जीव सब प्रकारसे, दुःखसे अत्यन्त दुःखसे कायर हुआ करे। दुःखसे कायरता होना तो कदाचित् दूसरे जीवोंको भी संभव है, परन्तु संसार-सुखकी प्राप्तिमें भी कायरता होना—उस सुखका अच्छा नहीं लगना—उससे नीरसपना होना—यह परमार्थ-मार्गी पुरुषके ही होता है।

३७१

बम्बई, प्र. आषाढ़ वदी ४ सोम. १९४९

ॐ

जिसे प्रीतिसे संसारके सेवन करनेकी स्पष्ट इच्छा होती हो, तो उस पुरुषने ज्ञानीके वचनोंको ही नहीं सुना है, अथवा उसने ज्ञानी-पुरुषका दर्शन भी नहीं किया, ऐसा तीर्थंकर कहते हैं।

जिसकी कमर टूट गई है उसका प्रायः समस्त बल क्षीण हो जाता है। जिसे ज्ञानी-पुरुषके वचनरूप लकड़ीका प्रहार हुआ है, उस पुरुषमें उस प्रकारका संसारसंबंधी बल होता है, ऐसा तीर्थंकर कहते हैं।

ज्ञानी-पुरुषको देखनेके बाद भी यदि स्त्रीको देखकर राग उत्पन्न होता हो, तो ऐसा समझो कि ज्ञानी-पुरुषको देखा ही नहीं।

ज्ञानी-पुरुषके वचनोंको सुननेके पश्चात् स्त्रीका सजीवन शरीर जीवनरहित रूपसे भासित हुए बिना न रहे, और धन आदि संपत्ति वास्तवमें पृथ्वीके विकाररूपसे भासमान हुए बिना न रहे।

ज्ञानी-पुरुषके सिवाय उसकी आत्मा दूसरी किसी भी जगह क्षणभर भी ठहरनेके लिये इच्छा नहीं करती।

इत्यादि वचनोंका पूर्वमें ज्ञानी-पुरुष मार्गानुसारी पुरुषको बोध देते थे; जिसे जानकर—सुनकर सरल जीव उसे आत्मामें धारण करते थे। तथा प्राणत्याग जैसे प्रसंग आनेपर भी वे उन वचनोंको अप्रधान न करने योग्य मानते थे, और वैसा ही आचरण करते थे।

सबसे अधिक स्मरण करने योग्य बातें तो बहुतसी हैं, फिर भी संसारमें एकदम उदासीनता होना, दूसरोंके अल्प गुणोंमें भी प्रीति होना, अपने अल्प गुणोंमें भी अत्यंत क्लेश होना, दोषके नाश करनेमें अत्यंत वीर्यका स्फुरित होना—ये बातें सत्संगमें अखंड एक शरणागतरूपसे ध्यानमें रखने योग्य हैं। जैसे बने वैसे निवृत्ति-काल, निवृत्ति-क्षेत्र, निवृत्ति-द्रव्य और निवृत्ति-भावका सेवन करना। तीर्थंकर, गौतम जैसे ज्ञानी-पुरुषको भी संबोधन करते थे कि 'हे गौतम! समयमात्र भी प्रमाद करना योग्य नहीं है'।

३७२

बम्बई, प्र. आषाढ़ वदी १२ भौम. १९४९

अनुकूलता-प्रतिकूलताके कारणमें कोई विषमता नहीं है। सत्संगके इच्छा करनेवाले पुरुषको यह क्षेत्र विघ्नतुल्य है। किसी किसी उपाधि-योगका अनुक्रम हमें भी रहा करता है। इन दो कारणोंकी विस्मृति करते हुए भी जो घरमें रहना है, उसमें कितनी ही प्रतिकूलतायें हैं, इसलिये हालमें तुम सब भाईयोंका विचार कुछ स्थगित करने योग्य (जैसा) है।

३७३

बम्बई, प्र. आषाढ़ वदी १४ बुध. १९४९

प्रायः करके प्राणी आशासे ही जीते हैं। जैसे जैसे संज्ञा विशेष होती जाती है, वैसे वैसे विशेष आशाके बलसे जीवित रहना होता है। जहाँ मात्र एक आत्मविचार और आत्मज्ञानका उद्भव

होनेपर, उस प्रकारकी भावना करते हुए जीवको प्रायः निष्फल कर्मबंधन नहीं होता; और महाव्याधिकी उत्पत्तिके समय तो जीव देहके ममत्वका ज़रूर त्याग करके, ज्ञानी-पुरुषके मार्गका विचारपूर्वक आचरण करे, यह श्रेष्ठ उपाय है। यद्यपि देहका उस प्रकारका ममत्व त्याग करना अथवा उसका कम करना, यह महाकठिन बात है, फिर भी जिसका वैसा करनेका निश्चय है, वह जल्दी या देरमें कभी न कभी अवश्य सफल होता है।

जबतक देह आदिसे जीवको आत्मकल्याणका साधन करना बाकी रहा है, तबतक उस देहमें अपरिणामिक ममताका सेवन करना ही योग्य है; अर्थात् यदि इस देहका कोई उपचार करना पड़े, तो वह उपचार देहमें ममत्व करनेकी इच्छासे नहीं करना चाहिये, परन्तु जिससे उस देहसे ज्ञानी-पुरुषके मार्गका आराधन हो सके, इस प्रकार किसी तरह उसमें रहनेवाले लाभके लिये, और उसी प्रकारकी बुद्धिसे, उस देहकी व्याधिके उपचारमें प्रवृत्ति करनेमें बाधा नहीं है। जो कुछ ममता है वह अपरिणामिक ममता है, अर्थात् परिणाममें समता स्वरूप है; परन्तु उस देहकी प्रियताके लिये, सांसारिक साधनोंमें जो यह प्रारब्ध भोगका हेतु है, उसका त्याग करना पड़ता है। इस प्रकार आर्तध्यानसे किसी प्रकारसे भी उस देहमें बुद्धि न करना, यह ज्ञानी-पुरुषोंके मार्गकी शिक्षा जानकर, आत्मकल्याणके उस प्रकारके प्रसंगमें लक्ष रखना योग्य है।

श्रीतीर्थंकर जैसोंने सब प्रकारसे ज्ञानीकी शरणमें बुद्धि रखकर निर्भयता और खेदरहित भावसे सेवन करनेकी शिक्षा की है, और हम भी यही कहते हैं। किसी भी कारणसे इस संसारसे क्लेशित होना योग्य नहीं। अविचार और अज्ञान, यह सब क्लेशोंका, मोहका और कुगतिका कारण है। सद्विचार और आत्मज्ञान आत्मगतिका कारण है। उसका प्रथम साक्षात् उपाय, ज्ञानी-पुरुषकी आज्ञाका विचार करना ही मालूम होता है।

३७७

बम्बई, श्रावण सुदी ४ भौम. १९४९

जब किसी सामान्य मुमुक्षु जीवको भी इस संसारके प्रसंगमें प्रवृत्तिसंबंधी वीर्य मंद पड़ जाता है, तो हमें तत्संबंधी अधिक मंदता हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं मालूम होता। फिर भी किसी पूर्वकालमें प्रारब्धके उपार्जन करनेका इसी प्रकारका क्रम रहा होगा, जिससे कि उस प्रसंगमें प्रवृत्ति करना रहा करे, परन्तु वह किस प्रकार रहा करता है? यह क्रम इस प्रकार रहा करता है कि जो कोई संसार-सुखकी इच्छायुक्त हो उसे भी उस तरह करना अनुकूल न आवे। यद्यपि यह बात मंद करने जैसी नहीं, और हम उदासीनताका ही सेवन करते हैं, फिर भी उस कारणसे एक दूसरा भेद उत्पन्न होता है। वह यह कि सत्संग और निवृत्तिकी अप्रधानता रहा करती है; और जिससे चाह करते हैं, ऐसे प्रसंगके आत्मज्ञान और आत्मवार्ताको किसी भी प्रकारकी इच्छाके बिना कचित् त्याग जैसा करना पड़ता है। आत्मज्ञानके वेदक होनेमें व्यग्रता नहीं होती परन्तु आत्मवार्ताका वियोग स्पष्टता वेदन करता है। संसारकी आशा देखकर चिंता नहीं करना। यदि चिंतामें समता रहे तो वह आत्मचिन्तन जैसी है।

जीवको उस प्रकारकी नीरसता परमार्थ-ज्ञानसे अथवा परमार्थ-ज्ञानी पुरुषके निश्चयसे होना संभव है, दूसरे प्रकारसे होना संभव नहीं। अपरमार्थरूप संसारको परमार्थ-ज्ञानसे जानकर फिर उसके प्रति तीव्र क्रोध, मान, माया अथवा लोभ कौन करे अथवा वह कहाँसे हो? जिस वस्तुका माहात्म्य दृष्टिमेंसे दूर हो गया है, फिर उस वस्तुके लिये अत्यंत क्लेश नहीं रहता। संसारमें भ्रांतिरूपसे जाना हुआ सुख, परमार्थ-ज्ञानसे भ्रांति ही भासित होता है, और जिसे भ्रांति भासित हुई है, फिर उसे वस्तुका क्या माहात्म्य मालूम होगा? इस प्रकारकी माहात्म्य-दृष्टि परमार्थ-ज्ञानी पुरुषके निश्चयवाले जीवको ही होती है, और इसका कारण भी यही है। कदाचित् किसी ज्ञानके आवरणके कारण जीवको व्यवच्छेदक ज्ञान न हो, तो भी उसे ज्ञानी-पुरुषकी श्रद्धारूप सामान्य ज्ञान तो होता है। यह ज्ञान बड़के बीजकी तरह परमार्थ-बड़का बीज है।

तीव्र परिणामसे और संसार-भयसे रहित भावसे ज्ञानी-पुरुष अथवा सम्यग्दृष्टि जीवको क्रोध, मान, माया अथवा लोभ नहीं होता। जो संसारके लिये अनुबंध करता है, उसकी अपेक्षा परमार्थके नामसे भ्रांतिगत परिणामसे, जो असद्गुरु, देव और धर्मका सेवन करता है, उस जीवको प्रायः करके अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ होता है; क्योंकि दूसरी संसारकी क्रियायें प्रायः करके अनंत अनुबंध करनेवाली नहीं हैं। केवल अपरमार्थको परमार्थ जानकर जीव आग्रहसे उसका सेवन किया करे, यह परमार्थ-ज्ञानी पुरुषके प्रति, देवके प्रति और धर्मके प्रति निरादर है—ऐसा कहना प्रायः यथार्थ है। वह सद्गुरु, देव और धर्मके प्रति, असद्गुरु आदिके आग्रहसे, मिथ्या-बोधसे, आसातनासे, उपेक्षापूर्वक प्रवृत्ति करे, यह संभव है। तथा उस मिथ्या संगसे उसकी संसार-वासनाके परिच्छिन्न न होनेपर भी उसे परिच्छेदरूप मानकर वह परमार्थके प्रति उपेक्षक ही रहता है, यही अनंत क्रोध, मान, माया और लोभका चिह्न है।

३७६

बम्बई, द्वि.आषाढ़ वदी १०सोम. १९४९

शारीरिक वेदनाको, देहका धर्म जानकर और बाँधे हुए कर्मोंका फल जानकर सम्यक्प्रकारसे सहन करना योग्य है। बहुत बार शारीरिक वेदनाका विशेष बल रहता है, उस समय जैसे ऊपर कहा है, उस तरह सम्यक्प्रकारसे श्रेष्ठ जीवोंको भी स्थिर रहना कठिन हो जाता है। फिर भी हृदयमें बारम्बार उस बातका विचार करते हुए, और आत्माको नित्य अछेद्य, अभेद्य, और जरा, मरण आदि धर्मसे रहित भावना करते हुए—विचार करते हुए—कितने ही महात्मा उस सम्यक्प्रकारका निश्चय आता है। बड़े पुरुषोंद्वारा सहन किये हुए उपसर्ग तथा परिषहके प्रसंगोंकी जीवमें स्मृति उत्पन्न करके, उसमें उनके रहनेवाले अखण्ड निश्चयको फिर फिरसे हृदयमें स्थिर करने योग्य जानकर, जीवका वह सम्यक्-परिणाम फलीभूत होता है और फिर वेदना—वेदनाके क्षय-कालमें निवृत्त होनेवाली—वह वेदना किसी भी कर्मका कारण नहीं होती। जिस समय शरीर व्याधिग्रसित हो उस समय जीवमें यदि उसने अपनी निजता समझकर, इसका अनित्य व अशरणपना जानकर, इसके प्रति ममत्व आदिका त्याग किया हो, तो वह महाभाग्य श्रेय है। फिर भी यदि ऐसा न हुआ हो तो भी किसी भी व्याधिके उत्पन्न

बोधविषयक भ्रांति प्रायः नहीं होती, परन्तु बोधके विशेष परिणामका अनवकाश होता है, ऐसा तो स्पष्ट दिखाई देता है। और उससे आत्मा अनेकबार व्याकुल होकर त्यागका सेवन करती थी; फिर भी उपार्जित कर्मकी स्थितिको सम परिणामसे, अदीनतासे, अव्याकुलतासे सहना करना, यही ज्ञानी-पुरुषोंका मार्ग है, और हमें भी उसका ही सेवन करना है—ऐसी स्मृति होकर स्थिरता रहती है; अर्थात् आकुलता आदि भावकी होती हुई विशेष घबराहट समाप्त होती थी।

जबतक सारे दिन निवृत्तिके ही योगमें काल न व्यतीत हो तबतक सुख न मिले—इस प्रकारकी हमारी स्थिति है। 'आत्मा आत्मा', 'उसका विचार', 'ज्ञानी पुरुषकी स्मृति', 'उनके माहात्म्यकी कथा-वार्त्ता', 'उसके प्रति अत्यंत भक्ति', 'उनके अनवकाश आत्म-चारित्रके प्रति मोह'—यह हमको अभी आकर्षित किया ही करता है, और उस कालका सेवन करते हैं।

पूर्वकालमें जो जो काल ज्ञानी-पुरुषके समागममें व्यतीत हुआ है, वह काल धन्य है; वह क्षेत्र अत्यंत अत्यंत धन्य है; उस श्रवणको, श्रवणके कर्त्ताको और उसमें भक्तिभावयुक्त जीवोंको त्रिकाल दंडवत् हो। उस आत्मस्वरूपमें भक्ति, चिंतन, आत्म-व्याख्यावाली ज्ञानी-पुरुषकी वाणी, अथवा ज्ञानीके शास्त्र अथवा मार्गानुसारी ज्ञानी-पुरुषके सिद्धांतकी अपूर्वताको हम अति भक्तिपूर्वक प्रणाम करते हैं।

अखंड आत्म-धुनकी एकतार उस बातको हमें अभी प्रवाहपूर्वक सेवन करनेकी अत्यंत आतुरता रहा करती है; और दूसरी ओरसे इस प्रकारका क्षेत्र, इस प्रकारका लोक-प्रवाह, इस प्रकारका उपाधि-योग और दूसरी उस उस तरहकी बातोंको देखकर विचार मूर्च्छाकी तरह हो जाता है। ईश्वरेच्छा!

३८१

पेटलाद, भाद्रपद वदी ६, १९४९

ॐ

१. जिसके पाससे धर्म माँगना, उस प्राप्त किये हुएकी पूर्ण चौकसी करनी—इस वाक्यका स्थिर चित्तसे विचार करना चाहिये।

२. जिसके पाससे धर्म माँगना, यदि उस पूर्ण ज्ञानीकी पहिचान जीवको हुई हो तो उस प्रकारके ज्ञानियोंका सत्संग करना, और यदि सत्संग हो जाय तो उसे पूर्ण पुण्यका उदय समझना। उस सत्संगमें उस परम ज्ञानीके उपदेश किये हुए शिक्षा-बोधको ग्रहण करना—जिससे कदाग्रह, मतमतांतर, विश्वासघात, और असत्वचन इत्यादिका तिरस्कार हो—अर्थात् उन्हें ग्रहण नहीं करना, मतका आग्रह छोड़ देना। आत्माका धर्म आत्मामें ही है। आत्मत्व-प्राप्त पुरुषका उपदेश किया हुआ धर्म आत्म-मार्गरूप होता है; बाकीके मार्गके मतमें नहीं पड़ना।

३. इतना होनेके बाद सत्संग होनेपर भी यदि जीवसे कदाग्रह, मतमतांतर आदि दोष न छोड़े जा सकें, तो फिर उनसे छूटनेकी आशा भी न करनी चाहिये। हम स्वयं किसीको आदेश-बात अर्थात् 'ऐसा करो', यह नहीं कहते। बारम्बार पूँछो तो भी वह बात स्मृतिमें रहती है। हमारे संगमें आये हुए किन्हीं जीवोंको अभीतक भी हमने ऐसा नहीं कहा कि इस प्रकार चलो या यह करो। यदि कुछ कहा होगा तो वह केवल शिक्षा-बोधके रूपमें ही कहा होगा।

३७८

बम्बई, श्रावण सुदी ५, १९४९

(१) जौहरी लोग ऐसा मानते हैं कि यदि एक साधारण सुपारी जैसे उत्तम रंगका, पानीदार और घाटदार माणिक (प्रत्यक्ष) दोषरहित हो, तो उसकी करोड़ों रुपये भी कीमत गिनें तो भी वह कीमत थोड़ी है। यदि विचार करें तो इसमें केवल आँखके ठहरने और मनकी इच्छाकी कल्पित मान्यताके सिवाय दूसरी और कोई भी बात नहीं है। फिर भी इसमें एक आँखके ठहरनेकी खूबीके लिये और उसकी प्राप्तिके दुर्लभ होनेके कारण लोग उसका अद्भुत माहात्म्य बताते हैं; और जिसमें आत्मा स्थिर रहती है, ऐसे अनादि दुर्लभ सत्संगरूप साधनमें लोगोंकी कुछ भी आग्रहपूर्वक रुचि नहीं है, यह आश्चर्यकी बात विचार करने योग्य है।

(२) असत्संगमें उदासीन रहनेके लिये जब जीवका अप्रमादरूपसे निश्चय हो जाता है, तभी सत्ज्ञान समझा जाता है। उसके पहिले प्राप्त होनेवाले बोधमें बहुत प्रकारका अंतराय रहा करता है।

३७९

बम्बई, श्रावण सुदी १५ रवि. १९४९

प्रायः करके आत्मामें ऐसा ही रहा करता है कि जबतक इस व्यापार-प्रसंगमें काम-काज करना रहा करे, तबतक धर्म-कथा आदिके प्रसंगमें और धर्मके जानकारके रूपमें किसी प्रकारसे प्रगटरूपमें न आया जाय, यही क्रम यथायोग्य है। व्यापार-प्रसंगके रहनेपर भी जिसके प्रति भक्तिभाव रहा करता है, उसका समागम भी इसी क्रमसे करना योग्य है कि जिसमें आत्मामें जो ऊपर कहा हुआ क्रम रहा करता है, उस क्रममें कोई बाधा न हो।

जिनभगवान्के कहे हुए मेरु आदिके संबंधमें और अंग्रेजोंकी कही हुई पृथिवी आदिके संबंधमें समागम होनेपर बातचीत करना।

हमारा मन बहुत उदासीन रहता है, और प्रतिबंध इस प्रकारका रहा करता है कि जहाँ वह उदासभाव सम्पूर्ण गुप्त जैसा करके सहन न किया जाय, इस प्रकारके व्यापार आदि प्रसंगमें उपाधि-योग सहन करना पड़ता है; यद्यपि वास्तविकरूपसे तो आत्मा समाधि-प्रत्ययी है।

३८०

बम्बई, श्रावण वदी ५, १९४९

गतवर्ष मंगसिर सुदी ६ को यहाँ आना हुआ था, तबसे लगाकर आजतक अनेक प्रकारका उपाधि-योग सहन किया है, और यदि भगवत्कृपा न हो तो इस कालमें उस प्रकारके उपाधि-योगमें धड़के ऊपर सिरका रहना भी कठिन हो जाय, ऐसा होते हुए बहुत बार देखा है; और जिसने आत्म-स्वरूप जान लिया है ऐसे पुरुषका और इस संसारका मेल भी न खाय, यही अधिक निश्चय हुआ है।

ज्ञानी-पुरुष भी अत्यंत निश्चय उपयोगमें वर्ताव करते करते भी क्वचित् मंद परिणामी हो जाय, ऐसी इस संसारकी रचना है। यद्यपि आत्मस्वरूपसंबंधी बोधका नाश तो नहीं होता, फिर भी आत्मस्वरूपके बोधके विशेष परिणामके प्रति एक प्रकारका आवरण होनेरूप उपाधि-योग होता है। हम तो उस उपाधि-योगसे अभी त्रास ही पाया करते हैं; और उस उस योगसे हृदयमें और मुखमें मध्यम वाणीसे प्रभुका नाम रखकर मुश्किलसे ही कुछ प्रवृत्ति करके स्थिर रह सकते हैं। यद्यपि सम्यक्त्व अर्थात्

तो यदि किसी विकल्पको उत्पन्न करनेवाली ज्ञानीकी उन्मत्त आदि भावयुक्त चेष्टा प्रत्यक्ष देखनेमें आवे, तो भी दूसरी दृष्टिके निश्चयके बलके कारण वह चेष्टा अविकल्परूप ही होती है। अथवा ज्ञानी पुरुषकी चेष्टाका कोई अगम्यपना ही इस प्रकारका है कि वह अधूरी अवस्थासे अथवा अधूरे निश्चयसे जीवको विभ्रम और विकल्पका कारण होता है। परन्तु वास्तविकरूपमें तथा पूर्ण निश्चय होनेपर वह विभ्रम और विकल्प उत्पन्न होने योग्य नहीं है, इसलिये इस जीवको जो ज्ञानी-पुरुषके प्रति अधूरा निश्चय है, यही इस जीवका दोष है।

ज्ञानी-पुरुष सम्पूर्ण रीतिसे अज्ञानी-पुरुषसे चेष्टारूपसे समान नहीं होता, और यदि हो तो फिर वह ज्ञानी ही नहीं है, इस प्रकारका निश्चय करना, वह ज्ञानी-पुरुषके निश्चय करनेका यथार्थ कारण है। फिर भी ज्ञानी और अज्ञानी-पुरुषमें किसी इस प्रकारसे विलक्षण कारणोंका भेद है कि जिससे ज्ञानी और अज्ञानीका किसी प्रकारसे एकरूप नहीं होता। अज्ञानी होनेपर भी जो जीव ज्ञानीका स्वरूप मनवाता हो, उसका विलक्षणतासे निश्चय किया जाता है; इसलिये प्रथम ज्ञानी-पुरुषकी विलक्षणताका ही निश्चय करना योग्य है। और यदि उस विलक्षण कारणका स्वरूप जानकर ज्ञानीका निश्चय होता है, तो फिर कचित् अज्ञानीके समान जो जो ज्ञानी-पुरुषकी चेष्टा देखनेमें आती हैं, उस विषयमें निर्विकल्पता होती है; और नहीं तो ज्ञानी-पुरुषकी वह चेष्टा उसे विशेष भक्ति और स्नेहका कारण होती है।

प्रत्येक जीव अर्थात् यदि ज्ञानी-अज्ञानी समस्त अवस्थाओंमें समान ही हों तो फिर ज्ञानी-अज्ञानीका भेद नाममात्रका भेद रह जाता है; परन्तु वैसा होना योग्य नहीं है। ज्ञानी और अज्ञानी-पुरुषमें अवश्य ही विलक्षणता होनी चाहिये। जिस विलक्षणताके यथार्थ निश्चय होनेपर जीवको ज्ञानी-पुरुष समझमें आता है, जिसका थोड़ासा स्वरूप यहाँ बता देना योग्य है। मुमुक्षु जीवको ज्ञानी और अज्ञानी-पुरुषकी विलक्षणता, उनकी अर्थात् ज्ञानी-अज्ञानी पुरुषकी दशाद्वारा ही समझमें आती है। उस दशाकी विलक्षणता जिस प्रकारसे होती है, उसे बता देना योग्य है। जीवकी दशाके दो भाग हो सकते हैं:—एक मूलदशा और दूसरी उत्तरदशा।

बम्बई, भादवा १९४८

३८३

यदि अज्ञान-दशा रहती हो और जीवने भ्रम आदि कारणसे उसे ज्ञान-दशा मान ली हो, तो देहको उस उस प्रकारके दुःख पड़नेके प्रसंगोंमें अथवा उस तरहके दूसरे कारणोंमें जीव देहकी साताको सेवन करनेकी इच्छा करता है, और वैसे ही बर्ताव करता है। यदि सच्ची ज्ञान-दशा हो तो उसे देहके दुःख-प्राप्तिके कारणोंमें विषमता नहीं होती, और उस दुःखको दूर करनेकी इतनी अधिक चिंता भी नहीं होती।

बम्बई, भादवा वदी १९४८

३८४

जिस प्रकार इस आत्माके प्रति दृष्टि है, उस प्रकारकी दृष्टि जगत्‌की सर्व आत्माओंके प्रति है। जिस प्रकारका स्नेह इस आत्माके प्रति है, उस प्रकारका स्नेह सर्व आत्माओंके प्रति है। जिस

४. हमारा उदय इस प्रकार रहता है कि इस समयकी उपदेशकी बात करते हुए वाणी पीछे खिंच जाती है। हाँ, कोई साधारण प्रश्न पूछे तो उसमें वाणी प्रकाश करती है; और उपदेशकी बातमें तो वाणी पीछे ही खिंच जाती है; इस कारण हम ऐसा मानते हैं कि अभी उस प्रकारका उदय नहीं है।

५. पूर्ववर्ती अनंतज्ञानी यद्यपि महाज्ञानी हो गये हैं, परन्तु उससे जीवका कोई दोष दूर नहीं होता। अर्थात् यदि इस समय जीवमें मान हो तो उसे पूर्ववर्ती ज्ञानी कहनेके लिये नहीं आते; परन्तु हालमें जो प्रत्यक्ष ज्ञानी विराजमान हों, वे ही दोषको बताकर दूर करा सकते हैं। उदाहरणके लिये दूरके क्षीरसमुद्रसे यहाँके तृषातुरकी तृषा शान्त नहीं हो सकती, परन्तु वह यहाँके एक मीठे पानीके कलशेसे ही शान्त हो सकती है।

६. जीव अपनी कल्पनासे कल्पना कर लेता है कि ध्यानसे कल्याण होगा, समाधिसे कल्याण होगा, योगसे कल्याण होगा, अथवा इस इस प्रकारसे कल्याण होगा; परन्तु उससे जीवका कोई कल्याण नहीं हो सकता। जीवका कल्याण तो ज्ञानी पुरुषके लक्ष्यमें रहता है, और वह परम सत्संगसे ही समझमें आ सकता है। इसलिये वैसे विकल्पोंका करना छोड़ देना चाहिये।

७. जीवको सबसे मुख्य बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि यदि सत्संग हुआ हो तो सत्संगमें श्रवण किये हुए शिक्षा-बोधके परिणमन होनेसे, सहजमें ही जीवके उत्पन्न हुए कदाग्रह आदि दोष तो छूट ही जाने चाहिये, जिससे दूसरे जीवोंको सत्संगके अवर्णवादके बोलनेका प्रसंग उपस्थित न हो।

८. ज्ञानी-पुरुषने कुछ कहना बाकी नहीं रक्खा है, परन्तु जीवने करना बाकी रक्खा है। इस प्रकारका योगानुयोग किसी समय ही उदयमें आता है। उस प्रकारकी वांछासे रहित महात्माकी भक्ति तो सर्वथा कल्याणकारक ही होती है; परन्तु किसी समय महात्माके प्रति यदि उस प्रकारकी वांछा हुई और उस प्रकारकी प्रवृत्ति हो चुकी हो, तो भी वही वांछा यदि असत्पुरुषके प्रति की हो, और उससे जो फल होता है, उसकी अपेक्षा इसका फल जुदा ही होना संभव है। यदि सत्पुरुषके प्रति उस कालमें निःशंकता रही हो तो काल आनेपर उनके पाससे सन्मार्गकी प्राप्ति हो सकती है। एक प्रकारसे हमें अपने आप इसके लिये बहुत शोक रहता था, परन्तु उसके कल्याणका विचार करके शोकको विस्मरण कर दिया है।

९. मन वचन और कायाके योगमें जिसका केवलीस्वरूप भाव होकर अहंभाव दूर हो गया है, ऐसे ज्ञानी-पुरुषके परम उपशमरूप चरणारविंदको नमस्कार करके, बारम्बार उसका चिंतवन करके, तुम उसी मार्गमें प्रवृत्तिकी इच्छा करते रहो—यह उपदेश देकर यह पत्र पूरा करता हूँ।

विपरीत कालमें अकेले होनेके कारण उदास !!!

३८२

खंभात, भाद्रपद १९४९

ॐ

अनादिकालसे विपर्यय बुद्धि होनेसे, और ज्ञानी-पुरुषकी बहुतसी चेष्टायें अज्ञानी-पुरुष जैसी ही दिखाई देनेसे ज्ञानी-पुरुषमें विभ्रम बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, अथवा जीवको ज्ञानी-पुरुषके प्रति उस उस चेष्टाका विकल्प आया करता है। यदि ज्ञानी-पुरुषका दूसरी दृष्टियोंसे यथार्थ निश्चय हुआ हो

भक्ति-राग है, इस तरह दोनों ही अपनेको एक गुरुके शिष्य समझकर, और निरन्तर दोनोंका सत्संग रहा करता है यह जानकर, भाई जैसी बुद्धिसे यदि उस प्रकारसे प्रेमपूर्वक रहा जाय तो वह बात विशेष योग्य है। ज्ञानी-पुरुषके प्रति भिन्नभावको सर्वथा दूर करना योग्य है।

---

३८६ बम्बई, आसोज सुदी ५ शनि. १९४९

आत्माको समाधिस्थ होनेके लिये—आत्मस्वरूपमें स्थिति होनेके लिये—जिस मुखसे सुधारस बरसता है, वह एक अपूर्व आधार है; इसलिये किसी प्रकारसे उसे बीज-ज्ञान भी कहो तो कोई हानि नहीं। केवल इतना ही भेद है कि ज्ञानी-पुरुष जो उससे आगे है, यह जाननेवाला होना चाहिये कि वह ज्ञान आत्मा है।

द्रव्यसे द्रव्य नहीं मिलता, यह जाननेवालेका कोई कर्त्तव्य नहीं कहा जा सकता। परन्तु वह किस समय? वह उसी समय जब कि स्वद्रव्यको द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे यथावस्थित समझ लेकर, स्वद्रव्य स्वरूप-परिणामसे परिणमित होकर, अन्य द्रव्यके प्रति सर्वथा उदास होकर, कृतकृत्य होकर, कुछ कर्त्तव्य नहीं रहता; ऐसा योग्य है, और ऐसा ही है।

---

३८७ बम्बई, आसोज सुदी ९ बुध. १९४९

(१)

खुले पत्रमें सुधारसके विषयमें प्रायः स्पष्ट ही लिखा था, उसे जान-बूझकर लिखा था। ऐसा लिखनेसे उल्टा परिणाम आनेवाला नहीं, यह जानकर ही लिखा था। इस बातको कुछ कुछ वर्णन करनेवाले जीवको यदि वह बात पढ़नेमें आवे तो वह बात उससे सर्वथा निर्धारित हो जाय, यह नहीं हो सकता। परन्तु यह हो सकता है कि 'जिस पुरुषने ये वाक्य लिखे हैं, वह पुरुष किसी अपूर्व मार्गका ज्ञाता है, और उससे इस बातका निराकरण होना मुख्यतासे संभव है,' यह जानकर उसकी उस पुरुषके प्रति कुछ भी भावना उत्पन्न हो। कदाचित् ऐसा मान लें कि उसे उस पुरुषविषयक कुछ कुछ ज्ञान हो गया हो, और इस स्पष्ट लेखके पढ़नेसे उसे विशेष ज्ञान होकर, स्वयं अपने आप ही वह निश्चय पहुँच जाय, परन्तु वह निश्चय इस तरह नहीं होता। उसके यथार्थ स्थलका जान लेना उससे नहीं हो सकता, और उस कारणसे यदि जीवको विक्षेपकी उत्पत्ति हो कि यह बात किसी प्रकारसे जान ली जाय तो अच्छा है; तो उस प्रकारसे भी, जिस पुरुषने लिखा है उसके प्रति उसकी भावनाकी उत्पत्ति होना संभव है।

तीसरा प्रकार इस तरह समझना चाहिये कि 'यदि सत्पुरुषकी वाणी स्पष्टरूपसे भी लिखी गई हो तो भी जिसे उसका परमार्थ—सत्पुरुषका सत्संग—आज्ञांकितरूपसे नहीं हुआ, उसे समझना कठिन होता है,' इस प्रकार उस पढ़नेवालेको कभी भी स्पष्ट ज्ञान होना संभव है। यद्यपि हमने तो अति स्पष्ट नहीं लिखा था, तो भी उन्हें इस प्रकार कुछ संभव मालूम होता है। परन्तु हम तो ऐसा समझते हैं कि यदि अति स्पष्ट लिखा हो तो भी प्रायः करके समझमें नहीं आता, अथवा विपरीत ही समझमें

कारणमें जो स्थिरता आती है, वह आत्माको प्रगट करनेका हेतु होती है। श्वासोच्छ्वासकी स्थिर होना, यह एक प्रकारसे बहुत कठिन बात है। उसका सुगम उपाय एकतार सुधारस करनेसे होता है, इसलिये वह विशेष स्थिरताका साधन है। परन्तु वह सुधारस-स्थिरता अज्ञानभावसे फलीभूत नहीं होती, अर्थात् कल्याणरूप नहीं होती; तथा उस बीज-ज्ञानका ध्यान भी अज्ञानभावसे कल्याणरूप नहीं होता, इतना हमें विशेष निश्चय भासित हुआ करता है। जिसने वेदनरूपसे आत्माको जान लिया है, उन ज्ञानी पुरुषकी आज्ञासे वह कल्याणरूप होता है, और वह आत्माके प्रगट होनेका अत्यंत सुगम उपाय है।

यहाँ एक दूसरी भी अपूर्व बात लिखना सूझती है। आत्मा एक चंदन वृक्षके समान है। उसके पास जो जो वस्तुयें विशेषतासे रहती हैं, वे सब वस्तुयें उसकी सुगंधका विशेष बोध करती हैं। जो वृक्ष चंदनके पासमें होता है, उस वृक्षमें चन्दनकी गंध विशेषरूपसे स्फुरित होती है। जैसे जैसे वृक्ष दूर होता जाता है, वैसे वैसे सुगंध मंद होती जाती है; और अमुक मर्यादाके पश्चात् अगंधरूप वृक्षोंका वन आरंभ हो जाता है, अर्थात् उनमें चंदनकी सुगंध नहीं रहती। इसी तरह जबतक यह आत्मा विभाव परिणामका सेवन करती है, तबतक उसे चंदन-वृक्ष कहते हैं, और उसका सबके साथ अमुक अमुक सूक्ष्म वस्तुका संबंध है, उसमें उसकी छायारूप सुगंध विशेष पड़ती है, जिसका ज्ञानीकी आज्ञासे ध्यान होनेसे आत्मा प्रगट होती है।

पवनकी अपेक्षा भी सुधारसमें आत्मा विशेष समीप रहती है, इसलिये उस आत्माकी विशेष छाया-सुगंधका ध्यान करना योग्य उपाय है। यह भी विशेषरूपसे समझने योग्य है।

३८८

बम्बई, आसोज वदी ३, १९४८

ॐ

प्रायः व्याकुलताके समय चित्त व्याकुलताको दूर करनेकी शीघ्रतामें योग्य होता है या नहीं, इस बातकी सहज सावधानी, कदाचित् मुमुक्षु जनको भी कम हो जाती है; परन्तु यह बात योग्य है इस तरह है कि उस प्रकारके प्रसंगमें कुछ थोड़े समयके लिये चाहे जैसे काम-काजमें उसे [illegible]—निर्विकल्पकी तरह—कर डालना। व्याकुलताको बहुत लम्बे समयतक कायम रहनेवाली समझ बैठना योग्य नहीं है। और यदि वह व्याकुलता बिना धीरजके सहन की जाती है तो वह अल्पकालमें [illegible] भी अधिक कालतक रहनेवाली हो जाती है, इसलिये इच्छा और "यथायोग्य" समताका सेवन करते रहना ही योग्य है। अंतमें यह करना चाहिये कि अंतरमें विकल्प और संताप न किया जाय।

३८९

बम्बई, आसोज वदी १९४८

ॐ

भावनभावना भावतां, जीव लहे केवलज्ञान रे।

३९३

बम्बई, कार्तिक सु. १५ गु. १९५१

“ सिरपर राजा है ” इतने वाक्यके ऊहापोह (विचार) से गर्भ-श्रीमंत श्रीशालिभद्र, एक समयसे स्त्री आदिके परिचयके त्याग करनेका प्रारंभ करते हुए।

यह देखकर श्रीधनाभद्रके मुखसे वैराग्यके स्वाभाविक वचन उद्भव होते हुए कि “ जिस तरह एक एक स्त्रीका त्याग करके अनुक्रमसे वह शालिभद्र बत्तीसों स्त्रियोंका त्याग करना चाहता है। इस प्रकार शालिभद्र बत्तीस दिनतक काल-शिकारीका विश्वास करता है, यह महान् आश्चर्य है।”

यह सुनकर शालिभद्रकी बहिन और धनाभद्रकी पत्नी धनाभद्रके प्रति इस प्रकार सहज वचन कहती हुई कि “ आप जो ऐसा कहते हो, यद्यपि वह हमें मान्य है, परन्तु आपको भी उस प्रकारसे त्याग करना कठिन है।” यह सुनकर चित्तमें किसी प्रकारसे क्लेशित हुए बिना ही श्रीधनाभद्र उस ही समय त्यागकी शरण लेते हुए, और श्रीशालिभद्रसे कहते हुए कि तुम किस विश्वासे कालका विश्वास करते हो? यह सुनकर, जिसका चित्त आत्मरूप हो गया है ऐसा वह श्रीशालिभद्र और धनाभद्र इस प्रकारसे गृह आदिको छोड़कर संसारका त्याग करते हुए कि “ मानो किसी दिन उन्होंने अपना कुछ किया ही नहीं।”

इस प्रकारके सत्पुरुषके वैराग्यको सुनकर भी यह जीव बहुत वर्षोंके आग्रहसे कालका विश्वास कर रहा है, वह कौनसे बलसे करता होगा—यह विचारकर देखना योग्य है।

३९४

बम्बई, मंगसिर सुदी ३, १९५१

वाणीका संयम करना श्रेयरूप है, परन्तु व्यवहारका संबंध इस तरहका रहता है कि सर्वथारूपसे उस प्रकारका संयम रक्खें तो समागममें आनेवाले जीवोंको वह क्लेशका हेतु हो, इसलिये बहुत करके यदि प्रयोजनके सिवाय भी संयम रक्खा जाय, तो उसका परिणाम किसी तरह श्रेयरूप आना संभव है।

जीवके मूढ़भावका फिर फिरसे, प्रत्येक क्षणमें, प्रत्येक समागममें विचार करनेमें यदि उपयोग न रखनेमें आई तो इस प्रकार जो संयोग बना है, वह भी वृथा ही है।

३९५

बम्बई, पौष वदी १४ रवि. १९५१

हालमें विशेषरूपसे नहीं लिखा जाता। उसमें उपाधिकी अपेक्षा चित्तका संक्षेपभाव किये कारणरूप है। (चित्तकी इच्छारूपमें किसी प्रवृत्तिका संक्षिप्त हो जाना—न्यून हो जाना—उसे यहाँ संक्षेपभाव लिखा है।)

हमने ऐसा अनुभव किया है कि जहाँ कहीं भी प्रमत्त-दशा हो वहाँ आत्माने जगत्-स्वरूपकी इच्छ

३९० बम्बई, आसोज वदी १३ रवि. १९४९

आपके समयसारके कवित्तसहित दो पत्र मिले हैं। निराकार-साकार चेतनाविषयक कवित्तका ऐसा अर्थ नहीं है कि उसका सुधारससे कोई संबंध किया जा सके। उसे हम फिर लिखेंगे।

शुद्धता विचारै ध्यावै, शुद्धतामें केलि करै,
शुद्धतामें थिर व्है, अमृतधारा बरसै।

इस कवित्तमें सुधारसका जो माहात्म्य कहा है, वह केवल एक विस्रसा (सब प्रकारके अन्य परिणामसे रहित असंख्यात-प्रदेशी आत्मद्रव्य) परिणामसे स्वरूपस्थ और अमृतरूप आत्माका वर्णन है।

उसका परमार्थ यथार्थरूपसे हृदयगत है, जो अनुक्रमसे समझमें आयेगा।

---

३९१ बम्बई, आसोज १९४९

जे अबुद्धा महाभागा वीरा असमत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसि परक्कंतं सफलं होइ सव्वसो ॥ १ ॥
जे य बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्तदंसिणो।
सुद्धं तेसि परक्कंतं अफलं होइ सव्वसो ॥ २ ॥

ऊपरकी गाथाओंमें जहाँ 'सफल' शब्द है वहाँ 'अफल' ठीक मालूम होता है, और जहाँ 'अफल' शब्द है वहाँ 'सफल' ठीक मालूम होता है; इसलिये क्या इनमें लेख-दोष रह गया है, या ये गाथायें ठीक हैं? इस प्रश्नका समाधान यह है कि यहाँ लेख-दोष नहीं है। जहाँ सफल शब्द है वहाँ सफल ठीक है, और जहाँ अफल शब्द है वहाँ अफल ठीक है।

मिथ्यादृष्टिकी क्रिया सफल है—फलसहित है—अर्थात् उसे पुण्य-पापका फल भोगना है। सम्यग्दृष्टिकी क्रिया अफल है—फलरहित है—उसे फल नहीं भोगना है—अर्थात् उसकी निर्जरा है। एककी (मिथ्यादृष्टिकी) क्रियाका संसारहेतुक सफलपना है, और दूसरेकी (सम्यग्दृष्टिकी) क्रियाका संसारहेतुक अफलपना है—ऐसा परमार्थ समझना चाहिये।

---

३९२ बम्बई, आसोज १९४९

(१) स्वरूप स्वभावमें है। वह ज्ञानीकी चरण-सेवाके बिना अनंत कालतक प्राप्त न हो, ऐसा कठिन भी है।

हम और तुम हालमें प्रत्यक्षरूपसे तो वियोगमें रहा करते हैं। यह भी पूर्व-निर्बंधनके किसी महान् प्रतिबंधके उदयमें होने योग्य कारण है।

(२) हे राम! जिस अवसरपर जो प्राप्त हो जाय उसमें संतोषसे रहना, यह सत्पुरुषोंका कहा हुआ सनातन धर्म है, ऐसा वसिष्ठ कहते थे।

(३) जो ईश्वरेच्छा होगी वह होगा। मनुष्यका काम केवल प्रयत्न करना ही है; और उसीसे जो अपने प्रारब्धमें होगा वह मिल जायगा; इसलिये मनमें संकल्प-विकल्प नहीं करना चाहिये।

निष्काम यथायोग्य.

कारण आत्मामें गुणकी विशेष स्पष्टता रहती है। प्रायः करके अबसे यदि बने तो नियमितरूपसे सत्संगकी बात लिखना।

---

३९८ बम्बई, फाल्गुन सुदी ४ रवि. १९५१

बारंबार अरुचि हो जाती है, फिर भी प्रारब्ध-योगसे उपाधिसे दूर नहीं हुआ जा सकता।

(२)

हालमें डेढ़-दो महिने हुए उपाधिके प्रसंगमें विशेष विशेषरूपसे संसारके स्वरूपका वेदन किया है। यद्यपि इस प्रकारके अनेक प्रसंगोंका वेदन किया है, फिर भी प्रायः ज्ञानपूर्वक वेदन नहीं किया। इस देहमें और उस पहिलेकी बोध-बीज हेतुवाली देहमें किया हुआ वेदन मोक्ष-कार्यमें उपयोगी है।

---

३९९ बम्बई, फाल्गुन सुदी ११ रवि. १९५१

"तीर्थंकरदेव प्रमादको कर्म कहते हैं, और अप्रमादको उससे विपरीत अर्थात् अकर्मरूप आत्म-स्वरूप कहते हैं। इस प्रकारके भेदसे अज्ञानी और ज्ञानीका स्वरूप है (कहा है)"—सूयगडांग वीर्य-अध्ययन।

"जिस कुलमें जन्म हुआ है, और जीव जिसके सहवासमें रहता है, उसमें यह अज्ञानी जीव ममता करता है, और उसीमें निमग्न रहा करता है"—(सूयगडं—प्रथमाध्ययन).

"जो ज्ञानी-पुरुष भूतकालमें हो गये हैं, और जो ज्ञानी-पुरुष भविष्यकालमें होंगे, उन सब पुरुषोंने "शांति" (समस्त विभाव परिणामसे थक जाना—निवृत्त हो जाना) को सब धर्मोंका आधार कहा है। जैसे भूतमात्रको पृथ्वी आधारभूत है, अर्थात् जैसे प्राणीमात्र पृथ्वीके ही आधारसे रहते हैं—प्रथम उनको उसका आधार होना योग्य है—वैसे ही पृथ्वीकी तरह, ज्ञानी-पुरुषोंने सब प्रकारके कल्याणका आधार "शांति" ही कहा है"—(सूयगड)

---

४०० बम्बई, फाल्गुन सुदी ११ रवि. १९५१

ॐ

(१)

कुछ [illegible] पत्र लिखिये, नहीं तो चित्तवासको [illegible] पत्र लिखिये, ऐसा लिखा था [illegible] लिखते समय चित्तमें वह आया था कि तुम मुमुक्षुओंको कोई नियम जैसी [illegible] और इस कारणसे कुछ लिखना सूझे तो लिखना चाहिये। लिखते समय ऐसा हुआ कि [illegible] [illegible] है, उसे [illegible] चित्तमें रखना योग्य है, और वह कुछ [illegible]

(२)

[illegible] योग्य है कि ज्ञानी-पुरुषको भी प्रारब्ध [illegible] नहीं होता, और बिना भोगे निवृत्त हो ऐसी प्रारब्धकी कोई प्रकृति भी नहीं होती। [illegible]

हमें छोड़नेमें प्रतिबंध नहीं है, परन्तु दूसरे पुरुषार्थके विषयमें तो सर्वथा उदासीनता ही है; और उसके स्मरणमें आ जानेसे भी चित्तमें खेद हो आता है; इस तरह उस पुरुषार्थके प्रति अनिच्छा ही है।

जितनी आकुलता है उतना ही मार्गका विरोध है, ऐसा ज्ञानी-पुरुष कह गये हैं।

४०४

बम्बई, फाल्गुन १९५१

ॐ

तीर्थंकर बारम्बार नीचे कहा हुआ उपदेश करते थे:—

हे जीवो! तुम समझो! सम्यक्प्रकारसे समझो! मनुष्यता मिलना बहुत दुर्लभ है, और चारों गतियाँ भयसे व्याप्त हैं, ऐसा जानो। अज्ञानसे सद्विवेकका पाना कठिन है, ऐसा समझो। समस्त लोक एकांत दुःखसे जल रहा है, ऐसा मानो। और सब जीव अपने अपने कर्मोंसे विपर्यासभावका अनुभव करते हैं, उसका विचार करो। (सूयगडं अध्ययन ७–१२)

जिसको सर्व दुःखसे मुक्त होनेका विचार हुआ हो, उस पुरुषको आत्माकी गवेषणा करनी चाहिये, और यदि आत्माकी गवेषणा करना हो तो यम, नियम आदि सब साधनोंके आग्रहको अप्रधान करके सत्संगकी गवेषणा एवं उपासना करनी चाहिये। जिसे सत्संगकी उपासना करना हो उसे संसारकी उपासना करनेके आत्मभावका सर्वथा त्याग करना चाहिये। अपने समस्त अभिप्रायका त्याग करके अपनी सर्व शक्तिसे उस सत्संगकी आज्ञाकी उपासना करनी चाहिये। तीर्थंकर ऐसा कहते हैं कि जो कोई उस आज्ञाकी उपासना करता है, वह अवश्य ही सत्संगकी उपासना करता है। इस प्रकार जो सत्संगकी उपासना करता है वह अवश्य ही आत्माकी उपासना करता है, और आत्माकी उपासना करनेवाला सब दुःखोंसे मुक्त हो जाता है। (द्वादशांगीका अखंडसूत्र)।

ऊपर जो उपदेश लिखा है, वह गाथा सूयगडमें निम्नरूपसे है:—

संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं, दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो।
एगंतदुक्खे जरिए व लोए, सकम्मुणा विप्परियासुवेइ॥

सब प्रकारकी उपाधि, आधि और व्याधिसे यदि मुक्तभावसे रहते हों, तो भी सत्संगमें रहे बिना, हमें दूर होना कठिन मालूम होती है। सत्संगकी सर्वोत्तम अपूर्वता हमें दिन-रात रहा करती है, फिर भी उदय-योग प्रारब्धसे उस प्रकारका अन्तराय रहा करता है। प्रायः करके हमारी आत्माको किसी बातका खेद उत्पन्न नहीं होता, फिर भी प्रायः करके सत्संगके अन्तरायका खेद तो दिन-रात रहा करता है। सर्व भूमि, सब मनुष्य, सब काम, सब बात-चीत आदिके प्रसंग, अपरिचित जैसे, नीरस जैसे, उदासीन जैसे, आकर्षणरहित, अमनोहर और रसरहित मालूम होते हैं। केवल ज्ञानी-पुरुष, मुमुक्षु पुरुष अथवा मार्गानुसारी पुरुषोंका सत्संग ही प्रिय, रुचिकर, प्रीतिकर, आकर्षक और स्वरूपस्थ मालूम होता है। इस कारण हमारा मन प्रायः करके अप्रतिबद्धतामें निवास करते करते तुम जैसे मार्गेच्छावान पुरुषोंमें प्रतिबद्धता प्राप्त करता है।

ही होती हैं—निरर्थक नहीं होती। जो कुछ भी किया जाता है उसका फल अवश्य भोगनेमें आता है, यह प्रत्यक्ष अनुभव है। जिस तरह विष खानेसे विषका फल, मिश्री खानेसे मिश्रीका फल, अग्नि-स्पर्श करनेसे अग्नि-स्पर्शका फल, हिमके स्पर्श करनेसे हिम-स्पर्शका फल मिले बिना नहीं रहता, उसी तरह कषाय आदि अथवा अकषाय आदि जिस किसी परिणामसे भी आत्मा प्रवृत्ति करती है, उसका फल भी मिलना योग्य ही है, और वह मिलता है। उस क्रियाका कर्त्ता होनेसे आत्मा भोक्ता है।

पाँचवाँ पदः—'मोक्षपद है'। जिस अनुपचरित-व्यवहारसे जीवके कर्मका कर्तृत्व निरूपण किया और कर्तृत्व होनेसे भोक्तृत्व निरूपण किया, वह कर्म दूर भी अवश्य होता है; क्योंकि प्रत्यक्ष कषाय आदिकी तीव्रता होनेपर भी उसके अनभ्याससे—अपरिचयसे—उसके उपशम करनेसे—उसकी मंदता दिखाई देती है—वह क्षीण होने योग्य माल्म होता है—क्षीण हो सकता है। उस सब बंध-भावके क्षीण हो सकने योग्य होनेसे उससे रहित जो शुद्ध आत्मभाव है, उसरूप मोक्षपद है।

छट्ठा पदः—'उस मोक्षका उपाय है'। यदि कचित् ऐसा हो कि हमेशा कर्मोका बंध ही बंध हुआ करे, तो उसकी निवृत्ति कभी भी नहीं हो सकती। परन्तु कर्मबंधसे विपरीत स्वभाववाले ज्ञान, दर्शन, समाधि, वैराग्य, भक्ति आदि साधन प्रत्यक्ष हैं; जिस साधनके बलसे कर्म-बंध शिथिल होता है—उपशम होता है—क्षीण होता है; इसलिये वे ज्ञान, दर्शन, संयम आदि मोक्षपदके उपाय हैं।

श्रीज्ञानी पुरुषोंद्वारा सम्यग्दर्शनके मुख्य निवासभूत कहे हुए इन छह पदोंको यहाँ संक्षेपमें कहा है। समीप-मुक्तिगामी जीवको स्वाभाविक विचारमें ये पद प्रामाणिक होने योग्य हैं—परम निश्चयरूप जानने योग्य हैं, उसकी आत्मामें उनका सम्पूर्णरूपसे विस्तारसहित विवेक होना योग्य है। ये छह पद संदेहरहित हैं, ऐसा परम पुरुषने निरूपण किया है। इन छह पदोंका विवेक जीवको निजस्वरूप समझनेके लिये कहा है। अनादि स्वप्न-दशाके कारण उत्पन्न हुए जीवके अहंभाव-ममत्वभावको दूर करनेके लिये ज्ञानी-पुरुषोंने इन छह पदोंकी देशना प्रकाशित की है। एक केवल अपना ही स्वरूप उस स्वप्नदशासे रहित है, यदि जीव ऐसा विचार करे तो वह सहजमात्रमें जागृत होकर सम्यग्दर्शनको प्राप्त हो; सम्यग्दर्शनको प्राप्त होकर निज स्वभावरूप मोक्षको प्राप्त करे। उसे किसी विनाशी, अशुद्ध और अन्यभावमें हर्ष, शोक और संयोग उत्पन्न न हो, उस विचारसे निज स्वरूपमें ही निरन्तर शुद्धता, सम्पूर्णता, अविनाशीपना, अत्यंत आनन्दपना उसके अनुभवमें आता है। समस्त विभाव पर्यायोंमें केवल अपने ही अभ्याससे एकता हुई है, उससे अपनी सर्वथा भिन्नता ही है, यह उसे स्पष्ट—प्रत्यक्ष—अत्यंत प्रत्यक्ष—अपरोक्ष अनुभव होता है। विनाशी अथवा अन्य पदार्थके संयोगमें उसे इष्ट-अनिष्टभाव प्राप्त नहीं होता। जन्म, जरा, मरण, रोग आदिकी बाधारहित, सम्पूर्ण माहात्म्यके स्थान ऐसे निज-स्वरूपको जानकर—अनुभव करके—वह कृतार्थ होता है। जिन जिन पुरुषोंको इन छह पदोंके प्रमाणभूत ऐसे परम पुरुषके वचनसे आत्माका निश्चय हुआ है, उन सब पुरुषोंने सर्व स्वरूपको पा लिया है वे आधि, व्याधि, उपाधि और सर्वसंगसे रहित हो गये हैं, होते हैं, और भविष्यमें भी वैसे ही होंगे।

जिन सत्पुरुषोंने जन्म, जरा, और मरणका नाश करनेवाला, निज स्वरूपमें सहज-अवस्थित होनेका उपदेश दिया है, उन सत्पुरुषोंको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार है। उनकी निष्कारण करुणा

पूर्वकर्म दो प्रकारके हैं। अथवा जीवसे जो जो कर्म किये जाते हैं, वे दो प्रकारसे किये जाते हैं। एक कर्म इस तरहके हैं कि उनकी काल आदिकी जिस तरह स्थिति है, वह उसी प्रकारसे भोगी जा सके। दूसरे कर्म इस प्रकारके हैं कि जो कर्म ज्ञानसे—विचारसे—निवृत्त हो सकते हैं। ज्ञानके होनेपर भी जिस तरहके कर्मोको अवश्य भोगना चाहिये, वे प्रथम प्रकारके कर्म कहे हैं; और जो ज्ञानसे दूर हो सकते हैं, वे दूसरे प्रकारके कर्म हैं।

केवलज्ञानके उत्पन्न होनेपर भी देह रहती है। उस देहका रहना कोई केवलज्ञानीकी इच्छासे नहीं, परन्तु प्रारब्धसे होता है। इतना सम्पूर्ण ज्ञान-बल होनेपर भी उस देहकी स्थितिके वेदन किये बिना केवलज्ञानी भी नहीं छूट सकता, ऐसी स्थिति है। यद्यपि उस प्रकारसे छूटनेके लिये कोई ज्ञानी-पुरुष इच्छा नहीं करता, परन्तु यहाँ कहनेका अभिप्राय यह है कि ज्ञानी-पुरुषको भी वह कर्म भोगना योग्य है। तथा अंतराय आदि अमुक कर्मकी इस प्रकारकी व्यवस्था है कि वह ज्ञानी-पुरुषको भी भोगने योग्य है; अर्थात् ज्ञानी-पुरुष भी उस कर्मको भोगे बिना निवृत्त नहीं कर सकता। सब प्रकारके कर्म इसी तरहके हैं कि वे फलरहित नहीं जाते; केवल उनकी निवृत्तिके क्रममें ही फेर होता है।

एक कर्म तो जिस प्रकारसे स्थिति वगैरहका बंध किया है, उसी प्रकारसे भोगने योग्य होता है। दूसरा कर्म ऐसा होता है, जो जीवके ज्ञान आदि पुरुषार्थ-धर्मसे निवृत्त होता है। ज्ञान आदि पुरुषार्थ-धर्मसे निवृत्त होनेवाले कर्मकी निवृत्ति ज्ञानी-पुरुष भी करते हैं; परन्तु भोगने योग्य कर्मको ज्ञानी-पुरुष सिद्धि आदि प्रयत्नसे निवृत्त करनेकी इच्छा न करे, यह संभव है।

कर्मको यथायोग्यरूपसे भोगनेमें ज्ञानी-पुरुषको संकोच नहीं होता। कोई अज्ञानदशा होनेपर भी अपनी ज्ञानदशा समझनेवाला जीव कदाचित् भोगने योग्य कर्मको भोगना न चाहे, तो भी छुटकारा तो भोगनेपर ही होता है, ऐसा नियम है। तथा यदि जीवका किया हुआ कृत्य बिना भोगे ही फलरहित चला जाता हो, तो फिर बंध-मोक्षकी व्यवस्था भी कहाँसे बन सकती है!

जो वेदनीय आदि कर्म हों तो उन्हें भोगनेकी हमें अनिच्छा नहीं होती। यदि कदाचित् अनिच्छा होती हो तो चित्तमें खेद हो कि जीवको देहाभिमान है; उससे उपार्जित कर्म भोगने हुए खेद होता है, और उससे अनिच्छा होती है।

मंत्र आदिसे, सिद्धिसे और दूसरे उस तरहके अमुक कारणोंसे अमुक चमत्कारका हो सकना असंभव नहीं है। फिर भी जैसे हमने ऊपर बताया है वैसे भोगने योग्य जो 'निकाचित कर्म' हैं, वे किसी भी प्रकारसे दूर नहीं हो सकते। क्वचित् अमुक 'शिथिल कर्म' की निवृत्ति होती है, परन्तु कुछ नहीं है कि वह कुछ उपार्जित करनेवालेके वेदन किये बिना निवृत्त हो जाता है; आकृतिके फेरसे उस कर्मका वेदन होता है।

कोई एक इस प्रकारका 'शिथिल कर्म' होता है कि जिसमें अमुक समय चित्तकी स्थिरता रहे तो वह निवृत्त हो जाय। उस तरहके कर्मका उन मंत्र आदिमें स्थिरताके संबंधसे निवृत्त होना संभव है। अथवा किसीके किसी पूर्वलाभका कोई इस प्रकारका बंध होता है जो केवल उसकी थोड़ीसी ही कृपासे फलीभूत हो जाय—यह भी एक सिद्धि जैसा है। तथा यदि कोई अमुक मंत्र आदिके प्रयत्नमें हो, और अमुक पूर्वांतरायके नष्ट होनेका प्रसंग समीपमें हो, तो भी मंत्र आदिसे कार्यकी सिद्धिका होना मान

नित्य प्रति निरंतर स्तवन करनेसे भी आत्म-स्वभाव प्रगटित होता है। ऐसे सब सत्पुरुष और उनके चरणारविंद सदा ही हृदयमें स्थापित रहो !

जिसके वचन अंगीकार करनेपर, छह पदोंसे सिद्ध ऐसा आत्मस्वरूप सहजमें ही प्रगटित होता है, जिस आत्म-स्वरूपके प्रगट होनेसे सर्वकालमें जीव संपूर्ण आनंदको प्राप्त होकर निर्भय हो जाता है, उस वचनके कहनेवाले ऐसे सत्पुरुषके गुणोंकी व्याख्या करनेकी हममें असामर्थ्य ही है। क्योंकि जिसका कोई भी प्रत्युपकार नहीं हो सकता ऐसे परमात्मभावको, उसने किसी भी इच्छाके बिना, केवल निष्कारण करुणासे ही प्रदान किया है। तथा ऐसा होनेपर भी जिसने दूसरे जीवको 'यह मेरा शिष्य है, अथवा मेरी भक्ति करनेवाला है, इसलिये मेरा है' इस तरह कभी भी नहीं देखा—ऐसे सत्पुरुषको अत्यंत भक्तिसे फिर फिरसे नमस्कार हो !

जिन सत्पुरुषोंने जो सद्गुरुकी भक्ति निरूपण की है, वह भक्ति केवल शिष्यके कल्याणके लिये ही कही है। जिस भक्तिके प्राप्त होनेसे सद्गुरुकी आत्माकी चेष्टामें वृत्ति रहे, अपूर्व गुण दृष्टिगोचर होकर अन्य स्वच्छंद दूर हो, और सहजमें आत्म-बोध मिले, यह समझकर जिसने भक्तिका निरूपण किया है, उस भक्तिको और उन सत्पुरुषोंको फिर फिरसे त्रिकाल नमस्कार हो !

यद्यपि कभी प्रगटरूपसे वर्त्तमानमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हुई, परन्तु जिसके वचनके विचार-योगसे केवलज्ञान शक्तिरूपसे मौजूद है, यह स्पष्ट जान लिया है—इस प्रकार श्रद्धारूपसे केवलज्ञान हुआ है—विचार-दशासे केवलज्ञान हुआ है—इच्छा-दशासे केवलज्ञान हुआ है—मुख्य नयके हेतुसे केवल-ज्ञान रहता है, जिसके संयोगसे जीव सर्व अव्याबाध सुखके प्रगट करनेवाले उस केवलज्ञानको, सहज-मात्रमें पानेके योग्य हुआ है, उस सत्पुरुषके उपकारको सर्वोत्कृष्ट भक्तिसे नमस्कार हो ! नमस्कार हो !!

(२)

सम्यग्दर्शनस्वरूप श्रीजिनके उपदेश किये हुए निम्न लिखित छह पदोंका आत्मार्थी जीवको अति-शयरूपसे विचार करना योग्य है।

आत्मा है, क्योंकि वह प्रमाणसे सिद्ध है—यह अस्तिपद।

आत्मा नित्य है—यह नित्यपद। आत्माके स्वरूपका किसी भी प्रकारसे उत्पन्न होना और विनाश होना संभव नहीं।

आत्मा कर्मका कर्त्ता है—यह कर्त्तापद।

आत्मा कर्मका भोक्ता है।

उस आत्माकी मुक्ति हो सकती है।

जिनसे मोक्ष हो सके ऐसे साधन निश्चित हैं।

—

४०७

बम्बई, चैत्र सुदी १९५०

ॐ

हालमें यहाँ बाह्य उपाधि कुछ कम रहती है। तुम्हारे पत्रमें जो प्रश्न लिखे हैं, उनका समाधान नीचे लिखा है, विचार करना।

योगवासिष्ठ आदि ग्रंथका बाँचन होता हो तो वह हितकारी है। जिनागममें 'भिन्न भिन्न' आत्मा मानकर परिणाममें 'अनंत आत्मायें' कही हैं; और वेदांतमें उसे 'भिन्न भिन्न' कहकर 'जो सर्व चेतन-सत्ता दिखाई देती है वह एक ही आत्माकी है, और आत्मा एक ही है' ऐसा प्रतिपादन किया गया है। ये दोनों ही बातें मुमुक्षु पुरुषको जरूर विचार करने योग्य हैं, और यथाशक्ति इसे विचारकर निश्चय करना योग्य है, यह बात निःसन्देह है। परन्तु जबतक प्रथम वैराग्य और उपशमका बल जीवमें दृढ़रूपसे न आया हो, तबतक उस विचारसे चित्तका समाधान होनेके बदले उलटी चंचलता ही होती है, और उस विचारका निर्णय नहीं होता। तथा चित्त विक्षिप्त होकर बादमें यथार्थरूपसे वैराग्य-उपशमको धारण नहीं कर सकता। इसलिये ज्ञानी-पुरुषोंने जो इस प्रश्नका समाधान किया है कि उसे समझनेके लिये इस जीवमें वैराग्य-उपशम और सत्संगके बलको हाथमें तो बढ़ाना ही योग्य है—इस प्रकार विचार करके जीवमें वैराग्य आदि बल बढ़ानेके साधनोंका आराधन करनेके लिये नित्य प्रति विशेष पुरुषार्थ करना योग्य है।

विचारकी उत्पत्ति होनेके पश्चात् वर्धमानस्वामी जैसे महात्मा पुरुषने भी फिर फिरसे विचार किया कि इस जीवके अनादि कालसे चारों गतियोंमें अनंतानंतवार जन्म-मरण होनेपर भी, अभी भी जन्म-मरण आदि स्थिति क्षीण नहीं होती। उसका अब किस प्रकारसे क्षय करना चाहिये? और ऐसी कौनसी भूल इस जीवकी रहती आई है कि जिस भूलका अबतक परिणमन होता रहा है? इस प्रकारसे फिर फिर अत्यंत एकाग्रतासे सद्बोधके वर्धमान परिणामसे विचार करते करते जो भूल भगवान्ने देखी है, वह जिनागममें जगह जगह कही है; जिस भूलको समझकर मुमुक्षु जीव उससे रहित हो सके। जीवकी भूल देखनेपर तो वह अनंत विस्तार लगती है, परन्तु सबसे पहिले जीवको सब भूलोंकी बीजभूत भूलका विचार करना योग्य है, जिस भूलके विचार करनेसे सब भूलोंका विचार होता है, और जिस भूलके दूर होनेसे सब भूलें दूर होती हैं। कोई जीव कदाचित् नाना प्रकारकी भूलोंका विचार करके उस भूलसे छूटना चाहे, तो भी वह करना योग्य है, और उस प्रकारकी अनेक भूलोंसे छूटनेकी इच्छाका मूल ही भूलसे छूटनेका सहज कारण होता है।

ग्रन्थमें जो ज्ञान बताया गया है, वह ज्ञान दो प्रकारसे विचार करने योग्य है:—एक उपदेश-ज्ञान और दूसरा सिद्धान्त-ज्ञान। 'जन्म-मरण आदि क्लेशयुक्त इस संसारका त्याग करना ही योग्य है, अनित्य पदार्थोंमें विवेकी पुरुषको रुचि नहीं करनी चाहिये; माता, पिता, स्वजन आदि सबका स्वार्थरूप संबंध होनेपर भी, यह जीव उस जंजालका ही आश्रय किया करता है, यही उसका अविवेक है; प्रत्यक्षरूपसे इस संसारके त्रिविध तापरूप मालूम होते हुए भी मूर्ख जीव उसीमें विश्रांति चाहता है; परिग्रह, आरंभ और संग—ये सब अनर्थके हेतु हैं', इत्यादि शिक्षा उपदेश-ज्ञान है। 'आत्माका अस्तित्व, नित्यता, एकत्व अथवा अनेकत्व, बंध आदि भाव, मोक्ष, आत्माकी सब प्रकारकी अवस्था, पदार्थ और उसकी अवस्थायें' इत्यादि बातोंको जिस प्रकारसे दृष्टान्तसे सिद्ध किया गया है, वह सिद्धान्त-ज्ञान है।

मुमुक्षु जीवको प्रथम तो वेदान्त और जिनागम इन सबका अवलोकन उपदेश-ज्ञानके लिये ही करना चाहिये, क्योंकि 'सिद्धान्त-ज्ञान' जिनागम और वेदान्तमें भिन्न भिन्न दिखाई देता है, और उस भिन्नताको देखकर मुमुक्षु जीव शंकित—ऐसा कारण है, और वह शंका चित्तमें आकुल

४१४ बम्बई, वैशाख वदी ७, रवि. १९५०

प्रायः जिनागममें 'सर्वविरति' साधुको पत्र-समाचार आदि लिखनेकी आज्ञा नहीं है, और यदि वैसी सर्वविरति भूमिकामें रहकर भी साधु पत्र-समाचार आदि लिखना चाहे तो वह अतिचार समझा जाय। इस तरह साधारणतया शास्त्रका उपदेश है, और वह मुख्य मार्ग तो योग्य ही मालूम होता है; फिर भी जिनागमकी रचना पूर्वापर अविरुद्ध मालूम होती है, और उस अविरोधकी रक्षाके लिये पत्र-समाचार आदिके लिखनेकी आज्ञा भी किसी प्रकारसे जिनागममें है। उसे तुम्हारे चित्तके समाधान होनेके लिये यहाँ संक्षेपसे लिखता हूँ।

जिनभगवान्की जो जो आज्ञायें हैं, वे सब आज्ञायें, जिस तरह सर्व प्राणी अर्थात् जिनकी आत्माके कल्याणके लिये कुछ इच्छा है उन सबको, वह कल्याण प्राप्त हो सके, और जिससे वह कल्याण वृद्धिगत हो, तथा जिस तरह उस कल्याणकी रक्षा की जा सके, उस तरह की गई हैं। यदि जिनागममें कोई ऐसी आज्ञा कही हो कि वह आज्ञा अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके संयोगसे न पल सकती हुई आत्माको बाधक होती हो तो वहाँ उस आज्ञाको गौण करके—उसका निषेध करके—श्रीतीर्थंकरने दूसरी आज्ञा की है।

जिसने सर्वविरति की है ऐसे मुनिको सर्वविरति करनेके समयके अवसरपर "सव्वाओ पाणाइवायाओ पच्चक्खामि, सव्वाओ मुसावायाओ पच्चक्खामि, सव्वाओ अदत्तादाणाओ पच्चक्खामि, सव्वाओ मेहुणाओ पच्चक्खामि, सव्वाओ परिग्गहाओ पच्चक्खामि" इस उद्देशके वचनोंको बोलनेके लिये कहा है। अर्थात् 'सर्व प्रकारके प्राणातिपातसे मैं निवृत्त होता हूँ,' 'सर्व प्रकारके मृषावादसे मैं निवृत्त होता हूँ,' 'सर्व प्रकारके अदत्तादानसे मैं निवृत्त होता हूँ,' 'सर्व प्रकारके मैथुनसे मैं निवृत्त होता हूँ,' और 'सर्व प्रकारके परिग्रहसे मैं निवृत्त होता हूँ,' (सब प्रकारके रात्रि-भोजनसे तथा दूसरे उस उस तरहके कारणोंसे मैं निवृत्त होता हूँ—इस प्रकार उसके साथ और भी बहुतसे त्यागके कारण समझने चाहिये), ऐसे जो वचन कहे हैं, वे सर्वविरतिकी भूमिकाके लक्षण कहे हैं। फिर भी उन पाँच महाव्रतोंमें—मैथुन त्यागको छोड़कर—चार महाव्रतोंमें पीछेसे भगवान्ने दूसरी आज्ञा की है, जो आज्ञा यद्यपि प्रत्यक्षमें तो महाव्रतको कदाचित् बाधक मालूम हो, परन्तु ज्ञान-दृष्टिसे देखनेसे तो वह पोषक ही है।

उदाहरणके लिये 'मैं सब प्रकारके प्राणातिपातसे निवृत्त होता हूँ,' इस तरह पच्चक्खाण होनेपर भी नदीको पार करने जैसे प्राणातिपातरूप प्रसंगकी आज्ञा करनी पड़ी है। जिस आज्ञाको, यदि लोकसमुदायका विशेष समागम करके, साधु आराधन करेगा, तो पंच महाव्रतोंके निर्मूल होनेका समय आयगा—यह जानकर, भगवान्ने नदी पार करनेकी आज्ञा दी है। वह आज्ञा, प्रत्यक्ष प्राणातिपातरूप होनेपर भी पाँच महाव्रतकी रक्षाका अमूल्य हेतु होनेसे, प्राणातिपातकी निवृत्तिरूप ही है; क्योंकि पाँच महाव्रतोंकी रक्षाका हेतुरूप जो कारण है वह प्राणातिपातकी निवृत्तिका ही हेतु है। यद्यपि प्राणातिपातरूप होनेपर भी नदीके पार करनेकी अप्राणातिपातरूप आज्ञा होती है, फिर भी 'सब प्रकारके प्राणातिपातसे निवृत्त होता हूँ' इस वाक्यको एक बार क्षति पहुँचती है। परन्तु वह क्षति फिरसे विचार करनेपर भी उसकी विशेष दृढ़ताके लिये ही मालूम होती है। इसी तरह दूसरे व्रतोंके लिये भी है।

पैदा करती है। इस प्रकार प्रायः होना योग्य ही है; क्योंकि 'सिद्धांत-ज्ञान' तो जीवके किसी अत्यंत उज्ज्वल क्षयोपशम होनेपर और सद्गुरुके वचनकी आराधनासे उद्भूत होता है। 'सिद्धांत-ज्ञान'का कारण 'उपदेश-ज्ञान' है। पहिले सद्गुरु अथवा सत्शास्त्रसे जीवमें इस उपदेश-ज्ञानका दृढ़ होना योग्य है, जिस उपदेश-ज्ञानका फल वैराग्य और उपशम है। वैराग्य और उपशमका बल बढ़नेसे जीवमें स्वाभाविक क्षयोपशमकी निर्मलता होती है; और यह सहज होमें सिद्धांत-ज्ञान होनेका कारण होता है। यदि जीवमें असंग-दशा आ जाय तो आत्मस्वरूपका समझना सर्वथा सुलभ हो जाता है; और उस असंग-दशाका हेतु वैराग्य-उपशम है; जो फिर फिरसे जिनागममें तथा वेदांत आदि बहुतसे शास्त्रोंमें कहा गया है—विस्तारसे गया है। इसलिये निःसंशयरूपसे वैराग्य-उपशमके कारण योगवासिष्ठ आदि सद्ग्रंथ विचारने चाहिये।

हमारे पास आनेमें किसी किसी प्रकारसे तुम्हारे परिचयी श्री····का मन रुकता था, और उस तरहकी रुकावट होना स्वाभाविक है; क्योंकि प्रारब्धके वशसे हमें ऐसा व्यवहारका उदय रहता है कि हमारे विषयमें सहज ही शंका उत्पन्न हो जाय; और उस प्रकारके व्यवहारका उदय देखकर प्रायः हमने धर्मसंबंधी संगमें लौकिक—लोकोत्तर प्रकारसे परिचय नहीं किया, जिससे लोगोंको हमारे इस व्यवहारके समागमका विचार करनेका कम अवसर उपस्थित हो। तुमसे अथवा श्री····से अथवा किसी दूसरे मुमुक्षुसे यदि हमने कोई भी परमार्थकी बात की हो तो उसमें परमार्थके सिवाय कोई दूसरा कारण नहीं है। इस संसारके विषम और भयंकर स्वरूपको देखकर हमें उसकी निवृत्तिके विषयमें बोध हुआ है, जिस बोधसे जीवमें शांति आकर समाधि-दशा हुई है; वह बोध इस जगत्में किसी अनंत पुण्यके योगसे ही जीवको प्राप्त होता है—ऐसा महात्मा पुरुष फिर फिरसे कह गये हैं। इस दुःषमकालमें अंधकार प्रगट होकर बोधका मार्ग आवरण-प्राप्त होने जैसा हो गया है। उस कालमें हमें देह-योग मिला, इससे किसी तरह खेद होता है; फिर भी परमार्थसे उस खेदका समाधान किया है। परन्तु उस देह-योगमें कभी कभी किसी मुमुक्षुके प्रति लोक-मार्गके प्रतीकारको फिर फिरसे कहनेका मन होता है; जिसका संयोग तुम्हारे और श्री····के संबंधमें सहज ही हो गया है। परन्तु उससे तुम हमारे कथनको मान्य करो, इस आग्रहके लिये कुछ भी कहना नहीं होता। केवल हितकारी जानकर ही उस बातका आग्रह हुआ करता है, अथवा होता है—यदि इतना लक्ष रहे तो किसी तरह संगका फल मिलना संभव है।

जैसे बने वैसे [illegible] अपने दोषके प्रति लक्ष करके दूसरे जीवोंके प्रति निर्दोष दृष्टि रखकर प्रवृत्ति करना, और जिससे वैराग्य-उपशमका आराधन हो वैसा करना, यह [illegible] पहिली बात है।

प्रयोजनके लिये, महात्मा पुरुषोंकी आज्ञासे अथवा केवल जीवके कल्याणके उद्देश्यसे ही, उसका किसी पात्रके लिये उपयोग बताया है, ऐसा समझना चाहिये। नित्यप्रति और साधारण प्रसंगमें पत्र-समाचार आदि व्यवहार करना योग्य नहीं है। ज्ञानी-पुरुषके प्रति उसकी आज्ञासे ही चिट्ठी पत्र आदि व्यवहार करना ठीक है, परन्तु दूसरे लौकिक जीवके प्रयोजनके लिये तो यह सर्वथा निषिद्ध ही मालूम होता है। फिर काल ऐसा आ गया है कि जिसमें इस तरह कहनेसे भी विषम परिणाम आना संभव है। लोक-मार्गमें प्रवृत्ति करनेवाले साधु वगैरहके मनमें यह व्यवहार-मार्गका नाश करनेका भासमान होना संभव है। तथा इस मार्गके प्रतिपादन करनेसे अनुक्रमसे बिना कारण ही पत्र-समाचार आदिका चालू होना संभव है, जिससे साधारण द्रव्य-त्यागकी भी हिंसा होने लगे।

यह जानकर इस व्यवहारको प्रायः श्री········से भी नहीं करना चाहिये; क्योंकि वैसा करनेसे भी व्यवसायका बढ़ना ही संभव है। यदि तुम्हें सर्व पच्चक्खाण हो, तो फिर जो पत्र न लिखनेका साधुने पच्चक्खाण दिया है, वह नहीं दिया जा सकता; परन्तु यदि दिया हो तो भी हानि नहीं मानना चाहिये। वह पच्चक्खाण भी यदि ज्ञानी-पुरुषकी वाणीसे रूपांतरित हुआ होता तो हानि न थी, परन्तु यह जो साधारणरूपसे रूपांतरित हुआ है, वह योग्य नहीं हुआ। यहाँ मूल—स्वाभाविक—पच्चक्खाणकी व्याख्या करनेका अवसर नहीं है; लोक-पच्चक्खाणकी बातका ही अवसर है; परन्तु उसे भी साधारणतया अपनी इच्छासे तोड़ डालना योग्य नहीं—इस समय तो इस प्रकारसे ही दृढ़ विचार रखना चाहिये। जब गुणोंके प्रगट होनेके साधनमें विरोध होता हो, तब उस पच्चक्खाणको ज्ञानी-पुरुषकी वाणीसे अथवा मुमुक्षु जीवके समागमसे सहज स्वरूपमें फेरफार करके रास्तेपर लाना चाहिये; क्योंकि बिना कारण लोगोंमें शंका पैदा होने देनेकी कोई बात करना योग्य नहीं है। वह पामर जीव दूसरे जीवोंको बिना कारण ही अहितकर होता है—इत्यादि बहुतसे कारण समझकर जहाँतक बने पत्र आदि व्यवहार कम करना ही योग्य है। हमारे प्रति कदाचित् वैसा व्यवहार करना तुम्हें हितकर है, इसलिये करना योग्य मालूम हो तो उस पत्रको भी श्री········जैसे किसी सत्संगीसे बँचवाकर ही भेजना, जिससे 'ज्ञान-चर्चाके सिवाय इसमें कोई दूसरी बात नहीं,' यह उनकी साक्षी तुम्हारी आत्माको इस प्रकारके पत्र-व्यवहारको करनेसे रोकनेके लिये संभव हो। मेरे विचारके अनुसार इस बातको श्री········विरोध न समझें। कदाचित् उन्हें विरोध मालूम होता हो तो किसी प्रसंगपर हम उनको इस प्रकारसे निवृत्त कर देंगे, फिर भी तुम्हें प्रायः विशेष पत्र व्यवहार करना योग्य नहीं। इस लक्ष्यको न चूकना।

प्रायः इसका अर्थ केवल इतना ही है, जिससे हितकारी प्रसंगमें पत्रका जो कारण बनता हो, उसमें बाधा न आवे। विशेष पत्र-व्यवहार करनेमें यदि वह ज्ञानकी चर्चा होगी तो भी लोक-व्यवहारमें बहुत विरोधका कारण होगी। केवल जिस तरह प्रसंग प्रमाणसे जो अल्प-निवृत्ति हो, उसका विचार और उसकी ही चिंता करनी योग्य है। हमारे प्रति किसी ज्ञान-प्रश्नके लिये कुछ लिखनेकी यदि तुम्हारी इच्छा हो तो वह श्री········से पूछकर ही लिखना, जिससे उनके हृदयमें कम बाधा उपस्थित हो।

जो जो साधन जीवको संसारका भय दृढ़ कराते हैं उन उन साधनसंबंधी जो उपदेश कहा है, वह उपदेश-बोध है।

यहाँ यह विचार होना संभव है कि उपदेश-बोधकी अपेक्षा सिद्धांत-बोधकी मुख्यता माळूम होती है, क्योंकि उपदेश-बोध भी उसीके लिये है, तो फिर यदि सिद्धांत बोधका ही पहिलेसे अवगाहन किया हो तो वह जीवको पहिलेसे ही उन्नतिका हेतु है। परन्तु यह विचार होना मिथ्या है; क्योंकि उपदेश-बोधसे ही सिद्धांत-बोधका जन्म होता है। जिसे वैराग्य-उपशम संबंधी उपदेश-बोध नहीं हुआ, उसे बुद्धिका विपर्यास भाव रहा करता है; और जबतक बुद्धिका विपर्यास भाव रहे तबतक सिद्धांतका विचार करना भी विपर्यास भावसे ही संभव होता है। जैसे चक्षुमें जितनी मलिनता रहती है, वह उतना ही पदार्थको मलिन देखती है; और यदि उसका पटल अत्यंत बलवान हो तो उसे मूल पदार्थ ही दिखाई नहीं देता; तथा जिसको चक्षुका यथावत् संपूर्ण तेज विद्यमान है, वह पदार्थको यथायोग्य देखता है। इसी प्रकार जिस जीवको गाढ़ विपर्यास बुद्धि है, उसे तो किसी भी तरह सिद्धांत-बोध विचारमें नहीं आ सकता। परन्तु जिसकी विपर्यास बुद्धि मंद हो गई है उसे उस प्रमाणमें सिद्धांतका अवगाहन होता है; और जिसने विपर्यास बुद्धिका विशेषरूपसे क्षय किया है, ऐसे जीवको विशेषरूपसे सिद्धांतका अवगाहन होता है।

गृह-कुटुम्ब परिग्रह आदि भावमें जो अहंता—ममता—है और उसकी प्राप्ति अप्राप्तिके प्रसंगमें जो राग-द्वेष कषाय है, वही विपर्यास-बुद्धि है। और जहाँ वैराग्य-उपशम उद्भूत होता है, वहाँ अहंता—ममता तथा कषाय मंद पड़ जाते हैं—वे अनुक्रमसे नाश होने योग्य हो जाते हैं। गृह-कुटुम्ब आदि भावविषयक अनासक्त बुद्धि होना वैराग्य है; और उसकी प्राप्ति-अप्राप्तिके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले कषाय-क्लेशका मंद होना उपशम है। अर्थात् ये दो गुण विपर्यास बुद्धिको पर्यायांतर करके सद्बुद्धि पैदा करते हैं, और वह सद्बुद्धि जीव अजीव आदि पदार्थकी व्यवस्था जैसी माळूम होती है—इस प्रकार सिद्धांतका विचार करना योग्य है। जैसे चक्षु पटल आदि अंतरायके दूर होनेसे वह पदार्थको यथावत् देखती है, उसी तरह अहंता आदि पटलकी मंदता होनेसे जीवको ज्ञानी-पुरुषके कहे हुए सिद्धांत-भाव—आत्मभाव—विचार-चक्षुमें दिखाई देते हैं। जहाँ वैराग्य और उपशम बलवान हैं, वहाँ प्रबलतासे विवेक होता है। जहाँ वैराग्य-उपशम बलवान न हो वहाँ विवेक बलवान नहीं होता, अथवा यथावत् विवेक नहीं होता। जो सहज आत्मस्वरूप है ऐसा केवलज्ञान भी प्रथम मोहनीय कर्मके क्षयके बाद ही प्रगट होता है, और इस बातमें जो ऊपर सिद्ध बताया है, वह स्पष्ट समझमें आ जायगा।

फिर ज्ञानी-पुरुषोंकी विशेष शिक्षा वैराग्य-उपशमका बोध करनेवाली देखनेमें आती है। जिन भगवान्के आगमपर दृष्टि डालनेसे यह बात विशेष स्पष्ट जानी जा सकेगी। सिद्धांत-बोध अर्थात् जिन आगममें जीव अजीव पदार्थका विशेषरूपसे जितना कथन किया है, उसकी अपेक्षा विशेषरूपसे अति विशेषरूपमें वैराग्य और उपशमका कथन किया है, क्योंकि उसकी सिद्धि हो जानेके पश्चात् सहजमें ही विचारकी निर्मलता होती है, और विचारकी निर्मलता सिद्धांतरूप कथनको सहज ही में अथवा थोड़े ही परिश्रमसे अंगीकार कर सकती है—अर्थात् उसकी भी सहज ही सिद्धि होती है; और

कदाचित् वैसा न हो तो भी 'इस संसारमें किसी प्रकार रुचि-योग माल्म नहीं होता—वह प्रत्यक्ष रसरहित स्वरूप ही दिखाई पड़ता है। उसमें कमी भी सद्विचारवान जीवको अल्प भी रुचि नहीं होती,' यह निश्चय रहा करता है। बारम्बार संसार भयरूप लगता है। भयरूप लगनेका दूसरा कोई कारण माल्म नहीं होता। इसका हेतु केवल यही है कि इसमें शुद्ध आत्मस्वरूपको अप्रधान रखकर प्रवृत्ति होती है, उससे महान् कष्ट रहता है; और नित्य छुटकारा पानेका लक्ष रहा करता है। फिर भी अभी तो अंतराय रहता है, और प्रतिबंध भी रहा करता है। तथा उसी तरहके दूसरे अनेक विकल्पोंसे खारे लगनेवाले इस संसारमें हम बड़ी कठिनाईसे रह रहे हैं।

(२)

आत्म-परिणामकी विशेष स्थिरता होनेके लिये उपयोगपूर्वक वाणी और कायाका संयम करना योग्य है।

४२० मोहमयी, आषाढ़ सुदी ६ रवि. १९५०

(१)

जीव और काया पदार्थरूपसे जुदे जुदे हैं। परन्तु जबतक उस देहसे जीव कर्म भोगता है, तबतक ये दोनों संबंधरूपसे सहचारी हैं। श्रीजिनभगवान्ने जीव और कर्मका संबंध क्षीर-नीरके संबंधकी तरह बताया है। उसका हेतु भी यही है कि यद्यपि क्षीर और नीर एकत्र स्पष्ट दिखाई देते हैं, परन्तु परमार्थसे वे जुदे जुदे हैं—पदार्थरूपसे वे भिन्न हैं; अग्निका प्रयोग करनेपर वे फिर स्पष्ट जुदे जुदे हो जाते हैं। उसी तरह जीव और कर्मका संबंध है। कर्मका मुख्य स्वरूप किसी प्रकारकी देह ही है, और जीवको इन्द्रिय आदि द्वारा क्रिया करता हुआ देखकर यह जीव है, ऐसा सामान्यरूपसे कहा जाता है। परन्तु ज्ञान-दशा आये बिना जीव और कायाकी जो स्पष्ट भिन्नता है, वह भिन्नता जीवके जाननेमें नहीं आती; परन्तु वह भिन्नता क्षीर-नीरकी तरह ही है। ज्ञानके संस्कारसे वह भिन्नता एकदम स्पष्ट हो जाती है। अब यहाँ ऐसा प्रश्न किया गया है कि 'यदि ज्ञानसे जीव और कायाको भिन्न भिन्न जान लिया है, तो फिर वेदनाका सहन करना या मानना किस कारणसे होता है? वह फिर न होना चाहिये'। इस प्रश्नका समाधान निम्न प्रकारसे है:—

जैसे सूर्यसे तपा हुआ पत्थर सूर्यके अस्त होनेके बाद भी अमुक समयतक तप्त रहता है, और पीछेसे अपने स्वरूपमें आता है; उसी तरह पूर्वके अज्ञान-संस्कारसे उपार्जित किये हुए वेदना और तापका इस जीवसे संबंध है। यदि ज्ञान-प्राप्तिका कोई कारण मिल जाय तो फिर अज्ञानका नाश हो जाता है, और उससे उत्पन्न होनेवाला भावी कर्म नाश होता है, परन्तु उस अज्ञानसे उत्पन्न हुए वेदनीय कर्मका—उस अज्ञानके सूर्यकी तरह, उसके अस्त होनेके पश्चात्—पत्थररूपी जीवके साथ संबंध रहता है, जो आयु कर्मके नाश होनेसे ही नाश होता है। केवल इतना ही भेद है कि ज्ञानी-पुरुषको कायमें आत्म-बुद्धि नहीं होती, और आत्मामें काय-बुद्धि नहीं होती—उसके ज्ञानमें दोनों ही स्पष्टरूपसे भिन्न भिन्न माल्म पड़ते हैं। मात्र जैसे पत्थरको सूर्यके तापका संबंध रहता है, उसी तरह पूर्वसंबंधके

करे तो अभी भी उस ही तरह अनंत कालतक परिभ्रमण चलता चला जाय। अग्निके एक
इतनी सामर्थ्य है कि वह समस्त लोकको जला सकता है, परन्तु उसे जैसा जैसा संयोग मिलता
वैसे वैसे उसका गुण फलयुक्त होता है। उसी तरह अज्ञान-परिणाममें जीव अनादि कालसे भटक
है; तथा संभव है कि अभी अनंत कालतक भी चौदह राजू लोकमें प्रत्येक प्रदेशमें उस परिणामसे
जन्म-मरण होना संभव हो। फिर भी जिस तरह स्फुलिंगकी अग्नि संयोगके आधीन है, उसी तरह अ
धर्म परिणामकी भी कोई प्रकृति होती है। उत्कृष्टसे उत्कृष्ट यदि एक जीवको मोहनीय कर्मका बंध
सत्तर कोड़ाकोड़ीतक हो सकता है, ऐसा जिनभगवान्‌ने कहा है। उसका हेतु स्पष्ट है कि यदि अ
अनंत कालका बंधन होता हो तो फिर जीवको मोक्ष ही न हो। यह बंध यदि अभी नि
हुआ हो, परन्तु लगभग निवृत्त होनेके लिये आया हो, तो कदाचित् उस प्रकारकी दूसरी स्थि
बंध होना संभव है, परन्तु इस प्रकारके मोहनीय कर्मको—जिसकी काल-स्थिति ऊपर कही है—
समयमें अधिक बाँधना संभव नहीं होता। अनुक्रमसे अभीतक उस कर्मसे निवृत्त होनेके पहिले दूसरा
स्थितिका कर्म बाँधे, तथा दूसरेके निवृत्त होनेके पहिले तीसरा कर्म बाँधे; परन्तु दूसरा, तीसरा,
पाँचवाँ, छठा इस तरह सबके सब कर्म एक मोहनीय कर्मके संबंधसे उसी स्थितिको बाँधते रहें, ऐसा
होता। क्योंकि जीवको इतना अवकाश नहीं है। इस प्रकार मोहनीय कर्मकी स्थिति है। तथा
कर्मकी स्थिति श्रीजिनभगवान्‌ने इस तरह कही है कि एक जीव एक देहमें रहते हुए, उस
जितनी आयु है, उसके तीन भागोंमेंसे दो भाग व्यतीत हो जानेपर आगामी भवकी आयु बाँध
उससे पहिले नहीं बाँधता। तथा एक भवमें आगामी कालके दो भवोंकी आयु नहीं बाँधता,
स्थिति है। अर्थात् जीवको अज्ञान-भावसे कर्म-संबंध चला आ रहा है; फिर भी उन उन क
स्थितिके कितनी भी विडंबनारूप होनेपर, अनंत दुःख और भवका हेतु होनेपर भी, जिस जिससे
उससे निवृत्त हो, उतने अमुक प्रकारको निकाल देनेपर सब अवकाश ही अवकाश है। इस
जिनभगवान्‌ने बहुत सूक्ष्मरूपसे कहा है, उसका विचार करना योग्य है; जिससे जीवको
अवकाश रहकर कर्मबंध रहा है। यह बात आपको संक्षेपमें लिखी है। उसे फिर फिरसे विचार
कुछ समाधान होगा, और क्रमसे अथवा समागमसे उसका एकदम समाधान हो जायगा।

जो सत्संग है वह कामके जलानेका प्रबल उपाय है। सब ज्ञानी-पुरुषोंने कामके
अत्यन्त कठिन कहा है, यह सर्वथा सिद्ध है; और ज्यों ज्यों ज्ञानीके वचनका अवगाहन होता है
त्यों कुछ कुछ करके पीछे हटनेमें अनुक्रमसे जीवका वीर्य प्रवृत्त होकर जीवसे कामकी सामर्थ्य
करता है। जीवने ज्ञानी-पुरुषके वचन सुनकर कामका स्वरूप ही नहीं जाना; और यदि उस
तो उसकी इस स्थितिमें सर्वथा नीरसता हो गई होती।

(२)

नमो जिणाणं जिदभवाणं

जिसकी प्रत्यक्ष दशा ही बोधरूप है, उस महान् पुरुषको धन्य है।

जिस सत्संगसे यह जीव मग्न हो रहा है, वही सत्संग ही उसके स्वरूपका मुख्य प्रकाश

शस्त्र आदिका संबंध हो, यह नहीं होता। यदि उन जीवोंकी स्थूल अवगाहना हो, अथवा अग्नि आदि अत्यंत सूक्ष्मपना हो, जिससे उनकी भी एकेन्द्रिय जीव जैसी सूक्ष्मता गिनी जाय, तो वे एकेन्द्रिय जीवके व्याघात करनेमें समर्थ गिने जाँय, परन्तु वैसा तो है नहीं। यहाँ तो जीवोंका अत्यंत सूक्ष्मत्व है, और अग्नि शस्त्र आदिका अत्यन्त स्थूलत्व है, इस कारण उनमें व्याघात करने योग्य संबंध नहीं होता, ऐसा भगवान्ने कहा है। परन्तु इस कारण औदारिक शरीरको अविनाशी कहा है, यह बात नहीं है, उसके स्वभावसे अन्यथारूप होनेसे अथवा उपार्जित किये हुए उन जीवोंके पूर्वकर्मके परिणामसे औदारिक शरीरका नाश होता है। वह शरीर कुछ दूसरेसे नाश किया जाय तो ही उसका नाश हो, यह कोई नियम नहीं है।

यहाँ हालमें व्यापारसंबंधी प्रयोजन रहता है, इस कारण तुरत ही थोड़े समयके लिये भी निवृत्त सकना कठिन है, क्योंकि प्रसंग इस प्रकारका है कि जिसमें समागमके लोग मेरी मौजूदगीको आवश्यक समझते हैं। उनके मनको चोट न पहुँच सके, अथवा उनके काममें यहाँसे मेरे दूर चले जानेसे कोई प्रबल हानि न हो सके, ऐसा व्यवसाय हो तो वैसा करके थोड़े समयके लिये इस प्रवृत्तिसे अवकाश लेनेका चित्त है। परन्तु तुम्हारी तरफ आनेसे लोगोंके परिचयमें आना जरूर ही संभव है, इसलिये उस तरफ आनेका चित्त होना कठिन है। इस प्रकारका प्रसंग रहनेपर भी यदि लोगोंके परिचयमें धर्मके प्रसंगसे आना पड़े, तो उसे विशेष शंका योग्य समझकर जैसे बने तैसे उस परिचयमें धर्म-प्रसंगके नामसे विशेषरूपसे दूर रहनेका ही चित्त रहा करता है।

जिससे वैराग्य-उपशमके बलकी वृद्धि हो, उस प्रकारके सत्संग-सत्शास्त्रका परिचय करना, यह जीवको परम हितकारी है। दूसरे परिचयको जैसे बने तैसे निवृत्त करना ही योग्य है।

---

४२४ बम्बई, श्रावण सुदी ११ री. ११

ॐ

योगवासिष्ठ आदि ग्रंथोंके बाँचने-विचारनेमें कोई दूसरी बाधा नहीं। हमने पहिले लिखा था उपदेश-ग्रंथ समझकर इस प्रकारके ग्रंथोंके विचारनेसे जीवको गुण प्रगट होता है। प्रायः वे वैराग्य और उपशमके लिये हैं। सत्पुरुषसे जानने योग्य सिद्धांत-ज्ञानको जानकर जीवमें सरलता निरभिमानता आदि गुणोंके उद्भव होनेके लिये योगवासिष्ठ, उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग आदिके विचारनेमें कोई बाधा नहीं, इतना स्मरण रखना।

वेदांत और जिन-सिद्धांत इन दोनोंमें अनेक प्रकारसे भेद है।

वेदान्त एक ब्रह्मस्वरूपसे सर्व स्थितिको कहता है, जिनागममें उससे भिन्न ही रूप कहा गया है। समयसार पढ़ते हुए भी बहुतसे जीवोंका एक ब्रह्मकी मान्यतारूप सिद्धांत हो जाता है। बहुत सत्संगसे तथा वैराग्य और उपशमका बल विशेषरूपसे बढ़नेके पश्चात् सिद्धांतका विचार करना चाहिये। यदि ऐसा न किया जाय तो जीव दूसरे मार्गमें आरूढ़ होकर वैराग्य और उपशमसे हीन हो जाता है। 'एक ब्रह्मरूप' के विचार करनेमें बाधा नहीं, अथवा 'अनेक आत्मा' के विचार

४२८

श्रीमान् महावीरस्वामी जैसोंने भी अप्रसिद्ध पद रखकर गृहवासरूपका वेदन किया, गृहसे निवृत्त होनेपर भी साढ़े बारह (बरस) जैसे दीर्घ कालतक मौन रक्खा; निद्रा छोड़कर विषम उपसर्ग सहन किये, इसका क्या हेतु है? और यह जीव इस प्रकार बर्ताव करता है, तथा इस प्रकार कहता है, इसका क्या हेतु है?

जो पुरुष सद्गुरुकी उपासनाके बिना केवल अपनी कल्पनासे ही आत्म-स्वरूपका निश्चय करे, वह केवल अपने स्वच्छंदके उदयका वेदन करता है—ऐसा विचार करना योग्य है।

जो जीव सत्पुरुषके गुणका विचार न करे, और अपनी कल्पनाके ही आश्रयसे चले, वह जीव सहजमात्रमें भव-वृद्धि उत्पन्न करता है, क्योंकि वह अमर होनेके लिये ज़हर पीता है।

४२९

बम्बई, श्रावण वदी ७, १९५१

तुम्हारी और दूसरे मुमुक्षु लोगोंकी चित्तकी दशा मालूम की है। ज्ञानी-पुरुषोंने अप्रतिबद्धताको ही प्रधान मार्ग कहा है; और सबसे अप्रतिबद्ध दशाका लक्ष रखकर ही प्रवृत्ति रहती है, तो भी सत्संग आदिमें अभी हमें भी प्रतिबद्ध बुद्धि रखनेका ही चित्त रहता है। हालमें हमारे समागमका प्रसंग नहीं है, ऐसा जानकर तुम सब भाईयोंको, जिस प्रकारसे जीवको शांत दातभाव उद्भूत हो, उस प्रकारसे बाँचन आदिका समागम करना योग्य है—यह बात दृढ़ करने योग्य है।

४३०

बम्बई, श्रावण वदी ९ शनि. १९५१

जीवमें जिस तरह त्याग वैराग्य और उपशम गुण प्रगट हों—उदित हों, उस क्रमको लक्षमें रखनेकी जिस पत्रमें सूचना लिखी थी, वह पत्र प्राप्त हुआ है।

जबतक ये गुण जीवमें स्थिर नहीं होते तबतक जीवसे यथार्थरूपसे आत्मस्वरूपका विचार होना कठिन है। 'आत्मा रूपी है या अरूपी है?' इत्यादि विकल्पोंका जो उसके पहिले विचार किया जाता है, वह केवल कल्पना जैसा है। जीव कुछ भी गुण प्राप्त करके यदि शीतल हो जाय, तो फिर उसे विशेष विचार करना चाहिये। आत्म-दर्शन आदि प्रसंग, तीव्र मुमुक्षुताके उत्पन्न होनेके पहिले प्रायः करके कल्पितरूपसे ही समझमें आते हैं; जिससे हालमें इस विषयकी शंकाका शमन करना ही योग्य है।

४३१

बम्बई, श्रावण वदी ९ शनि. १९५१

(१) प्रारब्ध-वशसे प्रसंगकी चारों दिशाओंके दबावसे कुछ व्यवसाययुक्त कार्य होते हैं, परन्तु चित्तके परिणामके साधारण प्रसंगमें प्रवृत्ति करते हुए विशेष सकुचित रहनेके कारण, इस प्रकारका पत्र आदि लिखना वगैरह नहीं हो सकता; जिससे अधिक नहीं लिखा, इसलिये इसे सज्जन क्षमा करें।

(२) इस समय किसी भी परिणामकी ओर ध्यान नहीं।

है, उस निर्मल धाराके कारण अपना निजका यही द्रव्य है, ऐसा यद्यपि स्पष्ट जाननेमें नहीं आया, तो भी अस्पष्टरूपसे अर्थात् स्वाभाविकरूपसे भी उनकी आत्मामें वह छाया भासमान हुई है, और जिसके कारण यह बात उनके मुखसे निकल सकी है; और आगे जाकर वह बात उन्हें सहज ही एकदम स्पष्ट हो गई हो, प्रायः उनकी ऐसी दशा उस ग्रंथके लिखते समय रही है।

श्रीडूंगरके अंतरमें जो खेद रहता है, वह किसी प्रकारसे योग्य ही है; और वह खेद प्रायः तुम्हें भी रहा करता है, वह हमारे जाननेमें है। तथा दूसरे भी बहुतसे मुमुक्षु जीवोंको इस प्रकारका खेद रहा करता है। यह जाननेपर भी और 'तुम सबका यह खेद दूर किया जाय तो ठीक है' ऐसा मनमें रहनेपर भी, प्रारब्धका वेदन करते हैं। तथा हमारे चित्तमें इस विषयमें अत्यंत बलवान खेद रहता है। जो खेद दिनमें प्रायः अनेक प्रसंगोंपर स्फुरित हुआ करता है, और उसे उपशान्त करना पड़ता है; और प्रायः तुम लोगोंको भी हमने विशेषरूपसे उस खेदके विषयमें नहीं लिखा, अथवा नहीं बताया। हमें उसे बताना भी योग्य नहीं लगता था। परन्तु हालमें श्रीडूंगरके कहनेसे प्रसंग पाकर उसे बताना पड़ा है। तुम्हें और डूंगरको जो खेद रहता है, उस विषयमें हमें उससे असंख्यात गुणविशिष्ट खेद रहता होगा, ऐसा लगता है। क्योंकि जिस जिस प्रसंगपर वह बात आत्म-प्रदेशमें स्मरण होती है, उस उस प्रसंगपर समस्त प्रदेश शिथिल जैसे हो जाते हैं; और जीवका 'नित्य स्वभाव' होनेसे, जीव इस प्रकारका खेद करते हुए भी जीता है—इस प्रकार तकका खेद होता है। फिर परिणामांतर होकर थोड़े अवकाशमें भी उसकी बात प्रत्येक प्रदेशमें स्फुरित होकर निकलती है, और वैसीकी वैसी ही दशा हो जाती है। फिर भी आत्मापर अत्यंत दृष्टि करके उस प्रकारको हालमें तो उपशान्त करना ही योग्य है—ऐसा जानकर उसे उपशान्त किया जाता है।

श्रीडूंगरके अथवा तुम्हारे चित्तमें यदि ऐसा होता हो कि साधारण कारणोंके सबबसे हम इस प्रकारकी प्रवृत्ति नहीं करते, तो वह योग्य नहीं है। यदि यह तुम्हारे मनमें रहता हो तो प्रायः वैसा नहीं है, ऐसा हमें लगता है। नित्यप्रति उस बातका विचार करनेपर भी उसके साथ अभी बलवान कारणोंका संबंध है, ऐसा जानकर जिस प्रकारकी तुम्हारी इच्छा प्रभावके हेतुमें है, उस हेतुको मन्द करना पड़ता है। और उसके अवरोधक कारणोंके क्षीण होने देनेमें आत्म-वीर्य कुछ भी फलीभूत होकर स्वस्थितिमें रहता है। तुम्हारी इच्छाके अनुसार हालमें जो प्रवृत्ति नहीं की जाती, उस विषयमें जो बलवान कारण अवरोधक हैं, उनको तुम्हें विशेषरूपसे बतानेका चित्त नहीं होता, क्योंकि अभी उनके विशेषरूपसे बतानेमें अवकाशको जाने देना ही योग्य है।

जो बलवान कारण प्रभावके हेतुके अवरोधक हैं, उनमें हमारा बुद्धिपूर्वक कुछ भी प्रमाद हो, ऐसा किसी भी तरह संभव नहीं है। तथा अव्यक्तरूपसे अर्थात् नहीं जाननेपर भी जो जीवसे सहजमें हुआ करता हो, ऐसा कोई प्रमाद हो, यह भी मालूम नहीं होता। फिर भी किसी अंशमें उस प्रमादको संभव समझते हुए भी उससे अवरोधकता हो, ऐसा मालूम हो सके, यह बात नहीं है; क्योंकि आत्माकी निश्चय वृत्ति उसके सन्मुख नहीं है।

लोगोंमें उस प्रवृत्तिको करते हुए मानभंग होनेका प्रसंग आये तो उस मानभंगपनेके सहन न हो सकनेके कारण प्रभावके हेतुकी उपेक्षा की जाती हो, ऐसा भी नहीं लगता; क्योंकि उस माना-

अपने स्वरूपका त्याग कर दिया हो। करोड़ों प्रकारसे उन अनंत परमाणुरूप सोनेके आकारोंको यदि एक रसरूप करो, तो भी वे सब परमाणु अपने ही स्वरूपमें रहते हैं; अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको नहीं छोड़ते, क्योंकि यह होना किसी भी तरहसे अनुभवमें नहीं आ सकता।

उस सोनेके अनंत परमाणुओंकी तरह सिद्धोंकी अनंतकी अवगाहना गिनो तो कोई बाधा नहीं है, परन्तु उसमें कुछ कोई भी जीव किसी भी दूसरे जीवकी साथ केवल एकत्वरूपसे मिल गया है, यह बात नहीं है। सब अपने अपने भावमें स्थितिपूर्वक ही रह सकते हैं। जीवरूपसे जीवकी एक जाति हो, इस कारण कोई एक जीव अपनापन त्याग करके दूसरे जीवोंके समुदायमें मिलकर स्वरूपका त्याग कर दे, इसका क्या हेतु है? उनके निजके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, कर्मबंध और मुक्तावस्था, ये अनादिसे भिन्न हैं, और यदि फिर जीव मुक्तावस्थामें, उस द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका त्याग कर दे तो फिर उसका अपना स्वरूप ही क्या रहा? उसका अनुभव ही क्या रहा? और अपने स्वरूपके नाश हो जानेसे उसकी कर्मसे मुक्ति हुई अथवा अपने स्वरूपसे ही मुक्ति हो गई? इस भेदका विचार करना चाहिये। इत्यादि प्रकारसे जिनभगवान्ने सर्वथा एकत्वका निषेध किया है।

४३६

तीर्थंकरने सर्वसंगको महाश्रवरूप कहा है, यह सत्य है।

इस प्रकारकी मिश्र गुणस्थान जैसी स्थिति कबतक रखनी चाहिये? जो बात चित्तमें नहीं है उसे करना, और जो चित्तमें है उसमें उदास रहना, यह व्यवहार किस तरह हो सकता है?

वैश्य-वेषमें और निर्ग्रंथभावसे रहते हुए कोटाकोटी विचार हुआ करते हैं।

वेष और उस वेषसंबंधी व्यवहारको देखकर लोकदृष्टि उस प्रकारसे माने यह ठीक है, और निर्ग्रंथभावमें रहनेवाला चित्त उस व्यवहारमें यथार्थ प्रवृत्ति न कर सके, यह भी सत्य है; इसलिये इस तरहसे दो प्रकारकी एक स्थितिपूर्वक बर्ताव नहीं किया जा सकता। क्योंकि प्रथम प्रकारसे रहते हुए निर्ग्रंथभावसे उदास रहना पड़े तो ही यथार्थ व्यवहारकी रक्षा हो सकती है, और यदि निर्ग्रंथ भावसे रहें तो फिर वह व्यवहार चाहे जैसा हो उसकी उपेक्षा करनी ही योग्य है। यदि उपेक्षा न की जाय तो निर्ग्रंथभावकी हानि हुए बिना न रहे।

उस व्यवहारके त्याग किये बिना, अथवा अत्यंत अल्प किये बिना यथार्थ निर्ग्रंथता नहीं रहती, और उदयरूप होनेसे व्यवहारका त्याग नहीं किया जाता।

इन सब विभाव-योगके दूर हुए बिना हमारा चित्त दूसरे किसी उपायसे संतोष प्राप्त करे, ऐसा नहीं लगता।

यह विभाव-योग दो प्रकारका है;—एक पूर्वमें निबंधन किया हुआ उदयस्वरूप, और दूसरा आत्मबुद्धिपूर्वक सम्प्रदत्त किया जाता हुआ भावस्वरूप।

आत्मभावपूर्वक विभावसंबंधी योगकी उपेक्षा ही श्रेयस्कर मालूम होती है। उसका नित्य विचार किया जाता है। उस विभावस्वरूपमें रहनेवाले आत्मभावको बहुत कुछ परिक्षीण कर दिया है, और अभी भी वही परिणति रहा करती है।

मानमें प्रायः करके चित्त उदासीन जैसा है, अथवा उस क्रममें चित्तको विशेष उदासीन किया हो, तो हो सकना संभव है ।

शब्द आदि विषयोंके प्रति कोई भी बलवान कारण अवरोधक हो, ऐसा भी माद्धम नहीं होता। यद्यपि यह कहनेका प्रयोजन नहीं है कि उन विषयोंका सर्वथा क्षायिक भाव ही है, फिर भी उसमें अनेक रूपसे नीरसता भासित हो रही है । उदयसे भी कभी मंदरुचि उत्पन्न होती हो, तो वह भी विशेष अवस्था पानेके पहिले ही नाश हो जाती है, और उस मंद रुचिका वेदन करते हुए भी आत्मामें खेद ही रहता है; अर्थात् उस रुचिके आधारहीन होती जानेसे वह भी बलवान कारणरूप नहीं है ।

दूसरे और भी अनेक प्रभावक पुरुष हुए हैं, उनकी अपेक्षा किसी रीतिसे हममें विचार-दशा आदिका प्राबल्य ही होगा । ऐसा लगता है कि उस प्रकारके प्रभावक पुरुष आज माद्धम नहीं होते; और मात्र उपदेशकरूपसे नाम जैसी प्रभावनासे प्रवर्तन करते हुए कोई कोई ही देखनेमें–सुननेमें आते हैं । उनकी विद्यमानताके कारण हमें कोई अवरोधकता हो, ऐसा भी माद्धम नहीं होता ।

---

४३३ बम्बई, भाद्र. सुदी ३ रवि. १९५०

जीवको ज्ञानी-पुरुषकी पहिचान होनेपर, तथाप्रकारसे अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभका शिथिल होना योग्य है, जिसके होनेपर अनुक्रमसे उसका क्षय होता है । ज्यों ज्यों जीवको सत्पुरुषकी पहिचान होती है, त्यों त्यों मताभिग्रह, दुराग्रह आदि भाव शिथिल पड़ने लगते हैं, और अपने दोषोंको देखनेकी ओर चित्त फिर जाता है, विकथा आदि भावमें नीरसता लगने लगती है, अथवा जुगुप्सा उत्पन्न होती है । जीवको अनित्य आदि भावनाके चिंतन करनेके प्रति, बल-वीर्यके स्फुरित होनेमें जिस प्रकारसे ज्ञानी-पुरुषके पास उपदेश सुना है, उससे भी विशेष बलवान परिणामसे वह पंच-विषय आदिमें अनित्य आदि भावको दृढ़ करता है ।

अर्थात् सत्पुरुषके मिलनेपर, यह सत्पुरुष है, इतना जानकर, सत्पुरुषके जाननेके पहिले जिस तरह आत्मा पंचविषय आदिमें आसक्त थी, उस तरह उसके पश्चात् आसक्त नहीं रहती, और अनुक्रमसे जिससे वह आसक्ति-भाव शिथिल पड़े, इस प्रकारके वैराग्यमें जीव प्रवेश करता है । अथवा सत्पुरुषका संयोग होनेके पश्चात् आत्मज्ञान कोई दुर्लभ नहीं है, फिर भी सत्पुरुषमें—उसके वचनमें—उस वचनके आशयमें, जबतक प्रीति-भक्ति न हो तबतक जीवमें आत्म-विचार भी प्रगट होना योग्य नहीं; और सत्पुरुषका जीवको संयोग हुआ है, इस प्रकार ठीक ठीक जीवको भासित हुआ है, ऐसा कहना भी कठिन है ।

जीवको सत्पुरुषका संयोग मिलनेपर तो ऐसी भावना होती है कि अबतक मेरे जो प्रयत्न कल्याणके लिये थे, वे सब निष्फल थे—लक्षके विना छोड़े हुए बाणकी तरह थे, परन्तु अब सत्पुरुषका अपूर्व संयोग मिला है, तो वह मेरे सब साधनोंके सफल होनेका हेतु है । लोक-प्रसंगमें रह-कर अबतक जो निष्फल—लक्षरहित साधन किये हैं, अब उस प्रकारसे सत्पुरुषके संयोगमें न करते हुए, जरूर अंतर-आत्मामें विचारकर दृढ़ परिणाम रखकर, जीवको इस संयोगमें—वचनमें जागृत होना योग्य

मैं ऐसा मानता हूँ कि जब अनंतकालसे अप्राप्तकी तरह आत्मस्वरूपको केवलज्ञान केवलदर्शनस्वरूपसे अंतर्मुहूर्तमें ही उत्पन्न कर लिया है, तो फिर वर्ष-छह मासके समयमें इतना यह व्यवहार कैसे न निवृत्त हो सकेगा ? उसकी स्थिति केवल जागृतिके उपयोगांतरसे है, और उस उपयोगके बलका नित्य ही विचार करनेसे अल्प कालमें वह व्यवहार निवृत्त हो सकने योग्य है। तो भी उसकी किस प्रकारसे निवृत्ति करनी चाहिये, यह अभी विशेषरूपसे मुझे विचार करना योग्य है, ऐसा मानता हूँ। क्योंकि वीर्यसंबंधी दशा कुछ मंद रहती है। उस मंद दशाका क्या हेतु है ?

उदयके बलसे ऐसा परिचय—मात्र परिचय ही—प्राप्त हुआ है, ऐसा कहनेमें क्या कोई बाधा है ? उस परिचयकी विशेष—अति विशेष अरुचि रहती है। उसके होनेपर भी परिचय करना पड़ा है। यह परिचयका दोष नहीं कहा जा सकता, परन्तु निजका ही दोष कहा जा सकता है। अरुचि होनेसे इच्छारूप दोष न कहकर उदयरूप दोष कहा है।

४३८

बहुत विचार करके निम्नरूपसे समाधान होता है।

एकांत द्रव्य, एकांत क्षेत्र, एकांत काल और एकांत भावरूप संयमकी आराधना किये बिना चित्तकी शांति न होगी, ऐसा लगता है—ऐसा निश्चय रहता है।

उस योगका अभी कुछ दूर होना संभव है, क्योंकि उदयका बल देखनेपर उसके निवृत्त नहोतक कुछ विशेष समय लगेगा।

४३९

अवि अप्पणो वि देहंमि, नायरंति ममाइयं।

—(महात्मा पुरुष) अपनी देहमें भी ममत्व नहीं करते।

४४०

काम, मान और जल्दीबाजी इन तीनोंका विशेष संयम करना योग्य है।

४४१

हे जीव ! असारभूत लगनेवाले इस व्यवसायसे अब निवृत्त हो, निवृत्त !

उस व्यवसायके करनेमें चाहे जितना बलवान प्रारब्धोदय दिखाई देता हो तो भी उससे निवृत्त हो, निवृत्त !

यद्यपि श्रीसर्वज्ञने ऐसा कहा है कि चौदहवें गुणस्थानमें रहनेवाला जीव भी प्रारब्धके वेदन किये बिना मुक्त नहीं हो सकता, तो भी तू उस उदयका आश्रयरूप होनेसे अपना दोष जानकर उसका अत्यंत तीव्रतासे विचार करके, उससे निवृत्त हो, निवृत्त !

पर-भावका परिचय बलवानरूपसे उदयमें हो तो निज-पद बुद्धिमें स्थिर रहना कठिन है, ऐसा मानकर नित्य ही निवृत्त होनेकी बुद्धिकी विशेष भावना करनी चाहिये, ऐसा महान् पुरुषोंने कहा है।

अल्प कालमें अव्याबाध स्थिति होनेके लिये तो अत्यंत पुरुषार्थ करके जीवको पर-परिचयसे निवृत्त होना ही योग्य है। धीमे धीमे निवृत्त होनेके कारणोंके ऊपर भार देनेकी अपेक्षा जिस प्रकारसे शीघ्रतासे निवृत्ति हो जाय, उस विचारको करना चाहिये। और वैसा करते हुए यदि असाता आदि आपत्ति-योगका वेदन करना पड़ता हो तो उसका वेदन करके भी पर-परिचयसे शीघ्रतासे दूर होनेका मार्ग ग्रहण करना चाहिये—यह बात भूल जाने योग्य नहीं।

ज्ञानकी बलवान तारतम्यता होनेपर तो जीवको पर-परिचयमें कभी भी स्वात्मबुद्धि होना संभव नहीं, और उसकी निवृत्ति होनेपर भी ज्ञान-बलसे उसे एकांतरूपसे ही विहार करना योग्य है। परन्तु जिसकी उससे निम्न दशा है, ऐसे जीवको तो अवश्य ही पर-परिचयका छेदन करके सत्संग करना चाहिये; जिस सत्संगसे सहज ही अव्याबाध स्थितिका अनुभव होता है।

ज्ञानी-पुरुष—जिसे एकांतमे विचरते हुए भी प्रतिबंध संभव नहीं—भी सत्संगकी निरन्तर इच्छा रखता है। क्योंकि जीवको यदि अव्याबाध समाधिकी इच्छा हो तो सत्संगके समान अन्य कोई भी सरल उपाय नहीं है।

इस कारण दिन प्रतिदिन प्रत्येक प्रसंगमें बहुत बार प्रत्येक क्षणमें सत्संगके आराधन करनेकी ही इच्छा वृद्धिगत हुआ करती है।

---

४४४ बम्बई, भाद्र. वदी ५ गुरु. १९५१

ॐ

योगवासिष्ठ आदि जो जो श्रेष्ठ पुरुषोंके वचन हैं, वे सब अहंवृत्तिका प्रतीकार करनेके लिये ही हैं। जिस जिस प्रकारसे अपनी भ्रांति कल्पित की गई है, उस उस प्रकारसे उस भ्रांतिको समझकर तत्संबंधी अभिमानको निवृत्त करना, यही सब तीर्थंकर महात्माओंका कथन है; और उसी वाक्यके ऊपर जीवको विशेषरूपसे स्थिर होना है—विशेष विचार करना है; और उसी वाक्यको मुख्यरूपसे अनुप्रेक्षन करना योग्य है—उसी कार्यकी सिद्धिके लिये ही सब साधन कहे हैं। अहंवृत्ति आदिके बढ़नेके लिये, बाह्य क्रिया अथवा मतके आग्रहके लिये, सम्प्रदाय चलानेके लिये, अथवा पूजा-श्लाघा प्राप्त करनेके लिये किसी महापुरुषका कोई उपदेश नहीं है, और उसी कार्यको करनेकी ज्ञानी पुरुषकी सर्वथा आज्ञा है। अपनी आत्मामें प्रादुर्भूत प्रशंसनीय गुणोंसे उत्कर्ष प्राप्त करना योग्य नहीं, परन्तु अपने अन्य दोषको भी देखकर फिर फिरसे पश्चात्ताप करना ही योग्य है, और अप्रमाद भावसे उससे पीछे फिरना ही उचित है, यह उपदेश ज्ञानी-पुरुषके वचनमें सर्वत्र सन्निविष्ट है। और उस भावके प्राप्त होनेके लिये सत्संग सद्गुरु और सत्शास्त्र आदि जो साधन कहे हैं, वे अपूर्व निमित्त हैं।

जीवको उस साधनकी आराधना निजस्वरूपके प्राप्त करनेके कारणरूप ही है, परन्तु और यदि वहाँ भी वंचना-बुद्धिसे प्रवृत्ति करे तो कभी भी कल्याण न हो। वंचना-बुद्धि अर्थात् सत्संग सद्गुरु आदिमें

(२)

राग, द्वेष और अज्ञानका आत्यंतिक अभाव करके जो सहज शुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थित हो गया है, वह स्वरूप हमारे स्मरण करनेके, ध्यान करनेके और पानेके योग्य स्थान है।

(३)

सर्वज्ञ-पदका ध्यान करो।

---

४४७ बम्बई, आसोज वदी ६ शनि. १९५०

ॐ

सत्पुरुषको नमस्कार

आत्मार्थी, गुणग्राही, सत्संग-योग्य भाई श्रीमोहनलालके प्रति श्री डरबन, श्री बम्बईसे लि० जीवन्मुक्तदशाके इच्छुक रायचन्द्रका आत्मस्मृतिपूर्वक यथायोग्य पहुँचे।

तुम्हारे लिखे हुए पत्रमें जो आत्मा आदिके विषयमें प्रश्न हैं, और जिन प्रश्नोंके उत्तर जाननेकी तुम्हारे चित्तमें विशेष आतुरता है, उन दोनोंके प्रति मेरा सहज सहज अनुमोदन है। परन्तु जिस समय तुम्हारा वह पत्र मुझे मिला उस समय मेरी चित्तकी स्थिति उसका उत्तर लिख सकने जैसी न थी, और प्रायः वैसा होनेका कारण भी यह था कि उस प्रसंगमें बाह्योपाधिके प्रति विरक्त वैराग्य परिणाम प्राप्त हो रहा था। इस कारण उस पत्रका उत्तर लिखने जैसे कार्योंमें भी प्रवृत्ति हो सकना संभव न था। थोड़े समयके पश्चात् उस वैराग्यमेंसे अवकाश लेकर भी तुम्हारे पत्रका उत्तर लिखूँगा, ऐसा विचार किया था। परन्तु पीछेसे वैसा होना भी असंभव हो गया। तुम्हारे पत्रकी पहुँच भी मैंने न लिखी थी, और इस प्रकार उत्तर लिख भेजनेमें जो विलम्ब हुआ, इससे मेरे मनमें खेद हुआ था, और इसमेंका अमुक भाव अबतक भी रहा करता है। जिस अवसरपर विशेष करके यह खेद हुआ, उस अवसरपर यह सुननेमें आया कि तुम्हारा विचार तुरत ही इस देशमें आनेका है। इस कारण कुछ चित्तमें ऐसा आया कि तुम्हें उत्तर लिखनेमें जो विलम्ब हुआ है वह भी तुम्हारे समागम होनेसे विशेष लाभकारक होगा। क्योंकि लेखद्वारा बहुतसे उत्तरोंका समझना कठिन था; और तुम्हें पत्रके तुरत ही न मिल सकनेके कारण तुम्हारे चित्तमें जो आतुरता उत्पन्न हुई, वह समागम होनेपर उत्तरको तुरत ही समझ सकनेके लिये एक श्रेष्ठ कारण मानने योग्य था। अब प्रारब्धके उदयसे जब समागम हो तब कुछ भी उस प्रकारकी ज्ञान-वार्ता होनेका प्रसंग आवे, यह आकांक्षा रखकर संक्षेपमें तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर लिखता हूँ। इन प्रश्नोंके उत्तरोंका विचार करनेके लिये निरंतर तत्संबंधी विचाररूप अभ्यासकी आवश्यकता है। वह उत्तर संक्षेपमें लिखा गया है, इस कारण बहुतसे संदेहोंकी निवृत्ति होना तो कदाचित् कठिन होगी तो भी मेरे चित्तमें ऐसा रहता है कि मेरे वचनोंमें तुम्हें कुछ भी विशेष विश्वास है, इससे तुम्हें धीरज रह सकेगा, और वह प्रश्नोंके यथायोग्य समाधान होनेका अनुक्रमसे कारणभूत होगा, ऐसा मुझे लगता है। तुम्हारे पत्रमें २७ प्रश्न हैं, उनका उत्तर संक्षेपमें नीचे लिखता हूँ:—

सहे आत्मरूपसे जो माहात्म्य बुद्धि करना योग्य है, उस माहात्म्य बुद्धिका न होना; और अपनी कल्पनाको अज्ञानता ही बहती चली आई है. इसलिये उसकी अल्पता—अथवा विचारकर अमाहात्म्य बुद्धि नहीं करना। उसका (माहात्म्यबुद्धि आदिका) सत्संग-सद्गुरु आदिमें आराधन नहीं करना भी वंचना-बुद्धि है। यदि जीव यहाँ भी अद्भुत ध्यान न करे तो जीव प्रत्यक्षरूपसे भव-भ्रमणसे भयभीत नहीं होता, यही विचार करने योग्य है। जीवको यदि प्रथम इस बातका अधिक लक्ष हो तो सब शास्त्रार्थ और आत्मार्थका सहज ही सिद्ध होना संभव है।

---

४४५ बम्बई, आसोज सुदी ११ बुध. १९५०

जिसे स्वप्नमें भी संसार-सुखकी इच्छा नहीं रही, और जिसे संसारका सम्पूर्ण स्वरूप निस्सारभूत भासित हुआ है, ऐसा ज्ञानी-पुरुष भी बारंबार आत्मावस्थाका बारम्बार स्मरण कर करके जो प्रारब्धका उदय हो उसका वेदन करता है, परन्तु आत्मावस्थामें प्रमाद नहीं होने देता। प्रमादके अवकाश-योगमें ज्ञानीको भी किसी अंशमें संसारसे जो व्यामोहका संभव होना कहा है, उस संसारमें साधारण जीवको रहते हुए, लौकिक भावसे उसके व्यवसायको करते हुए आत्म-हितकी इच्छा करना, यह न होने जैसा ही कार्य है। क्योंकि लौकिक भावके कारण जहाँ आत्माको निवृत्ति नहीं होती, वहाँ दूसरी तरहसे हित-विचार होना संभव नहीं। यदि एककी निवृत्ति हो तो दूसरेका परिणाम होना संभव है। अहितके हेतुभूत संसारसंबंधी प्रसंग, लौकिक-भाव, लोक-चेष्टा, इन सबकी सँभालको जैसे बने तैसे दूर करके—उसे कम करके—आत्म-हितको अवकाश देना योग्य है।

आत्म-हितके लिये सत्संगके समान दूसरा कोई बलवान् निमित्त मालूम नहीं होता। फिर भी उस सत्संगमें भी जो जीव लौकिक भावसे अवकाश नहीं लेता, उसे प्रायः वह निष्फल ही होता है, और यदि सहज सत्संग फलवान हुआ हो तो भी यदि विशेष-अति विशेष लोकावेश रहता हो तो उस फलके निर्मूल हो जानेमें देर नहीं लगती। तथा स्त्री, पुत्र, आरंभ, परिग्रहके प्रसंगोंसे यदि निज-बुद्धिको हटानेका प्रयत्न न किया जाय तो सत्संगका फलवान होना भी कैसे संभव हो सकता है? जिस प्रसंगमें महाज्ञानी पुरुष भी सँभल सँभलकर चलते हैं, उसमें फिर इस जीवको तो अत्यंत अत्यंत सँभालपूर्वक—सूक्ष्मपूर्वक चलना चाहिये, यह बात कभी भी भूलने योग्य नहीं है। ऐसा निश्चय करके, प्रत्येक प्रसंगमें, प्रत्येक कार्यमें और प्रत्येक परिणाममें उसका लक्ष रखकर जिससे उससे छुटकारा हो जाय उसी तरह करते रहना, यह हमने श्रीवर्धमानस्वामीकी छद्मस्थ मुनिचर्याके दृष्टान्तसे कहा था।

---

४४६ बम्बई, आसोज वदी २ बुध. १९५०

(१)

'भगवत् भगवत्की सँभाल करेगा, पर वही समय आयेगा जब जीव अपना अहंभाव छोड़ देगा,' इस प्रकार जो भद्रजनोंका वचन है, वह भी विचार करनेसे हितकारी है।

दर्शन भी इसीसे मिलते जुलते इसी प्रकारके शब्द कहते हैं। वास्तविक विचार करनेसे आत्मा घ
पट आदिका तथा क्रोध आदिका कर्त्ता नहीं हो सकती, वह केवल निजस्वरूप ज्ञान-परिणामका ही
कर्त्ता है—ऐसा स्पष्ट समझमें आता है।

(३) अज्ञानभावसे किए हुए कर्म प्रारंभ कालसे बीजरूप होकर समयका योग पाकर फलरू
वृक्षके परिणामसे परिणमते हैं; अर्थात् उन कर्मोंको आत्माको भोगना पड़ता है। जैसे अग्नि
स्पर्शसे उष्णताका संबंध होता है और वह उसका स्वाभाविक वेदनारूप परिणाम होता है, वैसे
आत्माको क्रोध आदि भावके कर्त्तापनेसे जन्म, जरा, मरण आदि वेदनारूप परिणाम होता है। इ
बातका तुम विशेषरूपसे विचार करना और उस संबंधमें यदि कोई प्रश्न हो तो लिखना। क्योंकि इ
बातको समझकर उससे निवृत्त होनेरूप कार्य करनेपर जीवको मोक्ष दशा प्राप्त होती है।

२. प्रश्नः—ईश्वर क्या है? वह जगत्का कर्त्ता है, क्या यह सच है?

उत्तरः—(१) हम तुम कर्म-बंधनमें फँसे रहनेवाले जीव हैं। उस जीवका सहजस्वरूप अर्था
कर्म रहितपना—मात्र एक आत्मत्वरूप—जो स्वरूप है, वही ईश्वरपना है। जिसमें ज्ञान आदि ऐश्वर्य
वह ईश्वर कहे जाने योग्य है और वह ईश्वरपना आत्माका सहज स्वरूप है। जो स्वरूप कर्मके का
मालूम नहीं होता, परन्तु उस कारणको अन्य स्वरूप जानकर जब आत्माकी ओर दृष्टि होती है, त
अनुक्रमसे सर्वज्ञता आदि ऐश्वर्य उसी आत्मामें मालूम होता है। और इससे विशेष ऐश्वर्ययुक्त कोई पदार्थ
कोई भी पदार्थ—देखनेपर भी अनुभवमें नहीं आ सकता। इस कारण ईश्वर आत्माका दूसरा पर्यायवा
नाम है; इससे विशेष सत्तायुक्त कोई पदार्थ ईश्वर नहीं है। इस प्रकार निश्चयसे मेरा अभिप्राय है।

(२) वह जगत्का कर्त्ता नहीं; अर्थात् परमाणु आकाश आदि पदार्थ नित्य ही हो
संभव है, वे किसी भी वस्तुमेंसे बनने संभव नहीं। कदाचित् ऐसा मानें कि वे ईश्वरमेंसे बने हैं
यह बात भी योग्य नहीं मालूम होती। क्योंकि यदि ईश्वरको चेतन मानें तो फिर उससे परमाणु, आका
वगैरह कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? क्योंकि चेतनसे जड़की उत्पत्ति कभी संभव ही नहीं होती। य
ईश्वरको जड़ माना जाय तो वह सहज ही अनैश्वर्यवान ठहरता है। तथा उससे जीवरूप चेतन पदार्थ
उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। यदि ईश्वरको जड़ और चेतन उभयरूप मानें तो फिर जगत् भी जड़-चे
उभयरूप होना चाहिये। फिर तो यह उसका ही दूसरा नाम ईश्वर रखकर संतोष रखने जैसा होता
तथा जगत्का नाम ईश्वर रखकर संतोष रख लेनेकी अपेक्षा जगत्को जगत् कहना ही वि
योग्य है। कदाचित् परमाणु, आकाश आदिको नित्य मानें और ईश्वरको कर्म आदिके फल देने
मानें, तो भी यह बात सिद्ध होती हुई नहीं मालूम होती। इस विषयपर षट्दर्शनसमुच्चयमें श्रे
प्रमाण दिये हैं।

३. प्रश्नः—मोक्ष क्या है?

उत्तरः—जिस क्रोध आदि अज्ञानभावमें देह आदिमें आत्माको प्रतिबंध है, उससे सर्व
निवृत्ति होना—मुक्ति होना—उसे ज्ञानियोंने मोक्ष-पद कहा है। उसका थोड़ासा विचार करनेसे
प्रमाणभूत मालूम होता है।

उत्तरः—(१) आर्यधर्मकी व्याख्या करते हुए सबके सब अपने अपने पक्षको ही आर्यधर्म कहना चाहते हैं। जैन जैनधर्मको, बौद्ध बौद्धधर्मको, वेदांती वेदांतधर्मको आर्यधर्म कहें, यह साधारण बात है। फिर भी ज्ञानी-पुरुष तो जिससे आत्माको निज स्वरूपकी प्राप्ति हो, ऐसा जो आर्य (उत्तम) मार्ग है उसे ही आर्यधर्म कहते हैं, और ऐसा ही योग्य है।

(२) सबकी उत्पत्ति वेदमेंसे होना संभव नहीं हो सकता। वेदमें जितना ज्ञान कहा गया है उससे हज़ार गुना आशययुक्त ज्ञान श्रीतीर्थंकर आदि महात्माओंने कहा है, ऐसा मेरे अनुभवमें आता है; और इससे मैं ऐसा मानता हूँ कि अल्प वस्तुमेंसे सम्पूर्ण वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। इस कारण वेदमेंसे सबकी उत्पत्ति मानना योग्य नहीं है। हाँ, वैष्णव आदि सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति उसके आश्रयसे माननेमें कोई बाधा नहीं है। जैन बौद्धके अन्तिम महावीर आदि महात्माओंके पूर्व वेद विद्यमान थे, ऐसा माऌम होता है। तथा वेद बहुत प्राचीन ग्रंथ हैं, ऐसा भी माऌम होता है। परन्तु जो कुछ प्राचीन हो वह सब सम्पूर्ण हो अथवा सत्य हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता; तथा जो पीछेसे उत्पन्न हो वह सब असम्पूर्ण और असत्य हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। बाकी तो वेदके समान अभिप्राय और जैनके समान अभिप्राय अनादिसे चला आ रहा है। सर्व भाव अनादि ही हैं, मात्र उनका रूपांतर हो जाता है; सर्वथा उत्पत्ति अथवा सर्वथा नाश नहीं होता। वेद, जैन, और दूसरे सबके अभिप्राय अनादि हैं, ऐसा माननेमें कोई बाधा नहीं है; फिर उसमें किस बातका विवाद हो सकता है? फिर भी इन सबमें विशेष बलवान सत्य अभिप्राय किसका मानना योग्य है, इसका हमें तुम्हें सबको विचार करना चाहिये।

९. प्रश्नः—वेद किसने बनाये? क्या वे अनादि हैं? यदि वेद अनादि हों तो अनादिका क्या अर्थ है?

उत्तरः—(१) वेदोंकी उत्पत्ति बहुत समय पहिले हुई है।

(२) पुस्तकरूपसे कोई भी शास्त्र अनादि नहीं; और उसमें कहे हुए अर्थके अनुसार तो सभी शास्त्र अनादि हैं। क्योंकि उस उस प्रकारका अभिप्राय भिन्न भिन्न जीव भिन्न भिन्नरूपसे कहते आये हैं, और ऐसा ही होना संभव है। क्रोध आदि भाव भी अनादि हैं, और क्षमा आदि भाव भी अनादि हैं। हिंसा आदि धर्म भी अनादि हैं और अहिंसा आदि धर्म भी अनादि हैं। केवल जीवको हितकारी क्या है, इतना विचार करना ही कार्यकारी है। अनादि तो दोनों हैं, फिर कभी किसीका कम मात्रामें बल होता है और कभी किसीका विशेष मात्रामें बल होता है।

१०. प्रश्नः—गीता किसने बनाई है? वह ईश्वरकृत तो नहीं है? यदि ईश्वरकृत हो तो क्या उसका कोई प्रमाण है?

उत्तरः—ऊपर कहे हुए उत्तरोंसे इसका बहुत कुछ समाधान हो सकता है। अर्थात् 'ईश्वर'का अर्थ ज्ञानी (सम्पूर्ण ज्ञानी) करनेसे तो वह ईश्वरकृत हो सकती है; परन्तु नित्य, निष्क्रिय आकाशकी तरह ईश्वरके व्यापक स्वीकार करनेपर उस प्रकारकी पुस्तक आदिकी उत्पत्ति होना संभव नहीं। क्योंकि वह तो साधारण कार्य है, जिसका कर्तृत्व आरंभपूर्वक ही होता है—अनादि नहीं होता।

द्वेष आदि परिणाम ही जन्मके हेतु हैं; ये जिसके नहीं हैं, ऐसा ईश्वर अवतार धारण करे, यह बात विचारनेसे यथार्थ नहीं माळ्म होती। 'वह ईश्वरका पुत्र है और था' इस बातको भी यदि किसी रूपकके तौरपर विचार करें तो ही यह कदाचित् ठीक बैठ सकती है, नहीं तो यह प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है। मुक्त ईश्वरके पुत्र हो, यह किस तरह माना जा सकता है? और यदि मानें भी तो उनकी उत्पत्ति किस प्रकार स्वीकार कर सकते हैं? यदि दोनोंको अनादि मानें तो उनका पिता-पुत्र संबंध किस तरह ठीक बैठ सकता है? इत्यादि बातें विचारणीय हैं। जिनके विचार करनेसे मुझे ऐसा लगता है कि यह बात यथायोग्य नहीं माळ्म हो सकती।

१५. प्रश्नः—पुराने करारमें जो भविष्य कहा गया है, क्या वह सब ईसाके विषयमें ठीक ठीक उतरा है?

उत्तरः—यदि ऐसा हो तो भी उससे उन दोनों शास्त्रोंके विषयमें विचार करना योग्य है। तथा इस प्रकारका भविष्य भी ईसाको ईश्वरावतार कहनेमें प्रबल प्रमाण नहीं है; क्योंकि ज्योतिष आदिसे भी महात्माकी उत्पत्ति जानी जा सकती है। अथवा भले ही किसी ज्ञानसे यह बात कही हो परन्तु वह भविष्य-वेत्ता सम्पूर्ण मोक्ष-मार्गका जाननेवाला था, यह बात जबतक ठीक ठीक प्रमाणभूत न हो, तबतक वह भविष्य वगैरह केवल एक श्रद्धा-ग्राह्य प्रमाण ही है; और वह दूसरे प्रमाणोंसे बाधित न हो, यह बुद्धिमें नहीं आ सकता।

१६. प्रश्नः—इस प्रश्नमें 'ईसामसीह'के चमत्कारके विषयमें लिखा है।

उत्तरः—जो जीव कायामेंसे सर्वथा निकलकर चला गया है, उसी जीवको यदि उसी कायामें दाखिल किया गया हो अथवा यदि दूसरे जीवको उसी कायामें दाखिल किया हो तो यह होना संभव नहीं है, और यदि ऐसा हो तो फिर कर्म आदिकी व्यवस्था भी निष्फल ही हो जाय। बाकी योग आदिकी सिद्धिसे बहुतसे चमत्कार उत्पन्न होते हैं; और उस प्रकारके बहुतसे चमत्कार ईसाको हुए। तो यह सर्वथा मिथ्या है, अथवा असंभव है, ऐसा नहीं कह सकते। उस तरहकी सिद्धियाँ आत्माके ऐश्वर्यके सामने अल्प हैं—आत्माके ऐश्वर्यका महत्त्व इससे अनंत गुना है। इस विषयमें समागम होनेपर पूँछना योग्य है।

१७. प्रश्नः—आगे चलकर कौनसा जन्म होगा, क्या इस बातकी इस भवमें खबर पड़ सकती है? अथवा पूर्वमें कौनसा जन्म था, इसकी कुछ खबर पड़ सकती है?

उत्तरः—हाँ, यह हो सकता है। जिसे निर्मल ज्ञान हो गया हो उसे वैसा होना संभव है। जैसे बादल इत्यादिके चिह्नोंके ऊपरसे बरसातका अनुमान होता है, वैसे ही इस जीवकी इस भवकी चेष्टाके ऊपरसे उसके पूर्व कारण कैसे होने चाहिये, यह भी समझमें आ सकता है—चाहे थोड़े ही अंशोंसे समझमें आवे। इसी तरह वह चेष्टा भविष्यमें किस परिणामको प्राप्त करेगी, यह भी उसके स्वरूपके ऊपरसे जाना जा सकता है, और उसके विशेष विचार करनेपर भविष्यमें किस भवका होना संभव है, तथा पूर्वमें कौनसा भव था, यह भी अच्छी तरह विचारमें आ सकता है।

१८. प्रश्नः—दूसरे भवकी खबर किसे पड़ सकती है?

उत्तरः—इस प्रश्नका उत्तर ऊपर आ चुका है।

लीन होना किया जाय तो किसी अभिप्रायसे यह बात स्वीकृत हो सकती है, परन्तु मुझे यह ठीक नहीं लगती। क्योंकि सब पदार्थ सब जीव इस प्रकार सम परिणामको किस तरह प्राप्त कर सकते हैं, जिससे इस प्रकारका संयोग बने? और यदि उस प्रकारके परिणामका प्रसंग आये भी तो फिर विषमता नहीं हो सकती। यदि अव्यक्तरूपसे जीवमें विषमता और व्यक्तरूपसे समताके होनेको प्रलय स्वीकार करें तो भी देह आदि संबंधके विना विषमता किस आधारसे रह सकती है? यदि देह आदिका संबंध मानें तो सबको एकेन्द्रियपना माननेका प्रसंग आये; और वैसा माननेमें तो बिना कारण ही दूसरी गतियोंका निषेध मानना चाहिए—अर्थात् ऊँची गतिके जीवको यदि उस प्रकारके परिणामका प्रसंग दूर होने आया हो तो उसके प्राप्त होनेका प्रसंग उपस्थित हो, इत्यादि बहुतसे विरोध उठते हैं। अतएव सर्व जीवोंकी अपेक्षा प्रलय होना संभव नहीं है।

२४. प्रश्नः—अनपढ़को भक्ति करनेसे मोक्ष मिलती है, क्या यह सच है?

उत्तरः—भक्ति ज्ञानका हेतु है। ज्ञान मोक्षका हेतु है। जिसे अक्षर-ज्ञान न हो यदि उसे अनपढ़ कहा हो तो उसे भक्ति प्राप्त होना असंभव है, यह कोई बात नहीं है। प्रत्येक जीव ज्ञान-स्वभावसे युक्त है। भक्तिके बलसे ज्ञान निर्मल होता है। निर्मल ज्ञान मोक्षका हेतु होता है। सम्पूर्ण ज्ञानकी आवृत्ति हुए विना सर्वथा मोक्ष हो जाय, ऐसा मुझे माळूम नहीं होता; और जहाँ सम्पूर्ण ज्ञान है वहाँ सर्व भाषा-ज्ञान समा जाता है, यह कहनेकी भी आवश्यकता नहीं। भाषा-ज्ञान मोक्षका हेतु है, तथा वह जिसे न हो उसे आत्म-ज्ञान न हो, यह कोई नियम नहीं है।

२५. प्रश्नः—कृष्णावतार और रामावतारका होना क्या यह सच्ची बात है? यदि हो तो वे कौन थे? ये साक्षात् ईश्वर थे या उसके अंश थे? क्या उन्हें माननेसे मोक्ष मिलती है?

उत्तरः—(१) ये दोनों महात्मा पुरुष थे, यह तो मुझे भी निश्चय है। आत्मा होनेसे वे ईश्वर थे। यदि उनके सर्व आवरण दूर हो गये हों तो उन्हें सर्वथा मोक्ष माननेमें विवाद नहीं। कोई जीव ईश्वरका अंश है, ऐसा मुझे नहीं माळूम होता। क्योंकि इसके विरोधी हजारों प्रमाण देखनेमें आते हैं। तथा जीवको ईश्वरका अंश माननेसे बंध-मोक्ष सब व्यर्थ ही हो जाँयगे। क्योंकि फिर ईश्वर ही अज्ञान आदिका कर्त्ता हुआ, और यदि वह अज्ञान आदिका कर्त्ता हो तो फिर वह ऐश्वर्यरहित होकर वह अपना ईश्वरत्व ही खो बैठे; अर्थात् जीवका स्वामी होनेका प्रयत्न करते हुए ईश्वरको उल्टा हानिके सहन करनेका प्रसंग उपस्थित हो। तथा जीवको ईश्वरका अंश माननेके बाद पुरुषार्थ करना किस तरह योग्य हो सकता है? क्योंकि वह स्वयं तो कोई कर्त्ता-हर्त्ता सिद्ध हो नहीं सकता। इत्यादि विरोध आनेसे किसी जीवको ईश्वरके अंशरूपसे स्वीकार करनेकी भी मेरी बुद्धि नहीं होती, तो फिर श्रीकृष्ण अथवा राम जैसे महात्माओंके साथ तो उस संबंधके माननेकी बुद्धि कैसे हो सकती है? ये दोनों अव्यक्त ईश्वर थे, ऐसा माननेमें बाधा नहीं है। फिर भी उन्हें सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रगट हुआ था या नहीं, यह बात विचार करने योग्य है।

(२) 'क्या उन्हें माननेसे मोक्ष मिलती है' इस प्रश्नका उत्तर सहज है। जीवके राग, द्वेष और अज्ञानका अभाव होना अर्थात् उनसे छूट जानेका नाम ही मोक्ष है। वह जिसके उपदेशसे

तो ही अनुक्रमसे अज्ञानकी निवृत्ति होगी, क्योंकि यही निश्चित उपाय है, और यदि जीवको निवृत्त होनेकी बुद्धि है तो फिर वह अज्ञान निराधार हो जानेपर किस तरह ठहर सकता है!

एक मात्र पूर्व कर्मके योगके सिवाय वहाँ उसे कोई भी आधार नहीं है। वह तो जिस जीवको सत्संग-सत्पुरुषका संयोग हुआ है, और जिसका पूर्व कर्मकी निवृत्ति करनेका ही प्रयोजन है, उसके क्रमसे दूर हो सकता है; ऐसा विचार करके मुमुक्षु जीवको उस अज्ञानसे होनेवाली आकुल-व्याकुलताको धीरजसे सहन करना चाहिये—इस तरह परमार्थ कहकर परिषहको कहा है। यहाँ इनके संक्षेपमें उन दोनों परिषहोंका स्वरूप लिखा है। इस परिषहका स्वरूप जानकर सत्संग-सत्पुरुषके संयोगसे, जिस अज्ञानसे घबराहट होती है, वह निवृत्त होगी—यह निश्चय रखकर, यथाउदय जानकर भगवान्‌ने धीरज रखना ही बताया है। परन्तु धीरजको इस अर्थमें नहीं कहा कि सत्संग-सत्पुरुषके संयोग होनेपर प्रमादके कारण विलंब करना वह धीरज है और उदय है, यह बात भी विचारवान जीवको स्मृतिमें रखना योग्य है।

श्रीतीर्थंकर आदिने फिर फिरसे जीवोंको उपदेश दिया है, परन्तु जीव दिशा-मूढ़ ही रहना चाहता है, तो फिर वहाँ कोई उपाय नहीं चल सकता। उन्होंने फिर फिरसे ठोक ठोककर कहा है कि यदि यह जीव एक इसी उपदेशको समझ जाय तो मोक्ष सहज ही है, नहीं तो अनंत उपायोंसे भी मोक्ष नहीं मिलती, और वह समझना भी कोई कठिन नहीं है। क्योंकि जीवका जो स्वरूप है केवल उसे ही जीवको समझना है; और वह कुछ दूसरेके स्वरूपकी बात नहीं कि कभी दूसरा उसे छिपा ले अथवा न बतावे, और इस कारण वह समझमें न आ सके। अपने आपसे अपने आपका गुप्त रहना भी किस तरह हो सकता है! परन्तु जिस तरह जीव स्वप्न दशामें असंभाव्य अपनी मृत्युको भी देखता है, वैसे ही अज्ञान दशारूप स्वप्नरूप योगसे यह जीव, जो स्वयं निजका नहीं है, ऐसे दूसरे द्रव्योंमें निजत्व मान रहा है; और यह मान्यता ही संसार है, यही अज्ञान है, नरक आदि गतिका हेतु भी यही है, यही जन्म है, मरण है, और यही देह है, यही देहका विकार है; यही पुत्र, यही पिता, यही शत्रु, यही मित्र आदि भावकी कल्पनाका कारण है; और जहाँ उसकी निवृत्ति हुई वहाँ सहज ही मोक्ष है। तथा इसी निवृत्तिके लिये सत्संग-सत्पुरुष आदि साधन कहे हैं, और यदि इन साधनोंमें भी जीव अपने पुरुषार्थको छिपाये बगैर लगावे तो ही सिद्धि है। अधिक क्या कहें! इतना ही संक्षिप्त कथन ही यदि जीवको लग जाय तो वह सर्व व्रत, यम, नियम, जप, यात्रा, भक्ति, शास्त्र-ज्ञान आदिसे मुक्त हो जाय, इसमें कोई संशय नहीं है।

४५२

बम्बई, कार्तिक सुदी ७, १९५१

कृष्णदासके चित्तकी व्यग्रता देखकर तुम्हारे सबके मनमें खेद रहता है, यह होना स्वाभाविक है। यदि बने तो योगवासिष्ठ ग्रन्थको तीसरे प्रकरणसे उन्हें बँचाना अथवा श्रवण कराना; और प्रवृत्ति-क्षेत्रसे जिस तरह अवकाश मिले तथा सत्संग हो, उस तरह करना। दिनमें जिससे वैसा अधिक समय अवकाश मिल सके उतना लक्ष रखना योग्य है। कृष्णदासके चित्तमेंसे विक्षेपकी निवृत्ति करना उचित है।

---

४५० बम्बई, कार्तिक सुदी ३ बुध. १९५१

श्रीकृष्ण चाहे जिस गतिको प्राप्त हुए हों, परन्तु विचार करनेसे स्पष्ट मालूम होता है कि वे आत्मभावमें उपयोगसहित थे। जिन श्रीकृष्णने कांचनकी द्वारिकाका, छप्पन करोड़ यादवोंके समूहका और पंचविषयके आकर्षित करनेवाले कारणोंके संयोगमें स्वामीपनेका भोग किया, उन कृष्णने जब देहको छोड़ा, तब उनकी क्या दशा थी, वह विचार करने योग्य है। और उसे विचारकर इस जीवको जरूर आकुलतासे मुक्त करना योग्य है। कुलका संहार हो गया है, द्वारिका भस्म हो गई है, उसके शोकसे विह्वल होकर वे अकेले वनमें भूमिके ऊपर सो रहे हैं। वहाँ जराकुमारने जब बाण मारा, उस समय भी जिसने धीरजको रक्खा है, उस कृष्णकी दशा विचार करने योग्य है।

---

४५१ बम्बई, कार्तिक सुदी ४ गुरु. १९५१

मुमुक्षु जीवको दो प्रकारकी दशा रहती है:—एक विचार-दशा और दूसरी स्थितिप्रज्ञ-दशा। स्थितिप्रज्ञ-दशा, विचार-दशाके लगभग पूरी हो जानेपर अथवा सम्पूर्ण हो जानेपर प्रगट होती है। उस स्थितिप्रज्ञ-दशाकी प्राप्ति होना इस कालमें कठिन है; क्योंकि इस कालमें प्रधानतया आत्म-परिणामका व्याघातरूप ही संयोग रहता है, और उससे विचार-दशाका संयोग भी सद्गुरुके-सत्संगके अंतरायसे प्राप्त नहीं होता—ऐसे कालमें कृष्णदास विचार-दशाकी इच्छा करते हैं, यह विचार-दशा प्राप्त होनेका मुख्य कारण है। और वैसे जीवको भय, चिन्ता, पराभव आदि भावमें निज बुद्धि करना योग्य नहीं है। तो भी धीरजसे उन्हें समाधान होने देना, और चित्तका निर्भय रखना ही योग्य है।

---

४५२ बम्बई, कार्तिक सुदी ७, १९५१

मुमुक्षु जीवको अर्थात् विचारवान जीवको इस संसारमें अज्ञानके सिवाय दूसरा कोई भी भय नहीं होता। एक अज्ञानकी निवृत्तिकी इच्छा करनेरूप जो इच्छा है, उसके सिवाय विचारवान जीवको दूसरी कोई भी इच्छा नहीं होती, और पूर्व कर्मके बलसे कोई वैसा उदय हो तो भी विचारवानके चित्तमें 'संसार कारागृह है, समस्त लोक दुःखसे पीड़ित है, भयसे आकुल है, राग-द्वेषके प्राप्त फलसे प्रज्वलित है'—यह विचार निश्चयसे रहता है; और 'ज्ञान-प्राप्तिका कुछ अंतराय है, इसलिये यह कारागृहरूप संसार मुझे भयका हेतु है, और मुझे लोकका प्रसंग करना योग्य नहीं,' एक यही भय विचारवानको रखना योग्य है।

महात्मा श्रीतीर्थंकरने निर्ग्रन्थको प्राप्त हुए परिषह सहन करनेका बारम्बार उपदेश दिया है। उस परिषहके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए अज्ञान-परिषह और दर्शन-परिषह इस प्रकार दो परिषहोंका प्रतिपादन किया है। अर्थात् किसी उदय-योगका प्राबल्य हो और सत्संग-सत्पुरुषका योग होनेपर भी जीवको अज्ञानके कारणोंको दूर करनेमें हिम्मत न चल सकती हो, घबराहट हो आती हो, तो भी धीरज रखना चाहिये; सत्संग-सत्पुरुषके योगका विशेष विशेष आराधन करना चाहिये—

वर्ष २८वाँ

परमपद-प्राप्तिकी भावना
(अंतर्गत)
गुणश्रेणीस्वरूप

४५६

बम्बई, कार्तिक १९५१

ॐ

ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? कब मैं बाह्य और अभ्यंतरसे निर्ग्रन्थ बनूँगा ? सम्पूर्ण संबंधके तीक्ष्ण बंधनको छेदकर कब मैं महान् पुरुषोंके पंथपर विचरण करूँगा ? ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १ ॥

समस्त भावोंसे उदासीन वृत्ति होकर, देह भी केवल संयमके ही हेतु रहे; तथा अन्य किसी कारणसे अन्य कुछ भी कल्पना न हो, और देहमें किंचिन्मात्र भी मूर्छाभाव न रहे । ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ २ ॥

दर्शनमोहनीयके नाश होनेसे जो ज्ञान उत्पन्न हो; तथा देहसे भिन्न शुद्ध चैतन्यके ज्ञानसे चारित्रमोहनीयको क्षीण हुआ देखें, इस तरह शुद्ध स्वरूपका ध्यान रहा करे । ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ ३ ॥

तीनों योगोंके मंद हो जानेसे मुख्यरूपसे देहपर्यंत आत्म-स्थिरता रहे । तथा इस स्थिरताका घोर परिषहसे अथवा उपसर्गोंके भयसे कभी भी अंत न आ सके । ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ ४ ॥

संयमके हेतु ही योगकी प्रवृत्ति हो और वह भी जिनभगवान्‌की आज्ञाके आधीन होकर निज-स्वरूपके लक्षसे हो । तथा वह भी प्रतिक्षण घटती हुई स्थितिमें हो, जो अन्तमें निज स्वरूपमें लीन हो जाय । ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ ५ ॥

४५६

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ? क्यारे थइशुं बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जो ?
सर्व संबंधनुं बंधन तिक्ष्ण छेदीने, विचरशुं कव महत्पुरुषने पंथ जो ? अपूर्व० ॥१॥
सर्व भावथी औदासीन्यवृत्ति करी, मात्र देह ते संयमहेतु होय जो;
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं, देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो । अपूर्व० ॥२॥
दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे, देह भिन्न केवळ चैतन्यनुं ज्ञान जो;
तेथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकिये, वर्त्ते एवुं शुद्धस्वरूपनुं ध्यान जो । अपूर्व० ॥३॥
आत्मस्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी, मुख्यपणे तो वर्त्ते देहपर्यंत जो;
घोर परिषह के उपसर्गभये करी, आवी शके नहीं ते स्थिरतानो अंत जो । अपूर्व० ॥४॥
संयमना हेतुथी योगप्रवर्त्तना, स्वरूपलक्षे जिनआज्ञा आधीन जो;
ते पण क्षण क्षण घटती जाती स्थितिमां, अंते थाये निजस्वरूपमां लीन जो । अपूर्व० ॥५॥

इस तरह चारित्रमोहनीयका पराजय करके जहाँ अपूर्वकरण गुणस्थान है उस दशाको प्राप्त करूँ, तथा क्षपकश्रेणी आरूढ होकर अतिशय शुद्ध स्वभावका अपूर्व चिंतन करूँ। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा? ॥ १३ ॥

स्वयंभूरमणरूपी मोह-समुद्रको पार करके क्षीणमोह गुणस्थानमें आकर रहूँ, और वहाँ अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण वीतराग-स्वरूप होकर अपने केवलज्ञानके खजानेको प्रगट करूँ। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा? ॥ १४ ॥

जहाँ चार घनघाती कर्मोंका नाश हो जाता है, जहाँ संसारके बीजका आत्यंतिक नाश हो जाता है, ऐसी सर्वभावकी ज्ञाता द्रष्टा, शुद्ध, कृतकृत्य प्रभु, और जहाँ अनंत वीर्यका प्रकाश रहता है, उस अवस्थाको प्राप्त करूँ। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा? ॥ १५ ॥

जहाँपर जली हुई रस्सीकी आकृतिके समान वेदनीय आदि चार कर्म ही बाकी रह जाते हैं। उनकी स्थिति देहकी आयुके आधीन है और आयु कर्मका नाश होनेपर उनका भी नाश हो जाता है। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा? ॥ १६ ॥

जहाँ मन, वचन, काय, और कर्मकी वर्गणारूप समस्त पुद्गलोंका संबंध छूट जाता है, ऐसा वहाँ अयोगकेवली नामका महाभाग्य, सुखदायक, पूर्ण और बंधरहित गुणस्थान रहता है। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा? ॥ १७ ॥

जहाँ एक परमाणुमात्रकी भी स्पर्शता नहीं है, जो पूर्ण कलंकरहित अडोल स्वरूप है, जो शुद्ध निरंजन, चैतन्यमूर्ति, अनन्यमय, अगुरुलघु, अमूर्त और सहजपदरूप है। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा? ॥ १८ ॥

पूर्वप्रयोग आदि कारणोंसे जो ऊर्ध्व-गमन करके सिद्धालयको प्राप्त होकर सुस्थित होता है, जो सादि-अनंत अनंत समाधि-सुखमें विराजमान होकर अनंत दर्शन और अनंत ज्ञानयुक्त हो जाता है। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा? ॥ १९ ॥

एम पराजय करीने चारित्रमोहनो, आवुं त्यां ज्यां करण अपूर्व भाव जो,
श्रेणी क्षपकतणी करीने आरूढता, अनन्यचिंतन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो। अपूर्व० ॥१३॥
मोह स्वयंभूरमण समुद्र तरी करी, स्थिति त्यां ज्यां क्षीणमोह गुणस्थान जो;
अंत समय त्यां पूर्णस्वरूप वीतराग थई, प्रगटावुं निज केवळज्ञान निधान जो। अपूर्व० ॥१४॥
चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्यां, भवना बीजतणो आत्यंतिक नाश जो,
सर्वभाव ज्ञाता द्रष्टा सह शुद्धता, कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनंत प्रकाश जो। अपूर्व० ॥१५॥
वेदनीयादि चार कर्म वर्ते जहां, बळी सींदरीवत् आकृति मात्र जो,
ते देहायुष आधीन जेनी स्थिति छे, आयुष पूर्णे, मटिये दैहिक पात्र जो। अपूर्व० ॥१६॥
मन, वचन, काया ने कर्मनी वर्गणा, छूटे जहां सकळ पुद्गल संबंध जो,
एवुं अयोगी गुणस्थानक त्यां वर्ततुं, महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबंध जो। अपूर्व० ॥१७॥
एक परमाणुमात्रनी मळे न स्पर्शता, पूर्ण कलंकरहित अडोलस्वरूप जो,
शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय, अगुरुलघु, अमूर्त सहजपदरूप जो। अपूर्व० ॥१८॥
पूर्व प्रयोगादि कारणना योगथी, ऊर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो,
सादि अनंत अनंत समाधिसुखमां, अनंत दर्शन, ज्ञान अनंत सहित जो। अपूर्व० ॥१९॥

४६०

एक बार विक्षेप शांत हुए विना अति समीप आने दे सकने योग्य अपूर्व संयम प्र[illegible]
नहीं होगा। कैसे, कहाँ, स्थिति करें ?

---

४६१ बम्बई, कार्तिक सुदी १५ भौम. १९५१

श्रीठाणांगसूत्रकी एक चौभंगीका उत्तर यहाँ संक्षेपमें लिखा है:—

(१) जो आत्माका तो भवांत करे किन्तु दूसरेका न करे, वह प्रत्येकबुद्ध अथवा अशिष्य केवली है। क्योंकि वे उपदेश-मार्ग नहीं चलाते हैं, ऐसा व्यवहार है।

(२) जो आत्माका तो भवांत नहीं कर सकता किन्तु दूसरेका भवांत करता है, वह अचरम-शरीरी आचार्य है, अर्थात् उसको कुछ भव धारण करना अभी और बाकी है। किन्तु उपदेश मार्गके आत्माके द्वारा उसको पहिचान है, इस कारण उसके द्वारा उपदेश सुनकर श्रोता जीव उसी भवमें संसारका अंत भी कर सकता है; और आचार्यको उसी भवसे भवांत न कर सकनेके कारण दूसरे भंगमें रक्खा है। अथवा कोई जीव पूर्वकालमें ज्ञानाराधन कर प्रारब्धोदयमें मंद क्षयोपशमसे वर्तमानमें मनुष्य देह पाकर, जिसने मार्ग नहीं जाना है, ऐसे किसी उपदेशकके पाससे उपदेश सुनते पर पूर्व संस्कारसे—पूर्वके आराधनसे—ऐसा विचार करे कि यह प्ररूपणा अवश्य ही मोक्षका हेतु नहीं है, क्योंकि उपदेष्टा अंधपनेसे मार्गकी प्ररूपणा कर रहा है; अथवा यह उपदेश देनेवाला जीव अपरिणामी रहकर उपदेश दे रहा है, यह महा अनर्थ है—ऐसा विचार करते हुए उसका पूर्वाराधन जागृत हो उठे, और वह उदयका नाश कर भवका अंत करे—इसीसे निमित्तरूप ग्रहण कर ऐसे उपदेशका समास भी इस भंगमें किया होगा, ऐसा माळूम होता है।

(३) जो स्वयं भी तरें और दूसरोंको भी तारें, वे श्री तीर्थंकरादि हैं।

(४) जो स्वयं भी तरे नहीं और दूसरोंको भी तार न सके, वे अभव्य या दुर्भव्य जीव हैं।

इस प्रकार यदि समाधान किया हो तो जिनागम विरोधको प्राप्त न हो।

---

४६२ बम्बई, कार्तिक १९५१

अन्यसंबंधी जो तादात्म्यपन है, वह तादात्म्यपन यदि निवृत्त हो जाय तो सहज स्वरूपसे आत्मा मुक्त ही है—ऐसा श्रीऋषभादि अनंत ज्ञानी-पुरुष कह गये हैं। जो कुछ है वह सब कुछ उस रूपमें समाया हुआ है।

---

४६३ बम्बई, कार्तिक वदी १२ रवी १९५१

जब प्रारब्धोदय द्रव्यादि कारणोंमें निर्बल हो तब विचारवान जीवको विशेष प्रवृत्ति करना ठीक नहीं, अथवा आसपासकी प्रवृत्ति बहुत सँभालसे करनी उचित है; केवल एक ही लाभ देखने मुख्य प्रवृत्ति करना उचित नहीं है।

जगत् इस विचित्रताको प्राप्त न हो सके, क्योंकि यदि एक परमाणुमें पर्यायें न होंगी तो सभी परमाणुओंमें भी पर्यायें न होंगी। संयोग, वियोग, एकत्व, पृथक्त्व इत्यादि परमाणुकी पर्यायें हैं और वे सभी परमाणुओंमें होती हैं। जिस तरह मेष-उन्मेषसे चक्षुका नाश नहीं होता, उसी तरह यदि इस परमाणुके प्रति समय उसमें परिवर्तन होता रहे तो भी परमाणुका व्यय (नाश) नहीं होता।

---

४६५ मोहमयी (बम्बई), मंगसिर वदी ८ बुध. १९५१

यहाँसे निवृत्त होनेके बाद बहुत करके ववाणीआ, अर्थात् इस भवके जन्म-ग्राममें जाना व्यावहारिक प्रसंगसे जानेकी ज़रूरत है। चित्तमें बहुत प्रकारोंसे उस प्रसंगके छूट सकनेका विचार करनेसे उससे छूटा जा सकता है, यह भी संभव है। फिर भी बहुतसे जीवोंको अन्य कारणसे ही इससे अधिक संदेह होनेकी भी संभावना होती है, इसलिये अप्रतिबंध भावको विशेष दृढ करके वहाँ जानेका विचार है। वहाँ जानेपर, एक महीनेसे अधिक समय लग जाना संभव है। कदाचित् दो महीने भी लग जाँय। उसके बाद फिर वहाँसे लौटकर इस क्षेत्रकी तरफ आना हो सकेगा, फिर भी जहाँ तक हो सकेगा वहाँतक दो-एक महीनेका एकान्तमें निवृत्ति योग मिल सके तो वैसा करनेकी इच्छा है और यह योग अप्रतिबंध भावसे हो सके इसका विचार कर रहा हूँ।

सब व्यवहारोंसे निवृत्त हुए बिना चित्त ठिकाने नहीं बैठता, ऐसे अप्रतिबंध—असंगभावका चित्तमें बहुत कुछ विचार किया है इस कारण उसी प्रवाहमें रहना होता है। किन्तु उपार्जित प्रारब्ध निवृत्त होनेपर ही वैसा हो सकता है, इतना प्रतिबंध पूर्वकृत है—आत्माकी इच्छाका प्रतिबंध नहीं है।

सर्व सामान्य लोक व्यवहारकी निवृत्तिसंबंधी प्रसंगके विचारको किसी दूसरे प्रसंगपर करनेके लिये रखकर इस क्षेत्रसे निवृत्त होनेकी विशेष इच्छा रहा करती है। किन्तु वह भी उदयके कारण नहीं बनता। फिर भी रात दिन यही चिन्तन रहा करता है, तो संभव है कि थोड़े समय बाद वह हो जाय। इस क्षेत्रके प्रति कुछ भी द्वेष भाव नहीं है, तथापि संगका विशेष कारण है। प्रवृत्तिके प्रयोजन बिना यहाँ रहना आत्माके कुछ विशेष लाभका कारण नहीं है, ऐसा जानकर इस क्षेत्रसे निवृत्त होनेका विचार रहता है।

यद्यपि प्रवृत्ति भी निजबुद्धिसे किसी भी तरह प्रयोजनभूत नहीं लगती है, तो भी उदयरूप काम करते रहनेके ज्ञानीके उपदेशको अंगीकार कर उदयको भोगनेके लिये इसे प्रवृत्ति लेना पड़ा है।

ज्ञानपूर्वक आत्मामें उत्पन्न हुआ यह निश्चय कभी भी नहीं बदलता है कि समस्त संग बाधारूप असार है; चलते, देखते, प्रसंग करते एक समयमात्रमें यह निजभावको विस्मरण करा देता है, यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें भी आई है, आती है और आ सकती है। इस कारण रात दिन इस आत्मरूप समस्त संगमें उदास भाव रहता है, और यह दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जाता है, इससे विशेष परिणामको प्राप्त कर सब संगोंसे निवृत्ति हो, ऐसी अपूर्व कारण-योगमें इच्छा रहा करती है।

संभव है, यह पत्र प्रारंभसे व्यावहारिक स्वरूपमें लिखा गया मालूम हो, किन्तु इसमें वह विरुद्ध भी नहीं है। असंगभावके विषयमें आत्म-भावनाका थोड़ासा विचारमात्र यहाँ लिखा है।

किसी भी पर पदार्थके लिये इच्छाकी प्रवृत्ति करना, और किसी भी पर पदार्थमें वियोगकी चिन्ता करना, उसे श्रीजिन आर्त्तध्यान कहते हैं, इसमें सन्देह करना योग्य नहीं है।

तीन वर्षोंके उपाधि-योगसे उत्पन्न हुए विक्षेप भावको मिटानेका विचार रहता है। जो प्रवृत्ति दृढ़ वैराग्यवानके चित्तको बाधा कर सकती है वह प्रवृत्ति यदि अदृढ़ वैराग्यवान जीवको कल्याणके सन्मुख न होने दे तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

संसारमें जितनी परिणतियोंको सारभूत माना गया है, उतनी ही आत्म-ज्ञानकी न्यूनता श्रीतीर्थंकरने कही है।

परिणाम जड़ होता है, ऐसा सिद्धांत नहीं है। चेतनको चेतन परिणाम होता है और अचेतनको अचेतन परिणाम होता है, ऐसा जिनभगवान्ने अनुभव किया है। परिणाम अथवा पर्यायरहित कोई भी पदार्थ नहीं है, ऐसा श्रीजिनने कहा है, और वह सत्य है।

श्रीजिनने जो आत्मानुभव किया है और पदार्थके स्वरूपको साक्षात्कार कर जो निरूपण किया है, वह सब मुमुक्षु जीवोंको अपने परम कल्याणके लिये अवश्य ही विचार करना चाहिये। जिन-भगवान्द्वारा कथित सब पदार्थके भाव एक आत्माको प्रकट करनेके लिये ही हैं, और मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति तो केवल दोकी ही होती है:—एक आत्म-ज्ञानीकी और एक आत्म-ज्ञानीके आश्रयवानकी—ऐसा श्रीजिनने कहा है।

वेदकी एक श्रुतिमें कहा गया है कि आत्माको सुनना चाहिये, विचारना चाहिये, मनन करना चाहिये, अनुभव करना चाहिये; अर्थात् यदि केवल यही एक प्रवृत्ति की जाय तो जीव संसार-सागरको तैरकर पार पा जाय, ऐसा लगता है। बाकी तो श्रीतीर्थंकरके समान ज्ञानीके बिना हर किसीको इस प्रवृत्तिको करते हुए कल्याणका विचार करना, उसका निश्चय होना तथा आत्म-स्वस्थताका प्राप्त होना दुर्लभ है।

४६९

बम्बई, मगसिर १९५१

ईश्वरेच्छा बलवान है और काल भी बड़ा विषम है। पहिले ही जानते थे और स्पष्ट श्रद्धान था कि ज्ञानी-पुरुषको सकाम भावसहित भजनेसे आत्माको प्रतिबंध होता है, और बहुत बार तो ऐसा होता है कि परमार्थ दृष्टि नष्ट होकर संसारार्थ दृष्टि हो जाती है। ज्ञानीके प्रति ऐसी दृष्टि होनेसे पुनः सुलभ-बोधिता प्राप्त होना बड़ी कठिन बात है, ऐसा जानकर कोई भी जीव सकाम भावसे समागम न करे, इसी प्रकारका आचरण हो रहा था। हमने तुमको तथा श्री ……… आदिको इस मार्गके संबंधमें कहा था, किन्तु हमारे दूसरे उपदेशोंकी भाँति किसी पूर्व प्रारब्ध योगसे तत्काल ही उसका ध्यान तुमको नहीं होता था। हम जब कभी भी तत्संबंधी कुछ भी कहते थे तब पूर्वके आचार्योंने ऐसा आचरण किया है—आदि प्रकारके प्रत्युत्तर दिये जाते थे। उन उत्तरोंसे हमारे चित्तमें इसलिये बड़ा खेद होता था कि यह सकाम-वृत्ति दुःषम कालके कारण ऐसे मुमुक्षु पुरुषमें भी मौजूद है, नहीं तो उसका स्वप्नमें भी होना संभव न था। यद्यपि उस सकाम-वृत्तिसे तुम परमार्थ दृष्टिभावको भूल जाओगे, ऐसा

*द्रव्य—	एक लक्ष.	उदासीन.
क्षेत्र—	मोहमयी.	
काल—	८–१.	इच्छा.
भाव—	उदयभाव.	प्रारब्ध.

४७३

बम्बई, पौष वदी १० रवि. १९५१

(१)

विषम संसारके बंधनको तोड़कर जो चल निकले, उन पुरुषोंको अनंत प्रणाम है.

चित्तकी व्यवस्था यथायोग्य न होनेसे उदय प्रारब्धके सिवाय अन्य सब प्रकारोंमें असंगता रखना ही योग्य मालूम होता है; और वह यहाँतक कि जिनके साथ जान-पहिचान है, उनको भी हालमें भूल जाँय तो अच्छी बात। क्योंकि संगसे निष्कारण ही उपाधि बढ़ा करती है, और वैसी उपाधि सहन करने योग्य हालमें मेरा चित्त नहीं है। निरुपायताके सिवाय कुछ भी व्यवहार करनेकी इच्छा मालूम नहीं होती है; और जो व्यापार व्यवहारकी निरुपायता है, उससे भी निवृत्त होनेकी चिन्ता रहा करती है। उसी तरह मनमें दूसरेको बोध करनेके उपयुक्त मेरी योग्यता हालमें मुझे नहीं लगती, क्योंकि जबतक सब प्रकारके विषम स्थानकोंमें समवृत्ति न हो तबतक यथार्थ आत्मज्ञान नहीं कहा जा सकता, और जबतक ऐसा हो तबतक तो निज अभ्यासकी रक्षा करना ही योग्य है, और हालमें उस प्रकारकी मेरी स्थिति होनेसे मैं इसी प्रकार रह रहा हूँ, यह क्षम्य है। क्योंकि मेरे चित्तमें अन्य कोई हेतु नहीं है।

(२)

वेदान्त जगत्को मिथ्या कहता है, इसमें असत्य ही क्या है?

४७४

बम्बई, पौष १९५१

ॐ

यदि ज्ञानी-पुरुषके दृढ़ आश्रयसे सर्वोत्कृष्ट मोक्षपद सुलभ है तो फिर प्रतिक्षण आत्मोपयोगको स्थिर करने योग्य यह कठिन मार्ग उस ज्ञानी-पुरुषके दृढ़ आश्रयसे होना सुलभ क्यों न हो? क्योंकि

* यहाँ इस पत्रका निम्न विचार किया मालूम होता है:—

प्रश्नः—एक लक्ष किस तरह प्राप्त हो?
उत्तरः—उदासीन रहकर।
प्रश्नः—बम्बईमें किस तरह निवास हो?
उत्तरमें कुछ नहीं कहा गया।
प्रश्नः—एक वर्ष और आठ महीनेका काल किस तरह व्यतीत किया जाय?
उत्तरः—इच्छापूर्वक।
प्रश्नः—उदयभाव क्या है?
उत्तरः—प्रारब्ध।

—अनुवादक

४७६

बम्बई, माघ सुदी ३ सोम. १९५१

जिस प्रारब्धको भोगे विना कोई दूसरा उपाय नहीं है, वह प्रारब्ध ज्ञानीको भी भोगना पड़ता है। ज्ञानी अंततक आत्मार्थको त्याग करनेकी इच्छा न करे, इतनी ही भिन्नता ज्ञानीमें होती है, ऐसा जो महापुरुषोंने कहा है, वह सत्य है।

४७७

माघ सुदी ७ शनिवार विक्रम संवत् १९५१ के बाद डेढ़ वर्षसे अधिक स्थिति नहीं; और उतने कालमें उसके बादका जीवनकाल किस तरह भोगा जाय, उसका विचार किया जायगा।

४७८

बम्बई, माघ सुदी ८ रवि. १९५१

तुमने पत्रमें जो कुछ लिखा है, उसपर वारंवार विचार करनेसे, जागृति रखनेसे, जिनमें पंच विषयादिका अशुचि-स्वरूपका वर्णन किया हो, ऐसे शास्त्रों एवं सत्पुरुषोंके चरित्रोंको विचार करनेसे तथा प्रत्येक कार्यमें लक्ष्य रखकर प्रवृत्त होनेसे जो कुछ भी उदास भावना होनी उचित है सो होगी।

४७९

बम्बई, फाल्गुन सुदी १२ शुक्र. १९५१

जिस प्रकारसे बंधनोंसे छूटा जा सके, उसी प्रकारकी प्रवृत्ति करना यह हितकारी कार्य है। बाह्य परिचयको विचारकर निवृत्त करना यह छूटनेका एक मार्ग है। जीव इस बातको जितनी विचार करेगा उतना ही ज्ञानी-पुरुषके मार्गको समझनेका समय समीप आता जायगा।

४८०

बम्बई, फाल्गुन सुदी १४ रवि. १९५१

अशरण इस संसारमें निश्चित बुद्धिसे व्यवहार करना जिसको योग्य न लगता हो और उस व्यवहारके संबंधको निवृत्त करने एवं कम करनेमें विशेष काल व्यतीत हो जाया करता हो, तो उस कामको अल्पकालमें करनेके लिये जीवको क्या करना चाहिये? समस्त संसार मृत्यु आदि भयोंके कारण अशरण है, वह शरणका हेतु हो ऐसी कल्पना करना केवल मृग-तृष्णाके जलके समान है। विचार कर करके श्रीतीर्थंकर जैसे महापुरुषोंने भी उससे निवृत्त होना—छूट जाना—यही उपाय हैठा है। उस संसारके मुख्य कारण प्रेम-बंधन तथा द्वेष-बंधन सब ज्ञानियोंने स्वीकार किये हैं। उनकी व्यग्रताके कारण जीवको निजका विचार करनेका अवकाश ही प्राप्त नहीं होता है, और यदि होता भी है तो उस योगसे उन बंधनोंके कारण आत्मवीर्य प्रवृत्ति नहीं कर सकता, और यह सब प्रमादका हेतु है। और वैसे प्रमादसे लेशमात्र—समयकाल—भी निर्भय अथवा अजागृत रहना, यह जीवकी अतिशय निर्बलता है, अविवेकिता है, भ्रान्ति है और उसके दूर करनेमें अति कठिन मोह है।

समस्त संसार दो प्रकारोंसे बह रहा है:—प्रेमसे और द्वेषसे। प्रेमसे विरक्त हुए बिना द्वेष

अनित्य पदार्थके प्रति मोहबुद्धि होनेके कारण आत्माका अस्तित्व, नित्यत्व, एवं अव्याबाध समाधिसुख भानमें नहीं आता है। उससे मोहबुद्धिमें जीवको अनादिकालसे ऐसी एकाग्रता चली आ रही है कि उसका विवेक करते करते जीवको हार हारकर पीछे लौटना पड़ता है; और उस मोहग्रंथीको नाश करनेका समयके आनेके पहिले ही उस विवेकको छोड़ बैठनेका योग पूर्वकालमें अनेकबार बना है। क्योंकि जिसका अनादिकालसे अभ्यास पड़ गया है उसे, अत्यन्त पुरुषार्थके बिना, अल्पकालमें ही छोड़ा नहीं जा सकता।

इसलिये पुनः पुनः सत्संग, सत्शास्त्र, और अपनेमें सरल विचार दशा करके उस विषयमें अधिक श्रम करना योग्य है, जिसके परिणाममें नित्य, शाश्वत और सुखस्वरूप आत्मज्ञान होकर निज स्वरूपका आविर्भाव होता है। इसमें प्रथमसे ही उत्पन्न होनेवाला संशय, धैर्य एवं विचारसे शांत हो जाता है। अधैर्यसे अथवा टेढ़ी कल्पना करनेसे जीवको केवल अपने हितको ही त्याग करनेका अवसर आता है, और अनित्य पदार्थका राग रहनेसे उसके कारणसे पुनः पुनः संसारके भ्रमणका योग रहा करता है।

कुछ भी आत्मविचार करनेकी इच्छा तुमको रहा करती है—यह जानकर बहुत सन्तोष हुआ है। उस संतोषमें मेरा कुछ भी स्वार्थ नहीं है। मात्र तुम समाधिके मार्गपर आना चाहते हो, इस कारण संसार-क्लेशसे निवृत्त होनेका तुमको प्रसंग प्राप्त होगा, इस प्रकारकी संभवता देखकर स्वाभाविक सन्तोष होता है—यही प्रार्थना है। ता० १६–३–९५ आ० स्व० प्रणाम।

४८३

बम्बई, फाल्गुन वदी ५ शनि १९५१

अधिकसे अधिक एक समयमें १०८ जीव मुक्त होते हैं, इस लोक-स्थितिको जिनागममें स्वीकार किया है; और प्रत्येक समयमें एक सौ आठ एक सौ आठ जीव मुक्त होते ही रहते हैं, ऐसा मानें तो इस क्रमसे तीनों कालमें जितने जीव मोक्ष प्राप्त करें, उतने जीवोंकी जो अनत संख्या हो, उस संख्यासे भी संसारी जीवोंकी संख्या, जिनागममें अनंतगुनी प्ररूपित की गई है। अर्थात् तीनों कालमें जितने जीव मुक्त होते हों, उनकी अपेक्षा संसारमें अनंतगुने जीव रहते हैं, क्योंकि उनका परिमाण इतना अधिक है। और इस कारण मोक्ष-मार्गका प्रवाह सदा प्रवाहित रहते हुए भी संसार-मार्गका उच्छेद हो जाना कभी संभव नहीं है, और उससे बंध-मोक्षकी व्यवस्थामें भी विरोध नहीं आता। इस विषयमें अधिक चर्चा समागम होनेपर करोगे तो कोई बाधा नहीं।

जीवकी बंध-मोक्षकी व्यवस्थाके विषयमें संक्षेपमें पत्र लिखा है। सबकी अपेक्षा हालमें विचार करने योग्य बात तो यह है कि उपाधि तो करते रहे और दशा सर्वथा असंग रहे, ऐसा होना अत्यन्त कठिन है। तथा उपाधि करते हुए आत्म-परिणाम चंचल न हो, ऐसा होना असंभव जैसा है। उत्कृष्ट ज्ञानीको छोड़कर हम सबको तो यह बात अधिक लक्षमें रखने योग्य है कि आत्मामें जितनी अपूर्ण समाधि रहती है, अथवा जो रह सकती है, उसका उच्छेद ही करना चाहिये।

पूर्ण ज्ञानी श्रीऋषभदेव आदि पुरुषोंको भी प्रारब्धोदय भोगनेपर ही क्षय हुआ है, तो फिर हम जैसोंको वह प्रारब्धोदय भोगना ही पड़े, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। खेद केवल इतना ही होता है कि हमें इस प्रकारके प्रारब्धोदयमें श्रीऋषभदेव आदि जैसी अविषमता रहे, इतना बल नहीं है; और इस कारण प्रारब्धोदयके होनेपर बारंबार उससे अपरिपक्व कालमें ही छूटनेकी कामना हो आती है कि यदि इस विषम प्रारब्धोदयमें किसी भी उपयोगका यथातथ्यभाव न रहा तो फिर आत्म-स्थिरता होते हुए भी अवसर ढूँढ़ना पड़ेगा, और पश्चात्तापपूर्वक देह छूटेगी—ऐसी चिंता बहुत बार हो जाती है।

इस प्रारब्धोदयके दूर होनेपर निवृत्तिकर्मके वेदन करनेरूप प्रारब्धका उदय होनेका ही विचार रहा करता है, परन्तु वह तुरत ही अर्थात् एकसे डेढ़ वर्षके भीतर हो जाय, ऐसा तो दिखाई नहीं देता, और पल पल भी बीतनी कठिन पड़ती है। एकसे डेढ़ वर्ष बाद प्रवृत्तिकर्मके वेदन करनेका सर्वथा क्षय हो जायगा—ऐसा भी नहीं माळूम होता। कुछ कुछ उदय विशेष मंद पड़ेगा, ऐसा लगता है।

आत्माकी कुछ अस्थिरता रहती है। गतवर्षका मोतियोंका व्यापार लगभग निबटने आया है। इस वर्षका मोतियोंका व्यापार गतवर्षकी अपेक्षा लगभग दुगुना हो गया है। गतवर्षकी तरह उसका कोई परिणाम आना कठिन है। थोड़े दिनोंकी अपेक्षा हालमें ठीक है, और इस वर्ष भी उसका गतवर्ष जैसा नहीं, तो भी कुछ परिणाम ठीक आवेगा यह संभव है। परन्तु उसके विचारमें बहुत समय व्यतीत होने जैसा होता है, और उसके लिये शोक होता है कि इस एक परिग्रहकी कामनाकी जो बलवान प्रवृत्ति जैसी होती है, उसे शांत करना योग्य है; और उसे कुछ कुछ करना पड़े, ऐसे कारण रहते हैं। अब जैसे तैसे करके वह प्रारब्धोदय तुरत ही क्षय हो जाय तो अच्छा है, ऐसा बहुत बार मनमें आया करता है।

यहाँ जो आढ़त तथा मोतियोंका व्यापार है, उसमेंसे मेरा छूटना हो सके अथवा उसका बहुत समागम कम होना संभव हो, उसका कोई रास्ता ध्यानमें आये तो लिखना। चाहे तो इस विषयमें समागममें विशेषतासे कह सको तो कहना। यह बात लक्षमें रखना।

लगभग तीन वर्षसे ऐसा रहा करता है कि परमार्थसंबंधी अथवा व्यवहारसंबंधी कुछ भी लिखने दूर अरुचि हो जाती है, और लिखते लिखते कल्पित जैसा लगनेसे बारम्बार अपूर्ण छोड़ देनेका ही मन होता है। जिस समय चित्त परमार्थमें एकाग्रवत् हो, उस समय यदि परमार्थसंबंधी लिखना अथवा कहना हो सके तो वह यथार्थ कहा जाय, परन्तु चित्त यदि अस्थिरवत् हो और परमार्थसंबंधी लिखा अथवा कहा जाय तो वह केवल उदीरणा जैसा ही होता है। तथा उसमें अन्तरंग याथातथ्य उपयोग न होनेसे, वह आत्म-बुद्धिसे लिखित अथवा कथित न होनेसे, कल्पितरूप ही हो जाता है। जिससे तथा उस प्रकारके दूसरे कारणोंसे परमार्थके संबंधमें लिखना अथवा कहना बहुत ही कम हो गया है। इस स्थलपर सहज प्रश्न होगा कि चित्तके अस्थिरवत् हो जानेका क्या कारण है? जो चित्त परमार्थमें विशेष एकाग्रवत् रहता था उस चित्तके परमार्थमें अस्थिरवत् हो जानेका कुछ तो कारण होना ही चाहिये। यदि परमार्थ संशयका हेतु माळूम हुआ हो तो वैसा होना संभव है, अथवा किसी तथाविध आत्मवीर्यके मंद होनेरूप तीव्र प्रारब्धोदयके बलसे वैसा हो सकता है। इस ...

४९६

बम्बई, चैत्र वदी १२ रवि. १९५१

श्रीजिन वीतरागने द्रव्य-भाव संयोगसे फिर फिर छूटनेका उपदेश किया है, और उस संयोगका विश्वास परम ज्ञानीको भी नहीं करना चाहिये, यह अखंड मार्ग जिसने कहा है, ऐसे श्रीजिन वीतरागके चरण-कमलके प्रति अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो।

आत्म-स्वरूपके निश्चय होनेमें जीवकी अनादि कालसे भूल होती आती है। समस्त श्रुतज्ञानस्वरूप द्वादशांगमें सबसे प्रथम उपदेश करने योग्य आचारांगसूत्र है। उसके प्रथम श्रुतस्कंधके प्रथम अध्ययनके प्रथम उद्देशके प्रथम वाक्यमें जो श्रीजिनने उपदेश किया है, वह समस्त अंगोंके समस्त श्रुतज्ञानका सारभूत है—मोक्षका बीजभूत है—सम्यक्त्वस्वरूप है। उस वाक्यके उपयोग सिद्ध होनेसे जीवको निश्चय होगा कि ज्ञानी-पुरुषके समागमकी उपासनाके बिना जीव जो कुछ स्वच्छंदसे निश्चय कर ले, वह छूटनेका मार्ग नहीं है।

सभी जीवोंका स्वभाव परमात्मस्वरूप है, इसमें संशय नहीं, तो फिर श्री.... अपनेको परमात्मस्वरूप मानें तो यह बात असत्य नहीं। परन्तु जबतक वह स्वरूप याथातथ्य प्रगट न हो तबतक मुमुक्षु-जिज्ञासु-रहना ही अधिक उत्तम है, और उस रास्तेसे यथार्थ परमात्मस्वरूप प्रगट होता है; जिस मार्गको छोड़कर प्रवृत्ति करनेसे उस पदका भान नहीं होता, तथा श्रीजिन वीतराग सर्वज्ञ पुरुषोंकी आशातना करनेरूप प्रवृत्ति होती है। दूसरा कुछ मत-भेद नहीं है।

मृत्युका आगमन अवश्य है।

४९७

तुम्हें वेदान्तविषयक ग्रन्थके बाँचनेका अथवा उस प्रसंगकी बातचीतके श्रवण करनेका प्रसंग हुआ हो तो जिससे उस बाँचनसे तथा श्रवणसे जीवमें वैराग्य और उपशमकी वृद्धि हो ऐसा करना योग्य है। उसमें प्रतिपादन किये हुए सिद्धांतका यदि निश्चय होता हो तो करनेमें हानि नहीं, फिर भी ज्ञानी-पुरुषके समागमकी उपासनासे सिद्धांतका निश्चय किये बिना आत्म-विरोध ही होना संभव है।

४९८

बम्बई, चैत्र वदी १४ बुध. १९५१

ॐ

चारित्र—(श्रीजिनके अभिप्रायके अनुसार चारित्र क्या है? यह विचारकर मनरहित होकर—) दशाकी अनुप्रेक्षा करनेसे जीवमें स्वस्थता उत्पन्न होती है। विचारद्वारा उत्पन्न हुई चारित्र-रूप स्वस्थताके बिना ज्ञान निष्फल है, यह जो जिनभगवान्‌का अभिमत है वह अबाधित सत्य है।

समताकी अनुप्रेक्षा बहुतबार करनेपर भी चंचल परिणतिके हेतु उदयमें ... उत्पन्न होनेसे चित्तमें प्रायः करके खेदसे जैसा रहता है, और उस खेदसे निवृत्ति उत्पन्न ... कुछ लिखा नहीं जा सकता। बाकी कुछ करनेके विषयमें भी लिखने योग्य बहुत कम रहता है। यहाँ लिखा है।

५०२

बम्बई, वैशाख सुदी ११ रवि. १९५१

(१)

धर्मको नमस्कार.
वीतरागको नमस्कार.
श्रीसत्पुरुषोंको नमस्कार.

(२)

सो[1] धम्मो जत्थ दया, दसट्ठदोसा न जस्स सो देवो,
सो हु गुरू जो नाणी, आरंभपरिग्गहा विरओ।

५०३

(१) सर्व क्लेशसे और सर्व दुःखसे मुक्त होनेका उपाय एक आत्म-ज्ञान है। विचारके बिना आत्म-ज्ञान नहीं होता, और असत्संग तथा असत्प्रसंगसे जीवका विचार-बल प्रवृत्ति नहीं करता, इसमें किंचिन्मात्र भी संशय नहीं।

आरंभ-परिग्रहकी अल्पता करनेसे असत्प्रसंगका बल घटता है। सत्संगके आश्रयसे असत्संगका बल घटता है। असत्संगका बल घटनेसे आत्म-विचार होनेका अवकाश प्राप्त होता है। आत्म-विचार होनेसे आत्म-ज्ञान होता है। और आत्म-ज्ञानसे निज स्वभावरूप, सर्व क्लेश और सर्व दुःखरहित मोक्ष प्राप्त होती है—यह बात सर्वथा सत्य है।

जो जीव मोह-निद्रामें सो रहे हैं वे अमुनि हैं; मुनि तो निरंतर आत्म-विचारपूर्वक जाग्रत ही रहते हैं। प्रमादीको सर्वथा भय है, अप्रमादीको किसी तरहका भी भय नहीं, ऐसा श्रीजिनने कहा है।

समस्त पदार्थोंके स्वरूप जाननेका एक मात्र हेतु आत्मज्ञान प्राप्त करना है। यदि आत्म-ज्ञान न हो तो समस्त पदार्थोंके ज्ञानकी निष्फलता ही है।

जितना आत्म-ज्ञान हो उतनी ही आत्म-समाधि प्रगट हो।

किसी भी तथारूप संयोगको पाकर जीवको यदि एक क्षणभर भी अंतर्भेद-जागृति हो जाय तो उसे मोक्ष विशेष दूर नहीं है।

अन्य परिणाममें जितनी तादात्म्यवृत्ति है, उतनी ही मोक्ष दूर है।

यदि कोई आत्मयोग बन जाय तो इस मनुष्यताका किसी तरह भी मूल्य नहीं हो सकता। प्रायः मनुष्य देहके बिना आत्मयोग नहीं बनता—ऐसा जानकर अत्यत निश्चय करके इसी देहमें आत्मयोग उत्पन्न करना योग्य है।

विचारकी निर्मलतासे यदि यह जीव अन्य परिचयसे पीछे हट जाय तो उसे सहजमें-अभी-आत्मयोग प्रगट हो जाय।

---

१ जहाँ दया है वहाँ धर्म है; जिसके अठारह दोष नहीं वह देव है; तथा जो ज्ञानी और आरंभ-परिग्रहसे रहित है वह गुरु है।

५०४ बम्बई, वैशाख सुदी १९५०

श्री……से सुधारससंबंधी बातचीत करनेका तुम्हें अवसर प्राप्त हो तो करना।

जो देह पूर्ण युवावस्थामें और सम्पूर्ण आरोग्यतायुक्त दिखाई देनेपर भी क्षणभंगुर है, उस देहमें प्रीति करके क्या करें ? जगत्के समस्त पदार्थोंकी अपेक्षा जिसके प्रति सर्वोत्कृष्ट प्रीति है, ऐसी यह देह भी दुःखकी ही हेतु है, तो फिर दूसरे पदार्थमें सुखके हेतुकी क्या कल्पना करना! जिन पुरुषोंने, जैसे वस्त्र शरीरसे भिन्न है, इसी तरह आत्मासे शरीर भिन्न है—यह जान लिया है, वे पुरुष धन्य हैं। दूसरेकी वस्तुका अपने द्वारा ग्रहण हो गया हो, तो जिस समय यह मालूम हो जाता है कि यह वस्तु दूसरेकी है, उसी समय महात्मा पुरुष उसे वापिस लौटा देते हैं।

दुःषम काल है, इसमें संशय नहीं। तथारूप परमज्ञानी आप्त-पुरुषका प्रायः विरह है। विरले ही जीव सम्यग्दृष्टिभाव प्राप्त करें, ऐसी काल-स्थिति हो गई है। जहाँ सहज-सिद्ध-आत्मचारित्र दशा रहती है, ऐसा केवलज्ञान प्राप्त करना कठिन है, इसमें संशय नहीं।

प्रवृत्ति विश्रान्त नहीं होती; विरक्तभाव अधिक रहता है। वनमें अथवा एकान्तमें सहज स्वरूपका अनुभव करती हुई आत्मा निर्विषय रहे, ऐसा करनेमें ही समस्त इच्छा रुकी हुई है।

---

५०५ बम्बई, वैशाख सुदी १५ बुध. १९५०

आत्मा अत्यंत सहज स्वस्थता प्राप्त करे, यही श्रीसर्वज्ञने समस्त ज्ञानका सार कहा है।

अनादिकालसे जीवने निरंतर अस्वस्थताकी ही आराधना की है, जिससे जीवको स्वस्थताकी ओर आना कठिन पड़ता है। श्रीजिनने ऐसा कहा है कि 'यथाप्रवृत्तिकरण'तक जीव अनंत बार आ चुका है, परन्तु जिस समय ग्रंथी-भेद होनेतक आगमन होता है, उस समय वह क्षोभ पाकर पीछे संसार-परिणामी हो जाया करता है। ग्रंथी-भेद होनेमें जो वीर्य गति चाहिये, उसके होनेके लिये जीवको नित्यप्रति सत्समागम, सद्विचार और सद्ग्रंथका परिचय निरंतररूपसे करना श्रेयस्कर है।

इस देहकी आयु प्रत्यक्ष उपाधि-योगसे व्यतीत हुई जा रही है, इसलिये अत्यंत शोक होता है, और उसका यदि अल्पकालमें ही उपाय न किया गया, तो हम जैसे अविचारी लोग भी [illegible] समझने चाहिये।

जिस ज्ञानसे काम नाश हो, उस ज्ञानको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो।

५०६ बम्बई, वैशाख सुदी १५ बुध. १९५०

सबकी अपेक्षा जिसमें अधिक स्नेह रहा करता है, ऐसी यह काया रोग, जरा आदिसे आत्माको ही दुःखरूप हो जाती है, तो फिर उससे दूर ऐसे धन आदिसे जीवको [illegible] (वास्तविक ?) सुखवृत्ति हो, ऐसा विचार करनेपर विचारवानकी बुद्धि अवश्य क्षोभको प्राप्त होकर किसी दूसरे ही विचारकी ओर जाना चाहिये—ऐसा ज्ञानीपुरुषोंने निर्णय किया है, वह यथातथ्य है।

आत्मस्वरूप उसी तरह नहीं है—उसमें कोई बड़ा भेद देखनेमें आता है, और उस उस प्रकारसे अन्य आदि दर्शनोंमें भी भेद देखा जाता है।

मात्र एक श्रीजिनने जो आत्मस्वरूप कहा है वह विशेषातिविशेष अविरोधी देखनेमें आता है—उस प्रकारसे वेदन करनेमें आता है। जिनभगवान्का कहा हुआ आत्मस्वरूप सम्पूर्ण अविरोधी होना उचित है, ऐसा मालूम होता है। परन्तु वह सम्पूर्णतया अविरोधी ही है, ऐसा जो नहीं कहा जाता, उसका हेतु केवल इतना ही है कि अभी सम्पूर्णतया आत्मावस्था प्रगट नहीं हुई। कारण जो अवस्था अप्रगट है, उस अवस्थाका वर्तमानमें अनुमान करते हैं; जिससे उस अनुमान उसपर अत्यंत भार न देने योग्य मानकर, वह विशेषातिविशेष अविरोधी है, ऐसा कहा है—वह सम्पूर्ण अविरोधी होने योग्य है, ऐसा लगता है।

सम्पूर्ण आत्मस्वरूप किसी भी तो पुरुषमें प्रगट होना चाहिये—इस प्रकार आत्माने प्रतीति-भाव आता है। और वह कैसे पुरुषमें प्रगट होना चाहिये, यह विचार करनेसे वह जिनके जैसे पुरुषको प्रगट होना चाहिये, यह स्पष्ट माल्म होता है। इस सृष्टिमंडलमें यदि किसीके सम्पूर्ण आत्मस्वरूप प्रगट होने योग्य हो तो वह सर्वप्रथम श्रीवर्धमान स्वामीमें प्रगट होने योग्य है, अथवा उस दशाके पुरुषोंमें सबसे प्रथम सम्पूर्ण आत्मस्वरूप———————(अपूर्ण)

ॐ

५१०

बम्बई, वैशाख वदी १० रवि. १९५१

'अल्पकालमें उपाधिरहित होनेकी इच्छा करनेवालेको आत्म-परिणतिको किस विचारसे योग्य है, जिससे वह उपाधिरहित हो सके?' यह प्रश्न हमने लिखा था। इसके उत्तरमें तुमने लिखा कि जबतक रागका बंधन है तबतक उपाधिरहित नहीं हुआ जाता, और जिससे वह बंधन परिणतिसे कम पड़ जाय, वैसी परिणति रहे तो अल्पकालमें ही उपाधिरहित हुआ जा सकता है—इस तरह जो उत्तर लिखा है, वह यथार्थ है।

यहाँ प्रश्नमें इतनी विशेषता है कि 'यदि बलपूर्वक उपाधि-योग प्राप्त होता हो, उसमें राग-द्वेष आदि परिणति कम हो, उपाधि करनेके लिये चित्तमें बारम्बार खेद रहता हो, और उपाधिके त्याग करनेमें परिणाम रहा करता हो, वैसा होनेपर भी उदय-बलसे यदि उपाधि प्रसंग रहता हो तो उसकी किस उपायसे निवृत्ति की जा सकती है?' इस प्रश्नविषयक जो कुछ पहुँचे सो लिखना।

मोक्षमार्गप्रकाश ग्रंथ हमने पढ़ा है। उसमें सम्प्रदायके विवादका कुछ कुछ समाधान हो सके ऐसी रचना की है, परन्तु तारतम्यसे वह वास्तविक ज्ञानवानकी रचना नहीं, ऐसा मुझे लगता है।

श्रीडुंगरने 'अंत पुरुष एक वरख है' यह जो सवैया लिखाया है, वह बाँचा है। श्रीडुंगरको इस सवैयाका विशेष अनुभव है, परन्तु इस सवैयामें भी प्रायः करके छाया जैसा उपदेश देखनेमें आता है, और उसमें अमुक ही निर्णय किया जा सकता है, और कभी जो निर्णय किया जाय तो वह पूर्वापर अविरोधी ही रहता है—ऐसा प्रायः करके लक्षमें नहीं आता। जीवके पुरुषार्थ-धर्मको इस प्रकार

उनका अस्तित्व ही नहीं, यह बात नहीं है । तुम्हें इस बातकी शंका रहती है, यह आश्चर्य मालूम होता है । जिसे आत्मप्रतीति उत्पन्न हो जाय, उसे सहज ही इस बातकी निःशंकता होती है। क्योंकि आत्मामें जो समर्थता है, उस समर्थताके सामने सिद्धि-लब्धिकी कोई भी विशेषता नहीं।

ऐसे प्रश्नोंको आप कभी कभी लिखते हो, इसका क्या कारण है, सो लिखना। इस प्रकारके प्रश्नोंका विचारवानको होना कैसे संभव हो सकता है?

५१४

मनमें जो राग-द्वेष आदिका परिणाम हुआ करता है, उसे समय आदि पर्याय नहीं कहा जा सकता । क्योंकि समय अत्यन्त सूक्ष्म है, और मनके परिणामोंकी वैसी सूक्ष्मता नहीं है। पदार्थके अत्यंतसे अत्यंत सूक्ष्म परिणतिका जो प्रकार है वह समय है ।

राग-द्वेष आदि विचारोंका उद्भव होना, यह जीवके पूर्वोपार्जित किये हुए कर्मके संबंधसे होता है । वर्तमान कालमें आत्माका पुरुषार्थ उसमें कुछ भी हानि-वृद्धिमें कारणरूप है, फिर भी वह विचार विशेष गहन है ।

श्रीजिनने जो स्वाध्याय-काल कहा है, वह यथार्थ है । उस उस प्रसंगपर प्राण आदिका हुआ संधि-भेद होता है । उस समय चित्तमें सामान्य प्रकारसे विक्षेपका निमित्त होता है, हिंसा आदि योगका प्रसंग होता है, अथवा वह प्रसंग कोमल परिणाममें विघ्नरूप कारण होता है, इत्यादि अभिप्रायसे स्वाध्यायका निरूपण किया है ।

अमुक स्थिरता होनेतक विशेष लिखना नहीं बन सकता, तो भी जितना बना उतना प्रयत्न करके ये तीन पत्र लिखे हैं ।

५१५

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १५ शुक्र. १९५१

वह तथारूप गंभीर वाक्य नहीं है, तो भी आशयके गंभीर होनेसे एक लौकिक वचन इस आत्मामें बहुत बार याद हो आता है । वह वाक्य इस तरह है—**रांडी रुए, मांडी रुए, पण सात भरतारवाळी तो मोंढुं न उघाडे**। यद्यपि इस वाक्यके गंभीर न होनेसे लिखनेमें प्रवृत्ति न होती, परन्तु आशयके गंभीर होनेसे और अपने विषयमें विशेष विचार करना दिखाई देनेके कारण तुम्हें यह लिखनेका स्मरण हुआ, इसलिये यह वाक्य लिखा है । इसके ऊपर यथाशक्ति विचार करना ।

५१६

बम्बई, ज्येष्ठ वदी २ रवि. १९५१

विचारवानको देह छूटनेके संबंधमें हर्ष-विषाद करना योग्य नहीं । आत्मपरिणामका विभाव ही हानि और वही मुख्य मरण है । स्वभाव-सन्मुखता और उस प्रकारकी इच्छा यह हर्ष-विषादको दूर करती है ।

उनका अस्तित्व ही नहीं, यह बात नहीं है। तुम्हें इस बातकी शंका रहती है, यह आश्चर्य मालूम होता है। जिसे आत्मप्रतीति उत्पन्न हो जाय, उसे सहज ही इस बातकी निःशंकता होती है। क्योंकि आत्मामें जो समर्थता है, उस समर्थताके सामने सिद्धि-लब्धिकी कोई भी विशेषता नहीं।

ऐसे प्रश्नोंको आप कभी कभी लिखते हो, इसका क्या कारण है, सो लिखना। इस प्रकारके प्रश्नोंका विचारवानको होना कैसे संभव हो सकता है!

५१४

मनमें जो राग द्वेष आदिका परिणाम हुआ करता है, उसे समय आदि पर्याय नहीं कहा जा सकता। क्योंकि समय अत्यन्त सूक्ष्म है, और मनके परिणामोंकी वैसी सूक्ष्मता नहीं है। पदार्थका अत्यंतसे अत्यंत सूक्ष्म परिणतिका जो प्रकार है वह समय है।

राग-द्वेष आदि विचारोंका उदय होना, यह जीवके पूर्वोपार्जित किये हुए कर्मके संयोगसे ही होता है। वर्तमान कालमें आत्माका पुरुषार्थ उसमें कुछ भी हानि-वृद्धिमें कारणरूप है, फिर भी वह विचार विशेष गहन है।

श्रीजिनने जो स्वाध्याय-काल कहा है, वह यथार्थ है। उस उस प्रसंगपर प्राण आदिका कुछ संधि-भेद होता है। उस समय चित्तमें सामान्य प्रकारसे विक्षेपका निमित्त होता है, हिंसा आदि योगका प्रसंग होता है, अथवा वह प्रसंग कोमल परिणाममें विघ्नरूप कारण होता है, इत्यादि आशयोंसे स्वाध्यायका निरूपण किया है।

अमुक स्थिरता होनेतक विशेष लिखना नहीं बन सकता, तो भी जितना बना उतना प्रयत्न करके ये तीन पत्र लिखे हैं।

---

५१५ बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १५ शुक्र. १९५१

वह तथारूप गंभीर वाक्य नहीं है, तो भी आशयके गंभीर होनेसे एक लौकिक वचन हमें आजकल बहुत बार याद हो आता है। वह वाक्य इस तरह है—**रांडी रूए, मांडी रूए, पण सात भरतारवाळी तो मोढुं ज न उघाडे।** यद्यपि इस वाक्यके गंभीर न होनेसे लिखनेमें प्रवृत्ति न होती, परन्तु आशयके गंभीर होनेसे और अपने विषयमें विशेष विचार करना दिखाई देनेके कारण तुम्हें यह लिखनेका मन हुआ, इसलिये यह वाक्य लिखा है। इसके ऊपर यथाशक्ति विचार करना।

५१६ बम्बई, ज्येष्ठ वदी ७ रवि. १९५१

विचारवानको देह छूटनेके संबंधमें हर्ष-विषाद करना योग्य नहीं। आत्मपरिणामकी विभावता ही हानि और वही मुख्य मरण है। स्वभाव-सन्मुखता और उस प्रकारकी दृढ़ इच्छा वह हानिको दूर करती है।

दिया है, ऐसा कहा है। यह जो हमने कहा है, उसी बातके विचारसे, जिसमें हमारी आत्मामें आत्म-गुण आविर्भूत होकर सहज समाधिपर्यंत प्राप्त हुआ, ऐसे सत्संगको मैं अत्यंत अत्यंत भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

८. अवश्य ही इस जीवको प्रथम सब साधनोंको गौण मानकर, निर्वाणके मुख्य हेतु ऐसे सत्संगकी ही सर्वार्पणरूपसे उपासना करना योग्य है, जिससे सब साधन सुलभ होते हैं—ऐसा हमारा आत्म-साक्षात्कार है।

९. उस सत्संगके प्राप्त होनेपर यदि इस जीवको कल्याण प्राप्त न हो तो अवश्य इस जीवका ही दोष है, क्योंकि उस सत्संगके अपूर्व, अलभ्य और अत्यंत दुर्लभ ऐसे संयोगमें भी उसने उस सत्संगके संयोगको बाधा करनेवाले ऐसे मिथ्या कारणोंका त्याग नहीं किया!

१०. मिथ्याग्रह, स्वच्छंदता, प्रमाद और इन्द्रिय-विषयोंसे यदि उपेक्षा न की हो, तो भी सत्संग फलवान नहीं होता, अथवा सत्संगमें एकनिष्ठा, अपूर्व भक्ति न की हो, तो भी सत्संग फलवान नहीं होता। यदि एक इस प्रकारकी अपूर्व भक्तिसे सत्संगकी उपासना की हो तो अल्पकालमें ही मिथ्याग्रह आदिका नाश हो, और अनुक्रमसे जीव सब दोषोंसे मुक्त हो जाय।

११. सत्संगकी पहिचान होना जीवको दुर्लभ है। किसी महान् पुण्यके योगसे उसकी पहिचान होनेपर निश्चयसे यही सत्संग-सत्पुरुष है, ऐसा जिसे साक्षीभाव उत्पन्न हुआ हो, उस जीवको तो अवश्य ही प्रवृत्तिका संकोच करना चाहिये; अपने दोषोंको प्रतिक्षण, हरेक कार्यमें, हरेक प्रसंगमें तीक्ष्ण उपयोगपूर्वक देखना चाहिये, और देखकर उनका क्षय करना चाहिये, तथा उस सत्संगके लिये यदि देह-त्याग करना पड़ता हो तो उसे भी स्वीकार करना चाहिये। परन्तु उससे किसी पदार्थमें विशेष भक्ति-स्नेह—होने देना योग्य नहीं। तथा प्रमादसे रसगारव आदि दोषोंसे उस सत्संगके प्राप्त होनेपर पुरुषार्थ-धर्म मंद रहता है, और सत्संग फलवान नहीं होता, यह जानकर पुरुषार्थ-वीर्यका गुप्त रखना योग्य नहीं।

१२. सत्संगकी अर्थात् सत्पुरुषकी पहिचान होनेपर भी यदि वह संयोग निरन्तर न रहता हो तो सत्संगसे प्राप्त उपदेशको प्रत्यक्ष सत्पुरुषके तुल्य समझकर उसका विचार तथा आराधन करना चाहिये, जिस आराधनसे जीवको अपूर्व सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

१३. जीवको सबसे मुख्य और सबसे आवश्यक यह निश्चय रखना चाहिये कि मुझे जो कुछ करना है वह जो आत्माके कल्याणरूप हो उसे ही करना है, और उसीके लिये इन तीन योगोंकी उदय-बलसे प्रवृत्ति होती हो तो होने देना, तो भी अन्तमें उस त्रियोगसे रहित स्थिति करनेके लिये उस प्रवृत्तिका संकोच करते करते जिससे उसका क्षय हो जाय, वही उपाय करना चाहिये। वह उपाय मिथ्या आग्रहका त्याग, स्वच्छंदताका त्याग, प्रमाद और इन्द्रिय-विषयका त्याग, यह मुख्य है। उसको सत्संगके संयोगमें अवश्य ही आराधन करते रहना चाहिये और सत्संगकी परोक्षतामें तो उसका अवश्य अवश्य ही आराधन करते रहना चाहिये। क्योंकि सत्संगके प्रसंगमें तो यदि जीवकी कुछ न्यूनता भी हो तो उसके निवारण होनेका साधन सत्संग मौजूद है, परन्तु सत्संगकी परोक्षतामें तो एक अपना आत्म-बल ही साधन है। यदि वह आत्म-बल सत्संगसे प्राप्त बोधका अनुसरण न करे, उसका आचरण न करे, आचरण करनेमें होनेवाले प्रमादको न छोड़े, तो कभी भी जीवका कल्याण न हो।

न हो, यह ज्ञानका लक्षण है; और नित्य प्रति मिथ्या प्रवृत्ति क्षीण होती रहे, यही सत्य ज्ञानकी प्रतीतिका फल है। यदि मिथ्या प्रवृत्ति कुछ भी दूर न हो तो सत्यका ज्ञान भी संभव नहीं।

२. देवलोकमेंसे जो मनुष्यलोकमें आवे, उसे अधिक लोभ होता है—इत्यादि जो लिखा है, वह सामान्यरूपसे लिखा है, एकांतरूपसे नहीं।

५२१

बम्बई, आषाढ़ सुदी १ रवि. १९५१

जैसे अमुक वनस्पतिकी अमुक ऋतुमें ही उत्पत्ति होती है, वैसे ही अमुक ऋतुमें ही उसकी विकृति भी होती है। सामान्य प्रकारसे आमके रस-स्वादकी आर्द्रा नक्षत्रमें विकृति होती है। परन्तु आर्द्रा नक्षत्रके बाद जो आम उत्पन्न होता है, उसकी विकृतिका समय भी आर्द्रा नक्षत्र ही हो, यह बात नहीं है। किन्तु सामान्यरूपसे चैत्र वैशाख आदि मासमें उत्पन्न होनेवाले आमकी ही आर्द्रा नक्षत्रमें विकृति होना संभव है।

५२२

बम्बई, आषाढ़ सुदी १ रवि. १९५१

दिन रात प्रायः करके विचार-दशा ही रहा करती है। जिसका संक्षेपसे भी लिखना नहीं बन सकता। समागममें कुछ प्रसंग पाकर कहा जा सकेगा तो वैसा करनेकी इच्छा रहती है, क्योंकि उससे हमें भी हितकारक स्थिरता होगी।

कबीरपंथी यहाँ आये हैं; उनका समागम करनेमें बाधा नहीं है। तथा यदि उनकी कोई प्रवृत्ति तुम्हें यथायोग्य न लगती हो तो उस बातपर अधिक लक्ष न देते हुए उनके विचारका कुछ अनुकरण करना योग्य लगे तो विचार करना। जो वैराग्यवान हो, उसका समागम अनेक प्रकारसे आत्म-भावकी उन्नति करता है।

लोकसंबंधी समागमसे विशेष उदास भाव रहता है। तथा एकांत जैसे योगके विना कितनी ही प्रवृत्तियोंका निरोध करना नहीं बन सकता।

५२३

बम्बई, आषाढ़ सुदी ११ बुध. १९५१

(१) जिस कषाय परिणामसे अनंत संसारका बंध हो, उस कषाय परिणामको जिनप्रवचनमें अनंतानुबंधी संज्ञा कही है। जिस कषायमें तन्मयतासे अप्रशस्त (मिथ्या) भावसे तीव्र उपयोगसे आत्माकी प्रवृत्ति होती है, वहाँ अनंतानुबंधी स्थानक संभव है। मुख्यतः जो स्थानक यहाँ कहा है, उस स्थानकमें उस कषायकी विशेष संभवता है:—जिस प्रकारसे सदेव, सद्गुरु और सद्धर्मका द्रोह होता हो, उनकी अवज्ञा होती हो तथा उनसे विमुख भाव होता हो इत्यादि प्रवृत्तिसे, तथा असत् देव, असत् गुरु, और असत् धर्मका जिस प्रकारसे आग्रह होता हो, तत्संबंधी कृतकृत्यता मान्य हो, इत्यादि प्रवृत्तिसे आचरण करते हुए अनंतानुबंधी कषाय उत्पन्न होती है; अथवा ज्ञानीके वचनमें स्त्री-पुत्र आदि भावोंमें जो मर्यादाके पश्चात्

प्रश्नोंपर तुम्हें, लहेराभाई तथा श्रीडूंगरको विशेष विचार करना चाहिये। अन्य दर्शनमें जिस प्रकारसे केवलज्ञान आदिका स्वरूप कहा है और जैनदर्शनमें उस विषयका जो स्वरूप कहा है, उन दोनोंमें बहुत कुछ मुख्य भेद देखनेमें आता है, उसका सबको विचार होकर समाधान हो जाय तो वह आत्माके कल्याणका अंगभूत है, इसलिये इस विषयपर अधिक विचार किया जाय तो अच्छा है।

२. 'अस्ति' इस पदसे लेकर सब भाव आत्मार्थके लिये ही विचार करने योग्य हैं। उसमें जो निज स्वरूपकी प्राप्तिका हेतु है, उसका ही मुख्यतया विचार करना योग्य है। और उस विचारके लिये अन्य पदार्थके विचारकी भी अपेक्षा रहती है, उसके लिये उसका भी विचार करना उचित है।

परस्पर दर्शनोंमें बड़ा भेद देखनेमें आता है। उन सबकी तुलना करके अमुक दर्शन सच्चा है, यह निश्चय सब मुमुक्षुओंको होना कठिन है, क्योंकि उसकी तुलना करनेकी क्षयोपशमशक्ति किसी किसी जीवको ही होती है। फिर एक दर्शन सब अंशोंमें सत्य है और दूसरा दर्शन सब अंशोंमें असत्य है, यह बात यदि विचारसे सिद्ध हो जाय तो दूसरे दर्शनोंके प्रवर्त्तककी दशा आदि विचारने योग्य है। क्योंकि जिसका वैराग्य उपशम बलवान है, उसने सर्वथा असत्यका ही निरूपण क्यों किया होगा! इत्यादि विचार करना योग्य है। किन्तु सब जीवोंको यह विचार होना कठिन है; और यह विचार कार्यकारी भी है—करने योग्य है—परन्तु वह किसी माहात्म्यवानको ही हो सकता है। फिर बाकी जो मोक्षके इच्छुक जीव हैं, उन्हें उस संबंधमें क्या करना चाहिये, यह भी विचार करना उचित है।

सब प्रकारके सर्वांग समाधानके हुए बिना सब कर्मोंसे मुक्त होना असंभव है, यह विचार हमारे चित्तमें रहा करता है, और सब प्रकारके समाधान होनेके लिये यदि अनंतकाल पुरुषार्थ करना पड़ता हो तो प्रायः करके कोई भी जीव मुक्त न हो सके। इससे ऐसा मालूम होता है कि अल्पकालमें ही उस सब प्रकारके समाधानका उपाय हो सकता है। इससे मुमुक्षु जीवको कोई निराशाका कारण भी नहीं है।

३. श्रावणसुदी ५-६ के बाद यहाँसे निवृत्त होना बने, ऐसा मालूम होता है। जहाँ क्षेत्र-स्पर्शना होगी वहीं स्थिति होगी।

५२७

	वेदांत,	जैन,	सांख्य,	योग,	नैयायिक,	बौद्ध.
आत्मा—						
नित्य.						
अनित्य.	+	,,	+	+	+	+
परिणामी.	+	,,	+	+	+	,,
अपरिणामी.						
साक्षी.						
साक्षी—कर्ता.						

किसी भी प्रसंगमें प्रवृत्ति करते हुए तथा लिखते हुए जो प्रायः निष्क्रिय परिणति रहती है, उस परिणतिके कारण हालमें विचारका बराबर कहना नहीं बनता। सहजात्मस्वरूपसे यथायोग्य.

५३१

बम्बई, आषाढ वदी १५ सोम. १९५१

ॐ नमो वीतरागाय

(१) सर्व प्रतिबंधसे मुक्त हुए बिना सर्व दुःखसे मुक्त होना संभव नहीं।

(२) जन्मसे जिसे मति श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान थे, और आत्मोपयोगी वैराग्यदशा थी, तथा अल्पकालमें भोग-कर्मको क्षीण करके संयमको ग्रहण करते हुए मनःपर्यवज्ञान प्राप्त किया था, ऐसे श्रीमद् महावीरस्वामी भी बारह वर्ष और साढ़े छह महीनेतक मौन रहकर विचरते रहे। इस प्रकारका उनका आचरण, 'उस उपदेश-मार्गका प्रचार करनेमें किसी भी जीवको अत्यंतरूपसे विचार करके प्रवृत्ति करना योग्य है,' ऐसी अखंड शिक्षाका उपदेश करता है। तथा जिनभगवान् जैसेने जिस प्रतिबंधकी निवृत्तिके लिये प्रयत्न किया, उस प्रतिबंधमें अजागृत रहने योग्य कोई भी जीव नहीं होता, ऐसा बताया है, और अनंत आत्मार्थका उस आचरणसे प्रकाश किया है—उस क्रमके प्रति विचारनेकी विशेष स्थिरता रहती है—उसे रखना योग्य है।

जिस प्रकारका पूर्व प्रारब्ध भोगनेपर निवृत्त होने योग्य है, उस प्रकारके प्रारब्धका उदासीनतासे वेदन करना उचित है, जिससे उस प्रकारके प्रति प्रवृत्ति करते हुए जो कोई अवसर प्राप्त होता है, उस उस अवसरपर जागृत उपयोग न हो तो जीवको समाधिकी विराधना होते हुए देर न लगे। इसलिये सर्व संगभावको मूलरूपसे परिणमा कर, जिससे भोगे बिना छुटकारा न हो सके, वैसे प्रसंगके प्रति प्रवृत्ति होने देना योग्य है, तो भी उस प्रकारको करते हुए जिससे सर्वांशमें असंगता उत्पन्न हो, उस प्रकारका ही सेवन करना उचित है।

कुछ समयसे 'सहज-प्रवृत्ति' और 'उदीरण-प्रवृत्ति' इस भेदसे प्रवृत्ति रहा करती है। मुख्यरूपसे सहज-प्रवृत्ति रहती है। सहज-प्रवृत्ति उसे कहते हैं जो प्रारब्धोदयसे उत्पन्न हो परन्तु जिसमें कर्त्तव्य-परिणाम नहीं होता। दूसरी उदीरण-प्रवृत्ति वह है जो प्रवृत्ति पर पदार्थ आदिके संबंधसे करनी पड़े। हालमें दूसरी प्रवृत्ति होनेमें आत्मा मंद होता है। क्योंकि अपूर्व समाधि-योगको उस कारणसे भी प्रतिबंध होता है, ऐसा सुना था और समझा था और हालमें वैसे स्पष्टरूपमें वेदन किया है। उन सब कारणोंसे अधिक समागममें आने, पत्र आदिसे कुछ भी प्रश्नोत्तर आदिके लिखने, तथा दूसरे प्रकारसे परमार्थ आदिके लिखने-करनेकी भी मंद हो जानेकी पर्यायका आत्मा सेवन करता है। इस पर्यायका सेवन किये बिना अपूर्व समाधिकी हानि होना संभव था। ऐसा होनेपर भी यथायोग्य मंद प्रवृत्ति नहीं हुई है।

५३२

बम्बई, आषाढ वदी १५, १९५१

अनंतानुबंधीका जो दूसरा भेद लिखा है, तत्संबंधी विशेषार्थ निम्नरूपमें है।

उदयसे अथवा उदासभावसंयुक्त मंद परिणत बुद्धिसे जबतक भोग आदिमें प्रवृत्ति रहे, उस

५३६

ववाणीआ, श्रावण वदी ६ रवि. १९५१

ॐ

यहाँ पर्यूषण पूर्ण होनेतक रहना संभव है। केवलज्ञान आदिका क्या इस कालमें होना संभव है? इत्यादि प्रश्न पहिले लिखे थे; उन प्रश्नोंपर यथाशक्ति अनुप्रेक्षा तथा श्री····आदिके साथ परस्पर प्रश्नोत्तर करना चाहिये।

'गुणके समुदायसे भिन्न गुणीका स्वरूप होना संभव है अथवा नहीं?' तुम लोगोंसे हो सके तो इस प्रश्नके ऊपर विचार करना। श्री····को तो अवश्य विचार करना योग्य है।

५३७

ववाणीआ, श्रावण वदी ११ शुक्र. १९५१

पत्रोंमें प्रसंग पाकर लिखे हुए जो चार प्रश्नोंका उत्तर लिखा सो बाँचा है। पहिलेके दो प्रश्नोंके उत्तर संक्षेपमें हैं, फिर भी यथायोग्य हैं। तीसरे प्रश्नका उत्तर सामान्यतः ठीक है, फिर भी उस प्रश्नका उत्तर विशेष सूक्ष्म विचारसे लिखने योग्य है। वह तीसरा प्रश्न इस प्रकार है:—

'गुणके समुदायसे भिन्न गुणीका स्वरूप होना संभव है अथवा नहीं?' अर्थात् 'क्या समस्त गुणोंका समुदाय ही गुणी अर्थात् द्रव्य है? अथवा उस गुणके समुदायके आधारभूत ऐसे भी किसी अन्य द्रव्यका अस्तित्व मौजूद है?' इसके उत्तरमें ऐसा लिखा है कि आत्मा गुणी है; उसके गुण ज्ञान दर्शन वगैरह भिन्न हैं—इस प्रकार गुणी और गुणकी विवक्षा की है। परन्तु वहाँ विशेष विवक्षा करनी योग्य है। यहाँ प्रश्न होता है कि फिर ज्ञान दर्शन आदि गुणसे भिन्न बाकीका आत्मत्व ही क्या रह जाता है? इसलिये इस प्रश्नका यथाशक्ति विचार करना योग्य है।

चौथा प्रश्न यह है कि इस कालमें केवलज्ञान होना संभव है या नहीं? इसका उत्तर इस तरह लिखा है कि प्रमाणसे देखनेमें तो यह संभव है। यह उत्तर भी संक्षिप्त है। इसपर बहुत विचार करना चाहिये। इस चौथे प्रश्नके विशेष विचार करनेके लिये उसमें इतना विशेष और सम्मिलित करना कि जिस प्रमाणसे जैन आगममें केवलज्ञान माना है अथवा कहा है, वह केवलज्ञानका स्वरूप यथातथ्य ही कहा है—क्या ऐसा मालूम होता है या किसी दूसरी तरह? और यदि वैसा ही केवलज्ञानका स्वरूप हो, ऐसा मालूम होता हो तो वह स्वरूप इस कालमें भी प्रगट होना संभव है अथवा नहीं? अथवा जो जैन आगम कहता है, उसके कहनेका क्या कोई जुदा ही कारण है? और क्या केवलज्ञानका स्वरूप किसी दूसरी प्रकारसे होना और समझा जाना संभव है? इस बातपर यथाशक्ति अनुप्रेक्षा करना उचित है। इसी तरह जो तीसरा प्रश्न है, वह भी अनेक प्रकारसे विचार करने योग्य है। विशेष अनुप्रेक्षापूर्वक इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर लिखना बने तो लिखना। प्रथमके दो प्रश्नोंके उत्तर संक्षेपमें लिखे हैं, उन्हें विस्तारसे लिखना बन सके तो उन्हें भी लिखना।

तुमने पाँच प्रश्न लिखे हैं। उनमेंके तीन प्रश्नोंका उत्तर यहाँ संक्षेपसे लिखा है।

प्रथम प्रश्नः—जातिस्मरण ज्ञानवाला मनुष्य पहिलेके भवको किस तरह जान लेता है?

उत्तरः—जिस तरह बचपनमें कोई गाँव, वस्तु आदि देखी हो, और बड़े होनेपर किसी प्रसंगपर जिस समय उस गाँव आदिका आत्मामें स्मरण होता है, उस समय उस गाँव आदिका आत्मामें

५३८ ववाणीआ, श्रावण वदी १२ शनि. १९५१

गत शनिवारको लिखा हुआ पत्र मिला है। उस पत्रमें मुख्यतया तीन प्रश्न लिखे हैं। उनका उत्तर निम्नरूपसे है:—

पहला प्रश्नः—एक मनुष्य-प्राणी दिनके समय आत्माके गुणोंद्वारा अमुक मर्यादातक देख सकता है, और रात्रिके समय अंधेरेमें कुछ भी नहीं देख सकता। फिर दूसरे दिन इसी तरह देखता है, और रात्रिमें कुछ भी नहीं देखता। इस कारण इस तरह एक दिन रातमें, अविच्छिन्नरूपसे प्रवर्तमान आत्माके गुणके ऊपर, अमुक भागके बदले बिना ही, क्या नहीं देखनेका आवरण आ जाता होगा? अथवा देखना यह आत्माका गुण ही नहीं, और सूरजसे ही सब कुछ दिखाई देता है, इसलिये देखना सूरजका गुण होनेके कारण उसकी अनुपस्थितिमें कुछ भी दिखाई नहीं देता? और फिर इसी तरह सुननेके दृष्टान्तमें कानको यथास्थान न रखनेसे कुछ भी सुनाई नहीं देता, तो फिर आत्माका गुण कैसे भूला दिया जाता है?

उत्तरः—ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्मका अमुक क्षयोपशम होनेसे इन्द्रियलब्धि उत्पन्न होती है। वह इन्द्रियलब्धि सामान्यरूपसे पाँच प्रकारकी कही जा सकती है। स्पर्शन इन्द्रियसे श्रोत्र इन्द्रियतक सामान्यरूपसे मनुष्यको पाँच इन्द्रियोंकी लब्धिका क्षयोपशम होता है; उस क्षयोपशमकी शक्तिसे वहाँतक अमुक व्यापकता हो वहींतक मनुष्य जान देख सकता है। देखना यह चक्षु इन्द्रियका गुण है, परन्तु अंधकारसे अथवा वस्तुके अमुक दूरीपर होनेसे उसे पदार्थ देखनेमें नहीं आ सकता; क्योंकि चक्षु इन्द्रियकी क्षयोपशम-लब्धि उस हदतक जाकर रुक जाती है। अर्थात् सामान्यरूपसे क्षयोपशमकी इतनी ही शक्ति है। दिनमें भी यदि विशेष अंधकार हो, अथवा कोई वस्तु बहुत अंधकारमें रखी हुई हो, अथवा अमुक सीमासे दूर हो तो वह चक्षुसे दिखाई नहीं दे सकती। तथा दूसरी इन्द्रियोंकी भी लब्धि-संबंधी क्षयोपशम शक्तितक ही उनके विषय ज्ञान-दर्शनकी प्रवृत्ति है। अमुक व्यापार होनेतक ही वे स्पर्श कर सकती हैं, सूँघ सकती हैं, स्वाद पहिचान सकती हैं, या सुन सकती हैं।

दूसरा प्रश्नः—आत्माके असंख्य प्रदेशोंके समस्त शरीरमें व्यापक होनेपर भी, आँखके बीचके भागकी पुतलीसे ही देखा जा सकता है; इसी तरह समस्त शरीरमें असंख्यात प्रदेशोंके व्यापक होनेपर भी एक छोटेसे कानसे ही सुना जा सकता है; अमुक स्थानसे ही गंधकी परीक्षा होती है; अमुक स्थानसे ही रसकी परीक्षा होती है। उदाहरणके लिये मिश्रीका स्वाद हाथ-पैर नहीं जानते, जीभ ही जानती है। आत्माके समस्त शरीरमें समानरूपसे व्यापक होनेपर भी अमुक भागसे ही ज्ञान होता है, इसका क्या कारण होगा?

उत्तरः—जीवको ज्ञान दर्शन यदि क्षायिक भावसे प्रगट हुए हों तो सर्व प्रदेशसे उसे तथा प्रकारका निरावरणत्व होनेसे एक समयमें सर्व प्रकारसे सर्व भावका ज्ञायकत्व होना संभव है, परन्तु जहाँ क्षयोपशम भावसे ज्ञान दर्शन रहते हैं वहाँ भिन्न भिन्न प्रकारसे अमुक मर्यादासे ज्ञायकत्व होता है। जिस जीवको अत्यंत अल्प ज्ञान-दर्शनकी क्षयोपशम शक्ति रहती है, उस जीवको अक्षरके अनंतवें भाग जितना ज्ञायकत्व होता है। उससे विशेष क्षयोपशमसे स्पर्श इन्द्रियकी लब्धि

व्यवहार सत्य है। इसमें भी यदि किसी प्राणीके प्राणोंका नाश होता हो, और उन्मत्ततासे वचन बोला गया हो—यद्यपि वह वचन सत्य ही हो—तो भी वह असत्यके ही समान है, ऐसा जानकर प्रवृत्ति करना चाहिये। जो सत्यसे विपरीत हो उसे असत्य कहा जाता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, दुगुंछा ये अज्ञान आदिसे ही बोले जाते हैं। वास्तवमें क्रोध आदि मोहनीयके ही अंग हैं। उसकी स्थिति दूसरे समस्त कर्मोंसे अधिक अर्थात् सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरकी है। इस कर्मके क्षय हुए बिना ज्ञानावरण आदि कर्म सम्पूर्णरूपसे क्षय नहीं हो सकते। यद्यपि सिद्धान्तमें पहिले ज्ञानावरण आदि कर्मोंको ही गिनाया है, परन्तु इस कर्मकी महत्ता अधिक है, क्योंकि संसारके मूलभूत राग-द्वेषका यह मूलस्थान है, इसलिये संसारमें भ्रमण करनेमें इसी कर्मकी मुख्यता है। इस प्रकार मोहनीय कर्मकी प्रबलता है, फिर भी उसका क्षय करना सरल है। अर्थात् जैसे वेदनीय कर्म भोगे बिना निष्फल नहीं होता, सो बात इस कर्मके विषयमें नहीं है। मोहनीय कर्मकी प्रकृतिरूप क्रोध, मान, माया, और लोभ आदि कषाय तथा नोकषायका अनुक्रमसे क्षमा, नम्रता, निरभिमानता, सरलता, अदंभता, और संतोष आदिकी विपक्ष भावनाओंसे, अर्थात् केवल विचार करनेमात्रसे ऊपर बताई हुई कषाय निष्फल की जा सकती हैं। नोकषाय भी विचार करनेसे क्षय की जा सकती है; अर्थात् उसके लिये बाह्य कुछ नहीं करना पड़ता। 'मुनि' यह नाम भी इस पूर्वोक्त रीतिसे विचार कर वचन बोलनेसे ही सत्य है। प्रायः करके प्रयोजनके बिना नहीं बोलनेका नाम ही मुनिपना है। राग द्वेष और अज्ञानके बिना यथास्थित वस्तुका स्वरूप कहते हुए बोलते हुए भी मुनिपना—मौनभाव—समझना चाहिये। पूर्व तीर्थंकर आदि महात्माओंने इसी तरह विचार कर मौन धारण किया था; और लगभग साढ़े बारह वर्ष मौन धारण करनेवाले भगवान् वीरप्रभुने इसी प्रकारके उत्कृष्ट विचारपूर्वक आत्मामेंसे फिरा फिराकर मोहनीय कर्मके संबंधको निकाल बाहर करके केवलज्ञानदर्शन प्रगट किया था।

अच्छा विचार करें तो सत्य बोलना कुछ कठिन नहीं है। व्यवहार सत्य-भाषा अनेक बार बोलनेमें आती है, किन्तु परमार्थ सत्य बोलनेमें नहीं आया, इसलिये इस जीवको संसारका भ्रमण मिटता नहीं है। सम्यक्त्व होनेके बाद अभ्याससे परमार्थ सत्य बोला जा सकता है; और बादमें विशेष अभ्यासपूर्वक स्वाभाविक उपयोग रहा करता है। असत्यके बोले बिना माया नहीं हो सकती। विश्वासघात करनेका भी असत्यमें ही समावेश होता है। झूठे दस्तावेज़ लिखानेको भी असत्य समझना चाहिये। न्यून-प्रधान मान आदिकी भावनासे आत्म-हितार्थ करने जैसा ढोंग बनाना, उसे भी असत्य समझना चाहिये। अथवा सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो तो ही सम्पूर्णरूपसे परमार्थ सत्य वचन बोला जा सकता है; अर्थात् तो ही आत्मामेंसे अन्य पदार्थोंसे भिन्नरूप उपयोग होनेसे वचनकी प्रवृत्ति हो सकती है। यदि कोई पूछे कि लोक शाश्वत क्यों कहा गया है, तो उसका कारण ध्यानमें रखकर यदि कोई बोले तो वह सत्य ही समझा जाय।

परमार्थ सत्यके भी दो विभाग हो सकते हैं—एक सर्वथा व्यवहार सत्य और दूसरा देश व्यवहार सत्य। निश्चय सत्यपर उपयोग रखकर, प्रिय अर्थात् जो वचन अन्यको अथवा जिसके संबंधमें

५४८ बम्बई, आसोज सुदी १२ सोम. १९५१

देखत भूली टळे तो सर्व दुःखनो क्षय थाय—

ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है, ऐसा होनेपर भी उसी 'साफ दिखाई देनेवाली भूल'के प्रवाहमें ही जीव बहा चला जा रहा है। ऐसे जीवोंको इस जगत्में क्या कोई ऐसा आधार है कि जिस आधारसे—आश्रयसे—वह प्रवाहमें न बहे!

---

५४९ बम्बई, आसोज सुदी १२, १९५१

वेदान्तदर्शन कहता है कि आत्मा असंग है। जिनदर्शन भी कहता है कि परमार्थनयसे आत्मा असंग ही है। इस असंगताका सिद्ध होना—परिणत होना—यह मोक्ष है। प्रायः करके उस प्रकारकी सम्यक् असंगता सिद्ध होनी असंभव है, और इसीलिये ज्ञानी-पुरुषोंने जिसे सब दुःख क्षय करनेकी इच्छा है, ऐसे मुमुक्षुको सत्संगकी नित्य ही उपासना करनी चाहिये, ऐसा जो कहा है, वह अत्यंत सत्य है।

---

५५० बम्बई, आसोज सुदी १३ भौम. १९५१

समस्त विश्व प्रायः करके पर-कथा और पर-वृत्तिमें बहा चला जा रहा है, उसमें रहकर स्थिरता कहाँसे प्राप्त हो! ऐसे अमूल्य मनुष्यभवको एक समय भी पर-वृत्तिसे जाने देना योग्य नहीं, और कुछ भी वैसा हुआ करता है, उसका उपाय कुछ विशेषरूपसे खोजना चाहिये।

ज्ञानी-पुरुषका निश्चय होकर अंतर्भेद न रहे तो आत्म-प्राप्ति सर्वथा सुलभ है—इस प्रकार ज्ञानी पुकार पुकार कर कह गये हैं, फिर भी न मालूम लोग क्यों भूलते हैं!

---

५५१ बम्बई, आसोज सुदी १३, १९५१

जो कुछ करने योग्य कहा हो, वह विस्मरण न हो जाय, इतना उपयोग करके क्रमपूर्वक भी उसमें अवश्य परिणति करना योग्य है। मुमुक्षु जीवमें त्याग, वैराग्य, उपशम और भक्तिके सहज स्वभावरूप किये बिना आत्मदशा कैसे आवे! किन्तु शिथिलतासे, प्रमादसे यह बात विस्मृत हो जाती है।

---

५५२ बम्बई, आसोज वदी ३ [illegible] १९५१

अनादिसे विपरीत अभ्यास चला आ रहा है, उससे वैराग्य उपशम आदि भावोंकी परिणति एकदम नहीं हो सकती, अथवा होनी कठिन पड़ती है, फिर भी निरन्तर उन भावोंके प्रति लक्ष रखनेसे सिद्धि अवश्य होती है। यदि सत्समागमका योग न हो तो वे भाव जिस प्रकारसे वृद्धिगत हों, उस प्रकारसे द्रव्य क्षेत्र आदिकी उपासना करनी, सद्ग्रन्थका परिचय करना योग्य है। सब कार्यों

बोला गया हो उसे प्रीतिकर हो, पथ्य और गुणकारी हो, इसी तरहके सत्य वचन बोलनेवाला प्रायः सर्व विरति त्यागी हो सकता है। संसारके ऊपर भाव न रखनेवाला होनेपर भी पूर्वकर्मसे अथवा किसी दूसरे कारणसे संसारमें रहनेवाले गृहस्थको एक देशसे सत्य वचन बोलनेका नियम रखना योग्य है। वह मुख्यरूपसे इस तरह है:—मनुष्यसंबंधी (कन्यासंबंधी), पशुसंबंधी (गायसंबंधी), भूमिसंबंधी (पृथ्वीसंबंधी), झूठी गवाही, और पूँजीको अर्थात् भरोसे–विश्वाससे–रखने योग्य दिये हुए द्रव्य आदि पदार्थको वापिस मँगा लेना, उसके बारेमें इन्कार कर देना—ये पाँच स्थूल भेद हैं। इन वचनोंके बोलते समय परमार्थ सत्यके ऊपर ध्यान रखकर यथास्थित अर्थात् जिस प्रकारसे वस्तुओंका स्वरूप यथार्थ हो उसी तरह कहनेका, एकदेश व्रत धारण करनेवालेको अवश्य नियम करना योग्य है। इस कहे हुए सत्यके विषयमें उपदेशको विचार कर उस क्रममें आना ही लाभदायक है।

५४६

एवंभूत दृष्टिसे ऋजुसूत्र स्थिति कर। ऋजुसूत्र दृष्टिसे एवंभूत स्थिति कर।
नैगम दृष्टिसे एवंभूत प्राप्ति कर। एवंभूत दृष्टिसे नैगम विशुद्ध कर।
संग्रह दृष्टिसे एवंभूत हो। एवंभूत दृष्टिसे संग्रह विशुद्ध कर।
व्यवहार दृष्टिसे एवंभूतके प्रति जा। एवंभूत दृष्टिसे व्यवहारकी निवृत्ति कर।
शब्द दृष्टिसे एवंभूतके प्रति जा। एवंभूत दृष्टिसे शब्द निर्विकल्प कर।
समभिरूढ़ दृष्टिसे एवंभूत अवलोकन कर। एवंभूत दृष्टिसे समभिरूढ़ स्थिति कर।
एवंभूत दृष्टिसे एवंभूत हो। एवंभूत स्थितिसे एवंभूत दृष्टिको शमन कर।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

५४७

मैं केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप सहज निज अनुभवस्वरूप हूँ।
मात्र व्यवहार दृष्टिसे इन वचनका वक्ता हूँ।
परमार्थसे तो केवल मैं उस वचनसे व्यंजित मूल अर्थरूप हूँ।
मुझसे जगत् भिन्न है, अभिन्न है, भिन्नाभिन्न है।
भिन्न, अभिन्न, भिन्नाभिन्न, यह अवकाशस्वरूपसे नहीं है।
व्यवहार दृष्टिसे ही इसका निरूपण करते हैं।

—जगत् मेरेमें व्यवहार दृष्टिसे भासता है, परन्तु जगत् अवकाशरूप है। मैं निराकार हूँ, इस कारण जगत् मेरेसे सर्वथा भिन्न है। इन दोनों दृष्टियोंसे जगत् मेरेमें भिन्नाभिन्न है।

ॐ शुद्ध निर्विकल्प चैतन्य.

उचित है। किसी भी वस्तुका पूर्व-पश्चात् अस्तित्व न हो तो उसका अस्तित्व मध्यमें भी नहीं होता— यह अनुभव विचार करनेसे होता है।

वस्तुकी सर्वथा उत्पत्ति अथवा सर्वथा नाश नहीं होता—उसका अस्तित्व सर्वकालमें है; रूपांतर-परिणाम ही हुआ करता है, वस्तुत्वमें परिवर्तन नहीं होता—यह श्रीजिनका जो अभिमत है, वह विचारने योग्य है।

षड्दर्शनसमुच्चय कुछ कुछ गहन है, तो भी फिर फिरसे विचार करनेसे उसका बहुत कुछ बोध होगा।

ज्यों ज्यों चित्तकी शुद्धि और स्थिरता होती है, त्यों त्यों ज्ञानीके वचनोंका विचार यथायोग्य रीतिसे हो सकता है। सर्वज्ञानका फल भी आत्म-स्थिरता होना ही है, ऐसा वीतराग पुरुषोंने जो कहा है, वह अत्यंत सत्य है।

५५७

निर्वाणमार्ग अगम अगोचर है, इसमें संशय नहीं। अपनी शक्तिसे, सद्गुरुके आश्रय बिना उस मार्गकी खोज करना असंभव है, ऐसा बारंबार दिखाई देता है। इतना ही नहीं, किन्तु श्रीसद्गुरु-चरणके आश्रयपूर्वक जिसे बोध-बीजकी प्राप्ति हुई हो, ऐसे पुरुषको भी सद्गुरुके समागमका नित्य आराधन करना चाहिये। जगत्के प्रसंगको देखनेसे ऐसा मालूम पड़ता है कि वैसे समागम और आश्रयके बिना निरालंब बोधका स्थिर रहना कठिन है।

५५८

ॐ

दृश्यको जिसने अदृश्य किया, और अदृश्यको दृश्य किया, ऐसे ज्ञानी-पुरुषोंका आश्चर्यकारक अनंत ऐश्वर्य वीर्य-वाणीसे कहा जा सकना संभव नहीं।

५५९

बीती हुई एक पल भी पीछे नहीं मिलती और वह अमूल्य है, तो फिर समस्त आयु-स्थितिकी तो बात ही क्या है ? एक पलका भी हीन उपयोग यह एक अमूल्य कौस्तुभ खो देनेकी अपेक्षा भी विशेष हानिकारक है, तो फिर ऐसी साठ पलकी एक घड़ीका हीन उपयोग करनेसे कितनी हानि होनी चाहिये ? इसी तरह एक दिन, एक पक्ष, एक मास, एक वर्ष और अनुक्रमसे समस्त आयु-स्थितिका हीन उपयोग, यह कितनी हानि और कितने अश्रेयका कारण होना संभव है, यह विचार शुद्ध हृदयसे करनेसे तुरत ही आ सकेगा।

सुख और आनन्द सब प्राणियों, सब जीवों, सब सत्त्वों, और सब जन्तुओंको निरन्तर प्रिय है फिर भी वे दुःख और आनन्दको भोगते हैं, इसका क्या कारण होना चाहिये ? तो उसका निदान है कि अज्ञान और उसके द्वारा जिन्दगीका हीन उपयोग होते हुए, रोकनेके लिये प्रत्येक प्राणीकी इच्छा होनी चाहिये। परन्तु किस साधनके द्वारा ?

५६१

बम्बई, कार्तिक १९५२

आत्मस्वरूपको यथावस्थित जाननेका नाम समझना है। तथा उससे अन्य विकल्पसे रहित उपयोगके होनेका नाम शान्त करना है। वस्तुतः दोनों एक ही हैं।

जैसा है वैसा समझ लेनेसे उपयोग निजस्वरूपमें समा गया, और आत्मा स्वभावमय हो गई—यह '**समजीने शमाई रह्या**' इस प्रथम वाक्यका अर्थ है।

अन्य पदार्थके संयोगमें जो अध्यास हो रहा था, और उस अध्यासमें जो अहंभाव मान रक्खा था, वह अध्यासरूप अहंभाव शान्त हो गया—यह '**समजीने शमाई गया**' इस दूसरे वाक्यका अर्थ है।

पर्यायान्तरसे इनका भिन्न अर्थ हो सकता है। वास्तवमें तो दोनों वाक्योंका एक ही परमार्थ विचार करने योग्य है।

जिस जिसने समझ लिया उन सबने 'मेरा', 'तेरा' इत्यादि अहंभाव-ममत्वभाव-शान्त कर दिया। क्योंकि वैसा कोई भी निजस्वभाव देखा नहीं गया, और निजस्वभावको तो अचिंत्य अव्याबाधस्वरूप सर्वथा भिन्न ही देखा, इसलिये सब कुछ उसीमें समाविष्ट हो गया।

आत्माके सिवाय पर पदार्थमें जो निज मान्यता थी, उसे दूर करके परमार्थसे मौनभाव हुआ। तथा वाणीद्वारा 'यह इसका है', इत्यादि कथन करनेरूप व्यवहार, वचन आदि योगके रहनेतक कचित् रहा भी, किन्तु आत्मामेंसे 'यह मेरा है' यह विकल्प सर्वथा शान्त हो गया—जैसा है वैसे अचिंत्य स्वानुभव गोचर पदमें लीनता हो गई।

ये दोनों वाक्य जो लोक-भाषामें व्यवहृत हुए हैं, वे आत्म-भाषामेंसे आये हैं। जो ऊपर कहा है तदनुसार जिसने शान्त नहीं किया, वह समझा भी नहीं—इस तरह इस वाक्यका सारभूत अर्थ हुआ। अथवा जितने अंशोंमें जिसने शान्त किया उतने ही अंशोंमें उसने समझा, इतना भिन्न अर्थ हो सकता है, फिर भी मुख्य अर्थमें ही उपयोग लगाना उचित है।

अनंतकालसे यम, नियम, शास्त्रावलोकन आदि कार्य करनेपर भी समझ लेना और शान्त करना यह भेद आत्मामें आया नहीं, और उससे परिभ्रमणकी निवृत्ति हुई नहीं।

जो समझने और शान्त करनेका एकीकरण करे वह स्वानुभव-पदमें रहे—उसका परिभ्रमण निवृत्त हो जाय। सद्गुरुकी आज्ञाके विचारे बिना जीवने उस परमार्थको जाना नहीं, और उसके प्रतिबंध करनेवाले असत्संग, स्वच्छंद और अविचारका निरोध किया नहीं, जिससे समझना और शान्त करना इन दोनोंका एकीकरण न हुआ—यह निश्चय प्रसिद्ध है।

यहाँसे आरंभ करके यदि ऊपर ऊपरकी भूमिकाकी उपासना करे तो जीव समझकर शान्त हो जाय, इसमें सन्देह नहीं है।

५६०

जिन पुरुषोंकी अंतर्मुखदृष्टि हो गई है, उन पुरुषोंको भी श्रीवीतरागने सतत जागृतिरूप ही उपदेश किया है; क्योंकि अनंतकालके अभ्यासयुक्त पदार्थोंका जो संग रहता है, वह न जाने किस दृष्टिको आकर्षित कर ले, यह भय रखना उचित है।

जब ऐसी भूमिकाने भी इस प्रकार उपदेश दिया गया है तो फिर जिसकी विचार-दशा है ऐसे मुमुक्षु जीवको सतत जागृति रखना योग्य है, ऐसा न कहा गया हो, तो भी यह स्पष्ट समझा जा सकता है कि मुमुक्षु जीवको जिस जिस प्रकारसे पर-अभ्यास होने योग्य पदार्थ आदिका त्याग हो, उस उस प्रकारसे अवश्य करना उचित है। यद्यपि आरंभ परिग्रहका त्याग स्थूल दिखाई देता है, फिर भी अंतर्मुखवृत्तिका हेतु होनेसे बारम्बार उसके त्यागका ही उपदेश किया है।

५६१

बम्बई, कार्तिक १९५२

आत्मस्वरूपको यथावस्थित जाननेका नाम समझना है। तथा उससे अन्य विकल्पसे रहित उपयोगके होनेका नाम शान्त करना है। वस्तुतः दोनों एक ही हैं।

जैसा है वैसा समझ लेनेसे उपयोग निजस्वरूपमें समा गया, और आत्मा स्वभावमय हो गई—यह 'समजीने शमाई रह्या' इस प्रथम वाक्यका अर्थ है।

अन्य पदार्थके संयोगमें जो अध्यास हो रहा था, और उस अध्यासमें जो अहंभाव मान रक्खा था, वह अध्यासरूप अहंभाव शान्त हो गया—यह 'समजीने शमाई गया' इस दूसरे वाक्यका अर्थ है।

पर्यायान्तरसे इनका भिन्न अर्थ हो सकता है। वास्तवमें तो दोनों वाक्योंका एक ही परमार्थ विचार करने योग्य है।

जिस जिसने समझ लिया उन सबने 'मेरा', 'तेरा' इत्यादि अहंभाव-ममत्वभाव-शान्त कर दिया। क्योंकि वैसा कोई भी निजस्वभाव देखा नहीं गया, और निजस्वभावको तो अचिन्त्य अव्याबाधस्वरूप सर्वथा भिन्न ही देखा, इसलिये सब कुछ उसीमें समाविष्ट हो गया।

आत्माके सिवाय पर पदार्थमें जो निज मान्यता थी, उसे दूर करके परमार्थसे मौनभाव हुआ। तथा वाणीद्वारा 'यह इसका है', इत्यादि कथन करनेरूप व्यवहार, वचन आदि योगके रहनेतक कचित् रहा भी, किन्तु आत्मामेंसे 'यह मेरा है' यह विकल्प सर्वथा शान्त हो गया—जैसा है वैसे अचिन्त्य स्वानुभवगोचर पदमें लीनता हो गई।

ये दोनों वाक्य जो लोक-भाषामें व्यवहृत हुए हैं, वे आत्म-भाषामेंसे आये हैं। जो ऊपर कहा है तदनुसार जिसने शान्त नहीं किया, वह समझा भी नहीं—इस तरह इस वाक्यका सारभूत अर्थ हुआ। अथवा जितने अंशोंमें जिसने शान्त किया उतने ही अंशोंमें उसने समझा, इतना भिन्न अर्थ हो सकता है, फिर भी मुख्य अर्थमें ही उपयोग लगाना उचित है।

अनंतकालसे यम, नियम, शास्त्रावलोकन आदि कार्य करनेपर भी समझ लेना और शान्त करना यह भेद आत्मामें आया नहीं, और उससे परिभ्रमणकी निवृत्ति हुई नहीं।

जो समझने और शान्त करनेका एकीकरण करे वह स्वानुभव-पदमें रहे—उसका परिभ्रमण निवृत्त हो जाय। सद्गुरुकी आज्ञाके विचारे बिना जीवने उस परमार्थको जाना नहीं, और उसके प्रतिबंध करनेवाले असत्संग, स्वच्छंद और अविचारका निरोध किया नहीं, जिससे समझना और शान्त करना इन दोनोंका एकीकरण न हुआ—यह निश्चय प्रसिद्ध है।

यहाँसे आरंभ करके यदि ऊपर ऊपरकी भूमिकाकी उपासना करे तो जीव समझकर शान्त हो जाय, इसमें सन्देह नहीं है।

अनंत ज्ञानी-पुरुषोंका अनुभव किया हुआ यह शाश्वत सुगम मोक्षमार्ग जीवके लक्षमें नहीं आता, इससे उत्पन्न हुए खेदसहित आश्चर्यको भी यहाँ शान्त करते हैं। सत्संग सद्विचारसे शान्त करनेतकके समस्त पद अनंत सत्य हैं, सुगम हैं, सुगोचर हैं, सहज हैं और सन्देहरहित हैं। ॐ ॐ ॐ ॐ.

---

५६२ बम्बई, कार्तिक सुदी ३ सोम. १९५२

श्रीवेदान्तमें निरूपित मुमुक्षु जीवका लक्षण तथा श्रीजिनद्वारा निरूपित सम्यग्दृष्टि जीवका लक्षण मनन करने योग्य है (यदि उस प्रकारका योग न हो तो बाँचने योग्य है), विशेषरूपसे मनन करने योग्य है—आत्मामें परिणमाने योग्य है। अपने क्षयोपशम-बलको कम जानकर, अहंममता आदिके पराभव होनेके लिये नित्य अपनी न्यूनता देखना चाहिये—विशेष संग-प्रसंगको कम करना चाहिये।

---

५६३ बम्बई, कार्तिक सुदी १२ गुरु. १९५२

(१) आत्म-हेतुभूत संगके सिवाय मुमुक्षु जीवको सर्वसंगको घटाना ही योग्य है; क्योंकि उसके बिना परमार्थका आविर्भूत होना कठिन है। और उस कारण श्रीजिनने यह व्यवहार—द्रव्यसंयमरूप साधुत्व उपदेश किया है। सहजात्मस्वरूप.

(२) अंतर्लक्ष्यकी तरह हालमें जो वृत्ति वर्तन करती हुई दिखाई देती है, वह उपकारक है, और वह वृत्ति क्रमपूर्वक परमार्थकी यथार्थतामें विशेष उपकारक होती है। हालमें सुंदरदासजीके ग्रंथ अथवा श्रीयोगवासिष्ठ बाँचना। अनीभाग यही है।

१०. १०. १८९५

(३) **निशदिन नैनमें नींद न आवे, नर तबहि नारायन पावे।**

—सुंदरदासजी.

---

५६४ बम्बई, मंगसिर सुदी १० मंगल. १९५२

जिस जिस प्रकारसे परद्रव्य (वस्तु) के कार्यकी अल्पता हो, निजके दोष देखनेमें दृढ लक्ष रहे, और सत्समागम सत्शास्त्रमें वर्धमान परिणतिसे परम भक्ति रहा करे, उस प्रकारका आत्मभाव करते हुए तथा ज्ञानीके वचनोंका विचार करनेसे दशा-विशेष प्राप्त करते हुए जो यथार्थ समाधिको योग्य हो, ऐसा लक्ष रखना—यह [illegible]।

५६५

शुभेच्छा, विचार, ज्ञान इत्यादि सब भूमिकाओंमें सर्वसंगका परित्याग बलवान उपकारी है, यह समझकर ज्ञानी-पुरुषोंने अनगार धर्मका निरूपण किया है। यद्यपि परमार्थसे सर्वसंग-परित्याग, यथार्थ बोध होनेपर प्राप्त होना संभव है, यह जानते हुए भी यदि नित्य [illegible] ही निवास हो तो,

वैसा समय प्राप्त हो सकता है, ऐसा जानकर ज्ञानी-पुरुषोंने सामान्य रीतिसे बाह्य सर्वसंग-परित्यागका उपदेश दिया है, जिस निवृत्तिके संयोगसे शुभेच्छावान जीव सद्गुरु सत्पुरुष और सत्शास्त्रकी यथायोग्य उपासना कर यथार्थ बोधको प्राप्त करे।

५६६

बम्बई, पौष सुदी ६ रवि. १९५२

दो अभिनिवेशोंके मार्ग-प्रतिबंधक रहनेसे जीव मिथ्यात्वका त्याग नहीं कर सकता। वे अभिनिवेश दो प्रकारके हैं—एक लौकिक और दूसरा शास्त्रीय। क्रम क्रमसे सत्समागमके संयोगसे जीव यदि उस अभिनिवेशको छोड़ दे तो मिथ्यात्वका त्याग होता है—इस प्रकार ज्ञानी-पुरुषोंने शास्त्र आदिद्वारा बारम्बार उपदेश दिये जानेपर भी जीव उसे छोड़नेके प्रति क्यों उपेक्षित होता है? यह बात विचारने योग्य है।

५६७

सब दुःखोंका मूल संयोग (संबंध) है, ऐसा ज्ञानवंत तीर्थंकरोंने कहा है। समस्त ज्ञानी-पुरुषोंने ऐसा देखा है। वह संयोग मुख्यरूपसे दो तरहसे कहा है—अंतरसंबंधी और बाह्यसंबंधी। अंतरसंयोगका विचार होनेके लिए आत्माको बाह्य संयोगका अपरिचय करना चाहिये, जिस अपरिचयकी सपरमार्थ इच्छा ज्ञानी-पुरुषोंने भी की है।

५६८

श्रद्धाज्ञान लह्यां छे तो पण, जो नवि जाय पमायो रे;
वंध्य तरु उपम ते पामे, संयम ठाण जो नायो रे।
गायो रे, गायो, भले वीर जगत् गुरु गायो।

५६९

बम्बई, पौष सुदी ८ भौम. १९५२

आत्मार्थके सिवाय, जिस जिस प्रकारसे जीवने शास्त्रकी मान्यता करके कृतार्थता मान रक्खी है, वह सब शास्त्रीय अभिनिवेश है। स्वच्छंदता तो दूर नहीं हुई, और सत्समागमका संयोग प्राप्त हो गया है, उस योगमें भी स्वच्छंदताके निर्वाहके लिए शास्त्रके किसी एक वचनको जो बहुवचनके समान बताता है; तथा शास्त्रको, मुख्य साधन ऐसे सत्समागमके समान कहता है, अथवा उससे उसमें भी अधिक भार देता है, उस जीवको भी अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश है।

---

१ श्रद्धा और ज्ञानके प्राप्त कर लेनेपर भी तथा संयममें युक्त होनेपर भी यदि प्रमादका नाश नहीं हुआ तो वैसे फलरहित वृक्षकी उपमाको प्राप्त होता है।

अनंत ज्ञानी-पुरुषोंका अनुभव किया हुआ यह शाश्वत सुगम मोक्षमार्ग जीवके लक्षमें नहीं आता, इससे उत्पन्न हुए खेदसहित आश्चर्यको भी यहाँ शान्त करते हैं। सत्संग सद्विचारसे शान्त करनेतकके समस्त पद अत्यंत सत्य हैं, सुगम हैं, सुगोचर हैं, सहज हैं और सन्देहरहित हैं। ॐ ॐ ॐ ॐ.

---

५६२ बम्बई, कार्तिक सुदी ३ सोम. १९५२

श्रीवेदान्तमें निरूपित मुमुक्षु जीवका लक्षण तथा श्रीजिनद्वारा निरूपित सम्यग्दृष्टि जीवका लक्षण मनन करने योग्य है (यदि उस प्रकारका योग न हो तो बाँचने योग्य है), विशेषरूपसे मनन करने योग्य है—आत्मामें परिणमाने योग्य है। अपने क्षयोपशम-बलको कम जानकर, अहं-ममता आदिके पराभव होनेके लिये नित्य अपनी न्यूनता देखना चाहिये—विशेष संग-प्रसंगको कम करना चाहिये।

---

५६३ बम्बई, कार्तिक सुदी १३ गुरु. १९५२

(१) आत्म-हेतुभूत संगके सिवाय मुमुक्षु जीवको सर्वसंगको घटाना ही योग्य है; क्योंकि उसके बिना परमार्थका आविर्भूत होना कठिन है। और इस कारण श्रीजिनने यह व्यवहार-द्रव्यसंयमरूप साधुत्व उपदेश किया है। सहजात्मस्वरूप.

(२) अंतर्लक्षकी तरह हालमें जो वृत्ति वर्तन करती हुई दिखाई देती है, वह उपकारक है, और वह वृत्ति क्रमपूर्वक परमार्थको यथार्थतामें विशेष उपकारक होती है। हालमें सुंदरदासजीके ग्रंथ अथवा श्रीयोगवासिष्ठ बाँचना। श्रीसौभाग यहीं है।

१०. १०. १८९५

(३) निशदिन नैनमें नींद न आवे, नर तबहि नारायन पावे।

—सुंदरदासजी.

---

५६४ बम्बई, मंगसिर सुदी १० मंगल. १९५२

जिस जिस प्रकारसे परद्रव्य (वस्तु) के कार्यकी अल्पता हो, निजके दोष देखनेमें दृढ़ लक्ष रहे, और सत्समागम सत्शास्त्रमें वर्द्धमान हुई परिणतिसे परम भक्ति रहा करे, उस प्रकारका आत्मभाव करते हुए तथा ज्ञानीके वचनोंका विचार करनेसे दशा-विशेष प्राप्त करते हुए जो यथार्थ समाधिको योग्य हो, ऐसा लक्ष रखना—यह कहा था।

५६५

शुभेच्छा, विचार, ज्ञान इत्यादि सब भूमिकाओंमें सर्वसंगका परित्याग बलवान उपकारी है, यह समझकर ज्ञानी-पुरुषोंने अनगारत्वका निरूपण किया है। यद्यपि परमार्थसे सर्वसंग-परित्याग, यथार्थ बोध होनेपर प्राप्त होना संभव है, यह जानते हुए भी यदि नित्य सत्संगमें ही निवास हो तो

५७३

बम्बई, पौष वदी १९५२

योग असंख्य जे जिन कह्या, घटमांहि रिद्धि दाखी रे ।
नवपद तेमज जाणजो, आतमराम छे साखी रे ॥

श्रीश्रीपालरास.

५७४

ॐ

गृह आदि प्रवृत्तिके योगसे उपयोगका विशेष चंचल रहना संभव है, ऐसा जानकर परम पुरुष सर्वसंग-परित्यागका उपदेश करते हुए।

५७५

बम्बई, पौष वदी २, १९५२

ॐ

सब प्रकारके भयके निवास-स्थानरूप इस संसारमें मात्र एक वैराग्य ही अभय है.

महान् मुनियोंको भी जो वैराग्य-दशा प्राप्त होनी दुर्लभ है, वह वैराग्य-दशा तो प्रायः जिन्हें गृहवासमें ही रहती थी, ऐसे श्रीमहावीर ऋषभ आदि पुरुष भी त्यागको ग्रहण करके घर छोड़कर चले गये, यही त्यागकी उत्कृष्टता बताई गई है।

जबतक गृहस्थ आदि व्यवहार रहे तबतक आत्मज्ञान न हो, अथवा जिसे आत्मज्ञान हो उसे गृहस्थ आदि व्यवहार न हो, ऐसा नियम नहीं है । वैसा होनेपर भी ज्ञानीको भी परम पुरुषोंने व्यवहारके त्यागका उपदेश किया है; क्योंकि त्याग आत्म-ऐश्वर्यको स्पष्ट व्यक्त करता है । उसमे और लोकको उपकारभूत होनेके कारण त्यागको अकर्त्तव्य-लक्षसे करना चाहिये, इसमें सन्देह नहीं है।

निजस्वरूपमें स्थिति होनेको परमार्थ संयम कहा है । उस संयमके कारणभूत ऐसे अन्य निमित्तोको ग्रहण करनेको व्यवहार संयम कहा है। किसी भी ज्ञानी-पुरुषने उस संयमका निषेध नहीं किया । किन्तु परमार्थकी उपेक्षा (बिना लक्षके) से जो व्यवहार संयममें ही परमार्थ सयमकी मान्यता रक्खे, उसका अभिनिवेश दूर करनेके ही लिए उसको व्यवहार संयमका निषेध किया है। किन्तु व्यवहार संयममें कुछ भी परमार्थका निमित्त नहीं है—ऐसा ज्ञानी-पुरुषोंने नहीं कहा।

परमार्थके कारणभूत व्यवहार संयमको भी परमार्थ संयम कहा है ।

---

१ श्रीपालरासमें निम्न दो पद्य इस तरह दिये हुए हैं—

अष्ट सकल समृद्धिनी, घटमाहि ऋद्धि दाखी रे । तिम नवपद ऋद्धि जाणजो, आतमराम छे साखी रे ॥
योग असख्य छे जिन कह्या नवपद मुख्य ते जाणो रे । एह तणे अवलबने आतमध्यान प्रमाणो रे ।

अर्थः—जिस तरह अणिमा, महिमा आदि आठ सिद्धियोंकी सम्पूर्णता घटमे दिखाई गई है, उसी तरह नवपदकी ऋद्धिको भी घटमें ही समझना चाहिये—इसकी आत्मा साक्षी है ॥ श्रीजिनभगवानने जो असख्यात योग कहे हैं, उन सबमें इस नवपदको मुख्य समझना चाहिये । अतएव इस नवपदके आलबनसे जो आत्म-ध्यान करना है, वही प्रमाण है । अनुवादक.

५७९

बम्बई, माघ सुदी ४ रवि. १९५२

असंग आत्मस्वरूपको सत्संगका संयोग मिलनेपर सबसे सुलभ कहना योग्य है, इसमें संशय नहीं है। सब ज्ञानी-पुरुषोंने अतिशयरूपसे जो सत्संगका माहात्म्य कहा है, वह यथार्थ है। इसमें विचारवानको किसी तरहका विकल्प करना उचित नहीं है।

५८०

बम्बई, फाल्गुन सुदी १, १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद

ज्ञानीका सब व्यवहार परमार्थ-मूलक होता है, तो भी जिस दिन उदय भी आत्माकार प्रवृत्ति करेगा, उस दिनको धन्य है।

सर्व दुःखोंसे मुक्त होनेका सर्वोत्कृष्ट उपाय जो आत्मज्ञान कहा है, वह ज्ञानी-पुरुषोंका वचन सच्चा है—अत्यंत सच्चा है।

जबतक जीवको तथारूप आत्मज्ञान न हो तबतक आत्यंतिक बंधनकी निवृत्ति होना संभव नहीं, इसमें संशय नहीं है।

उस आत्मज्ञानके होनेतक जीवको 'मूर्त्तिमान आत्मज्ञान स्वरूप' सद्गुरुदेवका आश्रय निरन्तर अवश्य ही करना चाहिये, इसमें संशय नहीं है। जब उस आश्रयका वियोग हो तब नित्य ही आश्रय-भावना करनी चाहिये।

उदयके योगसे तथारूप आत्मज्ञान होनेके पूर्व यदि उपदेश कार्य-करना पड़ता हो तो विचारवान मुमुक्षु परमार्थ मार्गके अनुसरण करनेके हेतुभूत ऐसे सत्पुरुषकी भक्ति, सत्पुरुषके गुणगान, सत्पुरुषके प्रति प्रमोदभावना और सत्पुरुषके प्रति अविरोध भावनाका लोगोंको उपदेश देता है; जिस तरह मत-मतांतरका अभिनिवेश दूर हो, और सत्पुरुषके वचन ग्रहण करनेकी आत्मवृत्ति हो, वैसा करता है। वर्तमान कालमें उस क्रमकी विशेष हानि होगी, ऐसा समझकर ज्ञानी-पुरुषोंने इस कालको दुःषमकाल कहा है। और वैसा प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

सब कार्योंमें कर्त्तव्य केवल आत्मार्थ ही है—यह भावना मुमुक्षु जीवको नित्य करनी चाहिये।

५८१

बम्बई, फाल्गुन सुदी १०, १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद

(१) हालमें विस्तारपूर्वक पत्र लिखना नहीं होता, उससे चित्तमें वैराग्य उपशम आदिके विशेष प्रदीप्त रहनेमें सत्शास्त्रको ही एक विशेष आधारभूत निमित्त समझकर श्रीसुंदरदास आदिके ग्रंथोंका हो सके तो दोसे चार घड़ीतक जिससे नियमित वाचना-पृच्छना हो वैसा करनेके लिए लिखा था। श्रीसुंदरदासजीके ग्रंथका आदिसे लेकर अंततक हालमें विशेष अनुप्रेक्षापूर्वक विचार करनेके लिए विनती है।

(२) कायाके रहनेतक माया (अर्थात् कषाय आदि) संभव रहे, ऐसा श्री······को लगता है, वह अभिप्राय प्रायः (बहुत करके) तो यथार्थ ही है। तो भी किसी पुरुष-

'प्रारब्ध है', ऐसा मानकर ज्ञानी उपाधि करता है, ऐसा माळूम नहीं होता। परन्तु परिणतिसे छूट जानेपर भी त्याग करते हुए बाह्य कारण रोकते हैं, इसलिये ज्ञानी उपाधिसहित दिखाई देता है, फिर भी वह उसकी निवृत्तिके लक्षका नित्य सेवन करता है।

५७६　　बंम्बई, पौष वदी ९ गुरु. १९५२

ॐ

देहाभिमानरहित सत्पुरुषोंको अत्यंत भक्तिपूर्वक त्रिकाल नमस्कार हो.

ज्ञानी-पुरुषोंने बारम्बार आरम्भ-परिग्रहके त्यागकी उत्कृष्टता कही है, और फिर फिरसे उस त्यागका उपदेश किया है, और प्रायः करके स्वयं भी ऐसा ही आचरण किया है, इसलिये मुमुक्षु पुरुषको अवश्य ही उसकी अल्पता करना चाहिये, इसमें सन्देह नहीं है।

कौन कौनसे प्रतिबंधसे जीव आरम्भ-परिग्रहका त्याग नहीं कर सकता, और वह प्रतिबंध किस तरह दूर किया जा सकता है, इस प्रकारसे मुमुक्षु जीवको अपने चित्तमें विशेष विचार-अंकुर उत्पन्न करके कुछ भी तथारूप फल लाना योग्य है। यदि वैसे न किया जाय तो उस जीवको मुमुक्षुता नहीं है, ऐसा प्रायः कहा जा सकता है।

आरम्भ और परिग्रहका त्याग होना किस प्रकारसे कहा जाय, इसका पहले विचार कर, पीछेसे उपरोक्त विचार-अंकुरको मुमुक्षु जीवको अपने अंतःकरणमें अवश्य उत्पन्न करना योग्य है।

५७७　　बम्बई, पौष वदी १३ रवि. १९५२

उत्कृष्ट संपत्तिके स्थान जो चक्रवर्ती आदि पद हैं, उन सबको अनित्य जानकर विचारवान पुरुष उन्हें छोड़कर चल दिये हैं; अथवा प्रारब्धोदयसे यदि उनका वास उसमें हुआ भी तो उन्होंने अमूर्च्छित-रूपसे उदासीनभावसे उसे प्रारब्धोदय समझकर ही आचरण किया है, और त्याग करनेका ही लक्ष रक्खा है।

५७८

महात्मा बुद्ध (गौतम) जरा, दारिद्रय, रोग, और मृत्यु इन चारोंको, एक आत्मज्ञानके बिना अन्य सब उपायोंसे अजेय समझकर, उनकी उत्पत्तिके हेतुभूत संसारको छोड़ कर चले जाते हुए। श्रीऋषभ आदि अनंत ज्ञानी-पुरुषोंने भी इसी उपायकी उपासना की है, और सब जीवोंको उस उपायका उपदेश दिया है। उस आत्मज्ञानको प्रायः दुर्लभ देखकर, निष्कारण करुणाशील उन सत्पुरुषोंने भक्ति-मार्गका प्रकाश किया है, जो सब अशरणको निश्चल शरणरूप और सुगम है।

सर्वज्ञदेव.	सर्वज्ञदेव.
निर्ग्रंथ गुरु.	निर्ग्रंथ गुरु.
सिद्धांतमूल धर्म.	जिनाज्ञामूल धर्म.

सर्वज्ञका स्वरूप.
निर्ग्रंथका स्वरूप.
धर्मका स्वरूप.
सम्यक् क्रियावाद.

५८५

ॐ नमः

प्रदेश. समय. परमाणु.	द्रव्य. गुण. पर्याय.	जड़. चेतन.

५८६

बम्बई, फाल्गुन सुदी ११ रवि. १९५२

श्री सद्गुरु प्रसाद

यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होनेके पहिले ही जिन जीवोंको उपदेशकपना रहता हो उन जीवोंको, जिस प्रकारसे वैराग्य उपशम और भक्तिका लक्ष हो, उस प्रकारसे समागममें आये हुए जीवोंको उपदेश देना योग्य है; और जिस तरह उन्हें नाना प्रकारके असद् आग्रहका तथा सर्वथा वेष व्यवहार आदिका अभिनिवेश कम हो, उस प्रकारसे उपदेश फलीभूत हो, वैसे आत्मार्थ विचार कर कहना योग्य है। क्रम क्रमसे वे जीव जिससे यथार्थ मार्गके सन्मुख हों, ऐसा यथाशक्ति उपदेश करना चाहिये।

५८७

बम्बई, फाल्गुन वदी ३ सोम. १९५२

देहधारी होनेपर भी जो निरावरण ज्ञानसहित रहते हैं, ऐसे महापुरुषोंको त्रिकाल नमस्कार हो.

देहधारी होनेपर भी परम ज्ञानी-पुरुषमें सर्व कषायका अभाव होना सभव है, यह जो हमने लिखा है, सो उस प्रसंगमें अभाव शब्दका अर्थ क्षय समझकर ही लिखा है।

प्रश्नः—जगत्वासी जीवको राग-द्वेष नाश हो जानेकी खबर नहीं पड़ती। और जो महान् पुरुष है वे जान लेते है कि इस महात्मा पुरुषमें राग-द्वेषका अभाव अथवा उपशम रहता है—ऐसा लिखकर आपने शंका की है कि ' जैसे महात्मा पुरुषको ज्ञानी-पुरुष अथवा दृढ़ मुमुक्षु जीव जान लेते हैं, उसी तरह जगत्के जीव भी क्यों नहीं जानते ? उदाहरणके लिये मनुष्य आदि प्राणियोंको देखकर जैसे जगत्-वासी जीव जानते है कि ये मनुष्य आदि हैं, उसी तरह महात्मा पुरुष भी मनुष्य आदिको जानते हैं; इन

विशेषमें सर्वथा—सब प्रकारसे—संज्वलन आदि कषायका अभाव होना संभव मालूम होता है, और उसके अभाव हो सकनेमें संदेह नहीं होता। उससे रागादिके होनेपर भी कषायरहितपना संभव है—अर्थात् सर्वथा राग-द्वेषरहित पुरुष हो सकता है। यह पुरुष राग-द्वेषरहित है, इस प्रकार सामान्य जीव बाह्य चेष्टासे जान सकें, यह संभव नहीं। परन्तु इससे वह पुरुष कषायरहित—सम्पूर्ण वीतराग—न हो, ऐसे अभिप्रायको विचारवान सिद्ध नहीं करते। क्योंकि बाह्य चेष्टासे आत्म-दशाकी स्थिति सर्वथा समझमें आ सके, यह नहीं कहा जा सकता।

(२) श्रीसुंदरदासने आत्मजागृत-दशामें 'शूरातन अंग' कहा है, उसमें विशेष उल्लासित-परिणतिसे शूरवीरताका निरूपण किया है:—

मारे काम क्रोध जिनि लोभ मोह पीसि डारे, इन्द्रीहू कतल करी कियो रजपूतो है;
मार्यो महामत्त मन मार्यो अहंकार मीर, मारे मद मच्छर हू, ऐसो रन रूरो है।
मारी आसा तृष्णा सोऊ पापिनी सापिनी दोऊ, सबको प्रहार करि निज पद पहूँतो है;
सुंदर कहत ऐसो साधु कोऊ शूरवीर, वैरी सब मारिके निचिंत होइ सूतो है।

श्रीसुंदरदास—शूरातन अंग ११वाँ कवित.

५८२

ॐ नमः

सर्वज्ञ. जिन. वीतराग.

सर्वज्ञ है.

राग-द्वेषका आत्यंतिक क्षय हो सकता है।
ज्ञानके प्रतिबंधक राग-द्वेष हैं।
ज्ञान, जीवका स्वरूपभूत धर्म है।
जीव एक अखंड सम्पूर्ण द्रव्य होनेसे उसका ज्ञान सामर्थ्य-सम्पूर्ण है।

५८३

सर्वज्ञ-पद बारम्बार श्रवण करने योग्य, बाँचने योग्य, विचार करने योग्य, लक्ष करने योग्य और स्वानुभवसिद्ध करने योग्य है।

५८४

सद्देव. असद्देव.
निर्ग्रंथ गुरु. [illegible] गुरु.
उपशममूल धर्म. [illegible] धर्म.

(१) उस उपदेशका जिज्ञासु जीवमें जिस तरह परिणमन हो, ऐसे संयोगोंमें वह जिज्ञासु जीव न रहता हो, अथवा उस उपदेशके विस्तारसे करनेपर भी उसमें उसके ग्रहण करनेकी तथारूप योग्यता न हो, तो ज्ञानी-पुरुष उन जीवोंको उपदेश करनेमें अल्पभावसे प्रवृत्ति करता है।

(२) अथवा अपनेको बाह्य व्यवहार ऐसा उदय हो कि वह उपदेश जिज्ञासु जीवको परिणमन होनेमें प्रतिबंधरूप हो, अथवा तथारूप कारणके बिना वैसा बर्ताव कर वह मुख्य-मार्गके विरोधरूप अथवा संशयके हेतुरूप होनेका कारण होता हो, तो भी ज्ञानी-पुरुष उपदेशमें अल्पभावसे ही प्रवृत्ति करता है अथवा मौन रहता है।

(२)

सर्वसंग-परित्याग कर चले जानेसे भी जीव उपाधिरहित नहीं होता। क्योंकि जबतक अंतर्परिणतिपर दृष्टि न हो और तथारूप मार्गमें प्रवृत्ति न हो, तबतक सर्वसंग-परित्याग भी नाम मात्र ही होता है। और वैसे अवसरमें भी अंतर्परिणतिपर दृष्टि देनेका भान जीवको आना कठिन है। तो फिर ऐसे गृह-व्यवहारमें लौकिक अभिनिवेशपूर्वक रहकर अंतर्परिणतिपर दृष्टि रख सकना कितना दुःसाध्य होना चाहिये, उसपर भी विचार करना योग्य है। तथा वैसे व्यवहारमें रहकर जीवको अन्तर्परिणतिपर कितना बल रखना उचित है, वह भी विचारना चाहिये, और अवश्य वैसा करना चाहिये।

अधिक क्या लिखें! जितनी अपनी शक्ति हो उस सर्व शक्तिसे एक लक्ष रखकर, लौकिक अभिनिवेशको अल्प कर, कुछ भी अपूर्व निरावरणपना दिखाई नहीं देता, इसलिये 'समझ लेनेका केवल अभिमान ही है,' इस प्रकार जीवको समझाकर, जिस प्रकारसे जीव ज्ञान दर्शन और चारित्रमें सतत जागृत हो, उसीके करनेमें वृत्ति लगाना, और रात दिन उसी चिंतनमें प्रवृत्ति करना, यही विचारवान जीवका कर्त्तव्य है। और उसके लिये सत्संग, सत्शास्त्र और सरलता आदि निजगुण उपकारभूत हैं, ऐसा विचारकर उसका आश्रय करना उचित है।

जबतक लौकिक अभिनिवेश अर्थात् द्रव्यादि लोभ, तृष्णा, दैहिक-मान, कुल, जाति आदिमें मोह अथवा विशेष मान हो, उस बातका त्याग न करना हो, अपनी बुद्धिसे-स्वेच्छासे-अमुक गच्छ आदिका आग्रह रखना हो, तबतक जीवको अपूर्व गुण कैसे उत्पन्न हो सकता है? उसका विचार सुगम है।

हालमें अधिक लिखा जा सके इस प्रकारका यहाँ उदय नहीं है। तथा अधिक लिखना अथवा कहना भी किसी किसी प्रसंगमें ही होने देना योग्य है।

तुम्हारी विशेष जिज्ञासासे प्रारब्धोदयका वेदन करते हुए जो कुछ लिखा जा सकता था, उसकी अपेक्षा भी कुछ कुछ उदीरणा करके विशेष ही लिखा है।

५८९ बम्बई, चैत्र सुदी २ सोम. १९५२

ॐ

जिससे क्षण भरमें हर्ष और क्षण भरमें शोक हो आये, ऐसे इस व्यवहारमें जो ज्ञानी-पुरुष समदशासे रहते हैं, उन्हें अत्यंत भक्तिसे धन्य मानते हैं; और सब मुमुक्षु जीवोंको इसी दशाकी उपासना करना चाहिये, ऐसा निश्चय समझकर परिणति करना योग्य है।

शब्दके ही अर्थमें लिखा है। ज्ञानीके वचनकी परीक्षा यदि सब जीवोंको सुलभ होती तो निर्वाण भी सुलभ ही हो जाता।

३. जिनागममें ज्ञानके मति श्रुत आदि पाँच भेद कहे हैं। वे ज्ञानके भेद सच्चे हैं—उपमावाचक नहीं हैं। अवधि मनःपर्यव आदि ज्ञान वर्तमान कालमें व्यवच्छेद सरीखे मालूम होते हैं; उससे उन ज्ञानोंको उपमावाचक समझना योग्य नहीं है। ये ज्ञान मनुष्य-जीवोंको चारित्र पर्यायके विशुद्ध तारतम्यसे उत्पन्न होते हैं। वर्तमान कालमें वह विशुद्ध तारतम्य प्राप्त होना कठिन है; क्योंकि कालका प्रत्यक्ष स्वरूप चारित्रमोहनीय आदि प्रकृतियोंके विशेष बलसहित प्रवृत्ति करता हुआ देखनेमें आता है।

सामान्य आत्मचारित्र भी किसी किसी जीवमें ही रहना संभव है। ऐसे कालमें उस ज्ञानकी लब्धि व्यवच्छेद जैसी हो जाय तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है; इससे उस ज्ञानको उपमावाचक समझना योग्य नहीं। आत्मस्वरूपका विचार करते हुए तो उस ज्ञानकी कुछ भी असंभवता दिखाई नहीं देती। सब ही ज्ञानोंकी स्थितिका क्षेत्र आत्मा है, तो फिर अवधि मनःपर्यव आदि ज्ञानका क्षेत्र आत्मा हो तो इसमें संशय करना कैसे उचित है? यद्यपि शास्त्रके यथास्थित परमार्थसे अज्ञ-जीव जिस प्रकारसे व्याख्या करते हैं, वह व्याख्या विरोधयुक्त हो सकती है, किन्तु परमार्थसे उस ज्ञानका होना संभव है।

जिनागममें उसकी जिस प्रकारके आशयसे व्याख्या कही हो वह व्याख्या, और अज्ञानी जीव आशयके बिना जाने ही जो व्याख्या करे, उन दोनोंमें महान् भेद हो तो इसमें आश्चर्य नहीं; और उस भेदके कारण उस ज्ञानके विषयमें संदेह होना योग्य है। परन्तु आत्म-दृष्टिसे देखनेसे वह संदेहका स्थान नहीं है।

४. कालका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग 'समय' है। रूपी पदार्थका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग 'परमाणु' है, और अरूपी पदार्थका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग 'प्रदेश' है। ये तीनों ही ऐसे सूक्ष्म हैं कि अत्यंत निर्मल ज्ञानकी स्थिति ही उनके स्वरूपको ग्रहण कर सकती है। सामान्यरूपसे संसारी जीवोंका उपयोग असंख्यात समयवर्ती है; उस उपयोगमें साक्षात्‌रूपसे एक समयका ज्ञान संभव नहीं। यदि वह उपयोग एक-समयवर्ती और शुद्ध हो तो उसमें साक्षात्‌रूपसे समयका ज्ञान हो सकता है। उस उपयोगका एक-समयवर्तित्व कषाय आदिके अभावसे होता है; क्योंकि कषाय आदिके योगसे उपयोग सूक्ष्मता आदि नाश करता है, तथा असंख्यात समयवर्तित्वको प्राप्त करता है। उस कषाय आदिके अभावसे उपयोगका एक समयवर्तित्व होता है। अर्थात् कषाय आदिके संबंधसे उसे असंख्यात समयमेंसे एक एक समयको अलग करनेकी सामर्थ्य नहीं थी, उस कषाय आदिके अभावसे वह एक एक समयको अलग करके अवगाहन करता है। उपयोगका एक-समयवर्तित्व कषायरहितपना होनेके बाद ही होता है। इसलिये एक समयका, एक परमाणुका और एक प्रदेशका जिसे ज्ञान हो उसे केवलज्ञान प्रगट होता है, ऐसा जो कहा है, वह सत्य है। कषायरहितपनेके बिना केवलज्ञानका होना संभव नहीं है, और कषायरहितपनेके बिना उपयोग एक समयको साक्षात्‌रूपसे ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिये जब वह एक समयको ग्रहण करे उस समय अत्यन्त कषायरहितपना होना चाहिये; और जहाँ अत्यन्त कषायका अभाव हो वहीं केवलज्ञान होता है। इसलिये यह कहा है कि एक समय, एक परमाणु और एक प्रदेशका जिसे अनुभव हो उस

शब्दके ही अर्थमें लिखा है। ज्ञानीके वचनकी परीक्षा यदि सब जीवोंको सुलभ होती तो निर्वाण भी सुलभ ही हो जाता।

३. जिनागममें ज्ञानके मति श्रुत आदि पाँच भेद कहे हैं। ये ज्ञानके भेद सच्चे हैं—उपमावाचक नहीं हैं। अवधि मनःपर्यव आदि ज्ञान वर्तमान कालमें व्यवच्छेद सरीखे मालूम होते हैं; उसके ऊपरसे उन ज्ञानोंको उपमावाचक समझना योग्य नहीं है। ये ज्ञान मनुष्य-जीवोंको चारित्र पर्यायके विशुद्ध तारतम्यसे उत्पन्न होते हैं। वर्तमान कालमें वह विशुद्ध तारतम्य प्राप्त होना कठिन है; क्योंकि कालका प्रत्यक्ष स्वरूप चारित्रमोहनीय आदि प्रकृतियोंके विशेष बलसहित प्रवृत्ति करता हुआ देखनेमें आता है।

सामान्य आत्मचारित्र भी किसी किसी जीवमें ही रहना संभव है। ऐसे कालमें उस ज्ञानकी लब्धि व्यवच्छेद जैसी हो जाय तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है; इससे उस ज्ञानको उपमावाचक समझना योग्य नहीं। आत्मस्वरूपका विचार करते हुए तो उस ज्ञानकी कुछ भी असंभवता दिखाई नहीं देती। जब सभी ज्ञानोंकी स्थितिका क्षेत्र आत्मा है, तो फिर अवधि मनःपर्यव आदि ज्ञानका क्षेत्र आत्मा हो तो इसमें संशय करना कैसे उचित है? यद्यपि शास्त्रके यथास्थित परमार्थसे अज्ञ-जीव जिस प्रकारसे व्याख्या करते हैं, वह व्याख्या विरोधयुक्त हो सकती है, किन्तु परमार्थसे उस ज्ञानका होना संभव है।

जिनागममें उसकी जिस प्रकारके आशयसे व्याख्या कही हो वह व्याख्या, और अज्ञानी जीव आशयके बिना जाने ही जो व्याख्या करे, उन दोनोंमें महान् भेद हो तो इसमें आश्चर्य नहीं; और उस भेदके कारण उस ज्ञानके विषयमें संदेह होना योग्य है। परन्तु आत्म-दृष्टिसे देखनेसे वह संदेहका स्थान नहीं है।

४. कालका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग 'समय' है। रूपी पदार्थका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग 'परमाणु' है, और अरूपी पदार्थका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग 'प्रदेश' है। ये तीनों ही ऐसे सूक्ष्म हैं कि अत्यंत निर्मल ज्ञानकी स्थिति ही उनके स्वरूपको ग्रहण कर सकती है। सामान्यरूपसे संसारी जीवोंका उपयोग असंख्यात समयवर्ती है; उस उपयोगमें साक्षात्रूपसे एक समयका ज्ञान संभव नहीं। यदि वह उपयोग एक-समयवर्ती और शुद्ध हो तो उसमें साक्षात्रूपसे समयका ज्ञान हो सकता है। उस उपयोगका एक-समयवर्तित्व कषाय आदिके अभावसे होता है; क्योंकि कषाय आदिके योगसे उपयोग मूढ़ता आदि धारण करता है, तथा असंख्यात समयवर्तित्वको प्राप्त करता है। उस कषाय आदिके अभावसे उपयोगका एक समयवर्तित्व होता है। अर्थात् कषाय आदिके संबंधसे उसे असंख्यात समयमेंसे एक एक समयको अलग करनेकी सामर्थ्य नहीं थी, उस कषाय आदिके अभावसे वह एक एक समयको अलग करके अवगाहन करता है। उपयोगका एक-समयवर्तित्व कषायरहितपना होनेके बाद ही होता है। इसलिये एक समयका, एक परमाणुका और एक प्रदेशका जिसे ज्ञान हो उसे केवलज्ञान प्रगट होता है, ऐसा जो कहा है, वह सच है। कषायरहितपनेके बिना केवलज्ञानका होना संभव नहीं है, और कषायरहितपनेके बिना उपयोग एक समयको साक्षात्रूपसे ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिये जब वह एक समयको ग्रहण करे उस समय अत्यंत कषायरहितपना होना चाहिये; और जहाँ अत्यंत कषायका अभाव हो वहीं केवलज्ञान होता है। इसलिये यह कहा है कि एक समय, एक परमाणु और एक प्रदेशका जिसे अनुभव हो उसे

स्थितिमें जो कुछ जाना जा सके, वह केवलज्ञान है; और वह संदेह करने योग्य नहीं है। जो एकान्त कोटी कहते हैं, वह भी महावीरस्वामीके समीपमें रहनेवाले आज्ञावर्ती पाँचमी केवली प्रसंगमें ही होना संभव है। जगत्के ज्ञानका लक्ष छोड़कर जो शुद्ध आत्मज्ञान है, वही केवलज्ञान है—ऐसा विचार करते हुए आत्मदशा विशेषभावका सेवन करती है "—इस तरह इस प्रश्नके समाधानका संक्षिप्त आशय है।

जैसे बने वैसे जगत्के ज्ञानका विचार छोड़कर जिस तरह स्वरूपज्ञान हो, वैसे केवलज्ञानका विचार होनेके लिये पुरुषार्थ करना चाहिये। जगत्के ज्ञान होनेको मुख्यार्थरूपसे केवलज्ञान मानना योग्य नहीं। जगत्के जीवोंका विशेष लक्ष होनेके लिये वारम्वार जगत्के ज्ञानको साथमें लिया है, और वह कुछ कल्पित है, यह बात नहीं है। परन्तु उसके प्रति अभिनिवेश करना योग्य नहीं है। इस स्थलपर विशेष लिखनेकी इच्छा होती है और उसे रोकनी पड़ती है, तो भी संक्षेपमें फिरसे लिखते हैं।

आत्मामेंसे सब प्रकारका अन्य अभ्यास दूर होकर स्फटिककी तरह आत्मा अत्यंत शुद्धताका सेवन करे—यही केवलज्ञान है, और बारम्बार उसे जिनागममें जगत्के ज्ञानरूपसे कहा है; उस माहात्म्यसे बाह्यदृष्टि जीव पुरुषार्थमें प्रवृत्ति करें, यही उसका हेतु है।

५९१

बम्बई चैत्र वदी ७ रवि. १९५२

सत्समागमके अभावके अवसरपर तो विशेष करके आरंभ परिग्रहसे वृत्ति न्यून करनेका अभ्यास रखकर जिनमें त्याग-वैराग्य आदि परमार्थ-साधनका उपदेश किया है, वैसे ग्रंथ बाँचनेका परिचय करना चाहिये, और अप्रमत्तभावसे अपने दोषोंका वारम्वार देखना ही योग्य है।

५९२

बम्बई, चैत्र वदी १४ रवि. १९५२

अन्य पुरुषकी दृष्टिमें, जग व्यवहार लखाय।
वृंदावन जब जग नहीं, को व्यवहार बताय?

—विहार वृंदावन.

५९३

बम्बई, वैशाख सुदी १ भौम. १९५२

ॐ

करनेके प्रति वृत्ति नहीं है, अथवा एक क्षण भर भी जिसे करना भासित नहीं होता, और करनेसे उत्पन्न होनेवाले फलके प्रति जिसकी उदासीनता है, वैसा कोई आप्त पुरुष तथारूप प्रारब्ध-योगसे परिग्रह संयोग आदिमें प्रवृत्ति करता हुआ देखा जाता हो, और जिस तरह इच्छुक पुरुष प्रवृत्ति करे, उद्यम करे, वैसे कार्यसहित वर्ताव करते हुए देखनेमें आता हो, तो उस पुरुषमें ज्ञान-दशा है, यह किस तरह जाना जा सकता है? अर्थात् वह पुरुष आप्त—परमार्थके लिये प्रतीति करने योग्य—है अथवा ज्ञानी है, यह किस लक्षणसे पहिचाना जा सकता है? कदाचित् किसी मुमुक्षुको दूसरे किसी पुरुषके संसर्गसे

विना कोई दूसरा हितकर उपाय नहीं है ' इत्यादि, पवित्र आत्मासे विचार करनेपर वैराग्यको शुद्ध और निश्चल करता है। जो कोई जीव यथार्थ विचारसे देखता है, उसे इसी प्रकारसे माछूम होता है।

इस जीवको देह-संबंध हो जानेके बाद यदि मृत्यु न होती, तो इस संसारके सिवाय दूसरी जगह उसकी वृत्तिके लगानेकी इच्छा ही न होती। मुख्यतया मृत्युके भयसे ही परमार्थरूप दूसरे स्थानमें जीवने वृत्तिको प्रेरित किया है, और वह भी किसी विरले जीवको ही प्रेरित हुई है। बहुतसे जीवोंको तो बाह्य निमित्तसे मृत्यु-भयके ऊपरसे बाह्य क्षणिक वैराग्य प्राप्त होकर, उसके विशेष कार्यकारी हुए विना ही, वह वृत्ति नाश हो जाती है। मात्र किसी किसी विचारवान अथवा सुलभ-बोधी या लघुकर्मी जीवको ही उस भयके ऊपरसे अविनाशी निःश्रेयस पदके प्रति वृत्ति होती है।

मृत्यु-भय होता, तो भी यदि वह मृत्यु नियमितरूपसे वृद्धावस्थामें ही प्राप्त होती, तो भी जितने पूर्वमें विचारवान हो गये हैं, उतने न होते; अर्थात् वृद्धावस्थातक तो मृत्यु-भय है ही नहीं, ऐसा समझकर जीव प्रमादसहित ही प्रवृत्ति करता। मृत्युका अवश्य आगमन देखकर, उसका अनियतरूपसे आगमन देखकर, उस प्रसंगके प्राप्त होनेपर स्वजन आदि सबसे अपना अरक्षण देखकर, परमार्थके विचार करनेमें अप्रमत्तभाव ही हितकर माछूम हुआ है, और सर्वसंग अहितकार माछूम हुआ है। विचारवान पुरुषोंको वह निश्चय निःसन्देह सत्य है—तीनों कालमें सत्य है। मूर्च्छाभावके खेदका त्याग कर विचारवानको असंगभाव-प्रत्ययी खेद करना चाहिये।

यदि इस संसारमें इस प्रकारके प्रसंग न हुआ करते, अपनेको अथवा परको वैसे प्रसंगोंकी अप्राप्ति दिखाई दी होती, अशरण आदि भाव न होता, तो पंचविषयके सुख-साधनकी जिन्हें प्रायः कुछ भी न्यूनता न थी ऐसे श्रीऋषभदेव आदि परमपुरुष, और भरत जैसे चक्रवर्ती आदि उसका क्यों त्याग करते? एकान्त असंगभावका वे किस कारणसे सेवन करते?

हे आर्य माणेकचंद आदि! यथार्थ विचारकी न्यूनताके कारण, पुत्र आदि भावकी कल्पना और मूर्च्छाके कारण तुम्हें कुछ भी विशेष खेद प्राप्त होना संभव है, तो भी उस खेदका दोनोंको कुछ भी हितकारी फल न होनेसे, मात्र असंग विचारके विना किसी दूसरे उपायसे हितकारीपना नहीं है, ऐसा विचारकर, होते हुए खेदको यथाशक्ति विचारसे, ज्ञानी-पुरुषोंके वचनामृतसे, तथा साधु पुरुषके आश्रय समागम आदिसे और विरतिसे उपशांत करना ही कर्तव्य है।

---

५९५ मोहमयी, द्वितीय ज्येष्ठ सुदी २ शनि. १९५२

ॐ

जिस हेतुसे अर्थात् शारीरिक रोगविशेषके कारण तुम्हारे नियममें छूट थी, वह रोगविशेष रहता है, इससे उस छूटको ग्रहण करते हुए आज्ञाका भंग अथवा अतिक्रम होना संभव नहीं। क्योंकि तुम्हारा नियम उसी प्रकारसे प्रारंभ हुआ था। किन्तु वही कारणविशेष होनेपर भी यदि अपनी इच्छासे उस छूटका ग्रहण करना हो तो आज्ञाका भंग अथवा अतिक्रम होना संभव है।

सर्व प्रकारके आरंभ तथा परिग्रहके संबंधके मूलका छेदन करनेके लिये समर्थ ब्रह्मचर्य परम साधन है।

आश्रय लिया है, और आज्ञाश्रितभाव अथवा परमपुरुष, सद्गुरुमें, सर्वार्पण-स्वाधीनभावको शिरसे वंदनीय माना है, और वैसे ही प्रवृत्ति की है। किन्तु वैसा योग प्राप्त होना चाहिये, नहीं तो जिसका चिंतामणिके समान एक एक समय है, ऐसी मनुष्य-देहका, उल्टा परिभ्रमणकी वृद्धिका ही हेतु होना संभव है।

५९८

ॐ

श्री....के अभिप्रायपूर्वक तुम्हारा लिखा हुआ पत्र तथा श्री....का लिखा हुआ पत्र मिला है। श्री....के अभिप्रायपूर्वक श्री....ने लिखा है कि निश्चय और व्यवहारकी अपेक्षासे ही जिनागम तथा वेदांत आदि दर्शनमें वर्तमान कालमें इस क्षेत्रसे मोक्षका निषेध तथा विधानका कहा जाना संभव है—यह विचार विशेष अपेक्षासे यथार्थ दिखाई देता है, और........ने लिखा है कि वर्तमान कालमें संघयण आदिके हीन होनेके कारणसे केवलज्ञानका जो निषेध किया है, वह भी अपेक्षित है।

यहाँ विशेषार्थके लक्षमें आनेके लिये गत पत्रके प्रश्नको कुछ स्पष्टरूपसे लिखते हैं:—

जिस प्रकार जिनागममें केवलज्ञानका अर्थ वर्तमानमें, वर्तमान जैनसमूहमें प्रचलित है, उसी तरहका उसका अर्थ तुम्हें यथार्थ मालूम होता है या कुछ दूसरा अर्थ मालूम होता है ? सर्व देश काल आदिका ज्ञान केवलज्ञानीको होता है, ऐसा जिनागमका वर्तमानमें रूढि-अर्थ है। दूसरे दर्शनोंमें यह मुख्यार्थ नहीं है, और जिनागममें वैसा मुख्य अर्थ लोगोंमें वर्तमानमें प्रचलित है। यदि यही केवलज्ञानका अर्थ हो तो उसमें बहुतसा विरोध दिखाई देता है। उस सबको यहाँ लिख सकना नहीं बन सकता। तथा जिस विरोधको लिखा है, उसे भी विशेष विस्तारसे लिखना नहीं बना। क्योंकि उसे यथावसर ही लिखना योग्य मालूम होता है। जो लिखा है, वह उपकार दृष्टिसे लिखा है, यह लक्ष रखना।

योगधारीपना अर्थात् मन वचन और कायासहित स्थिति होनेसे, आहार आदिके लिये प्रवृत्ति होते समय उपयोगान्तर हो जानेसे, उसमें कुछ भी वृत्तिका अर्थात् उपयोगका निरोध होना संभव है। एक समयमें किसीके दो उपयोग नहीं रहते, जब यह सिद्धान्त है, तो आहार आदिकी प्रवृत्तिके उपयोगमें रहता हुआ केवलज्ञानीका उपयोग केवलज्ञानके ज्ञेयके प्रति रहना संभव नहीं, और यदि ऐसा हो तो केवलज्ञानको जो अप्रतिहत कहा है, वह प्रतिहत हुआ माना जाय। यहाँ कदाचित् ऐसा समाधान करें कि 'जैसे दर्पणमें पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे ही केवलज्ञानमें सर्व देश काल प्रतिबिम्बित होते हैं। तथा केवलज्ञानी उनमें उपयोग लगाकर उन्हें जानता है, यह बात नहीं है, किन्तु सहज स्वभावसे ही वे पदार्थ प्रतिभासित हुआ करते हैं, इसलिये आहार आदिमें उपयोग रहते हुए सहज स्वभावसे प्रतिबिम्बित ऐसे केवलज्ञानका अस्तित्व यथार्थ है,' तो यहाँ प्रश्न हो सकता है कि दर्पणमें प्रतिबिम्बित पदार्थोंका ज्ञान दर्पणको नहीं होता, और यहाँ तो ऐसा कहा है कि केवलज्ञानीको उन पदार्थोंका ज्ञान होता है; तथा उपयोगके सिवाय आत्माका ऐसा कौनसा दूसरा स्वरूप है कि जब आहार आदिमें उपयोग रहता हो, तब उससे केवलज्ञानमें प्रतिबिम्बित होने योग्य ज्ञेयको आत्मा जान सके ?

६०१

तीनों कालमें जो वस्तु जात्यंतर न हो, उसे श्रीजिन द्रव्य कहते हैं।

कोई भी द्रव्य पर परिणामसे परिणमन नहीं करता—अपनेपनका त्याग नहीं कर सकता।

प्रत्येक द्रव्य (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे) स्व-परिणामी है।

वह नियत अनादि मर्यादारूपसे रहता है।

जो चेतन है, वह कभी अचेतन नहीं होता; जो अचेतन है, वह कभी चेतन नहीं होता।

६०२

हे योग,

६०३

चेतनकी उत्पत्तिके कुछ भी संयोग दिखाई नहीं देते, इस कारण चेतन अनुत्पन्न है। उस चेतनके नाश होनेका कोई अनुभव नहीं होता, इसलिये वह अविनाशी है। नित्य अनुभवस्वरूप होनेसे वह नित्य है।

प्रति समय परिणामांतर प्राप्त करनेसे वह अनित्य है।

निजस्वरूपका त्याग करनेके लिये असमर्थ होनेसे वह मूल द्रव्य है।

६०४

सबकी अपेक्षा वीतरागके वचनको सम्पूर्ण प्रतीतिका स्थान कहना योग्य है; क्योंकि जहाँ राग आदि दोषोंका सम्पूर्ण क्षय हो वहीं सम्पूर्ण ज्ञान-स्वभाव नियमसे प्रगट होने योग्य है।

श्रीजिनको सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट वीतरागता होना संभव है। उनके वचन प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, इसलिये जिस किसी पुरुषको जितने अंशमें वीतरागता संभव है, उतने ही अंशमें उस पुरुषका वाक्य माननीय है।

सांख्य आदि दर्शनोंमें बंध-मोक्षकी जो जो व्याख्या कही है, उससे प्रबल प्रमाण-सिद्ध व्याख्या श्रीजिन वीतरागने कही है, ऐसा मानता हूँ।

शंका:—जिस जिनभगवान्‌ने द्वैतका निरूपण किया है, आत्माको खंड द्रव्यकी तरह बताया है, कर्ता भोक्ता कहा है, और जो निर्विकल्प समाधिके अंतरायमें मुख्य कारण हो ऐसी दर्शनकी व्याख्या कही है, उस जिनभगवान्‌की शिक्षा प्रबल प्रमाणसे सिद्ध है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है? केवल अद्वैत और सहज निर्विकल्प समाधिके कारणभूत ऐसे वेदान्त आदि मार्गोंका उससे अपेक्षा अधिक ही विशेष प्रमाणसे सिद्ध होना संभव है।

उत्तर:—एक बार जैसे तुम कहते हो वैसे यदि मान भी लें, परन्तु सब दर्शनोंकी शिक्षाकी

लोकसंस्थानके सदा एक स्वरूपसे रहनेमें क्या कुछ रहस्य है ?

एक तारा भी घट-बढ़ नहीं होता, ऐसी अनादि स्थितिको किस कारणसे मानना चाहिये ?

शाश्वतताकी व्याख्या क्या है ? आत्मा अथवा परमाणुको कदाचित् शाश्वत माननेमें मूल द्रव्य कारण है; परन्तु तारा, चन्द्र, विमान आदिमें वैसा क्या कारण है ?

६०७

सिद्ध-आत्मा लोकालोक-प्रकाशक है, परन्तु लोकालोक-व्यापक नहीं है, व्यापक तो अपनी अवगाहना प्रमाण ही है—जिस मनुष्यदेहसे सिद्धि प्राप्त की, उसका तीसरा भाग कम घन-प्रदेशाकार है; अर्थात् आत्मद्रव्य लोकालोक-व्यापक नहीं, किन्तु लोकालोक-प्रकाशक अर्थात् लोकालोक-ज्ञायक है। लोकालोकके प्रति आत्मा नहीं जाती, और लोकालोक भी कुछ आत्मामें नहीं आता, सब अपनी अपनी अवगाहनामें अपनी अपनी सत्तासे मौजूद हैं; वैसा होनेपर भी आत्माको उसका ज्ञान-दर्शन किस तरह होता है ?

यहाँ यदि दृष्टांत दिया जाय कि जिस तरह दर्पणमें वस्तु प्रतिबिम्बित होती है, वैसे ही आत्मामें भी लोकालोक प्रकाशित होता है—प्रतिबिम्बित होता है, तो यह समाधान भी अविरोधी दिखाई नहीं देता, क्योंकि दर्पणमें तो विस्रसा-परिणामी पुद्गल-राशिसे प्रतिबिम्ब होता है।

आत्माका अगुरुलघु धर्म है, उस धर्मके देखते हुए आत्मा सब पदार्थोंको जानती है, क्योंकि समस्त द्रव्योंमें अगुरुलघु गुण समान है—ऐसा कहनेमें आता है, तो अगुरुलघु धर्मका क्या अर्थ समझना चाहिये ?

६०८

वर्तमान कालकी तरह यह जगत् सर्वकालमें है।

वह पूर्वकालमें न हो तो वर्तमान कालमें भी उसका अस्तित्व न हो।

यह वर्तमान कालमें है तो भविष्यकालमें भी उसका अत्यंत नाश नहीं हो सकता।

पदार्थमात्रके परिणामी होनेसे यह जगत् पर्यायान्तररूपसे दृष्टिगोचर होता है, परन्तु मूल-स्वभावसे उसकी सदा ही विद्यमानता है।

६०९

जो वस्तु समयमात्रके लिये है, वह सर्वकालके लिये है।

जो भाव है वह मौजूद है, जो भाव नहीं वह मौजूद नहीं।

दो प्रकारका पदार्थ स्वभाव विभागपूर्वक स्पष्ट दिखाई देता है—जड़-स्वभाव और चेतन-स्वभाव।

६१०

गुणातिशयता किसे कहते हैं ? उसका किस तरह आराधन किया जा सकता है ?

केवलज्ञानमें अतिशयता क्या है ? तीर्थंकरमें अतिशयता क्या है ? विशेष हेतु क्या है ?

अमूर्तता कोई वस्तु है या अवस्तु ?

अमूर्तता यदि कोई वस्तु है तो वह कुछ स्थूल है या नहीं ?

मूर्त पुद्गलका और अमूर्त जीवका संयोग कैसे हो सकता है ?

धर्म, अधर्म और जीव द्रव्यका क्षेत्र-व्यापित्व जिस प्रकारसे जिनभगवान् कहते हैं, उस प्रकार माननेसे वे द्रव्य उत्पन्न-स्वभावीकी तरह सिद्ध होते हैं, क्योंकि उनका मध्यम-परिणामीपना है।

धर्म, अधर्म और आकाश इन पदार्थोंकी द्रव्यरूपसे एक जाति, और गुणरूपसे भिन्न भिन्न जाति मानना ठीक है, अथवा द्रव्यत्वको भी भिन्न भिन्न मानना ही ठीक है।

द्रव्य किसे कहते हैं ? गुण-पर्यायके बिना उसका दूसरा क्या स्वरूप है ?

केवलज्ञान यदि सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका ज्ञायक ठहरे तो सब वस्तुएँ नियत मर्यादामें आ जाँय—उनकी अनंतता सिद्ध न हो, क्योंकि उनका अनंत-अनादिपना समझमें नहीं आता; अर्थात् केवलज्ञानमें उनका किस रीतिसे प्रतिभास हो सकता है ? उसका विचार बराबर ठीक ठीक नहीं बैठता।

६१४

जैनदर्शन जिसे सर्वप्रकाशकता कहता है, वेदान्त उसे सर्वव्यापकता कहता है।

दृष्ट वस्तुके ऊपरसे अदृष्टका विचार खोज करने योग्य है।

जिनभगवान्‌के अभिप्रायसे आत्माको स्वीकार करनेसे यहाँ लिखे हुए प्रसंगोंके ऊपर अधिक विचार करना चाहियेः—

१. असंख्यात प्रदेशका मूल परिमाण.

२. संकोच-विकासवाली जो आत्मा स्वीकार की है, वह संकोच विकास क्या अरूपीमें हो सकता है ? तथा वह किस प्रकार हो सकता है ?

३. निगोद अवस्थाका क्या कुछ विशेष कारण है ?

४. सर्व द्रव्य क्षेत्र आदिकी जो प्रकाशकता है, आत्मा तद्रूप केवलज्ञान-स्वभावी है, या निज-स्वरूपमें अवस्थित निजज्ञानमय ही केवलज्ञान है ?

५. आत्मामें योगसे विपरिणाम है, स्वभावसे विपरिणाम है। विपरिणाम आत्माकी मूल सत्ता है, संयोगी सत्ता है। उस सत्ताका कौनसा द्रव्य मूल कारण है ?

६. चेतन हीनाधिक अवस्थाको प्राप्त करे, उसमें क्या कुछ विशेष कारण है ? निज स्वभावका ? पुद्गल संयोगका ? अथवा उससे कुछ भिन्न ही ?

७. जिस तरह मोक्ष-पदमें आत्मभाव प्रगट हो उस तरह मूल द्रव्य मानें, तो आत्माके लोक-व्यापक-प्रमाण न होनेका क्या कारण है ?

८. ज्ञान गुण है और आत्मा गुणी है, इस सिद्धांतको घटाते हुए आत्माको ज्ञानसे कथंचित् भिन्न किस अपेक्षासे मानना चाहिये ? जड़त्वभावसे अथवा अन्य किसी गुणकी अपेक्षासे ?

यदि जिनसम्मत केवलज्ञानको लोकालोक-ज्ञायक मानें तो उस केवलज्ञानमें आहार, निहार, विहार आदि क्रियायें किस तरह हो सकती हैं ?

वर्तमानमें उसकी इस क्षेत्रमें प्राप्ति न होनेका क्या हेतु है ?

६११

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव, परमावधि, केवल.

६१२

परमावधि ज्ञानके उत्पन्न होनेके पश्चात् केवलज्ञान उत्पन्न होता है, यह रहस्य विचार करने योग्य है।

अनादि अनंत कालका, अनंत अलोकका—गणितसे अतीत अथवा असंख्यातसे पर ऐसे जीव-समूह, परमाणुसमूहके अनंत होनेपर; अनंतपनेका साक्षात्कार हो उस गणितातीतपनेके होनेपर—साक्षात् अनंतपना किस तरह जाना जा सकता है ? इस विरोधका परिहार ऊपर कहे हुए रहस्यसे होने योग्य माद्रम होता है।

तथा केवलज्ञान निर्विकल्प है, उसमें उपयोगका प्रयोग करना पड़ता नहीं। सहज उपयोगसे ही वह ज्ञान होता है; यह रहस्य भी विचार करने योग्य है।

क्योंकि प्रथम सिद्ध कौन है ? प्रथम जीव-पर्याय कौनसी है ? प्रथम परमाणु-पर्याय कौनसी है ? यह केवलज्ञान-गोचर होनेपर भी अनादि ही माद्रम होता है। अर्थात् केवलज्ञान उसके आदिको नहीं प्राप्त करता, और केवलज्ञानसे कुछ छिपा हुआ भी नहीं है, ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। उनका समाधान परमावधिके विचारसे तथा सहज उपयोगके विचारसे समझमें आने योग्य दृष्टिगोचर होता है।

यवा जीवके दोषसे है ?

जिस प्रकारसे समझते हो ता, ऐसा सिद्ध होता है; इसलिये

मोक्ष-पदकी हानि होती है। उस

ॐ

प्रश्नः—' श्रीसहजानंदके वचनामृतमें आत्मस्वरूपके साथ अहर्निश प्रत्यक्ष भगवान्की भक्ति करना, और उस भक्तिको स्वधर्ममें रहकर करना, इस तरह जगह जगह मुख्यरूपसे बात आती है। अब यदि ' स्वधर्म ' शब्दका अर्थ ' आत्मस्वभाव ' अथवा ' आत्मस्वरूप ' होता हो तो फिर स्वधर्मसहित भक्ति करना, यह कहनेका क्या कारण है ? ' ऐसा जो तुमने लिखा उसका उत्तर यहाँ लिखा है:—

उत्तरः—स्वधर्ममें रहकर भक्ति करना, ऐसा जो कहा है, वहाँ स्वधर्म शब्दका अर्थ वर्णाश्रमधर्म है। जिस ब्राह्मण आदि वर्णमें देह उत्पन्न हुई हो, उस वर्णकी श्रुति-स्मृतिमें कहे हुए धर्मका आचरण करना, यह वर्णधर्म है; और ब्रह्मचर्य आदि आश्रमके क्रमसे आचरण करनेकी जो मर्यादा श्रुति-स्मृतिमें कही गई है, उस मर्यादासहित उस उस आश्रममें प्रवृत्ति करना, यह आश्रमधर्म है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं; तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यस्त ये चार आश्रम हैं। ब्राह्मण वर्णमें वर्ण-धर्मका आचरण इस तरह करना चाहिये, ऐसा जो श्रुति-स्मृतिमें कहा हो, उसके अनुसार ब्राह्मण आचरण करे तो वह स्वधर्म कहा जाता है, और यदि उस प्रकार आचरण न करते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिके आचरण करने योग्य धर्मका आचरण करे, तो वह परधर्म कहा जाता है। इस प्रकार जिस जिस वर्णमें देह धारण की हो, उस उस वर्णकी श्रुति-स्मृतिमें कहे हुए धर्मके अनुसार प्रवृत्ति करना, यह स्वधर्म कहा जाता है; और यदि दूसरे वर्णके धर्मका आचरण किया जाय तो वह परधर्म कहा जाता है।

यही बात आश्रमधर्मके विषयमें भी है। जिन वर्णोंको श्रुति-स्मृतिमें ब्रह्मचर्य आदि आश्रम-सहित प्रवृत्ति करनेके लिये कहा है, उस वर्णमें प्रथम चौबीस वर्षतक गृहस्थाश्रममें रहना, तत्पश्चात् क्रमसे वानप्रस्थ और सन्यस्त आश्रममें आचरण करना, इस तरह आश्रमका सामान्य क्रम है, उस उस आश्रममें आचरण करनेकी मर्यादाके समयमें यदि कोई दूसरे आश्रमके आचरणको ग्रहण करे तो यह परधर्म कहा जाता है; और यदि उस उस आश्रममें उस उस आश्रमके धर्मोंका आचरण करे तो वह स्वधर्म कहा जाता है। इस तरह वेदाश्रित मार्गमें वर्णाश्रमधर्मको स्वधर्म कहा है। उस वर्णाश्रम-धर्मको ही स्वधर्म शब्दसे समझना चाहिये, अर्थात् सहजानंदस्वामीने यहाँ वर्णाश्रमधर्मको ही स्वधर्म शब्दसे कहा है।

भक्तिप्रधान संप्रदायोंमें प्रायः भगवद्भक्ति करना ही जीवका स्वधर्म है, ऐसा प्रतिपादन किया है; परन्तु यहाँ उस अर्थमें स्वधर्म शब्दको नहीं कहा। क्योंकि भक्तिको स्वधर्ममें रहकर ही करना चाहिये, ऐसा कहा है। इसलिये स्वधर्मको जुदारूपसे ग्रहण किया है, और उसे वर्णाश्रमधर्मके अर्थमें ही ग्रहण किया है। जीवका स्वधर्म भक्ति है, यह बतानेके लिये तो भक्ति शब्दके बदले क्वचित् ही इन संप्रदायोंमें स्वधर्म शब्दका प्रयोग किया गया है; और श्रीसहजानन्दके वचनामृतमें भक्तिके बदले स्वधर्म शब्द संज्ञा-वाचकरूपसे भी प्रयुक्त नहीं किया, हाँ कहीं कहीं श्रीवल्लभाचार्यने तो यह प्रयोग किया है।

इस आमामें गुणका विशेष प्राकट्य समझकर, तुम सब किन्हीं मुमुक्षु भाईयोंकी भक्ति रहती हो तो भी उससे उस भक्तिकी योग्यता मेरे विषयमें संभव है, ऐसा समझनेकी योग्यता मेरी नहीं है।

यहाँ एक प्रार्थना कर देना योग्य है कि इस आमामें तुम्हें गुणका प्राकट्य भासमान होता हो और उससे अंतरमें भक्ति रहती हो, तो उस भक्तिका यथायोग्य विचारकर जैसे तुम्हें योग्य मालूम हो वैसा करना योग्य है। परन्तु इस आमाके संबंधमें हालमें बाहर किसी प्रसंगकी चर्चा होने देना योग्य नहीं। क्योंकि अविरतिरूप उदय होनेसे गुणका प्राकट्य हो, तो भी वह लोगोंको भासमान होना कठिन पड़े, और उससे उसकी विराधना होनेका कुछ भी कारण होना संभव है; तथा इस आमाद्वारा पूर्व महापुरुषके क्रमका खंडन करनेके समान कुछ भी प्रवृत्तिका समझा जाना संभव है।

---

६२४ बम्बई, श्रावण सुदी ५ शुक्र. १९५२

ॐ

१. प्रश्नः—जिनागममें धर्मास्तिकाय आदि छह द्रव्य कहे गये हैं, उनमें कालको भी द्रव्य कहा है; और अस्तिकाय पाँच कहे हैं, कालको अस्तिकाय नहीं कहा—इसका क्या कारण होना चाहिये? कदाचित् कालको अस्तिकाय न कहनेमें यह हेतु हो सकता है कि धर्मास्तिकाय आदि प्रदेशके समूहरूप हैं, और पुद्गल-परमाणु भी वैसी ही योग्यतावाला द्रव्य है, और काल वैसा नहीं है। वह मात्र एक समयरूप है, उससे कालको अस्तिकाय नहीं कहा। यहाँ ऐसी आशंका होती है कि एक समयके बाद दूसरी फिर तीसरी इस तरह समयकी धारा चलती ही रहती है, और उस धाराके बीचमें अवकाश नहीं होता, उससे एक दूसरे समयका संबंध अथवा समूहात्मकपना होना संभव है, जिससे काल भी अस्तिकाय कहा जा सकता है। तथा सर्वज्ञको तीन कालका ज्ञान होता है, ऐसा जो कहा है, उससे भी ऐसा मालूम होता है कि सर्व काल-समूह ज्ञान-गोचर होता है, और सर्व समूह ज्ञान-गोचर होता हो तो कालका अस्तिकाय होना संभव है, और जिनागममें उसे अस्तिकाय माना नहीं!

उत्तरः—जिनागमकी प्ररूपणा है कि काल औपचारिक द्रव्य है, स्वाभाविक द्रव्य नहीं।

जो पाँच अस्तिकाय कहे हैं, मुख्यरूपसे उनकी वर्तनाका नाम ही काल है। उस वर्तनाका दूसरा नाम पर्याय भी है। जैसे धर्मास्तिकाय एक समयमें असंख्यात प्रदेशके समूहरूप मालूम होता है, वैसे काल समूहरूपसे मालूम नहीं होता। जब एक समय रहकर नष्ट हो जाता है, तब दूसरा समय उत्पन्न होता है। वह समय द्रव्यकी वर्तनाका सूक्ष्मसे सूक्ष्म भाग है।

सर्वज्ञको सर्व कालका ज्ञान होता है, ऐसा जो कहा है, उसका मुख्य अर्थ तो यह है कि उन्हें पंचास्तिकाय द्रव्य-पर्यायरूपसे ज्ञानगोचर होते हैं, और सर्व पर्यायका जो ज्ञान है, वही सर्व कालका ज्ञान कहा गया है। एक समयमें सर्वज्ञ भी एक समयको ही मौजूद देखते हैं, और भूतकाल अथवा भावीकालको मौजूद नहीं देखते। यदि वे इन्हें भी मौजूद देखें तो वह भी वर्तमानकाल ही कहा जाय।

६२७

कम्मदव्वेहिं समं, संजोगो जो होई जीवस्स ।
सो बंधो णायव्वो, तस्स वियोगो भवमोक्खो ।[१]

६२८

बम्बई, श्रावण १९५१

ॐ

पंचास्तिकायका संक्षिप्त स्वरूप कहा है:—

जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच अस्तिकाय कहे जाते हैं ।

अस्तिकाय अर्थात् प्रदेशसमूहात्मक वस्तु । एक परमाणु प्रमाण अमूर्त वस्तुके भागको प्रदेश कहते हैं । जो वस्तु अनेक प्रदेशात्मक हो उसे अस्तिकाय कहते हैं ।

एक जीव असंख्यात प्रदेश प्रमाण है ।

पुद्गल-परमाणु यद्यपि एक प्रदेशात्मक है, परन्तु दो परमाणुओंसे लगाकर असंख्यात, अनंत परमाणु एकत्र हो सकते हैं । इस तरह उसमें परस्पर मिलनेकी शक्ति रहनेसे वह अनंत प्रदेशात्मकता प्राप्त कर सकता है, जिससे वह भी अस्तिकाय कहे जाने योग्य है ।

धर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेश प्रमाण, अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेश प्रमाण, और आकाश द्रव्य अनंत प्रदेश प्रमाण होनेसे, वे भी अस्तिकाय हैं । इस तरह पाँच अस्तिकाय हैं । इन पाँच अस्तिकायके एकमेकरूप स्वभावसे इस लोककी उत्पत्ति है, अर्थात् लोक इन पाँच अस्तिकायमय है ।

प्रत्येक जीव असंख्यात प्रदेश प्रमाण है । वे जीव अनंत हैं ।

एक परमाणुके समान अनंत परमाणु हैं । दो परमाणुओंके एकत्र मिलनेसे अनंत द्वि-अणुक स्कंध होते हैं, तीन परमाणुओंके एकत्र सम्मिलित होनेसे अनंत त्रि-अणुक स्कंध होते हैं । चार परमाणुओंके एकत्र सम्मिलित होनेसे अनंत चार-अणुक स्कंध होते हैं । पाँच परमाणुओंके एकत्र सम्मिलित होनेसे अनंत पाँच-अणुक स्कंध होते हैं । इसी तरह छह परमाणु, सात परमाणु, आठ परमाणु, नौ परमाणु, दस परमाणुओंके एकत्र सम्मिलित होनेसे ऐसे अनंत स्कंध होते हैं । इसी तरह ग्यारह परमाणुसे सौ परमाणु, संख्यात परमाणु असंख्यात परमाणु, तथा अनंत परमाणुओंसे मिलकर बने हुए ऐसे अनंत स्कंध होते हैं ।

धर्म द्रव्य एक है, वह असंख्यात प्रदेश प्रमाण लोक-व्यापक है ।

अधर्म द्रव्य एक है, वह भी असंख्यात प्रदेश प्रमाण लोक-व्यापक है ।

आकाश द्रव्य एक है, वह अनंत प्रदेश प्रमाण है, वह लोकालोक-व्यापक है । लोक प्रमाण आकाश असंख्यात प्रदेशात्मक है ।

---

१ जीवके कर्मके साथ संयोग होनेको बंध, और उसके वियोग होनेको मोक्ष कहते हैं ।

६३० काविठा, श्रावण वदी १९५२

शरीर किसका है ? मोहका है। इसलिये असंग भावना रखना योग्य है।

---

६३१ राळज, श्रावण वदी १२ शनि. १९५२

ॐ

१. प्रश्नः—अमुक पदार्थके गमनागमन आदिके प्रसंगमें धर्मास्तिकाय आदिके अमुक प्रदेशमें ही क्रिया होती है; और यदि इस तरह हो तो उनमें विभाग होना संभव है, जिससे वे भी कालके समयकी तरह अस्तिकाय नहीं कहे जा सकते ?

उत्तरः—जिस तरह धर्मास्तिकाय आदिके सर्व प्रदेश एक समयमें वर्तमान हैं, अर्थात् विद्यमान हैं, उसी तरह कालके सर्व समय कुछ एक समयमें विद्यमान नहीं होते, और फिर द्रव्यकी वर्तना पर्यायके सिवाय कालका कोई जुदा द्रव्यत्व नहीं है, जिससे उसका अस्तिकाय होना संभव हो। अमुक प्रदेशमें धर्मास्तिकाय आदिमें क्रिया हो, और अमुक प्रदेशमें न हो, इससे कुछ उसके अस्तिकाय होनेका भंग नहीं होता। यह द्रव्य केवल एक प्रदेशात्मक हो और उसमें समूहात्मक होनेकी योग्यता न हो, तो ही उसके अस्तिकाय होनेका भंग हो सकता है, अर्थात् तो ही वह अस्तिकाय नहीं कहा जा सकता। परमाणु एक प्रदेशात्मक है, तो भी उस तरहके दूसरे परमाणु मिलकर वह समूहात्मक होता है, इसलिये वह अस्तिकाय (पुद्गलास्तिकाय) कहा जाता है। तथा एक परमाणुमें भी अनन्त पर्यायात्मकपना है, और कालके एक समयमें कुछ अनंत पर्यायात्मकपना नहीं है, क्योंकि वह स्वयं ही वर्तमान एक पर्यायरूप है। एक पर्यायरूप होनेसे वह द्रव्यरूप नहीं ठहरता, तो फिर उसे अस्तिकायरूप माननेका विकल्प करना भी संभव नहीं है।

२. मूल अप्कायिक जीवोंका स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म होनेसे, सामान्य ज्ञानसे उसका विशेषरूपसे ज्ञान होना कठिन है, तो भी षड्दर्शनसमुच्चय ग्रन्थमें, जो हालमें ही प्रसिद्ध हुआ है, १४१ से १४२ पृष्ठतक उसका कुछ स्वरूप समझाया गया है। उसका विचारना हो सके तो विचार करना।

३. अग्नि अथवा दूसरे बलवान शस्त्रसे अप्कायिक मूल जीवोंका नाश हो जाना संभव है, ऐसा समझनेमें आता है। यहाँसे भाप आदिरूप होकर जो पानी ऊपर आकाशमें बादलरूपसे एकत्रित होता है, वह भाप आदिरूप होनेसे अचित्त मालूम होता है, परन्तु बादलरूप होनेसे वह फिरसे सचित्त हो जाता है। वर्षा आदिरूपसे जमीनपर पड़नेपर भी वह सचित्त हो जाता है। मिट्टी आदिके साथ मिलनेसे भी वह सचित्त रह सकता है। सामान्यरूपसे मिट्टी अग्निके समान बलवान शस्त्र नहीं है, इसलिये वैसा हो तो भी उसका सचित्त रहना संभव है।

४. बीज जबतक बोनेसे उगनेकी योग्यता रखता है, तबतक निर्जीव नहीं होता, वह सजीव ही कहा जाता है। अमुक अवधिके पश्चात् अर्थात् सामान्यरूपसे बीज (अन्न आदिका) अमुक वर्षतक सजीव रह सकता है। इसके बीचमें उसमेंसे जीव च्युत भी हो सकता है, परन्तु उस अवधिके

काल द्रव्य इन पाँच अस्तिकायोंकी वर्तना पर्याय है, अर्थात् वह औपचारिक द्रव्य है। वस्तुतः तो वह पर्याय ही है। और पल विपलसे लगाकर वर्षादि पर्यंत जो काल सूर्यकी गतिकी ऊपरसे समझा जाता है, वह व्यावहारिक काल है, ऐसा श्वेताम्बर आचार्य कहते हैं। दिगम्बर आचार्य भी ऐसा ही कहते हैं, किन्तु वे इतना विशेष कहते हैं कि लोकाकाशके एक एक प्रदेशमें एक एक कालाणु विद्यमान है, जो अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श है, अगुरुलघु स्वभावसे युक्त है। वे कालाणु वर्तना पर्याय और व्यावहारिक कालके निमित्तोपकारी हैं। वे कालाणु द्रव्य कहे जाने योग्य हैं, परन्तु अस्तिकाय कहे जाने योग्य नहीं। क्योंकि एक दूसरेसे मिलकर वे अणु, क्रियाकी प्रवृत्ति नहीं करते; जिससे बहुप्रदेशात्मक न होनेसे काल द्रव्यको अस्तिकाय कहना ठीक नहीं; और पंचास्तिकायके विवेचनमें भी उसका गौण स्वरूप कहा है।

आकाश अनंत प्रदेश प्रमाण है। उसमें असंख्यात प्रदेश-प्रमाणमें धर्म अधर्म द्रव्य व्यापक है। धर्म अधर्म द्रव्यका यह स्वभाव है कि जीव और पुद्गल उसकी सहायताके निमित्तसे गति और स्थिति कर सकते हैं; जिससे धर्म अधर्म द्रव्यकी व्यापकतातक ही जीव और पुद्गलकी गति-स्थिति है, और उससे लोककी मर्यादा होती है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और द्रव्यप्रमाण आकाश ये पाँच द्रव्य जहाँ व्यापक हैं, वह लोक कहा जाता है

तुमको बाह्य क्रिया आदिके कितने ही कारणोंसे विशेष विधि-निषेधका लक्ष देखकर हमें खेद होता था कि इसमें काल व्यतीत होनेसे आत्मावस्था कितनी स्वरूप स्थितिको सेवन करती है, और वह किस यथार्थ स्वरूपका विचार कर सकती है कि तुम्हें उसका इतना अधिक परिचय खेदका कारण मालूम नहीं होता ! सहजमात्र ही जिसमें उपयोग लगाया हो तो वह किसी तरह ठीक कहा जा सकता है, परन्तु उसमें जो लगभग जागृति-कालका अधिक भाग व्यतीत होने जैसा होता है, वह किसलिये ! और उसका क्या परिणाम है ! वह क्यों तुम्हारे ध्यानमें नहीं आता ! इस विषयमें क्वचित् कुछ प्रेरणा करनेकी इच्छा हुई है, किन्तु तुम्हारी तथारूप रुचि और स्थिति न देखनेसे प्रेरित करते करते वृत्तिको संकुचित कर लिया है। अभी भी तुम्हारे चित्तमें इस बातको अवकाश देने योग्य अवसर है। लोग अपनेको विचारवान अथवा सम्यग्दृष्टि समझें, केवल उसीसे कल्याण नहीं है, अथवा बाह्य व्यवहारके अनेक विधि-निषेध करनेके माहात्म्यमें भी कुछ कल्याण नहीं है, ऐसा हमें तो लगता है। यह कुछ एकांतिक दृष्टिसे लिखा है अथवा इसमें और कोई हेतु है, इस विचारको छोड़कर जो कुछ उन वचनोंसे अंतर्मुखवृत्ति होनेकी प्रेरणा हो, उसे करनेका विचार रखना ही सुविचार-दृष्टि है।

'लोक-समुदाय कोई भला होनेवाला नहीं है, अथवा स्तुति-निन्दाके प्रयत्नके लिये विचारवानको इस देहकी प्रवृत्ति कर्त्तव्य नहीं है। बाह्य क्रियाकी अंतर्मुखवृत्तिके बिना विधि-निषेधमें कुछ भी वास्तविक कल्याण नहीं है। गच्छ आदिके भेदका निर्वाह करनेमें, नाना प्रकारके विकल्प सिद्ध करनेमें, आत्माको आवरण करनेके बराबर है। अनेकांतिक मार्ग भी सम्यक् एकांत निजपदकी प्राप्ति करानेके सिवाय दूसरे किसी अन्य हेतुसे उपकारक नहीं है,' ऐसा समझकर जो लिखा है, वह केवल अनुकंपा बुद्धिसे, निराग्रहसे, निष्कपटभावसे, अदंभभावसे, और हितके लिये ही लिखा है—यदि तुम यथार्थ विचार करोगे तो वह दृष्टिगोचर होगा, और वह वचनके ग्रहण अथवा प्रेरणाके होनेका कारण होगा।

६३३

राळज, भाद्रपद सुदी ८, १९५२

१. प्रश्नः—प्रायः करके सभी मार्गोंमें मनुष्यभवको मोक्षका एक साधन मानकर उसकी बहुत प्रशंसा किया है, और जीवको जिस तरह वह प्राप्त हो अर्थात् जिससे उसकी वृद्धि हो, उस तरह बहुतसे मार्गोंने उपदेश किया मालूम होता है। जिनोक्त मार्गमें वैसा उपदेश किया मालूम नहीं होता। वेदोक्त मार्गमें 'अपुत्रकी गति नहीं होती,' इत्यादि कारणोंसे तथा चार आश्रमोंका क्रम-पूर्वक विधान करनेसे, जिससे मनुष्यकी वृद्धि हो, वैसा उपदेश किया हुआ दृष्टिगोचर होता है। जिनोक्त मार्गमें उससे उलटा ही देखा जाता है, अर्थात् वैसा न करते हुए, जब कभी भी जीवको वैराग्य हो जाय तो संसारका त्याग कर देना चाहिये—ऐसा उपदेश देखनेमें आता है। इससे बहुतसे लोग गृहस्थाश्रमको ग्रहण किये बिना ही त्यागी हो जाय, और उससे मनुष्यकी वृद्धि रुक जाना [illegible] है, क्योंकि उनके अत्यागमें जो कुछ उनके सन्तानोत्पत्तिकी सम्भावना रहती, वह अब न होगी, और इससे वंशके नाश होने जैसा हो जायगा। इससे दुर्लभ मनुष्यभवको जो मोक्षका साधनरूप माना है, उसकी वृद्धि रुक जाती है, इसलिये जिनमार्गका वैसा अभिप्राय कैसे हो सकता है !

वेदोक्त मार्गमें जो चार आश्रमोंकी व्यवस्था की है, वह एकांतरूपसे नहीं है। वामदेव, शुकदेव, जडभरतजी इत्यादि आश्रमके क्रम बिना ही त्यागरूपसे विचरे हैं। जिनसे वैसा होना अशक्य हो, वे परिणाममें यथार्थ त्याग करनेका लक्ष रखकर आश्रमपूर्वक प्रवृत्ति करें तो यह सामान्य रीतिसे ठीक है, ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु आयुकी ऐसी क्षणभंगुरता है कि वैसा क्रम भी किसी विरलेको ही प्राप्त होनेका अवसर आता है। कदाचित् वैसी आयु प्राप्त हुई भी हो, तो वैसी वृत्तिसे अर्थात् वैसे परिणामसे यथार्थ त्याग हो सके, ऐसा लक्ष रखकर प्रवृत्ति करना तो किसी किसीसे ही बन सकता है।

जिनोक्त मार्गका भी ऐसा एकांत सिद्धांत नहीं कि चाहे जिस अवस्थामें चाहे जिस मनुष्यको त्याग कर देना चाहिये। तथारूप सत्संग और सद्गुरुके योग होनेपर, उस आश्रयसे किसी पूर्वके संस्कारवाला अर्थात् विशेष वैराग्यवान पुरुष, गृहस्थाश्रमके ग्रहण करनेके पहिले ही त्याग कर दे, तो उसे योग्य किया है, ऐसा जिनसिद्धान्त प्रायः कहता है। क्योंकि अपूर्व साधनोंके प्राप्त होनेपर भी भोग आदिके भोगनेके विचारमें पड़ना, और उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करके, अपनेको प्राप्त आत्म साधनको गुमा देने जैसा करना, और अपनेसे जो संतति होगी वह जो मनुष्यदेह पावेगी वह देह मोक्षके साधनरूप होगी, ऐसी मनोरथमात्र कल्पनामें पड़ना, यह मनुष्यभवकी उत्तमता दूर करके उसे पशुवत् करनेके ही समान है।

इन्द्रियाँ आदि जिसकी शांत नहीं हुई, और ज्ञानी-पुरुषकी दृष्टिमें जो अभी त्याग करने योग्य नहीं, ऐसे किसी मंद अथवा मोह-वैराग्यवान जीवको त्याग लेना प्रशस्त ही है, ऐसा जिनसिद्धांत कुछ एकांतसे नहीं है। तथा प्रथमसे ही जिसे उत्तम संस्कारयुक्त वैराग्य न हो, वह पुरुष कदाचित् त्यागका परिणाममें लक्ष रखकर आश्रमपूर्वक आचरण करे, तो उसने एकांतसे भूल ही की है, और उसने त्याग ही किया होता तो उत्तम था, ऐसा भी जिनसिद्धांत नहीं है। केवल मोक्षके साधनका प्रसंग प्राप्त होनेपर उस अवसरको गुमा न देना चाहिये, यही जिनभगवान्‌का उपदेश है।

उत्तम संस्कारवाले पुरुष गृहस्थाश्रम किये बिना ही त्याग कर दें, तो उससे मनुष्यकी वृद्धि रुक जाय, और उससे मोक्ष-साधनके कारण भी रुक जाँय, यह विचार करना अल्प दृष्टिसे ही योग्य मालूम हो सकता है। किन्तु प्रत्यक्ष त्याग-वैराग्यका योग प्राप्त होनेपर मनुष्य देहकी सफलता होनेके लिये उस योगका अप्रमत्तपनेसे, बिना विलम्बके लाभ प्राप्त करना, यह विचार तो पूर्वापर अविरुद्ध और परमार्थ दृष्टिसे ही सिद्ध कहा जा सकता है। आयु सम्पूर्ण होगी, और अपने संतति होगी तो वे अवश्य [illegible] यह निश्चय कर, तथा संतति होगी ही यह मानकर, और यदि उसे [illegible] होगा ऐसे भविष्यकी कल्पना कर, आश्रमपूर्वक प्रवृत्ति करनेको कौन विचारवान [illegible] योग्य समझेगा! अपने अपने वैराग्यमें शिथिलता न हो और ज्ञानी-पुरुष जिसे त्याग करने योग्य समझते हों, उसे दूसरे मनोरथमात्र कल्पनाके अथवा अनिश्चित कारणोंके विचारको छोड़कर, निश्चित और उत्तम उत्तम कारणोंका आश्रय करना, यही उत्तम है, और यही मनुष्यभवकी सार्थकता है; बाकी वृद्धि आदिकी तो केवल कल्पनामात्र है। [illegible] मनुष्यकी वृद्धि [illegible] करने जैसा [illegible] तो यह होना शक्य है।

[illegible] पूर्वोक्त [illegible] एक पुरुषको [illegible], वैसे ही [illegible]

ही संक्षिप्त किया है। परंपरा रूढिके अनुसार लिखा है, फिर भी उसमें जो कुछ कुछ विशेष भेद समझमें आता है, उसे नहीं लिखा। लिखने योग्य न लगनेसे उसे नहीं लिखा। क्योंकि वह भेद केवल विचार मात्र है; और उसमें कुछ उस तरहका उपकार गर्भित हुआ नहीं जान पड़ता।

५. नाना प्रकारके प्रश्नोत्तरोंका लक्ष एक मात्र आत्मार्थके लिये हो, तो आत्माका बहुत उपकार होना संभव हो।

---

६३४ स्तंभतीर्थके पास वड़वा, भाद्र.सुदी ११ गुरु.१९५२

सहजात्मस्वरूपसे यथायोग्य पहुँचे।

तीन पत्र मिले हैं। 'कुछ भी वृत्ति रोकते हुए विशेष अभिमान रहता है'। तथा 'तृष्णाके प्रवाहमें चलनेसे उसमें बह जाते हैं, और उसकी गतिके रोकनेकी सामर्थ्य नहीं रहती,' इत्यादि बातें, तथा 'क्षमापना और कर्कटी राक्षसीके योगवासिष्ठके प्रसंगकी, जगत्‌का भ्रम दूर होनेके लिये, जो विशेषता' लिखी, उसे पढ़ी है। हालमें लिखनेमें विशेष उपयोग नहीं रह सकता, इससे पत्रकी पहुँच भी लिखनेसे रह जाती है। संक्षेपमें उन पत्रोंका उत्तर निम्नरूपसे विचारने योग्य है।

१. वृत्ति आदिकी न्यूनता अभिमानपूर्वक होती हो तो करना योग्य है। विशेषता इतनी है कि उस अभिमानपर निरंतर खेद रखना हो सके तो क्रमपूर्वक वृत्ति आदिकी न्यूनता हो सकती है, और तत्संबंधी अभिमानका भी न्यून होना संभव है।

२. अनेक स्थलोंपर विचारवान पुरुषोंने ऐसा कहा है कि ज्ञान होनेपर काम, क्रोध, तृष्णा आदि भाव निर्मूल हो जाते हैं, वह सत्य है। फिर भी उन वचनोंका ऐसा परमार्थ नहीं है कि ज्ञान होनेके पूर्व वे मन्द न पड़ें अथवा कम न हों। यद्यपि उनका समूल छेदन तो ज्ञानके द्वारा ही होता है, परन्तु जबतक कषाय आदिकी मंदता अथवा न्यूनता न हो तबतक प्रायः करके ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता। ज्ञान प्राप्त होनेमें विचार मुख्य साधन है। और उस विचारके वैराग्य (भोगके प्रति अनासक्ति) तथा उपशम (कषाय आदिकी अत्यन्त मंदता, उसके प्रति विशेष खेद), ये दो मुख्य आधार हैं। ऐसा जानकर उसका निरन्तर लक्ष रखकर वैसी परिणति करना योग्य है।

सत्पुरुषके वचनके यथार्थ ग्रहण किये बिना प्रायः करके विचारका उद्भव नहीं होता। और सत्पुरुषके वचनका यथार्थ ग्रहण—सत्पुरुषकी प्रतीति—यह, कल्याण होनेमें सर्वोत्कृष्ट निमित्त होनेसे, उनकी अनन्य आश्रय-भक्ति परिणमित होनेसे होता है। प्रायः करके ये दोनों परस्पर अन्योन्याश्रयके समान हैं। कहीं किसीकी मुख्यता है, और कहीं किसीकी मुख्यता है, फिर भी ऐसा तो अनुभवमें आता है कि जो सच्चा मुमुक्षु हो उसे सत्पुरुषकी आश्रयभक्ति, अहंभाव आदिका छेदन करनेके लिये और अल्पकालमें विचारदशाके फलीभूत होनेके लिये उत्कृष्ट कारणरूप होती है।

भोगमें अनासक्ति हो, तथा लौकिक विशेषता दिखानेकी बुद्धि कम की जाय, तो तृष्णा निर्बल होती जाती है। यदि लौकिक मान आदिकी तुच्छता समझमें आ जाय तो उसकी विशेषता मालूम न दे, और उससे उसकी इच्छा सहज ही मंद पड़ जाय, ऐसा यथार्थ मालूम होता है। बहुत ही

जैनदर्शनमें जो केवलज्ञानका स्वरूप लिखा है, उसे उसी तरह समझना मुश्किल होता है। फिर वर्तमानमें उस ज्ञानका उसीमें निषेध किया है, जिससे तत्संबंधी प्रयत्न करना भी सफल नहीं मालूम होता। जैन समागममें हमारा अधिक निवास हुआ है, तो किसी भी प्रकारसे उस मार्गका उद्धार हम जैसोंके द्वारा विशेषरूपसे हो सकता है, क्योंकि उसका स्वरूप विशेषरूपसे समझमें आया है, इत्यादि। वर्तमानमें जैनदर्शन इतनी अधिक अव्यवस्थित अथवा विपरीत स्थितिमें देखनेमें आता है कि उसमेंसे मानो जिनभगवान्का* × × × चला गया है, और लोग मार्ग प्ररूपित करते हैं। बाह्य माथापच्ची बहुत बढ़ा दी है, और अंतमार्गका ज्ञान प्रायः विच्छेद जैसा हो गया है। वेदोक्त मार्गमें तो दोसौ चारसौ वर्षोंसे कोई कोई महान् आचार्य हुए भी देखनेमें आते हैं, जिससे लाखों मनुष्योंको वेदोक्त पद्धतिकी जागृति हुई है, तथा साधारणरूपसे कोई कोई आचार्य अथवा उस मार्गके जाननेवाले श्रेष्ठ पुरुष इसी तरह होते रहते हैं; और जैनमार्गमें बहुत वर्षोंसे वैसा हुआ मालूम नहीं होता। जैनमार्गमें प्रजा भी बहुत थोड़ी ही बाकी रही है, और उसमें भी सैकड़ों भेद हैं। इतना ही नहीं, किन्तु मूलमार्गके सन्मुख होनेकी बात भी उनके कानमें नहीं पड़ती, और वह उपदेशकके भी लक्ष्यमें नहीं—ऐसी स्थिति हो रही है। इस कारण चित्तमें ऐसा आया करता है कि जिससे उस मार्गका अधिक प्रचार हो तो वैसा करना, नहीं तो उसमें रहनेवाली समाजको मूलरूपसे प्रेरित करना। यह काम बहुत कठिन है। तथा जैनमार्गको स्वयं चित्तमें उतारना तथा समझना कठिन है। उसे चित्तमें उतारते समय बहुतसे कारण मार्ग-प्रतिबन्धक हो जाँय, ऐसी स्थिति है। इसलिये वैसी प्रवृत्ति करते हुए डर मालूम होता है। उसके साथ साथ यह भी होता है कि यदि यह कार्य इस कालमें हमसे कुछ भी बने तो बन सकता है, नहीं तो हालमें तो मूलमार्गके सन्मुख होनेके लिये किसी दूसरेका प्रयत्न काममें आवे, ऐसा मालूम नहीं होता। प्रायः करके मूलमार्ग दूसरे किसीके लक्ष्यमें ही नहीं है। तथा उस हेतुके दृष्टांतपूर्वक उपदेश करनेमें परमश्रुत आदि गुण आवश्यक हैं। इसी तरह बहुतसे अंतरंग गुणोंकी भी आवश्यकता है। वे यहाँ मौजूद हैं, ऐसा दृढ़रूपसे मालूम होता है।

इस रीतिसे यदि मूलमार्गको प्रगटरूपमें लाना हो तो प्रगट करनेवालेको सर्वसंग-परित्याग करना योग्य है, क्योंकि उससे वास्तविक समर्थ उपकार होनेका समय आ सकता है। वर्तमान दशाको देखते हुए, सत्ताके कर्मोंपर दृष्टि डालते हुए, कुछ समय पश्चात् उसका उदयमें आना संभव है। हमें सहज-स्वरूप ज्ञान है, जिससे योग-साधनकी इतनी अपेक्षा न होनेसे उसमें प्रवृत्ति नहीं की, तथा वह सर्वसंग-परित्यागमें अथवा विशुद्ध देश-परित्यागमें साधन करने योग्य है। इससे लोगोंका बहुत उपकार होता है; यद्यपि वास्तविक उपकारका कारण तो आत्म-ज्ञानके बिना दूसरा कुछ नहीं है। हालमें दो वर्षतक तो वह योग-साधन विशेषरूपसे उदयमें आवे ऐसा दिखाई नहीं देता। इस कारण इसके बादके समयकी ही कल्पना की जाती है, और तीनसे चार वर्ष उस मार्गमें व्यतीत करनेमें आवें, तो ३६ वें वर्षमें सर्वसंग-परित्यागी उपदेशकका समय आ सकता है, और लोगोंका कल्याण होना हो तो वह हो सकता है।

* यहाँ अक्षर खंडित हैं। अनुवादक.

जैनदर्शनमें जो केवलज्ञानका स्वरूप लिखा है, उसे उसी तरह समझना मुश्किल होता है। फिर वर्तमानमें उस ज्ञानका उसीमें निषेध किया है, जिससे तत्संबंधी प्रयत्न करना भी सफल नहीं मालूम होता। जैन समागममें हमारा अधिक निवास हुआ है, तो किसी भी प्रकारसे उस मार्गका उद्धार हम जैसोंके द्वारा विशेषरूपसे हो सकता है, क्योंकि उसका स्वरूप विशेषरूपसे समझमें आया है, इत्यादि। वर्तमानमें जैनदर्शन इतनी अधिक अव्यवस्थित अथवा विपरीत स्थितिमें देखनेमें आता है कि उसमेंसे मानो जिनभगवान्का* × × × चला गया है, और लोग मार्ग प्ररूपित करते हैं। बाह्य माथापच्ची बहुत बढ़ा दी है, और अंतमार्गका ज्ञान प्रायः विच्छेद जैसा हो गया है। वेदोक्त मार्गमें तो दोसौ चारसौ वर्षोंसे कोई कोई महान् आचार्य हुए भी देखनेमें आते हैं, जिससे लाखों मनुष्योंको वेदोक्त पद्धतिकी जागृति हुई है, तथा साधारणरूपसे कोई कोई आचार्य अथवा उस मार्गके जाननेवाले श्रेष्ठ पुरुष इसी तरह होते रहते हैं; और जैनमार्गमें बहुत वर्षोंसे वैसा हुआ मालूम नहीं होता। जैनमार्गमें प्रजा भी बहुत थोड़ी ही बाकी रही है, और उसमें भी सैकड़ों भेद हैं। इतना ही नहीं, किन्तु मूलमार्गके सन्मुख होनेकी बात भी उनके कानमें नहीं पड़ती, और वह उपदेशकके भी लक्षमें नहीं—ऐसी स्थिति हो रही है। इस कारण चित्तमें ऐसा आया करता है कि जिससे उस मार्गका अधिक प्रचार हो तो वैसा करना, नहीं तो उसमें रहनेवाली समाजको मूललक्षरूपसे प्रेरित करना। यह काम बहुत कठिन है। तथा जैनमार्गको स्वयं चित्तमें उतारना तथा समझना कठिन है। उसे चित्तमें उतारते समय बहुतसे कारण मार्ग-प्रतिबन्धक हो जाँय, ऐसी स्थिति है। इसलिये वैसी प्रवृत्तिको करते हुए डर मालूम होता है। उसके साथ साथ यह भी होता है कि यदि यह कार्य इस कालमें हमारेसे कुछ भी बने तो बन सकता है, नहीं तो हालमें तो मूलमार्गके सन्मुख होनेके लिये किसी दूसरेका प्रयत्न काममें आवे, ऐसा मालूम नहीं होता। प्रायः करके मूलमार्ग दूसरे किसीके लक्षमें ही नहीं है। तथा उस हेतुके दृष्टांतपूर्वक उपदेश करनेमें परमश्रुत आदि गुण आवश्यक हैं। इसी तरह बहुतसे अंतरंग गुणोंकी भी आवश्यकता है। वे यहाँ मौजूद हैं, ऐसा दृढ़रूपसे मालूम होता है।

इस रीतिसे यदि मूलमार्गको प्रगटरूपमें लाना हो तो प्रगट करनेवालेको सर्वसंगका परित्याग करना योग्य है, क्योंकि उससे वास्तविक समर्थ उपकार होनेका समय आ सकता है। वर्तमान दशाको देखते हुए, सत्ताके कर्मोंपर दृष्टि डालते हुए, कुछ समय पश्चात् उसका उदयमें आना संभव है। हमें सहज-स्वरूप ज्ञान है, जिससे योग-साधनकी इतनी अपेक्षा न होनेसे उसमें प्रवृत्ति नहीं की; तथा वह सर्वसंग-परित्यागमें अथवा विशुद्ध देश-परित्यागमें साधन करने योग्य है। इससे लोगोंका बहुत उपकार होता है; यद्यपि वास्तविक उपकारका कारण तो आत्म-ज्ञानके बिना दूसरा कुछ नहीं है। हालमें दो वर्षतक तो वह योग-साधन विशेषरूपसे उदयमें आवे वैसा दिखाई नहीं देता। इस कारण इसके बादके समयकी ही कल्पना की जाती है, और तीनसे चार वर्ष उस मार्गमें व्यतीत करनेमें आवें, तो ३६ वें वर्ष सर्वसंग-परित्यागी उपदेशकका समय आ सकता है, और लोगोंका कल्याण होना हो तो वह हो सकता है।

* यहाँ अक्षर खंडित हैं। अनुवादक.

उसका कार्यरूप होना अवश्य बहुत दुष्कर मालूम होता है। क्योंकि छोटी छोटी बातोंमें बहुत मतभेद हैं, और उसका मूल बहुत गहरा है। मूलमार्गसे लोग लाखों कोस दूर हैं। इतना ही नहीं, परन्तु उन्हें यदि मूलमार्गकी जिज्ञासा उत्पन्न करानी हो, तो भी बहुत कालका परिचय होनेपर भी, वह होनी कठिन पड़े, ऐसी उनकी दुराग्रह आदिसे जड़प्रधान दशा रहती है।

(२)

उन्नतिके साधनोंकी स्मृति करता हूँ:—

बोधबीजके स्वरूपका निरूपण मूलमार्गके अनुसार जगह जगह हो।

जगह जगह मतभेदसे कुछ भी कल्याण नहीं, यह बात फैले।

प्रत्यक्ष सद्गुरुकी आज्ञासे ही धर्म है, यह बात लक्षमें आवे।

द्रव्यानुयोग—आत्मविद्या—प्रकाश हो।

त्याग वैराग्यकी विशेषतापूर्वक साधु लोग विचरें।

नवतत्त्वप्रकाश.	साधुधर्मप्रकाश.
श्रावकधर्मप्रकाश.	सद्भूतपदार्थ-विचार.

बारह व्रतोंकी अनेक जीवोंको प्राप्ति.

---

६३८ वडवा, भाद्रपद सुदी १५ सोम. १९५२

ॐ

(ज्ञानकी अपेक्षासे) सर्वव्यापक सच्चिदानन्द ऐसी मैं आत्मा एक हूँ—ऐसा विचार करना—ध्यान करना।

निर्मल, अत्यन्त निर्मल, परम शुद्ध, चैतन्यघन, प्रगट आत्मस्वरूप है।

सब कुछ घटाते घटाते जो अबाध्य अनुभव रहता है, वही आत्मा है।

जो सबको जानती है, वह आत्मा है।

जो सब भावोंका प्रकाश करती है, वह आत्मा है।

उपयोगमय आत्मा है।

अव्याबाध समाधिस्वरूप आत्मा है।

'आत्मा है'। आत्मा अत्यन्त प्रगट है, क्योंकि स्वसंवेदन प्रगट अनुभवमें है।

अनुत्पन्न और अमलिनस्वरूप होनेसे 'आत्मा नित्य है'।

भ्रांतिरूपसे परभावका 'कर्त्ता है'।

उसके फलका 'भोक्ता है'; भान होनेपर 'स्वभाव-परिणामी' है।

सर्वथा स्वभाव-परिणाम वह 'मोक्ष है'।

सद्गुरु, सत्संग, सत्शास्त्र, सद्विचार और संयम आदि 'उसके साधन हैं'।

आत्माके अस्तित्वसे लगाकर निर्वाणतकके पद सच्चे हैं—अत्यंत सच्चे हैं, क्योंकि वे प्रगट अनुभवमें आते हैं।

भ्रांतिरूपसे आत्माके परभावका कर्ता होनेसे शुभाशुभ कर्मकी उत्पत्ति होती है। कर्मके फल-युक्त होनेसे उस शुभाशुभ कर्मको आत्मा भोगती है। इसलिये उत्कृष्ट शुभसे उत्कृष्ट अशुभतक न्यूनाधिक पर्याय भोगनेरूप क्षेत्र अवश्य है।

निजस्वभाव ज्ञानमें केवल उपयोगसे, तन्मयाकार, सहज-स्वभावसे, निर्विकल्परूपसे जो आत्मा परिणमन करती है, वह 'केवलज्ञान' है।

तथारूप प्रतीतिभावसे जो परिणमन करे, वह 'सम्यक्त्व' है।

निरन्तर वही प्रतीति रहा करे, उसे 'क्षायिक सम्यक्त्व' कहते हैं।

क्वचित् मंद, क्वचित् तीव्र, क्वचित् विसर्जन, क्वचित् स्मरणरूप इस तरह प्रतीति रहे, उसे 'क्षयोपशम सम्यक्त्व' कहते हैं।

उस प्रतीतिको जबतक सत्तागत आवरण उदय नहीं आया, तबतक उसे 'उपशम सम्यक्त्व' कहते हैं।

आत्माको जब आवरण उदय आवे, तब वह उस प्रतीतिसे गिर पड़ती है, उसे 'सास्वादन सम्यक्त्व' कहते हैं।

अत्यंत प्रतीति होनेके योग्य जहाँ सत्तागत अल्प पुद्गलका वेदन करना बाकी रहा है, उसे 'वेदक सम्यक्त्व' कहते हैं।

तथारूप प्रतीति होनेपर अन्य भावसंबंधी अहं-ममत्व आदि, हर्ष, शोक, क्रम क्रमसे क्षय होते हैं। मनरूप योगमें तारतम्यसहित जो कोई चारित्रकी आराधना करता है, वह सिद्धि पाता है; और जो स्वरूप-स्थिरताका सेवन करता है, वह स्वभाव-स्थितिको प्राप्त करता है।

निरन्तर स्वरूप-लाभ, स्वरूपाकार उपयोगका परिणमन इत्यादि स्वभाव, अन्तराय कर्मके क्षय होनेपर प्रगट होते हैं।

जो केवल स्वभाव-परिणामी ज्ञान है, वह केवलज्ञान है। ॐ सच्चिदानन्दाय नमः।

---

६३९ आणंद, भाद्र. वदी १२ रवि. १९५२

पत्र मिला है। "मनुष्य आदि प्राणियोंकी वृद्धि" के संबंधमें तुमने जो प्रश्न लिखा था, वह प्रश्न जिस कारणसे लिखा गया था, उस कारणको पत्र मिलनेके समय ही सुना था। ऐसे प्रश्नसे विशेष आत्मार्थ सिद्ध होता नहीं अथवा वृथा कालक्षेप जैसा ही होता है। इस कारण आत्मार्थके प्रति लक्ष होनेके लिये, तुम्हें उस प्रकारके प्रश्नके प्रति अथवा उस तरहके प्रसंगोंके प्रति उदासीन रहना ही योग्य है, यह लिखा था। तथा यहाँ उस तरहके प्रश्नके उत्तर लिखने जैसी प्रायः वर्तमानमें दशा रहती नहीं, ऐसा लिखा था।

अनियमित और अल्प आयुवाली इस देहमें आत्मार्थका लक्ष सबसे प्रथम करना योग्य है।

६४०

राळज, भाद्रपद १९५१

बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन और मीमांसा ये पाँच आस्तिक अर्थात् बंध-मोक्ष आदि भावको स्वीकार करनेवाले दर्शन हैं। नैयायिकोंके अभिप्रायके समान ही वैशेषिकोंका अभिप्राय है; सांख्यके समान ही योगका अभिप्राय है—इनमें थोड़ा ही भेद है, इससे उन दर्शनोंका अलग विचार नहीं किया। मीमांसाके पूर्व और उत्तर इस तरह दो भेद हैं। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसामें विशेष विचार-भेद है, फिर भी मीमांसा शब्दसे दोनोंका बोध होता है। इस कारण यहाँ मीमांसा शब्दसे दोनों ही समझने चाहिये। पूर्वमीमांसा जैमिनीय और उत्तरमीमांसा वेदान्त नामसे भी प्रसिद्ध हैं।

बौद्ध और जैनदर्शनके सिवाय बाकीके दर्शन वेदको मुख्य मानकर ही चलते हैं, इसलिये वे वेदाश्रित दर्शन हैं; और वे वेदार्थको प्रकाशित कर अपने दर्शनके स्थापित करनेका प्रयत्न करते हैं। बौद्ध और जैनदर्शन वेदके आश्रित नहीं—वे स्वतंत्र दर्शन हैं।

आत्मा आदि पदार्थको न स्वीकार करनेवाला चार्वाक नामका छट्ठा दर्शन है। बौद्धदर्शनके मुख्य चार भेद हैं—

१ सौत्रांतिक, २ माध्यमिक[1], ३ शून्यवादी और ४ विज्ञानवादी[2]। वे भिन्न भिन्न प्रकारसे भावोंकी व्यवस्था स्वीकार करते हैं।

जैनदर्शनके थोड़े ही प्रकारांतरसे दो भेद हैं:—दिगम्बर और श्वेताम्बर।

पाँच आस्तिक दर्शन जगत्को अनादि मानते हैं। बौद्ध, सांख्य, जैन और पूर्वमीमांसाके मतानुसार सृष्टिका कर्ता कोई ईश्वर नहीं है।

नैयायिकोंके अनुसार ईश्वर तटस्थरूपसे कर्ता है। वेदान्तके मतानुसार आत्मामें जगत् विवर्तरूप अर्थात् कल्पितरूपसे भासित होता है, और उस रीतिसे उसने ईश्वरको भी कल्पितरूपसे ही कर्ता स्वीकार किया है।

योगके अभिप्रायके अनुसार ईश्वर नियंतारूपसे पुरुषविशेष है।

बौद्ध मतानुसार त्रिकाल और वस्तुस्वरूप आत्मा नहीं है—क्षणिक है। शून्यवादी बौद्धके मतानुसार वह विज्ञानमात्र है; और विज्ञानवादी बौद्धके मतके अनुसार दुःख आदि तत्त्व हैं। उनमें विज्ञानस्कंध क्षणिकरूपसे आत्मा है।

नैयायिकोंके मतके अनुसार सर्वव्यापक असंख्य जीव हैं। ईश्वर भी सर्वव्यापक है। आत्मा आदिको मनके सान्निध्यसे ज्ञान उत्पन्न होता है।

सांख्यके मतानुसार सर्वव्यापक असंख्य आत्मायें हैं। वे नित्य अपरिणामी और चिन्मात्र स्वरूप हैं।

---

१ शून्यवादी बौद्ध ही मध्यम-मार्गके सिद्धांतको स्वीकार करनेके कारण माध्यमिक भी कहे जाते हैं। इसलिये माध्यमिक और शून्यवादी ये दोनों एक ही हैं, भिन्न भिन्न नहीं। बौद्धदर्शनके मुख्य चार भेद निम्नरूपसे हैं.—सौत्रांतिक, वैभाषिक, शून्यवादी और विज्ञानवादी। —अनुवादक.

२ शून्यवादी बौद्धोंके अनुसार सब कुछ शून्य है, वे विज्ञानमात्रको स्वीकार नहीं करते। विज्ञानवादी बौद्ध ही विज्ञानमात्रको स्वीकार करते हैं। —अनुवादक.

६४०

राळज, भादपद १९५२

बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन और मीमांसा ये पाँच आस्तिक अर्थात् बंध-मोक्ष आदि भावके स्वीकार करनेवाले दर्शन हैं। नैयायिकोंके अभिप्रायके समान ही वैशेषिकोंका अभिप्राय है; इनके समान ही योगका अभिप्राय है—इनमें थोड़ा ही भेद है, इससे उन दर्शनोंका अलग विचार नहीं किया। मीमांसाके पूर्व और उत्तर इस तरह दो भेद हैं। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसामें विशेष विचार-भेद है, फिर भी मीमांसा शब्दसे दोनोंका बोध होता है। इस कारण यहाँ मीमांसा शब्दसे दोनों ही समझने चाहिये। पूर्वमीमांसा जैमिनीय और उत्तरमीमांसा वेदान्त नामसे भी प्रसिद्ध है।

बौद्ध और जैनदर्शनके सिवाय बाकीके दर्शन वेदको मुख्य मानकर ही चलते हैं, इसलिये वे वेदाश्रित दर्शन हैं; और वे वेदार्थको प्रकाशित कर अपने दर्शनके स्थापित करनेका प्रयत्न करते हैं। बौद्ध और जैनदर्शन वेदके आश्रित नहीं—वे स्वतंत्र दर्शन हैं।

आत्मा आदि पदार्थको न स्वीकार करनेवाला चार्वाक नामका छट्ठा दर्शन है। बौद्धदर्शनके मुख्य चार भेद हैं—

१ सौत्रांतिक, २ माध्यमिक[1], ३ शून्यवादी और ४ विज्ञानवादी। वे भिन्न भिन्न प्रकारसे भावोंकी व्यवस्था स्वीकार करते हैं।

जैनदर्शनके थोड़े ही प्रकारांतरसे दो भेद हैं:—दिगम्बर और श्वेताम्बर।

पाँच आस्तिक दर्शन जगत्को अनादि मानते हैं। बौद्ध, सांख्य, जैन और पूर्वमीमांसाके मतानुसार सृष्टिका कर्त्ता कोई ईश्वर नहीं है।

नैयायिकोंके अनुसार ईश्वर तटस्थरूपसे कर्त्ता है। वेदान्तके मतानुसार आत्मामें जगत् विवर्तरूप अर्थात् कल्पितरूपसे भासित होता है, और उस रीतिसे उसने ईश्वरको भी कल्पितरूपसे ही कर्त्ता स्वीकार किया है।

योगके अभिप्रायके अनुसार ईश्वर नियंतारूपसे पुरुषविशेष है।

बौद्ध मतानुसार त्रिकाल और वस्तुस्वरूप आत्मा नहीं है—क्षणिक है। शून्यवादी बौद्धके मतानुसार वह विज्ञानमात्र है[2]; और विज्ञानवादी बौद्धके मतके अनुसार दुःख आदि तत्त्व हैं। उनमें विज्ञानस्कंध क्षणिकरूपसे आत्मा है।

नैयायिकोंके मतके अनुसार सर्वव्यापक असंख्य जीव हैं। ईश्वर भी सर्वव्यापक है। आत्मा आदिको मनके सान्निध्यसे ज्ञान उत्पन्न होता है।

सांख्यके मतानुसार सर्वव्यापक असंख्य आत्मायें हैं। वे नित्य अपरिणामी और चिन्मात्र स्वरूप हैं।

---

१ शून्यवादी बौद्ध ही मध्यम-मार्गके सिद्धांतको स्वीकार करनेके कारण माध्यमिक भी कहे जाते हैं। इसलिये माध्यमिक और शून्यवादी ये दोनों एक ही हैं, भिन्न भिन्न नहीं। बौद्धदर्शनके मुख्य चार भेद निम्नरूपसे हैं:—सौत्रांतिक, वैभाषिक, शून्यवादी और विज्ञानवादी। —अनुवादक.

२ शून्यवादी बौद्धोंके अनुसार सब कुछ शून्य है, वे विज्ञानमात्रको स्वीकार नहीं करते। विज्ञानवादी बौद्ध ही विज्ञानमात्रको स्वीकार करते हैं। —अनुवादक.

जैनके मतानुसार अनंत द्रव्य आत्मा हैं। प्रत्येक आत्मा भिन्न भिन्न है। ज्ञान दर्शन आदि चेतनास्वरूप, नित्य और परिणामी प्रत्येक आत्माको असंख्यात प्रदेशी स्वशरीर-अवगाहवर्ती माना है।

पूर्वमीमांसाके मतानुसार जीव असंख्य हैं, चेतन हैं।

उत्तरमीमांसाके मतानुसार एक ही आत्मा सर्वव्यापक सच्चिदानन्दमय त्रिकालाबाध्य है।

---

६४१ आनंद, आसोज १९५२

ॐ

आस्तिक मूल पाँच दर्शन आत्माका निरूपण करते हैं, उनमें जो भेद देखनेमें आता है, उसका क्या समाधान है?

दिन प्रतिदिन जैनदर्शन क्षीण होता हुआ देखनेमें आता है, और वर्धमानस्वामीके होनेके पश्चात् थोड़े ही वर्षोंमें उसमें नाना प्रकारके भेद हुए दिखाई देते हैं, उन सबके क्या कारण हैं?

हरिभद्र आदि आचार्योंने नवीन योजनाकी तरह श्रुतज्ञानकी उन्नति की मालूम होती है, परन्तु लोक-समुदायमें जैनमार्गका अधिक प्रचार हुआ दिखाई नहीं देता, अथवा तथारूप अतिशय-संपन्न धर्मप्रवर्तक पुरुषका उस मार्गमें उत्पन्न होना कम ही दिखाई देता है, उसके क्या कारण हैं?

अब, वर्तमानमें क्या उस मार्गकी उन्नति होना संभव है? और यदि हो तो किस तरह होना संभव है, अर्थात् उस बातका कहाँसे उत्पन्न होकर, किस रीतिसे, किस रास्तेसे, कैसी स्थितिमें प्रचार होना संभवित जान पड़ता है? फिर आगे वर्धमानस्वामीके समयके समान, वर्तमान कालके योग आदिके अनुसार वह धर्म प्रगट हो, ऐसा क्या दीर्घ-दृष्टिसे संभव है? और यदि संभव हो तो किस किस कारणसे संभव है?

जो जैनसूत्र हालमें विद्यमान हैं, उनमें उस दर्शनका स्वरूप बहुत अधूरा लिखा हुआ देखनेमें आता है, वह विरोध किस तरह दूर हो सकता है?

उस दर्शनकी परंपरामें ऐसा कहा गया है कि वर्तमानकालमें केवलज्ञान नहीं होता, और केवलज्ञानका विषय सामान्य कालमें लोकालोकका [illegible] माना गया है, क्या वह यथार्थ जान पड़ता है? अथवा उसके लिये [illegible] क्या कुछ निर्णय हो सकता है? उसकी व्याख्यामें क्या कुछ फेरफार दिखाई देता है? [illegible] उसके अनुसार यदि कुछ दूसरा अर्थ होता हो तो उस अर्थके अनुसार वर्तमानमें केवलज्ञान [illegible] सकता है या नहीं? और उसका उपदेश किया जा सकता है अथवा नहीं? तथा दूसरे [illegible] जो व्याख्या कही गई है, क्या वह भी कुछ फेरफारवाली मालूम होती है? और वह [illegible]?

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय [illegible]; सम-[illegible] आदि [illegible]—वे कुछ अपूर्व [illegible] प्रमाणसहित सिद्ध होने योग्य जान पड़ते हैं या नहीं?

जैनके मतानुसार अनंत द्रव्य आत्मा हैं। प्रत्येक आत्मा भिन्न भिन्न है। ज्ञान दर्शन आदि
नास्वरूप, नित्य और परिणामी प्रत्येक आत्माको असंख्यात प्रदेशी स्वशरीर-अवगाहवर्ती माना है।

पूर्वमीमांसाके मतानुसार जीव असंख्य हैं, चेतन हैं।

उत्तरमीमांसाके मतानुसार एक ही आत्मा सर्वव्यापक सच्चिदानन्दमय त्रिकालाबाध्य है।

---

६४१   आनंद, आसोज १९५

ॐ

आस्तिक मूल पाँच दर्शन आत्माका निरूपण करते हैं, उनमें जो भेद देखनेमें आता है, उसक
या समाधान है ?

दिन प्रतिदिन जैनदर्शन क्षीण होता हुआ देखनेमें आता है, और वर्धमानस्वामीके होने
पश्चात् थोड़े ही वर्षोंमें उसमें नाना प्रकारके भेद हुए दिखाई देते हैं, उन सबके क्या कारण हैं ?

हरिभद्र आदि आचार्योंने नवीन योजनाकी तरह श्रुतज्ञानकी उन्नति की मालूम होती
परन्तु लोक-समुदायमें जैनमार्गका अधिक प्रचार हुआ दिखाई नहीं देता, अथवा तथारूप अतिश
संपन्न धर्मप्रवर्तक पुरुषका उस मार्गमें उत्पन्न होना कम ही दिखाई देता है, उसके क्या कारण हैं ?

अब, वर्तमानमें क्या उस मार्गकी उन्नति होना संभव है ? और यदि हो तो किस तरह हो
संभव है, अर्थात् उस बातका कहाँसे उत्पन्न होकर, किस रीतिसे, किस रास्तेसे, कैसी स्थितिमें प्रच
होना संभवित जान पड़ता है ? फिर जाने वर्धमानस्वामीके समयके समान, वर्तमान कालके योग आदि
अनुसार वह धर्म प्रगट हो, ऐसा क्या दीर्घ-दृष्टिसे संभव है ? और यदि संभव हो तो किस कि
कारणसे संभव है ?

जो जैनसूत्र हालमें विद्यमान हैं, उनमें उस दर्शनका स्वरूप बहुत अधूरा लिखा हुआ देख
आता है, वह विरोध किस तरह दूर हो सकता है ?

उस दर्शनकी परंपरामें ऐसा कहा गया है कि वर्तमानकालमें केवलज्ञान नहीं होता,
केवलज्ञानका विषय समस्त कालमें लोकालोकको द्रव्य-गुण-पर्यायसहित जानना माना गया है, क्या
यथार्थ जान पड़ता है ? अथवा उसके लिये विचार करनेपर क्या कुछ निर्णय हो सकता है ? उ
व्याख्यामें क्या कुछ फेरफार दिखाई देता है ? और मूल व्याख्याके अनुसार यदि कुछ दूसरा अर्थ
हो तो उस अर्थके अनुसार वर्तमानमें केवलज्ञान उत्पन्न हो सकता है या नहीं ? और उसका उ
दिया जा सकता है अथवा नहीं ? तथा दूसरे ज्ञानोंकी जो व्याख्या कही गई है, क्या वह भी
फेरफारवाली मालूम होती है ? और वह किन कारणोंसे ?

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय द्रव्य; मध्यम अवगाही, संकोच-विकासकी भाजन आत्मा;
विदेह आदि क्षेत्रकी व्याख्या—ये कुछ अपूर्व रीतिसे अथवा कही हुई रीतिसे अत्यन्त प्रबल प्रमाण
सिद्ध होने योग्य जान पड़ते हैं या नहीं ?

तुमने जाना है, तो फिर उन्हें असत् कहना, यह उपकारके बदले दोष करनेके बराबर ही गिना जायगा। फिर शास्त्रके लिखनेवाले भी विचारवान थे, इस कारण वे सिद्धांतके विषयमें जानते थे। सिद्धांत महावीरस्वामीके बहुत वर्ष पश्चात् लिखे गये हैं, इसलिये उन्हें असत् कहना दोष गिना जायगा।

ज्ञानीकी आज्ञासे चलनेवाले भद्रिक मुमुक्षु जीवको, यदि गुरुने 'ब्रह्मचर्यके पालने अर्थात् स्त्रियों आदिके समागममें न जानेकी' आज्ञा की हो, तो उस वचनपर दृढ़ विश्वास कर, वह भी उस उस स्थानकमें नहीं जाता; जब कि जिसे मात्र आध्यात्मिक शास्त्र आदि बाँचकर ही मुमुक्षुता हो गई हो, उसे ऐसा अहंकार रहा करता है कि 'इसमें उसे जीतना ही क्या है!'—ऐसे ही पागलपनके कारण वह उन स्त्रियों आदिके समागममें जाता है। कदाचित् उस समागमसे एक-दो बार वह बच भी जाय, परन्तु पीछेसे उस पदार्थकी ओर दृष्टि करते हुए 'यह ठीक है,' ऐसे करते करते उसे उसमें आनन्द आने लगता है, और उससे वह स्त्रियोंका सेवन करने लगता है।

भोलाभाला जीव तो ज्ञानीकी आज्ञानुसार ही आचरण करता है; अर्थात् वह दूसरे विकल्पोंको न करते हुए वैसे प्रसंगमें कभी भी नहीं जाता। इस प्रकार, जिस जीवको, 'इस स्थानकमें जाना योग्य नहीं' ऐसे ज्ञानीके वचनोंका दृढ़ विश्वास है, वह ब्रह्मचर्य व्रतमें रह सकता है। अर्थात् वह इस अकार्यमें प्रवृत्त नहीं होता; जब कि जिसे ज्ञानीकी आज्ञाकारिता नहीं, ऐसे मात्र आध्यात्मिक शास्त्र बाँचकर होनेवाले मुमुक्षु अहंकारमें फिरा करते हैं, और समझा करते हैं कि 'इसमें उसे जीतना ही क्या है!' ऐसी मान्यताको लेकर यह जीव च्युत हो जाता है, और आगे बढ़ नहीं सकता। यह जो क्षेत्र है वह निवृत्तिवाला है, किन्तु जिसे निवृत्ति हुई हो उसे ही तो है। तथा जो सच्चा ज्ञानी है, उसके सिवाय दूसरा कोई अब्रह्मचर्यके वश न हो, यह केवल कथनमात्र है। जैसे, जिसे निवृत्ति नहीं हुई, उसे प्रथम तो ऐसा होता है कि 'यह क्षेत्र श्रेष्ठ है, यहाँ रहना योग्य है', परन्तु फिर ऐसे करते करते विशेष प्रेरणा होनेसे वृत्ति क्षेत्राकार हो जाती है। किन्तु ज्ञानीकी वृत्ति क्षेत्राकार नहीं होती, क्योंकि एक तो क्षेत्र निवृत्तिवाला है, और दूसरे उसने स्वयं भी निवृत्तिभाव प्राप्त किया है, इससे दोनों योग अनुकूल है। शुष्कज्ञानियोंको प्रथम तो ऐसा ही अभिमान रहा करता है कि इसमें जीतना ही क्या है! परन्तु पीछेसे वह धीरे धीरे स्त्रियों आदि पदार्थोंमें फँस जाता है, जब कि सच्चे ज्ञानीको वैसा नहीं होता।

हालमें सिद्धांतोंकी जो रचना देखनेमें आती है, उन्हीं अक्षरोंमें अनुक्रमसे तीर्थंकरने उपदेश दिया हो, यह कोई बात नहीं है। परन्तु जैसे किसी समय किसीने वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथाके विषयमें पूँछा तो उस समय तत्संबंधी बात कह बताई। फिर किसीने पूँछा कि धर्मकथा कितने प्रकारकी है तो कहा कि चार प्रकारकी:—आक्षेपणी, विक्षेपणी, निर्वेदणी, संवेगणी। इस इस तरह जब बातें होतीं हों, तो उनके पास जो गणधर होते हैं, वे उन बातोंको ध्यानमें रख लेते हैं और अनुक्रमसे उनकी रचना करते हैं। जैसे यहाँ भी कोई मनुष्य कोई बात करनेसे ध्यानमें रखकर अनुक्रमसे उसकी रचना करता है। बाकी तीर्थंकर जितना कहें, उतना कुछ सबका सब उनके ध्यानमें नहीं रहता—केवल अभिप्राय ही ध्यानमें रहता है। तथा गणधर भी बुद्धिमान थे, इसलिये उन तीर्थंकरोंद्वारा कहे हुए वाक्य कुछ उनमें नहीं आये, यह बात भी नहीं है।

काविठा, श्रावण वदी २, १९५२

६४३

* उपदेश-छाया

(१)

स्त्री, पुत्र, परिग्रह आदि भावोंके प्रति मूलज्ञान होनेके पश्चात् यदि ऐसी भावना रहे कि 'जब मैं चाहूँगा तब इन स्त्रियों आदिके समागमका त्याग कर सकूँगा,' तो वह मूलज्ञानके ही वमन कर देनेकी बात समझनी चाहिये; अर्थात् उससे मूलज्ञानमें यद्यपि भेद नहीं पड़ता, परन्तु वह आव-रणरूप हो जाता है। तथा शिष्य आदि अथवा भक्ति करनेवाले मार्गसे च्युत हो जायेंगे अथवा अटक जायेंगे, ऐसी भावनासे यदि ज्ञानी-पुरुष भी आचरण करे तो ज्ञानी-पुरुषको भी निरावरणज्ञान आवरणरूप हो जाता है; और उससे ही वर्धमान आदि ज्ञानी-पुरुष अनिद्रापूर्वक साढ़े बारह वर्षतक रहे; उन्होंने सर्वथा असंगताको ही श्रेयस्कर समझा; एक शब्दके भी उच्चारण करनेको यथार्थ नहीं माना; और सर्वथा निरावरण, योगरहित, भोगरहित और भयरहित ज्ञान होनेके बाद ही उपदेशका कार्य आरंभ किया। इसलिये 'इसे इस तरह कहें तो ठीक है, अथवा इसे इस तरह न कहा जाय तो मिथ्या है,' इत्यादि विकल्पोंको साधु मुनियोंको न करना चाहिये।

आजकलके समयमें मनुष्योंकी कुछ आयु तो स्त्रीके पास चली जाती है, कुछ निद्रामें चली जाती है, कुछ धंधेमें चली जाती है, और जो कुछ थोड़ीसी बाकी रहती है, उसे कुगुरु लूट लेते हैं। अर्थात् मनुष्य-भव निरर्थक ही चला जाता है।

श्रावण वदी ३

मालूम होता है कि मानो कोई कुत्ता ही चला आ रहा है; उसी तरह पौद्गलिक-संयोगको ज्ञानी समझता है। राज्यके मिलनेपर आनंद होता हो तो वह अज्ञान है।

ज्ञानीकी दशा बहुत ही अद्भुत है। यायातथ्य कल्याण जो समझमें आया नहीं, उसका कारण वचनको आवरण करनेवाला दुराग्रहभाव—कषाय है। दुराग्रहभावके कारण, मिथ्यात्व क्या है वह समझमें आता नहीं। दुराग्रहको छोड़ दें तो मिथ्यात्व दूर भागने लगे। कल्याणको अकल्याण और अकल्याणको कल्याण समझ लेना मिथ्यात्व है। दुराग्रह आदि भावके कारण जीवको कल्याणका स्वरूप बतानेपर भी समझमें आता नहीं। कषाय दुराग्रह आदिको छोड़ा न जाय तो फिर वह विशेष प्रसंगसे पीड़ा देता है। कषाय सत्तारूपसे मौजूद रहती है, और जब निमित्त आता है तब वह खड़ी हो जाती है, तबतक खड़ी होती नहीं।

प्रश्नः—क्या विचार करनेसे समभाव आता है?

उत्तरः—विचारवानको पुद्गलमें तन्मयता—तादात्म्यभाव—होता नहीं। अज्ञानी यदि पौद्गलिक-संयोगके हर्षका पत्र बाँचे, तो उसका चेहरा प्रसन्न दिखाई देने लगता है, और यदि भयका पत्र बाँचे तो उदास हो जाता है।

सर्प देखकर जब आत्मवृत्तिमें भयका कारण उपस्थित हो उस समय तादात्म्यभाव कहा जाता है। जिसे तन्मयता हो उसे ही हर्ष-शोक होता है। जो निमित्त है वह अपना कार्य किये बिना नहीं रहता।

मिथ्यादृष्टिके मध्यमें साक्षी (ज्ञानरूपी) नहीं है*।

देह और आत्मा दोनों भिन्न भिन्न हैं, ऐसा ज्ञानीको भेद हुआ है। ज्ञानीके मध्यमें साक्षी है। ज्ञान, यदि जागृति हो तो ज्ञानके वेगसे, जो जो निमित्त मिलें उन्हें पीछे हटा सकता है।

जीव, जब विभाव परिणाममें रहे उसी समय कर्म बाँधता है, और जब स्वभाव परिणाममें रहे उस समय कर्म बाँधता नहीं।

स्वच्छंद दूर हो तो ही मोक्ष होती है। सद्गुरुकी आज्ञाके बिना आत्मार्थी जीवके श्वासोच्छ्वासके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता, ऐसी जिनभगवान्की आज्ञा है।

प्रश्नः—पाँच इन्द्रियाँ किस तरह वश होती हैं?

उत्तरः—पदार्थोंके ऊपर तुच्छभाव लानेसे। फूलोंके सुखानेसे उनकी सुगंधि थोड़े ही समय-तक रहकर नाश हो जाती है, फूल कुम्हला जाता है, और उससे कुछ संतोष होता नहीं। उसी तरह तुच्छ भाव आनेसे इन्द्रियोंके विषयमें लुब्धता होती नहीं।

पाँच इन्द्रियोंमें जिह्वा इन्द्रियके वश करनेसे बाकीकी चार इन्द्रियाँ सहज ही वश हो जाती हैं।

प्रश्नः—शिष्यने ज्ञानी-पुरुषसे प्रश्न किया कि 'बारह उपांग तो बहुत गहन हैं, और इसमें वे मेरी समझमें नहीं आ सकते; इसलिये कृपा करके बारह अंगोंका सार ही बताइये कि जिसके अनुसार आचरण करूँ तो मेरा कल्याण हो जाय।'

* इसका आशय श्रीमद् राजचन्द्रकी गुजराती आवृत्तिके फुटनोटमें, संशोधक मनसुखराम रवजी भाई मेहताने निम्नरूपसे लिखा है:—मिथ्यादृष्टिको विपरीतभावसे आचरण करते हुए भी कोई रोक सकनेवाला नहीं, अर्थात् मिथ्यादृष्टिको कोई भय नहीं। —अनुवादक

इतनेमें ही जहाँ शिथिलताके कारण मिले कि वृत्तियाँ यह कहकर ठग लेती हैं 'इसके त्याग करनेसे रोगके कारण उत्पन्न होंगे, इसलिये इस समय नहीं परन्तु फिर कभी त्याग करूँगी।'

इस तरहसे अनादिकालसे जीव ठगाया जा रहा है। किसीका बीस वर्षका पुत्र मर गया हो तो उस समय तो उस जीवको ऐसी कड़वाहट लगती है कि यह संसार मिथ्या है। किन्तु होता क्या है कि दूसरे ही दिन इस विचारको बाह्य वृत्ति यह कहकर विस्मरण करा देती है कि 'इसका पुत्र कल बड़ा हो जायगा; ऐसा तो होता ही आता है; किया क्या जाय!' परन्तु यह नहीं होता कि जिस तरह यह पुत्र मर गया है उस तरह मैं भी मर जाऊँगा। इसलिये समझकर वैराग्य लेकर चला जाऊँ तो अच्छा है—ऐसी वृत्ति नहीं होती। वहाँ वृत्ति ठग लेती है।

जीव ऐसा मान बैठता है कि 'मैं पंडित हूँ, शास्त्रका वेत्ता हूँ, होशियार हूँ, गुणवान हूँ, लोग मुझे गुणवान कहते हैं', परन्तु जब उसे तुच्छ पदार्थका संयोग होता है, उस समय तुरत ही उसकी वृत्ति उस ओर खिंच जाती है। ऐसे जीवको ज्ञानी कहते हैं कि तू जरा विचार तो सही कि तुच्छ पदार्थकी कीमतकी अपेक्षा भी तेरी कीमत तुच्छ है। जैसे एक पाईकी चार बीड़ी मिलती हैं—अर्थात् पाव पाईकी एक एक बीड़ी हुई—उस बीड़ीका यदि तुझे व्यसन हो और तू ज्ञानीके वचन श्रवण करता हो, तो यदि वहाँ भी कहींसे बीड़ीका धूँआ आ गया हो तो तेरी आत्मामेंसे धूँआ निकलने लगता है, और ज्ञानीके वचनोंपरसे प्रेम जाता रहता है। बीड़ी जैसे पदार्थमें, उसकी क्रियामें, वृत्तिके आकृष्ट होनेसे वृत्तिका क्षोभ निवृत्त होता नहीं। जब पाव पाईकी बीड़ीसे भी ऐसा हो जाता है तो फिर व्यसनीकी कीमत तो उससे भी तुच्छ हुई—एक एक पाईकी चार चार आत्मायें हुईं। इसलिये हरेक पदार्थमें तुच्छताका विचारकर वृत्तिको बाहर जाते हुए रोकनी चाहिये और उसका क्षय करना चाहिये।

अनाथदासजीने कहा है कि 'एक अज्ञानीके करोड़ अभिप्राय हैं, और करोड़ ज्ञानियोंका एक अभिप्राय है।'

उत्तम जाति, आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल और सत्संग इत्यादि प्रकारसे आत्म-गुण प्रगट होते हैं।

तुम जैसा मानते हो वैसा आत्माका मूल स्वभाव नहीं है। इसी तरह आत्माको कर्मोंने कुछ सर्वथा आवृत कर नहीं रक्खा है। आत्माका पुरुषार्थ धर्मका मार्ग तो सर्वथा खुला हुआ है।

बाजरे और गेहूँके एक दानेको यदि एक लाख वर्षतक रख छोड़ा हो (इतने दिनमें वह सड़ जायगा, यह बात हमारे ध्यानमें है), परन्तु यदि उसे पानी मिट्टी आदिका संयोग न मिले तो उसका उगना संभव नहीं है, उसी तरह सत्संग और विचारका संयोग न मिले तो आत्मगुण प्रगट होता नहीं।

श्रेणिक राजा नरकमें है, परन्तु समभावसे है, समकिती है, इसलिये उसे दुःख नहीं है।

चार लकड़हारोंकी तरह जीव भी चार प्रकारके होते हैं —

कोई चार लकड़हारे जंगलमें गये। पहिले पहिल सबने लकड़ियाँ इकट्ठी कीं। वहाँसे आगे चलनेपर चंदन आया। वहाँ तीनने तो चंदन ले लिया, और उनमेंसे एक कहने लगा कि 'मालूम नहीं कि इस तरहकी लकड़ियाँ बिकेंगी या नहीं, इसलिये मुझे तो इन्हें नहीं लेना है। हम तो रोज रोज ले ले,

ज्ञानीको ज्ञान-दृष्टिसे–अंतर्दृष्टिसे–देखनेके पश्चात् स्त्रीको देखकर राग उत्पन्न होता नहीं। क्योंकि ज्ञानीका स्वरूप विषय-सुखकी कल्पनासे जुदा है। जिसने अनन्त सुखको जान लिया हो उसे राग होता नहीं, और जिसे राग होता नहीं, उसीने ज्ञानीको देखा है; और उसीको ज्ञानी-पुरुषका दर्शन करनेके पश्चात् स्त्रीका सजीवन शरीर अजीवनरूपसे भासित हुए बिना रहता नहीं। क्योंकि उसने ज्ञानीके वचनोंको यथार्थ रीतिसे सत्य जाना है। जिसने ज्ञानीके समीप, देह और आत्माको भिन्न–पृथक् पृथक्–जान लिया है, उसे देह और आत्मा भिन्न भिन्न भासित होते हैं; और उससे स्त्रीका शरीर और आत्मा जुदा जुदा मालूम होते हैं। उसने स्त्रीके शरीरको माँस, मिट्टी, हड्डी आदिका पुतला ही समझा है, इसलिये उसे उसमें राग उत्पन्न होता नहीं।

समस्त शरीरका ऊपर नीचेका बल कमरके ऊपर ही रहता है। जिसकी कमर टूट गई है, उसका सब बल नष्ट हो गया है। विषय आदि जीवकी तृष्णा है। संसाररूपी शरीरका बल इस विषय आदिरूप कमरके ऊपर ही रक्खा हुआ है। ज्ञानी-पुरुषके बोधके लगनेसे विषय आदिरूप कमरका भंग हो जाता है, अर्थात् विषय आदिकी तुच्छता मालूम होने लगती है; और उस प्रकारसे संसारका बल घटता है, अर्थात् ज्ञानी-पुरुषके बोधमें ऐसी सामर्थ्य है।

महावीरस्वामीको संगम नामके देवताने बहुत ही ऐसे ऐसे परीषह दिये कि जिनमें प्राण-त्याग होते हुए भी देर न लगे। वहाँ कैसी अद्भुत समता रक्खी! उस समय उन्होंने विचार किया कि जिनके दर्शन करनेसे कल्याण होता हो, नाम स्मरण करनेसे कल्याण होता हो, उसीके समागममें आकर इस जीवको अनन्त संसारकी वृद्धिका कारण होता है! ऐसी अनुकंपा आनेसे आँखमें आँसू आ गये! कैसी अद्भुत समता है! दूसरेकी दया किस तरह अंकुरित हो निकली थी! उस समय मोहराजने यदि जरा ही धक्का लगाया होता तो तुरत ही तीर्थंकरपना संभव न रहता; और कुछ नहीं तो देवता तो भाग ही जाता। जिसने मोहनीयके मलका मूलसे नाश कर दिया ह, अर्थात् मोहको जीत लिया है, वह मोह कैसे कर सकता है?

श्रीमहावीरस्वामीके पास गोशालाने आकर दो साधुओंको जला डाला, उस समय उन्होंने यदि जरा भी सामर्थ्यपूर्वक साधुओंकी रक्षा की होती, तो उन्हें तीर्थंकरपनेको फिरसे करना पड़ता। परन्तु जिसे 'मैं गुरु हूँ, यह मेरा शिष्य है' ऐसी भावना ही नहीं है, उसे वैसा कुछ भी करना नहीं पड़ता। उन्होंने ऐसा विचार किया कि 'मैं शरीरके रक्षणका दातार नहीं, केवल भाव-उपदेशका ही दातार हूँ। यदि मैं इनकी रक्षा करूँ तो मुझे गोशालाकी भी रक्षा करनी चाहिये, अथवा समस्त जगत्की ही रक्षा करनी उचित है'। अर्थात् तीर्थंकर ऐसा ममत्व करते ही नहीं।

वेदान्तमें इस कालमें चरमशरीरी होना कहा है। जिनभगवान्के मतानुसार इस कालमें एकावतारी जीव होते हैं। यह कोई थोड़ी बात नहीं है; क्योंकि इसके पश्चात् कुछ मोक्ष होनेमें अधिक देर लगती नहीं। कुछ थोड़ा ही बाकी रह जाता है, और जो रहता है वह फिर सहजमें ही दूर हो जाता है। ऐसे पुरुषकी दशा–वृत्तियाँ–कैसी होती हैं? अनादिकी बहुतसी वृत्तियाँ शान्त हुई रहती हैं; और इतनी अधिक शान्ति हुई रहती है कि राग-द्वेष सब नाश होने योग्य हो जाते हैं—उपशान्त हो जाते हैं।

सब बात कह दी। महावीरस्वामीने कहा कि 'हे गौतम ! हाँ, आनन्द जैसा समझता है वैसा ही है, और तुम्हारी भूल है, इसलिये तुम आनन्दके पास जाकर क्षमा माँगो'। गौतमस्वामी 'तथास्तु' कहकर क्षमा माँगनेके लिये चल दिये। यदि गौतमस्वामीने मोह नामक महासुभटको पराभव न किया होता तो वे वहाँ जाते ही नहीं; और कदाचित् ऐसा कहते कि 'महाराज ! आपके जो इतने सब शिष्य हैं, उनकी मैं चाकरी कर सकता हूँ, पर वहाँ तो मैं न जाऊँगा,' तो यह बात सीधी न होती। गौतमस्वामीने स्वयं वहाँ जाकर क्षमा माँगी।

'सास्वादनसमकित' अर्थात् वमन किया हुआ समकित—अर्थात् जो परीक्षा हुई थी, उसपर यदि आवरण आ जाय, तो भी मिथ्यात्व और समकितकी कीमत उसे भिन्न भिन्न मालूम होती है। जैसे छाछमेंसे पहिले मक्खनको निकाल लेनेपर पीछेसे उसे छाछमें डालें, तो मक्खन और छाछ पहिले जैसे एकमेक थे, वैसे एकमेक वे फिर नहीं होते; उसी तरह समकित मिथ्यात्वकी साथ एकमेक होता नहीं। अथवा जिसे हीरामणिकी कीमत हो गई हो उसके सामने यदि बिल्लौरका टुकड़ा आवे तो उसे हीरामणि साक्षात् अनुभवमें आती है—यह दृष्टांत भी यहाँ घटता है।

सद्गुरु, सद्देव और केवलीके प्ररूपित किये हुए धर्मको सम्यक्त्व कहा है, परन्तु सद्देव और केवली ये दोनों सद्गुरुमें गर्भित हो जाते हैं।

निर्ग्रंथ गुरु अर्थात् पैसे रहित गुरु नहीं, परन्तु जिसका ग्रंथि-भेद हो गया है, ऐसे गुरु। सद्गुरुकी पहिचान होना व्यवहारसे ग्रन्थि-भेद होनेका उपाय है। जैसे किसी मनुष्यने बिल्लौरका कोई टुकड़ा लेकर विचार किया 'मेरे पास असली मणि है, ऐसी कहीं भी मिलती नहीं।' बादमें उसने जब किसी चतुर आदमीके पास जाकर कहा कि 'मेरी मणि असली है,' तो उस चतुर आदमीने उससे भी बहुत बढ़िया बढ़िया अधिक अधिक कीमतकी मणियाँ बनाकर कहा कि देख इनमें कुछ फरक मालूम देता है ? बराबर देख। उस मनुष्यने जवाब दिया कि 'हाँ इनमें फरक तो मालूम पड़ता है।' इसके बाद उस चतुर पुरुषने झाड़-फानूस बताकर कहा कि 'देख, तेरी जैसी मणियाँ तो ढेरों मिलती हैं।' सब झाड़ फानूस दिखानेके पश्चात् जब उसे उस पुरुषने असली मणि बताई तो उसे उसकी ठीक ठीक कीमत मालूम पड़ी, और उसने उस मणिको बिल्कुल नकली समझकर फेंक दी। बादमें फिर, किसी दूसरे आदमीने मिलनेपर उससे कहा कि तूने जिस मणिको असली समझ रक्खा है, वैसी मणियाँ तो बहुत मिलती हैं। तो इस प्रकारके आवरणसे वहम आ जानेसे जीव भूल जाता है, परन्तु पीछेसे उसे वह झूठा ही समझता है—जिस तरह असलीकी कीमत हुई हो उसी तरहसे समझता है—यह तुरत ही जागृतिमें आता है कि असली बहुत होती नहीं। अर्थात् आवरण तो होता है, परन्तु पहिलेकी जो पहिचान है वह भूली जाती नहीं। इसी प्रकार विचारवान सद्गुरुका संयोग होनेपर तत्त्वप्रतीति होती है, परन्तु बादमें मिथ्यात्वीके संगसे आवरण आ जानेसे उसमें शंका हो जाती है। यद्यपि तत्त्वप्रतीति नष्ट नहीं हो जाती किन्तु उसे आवरण आ जाता है। इसका नाम सास्वादनसम्यक्त्व है।

सद्गुरु और असद्गुरुमें रात दिन जितना अन्तर है।

एक जौहरी था। उसके पास व्यापारमें अधिक नुकसान हो जानेसे कुछ भी द्रव्य बाकी बचा नहीं। जब मरनेका समय नजदीक आ पहुँचा, तो वह भी बच्चोंका विचार करने लगा कि हो

सद्वृत्तियोंके उत्पन्न होनेके लिये जो जो कारण-साधन—बताये होते हैं, उन्हें न करनेको ज्ञानी कभी कहते ही नहीं । जैसे रात्रिमें भोजन करना हिंसाका कारण मालूम होता है, इसलिये ज्ञानी कभी भी आज्ञा नहीं करते कि तू रात्रिमें भोजन कर । परन्तु जिस जिस अहंभावसे आचरण किया हो, और रात्रिभोजनसे ही अथवा 'इस अमुकसे ही मोक्ष होगी, अथवा इसमें ही मोक्ष है' ऐसा दुराग्रहसे मान्य किया हो, तो वैसे दुराग्रहको छुड़ानेके लिये ज्ञानी-पुरुष कहते हैं कि 'इसे छोड़ दे; ज्ञानी-पुरुषोंकी आज्ञासे वैसा (रात्रिभोजन-त्याग आदि) कर;' और वैसा करेगा तो कल्याण हो जायगा । अनादि कालसे दिनमें और रातमें भोजन किया है, परन्तु जीवको मोक्ष हुई नहीं !

इस कालमें आराधकताके कारण घटते जाते हैं, और विराधकताके लक्षण बढ़ते जाते हैं ।

केशीस्वामी बड़े थे, और पार्श्वनाथ स्वामीके शिष्य थे, तो भी उन्होंने पाँच महाव्रत स्वीकार किये थे ।

केशीस्वामी और गौतमस्वामी महाविचारवान थे, परन्तु केशीस्वामीने यह नहीं कहा कि 'मैं दीक्षामें बड़ा हूँ, इसलिये तुम मेरेसे चारित्र ग्रहण करो' । विचारवान और सरल जीवको, जिसे तुरत ही कल्याणयुक्त हो जाना है, इस प्रकारकी बातका आग्रह होता नहीं ।

कोई साधु जिसने अज्ञान-अवस्थापूर्वक आचार्यपनेसे उपदेश किया हो, और पीछेसे उसे ज्ञानी-पुरुषका समागम होनेपर, वह ज्ञानी-पुरुष यदि साधुको आज्ञा करे कि जिस स्थलमें तूने आचार्यपनेसे उपदेश किया हो, वहाँ जाकर सबसे पीछे एक कोनेमें बैठकर सब लोगोंसे ऐसा कह कि 'मैंने अज्ञानभावसे उपदेश दिया है, इसलिये तुम लोग भूल खाना नहीं;' तो साधुको उस तरह किये बिना छुटकारा नहीं है । यदि वह साधु यह कहे कि 'मेरेसे ऐसा नहीं हो सकता; इसके बदले यदि आप कहो तो मैं पहाड़के ऊपरसे गिर जाऊँ, अथवा अन्य जो कुछ कहो सो करूँ; परन्तु वहाँ तो मैं नहीं जा सकता'—तो ज्ञानी कहता है कि 'कदाचित् तू लाख बार भी पर्वतके ऊपरसे गिर जाय तो भी वह किसी कामका नहीं है । यहाँ तो यदि वैसा करेगा तो ही मोक्षकी प्राप्ति होगी । वैसा किये बिना मोक्ष नहीं है । इसलिये यदि तू जाकर क्षमा माँगे तो ही तेरा कल्याण हो सकता है' ।

गौतमस्वामी चार ज्ञानके धारक थे । आनन्द श्रावक उनके पास गया । आनन्द श्रावकने कहा कि 'मुझे ज्ञान उत्पन्न हो गया है' । उत्तरमें गौतमस्वामीने कहा कि 'नहीं, नहीं, इतना सब हो नहीं सकता, इसलिये तुम क्षमापना लो' । उस समय आनन्द श्रावकने विचार किया ये मेरे गुरु हैं; संभव है, इस समय ये भूल करते हों, तो भी 'आप भूल करते हो', यह कहना योग्य नहीं । ये गुरु हैं, इसलिये इनसे शान्तिसे ही बोलना ठीक है । यह सोचकर आनन्द श्रावकने कहा कि महाराज ! सद्भूतवचनका 'मिच्छामि दुक्कडं' अथवा असद्भूतवचनका 'मिच्छामि दुक्कडं' ? गौतमने कहा कि असद्भूतवचनका ही 'मिच्छामि दुक्कडं' होता है । इसपर आनन्द श्रावकने कहा कि 'महाराज ! मैं 'मिच्छामि दुक्कडं' लेने योग्य नहीं हूँ' । इतनेमें गौतमस्वामी वहाँसे चले गये और उन्होंने जाकर महावीरस्वामीसे पूँछा । यद्यपि गौतमस्वामी स्वयं उसका समाधान कर सकते थे, परन्तु गुरुके मौजूद रहते हुए वैसा करना ठीक नहीं, इस कारण उन्होंने महावीरस्वामीके पास जाकर यह

समुद्र खारा है। एकदम तो उसका खारापन दूर होता नहीं। उसके दूर करनेका उपाय यह है कि उस समुद्रमेंसे एक एक जलका प्रवाह लेकर उस प्रवाहमें, जिससे उस पानीका खारापन दूर हो और उसमें मिठास आ जाय ऐसा खार डालना चाहिए। उस पानीके सुखानेके दो उपाय हैं—एक तो सूर्यका ताप और दूसरी ज़मीन। इसलिये प्रथम ज़मीन तैयार करना चाहिये और बादमें नालियोंद्वारा पानी ले जाना चाहिये और पीछेसे खार डालना चाहिए, जिससे उसका खारापन दूर हो जायगा। इसी तरह मिथ्यात्वरूपी समुद्र है, उसमें कदाग्रह आदिरूप खारापन है, इसलिये कुलधर्मरूपी प्रवाहको योग्यतारूप जमीनमें ले जाकर उसमें सद्बोधरूपी खार डालना चाहिये—इससे सत्पुरुषरूपी तापसे खारापन दूर होगा।

* दुर्बल देहने मास उपवासी, जो छे मायारंग रे,
तो पण गर्भ अनंता लेशे, बोले बीजुं अंग रे।

\+ जितनी भ्रान्ति अधिक उतना ही अधिक मिथ्यात्व। सबसे बड़ा रोग मिथ्यात्व।

जब जब तपश्चर्या करना तब तब उसे स्वच्छंदसे न करना, अहंकारसे न करना, लोगोंके लिये न करना। जीवको जो कुछ करना है, उसे स्वच्छंदसे न करना चाहिये। 'मैं होशियार हूँ' यह जो मान रखना, वह किस भवके लिये? 'मैं होशियार नहीं', इस तरह जिसने समझ लिया वह मोक्षमें गया है। सबसे मुख्य विघ्न स्वच्छंद है। जिसके दुराग्रहका छेदन हो गया है, वह लोगोंको भी प्रिय होता है—कदाग्रह छोड़ दिया हो तो दूसरे लोगोंको भी प्रिय होता है। इसलिये कदाग्रहके छोड़ देनेसे सब फल मिलना संभव है।

गौतमस्वामीने महावीरस्वामीसे वेदसंबंधी प्रश्न पूछे। उन प्रश्नोंका, जिसने सब वेदोंका शोध कर दिया है ऐसे उन महावीरस्वामीने वेदके दृष्टांत देकर समाधान (सिद्ध) कर बताया।

दूसरेको उच्च गुणोंमें चढ़ाना चाहिये, किन्तु किसीकी निन्दा करनी नहीं। किसीको [illegible] सामने कुछ भी कहना नहीं। कुछ कहने योग्य हो तो अहंकाररहित भावसे ही कहना चाहिये। परमार्थ दृष्टिसे यदि राग-द्वेष घट गये हों तो ही फलदायक है, क्योंकि व्यवहारसे तो भोले जीवोंके भी राग-द्वेष घटे हुए रहते हैं; परन्तु परमार्थसे रागद्वेष मंद पड़ गये हों तो वह कल्याणका कारण है।

महान् पुरुषोंकी दृष्टिसे देखनेसे सब दर्शन एकसे हैं। जैन दर्शनमें [illegible] और मतमतान्तर पड़े हुए हैं! ज्ञानीकी दृष्टिसे भेदाभेद होता नहीं।

जिस जीवको अनन्तानुबंधीका उदय है, उसे सत्पुरुषकी बात भी रुचिकर होती नहीं, अथवा सत्पुरुषकी बात भी सुनना उसे अच्छा लगता नहीं।

मिथ्यात्वकी जो ग्रन्थि है, उसकी सात प्रकृतियाँ हैं। मान आवे तो सातों प्रकृतियाँ आ जाती हैं। उसमें अनन्तानुबंधीकी चार प्रकृतियाँ चक्रवर्तीके समान हैं। वे किसी भी तरह ग्रन्थिमेंसे निकलने देती नहीं। मिथ्यात्व रखवाला (पहरेदार) है। समस्त जगत् उसकी सेवा चाकरी करता है।

---

* दुर्बल देह है, और एक एक मासका उपवास करता है, परन्तु यदि मायासे करता है, तो भी जीव अनंत गर्भ धारण करेगा, ऐसा दूसरे अंगमें कहा गया है।

\+ यहाँ मूलग्रन्थमें केवल इतना ही है—जेटली भ्रान्ति वधारे तेटलुं वधारे। —अनुवादक.

किसीके ऊपर रोष करना नहीं, तथा किसीके ऊपर प्रसन्न होना नहीं। ऐसा करनेसे एक शिष्यको दो घड़ीमें केवलज्ञान प्रगट होनेका शास्त्रमें वर्णन आता है।

जितना रोग होता है, उतनी ही उसकी दवा करनी पड़ती है। जीवको समझना हो तो सहज ही विचार प्रगट हो जाय, परन्तु मिथ्यात्वरूपी महान् रोग मौजूद है, इसलिये समझनेमें बहुत काल व्यतीत होना चाहिये। शास्त्रमें जो सोलह रोग कहे हैं, वे सब इस जीवको मौजूद हैं, ऐसा समझना चाहिये।

जो साधन बताये हैं, वे सर्वथा सुलभ हैं। स्वच्छंदसे, अहंकारसे, लोक-लाजसे, कुलधर्मके रक्षणके लिये तपश्चर्या करनी नहीं—आत्मार्थके लिये ही करनी। तपश्चर्या बारह प्रकारकी कही है। आहार न लेना आदि ये बारह प्रकार हैं। सत्साधन करनेके लिये जो कुछ बताया हो उसे सद्गुरुके आश्रयसे करना चाहिये। अपने आपसे प्रवृत्ति करना यही स्वच्छंद है, ऐसा कहा है। सद्गुरुकी आज्ञाके बिना श्वासोच्छ्वास क्रियाके बिना अन्य कुछ भी करना नहीं।

साधुको लघुशंका भी गुरुसे पूँछकर ही करनी चाहिये, ऐसी ज्ञानी-पुरुषोंकी आज्ञा है।

स्वच्छंदाचारसे शिष्य बनाना हो तो साधु आज्ञा माँगता नहीं, अथवा उसकी कल्पना ही कर लेता है। परोपकार करनेमें मिथ्या कल्पना रहा करती हो, और वैसे ही अनेक विकल्पोंद्वारा जो स्वच्छंद छोड़े नहीं वह अज्ञानी, आत्माको भिन्न करता है। तथा वह इसी तरह सब बातोंका सेवन करता है, और परमार्थके रास्तेका उल्लंघन कर वाणी बोलता है। यही अपनी होशियारी है, और उसे ही स्वच्छंद कहा गया है।

बाह्य व्रतको अधिक लेनेसे मिथ्यात्वका नाश कर देंगे—ऐसा जीव विचार करे, तो वह संभव नहीं। क्योंकि जैसे एक भैंसा जो हजारों ज्वार-बाजरेके पूलेके पूले खा गया है, वह एक तिनकेसे डरता नहीं; उसी तरह मिथ्यात्वरूपी भैंसा, जो पूलेरूपी अनंतानुबंधी कषायसे अनंतों चारित्र खा गया है, वह तिनकेरूपी बाह्य व्रतसे कैसे डर सकता है? परन्तु जैसे भैंसेको यदि किसी बंधनसे बाँध दे तो वह वशमें हो जाता है, वैसे ही मिथ्यात्वरूपी भैंसेको आत्माके बलरूपी बंधनसे बाँध देनेसे वह वश हो जाता है; अर्थात् जब आत्माका बल बढ़ता तो मिथ्यात्व घटता है।

अनादिकालके अज्ञानके कारण जितना काल व्यतीत हुआ, उतना काल मोक्ष होनेके लिये चाहिये नहीं। कारण कि पुरुषार्थका बल कर्मोंकी अपेक्षा अधिक है। कितने ही जीव दो घड़ीमें कल्याण कर गये हैं! सम्यग्दृष्टि किसी भी तरह हो आत्माको ऊँचे ले जाता है—अर्थात् सम्यक्त्व आनेसे जीवकी दृष्टि बदल जाती है।

मिथ्यादृष्टि, समकितीके अनुसार ही जप तप आदि करता है, ऐसा होनेपर भी मिथ्यादृष्टिके जप तप आदि मोक्षके कारणभूत होते नहीं, संसारके ही कारणभूत होते हैं। समकितीके जप तप आदि मोक्षके कारणभूत होते हैं। समकिती उन्हें दंभ रहित करता है, अपनी आत्माकी ही निंदा करता है, और कर्म करनेके कारणोंसे पीछे हटता है। यह करनेसे उसके अहंकार आदि स्वाभाविक रूपसे ही घट जाते हैं। अज्ञानीके समस्त जप तप आदि अहंकारकी वृद्धि करते हैं, और संसारके हेतु होते हैं।

जैनशास्त्रोंने कहा है कि लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं। जैन और वेददर्शन अपनेको ही सच्चे कहते हैं, परन्तु इन बातोंको तो दोनों ही उसे कबूल करते हैं, इसलिये यह सत्य है। [illegible] सच्ची होना है उसी समय आत्मामें उल्लास-परिणाम आता है।

उपयोग दो प्रकारके कहे हैं:—१ द्रव्य उपयोग. २ भाव उपयोग.

जैसी सामर्थ्य सिद्धभगवान्‌की है, वैसी सब जीवोंको हो सकती है। केवल अज्ञानके कारण ही वह ध्यानमें आती नहीं। जो विचारवान जीव हो उसे तो नित्य ही तत्संबंधी विचार करना चाहिये।

जीव ऐसा समझता है कि मैं जो क्रिया करता हूँ इससे मोक्ष है। क्रिया करना ही श्रेष्ठ बात है, परन्तु उसे यह लोक-संज्ञासे करे तो उसका फल मिलता नहीं।

जैसे किसी आदमीके हाथमें चिंतामणि रत्न आ गया हो, किन्तु यदि उसे उसकी खबर न हो तो वह निष्फल ही चला जाता है, और यदि खबर हो तो ही उसका फल मिलता है। इसी तरह यदि जीवको ज्ञानीकी सच्ची सच्ची खबर पड़े तो ही उसका फल है।

जीवकी अनादिकालसे भूल चली आती है। उसे समझनेके लिये जीवकी जो भूल—मिथ्यात्व है, उसका मूलसे ही छेदन करना चाहिये। यदि उसका मूलसे छेदन किया जाय तो वह फिर अंकुरित होती नहीं, अन्यथा वह फिरसे अंकुरित हो जाती है। जिस तरह पृथ्वीमें यदि वृक्षकी जड़ बाकी रह गई हो तो वृक्ष फिरसे उग आता है। इसलिये जीवकी वास्तविक मूल क्या है, उसका विचार विचार कर उससे मुक्त होना चाहिये। 'मुझे किस कारणसे बंधन होता है'? 'वह किस तरह दूर हो सकता है'? यह विचार पहले करना चाहिये।

रात्रि-भोजन करनेसे आलस-प्रमाद उत्पन्न होता है, जागृति होती नहीं, विचार आता नहीं, इत्यादि अनेक प्रकारके दोष रात्रि-भोजनसे पैदा होते हैं। मैथुन करनेके पश्चात् भी बहुतसे दोष उत्पन्न होते हैं।

कोई हरियाली विनारता हो तो वह हमसे देखा जा सकता नहीं। तथा आत्मा उज्ज्वलता प्राप्त करे तो बहुत ही अनुकंपा बुद्धि रहती है।

ज्ञानमें सीधा ही भासित होता है, उल्टा भासित नहीं होता। ज्ञानी मोहको प्रवेश करने देता नहीं। उसके जागृत उपयोग होता है। ज्ञानीके जिस तरहका परिणाम हो वैसा ही ज्ञानीका कार्य होता है। तथा जिस तरह अज्ञानीका परिणाम हो, वैसा ही अज्ञानीका कार्य होता है। ज्ञानीका चलना सीधा, बोलना सीधा और सब कुछ सीधा ही होता है। अज्ञानीका सब कुछ उल्टा ही होता है; वर्त्तनके विकल्प होते हैं।

मोक्षका उपाय है। ओघ-भावसे खबर होगी, विचारभावसे प्रतीति आयेगी।

अज्ञानी स्वयं दरिद्री है। ज्ञानीकी आज्ञासे काम क्रोध आदि घटते हैं। ज्ञानी उसका वैद्य है। ज्ञानीके हाथसे चारित्र प्राप्त हो तो मोक्ष हो जाय। ज्ञानी जो जो व्रत दे वे सब ठेठ अन्ततक है जाकर पार उतारनेवाले हैं। समकित आनेके पश्चात् आत्मा समाधिको प्राप्त करेगी, क्योंकि अब वह सच्ची हो गई है।

(५)

भाद्रपद सुदी ९, १९५२

प्रश्न:—ज्ञानसे कर्मकी निर्जरा होती है, क्या यह ठीक है?

उत्तर:—सार जाननेको ज्ञान कहते हैं और सार न जाननेको अज्ञान कहते हैं। हम किसी भी पापसे निवृत्त हों, अथवा कल्याणमें प्रवृत्ति करें, वह ज्ञान है। परमार्थको समझकर करना चाहिये। अहंकाररहित, लोकसंज्ञारहित, आत्मामें प्रवृत्ति करनेका नाम 'निर्जरा' है।

खानेसे इन्द्रियोंकी प्रियता होती नहीं, और उससे क्रमसे इन्द्रियाँ वशमें होती हैं। तथा पाँच इन्द्रियोंमें भी जिह्वा इन्द्रियके वश करनेसे बाकीकी चार इन्द्रियाँ सहज ही वश हो जाती हैं। तुच्छ आहार करना चाहिये। किसी रसवाले पदार्थकी ओर प्रेरित होना नहीं। बलिष्ठ आहार करना नहीं।

जैसे किसी बर्त्तनमें खून, माँस, हड्डी, चमड़ा, वीर्य, मल, और मूत्र ये सात धातुएँ पड़ी हुई हों, और उसकी ओर कोई देखनेके लिये कहे तो उसके ऊपर अरुचि होती है, और थूँकातक भी नहीं जाता; उसी तरह स्त्री-पुरुषके शरीरकी रचना है। परन्तु उसमें ऊपर ऊपरसे रमणीयता देखकर जीवको मोह होता है, और उसमें वह तृष्णापूर्वक प्रेरित होता है। अज्ञानसे जीव भूलता है—ऐसा विचार कर, तुच्छ समझकर, पदार्थके ऊपर अरुचिभाव लाना चाहिये। इसी तरह हरेक वस्तुकी तुच्छता समझनी चाहिये। इस तरह समझकर मनका निरोध करना चाहिये।

तीर्थंकरने उपवास करनेकी आज्ञा की है, वह केवल इन्द्रियोंको वश करनेके लिये ही की है। अकेले उपवासके करनेसे इन्द्रियाँ वश होती नहीं, परन्तु यदि उपयोग हो तो—विचारसहित हो तो—वश होती हैं। जिस तरह लक्षरहित बाण व्यर्थ ही चला जाता है, उसी तरह उपयोगरहित उपवास आत्मार्थके लिये होता नहीं।

अपनेमें कोई गुण प्रगट हुआ हो, और उसके लिये यदि कोई अपनी स्तुति करे, और यदि उससे अपनी आत्मामें अहंकार उत्पन्न हो तो वह पीछे हट जाती है। अपनी आत्माकी निन्दा करे नहीं, अभ्यंतर दोष विचारे नहीं, तो जीव लौकिक भावमें चला जाता है; परन्तु यदि अपने दोषोंका निरीक्षण करे, अपनी आत्माकी निन्दा करे, अहंभावसे रहित होकर विचार करे, तो सत्पुरुषके आश्रयसे आत्मलक्ष होता है।

मार्गके पानेमें अनन्त अन्तराय हैं। उनमें फिर 'मैंने यह किया' 'मैंने यह कैसा सुन्दर किया' इस प्रकारका अभिमान होता है। 'मैंने कुछ भी किया ही नहीं' यह दृष्टि रखनेमें ही वह अभिमान दूर होता है।

लौकिक और अलौकिक इस तरह दो भाव होते हैं। लौकिकसे संसार और अलौकिकसे मोक्ष होती है।

बाह्य इन्द्रियोंको वश किया हो तो सत्पुरुषके आश्रयसे अंतर्लक्ष हो सकता है। इस कारण बाह्य इन्द्रियोंको वशमें करना श्रेष्ठ है। बाह्य इन्द्रियाँ वशमें हो जाँय, और सत्पुरुषका आश्रय न हो तो लौकिकभावमें चले जानेकी सम्भावना रहती है।

उपाय किये बिना कोई रोग मिटता नहीं। इसी तरह जीवको लोभरूपी जो रोग है, उसका उपाय किये बिना वह दूर होता नहीं। ऐसे दोषके दूर करनेके लिये जीव जरा भी उपाय करता नहीं। यदि उपाय करे तो वह दोष हटने ही भाग जाय। कारणको खड़ा करो तो ही कार्य होता है। कारण बिना कार्य नहीं होता।

सच्चे उपायको जीव खोजता नहीं। जीव ज्ञानी-पुरुषके वचनोंको श्रवण करे तो उसकी प्रतीतिमें प्रतीति होती नहीं। 'मुझे लोभ छोड़ना है, ऐसी बीजभूत भावना हो तो दोष दूर होकर अनुक्रमसे 'बीज-ज्ञान' प्रगट होता है।

इस जीवको साथ राग-द्वेष लगे हुए हैं। जीव यद्यपि अनंतज्ञान-दर्शनसहित है, परन्तु राग-द्वेषके कारण वह उससे रहित ही है, यह बात जीवके ध्यानमें आती नहीं।

सिद्धको राग-द्वेष नहीं। जैसा सिद्धका स्वरूप है, वैसा ही सब जीवोंका भी स्वरूप है। जीवको केवल अज्ञानके कारण यह ध्यानमें आता नहीं। उसके लिये विचारवानको सिद्धके स्वरूपका विचार करना चाहिये, जिससे अपना स्वरूप समझमें आ जाय।

जैसे किसी मनुष्यके हाथमें चिंतामणि रत्न आया हो, और उसे उसकी (पहिचान) हो तो उसे उस रत्नके प्रति बहुत ही प्रेम उत्पन्न होता है, परन्तु जिसे उसकी खबर ही नहीं, उसे उसके प्रति कुछ भी प्रेम उत्पन्न होता नहीं।

इस जीवकी अनादिकालकी जो भूल है, उसे दूर करना है। दूर करनेके लिये जीवकी बड़ीसे बड़ी भूल क्या है? उसका विचार करना चाहिये, और उसके मूलका छेदन करनेकी ओर लक्ष रखना चाहिये। जबतक मूल रहती है तबतक वह बढ़ती ही है।

'मुझे किस कारणसे बंधन होता है'? और 'वह किससे दूर हो सकता है'? इसके जाननेके लिये शास्त्र रचे गये हैं; लोगोंमें पुजनेके लिये शास्त्र नहीं रचे गये।

इस जीवका स्वरूप क्या है?

जबतक जीवका स्वरूप जाननेमें न आवे, तबतक अनन्त जन्म मरण करने पड़ते हैं। जीवकी क्या भूल है? वह अभीतक ध्यानमें आती नहीं।

जीवका क्लेश नष्ट होगा तो भूल दूर होगी। जिस दिन भूल दूर होगी उसी दिनसे साधुता कही जावेगी। यही बात श्रावकपनेके लिये समझनी चाहिये।

कर्मकी वर्गणा जीवको दूध और पानीके संयोगकी तरह है। अग्निके संयोगसे जैसे पानीके जल जानेपर दूध बाकी रह जाता है, इसी तरह ज्ञानरूपी अग्निसे कर्मवर्गणा नष्ट हो जाती है।

देहमें अहंभाव माना हुआ है, इस कारण जीवकी भूल दूर होती नहीं। जीव देहकी साथ एकमेक हो जानेसे ऐसा मानने लगता है कि 'मैं बनिया हूं,' 'ब्राह्मण हूं,' परन्तु शुद्ध विचारसे तो उसे ऐसा अनुभव होता है कि 'मैं शुद्ध स्वरूपमय हूं'। आत्माका नाम ठाम कुछ भी नहीं है— जीव इस तरह विचार करे तो उसे कोई गाली वगैरह दे, तो भी उससे उसे कुछ भी लगता नहीं।

जहाँ जहाँ कहीं जीव ममत्व करता है वहाँ वहाँ उसकी भूल है। उसके दूर करनेके लिये ही शास्त्र रचे गये हैं।

चाहे कोई भी मर गया हो उसका यदि विचार करे तो वह वैराग्य है। जहाँ जहाँ 'यह मेरा भाई बन्धु है' इत्यादि भावना है, वहाँ वहाँ कर्म-बंधका कारण है। इसी तरहकी भावना यदि साधु भी अपने चेलेके प्रति रक्खे तो उसका आचार्यपना नाश हो जाय। वह अदंभता, निरहंकारता करे तो ही आत्माका कल्याण हो सकता है।

पाँच इन्द्रियाँ किस तरह वश होती हैं? वस्तुओंके ऊपर तुच्छ भाव लानेसे। जैसे फूलमें यदि सुगंध हो तो उससे मन संतुष्ट होता है, परन्तु वह सुगंध थोड़ी देर रहकर नष्ट हो जाती है, और फूल कुम्हला जाता है, फिर मनको कुछ भी संतोष होता नहीं। उसी तरह सब पदार्थोंमें तुच्छभाव

होगी तो कालक्रमसे उस उस प्रकारमें विशेष प्रवृत्ति होगी, यह जानकर ज्ञानीने सुँई जै
वस्तुके संबंधमें भी इस तरह आचरण करनेकी आज्ञा की है। लोककी दृष्टिमें तो यह बात सा
परन्तु ज्ञानीकी दृष्टिमें उतनी छूट भी जड़मूलसे नाश कर सके, इतनी बड़ी मालूम होती है।

ऋषभदेवजीके पास अट्ठानवें पुत्र यह कहनेके अभिप्रायसे आये थे कि 'हमें राज प्रदान
वहाँ तो ऋषभदेवने उपदेश देकर अट्ठानवेंके अट्ठानवेंको ही मूँड लिया। देखो महान्
करुणा!

केशीस्वामी और गौतमस्वामी कैसे सरल थे! दोनोंने ही एक मार्गको जाननेसे पाँच
ग्रहण किये थे। आजकलके समयमें दोनों पक्षोंका इकट्ठा होना हो तो यह न बने। आजकलके
और तेरा, तथा हरेक जुदे जुदे संघाड़ोंका इकट्ठा होना हो तो यह न बने; उसमें कितना
व्यतीत हो जाय। यद्यपि उसमें है कुछ भी नहीं, परन्तु असरलताके कारण यह संभव ही नह

सत्पुरुष कुछ सत् अनुष्ठानका त्याग कराते नहीं, परन्तु यदि उसका आग्रह हुआ हो त
आग्रह दूर करानेके लिये उसका एक बार त्याग कराते हैं। आग्रह दूर होनेके बाद पीछेसे
ग्रहण करनेको कहते हैं।

चक्रवर्ती राजा जैसे भी नग्न होकर चले गये हैं! कोई चक्रवर्ती राजा हो, उसने राज्य
कर दीक्षा ग्रहण की हो; और उसकी कुछ भूल हो गई, और कोई ऐसी बात हो कि उस चक्र
राज्य-कालका दासीका कोई पुत्र उस भूलको सुधार सकता हो, तो उसके पास जाकर, चक्रवर्तीको
कथनके ग्रहण करनेकी आज्ञा की गई है। यदि उसे उस दासीके पुत्रके पास जाते समय ऐसा
'मैं दासीके पुत्रके पास कैसे जाऊँ' तो उसे भटक भटककर मरना है। ऐसे कारणोंके उपस्थित
पर लोक-लाजको छोड़नेका ही उपदेश किया है; अर्थात् जहाँ आत्माको ऊँचे ले जानेका कोई
हो, वहाँ लोक-लाज नहीं मानी गई। परन्तु कोई मुनि विषय इच्छासे वेश्याके घर जाय, और
जाकर उसे ऐसा हो कि 'मुझे लोग देख लेंगे तो मेरी निन्दा होगी, इसलिये यहाँसे वापिस लौट
चाहिये' तो वहाँ लोक-लाज रखनेका विधान है। क्योंकि ऐसे स्थानमें लोक-लाजका भय
ब्रह्मचर्य रहता है, जो उपकारक है।

हितकारी क्या है, इसे समझना चाहिये। आठमकी तकरारकी तिथिके लिये कदा
परन्तु हरियालीके रक्षणके लिये ही तिथि पालनी चाहिये। हरियालीके रक्षणके लिये आ
आदि तिथि कही गई हैं, कुछ तिथिके लिये आठम आदिको कहा नहीं। इसलिये आठम आ
तिथिके कदाग्रहको दूर करना चाहिये। जो कुछ कहा है वह कदाग्रहके करनेके लिये कहा नहीं
आत्माकी शुद्धिसे जितना करोगे उतना ही हितकारी है। जितना अशुद्धिसे करोगे उतना ही अहितकर
है, इसलिये शुद्धतापूर्वक सद्व्रतका सेवन करना चाहिये।

हमें तो ब्राह्मण, वैष्णव, चाहे जो हो सब समान ही है। कोई जैन कहा जाता है
मतसे ग्रस्त है तो वह अहितकारी है, मतरहित ही हितकारी है।

सामायिक-सम्प्रदायने विचार किया कि यदि कायाको स्थिर रखनी होगी, तो [illegible]
कोगा; स्थिर नहीं बैठा हो तो दूसरे कालमें चढ़ जायगा, ऐसा समझकर उस प्रकारका स्थिर [illegible]

---

१ सम्प्रदाय। —अनुवादक.

मर्यादाका लाभ लेना चाहिये। बाकी तिथि-तिथिके भेदको छोड़ ही देना चाहिये। ऐसी कल्पना करना नहीं, ऐसी भंगजालमें पड़ना नहीं।

आनन्दघनजीने कहा हैः—

फळ अनेकांत लोचन न देखे,
फळ अनेकांत किरिया करी बापडा, रडवडे चार गतिमांहि लेखे।

अर्थात् जिस क्रियाके करनेसे अनेक फल हों वह क्रिया मोक्षके लिये नहीं है। अनेक क्रियाओंका फल मोक्ष ही होना चाहिये। आत्माके अंशोंके प्रगट होनेके लिये क्रियाओंका वर्णन किया गया है। यदि क्रियाओंका वह फल न हुआ हो तो वे सब क्रियायें संसारकी ही हेतु हैं।

'निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि' ऐसा जो कहा है, उसका हेतु कषायको मिटा करानेका है, परन्तु लोग तो बिचारे एकदम आत्माको ही विस्मरण कर देते हैं!

जीवको देवगतिकी, मोक्षके सुखकी, और अन्य उस तरहकी कामनाकी इच्छा न रखनी चाहिये।

पंचमकालके गुरु कैसे होते हैं, उसका एक संन्यासीका दृष्टान्तः—

कोई संन्यासी अपने शिष्यके घर गया। ठंड बहुत पड़ रही थी। भोजन करने बैठनेके समय शिष्यने स्नान करनेके लिये कहा, तो गुरुने मनमें विचार किया कि 'ठंड बहुत पड़ रही है और इसमें स्नान करना पड़ेगा', यह विचार कर संन्यासीने कहा कि 'मैंने तो ज्ञान-गंगाजलमें स्नान कर लिया है'। शिष्य बुद्धिमान् था, वह समझ गया और उसने ऐसा रास्ता पकड़ा जिससे गुरुको कुछ शिक्षा मिले। शिष्यने गुरुजीको भोजन करनेके लिये मानपूर्वक बुला कर उन्हें भोजन कराया। प्रसाद लेनेके बाद गुरु महाराज एक कमरेमें सो गये। गुरुजीको जब प्यास लगी, तो उन्होंने शिष्यसे जल मँगाया। इसपर शिष्यने तुरत ही जवाब दिया, 'महाराज, आप ज्ञान-गंगामेंसे ही जल ले लें।' जब शिष्यने ऐसा कठिन रास्ता पकड़ा तो गुरुने स्वीकार किया कि 'मेरे पास ज्ञान नहीं है। देहकी साताके लिये ही मैंने स्नान न करनेके लिये ऐसा कह दिया था!'

मिथ्यादृष्टिके पूर्वके जप-तप अभीतक भी एक आत्महितार्थके लिये हुए नहीं!

आत्मा मुख्यरूपसे आत्मस्वभावसे आचरण करे, यह 'अध्यात्मज्ञान'। मुख्यरूपसे जिसमें आत्माका वर्णन किया हो वह 'अध्यात्मशास्त्र'। अक्षर (शब्द) अध्यात्मीका मोक्ष होता नहीं। जो गुण अक्षरोंमें कहे गये हैं, वे गुण यदि आत्मामें रहें तो मोक्ष हो जाय। सत्पुरुषोंमें भाव-अध्यात्म प्रगट रहता है। केवल वाणीके सुननेके लिये ही जो वचनोंको सुने, उसे शब्द-अध्यात्मी कहना चाहिये। शब्द-अध्यात्मी लोग अध्यात्मकी बातें करते हैं और महा अनर्थकारक आचरण करते हैं। इस कारण उन लोगोंको ज्ञान-दग्ध कहना चाहिये। ऐसे अध्यात्मियोंको शुष्क और अज्ञानी समझना चाहिये।

ज्ञानी-पुरुषरूपी सूर्यके प्रगट होनेके पश्चात् सच्चे अध्यात्मी शुष्क रीतिसे आचरण करते नहीं, वे भाव-अध्यात्ममें ही प्रगटरूपसे रहते हैं। आत्मामें सच्चे सच्चे गुणोंके उत्पन्न होनेके बाद मोक्ष होती है। इस कालमें द्रव्य-अध्यात्मी ज्ञानदग्ध बहुत हैं। द्रव्य-अध्यात्मी देवल मंदिरके कलशकी दंडके समान हैं।

सत्शास्त्र-सद्गुरुके आश्रयसे जो संयम होता है, उसे 'सरागसंयम' कहा जाता है। निवृत्ति-अनिवृत्तिस्थानकका अन्तर पड़े तो सरागसंयममेंसे 'वीतरागसंयम' पैदा होता है। उसे निवृत्ति-अनिवृत्ति दोनों ही बराबर हैं। स्वच्छंदसे कल्पना होना 'भ्रान्ति' है। 'यह तो इस तरह नहीं, इस तरह होगा' इस प्रकारका भाव 'शंका' है। समझनेके लिये विचार करके पूँछनेको 'आशंका' कहते हैं।

अपने आपसे जो समझमें न आवे, वह 'आशंका मोहनीय है'। सच्चा जान लिया हो और फिर भी सच्चा सच्चा भाव न आवे, वह भी 'आशंका मोहनीय' है। अपने आपसे जो समझमें न आवे उसे पूँछना चाहिये। मूलस्वरूप जाननेके पश्चात् उत्तर विषयके संबंधमें यह किस तरह होगा, इस प्रकार जाननेके लिये जिसकी आकांक्षा हो उसका सम्यक्त्व नष्ट होता नहीं; अर्थात् वह पतित होता नहीं। मिथ्या भ्रान्तिका होना शंका है। मिथ्या प्रतीति अनंतानुबंधीमें ही गर्भित हो जाती है। मन-मतीसे दोषका देखना मिथ्यात्व है। क्षयोपशम अर्थात् क्षय और उपशम हो जाना।

(६) राळजका बाह्य प्रदेश, बड़के नीचे दोपहरके दो बजे

यदि ज्ञान-मार्गका आराधन करे तो रास्ते चलते हुए भी ज्ञान हो जाता है। समझमें आ जाय तो आत्मा सहजमें ही प्रगट हो जाय, नहीं तो ज़िन्दगी बीत जाय तो भी प्रगट न हो। केवल माहात्म्य समझना चाहिये। निष्काम बुद्धि और भक्ति चाहिये। अंतःकरणकी शुद्धि हो तो ज्ञान स्वतः ही उत्पन्न हो जाता। यदि ज्ञानीका परिचय हो तो ज्ञानकी प्राप्ति होती है। यदि किसी जीवको योग्य देखे तो ज्ञानी उसे कहता है कि समस्त कल्पना छोड़ देने जैसी ही है। ज्ञान दे। ज्ञानीको जीव यदि ओघ-संज्ञासे पहिचाने तो यथार्थ ज्ञान होता नहीं।

जब ज्ञानीका त्याग—दृढ़ त्याग—आवे अर्थात् जैसा चाहिये वैसा यथार्थ त्याग करनेको ज्ञानी कहे, तो माया भुला देती है, इसलिये बराबर जागृत रहना चाहिये, और मायाको दूर करते रहना चाहिये। ज्ञानीके त्याग—ज्ञानीके बताये हुए त्याग—के लिये कमर कसकर तैयार रहना चाहिये।

जब सत्संग हो तब माया दूर रहती है। और सत्संगका संयोग दूर हुआ कि वह फिर तैयार-की-तैय्यार खड़ी है। इसलिये बाह्य उपाधिको कम करना चाहिये। इससे विशेष सत्संग होता है। इस कारणसे बाह्य त्याग करना श्रेष्ठ है।

ज्ञानीको दुःख नहीं। अज्ञानीको ही दुःख है। समाधि करनेके लिये सदाचरणका सेवन करना चाहिये। जो नकली रंग है वह तो नकली ही है। असली रंग ही सदा रहता है। ज्ञानीके मिलनेके पश्चात् देह छूट गई, अर्थात् देह धारण करना नहीं रहता, ऐसा समझना चाहिये। ज्ञानीके वचन प्रथम तो कड़वे लगते हैं, परन्तु पीछेसे मालूम होता है कि ज्ञानी-पुरुष संसारके अनंत दुःखोंको दूर करता है। जैसे औषध कड़वी तो होती है, परन्तु वह दीर्घकालके रोगको दूर कर देती है।

और आत्मामें कोमलता हो तो वह फलदायक होता है। जिससे वास्तवमें पाप लगता है, उसे रोकना अपने हाथमें है, यह अपनेसे बन सकने जैसा है; उसे जीव रोकता नहीं; और दूसरी तिथि आदिकी योंही फिक्र किया करता है। अनादिसे शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्शका मोह रहता आया है, उस मोहको दूर करना है। बड़ा पाप अज्ञानका है।

जिसे अविरतिके पापकी चिंता होती हो उससे वहाँ रहा ही कैसे जा सकता है!

स्वयं त्याग कर सकता नहीं और बहाना बनावे कि मुझे अन्तराय बहुत हैं। जब धर्मका प्रसंग आवे तो कहता है कि 'उदय है'। 'उदय उदय' कहा करता है, परन्तु कुछ कुएमें गिर पड़ता नहीं। गाड़ीमें बैठा हो, और गड्ढा आ जावे तो सहजमें सँभलकर चलता है। उस समय उदयको भूल जाता है। अर्थात् अपनी तो शिथिलता हो, उसके बदले उदयका दोष निकालता है।

लौकिक और लोकोत्तर विचार जुदा जुदा होता है। उदयका दोष निकालना यह लौकिक विचार है। अनादि कालके कर्म तो दो घड़ीमें नाश हो जाते हैं, इसलिये कर्मका दोष निकालना चाहिये नहीं; आत्माकी ही निन्दा करनी चाहिये। धर्म करनेकी बात आवे तो जीव पूर्व कर्मके दोषकी बातको आगे कर देता है। पुरुषार्थ करना ही श्रेष्ठ है। पुरुषार्थको पहिले करना चाहिये। मिथ्यात्व, प्रमाद और अशुभ योगका त्याग करना चाहिये।

कर्मोंके दूर किये बिना कर्म दूर होनेवाले नहीं। इतनेके लिये ही ज्ञानियोंने शास्त्रोंकी रचना की है। शिथिल होनेके साधन नहीं बताये। परिणाम ऊँचे आने चाहियें। कर्म उदयमें आवेगा, यह मनमें रहे तो कर्म उदयमें आता है। बाकी पुरुषार्थ करे तो कर्म दूर हो जाय। जिससे उपकार हो वहीं लक्ष रखना चाहिये।

(७)वडवा,सवेरे ११ बजे भाद्रपद सुदी १० गुरु. १९५२

कर्म गिन गिनकर नाश किये नहीं जाते। ज्ञानी-पुरुष तो एक साथ ही सबके सब इकट्ठे कर नाश कर देता है।

विचारवानको दूसरे आलंबन छोड़कर, जिससे आत्माके पुरुषार्थका जय हो, वैसा आलंबन लेना चाहिये। कर्म-बंधनका आलंबन नहीं लेना चाहिये। आत्मामें परिणाम हो वह अनुप्रेक्षा है।

मिट्टीमें घड़े बननेकी सत्ता है; परन्तु जब दंड, चक्र, कुम्हार आदि इकट्ठे हों तभी तो। इसी तरह आत्मा मिट्टीरूप है, उसे सद्गुरु आदिका साधन मिले तो ही आत्मज्ञान उत्पन्न होता है। जो ज्ञान हुआ हो वह, पूर्वकालीन ज्ञानियोंने जो ज्ञान सम्पादन किया है, उसके साथ और वर्तमानमें जो ज्ञानी-पुरुषोंने सम्पादन किया है, उसके साथ पूर्वापर संबद्ध होना चाहिये, नहीं तो अज्ञानको ही ज्ञान मान लिया है, ऐसा कहा जायगा।

ज्ञान दो प्रकारके हैं:—एक बीजभूत ज्ञान और दूसरा वृक्षभूत ज्ञान। प्रतीतिसे दोनों ही समान हैं, उनमें भेद नहीं। वृक्षभूत—सर्वथा निरावरण ज्ञान—हो तो उसी भवमें मोक्ष हो जाय, और बीजभूत ज्ञान हो तो अन्तमें पन्द्रह भवमें मोक्ष हो।

आत्मा अरूपी है, अर्थात् वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शरहित वस्तु है—अवस्तु नहीं।

जिसने षड्दर्शनोंकी रचना की है, उसने बहुत बुद्धिमानीका उपयोग किया है।

परमार्थ। सद्गुरुके वचनोंका सुनना, उन वचनोंका विचार करना, उनकी प्रतीति करना, वह 'व्यवहार सम्यक्त्व' है। आत्माकी पहिचान होना वह 'परमार्थ सम्यक्त्व' है।

अन्तःकरणकी शुद्धिके बिना बोध असर करता नहीं; इसलिये प्रथम अंतःकरणमें कोमलता लानी चाहिये। व्यवहार और निश्चय इत्यादिकी मिथ्या चर्चामें आग्रहरहित रहना चाहिये—मध्यस्थ भावसे रहना चाहिये। आत्माके स्वभावका जो आवरण है, उसे ज्ञानी 'कर्म' कहते हैं।

जब सात प्रकृतियोंका क्षय हो उस समय सम्यक्त्व प्रगट होता है। अनंतानुबंधी चार कषाय, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, समकितमोहनीय, ये सात प्रकृतियाँ जब क्षय हो जाँय, उस समय सम्यक्त्व प्रगट होता है।

प्रश्नः—कषाय क्या है?

उत्तरः—सत्पुरुष मिलनेपर जीवको बताते हैं कि तू जो विचार किये बिना करता जाता है, उसमें कल्याण नहीं, फिर भी उसे करनेके लिये जो दुराग्रह रखता है, वह कषाय है।

उन्मार्गको मोक्षमार्ग माने, और मोक्षमार्गको उन्मार्ग माने वह 'मिथ्यात्व मोहनीय' है। उन्मार्गसे मोक्ष होता नहीं, इसलिये मार्ग कोई दूसरा ही होना चाहिये—ऐसे भावको 'मिश्र मोहनीय' कहते हैं। 'आत्मा यह होगी'—ऐसा ज्ञान होना 'सम्यक्त्व मोहनीय' है। 'आत्मा है'—ऐसा निश्चयभाव 'सम्यक्त्व' है।

नियमसे जीव कोमल होता है। दया आती है। मनके परिणाम उपयोगसहित हों तो कर्म कम लगें; और यदि उपयोगरहित हों तो अधिक लगें। अंतःकरणको कोमल करनेके लिये—शुद्ध करनेके लिये—व्रत आदि करनेका विधान किया है। स्वाद-बुद्धिको कम करनेके लिये नियम करना चाहिये। कुल-धर्म, जहाँ जहाँ देखते हैं वहाँ वहाँ रास्तेमें आता है।

(८) वडवा, भाद्रपद सुदी १२ शनि. १९५२

लौकिक दृष्टिमें वैराग्य भक्ति नहीं है; पुरुषार्थ करना और सत्य रीतिसे आचरण करना ध्यानमें ही आता नहीं। उसे तो लोग भूल ही गये हैं।

लोग, जब बरसात आती है तो पानीको टंकीमें भरकर रख लेते हैं; वैसे ही मुमुक्षु जीव इतना इतना उपदेश सुनकर उसे जरा भी ग्रहण करता नहीं, यह एक आश्चर्य है। उसका उपकार किस तरह हो?

ज्ञानियोंने दोषके घटानेके लिये अनुभवके वचन कहे हैं, इसलिये वैसे वचनोंका स्मरण कर यदि उन्हें समझा जाय—उनका श्रवण-मनन हो—तो सहज ही आत्मा उज्वल हो जाय। वैसा करनेमें कुछ बहुत मेहनत नहीं है। उन वचनोंका विचार न करे तो कभी भी दोष घटे नहीं।

सदाचार सेवन करना चाहिये। ज्ञानी-पुरुषोंने दया, सत्य, अदत्तादान, ब्रह्मचर्य, परिग्रह-परिमाण वगैरहको सदाचार कहा है। ज्ञानियोंने जिन सदाचारोंका सेवन करना बताया है, वे यथार्थ हैं—सेवन करने योग्य हैं। बिना साक्षीके जीवको व्रत-नियम करने चाहिये नहीं।

विषय कषाय आदि दोषोंके गये बिना जब सामान्य आशयवाले दया आदि भी आते नहीं, तो फिर

जीव अहंकार रखता है, असत् वचन बोलता है, भ्रान्ति रखता है, उसका उसे बिलकुल भा मान नहीं। इस भानके हुए बिना निस्तारा होनेवाला नहीं।

शूरवीर वचनोंको दूसरा एक भी वचन नहीं पहुँचता। जीवको सत्पुरुषका एक शब्द भी समझमें नहीं आया। बड़प्पन रुकावट डालता हो तो उसे छोड़ देना चाहिये। कदाग्रहमें कुछ भी हित नहीं। हिम्मत करके आग्रह—कदाग्रहसे—दूर रहना चाहिये, परन्तु विरोध करना चाहिये नहीं।

जब ज्ञानी-पुरुष होते हैं, तब मतभेद कदाग्रह घटा देते हैं। ज्ञानी अनुकंपाके लिये मार्गका बोध करता है। अज्ञानी कुगुरु जगह जगह मतभेदको बढ़ाकर कदाग्रहको सतर्क कर देते हैं।

सच्चे पुरुष मिलें और वे जो कल्याणका मार्ग बतावें उसीके अनुसार जीव आचरण करे, तो अवश्य कल्याण हो जाय। मार्ग विचारवानसे पूँछना चाहिये। सत्पुरुषके आश्रयसे श्रेष्ठ आचरण करना चाहिये। खोटी बुद्धि सबको हैरान करनेवाली है, वह पापकी करनेवाली है। जहाँ ममत्व हो वहाँ मिथ्यात्व है। श्रावक सब दयालु होते हैं। कल्याणका मार्ग एक होता है, सौ दोसौ नहीं होते। *भीतरका दोष नाश होगा, और सम-परिणाम आवेगा, तो ही कल्याण होगा।*

जो मतभेदका छेदन करे वही सत्पुरुष है। जो सम-परिणामके रास्तेमें चढ़ावे वही सत्संग है। विचारवानको मार्गका भेद नहीं।

हिन्दू और मुसलमान समान नहीं हैं। हिन्दुओंके धर्मगुरु जो धर्म-बोध कह गये थे, वे उसे बहुत उपकारके लिये कह गये थे। वैसा बोध पीराणा[1] मुसलमानोंके शास्त्रोंमें नहीं। आत्मापेक्षासे तो कुनबी, बनिये, मुसलमान कुछ भी नहीं हैं। उसका भेद जिसे दूर हो गया वही शुद्ध है; भेद भासित होना, यही अनादिकी भूल है। कुलाचारके अनुसार जो सच्चा मान लिया, वही कषाय है।

प्रश्नः—मोक्ष किसे कहते हैं?

उत्तरः—आत्माकी अत्यंत शुद्धता, अज्ञानसे छूट जाना, सब कर्मोंसे मुक्त होना मोक्ष है। याथातथ्य ज्ञानके प्रगट होनेपर मोक्ष होता है। जबतक भ्रान्ति रहे तबतक आत्मा जगत्में रहती है। अनादिकालका जो चेतन है उसका स्वभाव जानना—ज्ञान—है, फिर भी जीव जो भूल जाता है, वह क्या है? जाननेमें न्यूनता है। याथातथ्य ज्ञान नहीं है। वह न्यूनता किस तरह दूर हो? उस जानने-रूप स्वभावको भूल न जाय, उसे बारंबार दृढ़ करे, तो न्यूनता दूर हो सकती है।

ज्ञानी-पुरुषके वचनोंका अवलम्बन लेनेसे ज्ञान होता है। जो साधन हैं वे उपकारके हेतु हैं। अधिकारीपना सत्पुरुषके आश्रयसे ले तो साधन उपकारके हेतु हैं। सत्पुरुषकी दृष्टिसे चलनेसे ज्ञान होता है। सत्पुरुषके वचनोंके आत्मामें निष्पन्न होनेपर मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, अशुभ योग इत्यादि समस्त दोष अनुक्रमसे शिथिल पड़ जाते हैं। आत्मज्ञान विचारनेसे दोष नाश होते हैं। सत्पुरुष पुकार पुकारकर कह गये हैं; परन्तु जीवको तो लोक-मार्गमें ही पड़ा रहना है, और लोकोत्तर कहलवाना है; और दोष क्यों दूर होते नहीं, केवल ऐसा ही पकड़े रहना है। लोकका भय

१. पीराणा नामका मुसलमानोंका एक पंथ है, जिसके हिन्दू और मुसलमान दोनों अनुयायी होते हैं। श्रीयुत मिथ मणिलाल केशवलाल परीखका कहना है कि अहमदाबादके कुछ मीलके फासलेपर पीराणा नामक एक गाँव है, जहाँ इन लोगोंकी बस्ती पाई जाती है।—अनुवादक.

होनेके पश्चात् संसारमें आती नहीं। आत्मा स्वानुभव-गोचर है, वह चक्षुसे दिखाई देती नहीं; इन्द्रियसे रहित ज्ञान ही उसे जानता है। जो आत्माके उपयोगका मनन करे वह मन है। संलग्नताके कारण मन भिन्न कहा जाता है। संकल्प-विकल्प त्याग देनेको 'उपयोग' कहते हैं। ज्ञानका आवरण करनेवाला निकाचित कर्म जिसने न बाँधा हो उसे सत्पुरुषका बोध लगता है। आयुका बंध हो तो वह रुकता नहीं।

जीवने अज्ञान पकड़ रक्खा है, इस कारण उपदेश लगता नहीं। क्योंकि आवरणके कारण लगनेका कोई रास्ता ही नहीं। जबतक लोकके अभिनिवेशकी कल्पना करते रहो तबतक आत्मा ऊँची उठती नहीं और तबतक कल्याण भी होता नहीं। बहुतसे जीव सत्पुरुषके बोधको सुनते हैं, परन्तु उन्हें विचार करनेका योग बनता नहीं।

इन्द्रियोंके निग्रहका न होना, कुल-धर्मका आग्रह, मान-श्लाघाकी कामना, अमध्यस्थभाव यह कदाग्रह है। उस कदाग्रहको जीव जबतक नहीं छोड़ता तबतक कल्याण होता नहीं। नव पूर्वको पढ़ा तो भी जीव भटका! चौदह राजू लोक जाना, परन्तु देहमें रहनेवाली आत्माको न पहिचाना, इस कारण भटका। ज्ञानी-पुरुष समस्त शंकाओंका निवारण कर सकता है। परन्तु पार होनेका काम तो सत्पुरुषकी दृष्टिसे चलना ही है, और तो ही दुःख नाश होता है। आज भी जीव यदि पुरुषार्थ करे तो आत्मज्ञान हो जाय। जिसे आत्म-ज्ञान नहीं, उससे कल्याण होता नहीं।

व्यवहार जिसका परमार्थ है, वैसे आत्म-ज्ञानीकी आज्ञासे चलनेपर आत्मा लक्षमें आती है—कल्याण होता है।

आत्मज्ञान सहज नहीं। पंचीकरण, विचारसागरको पढ़कर कथनमात्र माननेसे ज्ञान होता नहीं। जिसे अनुभव हुआ है, ऐसे अनुभवीके आश्रयसे, उसे समझकर उसकी आज्ञानुसार आचरण करे तो ज्ञान हो। समझे बिना रास्ता बहुत विकट है। हीरा निकालनेके लिये खानके खोदनेमें तो मेहनत है, पर हीरेके लेनेमें मेहनत नहीं। उसी तरह आत्मासंबंधी समझका आना दुर्लभ है, नहीं तो आत्मा कुछ दूर नहीं; भान नहीं इससे वह दूर माल्रम होती है। जीवको कल्याण करने न करनेका मान नहीं है, और अपनेपनकी रक्षा करनी है।

चौथे गुणस्थानमें ग्रंथि-भेद होता है। जो ग्यारहवेंमेंसे पड़ता है उसे उपशम सम्यक्त्व कहा जाता है। लोभ चारित्रके गिरानेवाला है। चौथे गुणस्थानमें उपशम और क्षायिक दोनों होते हैं। उपशम अर्थात् सत्तामें आवरणका रहना। कल्याणके सच्चे सच्चे कारण जीवके विचारमें नहीं। जो शास्त्र वृत्तिको न्यून करें नहीं, वृत्तिको संकुचित करें नहीं, परन्तु उल्टी उसकी वृद्धि ही करें, वैसे शास्त्रोंमें न्याय कहाँसे हो सकता है?

व्रत देनेवाले और व्रत लेनेवाले दोनोंको ही विचार तथा उपयोग रखना चाहिये। उपयोग रक्खे नहीं और भार रक्खे तो निकाचित कर्म बँधे। 'कम करना', परिग्रहकी मर्यादा करनी, यह जिसके मनमें हो वह शिथिल कर्म बाँधता है। पाप करनेपर कोई मुक्ति होती नहीं। केवल एक अक्षर लेकर जो अज्ञानको दूर करना चाहता है, ऐसे जीवको अज्ञान कहता है कि तेरे जितना ही चारित्र मैं खा गया हूँ; उनमें यह तो क्या बड़ी बात है?

चैतन्य एक हो तो भ्रान्ति किसे हुई समझनी चाहिये ? मोक्ष किसे हुई समझनी चाहिये ! समस्त चैतन्यकी जाति एक है, परन्तु प्रत्येक चैतन्यका स्वतंत्ररूपसे जुदा चैतन्य है । चैतन्यका स्वभाव एक है । मोक्ष स्वानुभव-गोचर है । निरावरणमें भेद नहीं । परमाणु एकत्रित न हों, अर्थात् आत्मा और परमाणुका संबंध न होना मुक्ति है; परस्वरूपमें मिलनेका नाम मुक्ति नहीं है ।

कल्याण करने न करनेका तो भान नहीं, परन्तु जीवको अपनापन रखना है । बंध कबतक होता है ? जीव चैतन्य न हो तबतक । एकेन्द्रिय आदि योनिमें भी जीवका ज्ञान-स्वभाव सर्वथा लुप्त नहीं हो जाता, अंशसे खुला ही रहता है । अनादि कालसे जीव बँधा हुआ है । निरावरण होनेके पश्चात् वह बँधता नहीं । 'मैं जानता हूँ' ऐसा जो अभिमान है वही चैतन्यकी अशुद्धता है । इस जगत्‌में बंध और मोक्ष न होता तो फिर श्रुतिका उपदेश किसके लिये होता ? आत्मा स्वभावसे सर्वथा निष्क्रिय है, प्रयोगसे सक्रिय है । जिस समय निर्विकल्प समाधि होती है उस समय निष्क्रियता कही है । निर्विवादरूपसे वेदान्तके विचार करनेमें बाधा नहीं । आत्मा अर्हंत-पदका विचार करे तो अर्हंत हो जाय । सिद्धपदका विचार करे तो सिद्ध हो जाय । आचार्यपदका विचार करे तो आचार्य हो जाय । उपाध्यायका विचार करे तो उपाध्याय हो जाय । स्त्रीरूपका विचार करे तो आत्मा स्त्री हो जाय; अर्थात् आत्मा जिस स्वरूपका विचार करे तद्रूप भावात्मा हो जाती है । आत्मा एक है अथवा अनेक हैं, इसकी चिन्ता नहीं करना । हमें तो इस विचारकी जरूरत है कि 'मैं एक हूँ' । जगत्‌भरको इकट्ठा करनेकी क्या ज़रूर है ? एक-अनेकका विचार बहुत दूर दशाके पहुँचनेके पश्चात् करना चाहिये । जगत् और आत्माको स्वप्नमें भी एक नहीं मानना । आत्मा अचल है, निरावरण है । वेदान्त सुनकर भी आत्माको पहिचानना चाहिये । आत्मा सर्वव्यापक है, अथवा आत्मा देह-व्यापक है, यह अनुभव प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है ।

सब धर्मोंका तात्पर्य यही है कि आत्माको पहिचानना चाहिये । दूसरे जो सब साधन हैं वे जिस जगह चाहिये (योग्य हैं), उन्हें ज्ञानीकी आज्ञापूर्वक उपयोग करनेसे अधिकारी जीवको फल होता है । दया आदि आत्माके निर्मल होनेके साधन हैं ।

मिथ्यात्व, प्रमाद, अव्रत, अशुभ योग, ये अनुक्रमसे दूर हो जाँय तो सत्पुरुषका वचन आत्मामें प्रवेश करे; उससे समस्त दोष अनुक्रमसे नाश हो जाँय । आत्मज्ञान विचारसे होता है । सत्पुरुष तो पुकार पुकार कर कह गये हैं; परन्तु जीव लोक-मार्गमें पड़ा हुआ है, और उसे लोकोत्तर मार्ग मान रहा है । इससे किसी भी तरह दोष दूर नहीं होता । लोकका भय छोड़कर सत्पुरुषोंके वचन आत्मामें प्रवेश करें तो सब दोष दूर हो जाँय । जीवको अहंभाव लाना नहीं चाहिये । मान-बड़ाई और महत्ताके त्यागे बिना सम्यक्‌मार्ग आत्मामें प्रवेश नहीं करता ।

ब्रह्मचर्यके विषयमें:—परमार्थके कारण नदी उतरनेके लिये मुनिको ठंडे पानीकी आज्ञा दी है, परन्तु अब्रह्मचर्यकी आज्ञा नहीं दी; और उसके लिये कहा है कि अल्प आहार करना, उपवास करना, एकांतर करना, और अन्तमें ज़हर खाकर मर जाना, परन्तु ब्रह्मचर्य भंग नहीं करना ।

जिसे देहकी मूर्च्छा हो उसे कल्याण किस तरह मालूम हो सकता है ? सर्प काट खाय और भय न हो तो समझना चाहिये कि आत्मज्ञान प्रगट हुआ है । आत्मा अजर अमर है । 'मैं' मरने-

३, 'हमको आत्मज्ञान है। आत्माको भ्रान्ति होती ही नहीं, आत्मा कर्ता भी नहीं, और भोक्ता भी नहीं, इसलिये वह कुछ भी नहीं'—इस प्रकार बोलनेवाले 'शुष्क अध्यात्मी' शून्य ज्ञानी होकर अनाचार सेवन करते हुए रुकते नहीं।

इस तरह हालमें तीन प्रकारके जीव देखनेमें आते हैं। जीवको जो कुछ करना है, वह आत्माके उपकारके लिये ही करना है—यह बात वे भूल गये हैं। हालमें जैनोंमें चौरासीसे सौ गच्छ हो गये हैं। उन सबमें कदाग्रह हो गया है, फिर भी वे सब कहते हैं कि 'जैनधर्म हमारा है'।

'पडिक्कमामि, निंदामि' आदि पाठका लोकमें, वर्तमानमें ऐसा अर्थ हो गया मालूम होता है कि 'मैं आत्माको विस्मरण करता हूँ'। अर्थात् जिसका अर्थ—उपकार—करना है, उसीको—आत्माको ही—विस्मरण कर दिया है। जैसे बारात चढ़ गई हो, और उसमें तरह तरहके वैभव आदि सब कुछ हों, परन्तु यदि एक वर न हो तो बारात शोभित नहीं होती, वर हो तो ही शोभित होती है; उसी तरह क्रिया वैराग्य आदि, यदि आत्माका ज्ञान हो तो ही शोभाको प्राप्त होते हैं, नहीं तो नहीं होते। जैनोंमें हालमें आत्माकी विस्मृति हो गई है।

सूत्र, चौदह पूर्वोका ज्ञान, मुनिपना, श्रावकपना, हजारों तरहके सदाचरण, तपश्चर्या आदि जो जो साधन, जो जो मेहनत, जो जो पुरुषार्थ कहे हैं वे सब एक आत्माको पहिचाननेके लिये हैं। वह प्रयत्न यदि आत्माको पहिचाननेके लिये—खोज निकालनेके लिये—आत्माके लिये हो तो सफल है, नहीं तो निष्फल है। यद्यपि उससे बाह्य फल होता है, परन्तु चार गतियोंका नाश होता नहीं। जीवको सत्पुरुषका योग मिले, और लक्ष हो तो वह जीव सहजमें ही योग्य हो जाय, और बादमें सद्गुरुकी आस्था हो तो सम्यक्त्व उत्पन्न हो।

शम=क्रोध आदिका कृश पड़ जाना।

संवेग=मोक्षमार्गके सिवाय अन्य किसी इच्छाका न होना।

निर्वेद=संसारसे थक जाना—संसारसे अटक जाना।

आस्था=सच्चे गुरुकी—सद्गुरुकी—आस्था होना।

अनुकंपा=सब प्राणियोंपर समभाव रखना—निर्वैर बुद्धि रखना।

ये गुण समकिती जीवमें स्वाभाविक होते हैं। प्रथम सच्चे पुरुषकी पहिचान हो तो बादमें ये गुण आते हैं। वेदान्तमें विचार करनेके लिये षट् सम्पत्तियाँ बताई हैं। विवेक वैराग्य आदि सद्गुण प्रगट होनेके बाद जीव योग्य—मुमुक्षु—कहा जाता है।

समकित जो है वह देशचारित्र है—एक देशसे केवलज्ञान है। शास्त्रमें इस कालमें मोक्षका निषेध नहीं। जैसे रेलगाड़ीके रास्तेसे कुछ मंजिल जल्दी पहुँच जाते हैं और पैदलके रास्तेसे देरसे पहुँचते हैं, उसी तरह इस कालमें मोक्षका रस्ता पैदलके रास्तेके समान हो, और इससे वहाँ न पहुँच सकें, यह कोई बात नहीं है। जल्दी चले तो जल्दी पहुँच जाय—रास्ता कुछ बंद नहीं है। इसी तरह मोक्षमार्ग है, उसका नाश नहीं। अज्ञानी अकल्याणके मार्गमें कल्याण मान स्वच्छंदसे कल्पना कर जीवोंका तरना होना बंद कर देता है। अज्ञानीके रागी भोले जीव अज्ञानीके कहे अनुसार चलते

इकट्ठा करके कहलवाया कि आप सब लोग दरवाजेके बाहर आवें, क्योंकि राजाको तेलकी जरूरत है इसलिये आज भक्त-तेल निकालना है । तुम सब लोग बहुत दिनोंसे राजाके माल-मसाले खा रहे हो, तो अब राजाका इतना काम तुम्हें अवश्य करना चाहिये । जब भक्तोंने, घाणीमें डालकर तेल निकालनेकी बात सुनी तो सबके सब भाग गये और अदृश्य हो गये । उनमें एक सच्चा भक्त था, उसने विचार किया कि राजाका नमक खाया है तो उसकी नमकहरामी कैसे की जा सकती है ? राजाने परमार्थ समझकर अन्न दिया है, इसलिये राजा चाहे कुछ भी करे, उसे करने देना चाहिये । यह विचार कर घाणीके पास जाकर उसने कहा कि 'आपको भक्त-तेल निकालना हो तो निकालिये'। प्रधानने राजासे कहा—'देखिये, आप सब भक्तोंकी सेवा करते थे, परन्तु आपको सच्चे-झूठेकी परीक्षा न थी'। देखो, इस तरह, सच्चे जीव तो विरले ही होते हैं, और वैसे विरले सच्चे सद्गुरुकी भक्ति श्रेयस्कर है। सच्चे सद्गुरुकी भक्ति मन वचन और कायासे करनी चाहिये ।

एक बात जबतक समझमें न आवे तबतक दूसरी बात सुनना किस कामकी ? सुने हुएको भूलना नहीं। जैसे एक बार जो भोजन किया है, उसके पचे बिना दूसरा भोजन नहीं करना चाहिये । तप वगैरह करना कोई महाभारत बात नहीं, इसलिये तप करनेवालेको अहंकार करना नहीं चाहिये । तप यह छोटेमें छोटा हिस्सा है। भूखे मरना और उपवास करनेका नाम तप नहीं। भीतरसे शुद्ध अंतःकरण हो तो तप कहा जाता है; और तो मोक्षगति होती है। बाह्य तप शरीरसे होता है। तप छह प्रकारका है:—१ अंतर्वृत्ति होना, २ एक आसनसे कायाको बैठाना, ३ कम आहार करना, ४ नीरस आहार करना और वृत्तियोंका संकुचित करना, ५ संलीनता और ६ आहारका त्याग ।

तिथिके लिये उपवास नहीं करना, परन्तु आत्माके लिये उपवास करना चाहिये। बारह प्रकारका तप कहा है। उसमें आहार न करना, इस तपको जिह्वा इन्द्रियको वश करनेका उपाय समझकर कहा है । जिह्वा इन्द्रिय वश की तो यह समस्त इन्द्रियोंके वशमें होनेका निमित्त है। उपवास करो तो उसकी बात बाहर न करो, दूसरेकी निन्दा न करो, क्रोध न करो। यदि इस प्रकारके दोष कम हों तो महान् लाभ हो। तप आदि आत्माके लिये ही करने चाहिये—लोगोंको दिखानेके लिये नहीं। कषायके घटनेको तप कहा है। लौकिक दृष्टिको भूल जाना चाहिये।

सब कोई सामायिक करते हैं, और कहते हैं कि जो ज्ञानी स्वीकार करे वह सत्य है। समकित होगा या नहीं, उसे भी यदि ज्ञानी स्वीकार करे तो सच्चा है । परन्तु ज्ञानी क्या स्वीकार करे ! अज्ञानीने स्वीकार करने जैसा ही तुम्हारा सामायिक, व्रत और समकित है ! अर्थात् वास्तविक सामायिक, व्रत और समकित तुम्हारेमें नहीं। मन वचन और काया व्यवहार-समतामें स्थिर हैं, वह समकित नहीं है । जैसे नींदमें स्थिर योग मालूम होता है, फिर भी वस्तुतः वह स्थिर नहीं है, और इस कारण वह समता भी नहीं है। मन वचन और काया चौदहवें गुणस्थानकतक होते हैं; मन तो कार्य किये बिना बैठता ही नहीं। केवलीके मनयोग चपल होता है, परन्तु आत्मा चपल नहीं होती। आत्मा चौथे गुणस्थानकमें चपल होती है, परन्तु सर्वथा नहीं। 'ज्ञान' अर्थात् आत्माको यथातथ्य जानना। 'दर्शन' अर्थात् आत्माकी यथातथ्य प्रतीति।

शरीरके धर्म—रोग आदि—केवलीके भी होते हैं; क्योंकि वेदनीय कर्मको तो सबको भोगना ही पड़ता है। समकित आये बिना किसीको सहज-समाधि होती नहीं। समकित होनेसे ही सहज समाधि होती है। समकित होनेसे सहजमें ही आसक्तिभाव दूर हो जाता है। उस दशामें अमुक भावके सहज निषेध करनेसे बंध रहता नहीं। सत्पुरुषके वचन अनुसार—उसकी आज्ञानुसार—जो चले उसे अंशसे समकित हुआ है।

दूसरे सब प्रकारकी कल्पनायें छोड़कर, प्रत्यक्ष सत्पुरुषकी आज्ञासे उनके वचन सुनना, उनकी सच्ची श्रद्धा करना, और उन्हें आत्मामें प्रवेश करना चाहिये, तो समकित होता है। शास्त्रमें कही हुई महावीरस्वामीकी आज्ञानुसार चलनेवाले जीव वर्तमानमें नहीं हैं; इसलिये प्रत्यक्षज्ञानी चाहिये। काल विकराल है। कुगुरुओंने लोकको मिथ्या मार्ग बताकर भुला दिया है—मनुष्यभव लूट लिया है; तो फिर जीव मार्गमें किस तरह आ सकता है? यद्यपि कुगुरुओंने लूट तो लिया है, परन्तु उसमें उन विचारोंका दोष नहीं, क्योंकि उन्हें उस मार्गकी खबर ही नहीं है। मिथ्यात्वरूपी गिरीकी गाँठ मोटी है, इसलिये सब रोग तो कहाँसे दूर हो सकता है? जिसकी ग्रंथि छिन्न हो गई है, उसे सहज समाधि होती है; क्योंकि जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया है, उसकी मूल गाँठ ही नष्ट हो गई, और उससे फिर अन्य गुण अवश्य ही प्रगट हो जाते हैं।

सत्पुरुषका बोध प्राप्त होना यह अमृत प्राप्त होनेके समान है। अज्ञानी गुरुओंने बिचारे मनुष्योंको लूट लिया है। किसी जीवको गच्छका आग्रह कराकर, किसीको मतका आग्रह कराकर, जिससे पार न हो सकें, ऐसे आलंबन देकर सब कुछ लूटकर व्याकुल कर डाला है—मनुष्य भव ही लूट लिया है।

समवसरणसे भगवान्‌की पहिचान होती है, इस सब माथापच्चीको छोड़ देना चाहिये। हजार समवसरण हों, परन्तु यदि ज्ञान न हो तो कल्याण नहीं होता; ज्ञान हो तो ही कल्याण होता है। भगवान् मनुष्य जैसे ही मनुष्य थे। वे खाते, पीते, उठते और बैठते थे—इन बातोंमें फेर नहीं है। और कुछ दूसरा ही है। समवसरण आदिके प्रसंग लौकिक-भावना है। भगवान्‌का स्वरूप ऐसा नहीं है। भगवान्‌का स्वरूप—सर्वथा निर्मल आत्मा—सम्पूर्ण ज्ञान प्रगट होनेपर प्रगट होता है। सम्पूर्ण ज्ञान प्रगट हो जाय यही भगवान्‌का स्वरूप है। वर्तमानमें भगवान् होता तो तुम उसे भी न मानते। भगवान्‌का माहात्म्य ज्ञान है। भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तवन करनेसे आत्मा भानमें आती है, परन्तु भगवान्‌की देहसे भान प्रगट नहीं होता। जिसके सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रगट हो जाय उसे भगवान् कहा जाता है। जैसे यदि भगवान् मौजूद होते और वे तुम्हें बताते तो तुम उन्हें भी न मानते, इसी तरह वर्तमानमें ज्ञानी मौजूद हो तो वह भी नहीं माना जाता। तथा स्वधाम पहुँचनेके बाद लोग कहते हैं कि ऐसा ज्ञानी हुआ नहीं। और पीछेसे तो लोग उसकी प्रतिमाको पूजते हैं, परन्तु वर्तमानमें उसकी प्रतीति भी नहीं लाते। जीवको ज्ञानीकी पहिचान वर्तमानमें होती नहीं।

समकितका सच्चा सच्चा विचार करे तो नौवें समयमें केवलज्ञान हो जाय, नहीं तो एक भवमें केवलज्ञान होता है; और अन्तमें पन्द्रहवें भवमें तो केवलज्ञान हो ही जाता है, इसलिये समकित सर्वोत्कृष्ट है। जुदा जुदा विचार-भेदोंको आत्मामें लाभ होनेके लिये ही कहा है; परन्तु भेदमें ही आत्माको घुमानेके लिये नहीं कहा। हरेकमें परमार्थ होना चाहिये।

स्वयं तो पार हुआ नहीं और दूसरोंको पार उतारता है, इसका अर्थ अंधमार्ग बताने जैसा है। असद्गुरु इस प्रकारका मिथ्या आलंबन देते हैं* ।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति नामक जैनसूत्रमें ऐसा कहा है कि इस कालमें मोक्ष नहीं। इसके ऊपरसे यह न समझना चाहिये कि मिथ्यात्वका दूर होना और उस मिथ्यात्वके दूर होनेरूप भी मोक्ष नहीं है। मिथ्यात्वके दूर होनेरूप मोक्ष है; परन्तु सर्वथा अर्थात् आत्यंतिक देहरहित मोक्ष नहीं है। इसके ऊपरसे यह कहा जा सकता है कि इस कालमें सर्व प्रकारका केवलज्ञान नहीं होता, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस कालमें सम्यक्त्व भी न होता हो। इस कालमें मोक्षके न होनेकी ऐसी बातें कोई करे तो उन्हें सुनना भी नहीं। सत्पुरुषकी बात पुरुषार्थको मंद करनेकी नहीं होती—पुरुषार्थको उत्तेजन देनेकी ही होती है।

ज़हर और अमृत दोनों समान हैं, ऐसा ज्ञानियोंने कहा हो, तो वह अपेक्षित ही है। ज़हर और अमृतको समान कहनेसे कुछ ज़हरका ग्रहण करना बताया है, यह बात नहीं। इसी तरह शुभ और अशुभ क्रियाओंके संबंधमें समझना चाहिये। शुभ और अशुभ क्रियाका निषेध किया हो तो वह मोक्षकी अपेक्षासे ही है। किन्तु उससे शुभ और अशुभ दोनों क्रियायें समान हैं, यह समझकर शुभ क्रिया भी नहीं करना चाहिये—ऐसा ज्ञानी-पुरुषका कथन कभी भी नहीं होता। सत्पुरुषका वचन कभी अधर्ममें धर्म स्थापन करनेका नहीं होता।

जो क्रिया करना उसे अदंभपनेसे, निरहंकारपनेसे करना चाहिये—क्रियाके फलकी आकांक्षा नहीं रखनी चाहिये। शुभ क्रियाका कोई निषेध किया ही नहीं, परन्तु जहाँ जहाँ केवल बाह्य क्रियासे ही मोक्ष स्वीकार किया है, वहीं उसका निषेध किया है।

शरीर ठीक रहे, यह भी एक तरहकी समाधि है। मन ठीक रहे, यह भी एक तरहकी समाधि है। सहज-समाधि अर्थात् बाह्य कारणरहित समाधि। उससे प्रमाद आदिका नाश होता है। जिसे यह समाधि रहती है, उसे कोई लाख रुपये दे तो भी उसे आनन्द नहीं होता; अथवा उससे कोई उन्हें ज़बर्दस्ती छीन ले तो भी उसे खेद नहीं होता। जिसे साता-असाता दोनों समान हैं, उसे सहज-समाधि कही गई है। समकितदृष्टिको अल्प हर्ष, अल्प शोक कभी हो भी जाय, परन्तु पीछेसे वह शान्त हो जाता है। उसे अंगका हर्ष नहीं रहता; जिस तरह उसे खेद हो वह उस तरह उसे पीछे खींच लेता है। वह विचारता है कि 'इस तरह होना योग्य नहीं', और वह आत्माकी निन्दा करता है। उसे हर्ष-शोक हों तो भी उसका (समकितका) मूल नाश नहीं होता। समकितदृष्टिको अंशसे सहज प्रतीतिके होनेसे सदा ही समाधि रहती है। पतंगकी डोरी जैसे हाथमें रहती है, उसी तरह समकित-दृष्टिकी वृत्तिरूपी डोरी उसके हाथमें ही रहती है।

समकितदृष्टि जीवको सहज-समाधि है। सत्तामें कर्म बाकी रहे हों, उसे फिर भी सहज-समाधि ही है। उसे बाह्य कारणोंसे समाधि नहीं, किन्तु आत्मामेंसे जो मोह दूर हो गया वही समाधि है। मिथ्यादृष्टिके हाथमें डोरी नहीं, इससे वह बाह्य कारणोंमें तदाकार होकर उसरूप हो जाता है।

समकितदृष्टिको बाह्य दुःख आनेपर भी खेद नहीं होता। यद्यपि वह ऐसी इच्छा नहीं करता कि रोग आये। परन्तु रोग आनेपर उसके राग-द्वेष परिणाम नहीं होते ।

* इसके बादके तीन पैरेग्राफ़ पत्र नम्बर ६३८ में आ गये हैं। —अनुवादक.

प्रयोजनके बिना व्यर्थकी बातें करनी नहीं। जहाँ मायापनी होती हो वहाँसे दूर रहना चाहिये— वृत्ति कम करनी चाहिये।

क्रोध, मान, माया, लोभको मुझे कम करना है, ऐसा जब लक्ष होगा—जब उसका थोड़ा थोड़ा भी लक्ष्य किया जायगा–तब बादमें वह सरल हो जायगा। आत्माको आवरण करनेवाले दोष जब जाननेमें आ जाँय तब उन्हें दूर भगानेका अभ्यास करना चाहिये। क्रोध आदिके थोड़े थोड़े कम होनेके बाद सब सहज हो जायगा। बादमें उन्हें नियममें लेनेके लिये जैसे बने अभ्यास रखना चाहिये; और विचारमें समय बिताना चाहिये। किसीके प्रसंगसे क्रोध आदिके उत्पन्न होनेका निमित्त हो तो उसे मानना नहीं चाहिये; क्योंकि जब स्वयं ही क्रोध करें तभी क्रोध होता है। जिस समय अपनेपर कोई क्रोध करे, उस समय विचारना चाहिये कि उस बिचारेको हालमें उस प्रकृतिका उदय है; यह स्वयं ही घड़ी दो घड़ीमें शांत हो जायगा। इसलिये जैसे बने तैसे अंतर्विचार कर स्वयं स्थिर रहना चाहिये। क्रोध आदि कषायको हमेशा विचार विचारकर कम करना चाहिये। तृष्णा कम करनी चाहिये। क्योंकि वह एकांत दुःखदायी है। जैसा उदय होगा वैसा होगा, इसलिये तृष्णाको अवश्य कम करना चाहिये। बाह्य प्रसंगोंको जैसे बने वैसे कम करना चाहिये।

चेलातीपुत्रने किसीका सिर काट लिया था। बादमें वह ज्ञानीको मिला, और कहा कि मोक्ष दे, नहीं तो तेरा भी सिर काट डालूँगा। इसपर ज्ञानीने कहा कि क्या तू ठीक कहता है? विवेक (सबको सच्चा समझना), शम (सबके ऊपर समभाव रखना) और उपशम (वृत्तियोंको बाहर न जाने देना और अंतर्वृत्ति रखना) को विशेषातिविशेष आत्मामें परिणमानेसे आत्माको मोक्ष मिलती है।

कोई सम्प्रदायवाला कहता है कि वेदांतियोंकी मुक्तिकी अपेक्षा—इस भ्रम-दशाकी अपेक्षा—तो चार गतियाँ ही श्रेष्ठ हैं; इनमें अपने आपको सुख दुःखका अनुभव तो रहता है।

सिद्धमें संवर नहीं कहा जाता, क्योंकि वहाँ कर्म आते नहीं, इसलिये फिर उनका निरोध भी नहीं होता। मुक्तमें एक गुणसे—अंशसे—लगाकर सम्पूर्ण अंशोंतक स्वभाव ही रहता है। सिद्धदशामें स्वभावसुख प्रगट हो गया है, कर्मके आवरण दूर हो गये हैं, तो फिर अब संवर-निर्जरा किसे रहेंगे? वहाँ तीन योग भी नहीं होते। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग इन सबसे मुक्त उनको कर्मोंका आगमन नहीं होता। इसलिये उनके कर्मोंका निरोध भी नहीं होता। जैसे एक हजारकी रकम हो, और उसे थोड़ी थोड़ी पूरी कर दें तो खाता बंद हो जाता है; इसी तरह कर्मके जो पाँच कारण थे, उन्हें संवर-निर्जरासे समाप्त कर दिया, इसलिये पाँच कारणोंरूपी खाता बंद हो गया, अर्थात् वह फिर पीछेसे किसी भी तरह प्राप्त नहीं होता।

धर्मसंन्यास=क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दोषोंका छेदन करना।

जीव तो सदा जीवित ही है। वह किसी समय भी सोता नहीं अथवा मरता नहीं—मरना उसका संभव नहीं। स्वभावसे सब जीव जीवित ही हैं। जैसे श्वासोच्छ्वासके बिना कोई जीव देखनेमें आता नहीं, उसी तरह ज्ञानस्वरूप चैतन्यके बिना कोई जीव नहीं है।

आत्माकी निंदा करना चाहिये और ऐसा खेद करना चाहिये जिससे वैराग्य उत्पन्न हो—संसार मिथ्या मालूम हो। चाहे कोई भी मर जाय परन्तु जिसकी आँखमें आँसू आ जाँय—संसारको

समकितीको केवलज्ञानकी इच्छा नहीं!

अज्ञानी गुरुओंने लोगोंको उन्मार्गपर चढ़ा दिया है; उल्टा पकड़ा दिया है; इससे लोग गच्छ, कुल, आदि लौकिक भावोंमें तदाकार हो गये हैं। अज्ञानियोंने लोकको एकदम मिथ्या ही मार्ग समझा दिया है। उनके संगसे इस कालमें अंधकार हो गया है। हमारी कही हुई हरेक—प्रत्येक—बातको याद कर करके विशेषरूपसे पुरुषार्थ करना चाहिये। गच्छ आदिके कदाग्रहको छोड़ देना चाहिये। जीव अनादि कालसे भटक रहा है। यदि समकित हो तो सहज ही समाधि हो जाय, और अन्तमें कल्याण हो। जीव सत्पुरुषके आश्रयसे यदि आज्ञाका सच्चा सच्चा आराधन करे, उसके ऊपर प्रतीति लावे, तो अवश्य ही उपकार हो।

एक ओर तो चौदह राजू लोकका सुख हो, और दूसरी ओर सिद्धके एक प्रदेशका सुख हो, तो भी सिद्धके एक प्रदेशका सुख अनंतगुना हो जाता है।

वृत्ति चाहे किसी भी तरह हो रोकना चाहिये, ज्ञान-विचारसे रोकना चाहिये, लोक-लाजसे रोकना चाहिये, उपयोगसे रोकना चाहिये, किसी भी तरह हो वृत्तिको रोकना चाहिये। मुमुक्षुओंको, किसी अमुक पदार्थके बिना न चले ऐसा नहीं रखना चाहिये।

जीव जो अपनापन मानता है, वही दुःख है; क्योंकि जहाँ अपनापन माना और चिंता हुई कि अब कैसे होगा? अब कैसे करें? चिंतामें जो स्वरूप हो जाता है, वही अज्ञान है। विचारके द्वारा, ज्ञानके द्वारा देखा जाय तो मालूम होता है कि कोई अपना नहीं। यदि एककी चिंता करो तो समस्त जगत्की ही चिंता करनी चाहिये। इसलिये हरेक प्रसंगमें अपनापन होते हुए रोकना चाहिये, तो ही चिंता—कल्पना—कम होगी। तृष्णाको जैसे बने कम करना चाहिये। विचार कर करके तृष्णाको कम करना चाहिये। इस देहको कुछ पचास-सौ रुपयेका तो खर्च चाहिये, और उसके बदले वह हजारों लाखोंकी चिंता कर अग्निसे सारे दिन जला करती है। बाह्य उपयोग तृष्णाकी वृद्धि होनेका निमित्त है। जीव मान-बड़ाईके कारण तृष्णाको बढ़ाता है, उस मान-बड़ाईको रखकर मुक्ति होती नहीं। जैसे बने वैसे मान-बड़ाई, तृष्णाको कम करना चाहिये। निर्धन कौन है? जो धन माँगे—धनकी इच्छा करे—वह निर्धन है। जो न माँगे वह धनवान है। जिसे लक्ष्मीकी विशेष तृष्णा, उसकी दुविधा, पीड़ा है, उसे जरा भी सुख नहीं। लोग समझते हैं कि श्रीमंत लोग सुखी हैं, परन्तु वस्तुतः उनके तो रोम रोममें पीड़ा है, इसलिये तृष्णाको घटाना चाहिये।

आहारकी बात अर्थात् खानेके पदार्थोंकी बात तुच्छ है, उसे करना नहीं चाहिये। विहारकी अर्थात् क्रीड़ाकी बात बहुत तुच्छ है। निहारकी बात भी बहुत तुच्छ है। शरीरकी साता और दीनता ये सब तुच्छताकी बातें करनी नहीं चाहिये। आहार विष्टा है। विचार करो कि खानेके पीछे विष्टा हो जाती है। विष्टा गाय खाती है तो दूध हो जाता है; और खेतमें खाद डालनेसे अनाज हो जाता है। इस तरह उत्पन्न हुए अनाजके आहारको विष्टातुल्य समझ, उसकी चर्चा न करनी चाहिये। वह तुच्छ बात है।

सामान्य जीवोंसे सर्वथा मौन नहीं रहा जाता, और यदि रहें तो भी अंतरकी कल्पना दूर होती नहीं; और जबतक कल्पना रहे तबतक उसके लिये कोई रास्ता निकालना ही चाहिये। इसलिये पीछेसे वे लिखकर कल्पनाको बाहर निकालते हैं। परमार्थ काममें बोलना चाहिये। व्यवहार काममें

परमार्थसे वह शुद्ध कर्त्ता कहा जाता है। प्रत्याख्यानी अप्रत्याख्यानीको खपा दिया है, इसलिये वह शुद्ध व्यवहारका कर्त्ता है। समकितीको अशुद्ध व्यवहार दूर करना है। समकिती परमार्थसे शुद्ध कर्त्ता है। नयके अनेक प्रकार हैं, परन्तु जिस प्रकारसे आत्मा ऊँची आवे, पुरुषार्थ वर्धमान हो, उसी प्रकार विचारना चाहिये। प्रत्येक कार्य करते हुए अपनी भूलके ऊपर लक्ष रखना चाहिये। एक यदि सम्यक् उपयोग हो तो अपनेको अनुभव हो जाय कि कैसी अनुभव-दशा प्रगट होती है।

सत्संग हो तो समस्त गुण सहजमें ही हो जाँय। दया, सत्य, अदत्तादान, ब्रह्मचर्य, परिग्रह-मर्यादा आदि अहंकाररहित करने चाहिये। लोगोंको बतानेके लिये कुछ भी करना नहीं चाहिये। मनुष्यभव मिला है, और सदाचारका सेवन न करे, तो फिर पीछे पछताना होगा। मनुष्यभवमें सत्पुरुषके वचनके सुननेका—विचार करनेका—संयोग मिला है।

सत्य बोलना, यह कुछ मुश्किल नहीं—बिलकुल सहज है। जो व्यापार आदि सत्यसे होते हों उन्हें ही करना चाहिये। यदि छह महीनेतक इस तरह आचरण किया जाय तो फिर सत्यका बोलना सरल हो जाता है। सत्य बोलनेसे, कदाचित् प्रथम तो थोड़े समयतक थोड़ा नुकसान भी हो सकता है, परन्तु पीछेसे अनंत गुणकी धारक आत्मा जो तमाम लुटी जा रही है, वह लुटती हुई बंद हो जाती है। सत्य, बोलनेसे धीमे धीमे सहज हो जाता है; और यह होनेके पश्चात् व्रत लेना चाहिये—अभ्यास रखना चाहिये, क्योंकि उत्कृष्ट परिणामवाली आत्मा कोई विरली ही होती है।

जीवने यदि अलौकिक भयसे भय प्राप्त किया हो, तो उससे कुछ भी नहीं होता। लोक चाहे जैसे बोले उसकी परवा न करते हुए, जिससे आत्म-हित हो उस सदाचरणका सेवन करना चाहिये।

ज्ञान जो काम करता है वह अद्भुत है। सत्पुरुषके वचनके बिना विचार नहीं आता। विचारके बिना वैराग्य नहीं आता—वैराग्यके बिना ज्ञान नहीं आता। इस कारण सत्पुरुषके वचनोंका बारंबार विचार करना चाहिये।

वास्तविक आशंका दूर हो जाय तो बहुत-सी निर्जरा हो जाती है। जीव यदि सत्पुरुषका मार्ग जानता हो, उसका उसे बारंबार बोध होता हो तो बहुत फल हो।

जो सात अथवा अनंत नय हैं, वे सब एक आत्मार्थके लिये हैं, और आत्मार्थ ही एक सच्चा नय है। नयका परमार्थ जीवमेंसे निकल जाय तो फल होता है—अन्तमें उपशम आवे तो फल होता है; नहीं तो जीवको नयका ज्ञान जालरूप ही हो जाता है; और वह फिर अहंकार बढ़नेका स्थान होता है। सत्पुरुषके आश्रयसे वह जाल दूर हो जाता है।

व्याख्यानमें कोई भंगजाल, राग (स्वर) निकालकर सुनाता है, परन्तु उसमें आत्मार्थ नहीं। यदि सत्पुरुषके आश्रयसे कषाय आदि मंद करो और सदाचारका सेवन करके अहंकार रहित हो जाओ, तो तुम्हारा और दूसरेका हित हो सकता है। दंभरहित आत्मार्थसे सदाचार सेवन करना चाहिये, जिससे उपकार हो।

खारी जमीन हो और उसमें वर्षा हो तो वह किस काममें आ सकती है? उसी तरह जबतक ऐसी स्थिति हो कि आत्मामें उपदेश प्रवेश न करे, तबतक वह किस कामका? जबतक उपदेश-वार्ता आत्मामें प्रवेश न करे तबतक उसे फिर फिर मनन करना और विचारना चाहिये—उसका पीछा छोड़ना

यदि सत्पुरुषके वचनरूपी टाँकीसे दरार पड़ जाय तो पानी चमक उठे । जीवका शल्य हजारों दिनके जातियोगके कारण दूर नहीं होता, परन्तु सत्संगका संयोग यदि एक महीनेतक भी हो तो वह दूर हो जाय, और जीव रास्तेसे चला जाय ।

बहुतसे लघुकर्मी संसारी जीवोंको पुत्रके ऊपर मोह करते हुए जितना खेद होता है उतना भी वर्तमानके बहुतसे साधुओंको शिष्यके ऊपर मोह करते हुए होना नहीं !

तृष्णावाला जीव सदा भिखारी; संतोषवाला जीव सदा सुखी ।

सच्चे देवकी, सच्चे गुरुकी, सच्चे धर्मकी पहिचान होना बहुत मुश्किल है । सच्चे गुरुकी पहिचान हो, उसका उपदेश हो, तो देव, सिद्ध, धर्म इन सबकी पहिचान हो जाय । सबका स्वरूप सद्गुरुमें समा जाता है ।

सच्चे देव अर्हंत, सच्चे गुरु निर्ग्रन्थ, और सच्चे हरि राग-द्वेष जिसके दूर हो गये हैं । ग्रंथरहित अर्थात् गाँठरहित । मिथ्यात्व अंतर्ग्रन्थि है । परिग्रह बाह्य ग्रन्थि है । मूलमें अभ्यंतर ग्रंथि छिन्न न हो तबतक धर्मका स्वरूप समझमें नहीं आता । जिसकी ग्रन्थि नष्ट हो गई है, वैसा पुरुष मिले तो सचमुच काम हो जाय; और उसमें यदि सत्समागम रहे तो विशेष कल्याण हो । जिस मूल गाँठका शास्त्रमें छेदन करना कहा है, उसे सब भूल गये हैं, और बाहरसे तपश्चर्या करते हैं । दुःखके सहन करनेसे भी मुक्ति होती नहीं, क्योंकि दुःख वेदन करनेका कारण जो वैराग्य है, जीव उसे भूल गया है । दुःख अज्ञानका है ।

अंदरसे छूटे तभी बाहरसे छूटता है, अंदरसे छूटे बिना बाहरसे छूटता नहीं । केवल बाहर बाहरसे छोड़ देनेसे काम नहीं होता । आत्म-साधनके बिना कल्याण होता नहीं ।

बाह्य और अंतर जिसे दोनों साधन हैं, वह उत्कृष्ट पुरुष है, और इसलिये वह श्रेष्ठ है । जिस साधुके संगसे अंतर्गुण प्रगट हो उसका संग करना चाहिये । कलई और चाँदीके रुपये दोनों समान नहीं कहे जाते । कलईके ऊपर सिक्का लगा दो, फिर भी उसकी रुपयेकी कीमत नहीं होती; और चाँदी हो तो उसके ऊपर सिक्का न लगाओ तो भी उसकी कीमत कम नहीं हो जाती । उसी तरह यदि गृहस्थ अवस्थामें समकित हो, तो उसकी कीमत कम नहीं हो जाती । सब कहते हैं कि हमारे धर्मसे मोक्ष है । आत्मामें राग-द्वेषके नाश होनेपर ज्ञान प्रगट होता है । चाहे जहाँ बैठो और चाहे जिस स्थितिमें हो, मोक्ष हो सकती है; परन्तु राग-द्वेष नष्ट हो तभी तो । मिथ्यात्व और अहंकार नाश हुए बिना कोई राजपाट छोड़ दे, वृक्षकी तरह सूख जाय, फिर भी मोक्ष नहीं होती । मिथ्यात्व नाश होनेके पश्चात् ही सब साधन सफल हैं । इस कारण सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ है ।

संसारमें जिसे मोह है, स्त्री-पुत्रमें अपनापन हो रहा है, और कषायका जो भरा हुआ है, वह रात्रि-भोजन न करे तो भी क्या हुआ ! जब मिथ्यात्व चला जाय तभी उसका सफल होता है ।

हालमें जैनधर्मके जितने साधु फिरते हैं, उन सभीको समकिती नहीं समझना; उन्हें दान देनेमें हानि नहीं, परन्तु वे हमारा कल्याण नहीं कर सकते । वेश कल्याण नहीं करता । जो साधु केवल बाह्य क्रियायें किया करता है, उसमें ज्ञान नहीं ।

ज्ञान तो वह है कि जिससे बाह्य वृत्तियाँ रुक जाती हैं—संसारपरसे सच्ची प्रीति घट जाती है—जीव सच्चेको सच्चा समझने लगता है । जिससे आत्मामें गुण प्रगट हो वह ज्ञान ।

'सबकी अपेक्षा मैं संसारमें बड़ा हो जाऊँ' ऐसे बड़प्पनके प्राप्त करनेकी तृष्णामें, पाँच इन्द्रियोंमें लवलीन, मद्यपायीकी तरह, मृग-तृष्णाके जलके समान, संसारमें जीव भ्रमण किया करता है; और कुल, गाँव और गतियोंमें मोहके नचानेसे नाचा करता है।

जिस तरह कोई अंधा रस्सीको बटता जाता है, और बछड़ा उसे चबाता जाता है, उसी तरह अज्ञानीकी क्रिया निष्फल चली जाती है।

'मैं कर्त्ता हूँ, मैं करता हूँ, मैं कैसा करता हूँ' इत्यादि जो विभाव है, वही मिथ्यात्व है। अहंकारसे संसारमें अनंत दुःख प्राप्त होता है—चारों गतियोंमें भटकना होता है।

किसीका दिया हुआ दिया नहीं जाता; किसीका लिया हुआ लिया नहीं जाता; जीव व्यर्थ ही कल्पना करके ही भटका करता है। जिस प्रमाणमें कर्मोंका उपार्जन किया हो उसी प्रमाणमें लाभ, अलाभ, आयु, साता असाता मिलते हैं। अपने आपसे कुछ दिया लिया नहीं जाता। जीव अहंकारसे 'मैंने इसे सुख दिया, मैंने दुःख दिया, मैंने अन्न दिया' ऐसी मिथ्या भावनायें किया करता है और उसके कारण कर्म उपार्जन करता है। मिथ्यात्वसे विपरीत धर्मका उपार्जन करता है।

जगत्‌में यह इसका पिता है यह इसका पुत्र है, ऐसा व्यवहार होता है, परन्तु कोई भी किसीका नहीं। पूर्व कर्मके उदयसे ही सब कुछ बना है।

अहंकारसे जो ऐसी मिथ्याबुद्धि करता है, वह भूला हुआ है—वह [चा]र गतियोंमें भटकता है, और दुःख भोगता है।

अधमाधम पुरुषके लक्षण:—सत्पुरुषको देखकर जिसे रोष उत्पन्न होता है, उसके सच्चे वचन सुनकर जो उसकी निंदा करता है—खोटी बुद्धिवाला जैसे सद्बुद्धिवालेको देखकर रोष करता है—सरलको मूर्ख कहता है, जो विनय करे उसे धनका खुशामदी कहता है, पाँच इन्द्रियाँ जिसने वश की हों उसे भाग्यहीन कहता है, सच्चे गुणवालेको देखकर रोष करता है, जो स्त्री-पुरुषके सुखमें लवलीन रहता है—ऐसे जीव कुगतिको प्राप्त होते हैं। जीव कर्मके कारण अपने स्वरूप-ज्ञानसे अंध है; उसे ज्ञानकी खबर नहीं है।

एक नाकके लिए—मेरी नाक रहे तो अच्छा—ऐसी कल्पनाके कारण जीव अपनी शूरवीरता दिखानेके लिये लड़ाईमें उतरता है—पर नाककी तो राख हो जानेवाली है!

देह कैसी है? रेतके घर जैसी। श्मशानकी मढ़ी जैसी। पर्वतकी गुफाके समान देहमें अंधेरा है। चमड़ीके कारण देह ऊपर ऊपरसे सुंदर मालूम होती है। देह अवगुणका घर तथा माया और मैलके रहनेका स्थान है। देहमें प्रेम रखनेके कारण जीव भटका है। यह देह अनित्य है; बदफेलकी खान है। इसमें मोह रखनेसे जीव चार गतियोंमें भटकता है। किस तरह भटकता है? घानीके बैलकी तरह। आँखपर पट्टी बाँध लेता है, चलनेके मार्गमें उसे तंग होकर चलना पड़ता है, छूटनेकी इच्छा होनेपर भी वह छूट नहीं सकता, भूखसे पीड़ित होनेपर भी वह कह नहीं सकता, श्वासोच्छ्वास भी [illegible] ले नहीं सकता। उसकी तरह जीव भी पराधीन है। जो संसारमें प्रीति करता है, वह इस प्रकारके दुःख सहन करता है।

धुँए जैसे कपड़े पहिनकर वे आडम्बर रखते हैं, परन्तु वे धुँएकी तरह नाश हो जानेवाले हैं। आत्माका ज्ञान मायाके कारण दबा हुआ रहता है।

वाणी निकलती है। वे किसी जीवको ऐसा नहीं कहते कि तू दीक्षा ले ले। तीर्थंकरने पूर्वमें जो कर्म बाँधे हैं, उनका वेदन करनेके लिये वे दूसरे जीवोंका कल्याण करते हैं, नहीं तो उन्हें उदयानुसार दया रहती है। वह दया निष्कारण है, तथा उन्हें दूसरेकी निर्जरासे अपना कल्याण नहीं करना है। उनका कल्याण तो हो ही गया है। वह तीन लोकका नाथ तो पार होकर ही बैठा है। सत्पुरुष अथवा समकितीको भी ऐसी (सकाम) उपदेश देनेकी इच्छा नहीं होती। वह भी निष्कारण दयाके वास्ते ही उपदेश देता है। महावीरस्वामी गृहवासमें रहते हुए भी त्यागी जैसे थे।

हजारों वर्षका संयमी भी जैसा वैराग्य नहीं रख सकता, वैसा वैराग्य भगवान्‌का था। जहाँ जहाँ भगवान् रहते हैं, वहाँ वहाँ सब प्रकारका उपकार भी रहता है। उनकी वाणी उदयके अनुसार शांतिपूर्वक परमार्थ हेतुसे निकलती है, अर्थात् उनकी वाणी कल्याणके लिये ही होती है। उन्हें जन्मसे मति, श्रुत, अवधि ये तीन ज्ञान थे। उस पुरुषके गुणगान करनेसे अनंत निर्जरा होती है। ज्ञानीकी बात अगम्य है। उनका अभिप्राय जाननेमें नहीं आता। ज्ञानी-पुरुषकी सच्ची खूबी यह है कि उन्होंने अनादिसे दूर न होनेवाले राग-द्वेष और अज्ञानको छिन्न-भिन्न कर डाला है। इस भगवान्‌की अनंत कृपा है। उन्हें पच्चीससौ वर्ष हो गये, फिर भी उनकी दया आदि आजकल भी मौजूद है। यह उनका अनंत उपकार है। ज्ञानी आडम्बर दिखानेके लिये व्यवहार करते नहीं। वे सहज स्वभावसे उदासीन भावसे रहते हैं।

ज्ञानी दोषके पास जाकर दोषका छेदन कर . लता है; जब कि अज्ञानी जीव दोषको छोड़ नहीं सकता। ज्ञानीकी बात अद्भुत है।

बाड़ेमें कल्याण नहीं है। अज्ञानीका बाड़ा होता है। जैसे पत्थर स्वयं नहीं तैरता और दूसरेको भी नहीं तैराता, उसी तरह अज्ञानी है। वीतरागका मार्ग अनादिका है। जिसके राग द्वेष और अज्ञान दूर हो गये, उसका कल्याण हो गया। परन्तु अज्ञानी कहे कि मेरे धर्ममें कल्याण है, तो उसे मानना नहीं। इस तरह कल्याण होता नहीं। ढूँढियापना अथवा तपापना माना हो तो कषाय चढ़ती है। तपा ढूँढियाके साथ बैठा हो तो कषाय चढ़ती है, और ढूँढिया तपाके साथ बैठे तो कषाय चढ़ती है—इन्हें अज्ञानी समझना चाहिये। दोनों ही समझे बिना बाड़ा बाँधकर कर्म उपार्जन कर भटकते फिरते हैं। बोहरेके* नाड़ेकी तरह वे मताग्रह पकड़े बैठे हैं। मुँहपत्ति आदिके आग्रहको छोड़ देना चाहिये।

जैनमार्ग क्या है ? राग, द्वेष और अज्ञानका नाश हो जाना। अज्ञानी साधुओंने भोले जीवोंको समझाकर उन्हें मार डालने जैसा कर दिया है। यदि प्रथम स्वयं विचार करे कि मेरा दोष कौनसा कम

* बोहरा (बोरा) इस्लाम धर्मकी एक शाखाके अनुयायी मुसलमानोंकी एक जाति होती है। बोहरा लोग मूलमें सिद्धपुर (गुजरात) के निवासी ब्राह्मण थे। ये लोग मुसलमानोंके राज्य-समयमें मुस्लिम धर्मके अनुयायी हो गये थे। बोहरा लोग प्रायः व्यापारी ही होते हैं। कहा जाता है कि जहाँतक बने ये लोग नौकरी-पेशा करना पसंद नहीं करते। इनके धर्मगुरु मुल्लाजीका प्रधान केन्द्र सूरतमें है। एक बारकी बात है कि कोई बोहरा व्यापारी गाड़ीमें माल भरकर चला जा रहा था। रास्तेमें कोई गड्ढा आया तो गाड़ीवानने बोहराजीसे 'नाड़ा' पकड़कर होशियार होकर बैठ जानेको कहा। नाड़ेके दो अर्थ होते हैं। एक तो पायजामेमें जो इज़ारबन्द होता है, उसे नाड़ा कहते हैं, और दूसरे रस्सी—डोरी—को भी नाड़ा कहते हैं। गाड़ीवानका अभिप्राय इस रस्सीको ही पकड़कर बैठे रहनेका था। परन्तु बोहराजीने समझा कि गाड़ीवान इज़ारबन्दको पकड़कर बैठनेके लिये कह रहा है। इसलिये वे अपने नाड़ेको जोरसे पकड़कर बैठ गये। —अनुवादक.

कहाँ चली गई ! जो पार होनेका अभिलाषी हो वह तो देहको असार समझता है—देहको अपनेसे भिन्न मानता है—उसे आकुलता आनी चाहिये ही नहीं। देहकी संभाल करने हुए वह सँभाली जाती नहीं, क्योंकि वह उसी क्षणमें नाश हो जाती है—उसमें क्षणभरमें रोग, क्षणभरमें वेदना हो जाती है। देहके संगसे देह दुःख देती है, इसलिये आकुलता-व्याकुलता होती है, यही अज्ञान है। शास्त्र श्रवण कर रोज रोज सुना है कि देह आत्मासे भिन्न है—क्षणभंगुर है, परन्तु देहको यदि वेदना हो तो यह जीव राग-द्वेष परिणामसे शोर-गुल मचाता है। तो फिर, देह क्षणभंगुर है, यह तुम शास्त्रमें सुनने जाते किस लिये हो? वह तो तुम्हारे पास है तो अनुभव करो। देह स्पष्ट मिट्टी जैसी है—वह रक्खी हुई रक्खी नहीं जा सकती। वेदनाका वेदन करते हुए कोई उपाय चलता नहीं। अब फिर किसकी सँभाल करें? कुछ भी नहीं बन सकता। इस तरह देहका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, तो फिर उसकी ममता करके क्या करना? देहका प्रगट अनुभव कर शास्त्रमें कहा है कि वह अनित्य है—देहमें मूर्च्छा करना योग्य नहीं।

जबतक देहमें आत्मबुद्धि दूर न हो तबतक सम्यक्त्व नहीं होता। जीवको सचाई कभी आई ही नहीं; यदि आई होती तो मोक्ष हो जाती। भले ही साधुपना, श्रावकपना अथवा चाहे जो स्वीकार कर लो, परन्तु सचाई बिना सब साधन वृथा हैं। देहमें आत्मबुद्धि दूर करनेके जो साधन बताये हैं वे साधन, देहमें आत्मबुद्धि दूर हो जाय तभी सच्चे समझे जाते हैं। देहमें जो आत्मबुद्धि हुई है उसे दूर करनेके लिये, अपनेपनको त्यागनेके लिये साधन करने आवश्यक हैं। यदि वह दूर न हो तो साधुपना, श्रावकपना, शास्त्रश्रवण अथवा उपदेश सब कुछ अरण्यरोदनके समान है। जिसे यह भ्रम दूर हो गया है, वही साधु, वही आचार्य और वही ज्ञानी है। जैसे कोई अमृतका भोजन करे तो वह छिपा हुआ नहीं रहता, उसी तरह भ्रांतिका दूर होना किसीसे छिपा हुआ रहता नहीं।

लोग कहते हैं कि समकित है या नहीं, उसे केवलज्ञानी जाने। परन्तु जो स्वयं आत्मा है वह उसे क्यों नहीं जानती? आत्मा कुछ गाँव तो चली ही नहीं गई। अर्थात् समकित हुआ है, इसे आत्मा स्वयं ही जानती है। जैसे किसी पदार्थके खानेपर वह अपना फल देता है, उसी तरह समकितके होनेपर भ्रान्ति दूर हो जानेपर उसका फल आत्मा स्वयं ही जान लेती है। ज्ञानके फलको ज्ञान देता ही है। पदार्थके फलको पदार्थ, अपने लक्षणके अनुसार देता ही है। आत्मामेंसे—अन्तरमेंसे—यदि कर्म जानेको तैय्यार हुए हों, तो उसकी अपनेको खबर क्यों न पड़े? अर्थात् खबर पड़ती ही है। समकितीकी दशा छिपी हुई नहीं रहती। कल्पित समकितको समकित मानना, पीतलकी कंठीको सोनेकी कंठी माननेके समान है।

समकित हुआ हो तो देहमें आत्मबुद्धि दूर होनी है। यद्यपि अल्पबोध, मध्यमबोध, विशेषबोध जैसा भी बोध हुआ हो, तदनुसार ही पीछेसे देहमें आत्म बुद्धि दूर होती है। देहमें रोग होनेपर जिसे आकुलता मालूम पड़े, उसे मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए।

जिस ज्ञानीको आकुलता-व्याकुलता दूर हो गई है, उसे अन्तरंग पच्चक्खाण है ही। उसमें सब पच्चक्खाण आ जाते हैं। जिसके राग द्वेष दूर हो गये हैं, उसका यदि बीस बरसका पुत्र मर जाय तो भी उसे खेद नहीं होता। शरीरको व्याधि होनेसे जिसे व्याकुलता होती है, और जिसका कथनमात्र ज्ञान है, उसे शून्य अध्यात्मज्ञान मानना चाहिये। ऐसा कल्पित ज्ञानी शून्य-ज्ञानको अध्यात्मज्ञान मानकर अनाचारका सेवन करके बहुत ही भटकता है। देखो शास्त्रका फल!

ज्ञानी जो परमार्थ—सम्यक्त्व—हो उसे ही कहते हैं । " ' कषाय घटे वही कल्याण है। जीवके राग, द्वेष, अज्ञान दूर हो जाँय तो उसे कल्याण कहा जाता है '—ऐसा तो लोग कहते हैं कि हमारे गुरु ही कहते हैं, तो फिर सत्पुरुष भिन्न ही क्या बताते हैं " ! ऐसी उलटी-सीधी कल्पनायें करके जीवको अपने दोषोंको दूर करना नहीं है ।

आत्मा अज्ञानरूपी पत्थरसे दब गई है । ज्ञानी ही आत्माको ऊँचा उठावेगा । आत्मा दब गई है इसलिये कल्याण सूझता नहीं । ज्ञानी जो सद्विचाररूपी सरल कुंजियोंको बताता है वे हजारों तालोंको लगती हैं ।

जीवके भीतरसे अजीर्ण दूर हो जाय तो अमृत अच्छा लगे; उसी तरह भ्रांतिरूपी अजीर्णके दूर होनेपर ही कल्याण हो सकता है। परन्तु जीवको तो अज्ञानी गुरुने भड़का रक्खा है, फिर भ्रांतिका अजीर्ण दूर कैसे हो सकता है ! अज्ञानी गुरु ज्ञानके बदले तप बताते हैं, तपमें ज्ञान बताते हैं—इस तरह उल्टा उल्टा बताते हैं, उससे जीवको पार होना बहुत कष्टसाध्य है । अहंकार आदिरहित भावसे तप आदि करना चाहिये ।

कदाग्रह छोड़कर जीव विचार करे तो मार्ग जुदा ही है । समकित सुलभ है, प्रत्यक्ष है, सरल है। जीव गाँवको छोड़कर दूर चला गया है, तो फिर जब वह पीछे फिरे तो गाँव आ सकता है। सत्पुरुषोंके वचनोंका आस्थासहित श्रवण मनन करे तो सम्यक्त्व आता है । उसके उत्पन्न होनेके पश्चात् व्रत पच्चक्खाण आते हैं और तत्पश्चात् पाँचवाँ गुणस्थानक प्राप्त होता है ।

सचाई समझमें आकर उसकी आस्था हो जाना ही सम्यक्त्व है । जिसे सच्चे-झूठेकी कीमत हो गई है—यह भेद जिसका दूर हो गया है, उसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है ।

असद्गुरुसे सत् समझमें नहीं आता । दया, सत्य, बिना दिया हुआ न लेना इत्यादि सदाचार सत्पुरुषके समीप आनेके सत् साधन हैं । सत्पुरुष जो कहते हैं वह सूत्रके सिद्धान्तका परमार्थ है। वे अनुभवसे कहते हैं—अनुभवसे शंका दूर करनेको कह सकते हैं । अनुभव प्रगट दीपक है, और सूत्र कागजमें लिखा हुआ दीपक है ।

ढूँढियापना अथवा तपापना किया करो, परन्तु उससे समकित होनेवाला नहीं । यदि वास्तविक सच्चा स्वरूप समझमें आ जाय—भीतरसे दशा बदल जाय, तो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है । परमार्थमें प्रमाद अर्थात् आत्मामेंसे बाह्य वृत्ति । घातिकर्म उसे कहते हैं जो घात करे । परमाणु आत्मासे निरपेक्ष है, परमाणुको पक्षपात नहीं है; उसे जिस रूपसे परिणमावें वह उसी रूपसे परिणमता है ।

निकाचित कर्ममें स्थितिबंध हो तो बराबर बंध होता है। स्थिति-काल न हो और विचार करे, पश्चात्तापसे ज्ञानका विचार करे, तो उसका नाश होता है। स्थिति-काल हो तो भोगनेपर छुटकारा होता है।

क्रोध आदिद्वारा जिन कर्मोंका उपार्जन किया हो उनका भोगनेपर ही छुटकारा होता है। उदय आनेपर भोगना ही चाहिये । जो समता रक्खे उसे समताका फल होता है । सबको अपने अपने परिणामके अनुसार कर्म भोगने पड़ते हैं ।

ज्ञानी, स्त्रीत्वमें पुरुषत्वमें एक-समान है । ज्ञान आत्माका ही है ।

———

आत्मा, देह आदिसे भिन्न है, उपयोगमय है, सदा अविनाशी है,—इस तरह सद्गुरुके उपदेशसे जाननेका नाम ज्ञान कहा है। जिनभगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ ६ ॥

जो ज्ञानद्वारा जाना है, उसकी जो शुद्ध प्रतीति रहती है, उसे भगवान्ने दर्शन कहा है उसका दूसरा नाम समकित भी है। जिनभगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ ७ ॥

जीवकी जो प्रतीति हुई—उसे जो सबसे भिन्न असंग समझा—उस स्थिर स्वभावके उत्पन्न होनेको चारित्र कहते हैं, उसमें लिंगका भेद नहीं है। जिनभगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ ८ ॥

जहाँ ये तीनों अभेद-परिणामसे रहते हैं, वह आत्माका स्वरूप है। उसने जिनभगवान्के मार्गको पा लिया है, अथवा उसने निजस्वरूपको ही पा लिया है। जिनभगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ ९ ॥

ऐसे मूलज्ञान आदिके पानेके लिये, अनादिका बंध दूर होनेके लिये, सद्गुरुका उपदेश पानेके लिये, स्वच्छंद और प्रतिबंधको दूर करो। जिनभगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ १० ॥

इस तरह जिनेन्द्रदेवने मोक्षमार्गका शुद्ध स्वरूप कहा है। उसका यहाँ भव्यजनोंके हितके लिये संक्षेपसे स्वरूप कहा है। जिनभगवान्का मूलमार्गको सुनो ॥ ११ ॥

---

६४६ श्री आनंद, आसोज सुदी २ गुरु. १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद

श्रीरामदासस्वामीकी बनाई हुई दासबोध नामकी पुस्तक मराठी भाषामें है। उसका गुजराती भाषांतर छपकर प्रगट हो गया है। इस पुस्तकको बाँचने-विचारनेके लिये भेजी है।

उसमें प्रथम तो गणपति आदिकी स्तुति की है। उसके पश्चात् जगत्के पदार्थोंका आत्मरूपसे वर्णन करके उपदेश किया है। बादमें उसमें वेदान्तकी मुख्यताका वर्णन किया है। उस सबसे कुछ भी भय न करते हुए, अथवा शंका न करते हुए, ग्रन्थकर्त्ताके आत्मार्थविषयक विचारोंका अवगाहन करना योग्य है।

छे देहादिथी भिन्न आत्मा रे, उपयोगी सदा अविनाश। मूळ०
एम जाणे सद्गुरु-उपदेशथी रे, कह्युं ज्ञान तेनुं नाम खास। मूळ० ॥ ६ ॥
जे ज्ञाने करीने जाणियुं रे, तेनी वर्त्ते छे शुद्ध प्रतीत। मूळ०
कह्युं भगवते दर्शन तेहने रे, जेनुं बीजुं नाम समकीत। मूळ० ॥ ७ ॥
जेम आवी प्रतीति जीवनी रे, जाण्यो सर्वेथी भिन्न असंग। मूळ०
तेवो स्थिर स्वभाव ते उपजे रे, नाम चारित्र ते अणलिंग। मूळ० ॥ ८ ॥
ते त्रणे अभेद परिणामथी रे, ज्यारे वर्त्ते ते आत्मारूप। मूळ०
तेह मारग जिननो पामियो रे, किंवा पाम्यो ते निजस्वरूप। मूळ० ॥ ९ ॥
एवा मूळ ज्ञानादि पामवा रे, अने जवा अनादिबंध। मूळ०
उपदेश सद्गुरुनो पामवा रे, टाळी स्वच्छंद ने प्रतिबंध। मूळ० ॥ १० ॥
एम देव जिनंदे भाखियुं रे, मोक्षमारगनुं शुद्ध स्वरूप। मूळ०
भव्य जनोना हितने कारणे रे, संक्षेपे कह्युं स्वरूप। मूळ० ॥ ११ ॥

६४४

मनःपर्यवज्ञान किस तरह प्रगट होता है ?

साधारणतया प्रत्येक जीवको मतिज्ञान ही होता है। उसके आश्रयभूत श्रुतज्ञानमें वृद्धि होनेसे उस मतिज्ञानका बल बढ़ता है। इस तरह अनुक्रमसे मतिज्ञानके निर्मल होनेसे आत्माका असंयमभाव दूर होकर संयमभाव उत्पन्न होता है, और उससे मनःपर्यवज्ञान प्रगट होता है। उसके संबंधसे आत्मा दूसरेके अभिप्रायको जान सकती है।

किसी ऊपरके चिह्नके देखनेसे दूसरेके जो क्रोध हर्ष आदि भाव जाने जाते हैं, वह मतिज्ञानका विषय है। तथा उस तरहका चिह्न न होनेपर जो भाव जाने जाते हैं, वह मनःपर्यवज्ञानका विषय है।

६४५

आनन्द, आसोज सुदी १, १९५२

मूलमार्गरहस्य

ॐ

श्रीसद्गुरुचरणाय नमः

अरे, यदि पूजा आदिकी कामना न हो, अंतरका संसारका दुःख प्रिय न हो, तो अखंड वृत्तिको सन्मुख करके जिनभगवान्‌के मूलमार्गको सुनो ॥ १ ॥

जिनसिद्धान्तका शोधन कर जो कुछ जिन-वचनकी तुलना की है, उसे केवल परमार्थ-हेतुसे ही कहना है। उसके रहस्यको कोई मुमुक्षु ही पाता है। जिनभगवान्‌के मूलमार्गको सुनो ॥ २ ॥

एकरूप और अविरुद्ध जो ज्ञान दर्शन और चारित्रकी शुद्धता है, वही परमार्थसे जिनमार्ग है, ऐसा पंडितजनोंने सिद्धांतमें कहा है। जिनभगवान्‌के मूलमार्गको सुनो ॥ ३ ॥

जो चारित्रके लिंग और भेद कहे हैं, वे सब द्रव्य, देश, काल आदिकी अपेक्षाके भेदसे ही हैं। परन्तु जो ज्ञान आदिकी शुद्धता है वह तो तीनों कालमें भेदरहित है। जिनभगवान्‌के मूलमार्गको सुनो ॥ ४ ॥

अब ज्ञान दर्शन आदि शब्दोंका संक्षेपसे परमार्थ सुनो। उसे समझकर विशेषरूपसे विचारनेसे उत्तम आत्मार्थ समझमें आवेगा। जिनभगवान्‌के मूलमार्गको सुनो ॥ ५ ॥

६४५

मूळ मारग सांभळो जिननो रे, करी वृत्ति अखंड सन्मुख। मूळ०
नो'य पूजादिनी जो कामना रे, नो'य व्हालुं अंतर भवदुःख। मूळ० ॥ १ ॥
करी जोजो वचननी तुलना रे, जोजो शोधीने जिनसिद्धांत। मूळ०
मात्र कहेवुं परमारथ हेतुथी रे, कोई पामे मुमुक्षु वात। मूळ० ॥ २ ॥
ज्ञान दर्शन चारित्रनी शुद्धता रे, एकपणे अने अविरुद्ध। मूळ०
जिनमारग ते परमार्थथी रे, एम कहे सिद्धांत बुध। मूळ० ॥ ३ ॥
लिंग अने भेदो जे व्रतना रे, द्रव्य देश काळादि भेद। मूळ०
पण ज्ञानादिनी जे शुद्धता रे, ते तो त्रणे काळे अभेद। मूळ० ॥ ४ ॥
हवे ज्ञान दर्शनादि शब्दनो रे, संक्षेपे सुणो परमार्थ। मूळ०
तेने जोतां विचारी विशेषथी रे, समजाशे उत्तम आत्मार्थ। मूळ० ॥ ५ ॥

वर्णाश्रम आदि—वर्णाश्रम आदिपूर्वक आचार—यह सदाचारके अंगभूतके समान है। जिसे पारमार्थिक हेतु न हो तो वर्णाश्रम आदिपूर्वक वर्तन करना ही योग्य है, ऐसा विचारमें मिश्र है। यद्यपि वर्णाश्रम धर्म वर्तमानमें बहुत निर्बल स्थितिको प्राप्त हो गया है, तो भी हमें तो, जबतक हम उत्कृष्ट त्याग दशाको न प्राप्त करें और जबतक गृहाश्रममें वास हो, तबतक तो वैश्यरूप वर्णधर्मका अनुसरण करना ही योग्य है। क्योंकि उसमें अभक्ष्य आदि ग्रहण करनेका व्यवहार नहीं है। यहाँ ऐसी आशंका हो सकती है कि 'लुहाणा लोग भी उस तरह आचरण करते हैं तो फिर उनके अन्न आहार आदिके ग्रहण करनेमें क्या हानि है?' तो इसके उत्तरमें इतना ही कह देना उचित होगा कि बिना कारण उस रिवाजको बदलना भी योग्य नहीं। क्योंकि उससे, बादमें, दूसरे समागमवासी अथवा किसी दूसरे आदिमें अपने रीति-रिवाजका अनुकरण करनेवाले, यह समझने लगेंगे कि किसी भी वर्णके यहाँ भोजन करनेमें हानि नहीं। लुहाणाके घर अन्न आहार ग्रहण करनेसे वर्णधर्मकी हानि नहीं होती, परन्तु मुसलमानोंके घर अन्न आहार ग्रहण करते हुए तो वर्णधर्मकी विशेष हानि होती है; और वह वर्णधर्मके लोप करनेके दोषके समान होता है। अपनी किसी लोकके उपकार आदि कारणसे वैसी प्रवृत्ति करनी हो—यद्यपि रसलुब्धता बुद्धिसे वैसी प्रवृत्ति न होती हो—तो भी अपना वह आचरण ऐसे निमित्तका हेतु हो जाता है कि दूसरे लोग उस हेतुके समझे बिना ही प्रायः उसका अनुकरण करते हैं, और अन्तमें अभक्ष्य आदिके ग्रहण करनेमें प्रवृत्ति करने लगते हैं; इसीलिये उस तरह आचरण न करना अर्थात् मुसलमान आदिका अन्न आहार आदि ग्रहण नहीं करना, यह उत्तम है। तुम्हारी वृत्तिकी तो यह कुछ प्रतीति है, परन्तु यदि किसीकी उससे उतरती हुई वृत्ति हो तो उसका अभक्ष्य आदि अपनानेके संयोगसे प्रायः उस मार्गमें चले जाना संभव है। इसलिये इस समागमसे जिस तरह दूर रहा जा सके उस तरह विचार करना कर्त्तव्य है।

दयाकी भावना विशेष रखनी हो तो जहाँ हिंसाके स्थानक हैं, तथा वैसे पदार्थ जहाँ खरीदे बेचे जाते हैं, वहाँ रहनेके अथवा जाने आनेके प्रसंगको न आने देना चाहिये, नहीं तो जैसी चाहिये वैसी दयाकी भावना नहीं रहती। तथा अभक्ष्यके ऊपर दृष्टि न जाने देनेके लिये और उस मार्गकी उन्नतिका अनुमोदन करनेके लिये, अभक्ष्य आदि ग्रहण करनेवालेका, आहार आदिके लिये परिचय न रखना चाहिये।

ज्ञान-दृष्टिसे देखनेसे तो ज्ञाति आदि भेदकी विशेषता आदि मालूम नहीं होती, परन्तु भक्ष्याभक्ष्यके भेदका तो वहाँ भी विचार करना चाहिये, और उसके लिये मुख्यरूपसे इस वृत्तिका रखना ही उत्तम है। बहुतसे कार्य ऐसे होते हैं कि उनमें कोई प्रत्यक्ष दोष नहीं होता, अथवा उनसे कोई अन्य दोष नहीं लगता, परन्तु उसके संबंधसे दूसरे दोषोंको आश्रय मिलता है, उसका भी विचारवानको लक्ष रखना उचित है। नेटालके लोगोंके उपकारके लिये कदाचित् तुम्हारी ऐसी प्रवृत्ति होती है, ऐसा तो निश्चय नहीं समझा जा सकता। यदि दूसरे किसी भी स्थलपर वैसा आचरण करते हुए बाधा मालूम दे, और आचरण करना न बने तो ही यह हेतु माना जा सकता है। तथा उन लोगोंके उपकारके लिये वैसा आचरण करना चाहिये, ऐसा विचारनेमें भी कुछ कुछ तुम्हारी समझ-फेर होती होगी, ऐसा लगता है। तुम्हारी सद्वृत्तिकी कुछ प्रतीति है, इसलिये इस विषयमें अधिक लिखना योग्य नहीं मालूम होता। जिस तरह सदाचार और सद्विचारका आराधन हो, वैसा आचरण करना योग्य है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—

संयमके कारण निमित्तरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव.

द्रव्य—संयमित देह.

क्षेत्र—निवृत्तिवाले क्षेत्रमें स्थिति-विहार.

काल—यथासूत्र काल.

भाव—यथासूत्र निवृत्ति-साधन-विचार.

६५१

अनुभव.

६५२

ध्यान.

ध्यान—ध्यान.

ध्यान—ध्यान—ध्यान.

ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान.

ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान.

ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान.

ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान.

६५३

चिद्धातुमय, परमशांत, अडग, एकाग्र, एक स्वभावमय, असंख्यात प्रदेशात्मक, पुरुषाकार चिदानन्दघनका ध्यान करो।

का आत्यंतिक अभाव। प्रदेशसंबंध-प्राप्त, पूर्व-निष्पन्न, सत्ताप्राप्त, उदयप्राप्त, उदीरणाप्राप्त ऐसे चार *ना० गो० आ० और वेदनीयका वेदन करनेसे, जिसे इनका अभाव हो गया है ऐसे शुद्धस्वरूप जिन चिन्मूर्ति सर्व लोकालोक-भासक चमत्कारके धाम हैं।

---

*ज्ञा० व०=ज्ञानावरणीय; द० व०=दर्शनावरणीय; मो०=मोहनीय; अं०=अंतराय; ना०=नाम; गो०=गोत्र; आ०=आयु. —अनुवादक.

(२)

जिनके अनुसार—

आत्मा असंख्यात प्रदेशी, संकोच-विकासकी भाजन, अरूपी, लोकप्रमाण प्रदेशात्मक है।

६५८

जिन—

मध्यम परिमाणकी नित्यता, क्रोध आदिका पारिणामिक भाव (!) ये आत्मामें किस तरह घटते हैं!

कर्म-बंधकी हेतु आत्मा है ! पुद्गल है ! या दोनों हैं ! अथवा इससे भी कोई भिन्न प्रकार है!

मुक्तिमें आत्मा घन-प्रदेश किस तरह है !

द्रव्यकी गुणसे भिन्नता किस तरह है !

समस्त गुण मिलकर एक द्रव्य होता है, या उसके बिना द्रव्यका कुछ दूसरा ही विशेष स्वरूप है!

सर्व द्रव्यके वस्तुत्व गुणको निकाल कर विचार करें तो वह एक है या किसी दूसरी तरह!

आत्मा गुणी है, ज्ञान गुण है, यह कहनेसे आत्माका कथंचित् ज्ञान-रहितपना ठीक है या नहीं!
यदि आत्मामें ज्ञान-रहितपना स्वीकार करें तो वह जड़ हो जायगी।

उसमें यदि चारित्र वीर्य आदि गुण मानें तो उसकी ज्ञानसे भिन्नता होनेसे वह जड़ हो जायगी,
उसका समाधान किस तरह करना चाहिये !

अभव्यत्व पारिणामिक भावमें किस तरह घट सकता है !

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और जीवको द्रव्य-दृष्टिसे देखें तो वह एक वस्तु है या नहीं!

द्रव्यत्व क्या है !

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशका विशेष स्वरूप किस तरह प्रतिपादित हो सकता है!

लोक असंख्य प्रदेशी है, और द्वीप समुद्र असंख्यातों हैं, इत्यादि विरोधका किस तरह समाधान
हो सकता है !

आत्मामें पारिणामिकता किस तरह है !

मुक्तिमें भी सब पदार्थोंका ज्ञान किस तरह होता है !

अनादि-अनंतका ज्ञान किस तरह हो सकता है !

६५९

वेदान्त—

एक आत्मा, अनादि माया, बंध-मोक्षका प्रतिपादन, यह जो तुम कहते हो वह नहीं घट सकता।

आनन्द और चैतन्यमें श्रीकपिलदेवजीने जो विरोध कहा है उसका क्या समाधान है !

उसका यथायोग्य समाधान वेदान्तमें देखनेमें नहीं आता।

आत्माको नाना माने बिना बंध-मोक्ष हो ही नहीं सकता। और वह है तो सही; देखा है
भी उसे कल्पित कहनेसे उपदेश आदि कार्य करने योग्य नहीं ठहरता।

६५४

सोऽहं (आश्चर्यकारक) महापुरुषोंने गवेषणा की है।

कल्पित परिणतिसे जीवका विराम लेना जो इतना अधिक कठिन हो गया है, उसका हेतु क्या होना चाहिये?

आत्माके ध्यानका मुख्य प्रकार कौनसा कहा जा सकता है?

उस ध्यानका स्वरूप किस तरह है?

केवलज्ञानका जिनागममें जो प्ररूपण किया है वह यथायोग्य है? अथवा वेदान्तमें जो प्ररूपण किया है वह यथायोग्य है?

६५५

प्रेरणापूर्वक स्पष्ट गमनागमन क्रियाका आत्माके असंख्यात प्रदेश प्रमाणत्वके लिये विशेष विचार करना चाहिये।

प्रश्नः—परमाणुके एक प्रदेशात्मक और आकाशके अनंत प्रदेशात्मक माननेमें जो हेतु है, वह हेतु आत्माके असंख्यात प्रदेशत्वके लिये यथातथ्य सिद्ध नहीं होता। क्योंकि मध्यम-परिणामी वस्तु अनुत्पन्न देखनेमें नहीं आती।

उत्तरः—

६५६

अमूर्तत्वकी क्या व्याख्या है?

अनंतत्वकी क्या व्याख्या है?

आकाशका अवगाहक-धर्मत्व किस प्रकार है?

मूर्तामूर्तका बंध यदि आज नहीं होता तो वह अनादिसे कैसे हो सकता है? वस्तुस्वभाव इस प्रकार अन्यथा किस तरह माना जा सकता है?

क्रोध आदि भाव जीवमें परिणामीरूपसे हैं या निवृत्तिरूपसे हैं?

यदि उन्हें परिणामीरूपसे कहें तो वे स्वाभाविक धर्म हो जाँय, और स्वाभाविक धर्मका दूर होना कहीं भी अनुभवमें आता नहीं।

यदि उन्हें निवृत्तिरूपसे समझें तो जिस प्रकारसे जिनभगवान्‌ने यथार्थ बंध कहा है, उस तरह माननेसे विरोध आना संभव है।

६५७

(१)

जिनभगवान्‌के अनुसार केवलदर्शन, और वेदान्तके अनुसार ब्रह्म इन दोनोंमें क्या भेद है?

वैराग्यादि सफळ तो, जो सह आतमज्ञान ।
तेम ज आतमज्ञाननी, प्राप्तितणां निदान ॥ ६ ॥

वैराग्य त्याग आदि, यदि साथमें आत्मज्ञान हो तो ही सफल हैं, अर्थात् तो ही वे मोक्षकी प्राप्तिके हेतु हैं; और जहाँ आत्मज्ञान न हो वहाँ भी यदि उन्हें आत्मज्ञानके लिये ही किया जाता हो तो भी वे आत्मज्ञानकी प्राप्तिके कारण हैं ॥

वैराग्य, त्याग, दया आदि जो अंतरंगकी क्रियायें हैं, उनकी साथ यदि आत्मज्ञान हो तो ही वे सफल हैं—अर्थात् तो ही वे भवके मूलका नाश करती हैं। अथवा वैराग्य, त्याग, दया आदि आत्मज्ञानकी प्राप्तिके कारण हैं; अर्थात् जीवमें प्रथम इन गुणोंके आनेसे उसमें सद्गुरुका उपदेश प्रवेश करता है। उज्ज्वल अंतःकरणके बिना सद्गुरुका उपदेश प्रवेश नहीं करता। इस कारण यह कहा है कि वैराग्य आदि आत्मज्ञानकी प्राप्तिके साधन हैं।

यहाँ, जो जीव क्रिया-जड़ हैं, उन्हें ऐसा उपदेश किया है कि केवल कायाका रोकना ही कुछ आत्मज्ञानकी प्राप्तिका कारण नहीं। यद्यपि वैराग्य आदि गुण आत्मज्ञानकी प्राप्तिके हेतु हैं, इसलिये तुम उन क्रियाओंका अवगाहन तो करो; परन्तु उन क्रियाओंमें ही उलझे रहना योग्य नहीं है। क्योंकि आत्मज्ञानके बिना वे क्रियायें भी संसारके मूलका छेदन नहीं कर सकतीं। इसलिये आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये उन वैराग्य आदि गुणोंमें प्रवृत्ति करो, और कायक्लेशमें—जिसमें कषाय आदिकी तथारूप कुछ भी क्षीणता नहीं—तुम मोक्ष-मार्गका दुराग्रह न रक्खो—यह उपदेश क्रिया-जड़को दिया है।

तथा जो शुष्क-ज्ञानी त्याग वैराग्य आदिरहित हैं—केवल वचन-ज्ञानी ही हैं—उन्हें ऐसा कहा गया है कि वैराग्य आदि जो साधन हैं, वे आत्मज्ञानकी प्राप्तिके कारण ज़रूर बताये हैं; परन्तु कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति होती नहीं; और तुमने जब वैराग्य आदिको भी नहीं प्राप्त किया तो फिर आत्मज्ञान तो तुम कहाँसे प्राप्त कर सकते हो? उसका ज़रा आत्मामें विचार तो करो। संसारके प्रति बहुत उदासीनता, देहकी मूर्च्छाकी अल्पता, भोगमें अनासक्ति, तथा मान आदिकी कृशता इत्यादि गुणोंके बिना तो आत्मज्ञान फलीभूत होता ही नहीं, और आत्मज्ञान प्राप्त करने लेनेपर तो वे गुण अत्यंत दृढ़ हो जाते हैं; क्योंकि उन्हें आत्मज्ञानरूप जो मूल है वह प्राप्त हो गया है। तथा उसके बदले तो तुम ऐसा मान रहे हो कि तुम्हें आत्मज्ञान है; परन्तु आत्मामें तो भोग आदि कामनाकी अग्नि जला करती है, पूजा सत्कार आदिकी कामना वारंबार स्फुरित होती है, थोड़ीसी असातासे ही बहुत आकुलता व्याकुलता हो जाती है। फिर यह क्यों लक्षमें आता नहीं कि ये आत्मज्ञानके लक्षण नहीं हैं। 'मैं केवल मान आदिकी कामनासे ही अपनेको आत्मज्ञानी कहलवाता हूँ'—यह जो तुम्हारी समझमें नहीं आता उसे समझो; और प्रथम तो वैराग्य आदि साधनोंको आत्मामें उत्पन्न करो, जिससे आत्मज्ञानकी सन्मुखता हो सके।

त्याग विराग न चित्तमां, थाय न तेने ज्ञान ।
अटके त्याग विरागमां, तो भूले निजभान ॥ ७ ॥

जिसके चित्तमें त्याग-वैराग्य आदि साधन उत्पन्न न हुए हों उसे ज्ञान नहीं होता; और जो त्याग-वैराग्यमें ही उलझा रहकर आत्मज्ञानकी आकांक्षा नहीं रखता वह अपना भान भूल जाता है—

आशंकाः—बहुतसोंको क्रिया-जड़ता रहती है और बहुतसोंको शुष्क-ज्ञानीपना रहता है, उसका क्या कारण होना चाहिये ?

समाधानः—जो अपने पक्ष अर्थात् मतको छोड़कर सद्गुरुके चरणकी सेवा करता है, वह पदार्थको प्राप्त करता है, और निजपदका अर्थात् आत्म-स्वभावका लक्ष ग्रहण करता है। बहुतसोंको जो क्रिया-जड़ता रहती है, उसका हेतु यही है कि उन्होंने, जो आत्मज्ञान और आत्मज्ञानके साधनको नहीं जानता, ऐसे असद्गुरुका आश्रय ले रक्खा है। इससे वह असद्गुरु उन्हें, वह जिसे मात्र क्रिया-जड़ताके अर्थात् कायक्लेशके मार्गको जानता है, उसीमें लगा लेता है, और कुल-धर्मको दृढ़ कराता है। इस कारण उन्हें सद्गुरुके योगके मिलनेकी आकांक्षा भी नहीं होती, अथवा वैसा योग मिलनेपर भी उन्हें पक्षकी दृढ़ वासना सदुपदेशके सन्मुख नहीं होने देती; इसलिये क्रिया-जड़ता दूर नहीं होती, और परमार्थकी प्राप्ति भी नहीं होती।

तथा जो शुष्क-ज्ञानी है, उसने भी सद्गुरुके चरणका सेवन नहीं किया; और केवल अपनी मतिकी कल्पनासे ही स्वच्छंदरूपसे अध्यात्मके ग्रन्थ पढ़ लिये हैं। अथवा किसी शुष्क-ज्ञानीके पाससे वैसे ग्रन्थ अथवा वचनोंको सुनकर अपनेमें ज्ञानीपना मान लिया है; और ज्ञानी मनवानेके पदका जो एक प्रकारका मान है, उसमें उसे मिठास रहती आई है, और यह उसका पक्ष ही हो गया है। तथा किसी किसी स्थलपर शास्त्रोंमें दया, दान और हिंसा, पूजाकी जो समानता कही है, उन वचनोंको, उसका परमार्थ समझे बिना ही, हाथमें लेकर, केवल अपनेको ज्ञानी मनवानेके लिये, और पामर जीवोंके तिरस्कारके लिये, वह उन वचनोंका उपयोग करता है। परन्तु उन वचनोंको किस लक्षसे समझनेसे परमार्थ होता है, यह नहीं जानता। तथा जैसे दया, दान आदिकी शास्त्रोंमें निष्फलता कही है, उसी तरह नवपूर्वतक पढ़ लेनेपर भी वे निष्फल चले गये—इस तरह ज्ञानकी भी निष्फलता कही है—और वह तो शुष्क ज्ञानका ही निषेध है। ऐसा होनेपर भी उसे उसका लक्ष होता नहीं। क्योंकि वह अपनेको ज्ञानी मानता है, इसलिये उसकी आत्मा मूढ़ताको प्राप्त हो गई है, इस कारण उसे विचारका अवकाश ही नहीं रहा। इस तरह क्रिया-जड़ अथवा शुष्क-ज्ञानी दोनों ही भूले हुए हैं, और वे परमार्थ पानेकी इच्छा रखते हैं, अथवा ऐसा कहते हैं कि हमने परमार्थ पा लिया है। यह केवल उनका दुराग्रह है—यह प्रत्यक्ष मालूम होता है।

यदि सद्गुरुके चरणका सेवन किया होता तो ऐसे दुराग्रहमें पड़ जानेका समय न आता, जीव आत्म-साधनमें प्रेरित होता, तथारूप साधनसे परमार्थकी प्राप्ति करता, और निजपदके लक्षको ग्रहण करता; अर्थात् उसकी वृत्ति आत्माके सन्मुख हो जाती।

तथा जगह जगह एकाकीरूपसे विचरनेका जो निषेध है, और सद्गुरुकी ही सेवामें विचरनेका जो उपदेश किया है, इससे भी यही समझमें आता है कि वही जीवको हितकारी और मुख्य मार्ग है। तथा असद्गुरुसे भी कल्याण होता है, ऐसा कहना तो तीर्थंकर आदिकी—ज्ञानीकी—आसातना करनेके ही समान है। क्योंकि फिर तो उनमें और असद्गुरुमें कोई भी भेद नहीं रहा—फिर तो जन्मांध और अत्यंत शुद्ध निर्मल चक्षुवालेमें कुछ न्यूनाधिकता ही न ठहरी। तथा श्रीठाणांगसूत्रकी चौभंगी लेकर कोई ऐसा कहे कि 'अभव्य द्वारा पार किया हुआ भी पार हो जाता है,' तो यह वचन भी 'लवणसमुद्र' जैसा ही है। क्योंकि पहले तो मूलमें ठाणांगमें वह पाठ ही नहीं; और जो पाठ है वह

हुआ। इससे सद्गुरुके उपदेशकी ऐसी कोई विशेषता दिखाई नहीं देती।' इसका उत्तर इस पदमें कहा है।

उत्तरः—जो अपने पक्षको त्यागकर सद्गुरुके चरणकी सेवा करता है, वह परमार्थ प्राप्त करता है। अर्थात् पूर्वमें सद्गुरुके योग होनेकी तो बात सत्य है, परन्तु वहाँ जीवने उस सद्गुरुको जाना ही नहीं, उसे पहिचाना ही नहीं, उसकी प्रतीति ही नहीं की, और उसके पास अपना मान और मत छोड़ा ही नहीं, और इस कारण उसे सद्गुरुका उपदेश लगा नहीं, और परमार्थकी प्राप्ति हुई नहीं। जीव इस तरह यदि अपने मत अर्थात् स्वच्छंद और कुलधर्मका आग्रह दूर कर सदुपदेशके ग्रहण करनेका अभिलाषी हुआ होता तो अवश्य ही परमार्थको पा जाता।

आशंकाः—यहाँ असद्गुरुसे दृढ कराये हुए दुर्बोधसे अथवा मान आदिकी तीव्र कामनासे यह भी आशंका हो सकती है कि 'कितने ही जीवोंका पूर्वमें कल्याण हुआ है, और उन्हें सद्गुरुके चरणकी सेवा किये बिना ही कल्याणकी प्राप्ति हो गई है। अथवा असद्गुरुसे भी कल्याणकी प्राप्ति होती है। असद्गुरुको भले ही स्वयं मार्गकी प्रतीति न हो, परन्तु वह दूसरेको उसे प्राप्त करा सकता है। अर्थात् दूसरा कोई उसका उपदेश सुनकर उस मार्गकी प्रतीति करे, तो परमार्थको पा सकता है। इसलिए सद्गुरुके चरणकी सेवा किये बिना भी परमार्थकी प्राप्ति हो सकती है'।

उत्तरः—यद्यपि कोई जीव स्वयं विचार करते हुए बोधको प्राप्त हुए हैं—ऐसा शास्त्रमें प्रसंग आता है, परन्तु कहीं ऐसा प्रसंग नहीं आता कि अमुक जीवने असद्गुरुसे बोध प्राप्त किया है। और, किसीने स्वयं विचार करते हुए बोध प्राप्त किया है, ऐसा जो कहा है, उसमें शास्त्रोंके कहनेका यह अभिप्राय नहीं कि 'सद्गुरुकी आज्ञामें चलनेसे जीवका कल्याण होता है, ऐसा हमने जो कहा है वह बात यथार्थ नहीं;' अथवा सद्गुरुकी आज्ञाका जीवको कोई भी कारण नहीं है, यह कहनेके लिए वैसा नहीं कहा। तथा जीवोंने अपने विचारसे स्वयं ही बोध प्राप्त किया है, ऐसा जो कहा है, वो उन्होंने भी यद्यपि वर्तमान देहमें अपने विचारसे अथवा बोधसे ही ज्ञान प्राप्त किया है; परन्तु पूर्वमें वह विचार अथवा बोध सद्गुरुने ही उनके सन्मुख किया है, और उसीसे वर्तमानमें उनका स्फुरित होना संभव है। तथा तीर्थंकर आदिको जो स्वयंबुद्ध कहा है, सो उन्होंने भी पूर्वमें तीसरे भवमें सद्गुरुसे ही निश्चय सम्यक्त्व प्राप्त किया है, ऐसा बताया है। अर्थात् जो स्वयंबुद्धपना कहा है वह वर्तमान देहकी अपेक्षासे ही कहा है, उस सद्गुरुके पदका निषेध करनेके लिये उसे नहीं कहा। और यदि सद्गुरु-पदका निषेध करें तो फिर तो 'सद्देव, सद्गुरु और सद्धर्मकी प्रतीतिके बिना सम्यक्त्व नहीं होता' यह जो बताया है, वह केवल कथनमात्र ही हुआ।

अथवा जिस शास्त्रको तुम प्रमाण कहते हो, वह शास्त्र सद्गुरु जिनभगवान्‌का कहा हुआ है, इस कारण उसे प्रामाणिक मानना चाहिये? अथवा वह किसी असद्गुरुका कहा हुआ है इस कारण उसे प्रामाणिक मानना चाहिये? यदि असद्गुरुके शास्त्रोंको भी प्रामाणिक माननेमें बाधा न हो तो फिर अज्ञान और राग-द्वेषके सेवन करनेसे भी मोक्ष हो सकती है, यह कहनेमें भी कोई बाधा नहीं—यह विचारणीय है।

आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदयप्रयोग।
अपूर्व वाणी परमश्रुत सद्गुरुलक्षण योग्य ॥१०॥

आत्मज्ञानमें जिनकी स्थिति है, अर्थात् परभावकी इच्छासे जो रहित हो गये हैं; तथा शत्रु, मित्र, हर्ष, शोक, नमस्कार, तिरस्कार आदि भावके प्रति जिन्हें समता रहती है; केवल पूर्वमें उत्पन्न हुए कर्मोंके उदयके कारण ही जिनकी विचरण आदि क्रियायें हैं; जिनकी वाणी अज्ञानीसे प्रत्यक्ष भिन्न है और जो षट्दर्शनके तात्पर्यको जानते हैं—वे उत्तम सद्गुरु हैं ॥

स्वरूपस्थित इच्छारहित विचरे पूर्वप्रयोग।
अपूर्व वाणी परमश्रुत सद्गुरुलक्षण योग्य ॥

आत्मस्वरूपमें जिसकी स्थिति है, विषय और मान पूजा आदिकी इच्छासे जो रहित है, और केवल पूर्वमें उत्पन्न हुए कर्मके उदयसे ही जो विचरता है, अपूर्व जिसकी वाणी है—अर्थात् जिसका उपदेश निज अनुभवसहित होनेके कारण अज्ञानीकी वाणीकी अपेक्षा भिन्न पड़ता है—और परमश्रुत अर्थात् षट्दर्शनका यथास्थित जो जानकार है—वह योग्य सद्गुरु है।

यहाँ 'स्वरूपस्थित' जो यह प्रथम पद कहा, उससे ज्ञान-दशा कही है। तथा जो 'इच्छारहित' कहा, उससे चारित्रदशा कही है। 'जो इच्छारहित होता है वह किस तरह विचर सकता है'? इस आशंकाकी यह कहकर निवृत्ति की है कि वह पूर्वप्रयोग अर्थात् पूर्वके बंधे हुए प्रारब्धसे विचरता है—विचरण आदिकी उसे कामना बाकी नहीं है। 'अपूर्व वाणी' कहनेसे वचनातिशयता कही है, क्योंकि उसके बिना मुमुक्षुका उपकार नहीं होता। 'परमश्रुत' कहनेसे उसे षट्दर्शनके अविरुद्ध दशाका जानकार कहा है, इससे श्रुतज्ञानकी विशेषता दिखाई है।

आशंका:—वर्तमानकालमें स्वरूपस्थित पुरुष नहीं होता इसलिये जो स्वरूपस्थित विशेषण कहा है वह आजकल होना संभव नहीं।

समाधान:—वर्तमानकालमें कदाचित् ऐसा कहा हो तो उसका अर्थ यह हो सकता है कि 'केवल-भूमिका' के संबंधमें ऐसी स्थिति असंभव है; परन्तु उससे ऐसा नहीं कहा जा सकता कि आत्मज्ञान ही नहीं होता, और जो आत्मज्ञान है वही स्वरूपस्थिति है।

आशंका:—आत्मज्ञान हो तो वर्तमानकालमें भी मुक्ति होनी चाहिये, और जिनागममें तो इसका निषेध किया है।

समाधान:—इस वचनको कदाचित् एकांतसे इसी तरह मान भी लें तो भी उससे एकावतारीपनेका निषेध नहीं होता, और एकावतारीपना आत्मज्ञानके बिना प्राप्त होता नहीं।

आशंका:—त्याग-वैराग्य आदिकी उत्कृष्टतासे ही उसका एकावतारीपना कहा होगा।

समाधान:—परमार्थसे उत्कृष्ट त्याग-वैराग्यके बिना एकावतारीपना होता ही नहीं, यह सिद्धान्त है। और वर्तमानमें भी चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थानका कुछ भी निषेध नहीं, और चौथे गुणस्थानसे ही आत्मज्ञान संभव है। पाँचवेंमें विशेष स्वरूपस्थिति होती है, छठेमें बहुत अंशमें स्वरूपस्थिति हो

समागम मिलनेपर भी, 'उसमें परोक्ष जिनभगवान्के वचनोंकी अपेक्षा भी महान् उपकार हुआ है,' इस बातको नहीं समझता, तबतक उसे आत्म-विचार उत्पन्न नहीं होता।

सद्गुरुना उपदेशवण, समजाय न जिनरूप।
समज्यावण उपकार शो? समज्ये जिनस्वरूप॥ १२॥

सद्गुरुके उपदेशके बिना जिनका स्वरूप समझमें नहीं आता, और उस स्वरूपके समझे बिना उपकार भी क्या हो सकता है? यदि जीव सद्गुरुके उपदेशसे जिनका स्वरूप समझ जाय तो समझनेवालेकी आत्मा अन्तमें जिनकी दशाको ही प्राप्त करे॥

सद्गुरुना उपदेशथी, समजे जिननुं रूप।
तो ते पामे निजदशा, जिन छे आत्मस्वरूप।
पाम्या शुद्धस्वभावने, छे जिन तेथी पूज्य।
समजो जिनस्वभाव तो, आत्मभावनो गुण्य॥

सद्गुरुके उपदेशसे जो जिनका स्वरूप समझ जाता है, वह अपने स्वरूपकी दशाको प्राप्त कर लेता है, क्योंकि शुद्ध आत्मभाव ही जिनका स्वरूप है। अथवा राग द्वेष और अज्ञान जो जिनभगवान्में नहीं, वही शुद्ध आत्मपद है, और वह पद तो सत्तामे सब जीवोंको मौजूद है। वह सद्गुरुके अवलम्बनसे और जिनभगवान्के स्वरूपके कथनसे मुमुक्षु जीवको समझमें आता है।

आत्मादि अस्तित्वनां, जेह निरूपक शास्त्र।
प्रत्यक्ष सद्गुरुयोग नहीं, त्यां आधार सुपात्र॥ १३॥

जो जिनागम आदि आत्माके अस्तित्वके तथा परलोक आदिके अस्तित्वके उपदेश करनेवाले शास्त्र हैं वे भी, जहाँ प्रत्यक्ष सद्गुरुका योग न हो वहाँ सुपात्र जीवको आधाररूप हैं; परन्तु उन्हें सद्गुरुके समान भ्रान्ति दूर करनेवाला नहीं कहा जा सकता।

अथवा सद्गुरुए कह्यां, जे अवगाहन काज।
ते ते नित्य विचारवां, करी मतांतर त्याग॥ १४॥

अथवा यदि सद्गुरुने उन शास्त्रोंके विचारनेकी आज्ञा दी हो, तो उन शास्त्रोंको, मतांतर अर्थात् कुलधर्मके सार्थक करनेके हेतु आदि भ्रान्तिको छोड़कर, केवल आत्मार्थके लिये ही नित्य विचारना चाहिये।

रोके जीव स्वच्छंद तो, पामे अवश्य मोक्ष।
पाम्या एम अनंत छे, भाख्युं जिन निर्दोष॥ १५॥

जीव अनादिकालसे जो अपनी चतुराईसे और अपनी इच्छासे चलता आ रहा है, इसका नाम स्वच्छंद है। यदि वह इस स्वच्छंदको रोके, तो वह अवश्य मोक्षको पा जाय; और इस तरह भूतकालमें अनंत जीवोंने मोक्ष पाया है—ऐसा राग द्वेष और अज्ञानमेंसे जिनके एक भी दोष नहीं, ऐसे निर्दोष वीतरागने कहा है।

होय मतार्थी तेहने, थाय न आतमलक्ष ।
तेह मतार्थिलक्षणो, अहीं कह्यां निर्पक्ष ॥ २३ ॥

जो मतार्थी जीव होता है, उसे आत्मज्ञानका लक्ष नहीं होता। ऐसे मतार्थी जीवके यहाँ नि
होकर लक्षण कहते हैं।

मतार्थीके लक्षणः—

बाह्य त्याग पण ज्ञान नहीं, ते माने गुरु सत्य ।
अथवा निजकुळधर्मना, ते गुरुमां ज ममत्व ॥ २४ ॥

जो केवल बाह्यसे ही त्यागी दिखाई देता है, परन्तु जिसे आत्मज्ञान नहीं, और उपलक्षणसे
अंतरंग त्याग भी नहीं है, ऐसे गुरुको जो सद्गुरु मानता है, अथवा अपने कुलधर्मका चाहे कैसा भी
हो, उसमें ममत्व रखता है—वह मतार्थी है।

जे जिनदेहप्रमाणने, समवसरणादि सिद्धि ।
वर्णन समजे जिननुं, रोकी रहे निजबुद्धि ॥ २५ ॥

जिनभगवान्‌की देह आदिका जो वर्णन है, जो उसे ही जिनका वर्णन समझता है; और
अपने कुलधर्मके देव हैं, इसलिये अहंभावके कल्पित रागसे जो उनके समवसरण आदि माहात्म्यको
गाया करता है, और उसीमें अपनी बुद्धिको रोके रहता है—अर्थात् परमार्थ-हेतुस्वरूप ऐसे जिन
जो जानने योग्य अंतरंग स्वरूप है उसे जो नहीं जानता, तथा उसे जाननेका प्रयत्न भी नहीं कर
और केवल समवसरण आदिमें ही जिनका स्वरूप बताकर मतार्थमें ग्रस्त रहता है—वह मतार्थी है।

प्रत्यक्ष सद्गुरुयोगमां वर्त्ते दृष्टि विमुख ।
असद्गुरुने दृढ करे, निजमानार्थे मुख्य ॥ २६ ॥

प्रत्यक्ष सद्गुरुका कभी योग मिले भी तो दुराग्रह आदिके नाश करनेवाली उनकी वाणी सु
कर, जो उससे उल्टा ही चलता है, अर्थात् उस हितकारी वाणीको जो ग्रहण नहीं करता; और 'वह स
सच्चा दृढ मुमुक्षु है,' इस मानको मुख्यरूपसे प्राप्त करनेके लिये ही असद्गुरुके पास जाकर, जो स्वयं उ
प्रति अपनी विशेष दृढ़ता बताता है—वह मतार्थी है।

देवादि गति भंगमां, जे समजे श्रुतज्ञान ।
माने निज मतवेषनो, आग्रह मुक्तिनिदान ॥ २७ ॥

देव नरक आदि गतिके 'भंग' आदिका जो स्वरूप किसी विशेष परमार्थके हेतुसे कहा है, उ
हेतुको जिसने नहीं जाना, और उस भंगजालको ही जो श्रुतज्ञान समझता है; तथा अपने मतका
वेषका—आग्रह रखनेको ही मुक्तिका कारण मानता है—वह मतार्थी है।

लह्युं स्वरूप न वृत्तिनुं, ग्रह्युं व्रत अभिमान ।
ग्रहे नहीं परमार्थने, लेवा लौकिक मान ॥ २८ ॥

वृत्तिका स्वरूप क्या है ? उसे भी जो नहीं जानता, और 'मैं व्रतधारी हूँ' ऐसा अभि
जिसने धारण कर रक्खा है। तथा यदि कभी परमार्थके उपदेशका योग बने भी, तो 'लोकमें जो अ
मान और पूजा सत्कार आदि है वह चला जायगा, अथवा वे मान आदि फिर पीछेसे प्राप्त न होंगे'
ऐसा समझकर, जो परमार्थको ग्रहण नहीं करता—वह मतार्थी है।

नहीं है। जं समंति पासह तं मोणंति पासह—जहाँ समकित अर्थात् आत्मज्ञान है वहीं मुनि समझो, ऐसा आचारांगसूत्रमें कहा है। अर्थात् आत्मार्थी जीव ऐसा समझता है कि जिसमें आ... हो वही सच्चा गुरु है; और जो आत्मज्ञानसे रहित हो ऐसे अपने कुलके गुरुको सद्गुरु मानना—यह कल्पना है, उससे कुछ संसारका नाश नहीं होता।

प्रत्यक्ष सद्गुरुप्राप्तिनो, गणे परम उपकार।
त्रणे योग एकत्वथी, वर्ते आज्ञाधार ॥ ३५ ॥

वह प्रत्यक्ष सद्गुरुकी प्राप्तिका महान् उपकार समझता है; अर्थात् शास्त्र आदिसे जो स... नहीं हो सकता, और जो दोष सद्गुरुकी आज्ञा धारण किये बिना दूर नहीं होते, उनका स... योगसे समाधान हो जाता है, और वे दोष दूर हो जाते हैं। इसलिये प्रत्यक्ष सद्गुरुका वह महान् उ... समझता है; और उस सद्गुरुके प्रति मन वचन और कायाकी एकतासे आज्ञापूर्वक चलता है।

एक होय त्रण काळमां, परमारथनो पंथ।
प्रेरे ते परमार्थने, ते व्यवहार समंत ॥ ३६ ॥

तीनों कालमें परमार्थका पंथ अर्थात् मोक्षका मार्ग एक ही होना चाहिये; और जिससे परमार्थ सिद्ध हो, वह व्यवहार जीवको मान्य रखना चाहिये, दूसरा नहीं।

एम विचारी अंतरे, शोधे सद्गुरुयोग ॥
काम एक आत्मार्थनुं, बीजो नहीं मनरोग ॥ ३७ ॥

इस तरह अंतरमें विचारकर जो सद्गुरुके योगकी शोध करता है; केवल एक आत्मार्थ... इच्छा रखता है; मान पूजा आदि ऋद्धि-सिद्धिकी कुछ भी इच्छा नहीं रखता—यह रोग... मनमें ही नहीं है—वह आत्मार्थी है।

कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष-अभिलाष।
भवे खेद प्राणी-दया, त्यां आत्मार्थ निवास ॥ ३८ ॥

कषाय जहाँ कृश पड़ गई हैं, केवल एक मोक्ष-पदके सिवाय जिसे दूसरे किसी पदकी अ... नहीं, संसारपर जिसे वैराग्य रहता है, और प्राणीमात्रके ऊपर जिसे दया है—ऐसे जीवमें आत्म... निवास होता है।

दशा न एवी ज्यांसुधी, जीव लहे नहीं जोग्य।
मोक्षमार्ग पामे नहीं, मटे न अंतरोग ॥ ३९ ॥

जबतक ऐसी योग-दशाको जीव नहीं पाता, तबतक उसे मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं होती, और आत्म-भ्रांतिरूप अनंत दुःखका हेतु अन्तर-रोग नहीं मिटता।

आवे ज्यां एवी दशा, सद्गुरुबोध सुहाय।
ते बोधे सुविचारणा, त्यां प्रगटे सुखदाय ॥ ४० ॥

जहाँ ऐसी दशा होती है, वहाँ सद्गुरुका बोध शोभाको प्राप्त होता है—फलीभूत होता है, और उस बोधके फलीभूत होनेसे सुखदायक सुविचारदशा प्रगट होती है।

वळी जो आतमा होय तो, जणाय ते नहीं केम ।
जणाय जो ते होय तो, घटपट आदि जेम ॥ ४७ ॥

और यदि आत्मा हो तो वह मालूम क्यों नहीं होती ? जैसे घट पट आदि पदार्थ मौजूद हैं और वे मालूम होते हैं, उसी तरह यदि आत्मा हो तो वह क्यों मालूम नहीं होती ?

माटे छे नहीं आतमा, मिथ्या मोक्षउपाय ।
ए अंतर शंकातणो, समजावो सदुपाय ॥ ४८ ॥

अतएव आत्मा नहीं है; और आत्मा नहीं, इसलिये उसके मोक्षके लिये उपाय करना भी व्यर्थ है—इस मेरी अंतरकी शंकाका कुछ भी सदुपाय हो तो कृपा करके मुझे समझाइये—अर्थात् इसका कुछ समाधान हो तो कहिये ।

समाधान—सद्गुरु उवाच—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि आत्माका अस्तित्व है:—

भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देहसमान ।
पण ते बन्ने भिन्न छे, प्रगटलक्षणे भान ॥ ४९ ॥

देहाध्याससे अर्थात् अनादिकालके अज्ञानके कारण देहका परिचय हो रहा है, इस कारण तुझे आत्मा देह जैसी अर्थात् आत्मा देह ही भासित होती है । परन्तु आत्मा और देह दोनों भिन्न भिन्न हैं, क्योंकि दोनों ही भिन्न भिन्न लक्षणपूर्वक प्रगट देखनेमें आते हैं ।

भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देहसमान ।
पण ते बन्ने भिन्न छे, जेम असि ने म्यान ॥ ५० ॥

अनादिकालके अज्ञानके कारण देहके परिचयसे देह ही आत्मा भासित हुई है, अथवा देहके समान ही आत्मा भासित हुई है । परन्तु जिस तरह तलवार और म्यान दोनों एक म्यानरूप मालूम होते हैं फिर भी दोनों भिन्न भिन्न हैं, उसी तरह आत्मा और देह दोनों भिन्न भिन्न हैं ।

जे द्रष्टा छे दृष्टिनो, जे जाणे छे रूप ।
अबाध्य अनुभव जे रहे, ते छे जीवस्वरूप ॥ ५१ ॥

वह आत्मा, दृष्टि अर्थात् आँखसे कैसे दिखाई दे सकती है ? क्योंकि उल्टी आत्मा ही उसे देखनेवाली है । जो स्थूल सूक्ष्म आदिके स्वरूपको जानता है; और सबमें किसी न किसी प्रकारकी बाधा आती है परन्तु जिसमें किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं आ सकती, ऐसा जो अनुभव है वही जीवका स्वरूप है ।

छे इन्द्रिय प्रत्येकने, निज निज विषयनुं ज्ञान ।
पाँच इन्द्रिना विषयनुं, पण आत्माने भान ॥ ५२ ॥

जो कर्णेन्द्रियसे सुना जाता है उसे कर्णेन्द्रिय जानती है, उसे चक्षु इन्द्रिय नहीं जानती; जो चक्षु इन्द्रियसे देखा जाता है उसे कर्णेन्द्रिय नहीं जानती । अर्थात् सब इन्द्रियोंको अपने अपने विषयका ही ज्ञान होता है, दूसरी इन्द्रियोंके विषयका ज्ञान नहीं होता, और आत्माको तो पाँचों इन्द्रियोंके

२ शंका—शिष्य उवाच—

शिष्य कहता है कि आत्मा नित्य नहीं हैः—

आत्माना अस्तित्वना, आपे कह्या प्रकार ।
संभव तेनो थाय छे, अंतर् कर्ये विचार ॥ ५९ ॥

आत्माके अस्तित्वमें आपने जो जो बातें कहीं, उनका अंतरंगमें विचार करनेसे वह अस्तित्व संभव माळूम होता है ।

बीजी शंका थाय त्यां, आत्मा नहीं अविनाश ।
देहयोगथी ऊपजे, देहवियोगे नाश ॥ ६० ॥

परन्तु दूसरी शंका यह होती है कि यदि आत्मा है तो भी वह अविनाशी अर्थात् नित्य नहीं है । वह तीनों कालमें रहनेवाला पदार्थ नहीं, वह केवल देहके संयोगसे उत्पन्न होती है और उसके वियोगसे उसका नाश हो जाता है ।

अथवा वस्तु क्षणिक छे, क्षणे क्षणे पलटाय ।
ए अनुभवथी पण नहीं, आत्मा नित्य जणाय । ।६१ ॥

अथवा वस्तु क्षण क्षणमें बदलती हुई देखनेमें आती है, इसलिये सब वस्तु क्षणिक है, और अनुभवसे देखनेसे भी आत्मा नित्य नहीं माळूम होती ।

समाधान—सद्गुरु उवाचः—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि आत्मा नित्य हैः—

देह मात्र संयोग छे, वळी जडरूपी दृश्य ।
चेतननां उत्पत्ति लय, कोना अनुभव वश्य ? ॥ ६२ ॥

समस्त देह परमाणुके संयोगसे बनी है, अथवा संयोगसे ही आत्माके साथ उसका संबंध है। तथा वह देह जड़ है, रूपी है और दृश्य अर्थात् दूसरे किसी द्रष्टाके जाननेका विषय है; इसलिये वह अपने आपको भी नहीं जानती तो फिर चेतनकी उत्पत्ति और नाशको तो वह कहाँसे जान सकती है ? उस देहके एक एक परमाणुका विचार करनेसे भी वह जड़ ही समझमें आती है । इस कारण उससे चेतनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; और जब उसमें उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती तो उसके साथ चेतनका नाश भी नहीं हो सकता । तथा वह देह रूपी अर्थात् स्थूल आदि परिणामवाली है, और चेतन द्रष्टा है, फिर उसके संयोगसे चेतनकी उत्पत्ति किस तरह हो सकती है ? और उसके साथ उसका नाश भी कैसे हो सकता है ? तथा देहमेंसे चेतन उत्पन्न होता है, और उसके साथ ही वह नाश हो जाता है, यह बात किसके अनुभवके आधीन है ? अर्थात् इस बातको कौन जानता है ? क्योंकि जाननेवाले चेतनकी उत्पत्ति देहसे पहले तो होती नहीं, और नाश तो उससे पहिले ही हो जाता है। तो फिर यह अनुभव किसे होता है ?

अर्थात्:—जीवका स्वरूप अविनाशी अर्थात् नित्य त्रिकालवर्ती होना संभव नहीं । वह देहके संयोगसे अर्थात् देहके जन्मके साथ ही पैदा होता है, और देहके वियोग अर्थात् देहके नाश होनेसे नष्ट हो जाता है ।

आत्मा ही उन्हें देखने और जाननेवाली है। उन सब संयोगोंका विचार करके देखो तो तुम्हें किसी भी संयोगसे अनुभवस्वरूप आत्मा उत्पन्न हो सकने योग्य मालूम न होगी।

कोई भी संयोग ऐसे नहीं जो तुम्हें जानते हों, और तुम तो उन सब संयोगोंको जानते हो, इससे तुम्हारी उनसे भिन्नता, और असंयोगीपना—उन संयोगोंसे उत्पन्न न होना—सहज ही सिद्ध होता है, और अनुभवमें आता है। उससे—किसी भी संयोगसे—जिसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, कोई भी संयोग जिसका उत्पत्तिके लिये अनुभवमें नहीं आ सकता, और जिन संयोगोंकी हम कल्पना करें उनसे जो अनुभव भिन्न—सर्वथा भिन्न—केवल उसके ज्ञातारूपसे ही रहता है, उस अनुभवस्वरूप आत्माको तुम नित्य स्पर्शरहित—जिसने उन संयोगोंके भावरूप स्पर्शको प्राप्त नहीं किया—समझो।

जडथी चेतन उपजे, चेतनथी जड थाय।
एवो अनुभव कोईने, क्यारे कदी न थाय ॥ ६५ ॥

जड़से चेतन उत्पन्न होता है और चेतनसे जड़ उत्पन्न होता है, ऐसा किसीको कभी भी अनुभव नहीं होता।

कोइ संयोगोथी नहीं, जेनी उत्पत्ति थाय।
नाश न तेनो कोईमां, तेथी नित्य सदाय ॥ ६६ ॥

जिसकी उत्पत्ति किसी भी संयोगसे नहीं होती, उसका नाश भी किसीके साथ नहीं होता, इसलिये आत्मा त्रिकाल 'नित्य' है ॥

जो किसी भी संयोगसे उत्पन्न न हुआ हो, अर्थात् अपने स्वभावसे ही जो पदार्थ सिद्ध हो, उसका नाश दूसरे किसी भी पदार्थके साथ नहीं होता; और यदि दूसरे पदार्थके साथ उसका नाश होता है तो प्रथम उसमेंसे उसकी उत्पत्ति होना आवश्यक थी, नहीं तो उसके साथ उसकी नाशरूप एकता भी नहीं हो सकती। इसलिये आत्माको अनुत्पन्न और अविनाशी समझकर यही प्रतीति करना योग्य है कि वह नित्य है।

क्रोधादि तरतम्यता, सर्पादिकनी मांय।
पूर्वजन्म-संस्कार ते, जीव नित्यता त्यांय ॥ ६७ ॥

सर्प आदि प्राणियोंमें क्रोध आदि प्रकृतियोंकी विशेषता जन्मसे ही देखनेमें आती है—इस वर्तमान देहमें उन्होंने वह अभ्यास किया नहीं। वह तो उनके जन्मसे ही है। यह पूर्वजन्मका संस्कार है। यह पूर्वजन्म जीवकी नित्यता सिद्ध करता है ॥

सर्पमें जन्मसे क्रोधकी विशेषता देखनेमें आती है। कबूतरमें जन्मसे ही अहिंसक-वृत्ति देखनेमें आती है। मकड़ी आदि जंतुओंको पकड़नेपर उन्हें पकड़नेसे दुःख होता है, यह भय संज्ञा उनके अनुभवमें पहिलेसे ही रहती है; और इस कारण ही वे भाग जानेका प्रयत्न करते हैं। इसी तरह किसी प्राणीमें जन्मसे ही प्रीतिकी, किसीमें समताकी, किसीमें निर्भयताकी, किसीमें गंभीरताकी, किसीमें विशेष भय संज्ञाकी, किसीमें काम आदिके प्रति असंगताकी, और किसीमें आहार आदिमें अधिक लुब्धताकी विशेषता देखनेमें आती है। इत्यादि जो भेद हैं अर्थात् क्रोध आदि संज्ञाकी जो न्यूनाधिकता है, तथा उन सब प्रकृतियोंका जो साहचर्य है, वह जो जन्मसे ही साथ देखनेमें आता है उसका कारण पूर्वसंस्कार ही है।

कदाचित् यह कहें कि गर्भमें वीर्य और रेतके गुणके संयोगसे उस उस तरहके गुण उत्पन्न

समाधानः—देहका जीवके साथ मात्र संयोग संबंध है। वह कुछ जीवके मूल स्वरूपके उत्पन्न होनेका कारण नहीं। अथवा जो देह है वह केवल संयोगसे ही उत्पन्न पदार्थ है; तथा वह जड़ है अर्थात् वह किसीको भी नहीं जानती; और जब वह अपनेको ही नहीं जानती तो फिर दूसरेको तो वह क्या जान सकती है? तथा देह रूपी है—स्थूल आदि स्वभावयुक्त है, और चक्षुका विषय है। जब स्वयं देहका ही ऐसा स्वरूप है तो वह चेतनकी उत्पत्ति और नाशको किस तरह जान सकती है? अर्थात् जब वह अपनेको ही नहीं जानती तो फिर 'मेरेसे यह चेतन उत्पन्न हुआ है,' इसे कैसे जान सकती है? और 'मेरे छूट जानेके पश्चात् यह चेतन भी छूट जायगा—नाश हो जायगा'—इस बातको जड़ देह कैसे जान सकती है? क्योंकि जाननेवाला पदार्थ ही तो जाननेवाला रहता है—देह तो कुछ जाननेवाली हो नहीं सकती; तो फिर चेतनकी उत्पत्ति और नाशके अनुभवको किसके आधीन कहना चाहिये?

यह अनुभव देहके आधीन तो कहा जा सकता नहीं। क्योंकि वह प्रत्यक्ष जड़ है, और उसके जड़त्वको जाननेवाला उससे भिन्न कोई दूसरा ही पदार्थ समझमें आता है।

कदाचित् यह कहें कि चेतनकी उत्पत्ति और नाशको चेतन ही जानता है, तो इस बातके बोलनेमें ही इसमें बाधा आती है। क्योंकि फिर तो चेतनकी उत्पत्ति और नाश जाननेवालेके रूपमें चेतनका ही अंगीकार करना पड़ा; अर्थात् यह वचन तो मात्र अपसिद्धांतरूप और कथनमात्र ही हुआ। जैसे कोई कहे कि 'मेरे मुँहमें जीभ नहीं,' उसी तरह यह कथन है कि 'चेतनकी उत्पत्ति और नाशको चेतन जानता है, इसलिये चेतन नित्य नहीं'। इस प्रमाणकी कैसी यथार्थता है, उसे तो तुम ही विचार कर देखो।

जेना अनुभव वश्य ए, उत्पन्न लयनुं ज्ञान।
ते तेथी जूदा विना, थाय न केमें भान॥ ६३॥

जिसके अनुभवमें इस उत्पत्ति और नाशका ज्ञान रहता है, उस ज्ञानको उससे भिन्न माने बिना, वह ज्ञान किसी भी प्रकारसे संभव नहीं। अर्थात् चेतनकी उत्पत्ति और नाश होता है, यह किसीके भी अनुभवमें नहीं आ सकता॥

देहकी उत्पत्ति और देहके नाशका ज्ञान जिसके अनुभवमें रहता है, वह उस देहसे यदि जुदा न हो तो किसी भी प्रकारसे देहकी उत्पत्ति और नाशका ज्ञान नहीं हो सकता। अथवा जो जिसकी उत्पत्ति और नाशको जानता है वह उससे जुदा ही होता है, और फिर तो वह स्वयं उत्पत्ति और नाशरूप न ठहरा, परन्तु उनके जाननेवाला ही ठहरा। इसलिये फिर उन दोनोंकी एकता कैसे हो सकती है?

जे संयोगो देखिये, ते ते अनुभव दृश्य।
उपजे नहीं संयोगथी, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष॥ ६४॥

जो जो संयोग हम देखते हैं, वे सब अनुभवस्वरूप आत्माके दृश्य होते हैं, अर्थात् आत्मा उन्हें जानता है; और उन संयोगोंके स्वरूपका विचार करनेसे ऐसा कोई भी संयोग समझमें नहीं आता जिससे आत्मा उत्पन्न होता हो। इसलिये आत्मा संयोगसे अनुत्पन्न है अर्थात् वह असंयोगी है—स्वाभाविक पदार्थ है—इसलिये वह स्पष्ट 'नित्य' समझमें आता है॥

जो जो देह आदि संयोग दिखाई देते हैं वे सब अनुभवस्वरूप आत्माके ही दृश्य हैं, अर्थात्

क्यारे कोई वस्तुनो, केवळ होय न नाश ।
चेतन पामे नाश तो, केमां भळे तपास ॥ ७० ॥

तथा किसी भी वस्तुका किसी भी कालमें सर्वथा नाश नहीं होता, केवल अवस्थांतर ही होता है, इसलिये चेतनका भी सर्वथा नाश नहीं होता। तथा यदि चेतनका अवस्थांतररूप नाश होता हो तो वह किसमें मिल जाता है? अथवा वह किस प्रकारके अवस्थांतरको प्राप्त करता है? इसकी तू खोज कर। घट आदि पदार्थ जब टूट-फूट जाते हैं तो लोग कहते हैं कि घड़ा नष्ट हो गया है—परन्तु कुछ मिट्टीपनेका नाश नहीं हो जाता। घड़ा छिन्न-भिन्न होकर यदि उसकी अत्यन्त बारीक धूल हो जाय, फिर भी वह परमाणुओंके समूहरूपमें तो मौजूद रहता ही है—उसका सर्वथा नाश नहीं हो जाता, और उसमेंका एक परमाणु भी कम नहीं होता। क्योंकि अनुभवसे देखनेपर उसका अवस्थांतर तो हो सकता है, परन्तु पदार्थका समूल नाश हो सकना कभी भी संभव नहीं। इसलिये यदि तू चेतनका नाश कहे तो भी उसका सर्वथा नाश तो कभी कहा ही नहीं जा सकता, वह नाश केवल अवस्थांतररूप ही कहा जायगा। जैसे घड़ा टूट-फूट कर अनुक्रमसे परमाणुओंके समूहरूपमें रहता है, उसी तरह तू यदि चेतनका अवस्थांतर नाश मानना हो तो वह किस स्थितिमें रह सकता है? अथवा जिस तरह घटके परमाणु परमाणु-समूहमें मिल जाते हैं, उसी तरह चेतन किस वस्तुमें मिल सकता है? इसकी तू खोज कर। अर्थात् इस तरह यदि तू अनुभव करके देखेगा तो तुझे मालूम होगा कि चेतन—आत्मा—किसीमें भी नहीं मिल सकता; अथवा पर-स्वरूपमें उसका अवस्थांतर नहीं हो सकता।

२ शंका-शिष्य उवाचः—

शिष्य कहता है कि आत्मा कर्मकी कर्त्ता नहीं है:—

कर्त्ता जीव न कर्मनो, कर्म ज कर्त्ता कर्म ।
अथवा सहज स्वभाव कां, कर्म जीवनो धर्म ॥ ७१ ॥

जीव कर्मका कर्त्ता नहीं—कर्म ही कर्मका कर्त्ता है; अथवा कर्म अनायास ही होते रहते हैं। यदि ऐसा न हो और जीवको ही उसका कर्ता कहो, तो फिर वह जीवका धर्म ही ठहरा, और वह उसका धर्म है इसलिये उसकी कभी भी निवृत्ति नहीं हो सकती।

आत्मा सदा असंग ने, करे प्रकृति बंध ।
अथवा ईश्वर प्रेरणा, तेथी जीव अबंध ॥ ७२ ॥

अथवा यदि ऐसा न हो तो यह मानना चाहिये कि आत्मा सदा असंग है, और सत्त्व आदि गुणयुक्त प्रकृतियाँ ही कर्मका बंध करती हैं। यदि ऐसा भी न मानो तो फिर यह मानना चाहिये कि जीवको कर्म करनेकी प्रेरणा ईश्वर करता है, इस कारण ईश्वरेच्छापर निर्भर होनेसे जीवको उस कर्मसे 'अबंध' ही मानना चाहिये।

माटे मोक्ष उपायनो, कोई न हेतु जणाय ।
कर्मतणुं कर्त्तापणुं, कां नहीं कां नहीं जाय ॥ ७३ ॥

इसलिये जीव किसी तरह कर्मका कर्त्ता नहीं हो सकता, और न तब मोक्षके उपाय करनेका ही कोई कारण मालूम होता है। इसलिये या तो जीवको कर्मका कर्त्ता ही न मानना चाहिये और यदि उसे कर्त्ता मानो तो उसका वह स्वभाव किसी भी तरह नाश नहीं हो सकता।

होते हैं, उनमें कुछ पूर्वजन्म कारण नहीं है, तो यह कहना भी यथार्थ नहीं। क्योंकि जो मा-बाप काम-वासनामें विशेष प्रीतियुक्त देखनेमें आते हैं, उनके पुत्र बाल्यपनेसे ही परम वीतराग जैसे देखे जाते हैं। तथा जिन माता-पिताओंमें क्रोधकी विशेषता देखी जाती है, उनकी संततिमें समताकी विशेषता दृष्टिगोचर होती है—यह सब फिर कैसे हो सकता है? तथा उस वीर्य-रेतसके वैसे गुण नहीं होते, क्योंकि वह वीर्य-रेतस स्वयं चेतन नहीं है; उसमें तो चेतनका संचार होता है—अर्थात् उसमें चेतन स्वयं देह धारण करता है। इस कारण वीर्य और रेतसके आश्रित क्रोध आदि भाव नहीं माने जा सकते—चेतनके बिना वे भाव कहीं भी अनुभवमें नहीं आते। इसलिये वे केवल चेतनके ही आश्रित हैं, अर्थात् वे वीर्य और रेतसके गुण नहीं। इस कारण वीर्यकी न्यूनाधिकताकी मुख्यतासे क्रोध आदिकी न्यूनाधिकता नहीं हो सकती। चेतनके न्यूनाधिक प्रयोगसे ही क्रोध आदिकी न्यूनाधिकता होती है, जिससे वे गर्भस्थ वीर्य-रेतसके गुण नहीं कहे जा सकते, परन्तु वे गुण चेतनके ही आश्रित हैं; और वह न्यूनाधिकता उस चेतनके पूर्वके अभ्याससे ही संभव है। क्योंकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। यदि चेतनका पूर्वप्रयोग उस प्रकारसे हो तो ही वह संस्कार रहता है, जिससे इस देह आदिके पूर्वके संस्कारोंका अनुभव होता है, और वे संस्कार पूर्व-जन्मको सिद्ध करते हैं; तथा पूर्व-जन्मकी सिद्धिसे आत्माकी नित्यता सहज ही सिद्ध हो जाती है।

आत्मा द्रव्ये नित्य छे, पर्याये पलटाय।
बालादि वय त्रण्यनुं, ज्ञान एकने थाय ॥ ६८ ॥

आत्मा वस्तुरूपसे नित्य है; किन्तु प्रतिसमय ज्ञान आदि परिणामके पलटनेसे उसकी पर्यायमें परिवर्तन होता है। जैसे समुद्रमें परिवर्तन नहीं होता, केवल उसकी लहरोंमें परिवर्तन होता है। उदाहरणके लिये बाल युवा और वृद्ध ये जो तीन अवस्थायें हैं, वे आत्माकी विभाव-पर्याय हैं। बाल अवस्थाके रहते हुए आत्मा बालक मालूम होती है। उस बाल अवस्थाको छोड़कर जब आत्मा युवावस्था धारण करती है, उस समय युवा मालूम होती है; और युवावस्था छोड़कर जब वृद्धावस्था धारण करती है, उस समय वृद्ध मालूम होती है। इन तीनों अवस्थाओंमें जो भेद है वह पर्यायभेद ही है। परन्तु इन तीनों अवस्थाओंमें आत्म-द्रव्यका भेद नहीं होता; अर्थात् केवल अवस्थाओंमें ही परिवर्तन होता है, आत्मामें परिवर्तन नहीं होता। आत्मा इन तीनों अवस्थाओंको जानती है, और उसे ही इन तीनों अवस्थाओंकी स्मृति है। इसलिये यदि तीनों अवस्थाओंमें एक ही आत्मा हो तो ही यह होना संभव है। यदि आत्मा क्षण क्षणमें बदलती रहती हो तो वह अनुभव कभी भी नहीं हो सकता।

अथवा ज्ञान क्षणिकनुं, जे जाणी वदनार।
वदनारो ते क्षणिक नहीं, कर अनुभव निर्धार ॥ ६९ ॥

तथा अमुक पदार्थ क्षणिक है जो ऐसा जानता है, और क्षणिकताका कथन करता है, वह कथन करनेवाला आत्मा क्षणिक नहीं होता। क्योंकि प्रथम क्षणमें जिसे अनुभव हुआ हो उसे ही दूसरे क्षणमें वह अनुभव हुआ कहा जा सकता है, और यदि दूसरे क्षणमें वह स्वयं ही न हो तो फिर उसे वह अनुभव कहाँसे कहा जा सकता है? इसलिये इस अनुभवसे भी तू आत्माके अक्षणिकपनेका निश्चय कर।

(२) या आत्माका कर्तृत्व न होनेपर भी कर्म हो गये ?

(३) या ईश्वर आदि किसीके लगा देनेसे कर्म हो गये ?

(४) या प्रकृतिके बलपूर्वक संबंध हो जानेसे कर्म हो गये ?

इस तरह मुख्य चार विकल्पोंसे अनायास कर्त्तापनका विचार करना योग्य है।

प्रथम विकल्प यह है कि 'आत्माके द्वारा बिना विचारे ही कर्म हो गये'। परन्तु यदि ऐसा होता हो तो फिर कर्मका ग्रहण करना ही नहीं रहता; और जहाँ कर्मका ग्रहण करना न हो वहाँ कर्मका अस्तित्व भी नहीं हो सकता। परन्तु जीव तो उसका प्रत्यक्ष चिंतवन करता है, और उसका ग्रहणाग्रहण करता है, ऐसा अनुभव होता है। तथा जिनमें जीव किसी भी तरह प्रवृत्ति नहीं करता, ऐसे क्रोध आदि भाव उसे कभी भी नहीं होते; इससे मालूम होता है कि आत्माके बिना विचारे हुए अथवा आत्माके न किये हुए कर्मोंका ग्रहण आत्माको नहीं हो सकता। अर्थात् इन दोनों प्रकारोंसे अनायास कर्मका ग्रहण सिद्ध नहीं होता।

तीसरा विकल्प यह है कि 'ईश्वर आदि किसीके कर्म लगा देनेसे अनायास ही कर्मका ग्रहण होता है'—यह भी ठीक नहीं। क्योंकि प्रथम तो ईश्वरके स्वरूपका ही निश्चय करना चाहिये, और इस प्रसंगको भी विशेष समझना चाहिये। फिर भी यहाँ ईश्वर अथवा विष्णु आदिको किसी प्रकार कर्त्ता स्वीकार करके उसके ऊपर विचार करते हैं:—

यदि ईश्वर आदि कर्मका लगा देनेवाला हो तो फिर तो बीचमें कोई जीव नामका पदार्थ ही नहीं रहा। क्योंकि जिन प्रेरणा आदि धर्मोंसे जीवका अस्तित्व समझमें आता था, वे प्रेरणा आदि तो ईश्वरकृत ठहरे; अथवा वे ईश्वरके ही गुण ठहरे। तो फिर जीवका स्वरूप ही क्या बाकी रह गया जिससे उसे जीव—आत्मा—कहा जा सके ? अर्थात् कर्म ईश्वरसे प्रेरित नहीं हैं, किन्तु वे स्वयं आत्माके किये हुए ही हो सकते हैं।

तथा 'प्रकृति आदिके बलपूर्वक कर्म लग जानेसे कर्म अनायास ही हो जाते हैं'—ऐसा विकल्प भी यथार्थ नहीं है। क्योंकि प्रकृति आदि जड़ हैं, उन्हें यदि आत्मा ही ग्रहण न करे तो वे उससे किस तरह संबद्ध हो सकते हैं ? अथवा द्रव्यकर्मका ही दूसरा नाम प्रकृति है, इसलिये यह तो कर्मको ही कर्मका कर्त्ता कहनेके बराबर हुआ, और इसका तो पूर्वमें निषेध कर चुके हैं। यदि कहो कि प्रकृति न हो तो अन्तःकरण आदि जो कर्मको ग्रहण करते हैं, इससे आत्मामें कर्तृत्व सिद्ध होता है—तो यह भी एकांतसे सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि अन्तःकरण आदि भी अन्तःकरण आदिरूपसे चेतनकी प्रेरणाके बिना, पहिले ठहर ही कहाँसे सकते हैं ? चेतन कर्मोंकी संलग्नताका मनन करनेके लिये जो अवलंबन लेता है, उसे अन्तःकरण कहते हैं। यदि चेतन उसका मनन न करे तो कुछ स्वयं उस संलग्नतामें मनन करनेका धर्म नहीं है; वह तो केवल जड़ है। चेतन चेतनकी प्रेरणासे उसका अवलंबन लेकर कुछ ग्रहण करता है, उससे उसमें कर्त्तापनेका आरोप होता है, परन्तु मुख्यरूपसे तो वह चेतन ही कर्मका कर्त्ता है।

यहाँ यदि वेदान्त आदि दृष्टिसे विचार करोगे तो हमारे ये वचन किसी भ्रान्तियुक्त पुरुषके कहे हुए मालूम होंगे। परन्तु जिस प्रकारसे नीचे कहा है उसके समझनेसे तुम्हें इन वचनोंकी यथार्थता मालूम होगी, और भ्रान्ति दूर होगी।

अपने स्वरूपके भानमें आत्मा अपने स्वभावकी अर्थात् चैतन्य आदि स्वभावकी ही कर्त्ता है, अन्य किसी भी कर्म आदिकी कर्त्ता नहीं; और जब आत्मा अपने स्वरूपके भानमें नहीं रहती, तो उसे कर्मभावकी कर्त्ता कहा है।

परमार्थसे तो जीव निष्क्रिय ही है, ऐसा वेदान्त आदि दर्शनोंका कथन है; और जिन-प्रवचनमें भी सिद्ध अर्थात् शुद्ध आत्माकी निष्क्रियताका निरूपण किया है। फिर भी, यहाँ यह संदेह हो सकता है कि हमने आत्माको शुद्धावस्थामें कर्त्ता होनेसे सक्रिय क्यों कहा ? उस संदेहकी निवृत्ति इस प्रकार करनी चाहिये:—शुद्धात्मा, परयोगकी परभावकी और विभावकी कर्त्ता नहीं है, इसलिये वह निष्क्रिय कही जाने योग्य है। परन्तु यदि ऐसा कहें कि आत्मा चैतन्य आदि स्वभावकी भी कर्त्ता नहीं, तो फिर उसका कुछ स्वरूप ही नहीं रह जाता। इस कारण शुद्धात्माको योग-क्रिया न होनेसे वह निष्क्रिय है, परन्तु स्वाभाविक चैतन्य आदि स्वभावरूप क्रिया होनेसे वह सक्रिय भी है। तथा चैतन्यस्वभाव, आत्माका स्वाभाविक गुण है, इस कारण उसमें एकात्मरूपसे ही आत्माका परिणमन होता है, और उसमें ए... परमार्थनयसे भी आत्माको सक्रिय विशेषण नहीं दिया जा सकता। परन्तु निज स्वभावमें परिणमनरूप क्रिया होनेसे, शुद्ध आत्माको निज स्वभावका कर्त्तापन है; इस कारण उसमें सर्वथा शुद्ध स्वधर्म होनेसे उसका एकात्मरूपसे परिणमन होता है, इसलिये उसे सक्रिय कहनेमें भी दोष नहीं है।

जिस विचारसे सक्रियता और निष्क्रियताका निरूपण किया है, उस विचारके परमार्थको ग्रहण करके सक्रियता और निष्क्रियता कहनेमें कुछ भी दोष नहीं।

४ शंका—शिष्य उवाचः—

शिष्य कहता है कि जीव कर्मका भोक्ता नहीं होताः—

जीव कर्मकर्त्ता कहो, पण भोक्ता नहीं सोय।
शुं समजे जड कर्म के, फळपरिणामी होय ? ॥ ७९ ॥

यदि जीवको कर्मका कर्त्ता मान भी लें तो भी जीव उस कर्मका भोक्ता नहीं ठहरता। क्योंकि जड़ कर्म इस बातको क्या समझ सकता है कि उसमें फल देनेकी शक्ति है ?

फळदाता ईश्वर गण्ये, भोक्तापणुं सधाय।
एम कहे ईश्वरतणुं, ईश्वरपणुं ज जाय ॥ ८० ॥

हाँ, यदि फल देनेवाले किसी ईश्वरको मानें तो भोक्तृत्वको सिद्ध कर सकते हैं; अर्थात् जीवको ईश्वर कर्म भोगवाता है, यह मानें तो जीव कर्मका भोक्ता सिद्ध होता है। परन्तु इसमें फिर यह भी विरोध आता है कि यदि ईश्वरको दूसरेको फल देने आदि प्रवृत्तियुक्त मानें तो उसका ईश्वरत्व ही नहीं रहता।

" ईश्वरके सिद्ध हुए बिना—कर्मके फल देने आदिमें किसी भी ईश्वरके सिद्ध हुए बिना—जगत्‌की व्यवस्थाका टिकना संभव नहीं है "—इस संबंधमें निम्नरूपसे विचार करना चाहिये:—

यदि ईश्वरको कर्मका फल देनेवाला मानें तो वहाँ ईश्वरका ईश्वरत्व ही नहीं रहता। क्योंकि दूसरेको फल देने आदिके प्रपंचमें प्रवृत्ति करते हुए, ईश्वरको देह आदि अनेक प्रकारका संग होना संभव है, और उससे उसकी यथार्थ शुद्धताका भंग होता है। जैसे मुक्त जीव निष्क्रिय है, अर्थात् जैसे वह परभाव आदिका कर्त्ता नहीं है; क्योंकि यदि वह परभाव आदिका कर्त्ता हो तो फिर उसे संसारकी ही प्राप्ति होनी चाहिये

नरूप है,' यह जीवकी निजी कल्पना है, और उस कल्पनाके अनुसार ही उसके वीर्य-स्वभावकी स्फूर्ति होती है, अथवा उसके अनुरूप ही उसकी सामर्थ्यका परिणमन होता है, और इस कारण वह द्रव्यकर्मरूप पुद्गलकी वर्गणाको ग्रहण करता है।

झेर सुधा समजे नहीं, जीव खाय फळ थाय।
एम शुभाशुभ कर्मनुं, भोक्तापणुं जणाय ॥ ८३ ॥

ज़हर और अमृत स्वयं नहीं जानते कि हमें इस जीवको फल देना है, तो भी जो जीव उन्हें खाता है उसे उनका फल मिलता है। इसी तरह शुभ-अशुभ कर्म यद्यपि यह नहीं जानते कि हमें इस जीवको यह फल देना है, तो भी ग्रहण करनेवाला जीव ज़हर और अमृतके फलकी तरह कर्मका फल प्राप्त करता है ॥

ज़हर और अमृत स्वयं यह नहीं जानते कि हमें खानेवालेको मृत्यु और दीर्घायु मिलती है, परन्तु जैसे उन्हें ग्रहण करनेवालेको स्वभावसे ही उनका फल मिलता है, उसी तरह जीवमें शुभ-अशुभ कर्मका परिणमन होता है, और उसका फल मिलता है। इस तरह जीव कर्मका भोक्ता समझमें आता है।

एक रांकने एक नृप, ए आदि जे भेद।
कारण विना न कार्य ते, ए ज शुभाशुभ वेद्य ॥ ८४ ॥

एक रंक है और एक राजा है, इत्यादि प्रकारसे नीचता, उच्चता, कुरूपता, सुरूपता आदि बहुतसी विचित्रतायें देखी जाती हैं, और इस प्रकारका जो भेद है वह सबको समान नहीं रहता—यही शुभाशुभ कर्मका भोक्तृत्व सिद्ध करता है। क्योंकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती ॥

यदि उस शुभ-अशुभ कर्मका फल न होता हो तो एक रंक है और एक राजा है इत्यादि जो भेद है, वह न होना चाहिये। क्योंकि जीवत्व और मनुष्यत्व तो सबमें समान है, तो फिर सबको सुख-दुःख भी समान ही होना चाहिये। इसलिये जिसके कारण ऐसी विचित्रतायें मालूम होती हैं, वही शुभाशुभ कर्मसे उत्पन्न हुआ भेद है। क्योंकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। इस तरह शुभ और अशुभ कर्म भोगे जाते हैं।

फळदाता ईश्वरतणी, एमां नथी जरूर।
कर्म स्वभावे परिणमे, थाय भोगथी दूर ॥ ८५ ॥

इसमें फलदाता ईश्वरकी कुछ भी ज़रूरत नहीं है। ज़हर और अमृतकी तरह शुभाशुभ कर्म स्वभावसे ही फल मिलता है; और जैसे ज़हर और अमृत निःसत्व हो जानेपर, फल देनेसे निवृत्त हो जाते हैं; उसी तरह शुभ-अशुभ कर्मके भोग लेनेसे कर्म भी निःसत्व हो जानेसे निवृत्त हो जाते हैं।

ज़हर ज़हररूपसे फल देता है और अमृत अमृतरूपसे फल देता है; उसी तरह अशुभ कर्म अशुभ रूपसे फल देता है और शुभ कर्म शुभरूपसे फल देता है। इसलिये जीव जैसे जैसे अध्यवसायसे कर्मको ग्रहण करता है, वैसे वैसे विपाकरूपसे कर्म भी फल देता है। तथा जैसे ज़हर और अमृत फल देनेके बाद निःसत्व हो जाते हैं, उसी तरह वे कर्म भी भोगसे दूर हो जाते हैं।

जेम शुभाशुभ कर्मपद, जाण्यां सफळ प्रमाण।
तेम निवृत्ति सफळता, माटे मोक्ष सुजाण ॥ ८९ ॥

जिस तरह तूने जीवको शुभ-अशुभ कर्म करनेके कारण जीवको कर्मोका कर्ता, और कर्ता होनेसे उसे कर्मका भोक्ता समझा है, उसी तरह उसे न करनेसे अथवा उस कर्मकी निवृत्ति करनेसे उसकी निवृत्ति भी होना संभव है। इसलिये उस निवृत्तिकी भी सफलता है; अर्थात् जिस तरह वह शुभाशुभ कर्म निष्फल नहीं जाता, उसी तरह उसकी निवृत्ति भी निष्फल नहीं जा सकती। इसलिये हे विचक्षण! तू यह विचार कर कि उस निवृत्तिरूप मोक्ष है।

वीत्यो काळ अनंत ते, कर्म शुभाशुभ भाव।
तेह शुभाशुभ छेदतां, उपजे मोक्ष स्वभाव ॥ ९० ॥

कर्मसहित जो अनंतकाल बीत गया—वह सब शुभाशुभ कर्मके प्रति जीवकी आसक्तिके कारण ही बीता है। परन्तु उसपर उदासीन होनेसे उस कर्मके फलका छेदन किया जा सकता है, और उससे मोक्ष-स्वभाव प्रगट हो सकता है।

देहादि संयोगनो, आत्यंतिक वियोग।
सिद्ध मोक्ष शाश्वतपदे, निज अनंत सुखभोग ॥ ९१ ॥

देह आदि संयोगका अनुक्रमसे वियोग तो सदा होता ही रहता है; परन्तु यदि उसका ऐसा वियोग किया जाय कि वह फिरसे ग्रहण न हो, तो सिद्धस्वरूप मोक्ष-स्वभाव प्रगट हो, और शाश्वत पदमें अनंत आत्मानन्द भोगनेको मिले।

६ शंका—शिष्य उवाचः—

शिष्य कहता है कि मोक्षका उपाय नहीं है:—

होय कदापि मोक्षपद, नहीं अविरोध उपाय।
कर्मो काळ अनंतनां, शाथी छेद्यां जाय? ॥ ९२ ॥

कदाचित् मोक्ष-पद हो भी परन्तु उसके प्राप्त होनेका कोई अविरोधी अर्थात् जिससे यथार्थ प्रतीति हो, ऐसा कोई उपाय मालूम नहीं होता। क्योंकि अनंतकालके जो कर्म हैं वे अल्प आयुवाले मनुष्य-देहसे कैसे छेदन किये जा सकते हैं?

अथवा मत दर्शन घणां, कहे उपाय अनेक।
तेमां मत साचो कयो? बने न एह विवेक ॥ ९३ ॥

अथवा कदाचित् मनुष्य देहकी अल्प आयु वगैरहकी शंका छोड़ भी दें, तो भी संसारमें अनेक मत और दर्शन हैं, और वे मोक्षके अनेक उपाय कहते हैं। अर्थात् कोई कुछ कहता है और कोई कुछ कहता है, फिर उनमें कौनसा मत सच्चा है, यह विवेक होना कठिन है।

कयी जातिमां मोक्ष छे? कया वेषमां मोक्ष?
एनो निश्चय ना बने, घणा भेद ए दोष ॥ ९४ ॥

ब्राह्मण आदि किस जातिमें मोक्ष है, अथवा किस वेषमें मोक्ष है, इसका निश्चय होना

जेम शुभाशुभ कर्मपद, जाण्यां सफळ प्रमाण ।
तेम निवृत्ति सफळता, माटे मोक्ष सुजाण ॥ ८९ ॥

जिस तरह तूने जीवको शुभ-अशुभ कर्म करनेके कारण जीवको कर्मोंका कर्ता, और [illegible] होनेसे उसे कर्मका भोक्ता समझा है, उसी तरह उसे न करनेसे अथवा उस कर्मकी निवृत्ति [illegible] उसकी निवृत्ति भी होना संभव है। इसलिये उस निवृत्तिकी भी सफलता है; अर्थात् जिस तरह [illegible] शुभाशुभ कर्म निष्फल नहीं जाता, उसी तरह उसकी निवृत्ति भी निष्फल नहीं जा सकती। [illegible] है विचक्षण! तू यह विचार कर कि उस निवृत्तिरूप मोक्ष है।

वीत्यो काळ अनंत ते, कर्म शुभाशुभ भाव ।
तेह शुभाशुभ छेदतां, उपजे मोक्ष स्वभाव ॥ ९० ॥

कर्मसहित जो अनंतकाल बीत गया—वह सब शुभाशुभ कर्मके प्रति जीवकी आसक्तिके [illegible] ही बीता है। परन्तु उसपर उदासीन होनेसे उस कर्मके फलका छेदन किया जा सकता है, [illegible] उससे मोक्ष-स्वभाव प्रगट हो सकता है।

देहादि संयोगनो, आत्यंतिक वियोग ।
सिद्ध मोक्ष शाश्वतपदे, निज अनंत सुखभोग ॥ ९१ ॥

देह आदि संयोगका अनुक्रमसे वियोग तो सदा होता ही रहता है; परन्तु यदि उसका ऐसा वियोग किया जाय कि वह फिरसे ग्रहण न हो, तो सिद्धस्वरूप मोक्ष-स्वभाव प्रगट हो, और शाश्वत [illegible] अनंत आत्मानन्द भोगनेको मिले।

६ शंका—शिष्य उवाचः—

शिष्य कहता है कि मोक्षका उपाय नहीं है:—

होय कदापि मोक्षपद, नहीं अविरोध उपाय ।
कर्मो काळ अनंतनां, शाथी छेद्यां जाय ? ॥ ९२ ॥

कदाचित् मोक्ष-पद हो भी परन्तु उसके प्राप्त होनेका कोई अविरोधी अर्थात् [illegible] प्रतीति हो, ऐसा कोई उपाय मालूम नहीं होता। क्योंकि अनन्तकालके जो कर्म हैं [illegible] मनुष्य-देहसे कैसे छेदन किये जा सकते हैं?

अथवा मत दर्शन घणां, कहे उपाय अनेक ।
तेमां मत साचो कयो ? बने न एह विवेक ॥ ९३ ॥

अथवा कदाचित् मनुष्य देहकी अल्प आयु [illegible] मत और दर्शन हैं, और वे मोक्षके अनेक उपाय कहते हैं। [illegible] कुछ कहता है, फिर उनमें कौनसा मत सच्चा है, यह विवेक होना [illegible]।

कई जातिमां मोक्ष छे ? कया वेषमां मोक्ष ?
एनो निश्चय ना बने, घणा भेद ए दोष ॥ ९४ ॥

ब्राह्मण आदि किस जातिमें मोक्ष है, अथवा किस वेषमें मोक्ष है, [illegible]

राग द्वेष अज्ञान ए, मुख्य कर्मनी ग्रंथ।
थाय निवृत्ति जेहथी, ते ज मोक्षनो पंथ ॥ १०० ॥

राग द्वेष और अज्ञानकी एकता ही कर्मकी मुख्य गाँठ है; इसके बिना कर्मका बंध नहीं है। उसकी निवृत्ति जिससे हो वही मोक्षका मार्ग है।

आत्मा सत् चैतन्यमय, सर्वाभासरहित।
जेथी केवळ पामिये, मोक्षपंथ ते रीत ॥ १०१ ॥

'सत्'—अविनाशी, 'चैतन्यमय'—सर्वभावको प्रकाश करनेरूप स्वभावमय—अर्थात् [illegible] सर्वविभाव और देह आदिके संयोगके आभाससे रहित, तथा 'केवल'—शुद्ध—आत्माको [illegible] करना, उसकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्ति करना, यही मोक्षका मार्ग है।

कर्म अनंत प्रकारनां, तेमां मुख्ये आठ।
तेमां मुख्ये मोहिनीय, हणाय ते कहुं पाठ ॥ १०२ ॥

कर्म अनंत प्रकारके हैं, परन्तु उनमें ज्ञानावरण आदि मुख्य आठ भेद होते हैं। उनमें [illegible] मुख्य कर्म मोहनीय कर्म है। जिससे यह मोहनीय कर्म नाश किया जाय उसका उपाय कहता हूँ।

कर्म मोहनीय भेद बे, दर्शन चारित्र नाम।
हणे बोध वीतरागता, अचूक उपाय आम ॥ १०३ ॥

उस मोहनीय कर्मके दो भेद हैं:—एक दर्शनमोहनीय और दूसरा चारित्रमोहनीय। परमार्थमें अपरमार्थ बुद्धि और अपरमार्थमें परमार्थबुद्धिको दर्शनमोहनीय कहते हैं; और तथारूप परमार्थको [illegible] जानकर आत्मस्वभावमें जो स्थिरता हो, उस स्थिरताको निरोध करनेवाले पूर्व संस्काररूप [illegible] और नोकषायको चारित्रमोहनीय कहते हैं।

आत्मबोध दर्शनमोहनीयका और वीतरागता चारित्रमोहनीयका नाश करते हैं। वे [illegible] अचूक उपाय हैं। क्योंकि मिथ्याबोध दर्शनमोहनीय है, और उसका प्रतिपक्ष सत्य-आत्मबोध [illegible] तथा चारित्रमोहनीय जो राग आदि परिणामरूप है, उसका प्रतिपक्ष वीतरागभाव है। [illegible] जिस तरह प्रकाशके होनेसे अंधकार नष्ट हो जाता है—वह उसका अचूक उपाय है—उसी [illegible] बोध और वीतरागता अनुक्रमसे दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप अंधकारके दूर करनेमें [illegible] स्वरूप हैं; इसलिये वे उसके अचूक उपाय हैं।

कर्मबंध क्रोधादिथी, हणे क्षमादिक तेह।
प्रत्यक्ष अनुभव सर्वने, एमां शो सन्देह ? ॥ १०४ ॥

क्रोध आदि भावसे कर्मबंध होता है [illegible]
अर्थात् क्षमा धारण करनेसे क्रोध रोका जा सकता है, [illegible]
रोका जा सकता है। इसी तरह [illegible]
कर्म-बंधका निरोध है; और यही उसकी [illegible]
अथवा उसका सबको प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है। [illegible]

त्तको रोकना है, वह अकर्म-दशाका मार्ग है। यह मार्ग परलोकमें नहीं परन्तु यहीं अनुभवमें आता , तो इसमें फिर क्या संदेह करना?

छोडी मत दर्शन तणो, आग्रह तेम विकल्प।
कह्यो मार्ग आ साधशे, जन्म तेहना अल्प ॥ १०५ ॥

यह मेरा मत है, इसलिये मुझे इसी मतमें लगे रहना चाहिये; अथवा यह मेरा दर्शन है, इस- ये चाहे जिस तरह भी हो मुझे उसीकी सिद्धि करनी चाहिये—इस आग्रह अथवा विकल्पको ोड़कर, ऊपर कहे हुए मार्गका जो साधन करेगा, उसके अल्प ही भव बाकी समझने चाहिये।

यहाँ 'जन्म' शब्दका जो बहुवचनमें प्रयोग किया है, वह यही बतानेके लिये किया है कि ंचित् वे साधन अधूरे रहे हों अथवा उनका जघन्य या मध्यम परिणामोंसे आराधन हुआ हो, तो मस्त कर्मोका क्षय न हो सकनेसे दूसरा जन्म होना संभव है, परन्तु वे जन्म बहुत नहीं—बहुत ही ोड़े होंगे। इसलिये 'समकित होनेके पश्चात् यदि बादमें जीव उसे वमन न करे, तो अधिकसे ाधिक उसके पन्द्रह भव होते हैं, ऐसा जिनभगवान्ने कहा है'; तथा 'जो उत्कृष्टतासे उसका ाराधन करे उसकी उसी भवमें मोक्ष हो जाती है'—यहाँ इन दोनों बातोंमें विरोध नहीं है।

षट्पदना षट्प्रश्न तें, पूछ्यां करी विचार।
ते पदनी सर्वांगता, मोक्षमार्ग निरधार ॥ १०६ ॥

हे शिष्य! तूने जो विचार कर छह पदके छह प्रश्नोंको पूँछा है, सो उन पदोंकी सर्वांगतामें ही ोक्षमार्ग है, ऐसा निश्चय कर। अर्थात् इनमेंके किसी भी पदको एकांतसे अथवा अविचारसे उत्थापन रनेसे मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं होता।

जाति वेषनो भेद नहीं, कह्यो मार्ग जो होय।
साधे ते मुक्ति लहे, एमां भेद न कोय ॥ १०७ ॥

जो मोक्षका मार्ग कहा है, यदि वह मार्ग हो, तो चाहे किसी भी जाति अथवा वेषसे मोक्ष हो सकती है, इसमें कुछ भी भेद नहीं। जो उसकी साधना करता है, वह मुक्ति-पदको पाता है। तथा उस मोक्षमें दूसरे किसी भी प्रकारका ऊँच-नीच आदि भेद नहीं है। अथवा यह जो वचन कहा है उसमें दूसरा कोई भेद-फेरफार—नहीं है।

कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष-अभिलाष।
भवे खेद अंतर दया, ते कहिये जिज्ञास ॥ १०८ ॥

क्रोध आदि कषाय जिसकी मन्द हो गई हैं, आत्मामें केवल मोक्ष होनेके सिवाय जिसकी दूसरी कोई भी इच्छा नहीं, और संसारके भोगोंके प्रति जिसे उदासीनता रहती है, तथा अंतरंगमें प्राणियोंके ऊपर जिसे दया रहती है, उस जीवको मोक्षमार्गका जिज्ञासु कहते हैं, अर्थात् वह जीव मार्गको प्राप्त करने योग्य है।

ते [illegible] ाय सद्गुरुबोध।
[illegible] ने अंतरशोध ॥ १०९ ॥

राग द्वेष अज्ञान ए, मुख्य कर्मनी ग्रंथ।
थाय निवृत्ति जेहथी, ते ज मोक्षनो पंथ ॥ १०० ॥

राग द्वेष और अज्ञानकी एकता ही कर्मकी मुख्य गाँठ है; इसके बिना कर्मका बंध नहीं होता। उसकी निवृत्ति जिससे हो वही मोक्षका मार्ग है।

आत्मा सत् चैतन्यमय, सर्वाभासरहित।
जेथी केवळ पामिये, मोक्षपंथ ते रीत ॥ १०१ ॥

'सत्'—अविनाशी, 'चैतन्यमय'—सर्वभावको प्रकाश करनेरूप स्वभावमय—अर्थात् जो सर्वविभाव और देह आदिके संयोगके आभाससे रहित, तथा 'केवल'—शुद्ध—आत्माको प्राप्त करना, उसकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्ति करना, वही मोक्षका मार्ग है।

कर्म अनंत प्रकारनां, तेमां मुख्ये आठ।
तेमां मुख्ये मोहिनीय, हणाय ते कहुं पाठ ॥ १०२ ॥

कर्म अनंत प्रकारके हैं, परन्तु उनमें ज्ञानावरण आदि मुख्य आठ भेद होते हैं। उनमें भी मुख्य कर्म मोहनीय कर्म है। जिससे वह मोहनीय कर्म नाश किया जाय उसका उपाय कहता हूँ।

कर्म मोहनीय भेद बे, दर्शन चारित्र नाम।
हणे बोध वीतरागता, अचूक उपाय आम ॥ १०३ ॥

उस मोहनीय कर्मके दो भेद हैं:—एक दर्शनमोहनीय और दूसरा चारित्रमोहनीय। परमार्थमें अपरमार्थ बुद्धि और अपरमार्थमें परमार्थबुद्धिको दर्शनमोहनीय कहते हैं; और तथारूप परमार्थको परमार्थ जानकर आत्मस्वभावमें जो स्थिरता हो, उस स्थिरताको निरोध करनेवाले पूर्व संस्काररूप कषाय और नोकषायको चारित्रमोहनीय कहते हैं।

आत्मबोध दर्शनमोहनीयका और वीतरागता चारित्रमोहनीयका नाश करते हैं। ये इसके अचूक उपाय हैं। क्योंकि मिथ्याबोध दर्शनमोहनीय है, और उसका प्रतिपक्ष सत्य-आत्मबोध है। और तथा चारित्रमोहनीय जो राग आदि परिणामरूप है, उसका प्रतिपक्ष वीतरागभाव है। अर्थात् जिस तरह प्रकाशके होनेसे अन्धकार नष्ट हो जाता है—वह उसका अचूक उपाय है—उसी तरह बोध और वीतरागता अनुक्रमसे दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप अन्धकारको दूर करनेमें प्रकाशस्वरूप हैं; इसलिये वे उसके अचूक उपाय हैं।

कर्मबंध क्रोधादिथी, हणे क्षमादिक तेह।
प्रत्यक्ष अनुभव सर्वने, एमां शो सन्देह ? ॥ १०४ ॥

क्रोध आदि भावसे कर्मबंध होता है, और क्षमा आदि भावसे [illegible] अर्थात् क्षमा रखनेसे क्रोध रोका जा सकता है, [illegible] रोका जा सकता है। इसी तरह [illegible] कर्मबंधका निरोध है, और वही उसकी निवृत्ति है। [illegible] अपना उसका सबको प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है। क्रोध आदि रोकनेसे रुक जाते हैं, [illegible]

बंधको रोकना है, वह अकर्म-दशाका मार्ग है। यह मार्ग परलोकमें नहीं परन्तु यहीं अनुभवमें आता है, तो इसमें फिर क्या संदेह करना!

छोडी मत दर्शन तणो, आग्रह तेम विकल्प।
कह्यो मार्ग आ साधशे, जन्म तेहना अल्प ॥ १०५ ॥

यह मेरा मत है, इसलिये मुझे इसी मतमें लगे रहना चाहिये; अथवा यह मेरा दर्शन है, इसलिये चाहे जिस तरह भी हो मुझे उसीकी सिद्धि करनी चाहिये—इस आग्रह अथवा विकल्पको छोड़कर, ऊपर कहे हुए मार्गका जो साधन करेगा, उसके अल्प ही भव बाकी समझने चाहिये।

यहाँ 'जन्म' शब्दका जो बहुवचनमें प्रयोग किया है, वह यही बतानेके लिये किया है कि कचित् वे साधन अधूरे रहे हों अथवा उनका जघन्य या मध्यम परिणामोंसे आराधन हुआ हो, तो समस्त कर्मोंका क्षय न हो सकनेसे दूसरा जन्म होना संभव है, परन्तु वे जन्म बहुत नहीं—बहुत ही थोड़े होंगे। इसलिये 'समकित होनेके पश्चात् यदि बादमें जीव उसे वमन न करे, तो अधिकसे अधिक उसके पन्द्रह भव होते हैं, ऐसा जिनभगवान्‌ने कहा है'; तथा 'जो उत्कृष्टतासे उसका आराधन करे उसको उसी भवमें मोक्ष हो जाती है'—यहाँ इन दोनों बातोंमें विरोध नहीं है।

षट्पदना षट्प्रश्न तें, पूछयां-करी विचार।
ते पदनी सर्वांगता, मोक्षमार्ग निरधार ॥ १०६ ॥

हे शिष्य! तूने जो विचार कर छह पदके छह प्रश्नोंको पूँछा है, सो उन पदोंकी सर्वांगतामें ही मोक्षमार्ग है, ऐसा निश्चय कर। अर्थात् इनमेंके किसी भी पदको एकांतसे अथवा अविचारसे उत्थापन करनेसे मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं होता।

जाति वेषनो भेद नहीं, कह्यो मार्ग जो होय।
साधे ते मुक्ति लहे, एमां भेद न कोय ॥ १०७ ॥

जो मोक्षका मार्ग कहा है, यदि वह मार्ग हो, तो चाहे किसी भी जाति अथवा वेषसे मोक्ष हो सकती है, इसमें कुछ भी भेद नहीं। जो उसकी साधना करता है, वह मुक्ति-पदको पाता है। तथा उस मोक्षमें दूसरे किसी भी प्रकारका ऊँच-नीच आदि भेद नहीं है। अथवा यह जो वचन कहा है उसमें दूसरा कोई भेद—फेर-फार—नहीं है।

कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष-अभिलाष।
भवे खेद अंतर दया, ते कहिये जिज्ञास ॥ १०८ ॥

क्रोध आदि कषाय जिसकी मन्द हो गई हैं, आत्मामें केवल मोक्ष होनेके सिवाय जिसकी दूसरी कोई भी इच्छा नहीं, और संसारके भोगोंके प्रति जिसे उदासीनता रहती है, तथा अंतरंगमें प्राणियोंके ऊपर जिसे दया रहती है, उस जीवको मोक्षमार्गका जिज्ञासु कहते हैं, अर्थात् वह जीव मार्गको प्राप्त करने योग्य है।

ते जिज्ञासु जीवने, थाय सद्गुरुबोध।
तो पामे समकीतने, वर्ते अंतरशोध ॥ १०९ ॥

राग द्वेष अज्ञान ए, मुख्य कर्मनी ग्रंथ ।
थाय निवृत्ति जेहथी, ते ज मोक्षनो पंथ ॥ १०० ॥

राग द्वेष और अज्ञानकी एकता ही कर्मकी मुख्य गाँठ है; इसके बिना कर्मका बंध नहीं है। उसकी निवृत्ति जिससे हो वही मोक्षका मार्ग है।

आत्मा सत् चैतन्यमय, सर्वाभासरहित ।
जेथी केवळ पामिये, मोक्षपंथ ते रीत ॥ १०१ ॥

'सत्'—अविनाशी, 'चैतन्यमय'—सर्वभावको प्रकाश करनेरूप स्वभावमय—अर्थात् [illegible] सर्वविभाव और देह आदिके संयोगके आभाससे रहित, तथा 'केवल'—शुद्ध—आत्माको [illegible] करना, उसकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्ति करना, यही मोक्षका मार्ग है।

कर्म अनंत प्रकारनां, तेमां मुख्ये आठ ।
तेमां मुख्ये मोहिनीय, हणाय ते कहुं पाठ ॥ १०२ ॥

कर्म अनंत प्रकारके हैं, परन्तु उनमें ज्ञानावरण आदि मुख्य आठ भेद होते हैं। उनमें भी मुख्य कर्म मोहनीय कर्म है। जिससे वह मोहनीय कर्म नाश किया जाय उसका उपाय कहता हूँ।

कर्म मोहनीय भेद बे, दर्शन चारित्र नाम ।
हणे बोध वीतरागता, अचूक उपाय आम ॥ १०३ ॥

उस मोहनीय कर्मके दो भेद हैं:—एक दर्शनमोहनीय और दूसरा चारित्रमोहनीय। परमार्थमें अपरमार्थ बुद्धि और अपरमार्थमें परमार्थबुद्धिको दर्शनमोहनीय कहते हैं; और तथारूप परमार्थको परमार्थ जानकर आत्मस्वभावमें जो स्थिरता हो, उस स्थिरताको निरोध करनेवाले पूर्व संस्काररूप कषाय और नोकषायको चारित्रमोहनीय कहते हैं।

आत्मबोध दर्शनमोहनीयका और वीतरागता चारित्रमोहनीयका नाश करते हैं। ये इसके अचूक उपाय हैं। क्योंकि मिथ्याबोध दर्शनमोहनीय है, और उसका प्रतिपक्ष सत्य-आत्मबोध है। तथा चारित्रमोहनीय जो राग आदि परिणामरूप है, उसका प्रतिपक्ष वीतरागभाव है। अतः जिस तरह प्रकाशके होनेसे अंधकार नष्ट हो जाता है—वह उसका अचूक उपाय है—उसी तरह बोध और वीतरागता अनुक्रमसे दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप अंधकारके दूर करनेमें प्रकाशस्वरूप हैं; इसलिये वे उसके अचूक उपाय हैं।

कर्मबंध क्रोधादिथी, हणे क्षमादिक तेह ।
प्रत्यक्ष अनुभव सर्वने, एमां शो सन्देह ? ॥ १०४ ॥

क्रोध आदि भावसे कर्मबंध होता है, और क्षमा आदि भावसे उसका नाश [illegible] अर्थात् क्षमा रखनेसे क्रोध रोका जा सकता है, [illegible] रोका जा सकता है। इसी तरह [illegible] कर्मबंधका निरोध है, और यही उसकी [illegible] उसका सबका प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है। क्रोध आदि रोकनेसे बंध रुकता है, [illegible]

बंधको रोकना है, वह अकर्म-दशाका मार्ग है। यह मार्ग परलोकमें नहीं परन्तु यहीं अनुभवमें आता है, तो इसमें फिर क्या संदेह करना ?

छोडी मत दर्शन तणो, आग्रह तेम विकल्प।
कह्यो मार्ग आ साधशे, जन्म तेहना अल्प ॥ १०५ ॥

यह मेरा मत है, इसलिये मुझे इसी मतमें लगे रहना चाहिये; अथवा यह मेरा दर्शन है, इसलिये चाहे जिस तरह भी हो मुझे उसीकी सिद्धि करनी चाहिये—इस आग्रह अथवा विकल्पको छोड़कर, ऊपर कहे हुए मार्गका जो साधन करेगा, उसके अल्प ही भव बाकी समझने चाहिये।

यहाँ 'जन्म' शब्दका जो बहुवचनमें प्रयोग किया है, वह यही बतानेके लिये किया है कि कचित् वे साधन अधूरे रहे हों अथवा उनका जघन्य या मध्यम परिणामोंसे आराधन हुआ हो, तो समस्त कर्मोंका क्षय न हो सकनेसे दूसरा जन्म होना संभव है, परन्तु वे जन्म बहुत नहीं—बहुत ही थोड़े होंगे। इसलिये 'समकित होनेके पश्चात् यदि बादमें जीव उसे वमन न करे, तो अधिकसे अधिक उसके पन्द्रह भव होते हैं, ऐसा जिनभगवान्‌ने कहा है'; तथा 'जो उत्कृष्टतासे उसका आराधन करे उसकी उसी भवमें मोक्ष हो जाती है'—यहाँ इन दोनों बातोंमें विरोध नहीं है।

षट्पदना षट्प्रश्न तें, पूछ्यां-करी विचार।
ते पदनी सर्वांगता, मोक्षमार्ग निरधार ॥ १०६ ॥

हे शिष्य ! तूने जो विचार कर छह पदके छह प्रश्नोंको पूछा है, सो उन पदोंकी सर्वांगतामें ही मोक्षमार्ग है, ऐसा निश्चय कर। अर्थात् इनमेंके किसी भी पदको एकांतसे अथवा अविचारसे उत्थापन करनेसे मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं होता।

जाति वेषनो भेद नहीं, कह्यो मार्ग जो होय।
साधे ते मुक्ति लहे, एमां भेद न कोय ॥ १०७ ॥

जो मोक्षका मार्ग कहा है, यदि वह मार्ग हो, तो चाहे किसी भी जाति अथवा वेषसे मोक्ष हो सकती है, इसमें कुछ भी भेद नहीं। जो उसकी साधना करता है, वह मुक्ति-पदको पाता है। तथा उस मोक्षमें दूसरे किसी भी प्रकारका ऊँच-नीच आदि भेद नहीं है। अथवा यह जो वचन कहा है उसमें दूसरा कोई भेद—फेरफार—नहीं है।

कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष-अभिलाष।
भवे खेद अंतर दया, ते कहिये जिज्ञास ॥ १०८ ॥

क्रोध आदि कषाय जिसकी मन्द हो गई है, आत्मामें केवल मोक्ष होनेके सिवाय जिसकी दूसरी कोई भी इच्छा नहीं, और संसारके भोगोंके प्रति जिसे उदासीनता रहती है, तथा अंतरमें प्राणियोंके ऊपर जिसे दया रहती है, उस जीवको मोक्षमार्गका जिज्ञासु कहते हैं, अर्थात् वह जीव मार्गको प्राप्त करने योग्य है।

ते जिज्ञासु जीवने, थाय सद्गुरुबोध।
तो पामे समकितने, वर्ते अंतरशोध ॥ १०९ ॥

राग द्वेष अज्ञान ए, मुख्य कर्मनी ग्रंथ।
थाय निवृत्ति जेहथी, ते ज मोक्षनो पंथ ॥ १०० ॥

राग द्वेष और अज्ञानकी एकता ही कर्मकी मुख्य गाँठ है; इसके बिना कर्मका बंध नहीं होता। उसकी निवृत्ति जिससे हो वही मोक्षका मार्ग है।

आत्मा सत् चैतन्यमय, सर्वाभासरहित।
जेथी केवळ पामिये, मोक्षपंथ ते रीत ॥ १०१ ॥

'सत्'—अविनाशी, 'चैतन्यमय'—सर्वभावको प्रकाश करनेरूप स्वभावमय—अन्य सर्वविभाव और देह आदिके संयोगके आभाससे रहित, तथा 'केवल'—शुद्ध—आत्माको प्राप्त करना, उसकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्ति करना, वही मोक्षका मार्ग है।

कर्म अनंत प्रकारनां, तेमां मुख्ये आठ।
तेमां मुख्ये मोहिनीय, हणाय ते कहुं पाठ ॥ १०२ ॥

कर्म अनंत प्रकारके हैं, परन्तु उनमें ज्ञानावरण आदि मुख्य आठ भेद होते हैं। उनमें मुख्य कर्म मोहनीय कर्म है। जिससे वह मोहनीय कर्म नाश किया जाय उसका उपाय कहता हूँ।

कर्म मोहनीय भेद बे, दर्शन चारित्र नाम।
हणे बोध वीतरागता, अचूक उपाय आम ॥ १०३ ॥

उस मोहनीय कर्मके दो भेद हैं:—एक दर्शनमोहनीय और दूसरा चारित्रमोहनीय। परमार्थमें अपरमार्थ बुद्धि और अपरमार्थमें परमार्थबुद्धिको दर्शनमोहनीय कहते हैं; और तथारूप परमार्थको परमार्थ जानकर आत्मस्वभावमें जो स्थिरता हो, उस स्थिरताको निरोध करनेवाले पूर्व संस्काररूप कषाय और नोकषायको चारित्रमोहनीय कहते हैं।

आत्मबोध दर्शनमोहनीयका और वीतरागता चारित्रमोहनीयका नाश करते हैं। ये उसके अचूक उपाय हैं। क्योंकि मिथ्याबोध दर्शनमोहनीय है, और उसका प्रतिपक्ष सत्य-आत्मबोध है। तथा चारित्रमोहनीय जो राग-आदि परिणामरूप है, उसका प्रतिपक्ष वीतरागभाव है। जिस तरह प्रकाशके होनेसे अंधकार नष्ट हो जाता है—वह उसका अचूक उपाय है—उसी तरह बोध और वीतरागता अनुक्रमसे दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप अंधकारके दूर करनेमें प्रकाश-स्वरूप हैं; इसलिये वे उसके अचूक उपाय है।

कर्मबंध क्रोधादिथी, हणे क्षमादिक तेह।
प्रत्यक्ष अनुभव सर्वने, एमां शो सन्देह ? ॥ १०४ ॥

क्रोध आदि भावसे कर्मबंध होता है, और क्षमा आदि भावसे उसका नाश हो जाता है। अर्थात् क्षमा रखनेसे क्रोध रोका जा सकता है, सरलतासे माया रोकी जा सकती है, संतोषसे लोभ रोका जा सकता है। इसी तरह रति अरति आदिके प्रतिपक्षसे वे सब दोष रोके जा सकते हैं। यही कर्म-बंधका निरोध है; और वही उसकी निवृत्ति है। तथा इस बातका सबको प्रत्यक्ष अनुभव है; अथवा उसका सबको प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है। क्रोध आदि रोकनेसे रुक जाते हैं, और जो

बंधको रोकना है, वह अकर्म-दशाका मार्ग है। यह मार्ग परलोकमें नहीं परन्तु यहीं अनुभवमें आता है, तो इसमें फिर क्या संदेह करना!

छोडी मत दर्शन तणो, आग्रह तेम विकल्प।
कह्यो मार्ग आ साधशे, जन्म तेहना अल्प ॥ १०५ ॥

यह मेरा मत है, इसलिये मुझे इसी मतमें लगे रहना चाहिये; अथवा यह मेरा दर्शन है, इसलिये चाहे जिस तरह भी हो मुझे उसीकी सिद्धि करनी चाहिये—इस आग्रह अथवा विकल्पको छोड़कर, ऊपर कहे हुए मार्गका जो साधन करेगा, उसके अल्प ही भव बाकी समझने चाहिये।

यहाँ 'जन्म' शब्दका जो बहुवचनमें प्रयोग किया है, वह यही बतानेके लिये किया है कि कचित् वे साधन अधूरे रहे हों अथवा उनका जघन्य या मध्यम परिणामोंसे आराधन हुआ हो, तो समस्त कर्मोका क्षय न हो सकनेसे दूसरा जन्म होना संभव है, परन्तु वे जन्म बहुत नहीं—बहुत ही थोड़े होंगे। इसलिये 'समकित होनेके पश्चात् यदि बादमें जीव उसे वमन न करे, तो अधिकसे अधिक उसके पन्द्रह भव होते हैं, ऐसा जिनभगवान्ने कहा है'; तथा 'जो उत्कृष्टतासे उसका आराधन करे उसकी उसी भवमें मोक्ष हो जाती है'—यहाँ इन दोनों बातोंमें विरोध नहीं है।

षट्पदना षट्प्रश्न तें, पूछयां करी विचार।
ते पदनी सर्वांगता, मोक्षमार्ग निरधार ॥ १०६ ॥

हे शिष्य! तूने जो विचार कर छह पदके छह प्रश्नोंको पूँछा है, सो उन पदोंकी सर्वांगतामें ही मोक्षमार्ग है, ऐसा निश्चय कर। अर्थात् इनमेंके किसी भी पदको एकांतसे अथवा अविचारसे उत्थापन करनेसे मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं होता।

जाति वेषनो भेद नहीं, कह्यो मार्ग जो होय।
साधे ते मुक्ति लहे, एमां भेद न कोय ॥ १०७ ॥

जो मोक्षका मार्ग कहा है, यदि वह मार्ग हो, तो चाहे किसी भी जाति अथवा वेषसे मोक्ष हो सकती है, इसमें कुछ भी भेद नहीं। जो उसकी साधना करता है, वह मुक्ति-पदको पाता है। तथा उस मोक्षमें दूसरे किसी भी प्रकारका ऊँच-नीच आदि भेद नहीं है। अथवा यह जो वचन कहा है उसमें दूसरा कोई भेद-फेर-फार—नहीं है।

कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष-अभिलाष।
भवे खेद अंतर दया, ते कहिये जिज्ञास ॥ १०८ ॥

क्रोध आदि कषाय जिसकी मन्द हो गई हैं, आत्मामें केवल मोक्ष होनेके सिवाय जिसकी दूसरी कोई भी इच्छा नहीं, और संसारके भोगोंके प्रति जिसे उदासीनता रहती है, तथा अंतरंगमें प्राणियोंके ऊपर जिसे दया रहती है, उस जीवको मोक्षमार्गका जिज्ञासु कहते हैं, अर्थात् वह जीव मार्गको प्राप्त करने योग्य है।

ते जिज्ञासु जीवने, थाय सद्गुरुबोध।
तो पामे समकीतने, वर्ते अंतरशोध ॥ १०९ ॥

उस जिज्ञासु जीवको यदि सद्गुरुका उपदेश मिल जाय तो वह समकितको पा ... अंतरकी शोधमें रहता है।

मत दर्शन आग्रह तजी, वर्त्ते सद्गुरुलक्ष।
लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष ॥ ११० ॥

मत और दर्शनका आग्रह छोड़कर जो सद्गुरुको लक्षमें रखता है, वह शुद्ध समकितको प्राप्त करता है; जिसमें कोई भी भेद और पक्ष नहीं है।

वर्त्ते निजस्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत।
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकीत ॥ १११ ॥

जहाँ आत्म-स्वभावका अनुभव लक्ष और प्रतीति रहती है, तथा आत्म-स्वभावमें वृत्ति ... होती है, वहीं परमार्थसे समकित होता है।

वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास।
उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास ॥ ११२ ॥

वह समकित, बढ़ती हुई धारासे हास्य शोक आदि जो कुछ आत्मामें मिथ्या आभास हुआ है उसे दूर करता है, और उससे स्वभाव-समाधिरूप चारित्रका उदय होता है; जिससे सब राग-द्वेषके क्षयस्वरूप वीतरागपदमें स्थिति होती है।

केवळ निजस्वभावनुं, अखंड वर्त्ते ज्ञान।
कहिये केवळज्ञान ते, देह छतां निर्वाण ॥ ११३ ॥

जहाँ सर्व आभाससे रहित आत्म-स्वभावका अखंड—जो कभी भी खंडित न हो—मंद न हो—नाश न हो—ऐसा ज्ञान रहता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। इस केवलज्ञानके प्राप्त करनेसे, देहके विद्यमान रहनेपर भी, उत्कृष्ट जीवन्मुक्त दशारूप निर्वाण यहींपर अनुभवमें आता है।

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय।
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय ॥ ११४ ॥

करोड़ों वर्षोंका स्वप्न भी जिस तरह जाग्रत होनेपर तुरत ही शान्त हो जाता है, उसी तरह जो अनादिका विभाव है वह आत्मज्ञानके होते ही दूर हो जाता है।

छूटे देहाध्यास तो, नहीं कर्त्ता तुं कर्म।
नहीं भोक्ता तुं तेहनो, एज धर्मनो मर्म ॥ ११५ ॥

हे शिष्य ! देहमें जो जीवने आत्मभाव मान लिया है और उसके कारण स्त्री-पुत्र आदि सबमें जो अहंभाव-ममत्वभाव-रहता है, वह आत्मभाव यदि आत्मामें ही माना जाय; और जो वह देहाध्यास है—देहमें आत्म-बुद्धि और आत्मामें देहबुद्धि है—वह दूर हो जाय; तो तू कर्मका कर्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं—यही धर्मका मर्म है।

एज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छे मोक्षस्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप ॥ ११६ ॥

उस जिज्ञासु जीवको यदि सद्गुरुका उपदेश मिल जाय तो वह समकितको पा कर अंतरकी शोधमें रहता है।

मत दर्शन आग्रह तजी, वर्त्ते सद्गुरुलक्ष।
लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष ॥ ११० ॥

मत और दर्शनका आग्रह छोड़कर जो सद्गुरुको लक्षमें रखता है, वह शुद्ध समकितको प्राप्त करता है; जिसमें कोई भी भेद और पक्ष नहीं है।

वर्त्ते निजस्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत।
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकीत ॥ १११ ॥

जहाँ आत्म-स्वभावका अनुभव लक्ष और प्रतीति रहती है, तथा आत्म-स्वभावमें वृत्ति प्रवाहित होती है, वहीं परमार्थसे समकित होता है।

वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास।
उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास ॥ ११२ ॥

यह समकित, बढ़ती हुई धारासे हास्य शोक आदि जो कुछ आत्मामें मिथ्या आभास हुआ है उसे दूर करता है, और उससे स्वभाव-समाधिरूप चारित्रका उदय होता है; जिससे राग द्वेषके क्षयस्वरूप वीतरागपदमें स्थिति होती है।

केवळ निजस्वभावनुं, अखंड वर्त्ते ज्ञान।
कहिये केवळज्ञान ते, देह छतां निर्वाण ॥ ११३ ॥

जहाँ सर्व आभाससे रहित आत्म-स्वभावका अखंड—जो कभी भी खंडित न हो—मंद न होनेवाला न हो—ऐसा ज्ञान रहता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। इस केवलज्ञानके प्राप्त करनेसे, देहके विद्यमान रहनेपर भी, उत्कृष्ट जीवन्मुक्त दशारूप निर्वाण यहींपर अनुभवमें आता है।

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय।
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय ॥ ११४ ॥

करोड़ों वर्षोंका स्वप्न भी जिस तरह जाग्रत होनेपर तुरत ही शान्त हो जाता है, उसी तरह जो अनादिका विभाव है वह आत्मज्ञानके होते ही दूर हो जाता है।

छूटे देहाध्यास तो, नहीं कर्त्ता तुं कर्म।
नहीं भोक्ता तुं तेहनो, एज धर्मनो मर्म ॥ ११५ ॥

हे शिष्य ! देहमें जो जीवने आत्मभाव मान लिया है और उसके कारण स्त्री-पुत्र आदि सबमें जो अहंभाव—ममत्वभाव—रहता है, वह आत्मभाव यदि आत्मामें ही माना जाय; और जो यह देहाध्यास है—देहमें आत्म-बुद्धि और आत्मामें देहबुद्धि है—वह दूर हो जाय; तो तू कर्मका कर्त्ता भी नहीं, और भोक्ता भी नहीं—यही धर्मका मर्म है।

एज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छे मोक्षस्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप ॥ ११६ ॥

उस जिज्ञासु जीवको यदि सद्गुरुका उपदेश मिल जाय तो वह समकितको प्राप्त ... अंतरकी शोधमें रहता है।

मत दर्शन आग्रह तजी, वर्त्ते सद्गुरुलक्ष।
लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष ॥ ११० ॥

मत और दर्शनका आग्रह छोड़कर जो सद्गुरुको लक्षमें रखता है, वह शुद्ध ... करता है; जिसमें कोई भी भेद और पक्ष नहीं है।

वर्त्ते निजस्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत।
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकीत ॥ १११ ॥

जहाँ आत्म-स्वभावका अनुभव लक्ष और प्रतीति रहती है, तथा आत्म-स्वभावमें वृत्ति ... होती है, वहीं परमार्थसे समकित होता है।

वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास।
उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास ॥ ११२ ॥

यह समकित, बढ़ती हुई धारासे हास्य शोक आदि जो कुछ आत्मामें मिथ्या आभास ... हुआ है उसे दूर करता है, और उससे स्वभाव-समाधिरूप चारित्रका उदय होता है; जिससे ... राग-द्वेषके क्षयस्वरूप वीतरागपदमें स्थिति होती है।

केवळ निजस्वभावनुं, अखंड वर्त्ते ज्ञान।
कहिये केवळज्ञान ते, देह छतां निर्वाण ॥ ११३ ॥

जहाँ सर्व आभाससे रहित आत्म-स्वभावका अखंड—जो कभी भी खंडित न हो—मंद न हो—नाश न हो—ऐसा ज्ञान रहता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। इस केवलज्ञानके प्राप्त करनेसे, देह विद्यमान रहनेपर भी, उत्कृष्ट जीवन्मुक्त दशारूप निर्वाण यहींपर अनुभवमें आता है।

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय।
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय ॥ ११४ ॥

करोड़ों वर्षोंका स्वप्न भी जिस तरह जाग्रत होनेपर तुरत ही शान्त हो जाता है, उसी तरह जो अनादिका विभाव है वह आत्मज्ञानके होते ही दूर हो जाता है।

छूटे देहाध्यास तो, नहीं कर्त्ता तुं कर्म।
नहीं भोक्ता तुं तेहनो, एज धर्मनो मर्म ॥ ११५ ॥

हे शिष्य! देहमें जो जीवने आत्मभाव मान लिया है और उसके कारण स्त्री-पुत्र आदि सबमें अहंभाव-ममत्वभाव-रहता है, वह आत्मभाव यदि आत्मामें ही माना जाय; और जो वह देहाध्यास है—देहमें आत्म-बुद्धि और आत्मामें देहबुद्धि है-वह दूर हो जाय; तो तू कर्मका कर्त्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं—यही धर्मका मर्म है।

एज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छे मोक्षस्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप ॥ ११६ ॥

उस जिज्ञासु जीवको यदि सद्गुरुका उपदेश मिल जाय तो वह समकितको पा अंतरकी शोधमें रहता है।

मत दर्शन आग्रह तजी, वर्त्ते सद्गुरुलक्ष।
लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष॥ ११०॥

मत और दर्शनका आग्रह छोड़कर जो सद्गुरुको लक्षमें रखता है, वह शुद्ध समकित प्राप्त करता है; जिसमें कोई भी भेद और पक्ष नहीं है।

वर्त्ते निजस्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत।
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकीत॥ १११॥

जहाँ आत्म-स्वभावका अनुभव लक्ष और प्रतीति रहती है, तथा आत्म-स्वभावमें वृत्ति होती है, वहीं परमार्थसे समकित होता है।

वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास।
उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास॥ ११२॥

वह समकित, बढ़ती हुई धारासे हास्य शोक आदि जो कुछ आत्मामें मिथ्या आभास हुआ है उसे दूर करता है, और उससे स्वभाव-समाधिरूप चारित्रका उदय होता है; जिससे राग-द्वेषके क्षयस्वरूप वीतरागपदमें स्थिति होती है।

केवळ निजस्वभावनुं, अखंड वर्त्ते ज्ञान।
कहिये केवळज्ञान ते, देह छतां निर्वाण॥ ११३॥

जहाँ सर्व आभाससे रहित आत्म-स्वभावका अखंड—जो कभी भी खंडित न हो—मंद न हो—नाश न हो—ऐसा ज्ञान रहता है, उसे केवळज्ञान कहते हैं। इस केवळज्ञानके प्राप्त करनेसे, देहके विद्यमान रहनेपर भी, उत्कृष्ट जीवन्मुक्त दशारूप निर्वाण यहींपर अनुभवमें आता है।

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय।
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय॥ ११४॥

करोड़ों वर्षोंका स्वप्न भी जिस तरह जाग्रत होनेपर तुरत ही शान्त हो जाता है, उसी तरह जो अनादिका विभाव है वह आत्मज्ञानके होते ही दूर हो जाता है।

छूटे देहाध्यास तो, नहीं कर्त्ता तुं कर्म।
नहीं भोक्ता तुं तेहनो, एज धर्मनो मर्म॥ ११५॥

हे शिष्य! देहमें जो जीवने आत्मभाव मान लिया है और उसके कारण स्त्री-पुत्र आदि सबमें जो अहंभाव-ममत्वभाव-रहता है, वह आत्मभाव यदि आत्मामें ही माना जाय; और जो वह देहाध्यास है—देहमें आत्म-बुद्धि और आत्मामें देहबुद्धि है—वह दूर हो जाय; तो तू कर्मका कर्त्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं—यही धर्मका मर्म है।

एज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छे मोक्षस्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप॥ ११६॥

उस जिज्ञासु जीवको यदि सद्गुरुका उपदेश मिल जाय तो वह .. केवलो .. .. अंतरकी शोधमें रहता है।

मत दर्शन आग्रह तजी, वर्त्ते सद्गुरुलक्ष।
लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष ॥ ११० ॥

मत और दर्शनका आग्रह छोड़कर जो सद्गुरुको लक्षमें रखता है, वह शुद्ध समकितको प्राप्त करता है; जिसमें कोई भी भेद और पक्ष नहीं है।

वर्त्ते निजस्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत।
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकीत ॥ १११ ॥

जहाँ आत्म-स्वभावका अनुभव लक्ष और प्रतीति रहती है, तथा आत्म-स्वभावमें वृत्ति बहती होती है, वहीं परमार्थसे समकित होता है।

वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास।
उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास ॥ ११२ ॥

वह समकित, बढ़ती हुई धारासे हास्य शोक आदि जो कुछ आत्मामें मिथ्या आभास हुआ है उसे दूर करता है, और उससे स्वभाव-समाधिरूप चारित्रका उदय होता है; जिससे सब राग-द्वेषके क्षयस्वरूप वीतरागपदमें स्थिति होती है।

केवळ निजस्वभावनुं, अखंड वर्त्ते ज्ञान।
कहिये केवळज्ञान ते, देह छतां निर्वाण ॥ ११३ ॥

जहाँ सर्व आभाससे रहित आत्म-स्वभावका अखंड—जो कभी भी खंडित न हो—मंद न हो—नाश न हो—ऐसा ज्ञान रहता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। इस केवलज्ञानके प्राप्त करनेसे, देहके विद्यमान रहनेपर भी, उत्कृष्ट जीवन्मुक्त दशारूप निर्वाण यहींपर अनुभवमें आता है।

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय।
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय ॥ ११४ ॥

करोड़ों वर्षोंका स्वप्न भी जिस तरह जाग्रत होनेपर तुरत ही शान्त हो जाता है, उसी तरह जो अनादिका विभाव है वह आत्मज्ञानके होते ही दूर हो जाता है।

छूटे देहाध्यास तो, नहीं कर्त्ता तुं कर्म।
नहीं भोक्ता तुं तेहनो, एज धर्मनो मर्म ॥ ११५ ॥

हे शिष्य ! देहमें जो जीवने आत्मभाव मान लिया है और उसके कारण स्त्री-पुत्र आदि सबमें जो अहंभाव–ममत्वभाव–रहता है, वह आत्मभाव यदि आत्मामें ही माना जाय; और जो यह देहाध्यास है—देहमें आत्म-बुद्धि और आत्मामें देहबुद्धि है—वह दूर हो जाय; तो तू कर्मका कर्त्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं—यही धर्मका मर्म है।

एज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छे मोक्षस्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप ॥ ११६ ॥

उस जिज्ञासु जीवको यदि सद्गुरुका उपदेश मिल जाय तो वह समकितको पा कर अंतरकी शोधमें रहता है।

मत दर्शन आग्रह तजी, वर्त्ते सद्गुरुलक्ष।
लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष॥ ११०॥

मत और दर्शनका आग्रह छोड़कर जो सद्गुरुको लक्षमें रखता है, वह शुद्ध समकितको प्राप्त करता है; जिसमें कोई भी भेद और पक्ष नहीं है।

वर्त्ते निजस्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत।
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकीत॥ १११॥

जहाँ आत्म-स्वभावका अनुभव लक्ष और प्रतीति रहती है, तथा आत्म-स्वभावमें वृत्ति होती है, वहीं परमार्थसे समकित होता है।

वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास।
उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास॥ ११२॥

वह समकित, बढ़ती हुई धारासे हास्य शोक आदि जो कुछ आत्मामें मिथ्या आभास हुआ है उसे दूर करता है, और उससे स्वभाव-समाधिरूप चारित्रका उदय होता है; जिससे राग-द्वेषके क्षयस्वरूप वीतरागपदमें स्थिति होती है।

केवळ निजस्वभावनुं, अखंड वर्त्ते ज्ञान।
कहिये केवळज्ञान ते, देह छतां निर्वाण॥ ११३॥

जहाँ सर्व आभाससे रहित आत्म-स्वभावका अखंड—जो कभी भी खंडित न हो—मंद न हो—नाश न हो—ऐसा ज्ञान रहता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। इस केवलज्ञानके प्राप्त करनेसे, देहके विद्यमान रहनेपर भी, उत्कृष्ट जीवन्मुक्त दशारूप निर्वाण यहींपर अनुभवमें आता है।

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय।
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय॥ ११४॥

करोड़ों वर्षोंका स्वप्न भी जिस तरह जाग्रत होनेपर तुरत ही शान्त हो जाता है, उसी तरह जो अनादिका विभाव है वह आत्मज्ञानके होते ही दूर हो जाता है।

छूटे देहाध्यास तो, नहीं कर्त्ता तुं कर्म।
नहीं भोक्ता तुं तेहनो, एज धर्मनो मर्म॥ ११५॥

हे शिष्य! देहमें जो जीवने आत्मभाव मान लिया है और उसके कारण स्त्री-पुत्र आदि सबमें जो अहंभाव-ममत्वभाव-रहता है, वह आत्मभाव यदि आत्मामें ही माना जाय; और जो यह देहाध्यास है—देहमें आत्म-बुद्धि और आत्मामें देहबुद्धि है—वह दूर हो जाय; तो तू कर्मका कर्त्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं—यही धर्मका मर्म है।

एज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छे मोक्षस्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप॥ ११६॥

उस जिज्ञासु जीवको यदि सद्गुरुका उपदेश मिल जाय तो वह समकितको प्रा... अंतरकी शोधमें रहता है।

मत दर्शन आग्रह तजी, वर्त्ते सद्गुरुलक्ष।
लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष॥ ११०॥

मत और दर्शनका आग्रह छोड़कर जो सद्गुरुको लक्षमें रखता है, वह शुद्ध सम... करता है; जिसमें कोई भी भेद और पक्ष नहीं है।

वर्त्ते निजस्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत।
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकीत॥ १११॥

जहाँ आत्म-स्वभावका अनुभव लक्ष और प्रतीति रहती है, तथा ... होती है, वहीं परमार्थसे समकित होता है।

वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास।
उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास॥ ११२॥

वह समकित, बढ़ती हुई धारासे हास्य शोक आदि जो कुछ आत्मामें मिथ्या आभास ... हुआ है उसे दूर करता है, और उससे स्वभाव-समाधिरूप चारित्रका उदय होता है; जिससे ... राग-द्वेषके क्षयस्वरूप वीतरागपदमें स्थिति होती है।

केवळ निजस्वभावनुं, अखंड वर्त्ते ज्ञान।
कहिये केवळज्ञान ते, देह छतां निर्वाण॥ ११३॥

जहाँ सर्व आभाससे रहित आत्म-स्वभावका अखंड—जो कभी भी खंडित न हो—मंद न हो—नाश न हो—ऐसा ज्ञान रहता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। इस केवलज्ञानके प्राप्त करनेसे, देहके विद्यमान रहनेपर भी, उत्कृष्ट जीवन्मुक्त दशारूप निर्वाण यहींपर अनुभवमें आता है।

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय।
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय॥ ११४॥

करोड़ों वर्षोंका स्वप्न भी जिस तरह जाग्रत होनेपर तुरत ही शान्त हो जाता है, उसी तरह जो अनादिका विभाव है वह आत्मज्ञानके होते ही दूर हो जाता है।

छूटे देहाध्यास तो, नहीं कर्त्ता तुं कर्म।
नहीं भोक्ता तुं तेहनो, एज धर्मनो मर्म॥ ११५॥

हे शिष्य! देहमें जो जीवने आत्मभाव मान लिया है और उसके कारण स्त्री-पुत्र आदि सबमें अहंभाव-ममत्वभाव-रहता है, वह आत्मभाव यदि आत्मामें ही माना जाय; और जो वह देहाध्यास है—देहमें आत्म-बुद्धि और आत्मामें देहबुद्धि है—वह दूर हो जाय; तो तू कर्मका कर्त्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं—यही धर्मका मर्म है।

एज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छे मोक्षस्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप॥ ११६॥

उस जिज्ञासु जीवको यदि सद्गुरुका उपदेश मिल जाय तो वह समकितको प्रा[illegible] अंतरकी शोधमें रहता है।

मत दर्शन आग्रह तजी, वर्त्ते सद्गुरुलक्ष।
लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष॥ ११० ॥

मत और दर्शनका आग्रह छोड़कर जो सद्गुरुको लक्षमें रखता है, वह शुद्ध [illegible] करता है; जिसमें कोई भी भेद और पक्ष नहीं है।

वर्त्ते निजस्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत।
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकीत॥ १११ ॥

जहाँ आत्म-स्वभावका अनुभव लक्ष और प्रतीति रहती है, तथा आत्म-स्वभावमें [illegible] होती है, वहीं परमार्थसे समकित होता है।

वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास।
उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास॥ ११२ ॥

वह समकित, बढ़ती हुई धारासे हास्य शोक आदि जो कुछ आत्मामें मिथ्या आभास [illegible] हुआ है उसे दूर करता है, और उससे स्वभाव-समाधिरूप चारित्रका उदय होता है; जिससे [illegible] राग-द्वेषके क्षयस्वरूप वीतरागपदमें स्थिति होती है।

केवळ निजस्वभावनुं, अखंड वर्त्ते ज्ञान।
कहिये केवळज्ञान ते, देह छतां निर्वाण॥ ११३ ॥

जहाँ सर्व आभाससे रहित आत्म-स्वभावका अखंड—जो कभी भी खंडित न हो—मंद न हो— नाश न हो—ऐसा ज्ञान रहता है, उसे केवळज्ञान कहते हैं। इस केवळज्ञानके प्राप्त करनेसे, देह [illegible] विद्यमान रहनेपर भी, उत्कृष्ट जीवन्मुक्त दशारूप निर्वाण यहींपर अनुभवमें आता है।

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय।
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय॥ ११४ ॥

करोड़ों वर्षोंका स्वप्न भी जिस तरह जाग्रत होनेपर तुरत ही शान्त हो जाता है, उसी [illegible] जो अनादिका विभाव है वह आत्मज्ञानके होते ही दूर हो जाता है।

छूटे देहाध्यास तो, नहीं कर्त्ता तुं कर्म।
नहीं भोक्ता तुं तेहनो, एज धर्मनो मर्म॥ ११५ ॥

हे शिष्य! देहमें जो जीवने आत्मभाव मान लिया है और उसके कारण स्त्री-पुत्र आदि सबमें [illegible] अहंभाव-ममत्वभाव-रहता है, वह आत्मभाव यदि आत्मामें ही माना जाय; और जो वह देहा[illegible] है—देहमें आत्म-बुद्धि और आत्मामें देहबुद्धि है-वह दूर हो जाय; तो तू कर्मका कर्त्ता भी [illegible] और भोक्ता भी नहीं—यही धर्मका मर्म है।

एज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छे मोक्षस्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप॥ ११६ ॥

उस जिज्ञासु जीवको यदि सद्गुरुका उपदेश मिल जाय तो वह समकितको प्र[illegible] अंतरकी शोधमें रहता है।

मत दर्शन आग्रह तजी, वर्त्ते सद्गुरुलक्ष।
लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष ॥ ११० ॥

मत और दर्शनका आग्रह छोड़कर जो सद्गुरुको लक्षमें रखता है, वह शुद्ध [illegible] करता है; जिसमें कोई भी भेद और पक्ष नहीं है।

वर्त्ते निजस्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत।
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकीत ॥ १११ ॥

जहाँ आत्म-स्वभावका अनुभव लक्ष और प्रतीति रहती है, तथा आत्म-स्वभावमें [illegible] होती है, वहीं परमार्थसे समकित होता है।

वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास।
उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास ॥ ११२ ॥

वह समकित, बढ़ती हुई धारासे हास्य शोक आदि जो कुछ आत्मामें मिथ्या आभास [illegible] हुआ है उसे दूर करता है, और उससे स्वभाव-समाधिरूप चारित्रका उदय होता है; जिससे [illegible] राग-द्वेषके क्षयस्वरूप वीतरागपदमें स्थिति होती है।

केवळ निजस्वभावनुं, अखंड वर्त्ते ज्ञान।
कहिये केवळज्ञान ते, देह छतां निर्वाण ॥ ११३ ॥

जहाँ सर्व आभाससे रहित आत्म-स्वभावका अखंड—जो कभी भी खंडित न हो—मंद न हो— नाश न हो—ऐसा ज्ञान रहता है, उसे केवळज्ञान कहते हैं। इस केवळज्ञानके प्राप्त करनेसे, [illegible] विद्यमान रहनेपर भी, उत्कृष्ट जीवन्मुक्त दशारूप निर्वाण यहींपर अनुभवमें आता है।

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय।
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय ॥ ११४ ॥

करोड़ों वर्षोंका स्वप्न भी जिस तरह जाग्रत होनेपर तुरत ही शान्त हो जाता है, [illegible] जो अनादिका विभाव है वह आत्मज्ञानके होते ही दूर हो जाता है।

छूटे देहाध्यास तो, नहीं कर्त्ता तुं कर्म।
नहीं भोक्ता तुं तेहनो, एज धर्मनो मर्म ॥ ११५ ॥

हे शिष्य ! देहमें जो जीवने आत्मभाव मान लिया है और उसके कारण स्त्री-पुत्र आदि [illegible] अहंभाव-ममत्वभाव-रहता है, वह आत्मभाव यदि आत्मामें ही माना जाय; और जो यह [illegible] है—देहमें आत्म-बुद्धि और आत्मामें देहबुद्धि है—वह दूर हो जाय; तो तू कर्मका कर्त्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं—यही धर्मका मर्म है।

एज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छे मोक्षस्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप ॥ ११६ ॥

उस जिज्ञासु जीवको यदि सद्गुरुका उपदेश मिल जाय तो वह समकितको पाकर अंतरकी शोधमें रहता है।

मत दर्शन आग्रह तजी, वर्त्ते सद्गुरुलक्ष।
लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष ॥ ११० ॥

मत और दर्शनका आग्रह छोड़कर जो सद्गुरुके लक्षमें रहता है, वह शुद्ध समकितको प्राप्त करता है; जिसमें कोई भी भेद और पक्ष नहीं है।

वर्त्ते निजस्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत।
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकीत ॥ १११ ॥

जहाँ आत्म-स्वभावका अनुभव लक्ष और प्रतीति रहती है, तथा आत्म-स्वभावमें वृत्ति होती है, वहीं परमार्थसे समकित होता है।

वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास।
उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास ॥ ११२ ॥

वह समकित, बढ़ती हुई धारासे हास्य शोक आदि जो कुछ आत्मामें मिथ्या भास हुआ है उसे दूर करता है, और उससे स्वभाव-समाधिरूप चारित्रका उदय होता है; जिससे राग द्वेषके क्षयरूप वीतरागपदमें स्थिति होती है।

केवळ निजस्वभावनुं, अखंड वर्त्ते ज्ञान।
कहिये केवळज्ञान ते, देह छतां निर्वाण ॥ ११३ ॥

जहाँ सर्व आभाससे रहित आत्म-स्वभावका अखंड—जो कभी भी खंडित न हो—मंद न हो, नाश न हो—ऐसा ज्ञान रहता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। इस केवलज्ञानके प्राप्त करनेसे देहके विद्यमान रहनेपर भी, उत्कृष्ट जीवन्मुक्त दशारूप निर्वाण यहींपर अनुभवमें आता है।

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय।
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय ॥ ११४ ॥

करोड़ों वर्षका स्वप्न भी जिस तरह जाग्रत होनेपर तुरत ही शान्त हो जाता है, उसी तरह अनादिका जो विभाव है वह आत्मज्ञानके होते ही दूर हो जाता है।

छूटे देहाध्यास तो, नहीं कर्त्ता तुं कर्म।
नहीं भोक्ता तुं तेहनो, एज धर्मनो मर्म ॥ ११५ ॥

हे शिष्य! देहमें जो तूने आत्मभाव मान लिया है और उसके कारण जो तू स्त्री पुत्र आदि सबमें अहंकार-ममत्व रखता है, वह आत्मभाव यदि आत्मामें ही माना जाय, और जो वह देहाध्यास है—देहमें आत्म-बुद्धि और आत्मामें देहबुद्धि है—वह दूर हो जाय, तो तू कर्मका कर्त्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं—यही धर्मका मर्म है।

एज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छो मोक्षस्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप ॥ ११६ ॥

उस जिज्ञासु जीवको यदि सद्गुरुका उपदेश मिल जाय तो वह समकितको प्राप्त करके अंतरकी शोधमें रहता है।

मत दर्शन आग्रह तजी, वर्त्ते सद्गुरुलक्ष।
लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष॥ ११०॥

मत और दर्शनका आग्रह छोड़कर जो सद्गुरुको लक्षमें रखता है, वह शुद्ध समकित प्राप्त करता है; जिसमें कोई भी भेद और पक्ष नहीं है।

वर्त्ते निजस्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत।
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकीत॥ १११॥

जहाँ आत्म-स्वभावका अनुभव लक्ष और प्रतीति रहती है, तथा आत्म-स्वभावमें वृत्ति होती है, वहीं परमार्थसे समकित होता है।

वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास।
उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास॥ ११२॥

वह समकित, बढ़ती हुई धारासे हास्य शोक आदि जो कुछ आत्मामें मिथ्या आभास हुआ है उसे दूर करता है, और उससे स्वभाव-समाधिरूप चारित्रका उदय होता है; जिससे समस्त रागद्वेषके क्षयस्वरूप वीतरागपदमें स्थिति होती है।

केवळ निजस्वभावनुं, अखंड वर्त्ते ज्ञान।
कहिये केवळज्ञान ते, देह छतां निर्वाण॥ ११३॥

जहाँ सर्व आभाससे रहित आत्म-स्वभावका अखंड—जो कभी भी खंडित न हो—मंद न हो, नाश न हो—ऐसा ज्ञान रहता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। इस केवलज्ञानके प्राप्त होनेसे देहके विद्यमान रहनेपर भी, उत्कृष्ट जीवन्मुक्त दशारूप निर्वाण यहींपर अनुभवमें आता है।

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय।
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय॥ ११४॥

करोड़ों वर्षोंका स्वप्न भी जिस तरह जाग्रत होनेपर तुरत ही शान्त हो जाता है, उसी तरह अनादिका विभाव है वह आत्मज्ञानके होते ही दूर हो जाता है।

छूटे देहाध्यास तो, नहीं कर्ता तुं कर्म।
नहीं भोक्ता तुं तेहनो, एज धर्मनो मर्म॥ ११५॥

हे शिष्य! देहमें जो तूने आत्मभाव मान लिया है और उसके कारण जो तू स्त्री पुत्र आदि सबमें अहंता-ममताभाव रखता है, वह आत्मभाव यदि आत्मामें ही माना जाय, और वह देहाध्यास—देहमें आत्मबुद्धि और आत्मामें देहबुद्धि है—वह दूर हो जाय, तो तू कर्मका कर्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं—यही धर्मका मर्म है।

एज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छो मोक्षस्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप॥ ११६॥

उस जिज्ञासु जीवको यदि सद्गुरुका उपदेश मिल जाय तो वह समकितको ... अंतरकी शोधमें रहता है।

मत दर्शन आग्रह तजी, वर्त्ते सद्गुरुलक्ष।
लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष॥ ११०॥

मत और दर्शनका आग्रह छोड़कर जो सद्गुरुको लक्षमें रखता है, वह शुद्ध ... करता है; जिसमें कोई भी भेद और पक्ष नहीं है।

वर्त्ते निजस्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत।
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकीत॥ १११॥

जहाँ आत्म-स्वभावका अनुभव लक्ष और प्रतीति रहती है, तथा आत्म-स्वभावमें वृत्ति... होती है, वहीं परमार्थसे समकित होता है।

वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास।
उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास॥ ११२॥

वह समकित, बढ़ती हुई धारासे हास्य शोक आदि जो कुछ आत्मामें मिथ्या ... हुआ है उसे दूर करता है, और उससे स्वभाव-समाधिरूप चारित्रका उदय होता है; जिससे ... राग-द्वेषके क्षयस्वरूप वीतरागपदमें स्थिति होती है।

केवळ निजस्वभावनुं, अखंड वर्त्ते ज्ञान।
कहिये केवळज्ञान ते, देह छतां निर्वाण॥ ११३॥

जहाँ सर्व आभाससे रहित आत्म-स्वभावका अखंड—जो कभी भी खंडित न हो—मंद न हो—नाश न हो—ऐसा ज्ञान रहता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। इस केवलज्ञानके प्राप्त करनेसे, देह विद्यमान रहनेपर भी, उत्कृष्ट जीवन्मुक्त दशारूप निर्वाण यहींपर अनुभवमें आता है।

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय।
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय॥ ११४॥

करोड़ों वर्षोंका स्वप्न भी जिस तरह जाग्रत होनेपर तुरत ही शान्त हो जाता है, उसी तरह जो अनादिका विभाव है वह आत्मज्ञानके होते ही दूर हो जाता है।

छूटे देहाध्यास तो, नहीं कर्त्ता तुं कर्म।
नहीं भोक्ता तुं तेहनो, एज धर्मनो मर्म॥ ११५॥

हे शिष्य! देहमें जो जीवने आत्मभाव मान लिया है और उसके कारण स्त्री-पुत्र आदि सबमें अहंभाव-ममत्वभाव-रहता है, वह आत्मभाव यदि आत्मामें ही माना जाय; और जो वह देहाध्यास है—देहमें आत्म-बुद्धि और आत्मामें देहबुद्धि है—वह दूर हो जाय; तो तू कर्मका कर्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं—यही धर्मका मर्म है।

एज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छे मोक्षस्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप॥ ११६॥

उस जिज्ञासु जीवको यदि सद्गुरुका उपदेश मिल जाय तो वह समकितको ... अंतरकी शोधमें रहता है।

मत दर्शन आग्रह तजी, वर्त्तें सद्गुरुलक्ष।
लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष ॥ ११० ॥

मत और दर्शनका आग्रह छोड़कर जो सद्गुरुको लक्षमें रखता है, वह शुद्ध समकितको ... करता है; जिसमें कोई भी भेद और पक्ष नहीं है।

वर्त्तें निजस्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत।
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकीत ॥ १११ ॥

जहाँ आत्म-स्वभावका अनुभव लक्ष और प्रतीति रहती है, तथा आत्म-स्वभावमें वृत्ति ... होती है, वहीं परमार्थसे समकित होता है।

वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास।
उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास ॥ ११२ ॥

वह समकित, बढ़ती हुई धारासे हास्य शोक आदि जो कुछ आत्मामें मिथ्या ... हुआ है उसे दूर करता है, और उससे स्वभाव-समाधिरूप चारित्रका उदय होता है; जिससे ... राग-द्वेषके क्षयस्वरूप वीतरागपदमें स्थिति होती है।

केवळ निजस्वभावनुं, अखंड वर्त्ते ज्ञान।
कहिये केवळज्ञान ते, देह छतां निर्वाण ॥ ११३ ॥

जहाँ सर्व आभाससे रहित आत्म-स्वभावका अखंड—जो कभी भी खंडित न हो—... नाश न हो—ऐसा ज्ञान रहता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। इस केवलज्ञानके प्राप्त करनेसे, देह विद्यमान रहनेपर भी, उत्कृष्ट जीवन्मुक्त दशारूप निर्वाण यहींपर अनुभवमें आता है।

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय।
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय ॥ ११४ ॥

करोड़ों वर्षोंका स्वप्न भी जिस तरह जाग्रत होनेपर तुरत ही शान्त हो जाता है, उसी तरह जो अनादिका विभाव है वह आत्मज्ञानके होते ही दूर हो जाता है।

छूटे देहाध्यास तो, नहीं कर्त्ता तुं कर्म।
नहीं भोक्ता तुं तेहनो, एज धर्मनो मर्म ॥ ११५ ॥

हे शिष्य! देहमें जो जीवने आत्मभाव मान लिया है और उसके कारण स्त्री-पुत्र आदि सबमें अहंभाव—ममत्वभाव—रहता है, वह आत्मभाव यदि आत्मामें ही माना जाय; और जो वह देहाध्यास है—देहमें आत्म-बुद्धि और आत्मामें देहबुद्धि है—वह दूर हो जाय; तो तू कर्मका कर्त्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं—यही धर्मका मर्म है।

एज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छे मोक्षस्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप ॥ ११६ ॥

उसके उपादान कारण हैं—ऐसा शास्त्रमें कहा है। इससे उपादानका नाम लेकर जो कोई निमित्तका त्याग करेगा वह सिद्धत्वको नहीं पा सकता, और वह भ्रांतिमें ही रहा करेगा। क्योंकि उस उपादानकी व्याख्या सच्चे निमित्तके निषेध करनेके लिये नहीं कही। परन्तु शास्त्रकारों हुई उस व्याख्याका यही परमार्थ है कि उपादानके अजागृत रखनेसे सच्चा निमित्त मिलनेपर भी न होगा, इसलिये सद्‌निमित्त मिलनेपर उस निमित्तका अवलंबन लेकर उपादानको सन्मुख चाहिये, और पुरुषार्थहीन न होना चाहिये।

मुखथी ज्ञान कथे अने, अंतर् छूट्यो न मोह।

ते पामर प्राणी करे, मात्र ज्ञानीनो द्रोह ॥ १३७ ॥

जो मुखसे निश्चय-प्रधान वचनोंको कहता है, परन्तु अंतरसे जिसका अपना मोह छूटा नहीं, ऐसा पामर प्राणी मात्र केवलज्ञानी कहलानेकी कामनासे ही सद्‌ज्ञानी पुरुषका द्रोह करता है।

दया शांति समता क्षमा, सत्य त्याग वैराग्य।

होय मुमुक्षुघटविषे, एह सदाय सुजाग्य ॥ १३८ ॥

दया, शांति, समता, सत्य, त्याग, और वैराग्य गुण मुमुक्षुके घटमें सदा ही जागृत रहते हैं, अर्थात् इन गुणोंके बिना तो मुमुक्षुपना भी नहीं होता।

मोहभाव क्षय होय ज्यां, अथवा होय प्रशांत।

ते कहिये ज्ञानी दशा, बाकी कहिये भ्रांत ॥ १३९ ॥

जहाँ मोहभावका क्षय हो गया है, अथवा जहाँ मोह-दशा क्षीण हो गई हो, उसे ज्ञानीकी दशा कहते हैं; और नहीं तो जिसने अपनेमें ही ज्ञान मान लिया हो, वह तो केवल भ्रांति ही है।

सकळ जगत् ते एठवत्, अथवा स्वप्नसमान।

ते कहिये ज्ञानीदशा, बाकी वाचाज्ञान ॥ १४० ॥

समस्त जगत्को जिसने उच्छिष्ट समान समझा है, अथवा जिसके ज्ञानमें जगत् स्वप्नके समान मालूम होता है, वही ज्ञानीकी दशा है; बाकी तो सब केवल वचन-ज्ञान—मात्र कथन ज्ञान—ही है।

स्थानक पांच विचारीने, छट्ठे वर्ते जेह।

पामे स्थानक पांचमुं, एमां नहीं संदेह ॥ १४१ ॥

पाँचों पदोंका विचारकर जो छट्ठे पदमें प्रवृत्ति करता है—जो मोक्षके उपाय ऊपर कहे हैं उनमें प्रवृत्ति करता है—वह पाँचवें स्थानक मोक्षपदको पाता है।

देह छतां जेनी दशा, वर्ते देहातीत।

ते ज्ञानीनां चरणमां, हो वंदन अगणित ॥ १४२ ॥

जिसे पूर्व प्रारब्धके योगसे देह रहनेपर भी जिसकी दशा उस देहसे अतीत—देह आदिकी कल्पनारहित—आत्ममय रहती है, उस ज्ञानी-पुरुषके चरण-कमलमें अगणित बार वंदन हो। वंदन हो।

श्रीसद्गुरुचरणार्पणमस्तु।

४. श्री·······द्वारा आत्मसिद्धिशास्त्रका आगे चलकर अवगाहन करना विशेष हितकारी जानकर, उसे हालमें मात्र श्री·······को ही अवगाहन करनेके लिये लिखा है। तो भी यदि श्री·······की हालमें विशेष आकांक्षा रहती हो तो उन्हें भी 'प्रत्यक्ष सत्पुरुषके समान मेरा किसीने भी परम उपकार नहीं किया,' ऐसा अखंड निश्चय आत्मामें लाकर, और 'इस देहके भविष्य जीवनमें भी यदि मैं उस अखंड निश्चयको छोड़ दूँ तो मैंने आत्मार्थ ही त्याग दिया, और सच्चे उपकारीके उपकारके विस्मरण करनेका दोष किया, ऐसा ही मानूँगा; और नित्य सत्पुरुषकी आज्ञामें रहनेमें ही आत्माका कल्याण है'—इस तरह भिन्नभावसे रहित, लोकसंबंधी अन्य सब प्रकारकी कल्पना छोड़कर, निश्चय लाकर, श्री·······मुनिके साथमें इस ग्रंथके अवगाहन करनेमें हालमें भी बाधा नहीं है। उससे बहुतसी शंकाओंका समाधान हो सकेगा।

(२)

सत्पुरुषकी आज्ञामें चलनेका जिसका दृढ निश्चय रहता है, और जो उस निश्चयकी आराधना करता है, उसे ही ज्ञान सम्यक् प्रकारसे फलीभूत होता है—यह बात आत्मार्थी जीवको अवश्य लक्षमें रखना योग्य है। हमने जो यह वचन लिखा है, उसके सर्व ज्ञानी-पुरुष साक्षी हैं।

जिस प्रकारसे दूसरे मुनियोंको भी वैराग्य उपशम और विवेककी वृद्धि हो, उस उस प्रकारसे श्री·······तथा श्री·······को उन्हें यथाशक्ति सुनाना और आचरण कराना योग्य है। इसी तरह अन्य जीव भी आत्मार्थके सन्मुख हों, ज्ञानी-पुरुषकी आज्ञाके निश्चयको प्राप्त करें, विरक्त परिणामको प्राप्त करें, तथा रस आदिकी लुब्धता मंद करें, इत्यादि प्रकारसे एक आत्मार्थके लिये ही उपदेश करना योग्य है।

(३)

अनंतबार देहके लिये आत्माको व्यतीत किया है। जो देह आत्मार्थके लिये व्यतीत की जायगी, उस देहको आत्म-विचार पाने योग्य समझकर सर्व देहार्थकी कल्पना छोड़कर एक मात्र आत्मार्थमें ही उसका उपयोग करना योग्य है, यह निश्चय मुमुक्षु जीवको अवश्य करना चाहिये। श्रीसद्गुरुप्रसाद.

६६४ नडियाद, आसोज वदी १२ सोम. १९५२

शिरच्छत्र श्रीपिताजी!

बम्बईसे इस ओर आनेमें केवल एक निवृत्तिका ही हेतु है; कुछ शरीरकी बाधासे इस ओर आना नहीं हुआ है। आपकी कृपासे शरीर स्वस्थ है। बम्बईमें रोगके उपद्रवके कारण आपकी तथा रेवाशंकर भाईकी आज्ञा होनेसे इस ओर विशेष स्थिरता की है, और उस स्थिरतामें आत्माको विशेष निवृत्ति रहती है।

हालमें बम्बईमें रोगकी बहुत शांति हो गई है। सम्पूर्ण शांति हो जानेपर उस ओर जानेका विचार है, और वहाँ जानेके पश्चात् बहुत करके भाई मनसुखको आपकी तरफ थोड़े समयके लिये भेजनेकी इच्छा है, जिससे मेरी मातेश्वरीके मनको भी अच्छा लगेगा।

आपके प्रतापसे पैसा पैदा करनेका तो बहुत करके लोभ नहीं है, किन्तु आत्माके परम कल्याण करनेकी ही इच्छा है। मेरी मातेश्वरीको पायलागन पहुँचे। बालक रायचन्द्रका दण्डवत्।

६६५ नडियाद, आसोज वदी १५, १९५२

जो ज्ञान महा निर्जराका हेतु होता है, वह ज्ञान अनधिकारी जीवके हाथमें जानेसे प्रायः उसे अहितकारी होकर फल देता है।

जहाँ सम्यग्दर्शनसहित विषयारंभकी निवृत्ति—राग-द्वेषका अभाव—हो जाता है, वहाँ समाधिका सदुपाय जो शुद्धाचरण है वह प्रकट होता है ॥ ५ ॥

जहाँ इन तीनोंके अभिन्न स्वभावसे परिणमन होनेसे आत्मस्वरूप प्रकट होता है, वहाँ निश्चयसे अनन्य सुखदायक पूर्ण परमपदकी प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

जीव अजीव पदार्थ, तथा पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा ये सात तत्त्व मिलकर नौ पदार्थ होते हैं ॥ ७ ॥

जीव अजीवमें इन नौ तत्त्वोंका समावेश हो जाता है। वस्तुका विशेषरूपसे विचार करनेके लिये महान् मुनिराजोंने इन्हें भिन्न भिन्न प्ररूपित किया है ॥ ८ ॥

---

६६९ ववाणीआ, कार्तिक वदी २ शुक्र. १९५१

ज्ञानियोंने मनुष्यभवको चिंतामणि रत्नके समान कहा है, इसका यदि विचार करो तो यह प्रत्यक्ष समझमें आनेवाली बात है। विशेष विचार करनेसे तो उस मनुष्यभवका एक एक समय भी चिंतामणि रत्नसे परम माहात्म्यवान और मूल्यवान मालूम होता है। तथा यदि वह मनुष्यभव देहार्थमें ही व्यतीत हो गया, तो वह एक फूटी कौड़ीकी कीमतका भी नहीं, यह निस्सन्देह मालूम होता है।

---

६७० ववाणीआ, कार्तिक वदी १५ शुक्र. १९५१

ॐ सर्वज्ञाय नमः

जबतक देहका और प्रारब्धका उदय बलवान हो तबतक देहसंबंधी कुटुम्बको—जिसका भरण-पोषण करनेका संबंध न छूट सकनेवाला हो, अर्थात् गृहवासपर्यंत जिसका भरण-पोषण करना उचित हो—यदि भरण-पोषण मात्र मिलता हो, तो उसमें मुमुक्षु जीव संतोष करके आत्महितका ही विचार और पुरुषार्थ करता है। वह देह और देहसंबंधी कुटुम्बके माहात्म्य आदिके लिये परिग्रह आदिकी परिणामपूर्वक स्मृतिको भी नहीं होने देता। क्योंकि वे परिग्रह आदिकी प्राप्ति आदि ऐसे कार्य हैं कि वे बहुत करके आत्महितके अवसरको ही प्राप्त नहीं होने देते।

---

६७१ ववाणीआ, मगसिर सुदी १ शनि. १९५१

ॐ सर्वज्ञाय नमः

अल्प आयु, अनियत प्रवृत्ति, असीम—बलवान—असत्संग, प्रायःकरके पूर्वकी अनाराधकता, बलवीर्यकी हीनता—इन कारणोंसे रहित जहाँ कोई विरला ही जीव होगा, ऐसे इस कालमें, पूर्वमें कभी भी न जाना हुआ, प्रतीति न किया हुआ, आराधन न किया हुआ, और स्वभावसे असिद्ध ऐसा मार्ग प्राप्त

विषयारंभ निवृत्ति, रागद्वेषनो अभाव ज्यां थाय। सहित सम्यग्दर्शन, शुद्धाचरण त्यां समाधि सदुपाय ॥ ५
त्रणे अभिन्न स्वभावे, परिणमी आत्मस्वरूप ज्यां थाय। पूर्ण परमपदप्राप्ति, निश्चयथी त्यां अनन्य सुखदाय ॥ ६
जीव अजीव पदार्थो, पुण्य पाप आस्रव तथा बंध। संवर निर्जरा मोक्ष, तत्त्व कह्यां नव पदार्थ सबंध ॥ ७
जीव अजीव विषे ते, नवे तत्त्वनो समावेश थाय। वस्तु विचार विशेषे, भिन्न प्रबोध्या महान मुनिराय ॥ ८

३०वाँ वर्ष

६६६ ववाणीआ, कार्तिक सुदी १० शनि. १९५३

मातेश्वरीको ज्वर आ जानेसे, तथा कुछ समयसे यहाँ आनेके संबंधमें उनकी विशेष आकांक्षा होनेसे, गत सोमवारको यहाँसे आज्ञा मिलनेसे, नडियादसे मंगलवारको रवाना हुआ था। यहाँ बुधवारकी दुपहरको आना हुआ है।

जब शरीरमें वेदनीयका असातारूपसे परिणमन हुआ हो, उस समय विचारवान पुरुष शरीरके अन्यथा स्वभावका विचार कर, उस शरीर और शरीरके साथ संबंधसे प्राप्त स्त्री पुत्र आदिका मोह छोड़ देते हैं, अथवा मोहके मंद करनेमें प्रवृत्ति करते हैं।

आत्मसिद्धिशास्त्रका विशेष विचार करना चाहिये।

---

६६७ ववाणीआ, कार्तिक सुदी ११ रवि. १९५३

जबतक जीव लोक-दृष्टिका वमन न करे और उसमेंसे अंतर्वृत्ति न छूट जाय, तबतक ज्ञानीकी दृष्टिका माहात्म्य लक्षमें नहीं आ सकता, इसमें संशय नहीं।

---

६६८ ववाणीआ, कार्तिक १९५३

ॐ

*परमपद पंथ अथवा वीतराग दर्शन

गीति

जिस प्रकार परम वीतरागने परमपदके पंथका उपदेश किया है, उसका अनुसरण कर, उस प्रभुको भक्ति-रागसे प्रणाम करके, उस पंथको यहाँ कहेंगे ॥ १ ॥

पूर्ण सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र ये परमपदके मूल कारण हैं। जहाँ ये तीनों एक स्वभावसे परिणमन करते हैं, वहाँ शुद्ध परिपूर्ण समाधि होती है ॥ २ ॥

मुनीन्द्र सर्वज्ञने जिस प्रकार जड़ और चेतन भावोंका अवलोकन किया है, वैसी अंतर आस्था प्रगट होनेपर तत्त्वज्ञोंने उसे दर्शन कहा है ॥ ३ ॥

सम्यक् प्रमाणपूर्वक उन सब भावोंके ज्ञानमें भासित होनेको सम्यग्ज्ञान कहा गया है। वहाँ संशय विभ्रम और मोहका नाश हो जाता है ॥ ४ ॥

६६८

पंथ परमपद बोध्यो, जेह प्रमाणे परम वीतरागे। ते अनुसरि कहीशुं, प्रणमीने ते प्रभु भक्ति रागे ॥ १ ॥
मूळ परमपद कारण, सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण पूर्ण। प्रणमे एक स्वभावे, शुद्ध समाधि त्यां परिपूर्ण ॥ २ ॥
जे चेतन जड भावो, अवलोक्या छे मुनीन्द्र सर्वज्ञे। तेवी अंतर आस्था, प्रगट्ये दर्शन कह्युं छे तत्त्वज्ञे ॥ ३ ॥
सम्यक् प्रमाणपूर्वक, ते ते भावो ज्ञान विषे भासे। सम्यग्ज्ञान कह्युं ते, संशय विभ्रम मोह त्यां नासे ॥ ४ ॥

---

* इस विषयकी १६ या २० गीतियाँ थीं। बाकीकी कहीं गुम गई हैं। यहाँ कुल आठ गीतियाँ दी गई हैं।

—अनुवादक.

जहाँ सम्यग्दर्शनसहित विषयारंभकी निवृत्ति—राग-द्वेषका अभाव—हो जाता है, वहाँ समाधिका सदुपाय जो शुद्धाचरण है वह प्रकट होता है ॥ ५ ॥

जहाँ इन तीनोंके अभिन्न स्वभावसे परिणमन होनेसे आत्मस्वरूप प्रकट होता है, वहाँ निश्चय अनन्य सुखदायक पूर्ण परमपदकी प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

जीव अजीव पदार्थ, तथा पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा ये सात तत्त्व मिलकर पदार्थ होते हैं ॥ ७ ॥

जीव अजीवमें इन नौ तत्त्वोंका समावेश हो जाता है। वस्तुका विशेषरूपसे विचार करने लिये महान् मुनिराजोंने इन्हें भिन्न भिन्न प्ररूपित किया है ॥ ८ ॥

६६९ ववाणीआ, कार्तिक वदी २ शुक्र. १९५

ज्ञानियोंने मनुष्यभवको चिंतामणि रत्नके समान कहा है, इसका यदि विचार करो तो यह प्रत्यक्ष समझमें आनेवाली बात है। विशेष विचार करनेसे तो उस मनुष्यभवका एक एक समय भी चिंतामणि रत्नसे परम माहात्म्यवान और मूल्यवान मालूम होता है। तथा यदि वह मनुष्यभव देहार्थमें ही व्यतीत हो गया, तो वह एक फूटी कौड़ीकी कीमतका भी नहीं, यह निस्सन्देह मालूम होता है।

६७० ववाणीआ, कार्तिक वदी १५ शुक्र. १९५

ॐ सर्वज्ञाय नमः

जबतक देहका और प्रारब्धका उदय बलवान हो तबतक देहसंबंधी कुटुम्बको—जिसका भरण-पोषण करनेका संबंध न छूट सकनेवाला हो, अर्थात् गृहवासपर्यंत जिसका भरण-पोषण करना उचित हो—यदि भरण-पोषण मात्र मिलता हो, तो उसमें मुमुक्षु जीव संतोष करके आत्महितका ही विचार और पुरुषार्थ करता है। वह देह और देहसंबंधी कुटुंबके माहात्म्य आदिके लिये परिग्रह आदिकी परिणामपूर्वक स्मृतिको भी नहीं होने देता। क्योंकि वे परिग्रह आदिकी प्राप्ति आदि ऐसे कार्य हैं कि वे बहुत करके आत्महितके अवसरको ही प्राप्त नहीं होने देते।

६७१ ववाणीआ, मंगसिर सुदी १ शनि. १९५

ॐ सर्वज्ञाय नमः

अल्प आयु, अनियत प्राप्ति, असीम—बलवान—असत्संग, प्रायःकरके पूर्वकी अनाराधकता, बलवीर्यकी हीनता—इन कारणोंसे रहित जहाँ कोई विरला ही जीव होगा, ऐसे इस कालमें, पूर्वमें कभी भी न जाना हुआ, प्रतीति न किया हुआ, आराधन न किया हुआ, और स्वभावसे असिद्ध ऐसा मार्ग प्राप्त

विषयारंभ निवृत्ति, रागद्वेषनो अभाव ज्यां थाय। सहित सम्यग्दर्शन, शुद्धाचरण त्यां समाधि सदुपाय ॥ ५
त्रणे अभिन्न स्वभावे, परिणमी आत्मस्वरूप ज्यां थाय। पूर्ण परमपदप्राप्ति, निश्चयथी त्यां अनन्य सुखदाय ॥ ६
जीव अजीव पदार्थो, पुण्य पाप आस्रव तथा बंध। संवर निर्जरा मोक्ष, तत्त्व कह्यां नव पदार्थ सबंध ॥ ७
जीव अजीव विषे ते, नवे तत्त्वनो समावेश थाय। वस्तु विचार विशेषे, भिन्न प्रबोध्या महान मुनिराय ॥ ८

करना कठिन हो तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। फिर भी जिसने एक उसे ही प्राप्त करनेके सिवाय दूसरा कोई भी लक्ष नहीं रक्खा, वह इस कालमें भी अवश्य ही उस मार्गको प्राप्त करता है।

मुमुक्षु जीव लौकिक कारणोंमें अधिक हर्ष-विषाद नहीं करता।

---

६७२ ववाणीआ, मंगसिर सुदी ६ गुरु. १९५३

श्रीमाणेकचन्द्रकी देहके छूट जानेके समाचार मालूम हुए।

सर्व देहधारी जीव मरणके समीप शरणरहित हैं। जिसने मात्र उस देहका प्रथमसे ही यथार्थ स्वरूप जानकर उसका ममत्व नष्ट कर, निज-स्थिरताको अथवा ज्ञानीके मार्गकी यथार्थ प्रतीतिको पा लिया है, वही जीव उस मरण-समयमें शरणसहित होकर प्रायः फिरसे देह धारण नहीं करता; अथवा मरणकालमें देहके ममत्वभावकी अल्पता होनेसे भी वह निर्भय रहता है। देहके छूटनेका समय अनियत है, इसलिये विचारवान पुरुष अप्रमादभावसे पहिलेसे ही उसके ममत्वके निवृत्त करनेके अविरोधी उपायोंका साधन करते हैं; और इसीका तुम्हें और हमें सबको लक्ष रखना चाहिये। यद्यपि प्रीतिबंधनसे खेद होना संभव है, परन्तु इसमें अन्य कोई उपाय न होनेसे, उस खेदको वैराग्यस्वरूपमें परिणमन करना ही विचारवानका कर्त्तव्य है।

---

६७३ ववाणीआ, मंगसिर सुदी १० सोम. १९५३

सर्वज्ञाय नमः

योगवासिष्ठके आदिके दो प्रकरण, पंचीकरण, दासबोध तथा विचारसागर ये ग्रंथ तुम्हें विचार करने योग्य हैं। इनमेंसे किसी ग्रंथको यदि तुमने पहिले बाँचा हो तो भी उन्हें फिरसे बाँचना और विचारना योग्य है। ये ग्रंथ जैन-पद्धतिके नहीं हैं, यह जानकर उन ग्रंथोंका विचार करते हुए क्षोभ प्राप्त करना उचित नहीं।

लौकिक दृष्टिमें जो जो बातें अथवा वस्तुयें—जैसे शोभायुक्त घर आदि आरंभ, अलंकार आदि परिग्रह, लोक-दृष्टिकी विचक्षणता, लोकमान्य धर्मकी श्रद्धा-प्रतीतता—बड़ी मानी जाती हैं, उन सब बातों और वस्तुओंका ग्रहण करना प्रत्यक्ष जहरका ही ग्रहण करना है; इस बातको यथार्थ जाने बिना ही तुम [illegible] धारण करते हो, उससे उस वृत्तिका लक्ष नहीं होगा। आरंभमें इन बातों और वस्तुओंके प्रति झेर-दृष्टि आना कठिन समझकर कायर न होते हुए पुरुषार्थ करना ही उचित है।

---

६७४ ववाणीआ, मंगसिर सुदी १२, १९५३

सर्वज्ञाय नमः

१. आत्मसिद्धिकी [illegible] हैं।

२. यदि [illegible] हो तो [illegible] लिखनेमें है, इसमें संशय नहीं।

---

६७५ ववाणीआ, मंगसिर सुदी १२, १९५१

सर्वसंग-परित्यागके प्रति वृत्तिका तथारूप लक्ष रहनेपर भी जिस मुमुक्षुको प्रारब्धविशेषसे उस योगका अनुदय रहा करता है, और कुटुम्ब आदिके प्रसंग तथा आजीविका आदिके कारण जिसकी प्रवृत्ति रहती है—जो न्यायपूर्वक करनी पड़ती है; परन्तु उसे त्यागके उदयको प्रतिबंधक समझकर जो उसे खेदपूर्वक ही करता है, ऐसे मुमुक्षुको यह विचारकर कि पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मानुसार ही आजीविका आदि प्राप्त होगी, मात्र निमित्तरूप प्रयत्न करना ही उचित है; किन्तु भयसे आकुल होकर चिंता अथवा न्यायका त्याग करना उचित नहीं, क्योंकि वह तो केवल व्यामोह है।

शुभ-अशुभ प्रारब्धके अनुसार प्राप्ति ही होती है। प्रयत्न तो केवल व्यावहारिक निमित्त है, इसलिये उसे करना उचित है, परन्तु चिंता तो मात्र आत्म-गुणका निरोध करनेवाली है, इसलिये उसका शान्त करना ही योग्य है।

६७६ ववाणीआ, मंगसिर वदी ११ बुध. १९५१

आरंभ तथा परिग्रहकी प्रवृत्ति आत्महितको अनेक प्रकारसे रोकनेवाली है; अथवा सत्समागमके योगमें एक विशेष अंतरायका कारण समझकर ज्ञानी-पुरुषोंने उसके त्यागरूपसे बाह्य संयमका उपदेश किया है; जो प्रायः तुम्हें प्राप्त है। तथा तुम यथार्थ भाव-संयमकी जिज्ञासासे प्रवृत्ति करते हो, इसलिये अमूल्य अवसर प्राप्त हुआ समझ कर सत्पुरुषोंके वचनोंकी अनुप्रेक्षाद्वारा, सत्शास्त्र अप्रतिबंधता और चित्तकी एकाग्रताको सफल करना उचित है।

---

६७७ ववाणीआ, मगसिर वदी ११ बुध. १९५१

वैराग्य और उपशमको विशेष बढ़ानेके लिये भावनाबोध, योगवासिष्ठके आदिके दो प्रकरण, पंचीकरण इत्यादि ग्रंथोंका विचारना योग्य है।

जीवमें प्रमाद विशेष है, इसलिये आत्मार्थके कार्यमें जीवको नियमित होकर भी उस प्रमादको दूर करना चाहिये—अवश्य दूर करना चाहिये।

---

६७८ ववाणीआ, पौष सुदी १० भोम. १९५१

विषम भावके निमित्तोंके बलवानरूपसे प्राप्त होनेपर भी जो ज्ञानी-पुरुष अविषम उपयोगसे रहे हैं, रहते हैं, और भविष्यमें रहेंगे, उन सबको बारम्बार नमस्कार है!

उत्कृष्टसे उत्कृष्ट व्रत, उत्कृष्टसे उत्कृष्ट तप, उत्कृष्टसे उत्कृष्ट नियम, उत्कृष्टसे उत्कृष्ट लब्धि, उत्कृष्टसे उत्कृष्ट ऐश्वर्य—ये जिसमें सहज ही समा जाते हैं, ऐसे निरपेक्ष अविषम उपयोगको नमस्कार हो! यही ध्यान है।

---

६७९ ववाणीआ, पौष सुदी ११ बुध. १९५१

राग-द्वेषके प्रत्यक्ष बलवान निमित्तोंके प्राप्त होनेपर भी जिसका आत्मभाव किंचिन्मात्र भी क्षोभको प्राप्त नहीं होता, उस ज्ञानीके ज्ञानका विचार करनेसे भी महा निर्जरा होती है, इसमें संशय नहीं।

अध्यवसायः—लेश्या-परिणामकी कुछ स्पष्टरूपसे प्रवृत्ति ।

संकल्पः—प्रवृत्ति करनेका कुछ निर्धारित अध्यवसाय ।

विकल्पः—प्रवृत्ति करनेका कुछ अपूर्ण, अनिर्धारित, संदेहात्मक अध्यवसाय ।

संज्ञाः—आगे पीछेकी कुछ विशेष चिंतवनशक्ति अथवा स्मृति ।

परिणामः—जलके द्रवण स्वभावकी तरह द्रव्यकी कथंचित् अवस्थांतर पानेकी जो शक्ति है उस अवस्थांतरकी विशेष धारा—वह परिणति ।

अज्ञानः—मिथ्यात्वसहित मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान ।

विभंगज्ञानः—मिथ्यात्वसहित अतीन्द्रिय ज्ञान ।

विज्ञानः—कुछ विशेष ज्ञान ।

(२)

शुद्ध चैतन्य.

शुद्ध चैतन्य. शुद्ध चैतन्य.

सद्भावकी प्रतीति—सम्यग्दर्शन.

शुद्धात्मपद.

ज्ञानकी सीमा कौनसी है ?

निरावरण ज्ञानकी क्या स्थिति है ?

क्या अद्वैत एकांतसे घटता है ?

ध्यान और अध्ययन ।

उ० अप०

(३)

जैनमार्ग

१. लोक-संस्थान.

२. धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य.

३. अरूपित्व.

४. सुषम दुषमादि काल.

५. उस उस कालमें भारत आदिकी स्थिति, मनुष्यकी ऊंचाई आदिका प्रमाण ।

६. सूक्ष्म निगोद.

७. दो प्रकारके जीवः—भव्य और अभव्य.

८. पारिणामिक भावसे विभाव दशा.

९. प्रदेश और समय—उसका कुछ व्यावहारिक पारमार्थिक स्वरूप.

१०. गुण-समुदायसे द्रव्यका भिन्नत्व.

११. प्रदेश-समुदायका वस्तुत्व.

१२. रूप, रस, गंध और स्पर्शसे परमाणुकी भिन्नता.

६८० ववाणीआ, पौष वदी ४ शुक्र. १९५३

आरंभ और परिग्रहका इच्छापूर्वक प्रसंग हो तो वह आत्म-लाभको विशेष घातक है, और बारम्बार अस्थिर और अप्रशस्त परिणामका हेतु है, इसमें तो संशय नहीं। परन्तु जहाँ अनिच्छासे भी उदयके किसी योगसे वह प्रसंग रहता हो वहाँ भी आत्मभावकी उत्कृष्टताको बाधक और आत्म-स्थिरताको अंतराय करनेवाले उस आरंभ-परिग्रहका प्रायः प्रसंग होता है। इसलिये परम कृपालु ज्ञानी-पुरुषोंने त्यागमार्गका जो उपदेश दिया है, वह मुमुक्षु जीवको एकदेशसे और सर्वदेशसे अनुसरण करने योग्य है।

---

६८१ मोरबी, माघ सुदी ९ बुध. १९५३

द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे—इन चार तरहसे, आत्मभावसे प्रवृत्ति करनेवाले निर्ग्रन्थको जो अप्रतिबंधभाव कहा है—वह विशेष अनुप्रेक्षण करने योग्य है।

---

६८२ मोरबी, माघ सुदी ९ बुध. १९५३

(१) कोई पुरुष स्वयं ही विशेष सदाचारमें और संयममें प्रवृत्ति करता हो, तो उसके समागममें आनेकी इच्छा करनेवाले जीवोंको, उस पद्धतिके अवलोकनसे जैसा सदाचार तथा संयमका लाभ होता है, वैसा लाभ प्रायः करके विस्तृत उपदेशसे भी नहीं होता, यह लक्षमें रखना योग्य है।

(२) आत्मसिद्धिका विचार करनेसे क्या कुछ आत्मासंबंधी अनुप्रेक्षा रहती है या नहीं?

(३) परमार्थ-दृष्टि-पुरुषको अवश्य करने योग्य ऐसे समागमके लाभमें विकल्परूप अंतराय कर्तव्य नहीं है। सर्वज्ञाय नमः।

६८३ मोरबी, माघ वदी ४ रवि. १९५३

१ सत्श्रुतका परिचय न हो तो करना।

२ जिस तरह अन्य मुमुक्षु जीवोंके चित्तमें और अंगमें निर्मल भावकी वृद्धि हो, उस तरह प्रवृत्ति करना चाहिये। जिस तरह नियमित श्रवण किया जाय, और वह बात चित्तमें दृढ़ हो जाय कि आरंभ-परिग्रहके स्वरूपको सम्यक् प्रकारसे समझनेसे निवृत्ति और निर्मलताके बढ़नेमें प्रतिबंधक मौजूद है, तथा इस तरह उत्तम ज्ञानकथा हो, वैसा करना चाहिये।

६८४ मोरबी, माघ वदी ४ रवि. १९५३

(१) * सकल संसारी इन्द्रियरामी, मुनि गुण आतमरामी रे।
मुख्यपणे जे आतमरामी, ते कहिये निष्कामी रे॥

* सब संसारी जीव इन्द्रिय सुखमें ही रमण करनेवाले होते हैं, और केवल मुनिजन ही आतमरामी हैं। जो मुख्यरूपसे आतमरामी होते हैं, उन्हें ही निष्कामी कहा जाता है।

१३. प्रदेशका संकोच-विकास.

१४. उससे घनत्व या सूक्ष्मत्व.

१५. अस्पर्शगति.

१६. एक ही समयमें यहाँ और सिद्धक्षेत्रमें अस्तित्व, अथवा उसी समयमें लोकांत-गमन.

१७. सिद्धसंबंधी अवगाह.

१८. जीवकी तथा दृश्य पदार्थकी अपेक्षासे अवधि मनःपर्यव और केवलज्ञानकी कुछ व्यावहारिक पारमार्थिक व्याख्या.

'उसी प्रकारसे मति-श्रुतकी भी व्याख्या.'

१९. केवलज्ञानकी कोई अन्य व्याख्या.

२०. क्षेत्रप्रमाणकी कोई अन्य व्याख्या.

२१. समस्त विश्वका एक अद्वैततत्वपर विचार.

२२. केवलज्ञानके विना किसी अन्य ज्ञानसे जीवके स्वरूपका प्रत्यक्षरूपसे ग्रहण.

२३. विभावका उपादान कारण.

२४. तथा उसका समाधानके योग्य कोई प्रकार.

२५. इस कालमें दस बोलोंके व्यवच्छेद होनेका कोई अन्य रहस्य.

२६. केवलज्ञानके दो भेदः—बीजभूत केवलज्ञान और सम्पूर्ण केवलज्ञान.

२७. वीर्य आदि आत्माके गुणोंमें चेतनता.

२८. ज्ञानसे आत्माकी भिन्नता.

२९. वर्तमानकालमें जीवके स्पष्ट अनुभव होनेके ध्यानके मुख्य भेद.

३०. उनमें भी सर्वोत्कृष्ट मुख्य भेद.

३१. अतिशयका स्वरूप.

३२. (बहुतसी) लब्धियाँ ऐसी मानी जाती हैं जो अद्वैततत्व माननेसे सिद्ध होती हैं.

३३. लोक-दर्शनका वर्तमानकालमें कोई सुगम मार्ग.

३४. देहान्त-दर्शनका वर्तमानकालमें सुगम मार्ग.

३५. सिद्धत्व-पर्याय सादि-अनंत, मोक्ष अनादि-अनंत०

३६. परिणामी पदार्थ यदि निरंतर स्वाकार परिणामी हो तो भी उसका अव्यवस्थित परिणामीपना; तथा जो अनादिसे हो वह केवलज्ञानमें भासमान हो—ये पदार्थमें किस तरह घट सकते हैं!

(४)

१. कर्मव्यवस्था.

२. सर्वज्ञता.

३. पारिणामिकता.

४. नाना प्रकारके विचार और समाधान.

भरतक्षेत्रमें वर्तमान अवसर्पिणीकालमें श्रीऋषभदेवसे लगाकर श्रीवर्धमानतक ऐसे चौबीस तीर्थंकर हो गये हैं।

वर्तमानकालमें वे भगवान् सिद्धालयमें स्वरूपस्थितभावसे विराजमान हैं। परन्तु भूतप्रज्ञापनीय नयसे उनमें तीर्थंकरपदका उपचार किया जाता है। उस औपचारिक नयदृष्टिसे उन चौबीस भगवानोंके स्तवनरूप इन चौबीस स्तवनोंकी रचना की गई है।

सिद्धभगवान् सर्वथा अमूर्तपदमें स्थित हैं इसलिये उनका स्वरूप सामान्यरूपसे चिंतवन करना कठिन है। तथा अर्हंतभगवान्का स्वरूप भी मूलदृष्टिसे चिंतवन करना तो वैसा ही कठिन है, परन्तु सयोगीपदके अवलंबनपूर्वक चिंतवन करनेसे वह सामान्य जीवोंकी भी वृत्तिके स्थिर होनेका कुछ सुगम उपाय है। इस कारण अर्हंतभगवान्के स्तवनसे सिद्धपदका स्तवन हो जानेपर भी इतना विशेष उपकार समझकर, श्रीआनंदघनजीने चौबीस तीर्थंकरोंके स्तवनरूप इस चौबीसीकी रचना की है। नमस्कारमंत्रमें भी प्रथम अर्हंतपदके रखनेका यही हेतु है कि उनका हमारे प्रति विशेष उपकारभाव है।

भगवान्के स्वरूपका चिंतवन करना यह परमार्थदृष्टियुक्त पुरुषोंको गौणतासे निजस्वरूपका ही चिंतवन करना है। सिद्धप्राभृतमें कहा है:—

जारिस सिद्धसहावो, तारिस सहावो सव्वजीवाणं।
तम्हा सिद्धंतरुई, कायव्वा भव्वजीवेहिं ॥

—जैसा सिद्धभगवान्का आत्मस्वरूप है, वैसा ही सब जीवोंकी आत्माका स्वरूप है, इसलिये भव्य जीवोंको सिद्धत्वमें रुचि करनी चाहिये।

इसी तरह श्रीदेवचन्द्रस्वामीने श्रीवासुपूज्यके स्तवनमें कहा है।

जिनपूजा रे ते निजपूजना—यदि यथार्थ मूलदृष्टिसे देखें तो जिनभगवान्की पूजा ही आत्मस्वरूपका पूजन है।

इस तरह स्वरूपकी आकांक्षा रखनेवाले महात्माओंने जिनभगवान्की और सिद्धभगवान्की उपासनाको स्वरूपकी प्राप्तिका हेतु माना है। क्षीणमोह गुणस्थानतक उस स्वरूपका चिंतवन करना जीवको प्रबल अवलंबन है।

तथा मात्र अकेले अध्यात्मस्वरूपका चिंतवन जीवको व्यामोह पैदा करता है, बहुतसे जीवोंको वह शुष्कता प्राप्त कराता है, अथवा स्वेच्छाचारिता उत्पन्न करता है, अथवा उन्मत्त प्रलाप-दशा उत्पन्न करता है। तथा भगवान्के स्वरूपके ध्यानके अवलंबनसे भक्तिप्रधान दृष्टि होती है और अध्यात्मदृष्टि गौण होती है; इससे शुष्कता, स्वेच्छाचारिता और उन्मत्त-प्रलापित्व नहीं होता। आत्मदशा प्रबल होनेसे स्वाभाविक अध्यात्मप्रधानता होती है; आत्मा उच्च गुणोंका सेवन करती है, अर्थात् शुष्कता आदि दोष उत्पन्न नहीं होते; और भक्तिमार्गके प्रति भी जुगुप्सा नहीं होती, तथा स्वाभाविक आत्मदशा स्वरूप-लीनताको प्राप्त करती जाती है। जहाँ अर्हंत् आदिके स्वरूपके ध्यानके आलंबनके बिना वृत्ति आत्माकारता सेवन करती है, वहाँ— — —

अपूर्ण.

६९२ श्री ववाणीआ, मोरबी, कार्तिकसे फागुन १९५३

श्रीआनन्दघनजी चौबीसी-विवेचन

(१)

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, ओर न चाहुं रे कंत।
रीझ्यो साहिब संग न परिहरे रे, भांगे सादि अनंत ॥ ऋषभ० ॥

नाभिराजाके पुत्र श्रीऋषभदेवजी तीर्थंकर मेरे परम प्रिय हैं। इस कारण मैं अन्य किसी भी स्वामीकी इच्छा नहीं करती। ये स्वामी ऐसे हैं कि जो प्रसन्न होनेपर फिर कभी भी संग नहीं छोड़ते। मेरा इनका संग हुआ है इसलिये तो उसकी आदि है, परन्तु वह संग अटल होनेसे अनंत है ॥ १ ॥

विशेषार्थः—जो स्वरूप-जिज्ञासु पुरुष हैं वे, जिन्होंने पूर्ण शुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर लिया है ऐसे भगवान्‌के स्वरूपमें अपनी वृत्तिको तन्मय करते हैं। इससे उनकी स्वरूपदशा जागृत होती जाती है, और वह सर्वोत्कृष्ट यथाख्यात चारित्रको प्राप्त होती है। जैसा भगवान्‌का स्वरूप है वैसा ही शुद्धनयकी अपेक्षा आत्माका भी स्वरूप है। इस आत्मा और सिद्धभगवान्‌के स्वरूपमें केवल औपाधिक भेद है। यदि स्वाभाविक स्वरूपसे देखते हैं तो आत्मा सिद्धभगवान्‌के ही तुल्य है। दोनोंमें इतना ही भेद है कि सिद्धभगवान्‌का स्वरूप निरावरण है, और वर्तमानमें इस आत्माका स्वरूप आवरणसहित है। वस्तुतः इनमें कोई भी भेद नहीं। उस आवरणके क्षीण हो जानेसे आत्माका सिद्धस्वरूप प्रगट होता है।

तथा जबतक वह सिद्धस्वरूप प्रगट नहीं हुआ तबतक जिन्होंने स्वाभाविक शुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर लिया है ऐसे सिद्धभगवान्‌की उपासना करनी ही योग्य है। इसी तरह अर्हंत्‌भगवान्‌की भी उपासना करनी चाहिये क्योंकि वे भगवान् सयोगी-सिद्ध हैं। यद्यपि सयोगरूप प्रारब्धके कारण वे देहधारी हैं, परन्तु वे भगवान् स्वरूप-समवस्थित हैं। सिद्धभगवान्, और उनके ज्ञान, दर्शन, चारित्र अथवा वीर्यमें कुछ भी भेद नहीं है; अर्थात् अर्हंत्‌भगवान्‌की उपासनासे भी वह आत्मा स्वरूप-तन्मयताको प्राप्त कर सकती है। पूर्व महात्माओंने कहा है:—

जे जाणइ अरिहंते, दव्वगुणपज्जवेहिं य।
सो जाणइ निय अप्पा, मोहो खलु जाइ तस्स लयं।

—जो अर्हंतभगवान्‌का स्वरूप, द्रव्य गुण और पर्यायसे जानता है, वह अपनी आत्माके स्वरूपको जानता है, और निश्चयसे उसका मोह नाश हो जाता है।

उस भगवान्‌की उपासना जीवोंको किस अनुक्रमसे करनी चाहिये, उसे श्रीआनंदघनजी नौवें स्तवनमें कहनेवाले हैं, उसे उस प्रसंगपर विस्तारसे कहेंगे।

भगवान्‌सिद्धके नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु इन कर्मोंका भी अभाव रहता है। वे भगवान् सर्वथा कर्मोंसे रहित हैं। तथा भगवान्‌अर्हंतको केवल आत्मस्वरूपको आवरण करनेवाले कर्मोंका ही क्षय है; परन्तु उन्हें उपर कहे हुए चार कर्मोंका—वेदन करके क्षीण करनेपर्यंत—पूर्वबंध रहता है; इस कारण वे परमात्मा साकार-भगवान् कहे जाने योग्य हैं।

उन अर्हंतभगवान्‌में, जिन्होंने पूर्वमें तीर्थंकर नामकर्मका शुभयोग उत्पन्न किया है, वे तीर्थंकर-भगवान् कहे जाते हैं। उनका प्रताप उपदेश-बल आदि महत्पुण्ययोगके उदयसे आश्चर्यकारक शोभाको प्राप्त होता है।

भोग करे, ऐसा कुछ नियम नहीं है। अर्थात् जिस पतिका वियोग हो गया, और जिसका संयोग अब संभव नहीं रहा, ऐसे पतिका जो मिलाप है उसे मैंने मिथ्या समझा है, क्योंकि उसका ठिकाना कुछ नहीं है।

अथवा प्रथम पदका यह अर्थ भी होता है:—परमेश्वररूप पतिकी प्राप्तिके लिये कोई का भक्षण करता है, अर्थात् पंचाग्निकी धूनी जलाकर उसमें काष्ठ होमकर, कोई उस अग्निका सहन करता है, और इससे ऐसा समझता है हम परमेश्वररूप पतिको पा लेंगे, परन्तु यह सब मिथ्या है। क्योंकि उसकी तो पंचाग्नि तपनेमें ही प्रवृत्ति रहती है। वह उस पतिका स्वरूप जान उस पतिके प्रसन्न होनेके कारणोंको जानकर, कुछ उन कारणोंकी उपासना नहीं करता, इसलिये वह परमेश्वररूप पतिको कहाँसे पायेगा? वह तो, उसकी मतिका जिस स्वभावमें परिणमन हुआ वैसी ही गतिको पायेगा, इस कारण उस मिलापका कोई भी नाम ठिकाना नहीं है॥ २॥

हे सखि! कोई पतिको रिझानेके लिये अनेक प्रकारके तप करता है, परन्तु वह केवल शरीरको ही संताप देता है। इसे मैंने पतिके प्रसन्न करनेका मार्ग नहीं समझा। पतिके रंजन करनेके लिये दोनोंकी धातुओंका मिलाप होना चाहिये।

कोई स्त्री चाहे कितने ही कष्टसे तपश्चर्या करके अपने पतिके रिझानेकी इच्छा करे, तो जबतक वह स्त्री अपनी प्रकृतिको पतिकी प्रकृतिके स्वभावानुसार न कर सके, तबतक प्रकृतिकी प्रतिकूलताके कारण वह पति कभी भी प्रसन्न नहीं होता, और उस स्त्रीको मात्र अपने शरीरमें ही दुःख आदि संतापकी प्राप्ति होती है।

इसी तरह किसी मुमुक्षुकी वृत्ति भगवान्को पतिरूपसे प्राप्त करनेकी हो तो वह यदि भगवान्के स्वरूपके अनुसार वृत्ति न करे, और अन्य स्वरूपमें रुचिमान होते हुए, अनेक प्रकारका कष्ट करके कष्टका सेवन करे, तो भी वह भगवान्को प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि जिस तरह पति-पत्नीका सच्चा मिलाप और सच्ची प्रसन्नता धातुके एकत्वमें ही है; उसी तरह हे सखि! भगवान्में इस वृत्तिको स्थापन करके उसे यदि अचल रखना हो, तो उस भगवान्की साथ धातु-मिलाप करना ही योग्य है। अर्थात् उन भगवान्ने जो शुद्धचैतन्य-धातुरूपसे परिणमन किया है, वैसी शुद्धचैतन्यवृत्ति करनेसे ही उस धातुमेंसे प्रतिकूल स्वभावके निवृत्त होनेसे ऐक्य होना संभव है, और इसी धातु-मिलापसे उस भगवान्रूप पतिकी प्राप्तिका कभी भी वियोग नहीं होगा॥ ३॥

हे सखि! कोई फिर ऐसा कहता है कि यह जगत् ऐसे भगवान्की लीला है कि जिसके स्वरूपका पहिचान करनेका लक्ष ही नहीं हो सकता; और वह अलक्ष भगवान् सबकी इच्छा पूर्ण करता है, इस तरह वह इस जगत्को भगवान्की लीला मानकर, उस स्वरूपसे उस भगवान्की महिमाके गान करनेसे अपनी इच्छा पूर्ण होगी—भगवान् प्रसन्न होकर उसमें सफलता करेंगे ऐसा मानता है। परन्तु वह मिथ्या है। क्योंकि वह भगवान्के स्वरूपका ज्ञान न होनेसे ही ऐसा कहता है।

जो भगवान् अनंत ज्ञान-दर्शनमय सर्वोत्कृष्ट सुख समाधिमय है, वह भगवान् इस जगत्का कर्त्ता किस तरह हो सकता है? और उसकी लीलाके कारण प्रवृत्ति किस तरह हो सकती है? लीला प्रवृत्ति तो सदोषमें ही संभव है। जो पूर्ण होता है वह तो कुछ भी इच्छा नहीं करता। तथा भगवान्

(२)

*वीतरागियोंमें ईश्वर ऐसे ऋषभदेवभगवान् मेरे स्वामी है। इस कारण अब मैं किसी दूसरे कंतकी इच्छा नहीं करती। क्योंकि वे प्रभु यदि एक बार भी रीझ जाँय तो फिर छोड़ते नहीं हैं। उन प्रभुका योग प्राप्त होना यह उसकी आदि है, परन्तु वह योग कभी भी निवृत्त नहीं होता, इसलिये वह अनंत है।

चैतन्यवृत्ति जो जगत्‌के भावोंसे उदासीन होकर, शुद्धचैतन्य-स्वभावमें समवस्थित भगवान्‌में प्रीतियुक्त हो गई है, आनंदघनजी उसके हर्षका प्रदर्शन करते हैं।

अपनी श्रद्धा नामकी सखीको आनंदघनजीकी चैतन्यवृत्ति कहती है कि हे सखि! मैंने ऋषभदेव-भगवान्‌को साथ लग्न किया है और वह भगवान् मुझे सर्वप्रिय है। यह भगवान् मेरा पति हुआ है, इसलिये अब मैं अन्य किसी भी पतिकी कभी भी इच्छा न करूँगी। क्योंकि अन्य सब जीव जन्म, जरा, मरण आदि दुःखोंसे आकुल व्याकुल हैं—क्षणभरके लिये भी सुखी नहीं हैं; ऐसे जीवोंको पति बनानेसे मुझे सुख कहाँसे हो सकता है? तथा भगवान् ऋषभदेव तो अनन्त अव्याबाध सुख-समाधिको प्राप्त हुए हैं, इसलिये यदि उनका आश्रय ग्रहण करूँ तो मुझे भी उस वस्तुकी प्राप्ति हो सकती है। वर्तमानमें उस योगके मिलनेसे, हे सखि! मुझे परम शीतलता हुई है। दूसरे पतियोंका तो कभी वियोग भी हो जाता है, परन्तु मेरे इस स्वामीका तो कभी भी वियोग हो ही नहीं हो सकता। जबसे वह स्वामी प्रसन्न हुआ है तभीसे वह कभी भी संग नहीं छोड़ता। इस स्वामीके योगके स्वभावको सिद्धांतमें 'सादि-अनंत' कहा है, अर्थात् उस योगके होनेकी आदि तो है, परन्तु उसका कभी भी वियोग होनेवाला नहीं, इसलिये वह अनंत है। इस कारण अब मुझे कभी भी उस पतिका वियोग नहीं होगा॥ १॥

हे सखि! इस जगत्‌में पतिका वियोग न होनेके लिये स्त्रियाँ जो नाना प्रकारके उपाय करती हैं, वे उपाय यथार्थ उपाय नहीं हैं, और इस तरह मेरे पतिकी प्राप्ति नहीं होती। उन उपायोंको मिथ्या बतानेके लिये उनमेंसे थोड़ेसे उपायोंको तुझसे कहती हूँ:—

कोई स्त्री तो पतिके साथ काष्ठमें जल जानेकी इच्छा करती है, जिससे सदा ही पतिके साथ मिलाप रहे। परन्तु वह मिलाप कुछ संभव नहीं है, क्योंकि वह पति तो अपने कर्मानुसार जहाँ उसे जाना था वहाँ चला गया; और जो स्त्री सती होकर पतिसे मिलनेकी इच्छा करती है, वह स्त्री भी मिलापके लिये किसी चितामें जलकर मरनेकी ही इच्छा करती है, परन्तु उसे तो अपने कर्मानुसार ही देह धारण करना है। दोनों एक ही जगह देह धारण करें और पति-पत्नीरूपसे संबद्ध होकर निरंतर सुखका

* आनन्दघनजीकृत श्रीऋषभजिन-स्तवनके पाँच पद निम्न प्रकारसे हैं:—

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, ओर न चाहुं रे कंत।
रीझ्यो साहिब संग न परिहरे रे, भांगे सादि अनंत॥ ऋषभ०॥ १॥
कोई कंत कारण काष्ठभक्षण करे रे, मळशुं कंतने धाय।
ए मेळो नवि कहिये संभवे रे, मेळो ठाम न ठाय॥ ऋषभ०॥ २॥
कोई पतिरंजन अतिघणुं तप करे रे, पतिरंजन तनताप।
ए पतिरंजन में नवि चित धर्युं रे, रंजन धातुमिलाप॥ ऋषभ०॥ ३॥
कोई कहे लीला रे अलख अलख तणी रे, लख पूरे मन आश।
दोष रहितने लीला नवि घटे रे, लीला दोषविलास॥ ऋषभ०॥ ४॥
चित्त प्रसन्ने रे पूजनफळ कह्युं रे, पूजा अखंडित एह।
कपटरहित थई आतम-अरपणा रे, आनंदघनपदरेह॥ ऋषभ०॥ ५॥ —अनुवादक.

भोग करें, ऐसा कुछ नियम नहीं है। अर्थात् जिस पतिका वियोग हो गया, और जिसका संयोग अब संभव नहीं रहा, ऐसे पतिका जो मिलाप है उसे मैंने मिथ्या समझा है, क्योंकि उसका ठिकाना कुछ नहीं है।

अथवा प्रथम पदका यह अर्थ भी होता है:—परमेश्वररूप पतिकी प्राप्तिके लिये कोई काष्ठ भक्षण करता है, अर्थात् पंचाग्निकी धूनी जलाकर उसमें काष्ठ होमकर, कोई उस अग्निका ताप सहन करता है, और इससे ऐसा समझता है हम परमेश्वररूप पतिको पा लेंगे, परन्तु यह समझ मिथ्या है। क्योंकि उसकी तो पंचाग्नि तपनेमें ही प्रवृत्ति रहती है। वह उस पतिका स्वरूप जानकर, उस पतिके प्रसन्न होनेके कारणोंको जानकर, कुछ उन कारणोंकी उपासना नहीं करता, इसलिये वह परमेश्वररूप पतिको कहाँसे पायेगा? वह तो, उसकी मतिका जिस स्वभावमें परिणमन हुआ वैसी ही गतिको पावेगा, इस कारण उस मिलापका कोई भी नाम ठिकाना नहीं है॥ २॥

हे सखि! कोई पतिको रिझानेके लिये अनेक प्रकारके तप करता है, परन्तु वह केवल शरीरको ही संताप देता है। इसे मैंने पतिके प्रसन्न करनेका मार्ग नहीं समझा। पतिके रंजन करनेके लिये दोनोंकी धातुओंका मिलाप होना चाहिये।

कोई स्त्री चाहे कितने ही कष्टसे तपश्चर्या करके अपने पतिके रिझानेकी इच्छा करे, तो भी जबतक वह स्त्री अपनी प्रकृतिको पतिकी प्रकृतिके स्वभावानुसार न कर सके, तबतक प्रकृतिकी प्रतिकूलताके कारण वह पति कभी भी प्रसन्न नहीं होता, और उस स्त्रीको मात्र अपने शरीरमें ही दुःख आदि संतापकी प्राप्ति होती है।

इसी तरह किसी मुमुक्षुकी वृत्ति भगवान्को पतिरूपसे प्राप्त करनेकी हो तो वह यदि भगवान्के स्वरूपके अनुसार वृत्ति न करे, और अन्य स्वरूपमें रुचिमान होते हुए, अनेक प्रकारका तप करके कष्टका सेवन करे, तो भी वह भगवान्को प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि जिस तरह पति-पत्नीका सच्चा मिलाप और सच्ची प्रसन्नता धातुके एकत्वमें ही है; उसी तरह हे सखि! भगवान्में इस वृत्तिका पतित्व स्थापन करके उसे यदि अचल रखना हो, तो उस भगवान्की साथ धातु-मिलाप करना ही योग्य है। अर्थात् उन भगवान्ने जो शुद्धचैतन्य-धातुरूपसे परिणमन किया है, वैसी शुद्धचैतन्यवृत्ति करनेसे ही उस धातुमेंसे प्रतिकूल स्वभावके निवृत्त होनेसे ऐक्य होना संभव है; और उसी धातुके मिलापसे उस भगवान्रूप पतिकी प्राप्तिका कभी भी वियोग नहीं होगा॥ ३॥

हे सखि! कोई फिर ऐसा कहता है कि यह जगत् ऐसे भगवान्की लीला है कि जिसके स्वरूपकी पहिचान करनेका लक्ष ही नहीं हो सकता; और वह अलक्ष भगवान् सबकी इच्छा पूर्ण करता है, इस कारण वह इस जगत्को भगवान्की लीला मानकर, उस स्वरूपसे उस भगवान्की महिमाके गान करनेसे ही अपनी इच्छा पूर्ण होगी—भगवान् प्रसन्न होकर उसमें संलग्नता करेंगे—ऐसा मानता है। परन्तु यह मिथ्या है। क्योंकि वह भगवान्के स्वरूपका ज्ञान न होनेसे ही ऐसा कहता है।

जो भगवान् अनंत ज्ञान-दर्शनमय सर्वोत्कृष्ट सुख समाधिमय है, वह भगवान् इस जगत्का कर्त्ता किस तरह हो सकता है? और उसकी लीलाके कारण प्रवृत्ति किस तरह हो सकती है? क्योंकि प्रवृत्ति तो सदोषमें ही संभव है। जो पूर्ण होता है वह तो कुछ भी इच्छा नहीं करता। तथा भगवान्

तो अनंत अव्याबाध सुखसे पूर्ण है। उनमें अन्य कोई कल्पना कहाँसे आ सकती है? तथा लीलाकी उत्पत्ति तो कुतूहल वृत्तिसे होती है और वैसी कुतूहल वृत्ति तो ज्ञान-सुखकी अपरिपूर्णतासे होती है। तथा भगवान् ज्ञान और सुख दोनोंसे परिपूर्ण हैं, इसलिये उनकी प्रवृत्ति जगत्को रचनेरूप लीलाके प्रति कभी भी नहीं हो सकती। तथा यह लीला तो दोषका विलास है और वह सरागीके ही संभव है। तथा जो सरागी होता है वह द्वेषसहित होता है; और जिसे ये दोनों होते हैं, उसे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि सब दोषोंका होना भी संभव है। इस कारण यथार्थ दृष्टिसे देखनेसे तो लीला दोषका ही विलास ठहरता है, और ऐसे दोष-विलासकी तो इच्छा अज्ञानी ही करता है। जब विचारवान मुमुक्षु भी ऐसे दोष-विलासकी इच्छा नहीं करते, तो फिर अनंत ज्ञानमय भगवान् तो उसकी इच्छा कैसे कर सकते हैं? इस कारण जो उस भगवान्के स्वरूपको लीलाके कर्त्ताभावसे समझता है वह भ्रान्ति है; और उस भ्रान्तिका अनुसरण करके जो भगवान्के प्रसन्न करनेके मार्गको ग्रहण करता है, वह मार्ग भी भ्रान्तिरूप ही है। इस कारण उसे उस भगवान्रूप पतिकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ४ ॥

हे सखि! पतिके प्रसन्न करनेके तो अनेक प्रकार हैं। उदाहरणके लिये अनेक प्रकारके शब्द स्पर्श आदिके भोगसे पतिकी सेवा की जाती है। परन्तु उन सबमें चित्तकी प्रसन्नता ही सबसे उत्तम सेवा है, और वह ऐसी सेवा है जो कभी भी खंडित नहीं होती। कपटरहित होकर आत्मसमर्पण करके पतिकी सेवा करनेसे अत्यन्त आनंदके समूहकी प्राप्तिका भाग्योदय होता है।

भगवान्रूप पतिकी सेवाके अनेक प्रकार हैं:—जैसे द्रव्यपूजा, भावपूजा, आज्ञापूजा। द्रव्यपूजाके भी अनेक भेद हैं। उनमें सर्वोत्कृष्ट पूजा तो चित्तकी प्रसन्नता—उस भगवान्में चैतन्यवृत्तिका परम हर्षसे एकत्वको प्राप्त करना—ही है। उसमें ही सब साधन समा जाते हैं। वही अखंडित पूजा है, क्योंकि यदि चित्त भगवान्में लीन हो तो दूसरे योग भी चित्तके आधीन होनेसे वे भगवान्के ही आधीन रहते हैं; और यदि भगवान्मेंसे चित्तकी लीनता दूर न हो तो ही जगत्के भावोंमें उदासीनता रहती है, और उसमें ग्रहण-त्यागरूप विकल्प नहीं रहते। इस कारण वह सेवा अखंड ही रहती है।

जबतक चित्तमें अन्य कोई भाव हो तबतक यदि इस बातका प्रदर्शन किया जाय कि 'तुम्हारे सिवाय मेरा दूसरे किसीमें कोई भी भाव नहीं', तो वह वृथा ही है और वह कपट है; और जबतक कपट रहता है तबतक भगवान्के चरणमें आत्मसमर्पण कहाँसे हो सकता है? इस कारण जगत्के सर्व भावोंके प्रति विराम प्राप्त करके वृत्तिको शुद्ध चैतन्यभावयुक्त करनेसे ही, उस वृत्तिमें अन्यभाव न रहनेके कारण, वृत्ति शुद्ध कही जाती है और उसे ही निष्कपट कहते हैं। ऐसी चैतन्यवृत्ति भगवान्में लीन की जाय तो वही आत्मसमर्पणता कही जाती है।

धन धान्य आदि सब कुछ भगवान्को अर्पण कर दिया हो, परन्तु यदि आत्मसमर्पण न किया हो, अर्थात् उस आत्माकी वृत्तिको भगवान्में लीन न की हो, तो उस धन धान्य आदिका अर्पण करना सकपट ही है। क्योंकि अर्पण करनेवाला आत्मा अथवा उसकी वृत्ति तो किसी दूसरी जगह ही लीन हो रही है। तथा जो स्वयं दूसरी जगह लीन है, उसके अर्पण किये हुए दूसरे जड़ पदार्थ भगवान्में कहाँसे अर्पित हो सकते हैं? इसलिये भगवान्में चित्तवृत्तिकी लीनता ही आत्मसमर्पणता है, और यही आनंदघन-पदकी रेखा अर्थात् परम अव्याबाध सुखमय स्वपदकी निशानी है। अर्थात् जिसे ऐसी दशाकी प्राप्ति हो जाय वह परम अव्याबाधसुखमय मोक्षको प्राप्त होगा, यह उसका ही लक्षण है ॥ ५ ॥ इति श्रीऋषभजिन-स्तवन।

तो अनंत अव्याबाध सुखसे पूर्ण है। उसमें अन्य कोई कल्पना कहाँसे आ सकती है? तथा लीलाकी उत्पत्ति तो कुतूहल वृत्तिसे होती है और वैसी कुतूहल वृत्ति तो ज्ञान-सुखकी अपरिपूर्णतासे होती है। तथा भगवान् ज्ञान और सुख दोनोंसे परिपूर्ण हैं, इसलिये उनकी प्रवृत्ति जगत्को रचनेरूप लीलाके प्रति कभी भी नहीं हो सकती। तथा यह लीला तो दोषका-विलास है और वह सरागीके ही संभव है। तथा जो सरागी होता है वह द्वेषसहित होता है; और जिसे ये दोनों होते हैं, उसे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि सब दोषोंका होना भी संभव है। इस कारण यथार्थ दृष्टिसे देखनेसे तो लीला दोषका ही विलास ठहरता है, और ऐसे दोष-विलासकी तो इच्छा अज्ञानी ही करता है। जब विचारवान मुमुक्षु भी ऐसे दोष-विलासकी इच्छा नहीं करते, तो फिर अनंत ज्ञानमय भगवान् तो उसकी इच्छा कैसे कर सकते हैं? इस कारण जो उस भगवान्के स्वरूपको लीलाके-कर्त्तापनसे समझता है वह भ्रान्ति है; और उस भ्रान्तिका अनुसरण करके जो भगवान्के प्रसन्न करनेके मार्गको ग्रहण करता है, वह मार्ग भी भ्रान्तिरूप ही है। इस कारण उसे उस भगवान्‌रूप पतिकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ४ ॥

हे सखि! पतिके प्रसन्न करनेके तो अनेक प्रकार हैं। उदाहरणके लिये अनेक प्रकारके शब्द स्पर्श आदिके भोगसे पतिकी सेवा की जाती है। परन्तु उन सबमें चित्तकी प्रसन्नता ही सबसे उत्तम सेवा है, और वह ऐसी सेवा है जो कभी भी खंडित नहीं होती। कपटरहित होकर आत्मसमर्पण करके पतिकी सेवा करनेसे अत्यन्त आनंदके समूहकी प्राप्तिका भाग्योदय होता है।

भगवान्‌रूप पतिकी सेवाके अनेक प्रकार हैं:—जैसे द्रव्यपूजा, भावपूजा, आज्ञापूजा। द्रव्यपूजाके भी अनेक भेद हैं। उनमें सर्वोत्कृष्ट पूजा तो चित्तकी प्रसन्नता—उस भगवान्‌में चैतन्यवृत्तिका परम हर्षसे एकत्वको प्राप्त करना—ही है। उसमें ही सब साधन समा जाते हैं। वही अखंडित पूजा है, क्योंकि यदि चित्त भगवान्‌में लीन हो तो दूसरे योग भी चित्तके आधीन होनेसे वे भगवान्‌के ही आधीन रहते हैं; और यदि भगवान्‌मेंसे चित्तकी लीनता दूर न हो तो ही जगत्के भावोंमें उदासीनता रहती है, और उसमें ग्रहण-त्यागरूप विकल्प नहीं रहते। इस कारण यह सेवा अखंड ही रहती है।

जबतक चित्तमें अन्य कोई भाव हो तबतक यदि इस बातका प्रदर्शन किया जाय कि 'तुम्हारे सिवाय मेरा दूसरे किसीमें कोई भी भाव नहीं', तो वह मृषा ही है और वह कपट है; और जबतक कपट रहता है तबतक भगवान्‌के चरणमें आत्मसमर्पण कहाँसे हो सकता है? इस कारण जगत्के सर्व भावोंके प्रति विराम प्राप्त करके वृत्तिको शुद्ध चैतन्यभावयुक्त करनेसे ही, उस वृत्तिमें अन्यभाव न रहनेके कारण, वृत्ति शुद्ध कही जाती है और उसे ही निष्कपट कहते हैं। ऐसी चैतन्यवृत्ति भगवान्‌में लीन की जाय तो वही आत्मसमर्पणता कही जाती है।

धन धान्य आदि सब कुछ भगवान्‌को अर्पण कर दिया हो, परन्तु यदि आत्मसमर्पण न किया हो, अर्थात् उस आत्माकी वृत्तिको भगवान्‌में लीन न की हो, तो उस धन धान्य आदिका अर्पण करना सकपट ही है। क्योंकि अर्पण करनेवाला आत्मा अथवा उसकी वृत्ति तो किसी दूसरी जगह ही लीन हो रही है। तथा जो स्वयं दूसरी जगह लीन है, उसके अर्पण किये हुए दूसरे जड़ पदार्थ भगवान्‌में कहाँसे अर्पित हो सकते हैं? इसलिये भगवान्‌में चित्तवृत्तिकी लीनता ही आत्मसमर्पणता है, और यही आनंदघन-पदकी रेखा अर्थात् परम अव्याबाध सुखमय मोक्षपदकी निशानी है। अर्थात् जिसे ऐसी दशाकी प्राप्ति हो जाय वह परम आनन्दघनस्वरूप मोक्षको प्राप्त होगा। यह लक्षण ही सच्चा लक्षण है ॥ ५ ॥ इति श्रीऋषभजिन-स्तवन।

*(२)

प्रथम स्तवनमें भगवान्‌में वृत्तिके लीन होनेरूप हर्षको बताया है, परन्तु वह वृत्ति अखंड और पूर्णरूपसे लीन हो तो ही आनंदघन-पदकी प्राप्ति हो सकती है। इससे उस वृत्तिकी पूर्णताकी इच्छा करते हुए भी आनंदघनजी दूसरे तीर्थंकर श्रीअजितनाथका स्तवन करते हैं। जो पूर्णताकी इच्छा है, उसके प्राप्त होनेमें जो जो विघ्न समझे हैं, उन्हें आनंदघनजी भगवान्‌के दूसरे स्तवनमें संक्षेपसे निवेदन करते हैं; और अपने पुरुषत्वको मंद देखकर खेदखिन्न होते हैं—इस तरह वे ऐसी भावनाका चिन्तन करते हैं जिससे पुरुषत्व जाग्रत रहे।

हे सखि! दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ भगवान्‌ने जो पूर्ण लीनताके मार्गका प्रदर्शन किया है—जो सम्यक् चारित्ररूप मार्ग प्रकाशित किया है—उसे जब मैं देखती हूँ तो वह मार्ग अजित है—मेरे समान निर्बल वृत्तिके मुमुक्षुसे अजेय है। तथा भगवान्‌का जो अजित नाम है वह सत्य ही है, क्योंकि जो बड़े बड़े पराक्रमी पुरुष कहे जाते हैं, उनके द्वारा भी जिस गुणोंके धामरूप पंथका जय नहीं हुआ, उसका भगवान्‌ने जय किया है। इसलिये भगवान्‌का अजित नाम सार्थक ही है, और अनंत गुणोंके धामरूप उस मार्गके जीतनेसे भगवान्‌का गुणोंका धाम कहा जाना सिद्ध है। हे सखि! परन्तु मेरा नाम जो पुरुष कहा जाता है वह सत्य नहीं। तथा भगवान्‌का नाम तो अजित है; जिस तरह वह नाम तद्रूप गुणोंके कारण है, उसी तरह मेरा नाम जो पुरुष है वह तद्रूप गुणोंके कारण नहीं। क्योंकि पुरुष तो उसे कहा जाता है जो पुरुषार्थसे सहित हो—स्वपराक्रमसे सहित हो; परन्तु मैं तो वैसा हूँ नहीं। इसलिये मैं भगवान्‌से कहता हूँ कि हे भगवन्! तुम्हारा नाम जो अजित है वह सत्य है, और मेरा नाम जो पुरुष है वह मिथ्या है। क्योंकि राग, द्वेष, अज्ञान, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दोषोंका तुमने जय किया है इस कारण तुम अजित कहे जाने योग्य हो; परन्तु उन्हीं दोषोंने तो मुझे जीत लिया है, इसलिये मेरा नाम पुरुष कैसे कहा जा सकता है! ॥ १ ॥

हे सखि! उस मार्गको पानेके लिये दिव्य नेत्रोंकी आवश्यकता है। चर्मनेत्रोंसे देखते हुए तो समस्त संसार भूला ही हुआ है। उस परम तत्त्वका विचार होनेके लिये जिन दिव्य नेत्रोंकी आवश्यकता है, उन दिव्य नेत्रोंका निश्चयसे वर्तमानकालमें वियोग हो गया है।

हे सखि! उस अजितभगवान्‌का अजित होनेके लिये ग्रहण किया हुआ मार्ग कुछ इन चर्मचक्षुओंसे दिखाई नहीं पड़ता। क्योंकि वह मार्ग दिव्य है, और उसका अंतरात्मदृष्टिसे ही अवलोकन किया जा सकता है। जैसे एक गाँवसे दूसरे गाँवमें जानेके लिये पृथिवीपर सड़क वगैरह मार्ग होते हैं, उस तरह यह बाह्य मार्ग नहीं है, अथवा वह चर्मचक्षुसे देखनेपर दिखाई पड़नेवाला मार्ग नहीं है, —यहाँ कुछ चर्मचक्षुसे वह अतीन्द्रिय मार्ग दिखाई नहीं देता ॥ २ ॥

---

*आनन्दघनजीकृत अजितनाथ स्तवनके दो पद निम्नप्रकार हैं:—

पंथडो निहाळुं रे बीजा जिन तणो रे, अजित अजित गुणधाम।
जे तें जीत्या रे तेणे हुं जीतियो रे पुरुष किस्युं मुज नाम ॥ पंथडो० ॥ १ ॥
चरम नयण करि मारग जोवतां रे, भूल्यो सयल संसार।
जिण नयणे करि मारग जोइये रे, नयण ते दिव्य विचार ॥ पंथडो० ॥२॥ —अनुवादक

तो अनंत अव्याबाध सुखसे पूर्ण है। उनमें अन्य कोई कल्पना कहाँसे आ सकती है? तथा लीलाकी उत्पत्ति तो कुतूहल वृत्तिसे होती है और वैसी कुतूहल वृत्ति तो ज्ञान-सुखकी अपरिपूर्णतासे होती है। तथा भगवान् ज्ञान और सुख दोनोंसे परिपूर्ण हैं, इसलिये उनकी प्रवृत्ति जगत्को रचनेरूप लीलाके प्रति कभी भी नहीं हो सकती। तथा यह लीला तो दोषका विलास है और वह सरागीके ही संभव है। तथा जो सरागी होता है वह द्वेषसहित होता है; और जिसे ये दोनों होते हैं, उसे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि सब दोषोंका होना भी संभव है। इस कारण यथार्थ दृष्टिसे देखनेसे तो लीला दोषका ही विलास ठहरता है, और ऐसे दोष-विलासकी तो इच्छा अज्ञानी ही करता है। जब विचारवान मुमुक्षु भी ऐसे दोष-विलासकी इच्छा नहीं करते, तो फिर अनंत ज्ञानमय भगवान् तो उसकी इच्छा कैसे कर सकते हैं? इस कारण जो उस भगवान्के स्वरूपको लीलाके - कर्त्ताभावसे समझता है वह भ्रान्ति है; और उस भ्रान्तिका अनुसरण करके जो भगवान्के प्रसन्न करनेके मार्गको ग्रहण करता है, वह मार्ग भी भ्रान्तिरूप ही है। इस कारण उसे उस भगवान्रूप पतिकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ४ ॥

हे सखि! पतिके प्रसन्न करनेके तो अनेक प्रकार हैं। उदाहरणके लिये अनेक प्रकारके शब्द स्पर्श आदिके भोगसे पतिकी सेवा की जाती है। परन्तु उन सबमें चित्तकी प्रसन्नता ही सबसे उत्तम सेवा है, और वह ऐसी सेवा है जो कभी भी खंडित नहीं होती। कपटरहित होकर आत्मसमर्पण करके पतिकी सेवा करनेसे अत्यन्त आनंदके समूहकी प्राप्तिका भाग्योदय होता है।

भगवान्रूप पतिकी सेवाके अनेक प्रकार हैं:—जैसे द्रव्यपूजा, भावपूजा, आज्ञापूजा। द्रव्यपूजाके भी अनेक भेद हैं। उनमें सर्वोत्कृष्ट पूजा तो चित्तकी प्रसन्नता—उस भगवान्में चैतन्यवृत्तिका परम हर्षसे एकत्वको प्राप्त करना—ही है। उसमें ही सब साधन समा जाते हैं। वही अखंडित पूजा है, क्योंकि यदि चित्त भगवान्में लीन हो तो दूसरे योग भी चित्तके आधीन होनेसे वे भगवान्के ही आधीन रहते हैं; और यदि भगवान्मेंसे चित्तकी लीनता दूर न हो तो ही जगत्के भावोंमें उदासीनता रहती है, और उसमें ग्रहण-त्यागरूप विकल्प नहीं रहते। इस कारण वह सेवा अखंड ही रहती है।

जबतक चित्तमें अन्य कोई भाव हो तबतक यदि इस बातका प्रदर्शन किया जाय कि 'तुम्हारे सिवाय मेरा दूसरे किसीमें कोई भी भाव नहीं', तो वह वृथा ही है और वह कपट है; और जबतक कपट रहता है तबतक भगवान्के चरणमें आत्मसमर्पण कहाँसे हो सकता है? इस कारण जगत्के सर्व भावोंके प्रति विराम प्राप्त करके वृत्तिको शुद्ध चैतन्यभावयुक्त करनेसे ही, उस वृत्तिमें अन्यभाव न रहनेके कारण, वृत्ति शुद्ध कही जाती है और उसे ही निष्कपट कहते हैं। ऐसी चैतन्यवृत्ति भगवान्में लीन की जाय तो वही आत्मसमर्पणता कही जाती है।

धन धान्य आदि सब कुछ भगवान्को अर्पण कर दिया हो, परन्तु यदि आत्मसमर्पण न किया हो, अर्थात् उस आत्माकी वृत्तिको भगवान्में लीन न की हो, तो उस धन धान्य आदिका अर्पण करना सकपट ही है। क्योंकि अर्पण करनेवाली आत्मा अथवा उसकी वृत्ति तो किसी दूसरी जगह ही लीन हो रही है। तथा जो स्वयं दूसरी जगह लीन है, उसके अर्पण किये हुए दूसरे जड़ पदार्थ भगवान्में कहाँसे अर्पित हो सकते हैं? इसलिये भगवान्में चित्तवृत्तिकी लीनता ही आत्मसमर्पणता है, और यही आनंदघन-पदकी रेखा अर्थात् परम अव्याबाध सुखमय मोक्षपदकी निशानी है। अर्थात् जिसे ऐसी दशाकी प्राप्ति हो जाय वह परम आनन्दघनस्वरूप मोक्षको प्राप्त होगा। यह लक्षण ही सच्चा लक्षण है ॥ ५ ॥ इति श्रीऋषभजिन-स्तवन।

६९३

हे ज्ञातपुत्र भगवन्! कालकी बलिहारी है! इस भारतके पुण्यहीन मनुष्योंको तेरा सत्य अखंड और पूर्वापर विरोधरहित शासन कहाँसे प्राप्त हो सकता है? उसके प्राप्त होनेमें इस प्रकारके विघ्न उपस्थित हुए हैं:—तेरे उपदेश दिये हुए शास्त्रोंकी कल्पित अर्थसे विराधना की; कितनोंका तो समूल ही खंडन कर दिया; ध्यानका कार्य और स्वरूपका कारणरूप जो तेरी प्रतिमा है, उससे कटाक्षदृष्टिसे लाखों लोग फिर गये; और तेरे बादमें परंपरासे जो आचार्य पुरुष हुए उनके वचनोंमें और तेरे वचनोंमें भी शंका डाल दी—एकान्तका उपयोग करके तेरे शासनकी निन्दा की।

हे शासन देवि! कुछ ऐसी सहायता कर कि जिससे मैं दूसरोंको कल्याण-मार्गका बोध कर सकूँ—उसका प्रदर्शन कर सकूँ—उसे सच्चे पुरुष प्रदर्शित कर सकें। सर्वोत्तम निर्ग्रन्थ प्रवचनके बोधकी ओर फिराकर उन्हें इन आत्म-विरोधक पंथोंसे पीछे खींचनेमें सहायता प्रदान कर! समाधि और बोधिमें सहायता करना तेरा धर्म है।

६९४

(१)

ॐ नमः

'अनंत प्रकारके शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे आकुल व्याकुल जीवोंको, उन दुःखोंसे छूटनेकी बहुत बहुत प्रकारसे इच्छा होनेपर भी वे उनमेंसे मुक्त नहीं हो सकते—इसका क्या कारण है?' यह प्रश्न अनेक जीवोंको हुआ करता है, परन्तु उसका यथार्थ समाधान तो किसी विरले जीवको ही होता है। जबतक दुःखके मूल कारणको यथार्थरूपसे न जाना हो, तबतक उसके दूर करनेके लिये चाहे जितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाय, तो भी दुःखका क्षय नहीं हो सकता; और उस दुःखके प्रति चाहे कितनी भी अरुचि अप्रियता और अनिच्छा क्यों न हो, तो भी उन्हें वह अनुभव करना ही पड़ता है।

अवास्तविक उपायसे यदि उस दुःखके दूर करनेका प्रयत्न किया जाय, और उस प्रयत्नके असह्य परिश्रमपूर्वक करनेपर भी, उस दुःखके दूर न होनेसे, दुःख दूर करनेकी इच्छा करनेवाले मुमुक्षुको अत्यंत व्यामोह हो जाता है, अथवा हुआ करता है कि इसका क्या कारण है? यह दुःख क्यों दूर नहीं होता? किसी भी तरह मुझे उस दुःखकी प्राप्ति इष्ट न होनेपर भी, स्वप्नमें भी उसके प्रति कुछ भी रुचि न होनेपर भी, उसकी ही प्राप्ति हुआ करती है, और मैं जो जो प्रयत्न करता हूँ उन सबके निष्फल हो जानेसे मैं दुःखका ही अनुभव किया करता हूँ, इसका क्या कारण है?

क्या यह दुःख किसीसे भी दूर नहीं होता होगा? क्या दुःखी होना ही जीवका स्वभाव होगा? क्या कोई जगत्‌का कर्त्ता ईश्वर होगा, जिसने इसी तरह करना योग्य समझा होगा? क्या यह बात भवितव्यताके आधीन होगी? अथवा यह कुछ मेरे पूर्वमें किये हुए अपराधोंका फल होगा? इत्यादि अनेक प्रकारके विकल्पोंको मनसहित देहधारी जीव किया करते हैं; और जो जीव मनरहित हैं वे अव्यक्तरूपसे दुःखका अनुभव करते हैं, और वे अव्यक्तरूपसे ही उन दुःखोंके दूर होनेकी इच्छा किया करते हैं।

ऐसे महात्मा पुरुषोंका योग मिलना अत्यन्त अत्यन्त कठिन है । जब श्रेष्ठ देश कालमें भी ऐसे महात्माका योग होना कठिन है, तो ऐसे दुःख-प्रधान कालमें वैसा हो तो इसमें कुछ कहना ही नहीं रहता । कहा भी है:—

यद्यपि उस महात्मा पुरुषका योग कचित् मिलता भी है, तो भी यदि कोई शुद्ध वृत्तिवान मुमुक्षु पुरुष हो तो वह उस मुहूर्तमात्रके समागममें ही अपूर्व गुणको प्राप्त कर सकता है । जिन महात्मा पुरुषोंके वचनोंके प्रतापसे चक्रवर्ती राजा भी एक मुहूर्तमात्रमें ही अपना राजपाट छोड़कर भयंकर वनमें तपश्चर्या करनेके लिये चले जाते थे, उन महात्मा पुरुषोंके योगसे अपूर्व गुण क्यों प्राप्त नहीं हो सकते!

श्रेष्ठ देश कालमें भी कचित् ही महात्माका योग मिलता है । क्योंकि वे तो अप्रतिबद्ध-विहारी होते हैं । फिर ऐसे पुरुषोंका नित्य संग रह सकना तो किस तरह बन सकता है, जिससे मुमुक्षु जीव सर्व दुःखोंका क्षय करनेके अनन्य कारणोंकी पूर्णरूपसे उपासना कर सके? उसके मार्गको भगवान् जिनने इस तरह अवलोकन किया है:—

नित्य ही उनके समागममें आज्ञाधीन रहकर प्रवृत्ति करनी चाहिये, और उसके लिये बाह्य आभ्यंतर परिग्रहका त्याग करना ही योग्य है ।

जो उस त्यागको सर्वथा करनेमें समर्थ नहीं हैं, उन्हें उसे निम्न प्रकारसे एकदेशमें करना उचित है । उसके स्वरूपका इस तरह उपदेश किया है:—

उस महात्मा पुरुषके गुणोंकी अतिशयतासे, सम्यक् आचरणसे, परम ज्ञानसे, परम शान्तिसे, परम निवृत्तिसे, मुमुक्षु जीवकी अशुभ वृत्तियाँ परावृत्त होकर शुभ स्वभावको पाकर निजस्वरूपके प्रति सन्मुख होती जाती हैं ।

उस पुरुषके वचन यद्यपि आगमस्वरूप हैं, तो भी बारंबार अपनेसे वचन-योगकी प्रवृ

चाहे जो हो परन्तु इस तरह दोनों बहुत पासमें आ जाते हैं:—

विवादके अनेक स्थल तो प्रयोजनशून्य जैसे ही हैं; और वे भी परोक्ष हैं।

अपात्र श्रोताको द्रव्यानुयोग आदि भावके उपदेश करनेसे, नास्तिक आदि भावोंके उत्पन्न होनेका समय आता है, अथवा शुष्कज्ञानी होनेका समय आता है।

. . .

अब, इस प्रस्तावनाको यहाँ संक्षिप्त करते हैं; और जिस महात्मा पुरुषने ———(अपूर्ण)

यदि इस तरह अच्छी तरह प्रतीति हो जाय तो

*हिंसारहिओ धम्मो, अट्ठारस दोसविरहिओ देवो।
निग्गंथे पवयणे, सद्दहणे होई सम्मत्तं॥

तथा

. . . .

जीवको या तो मोक्षमार्ग है, नहीं तो उन्मार्ग है।

सर्व दुःखका क्षय करनेवाला एक परम सदुपाय, सर्व जीवोंको हितकारी, सर्व दुःखोंके क्षयका एक आत्यंतिक उपाय, परम सदुपायरूप वीतरागदर्शन है। उसकी प्रतीतिसे, उसके अनुसरणसे, उसकी आज्ञाके परम अवलंबनसे, जीव भव-सागरसे पार हो जाता है। समवायांगसूत्रमें कहा है:—

आत्मा क्या है? कर्म क्या है? उसका कर्त्ता कौन है? उसका उपादान कौन है? निमित्त कौन है? उसकी स्थिति कितनी है? कर्त्ता किसके द्वारा है? वह किस परिमाणमें कर्म बाँध सकता है? इत्यादि भावोंका स्वरूप जैसा निर्ग्रंथ सिद्धांतमें स्पष्ट सूक्ष्म और संकलनापूर्वक कहा है वैसा किसी भी दर्शनमें नहीं है। ———— (अपूर्ण)

* हिंसारहित धर्म, अठारह दोषोंसे रहित देव और निर्ग्रन्थ प्रवचनमें श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।— अनुवादक

न होनेके कारण, निरंतर समागमका योग न बननेके कारण, उस वचनका उस तरहका श्रवण स्मरणमें न रहनेके कारण, बहुतसे भावोंका स्वरूप जाननेमें आवर्तनकी आवश्यकता होनेके कारण, तथा अनुप्रेक्षाके बलकी वृद्धि होनेके लिए, वीतरागश्रुत—वीतरागशास्त्र—एक बलवान उपकारी साधन है। यद्यपि प्रथम तो उस महात्मा पुरुषद्वारा ही उसके रहस्यको जानना चाहिये, परन्तु बादमें तो विशुद्ध दृष्टि हो जानेपर, वह श्रुत महात्माके समागमके अंतरायमें भी बलवान उपकारक होता है। अथवा जहाँ उन महात्माओंका सर्वथा संयोग ही नहीं हो सकता, वहाँ भी विशुद्ध दृष्टिवालेको वीतरागश्रुत परम उपकारी है, और इसीलिये महान् पुरुषोंने एक श्लोकसे लगाकर द्वादशांगतककी रचना की है।

उस द्वादशांगके मूल उपदेष्टा सर्वज्ञ वीतराग हैं। महात्मा पुरुष उनके स्वरूपका निरंतर ध्यान करते हैं; और उस पदकी प्राप्तिमें ही सब कुछ गर्भित है, यह प्रतीतिसे अनुभवमें आता है। सर्वज्ञ वीतरागके वचनको धारण करके ही महान् आचार्योंने द्वादशांगकी रचना की थी, और उनकी आज्ञामें रहनेवाले महात्माओंने अन्य अनेक निर्दोष शास्त्रोंकी रचना की है। द्वादशांगके नाम निम्न प्रकारसे हैं:—

(१) आचारांग, (२) सूत्रकृतांग, (३) स्थानांग, (४) समवायांग, (५) भगवती, (६) ज्ञाताधर्मकथांग, (७) उपासकदशांग, (८) अंतकृतदशांग, (९) अनुत्तरौपपातिक, (१०) प्रश्नव्याकरण, (११) विपाक और (१२) दृष्टिवाद।

उनमें इस प्रकारसे निरूपण किया है:—

कालदोषसे उनमेंके अनेक स्थल तो विस्मृत हो गये हैं, और केवल थोड़े ही स्थल बाकी बचे हैं:—

जो अन्य स्थल बाकी बचे हैं, उन्हें श्वेताम्बराचार्य एकादश अंगके नामसे कहते हैं। दिगम्बर इससे सहमत नहीं हैं और वे ऐसा कहते हैं :—

सिद्धांत अथवा मतमतांतरकी दृष्टिसे तो उनमें दोनों सम्प्रदाय सर्वथा भिन्न भिन्न मार्गकी तरह देखनेमें आते हैं, परन्तु जब दीर्घदृष्टिसे देखते हैं तो उनका कुछ और ही कारण समझमें आता है।

स्थूल निरूपण रहनेके कारण, वर्तमान मनुष्योंको निर्ग्रन्थभगवान्‌के उस श्रुतका इस क्षेत्रमें पूर्ण लाभ नहीं मिलता।

अनेक मतमतांतर आदिके उत्पन्न होनेका हेतु भी यही है, और इसी कारण निर्मल आत्मतत्त्वके अभ्यासी महात्माओंकी भी अल्पता हो गई है।

श्रुतके अल्प रह जानेपर भी, अनेक मतमातांतरोंके मौजूद रहनेपर भी, समाधानके बहुतसे साधनोंके परोक्ष होनेपर भी, महात्मा पुरुषोंके क्वचित् क्वचित् मौजूद रहनेपर भी, हे आर्यजनो! सम्यग्दर्शन, श्रुतका रहस्यभूत परमपदका पंथ, आत्मानुभवका हेतु सम्यक्‌चारित्र और विशुद्ध आत्मध्यान आज भी विद्यमान है—यह परम हर्षका कारण है।

वर्तमानकालका नाम दुःषम काल है। इस कारण अनेक अंतरायोंके होनेसे, प्रतिकूलता होनेसे और साधनोंकी दुर्लभता होनेसे, मोक्षमार्गकी प्राप्ति दुःखसे होती है; परन्तु वर्तमानमें कुछ मोक्षका मार्ग ही विच्छिन्न हो गया है, यह विचार करना उचित नहीं।

पंचमकालमें होनेवाले महर्षियोंने भी ऐसा ही कहा है। तदनुसार यहाँ कहता हूँ।

सूत्र और दूसरे अनेक प्राचीन आचार्योंका अनुकरण करके रचे हुए अनेक शास्त्र विद्यमान हैं। सुबोधित पुरुषोंने तो उनकी हितकारी बुद्धिसे ही रचना की है। इसलिये यदि किन्हीं मतवादी, हठवादी, और शिथिलताके पोषक पुरुषोंके द्वारा रची हुई कोई पुस्तकें, उन सूत्रों अथवा जिनाचारसे न मिलती हों, और प्रयोजनकी मर्यादासे बाह्य हों, तो उन पुस्तकोंके उदाहरण देकर भवभीरु महात्मा इन प्राचीन सुबोधित आचार्योंके वचनोंके उत्थापन करनेका प्रयत्न नहीं करते। परन्तु वह समझकर कि उससे उपकार ही होता है, उनका बहुत मान करते हुए वे उनका यथायोग्य सदुपयोग करते हैं।

जिनदर्शनमें दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो मुख्य भेद हैं। मतदृष्टिसे तो उनमें महान् अंतर देखनेमें आता है। परन्तु जिनदर्शनमें तत्त्वदृष्टिसे वैसा विशेष भेद मुख्यरूपसे परोक्ष ही है। उनमें कुछ ऐसा भेद नहीं है कि जो प्रत्यक्ष कार्यकारी हो सकता हो। इसलिये दोनों सम्प्रदायोंमें उत्पन्न होनेवाले गुणवान पुरुष सम्यग्दृष्टिसे ही देखते हैं; और जिस तरह तत्त्व-प्रतीतिका अंतराय कम हो वैसा आचरण करते हैं।

जैनाभाससे निकले हुए दूसरे अनेक मतमतांतर भी हैं। उनके स्वरूपका निरूपण करते हुए भी वृत्ति संकुचित होती है। जिनमें मूल प्रयोजनका भी भान नहीं; इतना ही नहीं परन्तु जो मूल प्रयोजनसे विरुद्ध पद्धतिका ही अवलंबन लेते हैं; उन्हें मुनित्वका स्वप्न भी कहाँसे हो सकता है! क्योंकि वे तो मूल प्रयोजनको भूलकर क्लेशमें पड़े हुए हैं, और अपनी पूज्यता आदिके लिये जीवोंको परमार्थ-मार्गमें अंतराय करते हैं।

वे मुनिका लिंग भी धारण नहीं करते, क्योंकि स्वकपोल-रचनासे ही उनकी सर्व प्रवृत्ति रहती है। जिनागम अथवा आचार्यकी परम्परा तो केवल नाममात्र ही उनके पास है; वास्तवमें तो वे उनसे पराङ्मुख ही हैं।

कोई कमंडलु जैसी और कोई डोरे जैसी अन्य वस्तुके ग्रहण-त्यागके आग्रहसे भिन्न भिन्न मार्ग

(३)

जैनमार्ग-विवेक

अपने आत्मानके लिये यथाशक्ति जो जैनमार्ग समझा है, उसका यहाँ कुछ संक्षेपसे विचार करता हूँ:—

यह जैनमार्ग, जिस पदार्थका अस्तित्व है उसका अस्तित्व और जिसका अस्तित्व नहीं है उसका नास्तित्व स्वीकार करता है।

यह कहता है कि जिनका अस्तित्व है ऐसे पदार्थ दो प्रकारके हैं:—जीव और अजीव। ये पदार्थ स्पष्ट भिन्न भिन्न हैं। कोई भी किसीके स्वभावका त्याग नहीं कर सकता।

अजीव रूपी और अरूपीके भेदसे दो प्रकारका है।

जीव अनंत हैं। प्रत्येक जीव तीनों कालमें जुदा जुदा है। जीव ज्ञान दर्शन आदि लक्षणोंसे पहिचाना जाता है। प्रत्येक जीव असंख्यात प्रदेशकी अवगाहनासे रहता है; संकोच-विकासका भाजन है; अनादिसे कर्मका ग्राहक है। यथार्थ स्वरूपको जाननेसे, उसे प्रतीतिमें लानेसे, स्थिर परिणाम होनेपर उस कर्मकी निवृत्ति होती है। स्वरूपसे जीव वर्ण, गंध, रस और स्पर्शसे रहित है; अजर, अमर और शाश्वत वस्तु है।——————(अपूर्ण)

(४)

मोक्षसिद्धान्त

भगवान्को परम भक्तिसे नमस्कार करके अनंत अव्याबाध सुखमय परमपदकी प्राप्तिके लिये, भगवान् सर्वज्ञद्वारा निरूपण किये हुए मोक्ष-सिद्धांतको कहता हूँ:—

द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और धर्मकथानुयोगके महानिधि वीतराग-प्रवचनको नमस्कार करता हूँ।

कर्मरूपी वैरीका पराजय करनेवाले अर्हंतभगवान्को; शुद्ध चैतन्यपदमें सिद्धालयमें विराजमान सिद्धभगवान्को; ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन मोक्षके पंचाचारोंका पालन करनेवाले, और दूसरे भव्य जीवोंको आचारमें लगानेवाले आचार्यभगवान्को; द्वादशांगके अभ्यासी और उस श्रुत, शब्द, अर्थ और रहस्यसे अन्य भव्य जीवोंको अध्ययन करानेवाले ऐसे उपाध्यायभगवान्को; तथा मोक्ष-मार्गका आत्मजागृतिपूर्वक साधन करनेवाले ऐसे साधुभगवान्को, मैं परम भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

श्रीऋषभदेवसे श्रीमहावीरपर्यंत भरतक्षेत्रके वर्तमान चौबीस तीर्थंकरोंके परम उपकारका मैं बार-म्बार स्मरण करता हूँ।

वर्तमानकालके चरम तीर्थंकरदेव श्रीमान् वर्धमानजिनकी शिक्षासे ही वर्तमानमें मोक्षमार्गका अस्तित्व मौजूद है। उनके इस उपकारको सुविहित पुरुष बारम्बार आश्चर्यमय समझते हैं।

कालके दोषसे अपार श्रुत-सागरका बहुतसा भाग विस्मृत हो गया है, और वर्तमानमें केवल बिन्दुमात्र अथवा अल्पमात्र ही बाकी बचा है। अनेक स्थलोंके विस्मृत हो जानेसे, और अनेक स्थलोंमें

प्राणीमात्रका यह प्रयत्न होनेपर भी, वे दुःखका ही अनुभव करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि कहीं कहीं कोई सुखका अंश जो किसी किसी प्राणीको प्राप्त हुआ दिखाई देता भी है, तो वह भी दुःखकी बाहुल्यतासे ही देखनेमें आता है।

शंकाः—प्राणीमात्रको दुःख अप्रिय होनेपर भी, तथा उसके दूर करनेके लिये उसका सदा प्रयत्न रहनेपर भी, वह दुःख दूर नहीं होता; तो फिर इससे तो ऐसा समझमें आता है कि उस दुःखके दूर करनेका कोई उपाय ही नहीं है। क्योंकि जिसमें सबका प्रयत्न निष्फल ही चला जाता हो वह बात तो निरुपाय ही होनी चाहिये?

समाधानः—दुःखके स्वरूपको यथार्थ न समझनेसे; तथा उस दुःखके होनेके मूल कारण क्या हैं, और वे किस तरह दूर हो सकते हैं, इसे यथार्थ न समझनेसे; तथा दुःख दूर करनेका जीवोंका प्रयत्न स्वभावसे ही अयथार्थ होनेसे, वह दुःख दूर नहीं हो सकता।

दुःख यद्यपि सभीके अनुभवमें आता है, तो भी उसके स्पष्टरूपसे ध्यानमें आनेके लिये उसका यहाँ थोड़ासा व्याख्यान करते हैं:—

प्राणी दो प्रकारके होते हैं:—

(१) एक त्रस और दूसरे स्थावर। त्रस उन्हें कहते हैं जो स्वयं भय आदिका कारण देखकर भाग जाते हों और जो चलने-फिरने आदिकी शक्ति रखते हों।

(२) स्थावर उन्हें कहते हैं कि जो, जिस जगह देह धारण की है उसी जगह रहते हैं और जिनमें भय आदिके कारण समझकर भाग जाने वगैरहकी समझ-शक्ति न हो।

अथवा एकेन्द्रियसे लगाकर पाँच इन्द्रियतक पाँच प्रकारके प्राणी होते हैं। एकेन्द्रिय प्राणी स्थावर कहे जाते हैं, और दो इन्द्रियवाले प्राणियोंसे लगाकर पाँच इन्द्रियोंतकके प्राणी त्रस कहे जाते हैं। किसी भी प्राणीको पाँच इन्द्रियोंसे अधिक इन्द्रियाँ नहीं होतीं।

एकेन्द्रियके पाँच भेद हैं:—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति।

वनस्पतिका जीवत्व तो साधारण मनुष्योंको भी कुछ अनुमानसे समझमें आता है।

पृथिवी, जल, अग्नि, और वायुमें जीवका अस्तित्व आगम-प्रमाणसे और विशेष विचारबलसे कुछ समझमें आ सकता है—यद्यपि उसका सर्वथा समझमें आना तो प्रकृष्ट ज्ञानका ही विषय है।

अग्नि और वायुकायिक जीव कुछ कुछ गतियुक्त देखनेमें आते हैं; परन्तु वह गति अपनी निजकी शक्तिकी समझपूर्वक नहीं होती, इस कारण उन्हें भी स्थावर ही कहा जाता है।

यद्यपि एकेन्द्रिय जीवोंमें वनस्पतिमें जीव सुप्रसिद्ध है, फिर भी इस ग्रंथमें अनुक्रमसे उसके प्रमाण आवेंगे। पृथिवी, जल, अग्नि और वायुमें निम्न प्रकारसे जीवकी सिद्धि की गई है:—(अपूर्ण)

(७)

जीवके लक्षणः—

जीवका मुख्य लक्षण चैतन्य है,
वह देहके प्रमाण है,

प्राणीमात्रका यह प्रयत्न होनेपर भी, वे दुःखका ही अनुभव करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि कहीं कहीं कोई सुखका अंश जो किसी किसी प्राणीको प्राप्त हुआ दिखाई देता भी है, तो वह भी दुःखकी बाहुल्यतासे ही देखनेमें आता है।

शंकाः—प्राणीमात्रको दुःख अप्रिय होनेपर भी, तथा उसके दूर करनेके लिये उसका सदा प्रयत्न रहनेपर भी, वह दुःख दूर नहीं होता; तो फिर इससे तो ऐसा समझमें आता है कि उस दुःखके दूर करनेका कोई उपाय ही नहीं है। क्योंकि जिसमें सबका प्रयत्न निष्फल ही चला जाता हो वह बात तो निरुपाय ही होनी चाहिये?

समाधानः—दुःखके स्वरूपको यथार्थ न समझनेसे; तथा उस दुःखके होनेके मूल कारण क्या हैं, और वे किस तरह दूर हो सकते हैं, इसे यथार्थ न समझनेसे; तथा दुःख दूर करनेका जीवोंका प्रयत्न स्वभावसे ही अयथार्थ होनेसे, वह दुःख दूर नहीं हो सकता।

दुःख यद्यपि सभीके अनुभवमें आता है, तो भी उसके स्पष्टरूपसे ध्यानमें आनेके लिये उसका यहाँ थोड़ासा व्याख्यान करते हैं:—

प्राणी दो प्रकारके होते हैं:—

(१) एक त्रस और दूसरे स्थावर। त्रस उन्हें कहते हैं जो स्वयं भय आदिका कारण देखकर भाग जाते हों और जो चलने-फिरने आदिकी शक्ति रखते हों।

(२) स्थावर उन्हें कहते हैं कि जो, जिस जगह देह धारण की है उसी जगह रहते हैं और जिनमें भय आदिके कारण समझकर भाग जाने वगैरहकी समझ-शक्ति न हो।

अथवा एकेन्द्रियसे लगाकर पाँच इन्द्रियतक पाँच प्रकारके प्राणी होते हैं। एकेन्द्रिय प्राणी स्थावर कहे जाते हैं, और दो इन्द्रियवाले प्राणियोंसे लगाकर पाँच इन्द्रियोंतकके प्राणी त्रस कहे जाते हैं। किसी भी प्राणीको पाँच इन्द्रियोंसे अधिक इन्द्रियाँ नहीं होतीं।

एकेन्द्रियके पाँच भेद हैं:—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति।

वनस्पतिका जीवत्व तो साधारण मनुष्योंको भी कुछ अनुमानसे समझमें आता है।

पृथिवी, जल, अग्नि, और वायुमें जीवका अस्तित्व आगम-प्रमाणसे और विशेष विचारबलसे कुछ समझमें आ सकता है—यद्यपि उसका सर्वथा समझमें आना तो प्रकृष्ट ज्ञानका ही विषय है।

अग्नि और वायुकायिक जीव कुछ कुछ गतियुक्त देखनेमें आते हैं; परन्तु वह गति अपनी निजकी शक्तिकी समझपूर्वक नहीं होती, इस कारण उन्हें भी स्थावर ही कहा जाता है।

यद्यपि एकेन्द्रिय जीवोंमें वनस्पतिमें जीव सुप्रसिद्ध है, फिर भी इस ग्रंथमें अनुक्रमसे उसके प्रमाण आवेंगे। पृथिवी, जल, अग्नि और वायुमें निम्न प्रकारसे जीवकी सिद्धि की गई है:—(अपूर्ण)

(७)

जीवके लक्षणः—

जीवका मुख्य लक्षण चैतन्य है,
वह देहके प्रमाण है,

(१२)

(१)		(२)	
मोक्षमार्गका अस्तित्व.	निर्जरा.	प्रमाण.	आगम.
आप्त.	बंध.	नय.	संयम.
गुरु.	मोक्ष.	अनेकांत.	वर्तमानकाल.
धर्म.	ज्ञान.	लोक.	गुणस्थान.
धर्मकी योग्यता.	दर्शन.	अलोक.	द्रव्यानुयोग.
कर्म.	चारित्र.	अहिंसा.	करणानुयोग.
जीव.	तप.	सत्य.	चरणानुयोग.
अजीव.	द्रव्य.	असत्य.	धर्मकथानुयोग.
पुण्य.	गुण.	ब्रह्मचर्य.	मुनित्व.
पाप.	पर्याय.	अपरिग्रह.	गृहधर्म.
आश्रव.	संसार.	आज्ञा.	परिषह.
संवर.	एकेन्द्रियका अस्तित्व.	व्यवहार.	उपसर्ग.

६९५

ॐ नमः

मूल द्रव्य शाश्वत है. मूल द्रव्यः—जीव अजीव.
पर्याय अशाश्वत है. अनादि नित्य पर्यायः—मेरू आदि.

६९६

नमो जिणाणं जिदभवाणं

जिनतत्त्व-संक्षेप

आकाश अनंत है। उसमें जड़ चेतनात्मक विश्व सन्निविष्ट है।
विश्वकी मर्यादा दो अमूर्त द्रव्योंसे है, जिन्हें धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहते हैं।
जीव और परमाणु-पुद्गल ये दो द्रव्य सक्रिय हैं। सब द्रव्य द्रव्यरूपसे शाश्वत हैं।
जीव अनंत हैं। परमाणु-पुद्गल अनंतानंत हैं।
धर्मास्तिकाय एक है। अधर्मास्तिकाय एक है।
आकाशास्तिकाय एक है। काल द्रव्य है.
प्रत्येक जीव विश्व-प्रमाण क्षेत्रावगाह कर सकता है।

सर्वज्ञदेव, निर्ग्रंथ गुरु और सर्वज्ञोपदिष्ट धर्मकी प्रतीतिसे तत्त्वकी प्रतीति होती है।

सर्व ज्ञानावरण, दर्शनावरण, सर्व मोह, और सर्व वीर्य आदि अंतरायका क्षय होनेसे आत्माका सर्वज्ञवीतराग-स्वभाव प्रगट होता है। निर्ग्रंथपदके अभ्यासका उत्तरोत्तर क्रम उसका मार्ग है। उसका रहस्य सर्वज्ञोपदिष्ट धर्म है।

(१०)

सर्वज्ञ-कथित उपदेशसे आत्माका स्वरूप जानकर उसकी सम्यक् प्रकार प्रतीति करके उसका ध्यान करो।

ज्यों ज्यों ध्यानकी विशुद्धि होगी त्यों त्यों ज्ञानावरणीयका क्षय होगा।

वह ध्यान अपनी कल्पनासे सिद्ध नहीं होता।

जिन्हें ज्ञानमय आत्मा परमोत्कृष्ट भावसे प्राप्त हुई है, और जिन्होंने समस्त पर द्रव्यका त्याग कर दिया है, उस देवको नमस्कार हो! नमस्कार हो!

बारह प्रकारके निदानरहित तपसे, वैराग्यभावनासे भावित और अहंभावसे रहित ज्ञानीके ही कर्मोंकी निर्जरा होती है।

वह निर्जरा भी दो प्रकारकी समझनी चाहिये:—स्वकालप्राप्त और तपपूर्वक। पहिली निर्जरा चारों गतियोंमें होती है; और दूसरी व्रतधारीको ही होती है।

ज्यों ज्यों उपशमकी वृद्धि होती है त्यों त्यों त्यों तप करनेसे कर्मकी अधिक निर्जरा होती है।

उस निर्जराके क्रमको कहते हैं। मिथ्यादर्शनमें रहते हुए भी जिसे थोड़े समयमें उपशम-सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है, ऐसे जीवकी अपेक्षा असंयत सम्यग्दृष्टिको असंख्यात गुण निर्जरा होती है, उससे असंख्यात गुण निर्जरा देशविरतिको होती है, उससे असंख्यात गुण निर्जरा सर्वविरति ज्ञानीको होती है, उससे——————————————————————(अपूर्ण)

(११)

ॐ

हे जीव इतना अधिक क्या प्रमाद!

शुद्ध आत्म-पदकी प्राप्तिके लिये वीतराग सन्मार्गकी उपासना करनी चाहिये।

सर्वज्ञदेव
निर्ग्रंथ गुरु
दयामुख्य धर्म } ये शुद्ध आत्मदृष्टि होनेके अवलंबन हैं।

श्रीगुरुसे सर्वज्ञद्वारा अनुभूत ऐसे शुद्ध आत्मप्राप्तिके उपायको समझकर, उसके रहस्यको ध्यानमें लेकर आत्मप्राप्ति करो।

सर्वविरति-धर्म यथाजाति और यथालिंग है। देशविरति-धर्म बारह प्रकारका है।

स्वरूपदृष्टि होते हुए द्रव्यानुयोग सिद्ध होता है।

विवाद-पद्धति शांत करते हुए चरणानुयोग सिद्ध होता है।

प्रतीतियुक्त दृष्टि होते हुए करणानुयोग सिद्ध होता है।

बालबोधके हेतुको समझाते हुए धर्मकथानुयोग सिद्ध होता है।

(१२)

(१)		(२)	
मोक्षमार्गका अस्तित्व.	निर्जरा.	प्रमाण.	आगम.
आप्त.	बंध.	नय.	संयम.
गुरु.	मोक्ष.	अनेकांत.	वर्तमानकाल.
धर्म.	ज्ञान.	लोक.	गुणस्थान.
धर्मकी योग्यता.	दर्शन.	अलोक.	द्रव्यानुयोग.
कर्म.	चारित्र.	अहिंसा.	करणानुयोग.
जीव.	तप.	सत्य.	चरणानुयोग.
अजीव.	द्रव्य.	असत्य.	धर्मकथानुयोग.
पुण्य.	गुण.	ब्रह्मचर्य.	मुनित्व.
पाप.	पर्याय.	अपरिग्रह.	गृहधर्म.
आश्रव.	संसार.	आज्ञा.	परिषह.
संवर.	एकेन्द्रियका अस्तित्व.	व्यवहार.	उपसर्ग.

६९५

ॐ नमः

मूल द्रव्य शाश्वत है. मूल द्रव्यः—जीव अजीव.
पर्याय अशाश्वत है. अनादि नित्य पर्यायः—मेरु आदि.

६९६

नमो जिणाणं जिदभवाणं

जिनतत्त्व-संक्षेप

आकाश अनंत है। उसमें जड़ चेतनात्मक विश्व सन्निविष्ट है।
विश्वकी मर्यादा दो अमूर्त द्रव्योंसे है, जिन्हें धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहते हैं।
जीव और परमाणु-पुद्गल ये दो द्रव्य सक्रिय हैं। सब द्रव्य द्रव्यरूपसे शाश्वत हैं।
जीव अनंत हैं। परमाणु-पुद्गल अनंतानंत हैं।
धर्मास्तिकाय एक है। अधर्मास्तिकाय एक है।
आकाशास्तिकाय एक है। काल द्रव्य है.
प्रत्येक जीव विश्व-प्रमाण क्षेत्रावगाह कर सकता है।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये द्रव्य जड़ हैं।
जीव द्रव्य चेतन है।
धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार द्रव्य अमूर्त हैं।
वस्तुतः काल औपचारिक द्रव्य है।
धर्म, अधर्म, और आकाश एक एक द्रव्य हैं।
काल, पुद्गल और जीव अनंत द्रव्य हैं।
द्रव्य, गुण और पर्यायात्मक है।

६९८

एकांत आत्मवृत्ति.
एकांत आत्मा.
केवल एक आत्मा.
केवल एक आत्मा ही.
केवल मात्र आत्मा.
केवल मात्र आत्मा ही.
आत्मा ही.
शुद्ध आत्मा ही.
सहज आत्मा ही.
बस निर्विकल्प शब्दातीत सहजस्वरूप आत्मा ही.

६९९

मैं असंग शुद्ध चेतन हूँ। वचनातीत निर्विकल्प एकांत शुद्ध अनुभवस्वरूप हूँ।
मैं परम शुद्ध अखंड चिद्धातु हूँ।
अचिद् धातुके संयोग रसके इस आभासको तो देखो!
आश्चर्यवत् आश्चर्यरूप, घटना है।
अन्य किसी भी विकल्पका अवकाश नहीं है।
स्थिति भी ऐसी ही है।

भावका कभी नाश नहीं होता, और अभावकी उत्पत्ति नहीं होती। उत्पाद और व्यय पर्यायके स्वभावसे ही होते हैं ॥ १५ ॥

जीव आदि छह पदार्थ हैं। जीवका गुण चैतन्य-उपयोग है। देव, मनुष्य, नारक, ति आदि उसकी अनेक पर्यायें हैं ॥ १६ ॥

मनुष्य-पर्यायसे मरण पानेवाला जीव, देव अथवा अन्य किसी स्थानमें उत्पन्न होता है। दोनों जगह जीवत्व तो ध्रुव ही रहता है। उसका नाश होकर उससे अन्य कुछ उत्पन्न नहीं होता॥ १

जो जीव उत्पन्न हुआ था, उसी जीवका नाश होता है। वस्तुतः तो वह जीव न तो उत्पन्न है और न उसका नाश ही होता है। उत्पन्न और नाश तो देव और मनुष्य पर्यायका ही होता है॥ १

इस तरह सत्का विनाश और असत् जीवकी उत्पत्ति होती है। जीवको जो देव म आदि पर्याय होती हैं वे गतिनाम कर्मसे ही होती हैं ॥ १९ ॥

जीवने ज्ञानावरणीय आदि कर्मभावोंको सुदृढ़रूपसे—अतिशय गाढ़रूपसे—बाँध रक्खा उनका अभाव करनेसे अभूतपूर्व सिद्धपद मिलता है ॥ २० ॥

इस तरह गुण-पर्यायसहित जीव भाव, अभाव, भावाभाव और अभाव-भावसे संसारमें परिभ्र करता है ॥ २१ ॥

जीव, पुद्गलसमूह, आकाश तथा बाकीके अस्तिकाय किसीके भी बनाये हुए नहीं—वे स्व ही अस्तित्व-स्वभाववाले हैं, और लोकके कारणभूत हैं ॥ २२ ॥

सत्ता स्वभाववाले जीव और पुद्गलके परिवर्तनसे उत्पन्न जो काल है, उसे निश्चय कहा है ॥ २३ ॥

वह काल पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध, और आठ स्पर्शसे रहित है, अगुरुलघु गुणसे सहि है, अमूर्त है और वर्तना लक्षणसे युक्त है ॥ २४ ॥

* समय, निमेष, काष्ठा, कला, नाली, मुहूर्त्त, दिवस, रात्रि, मास, ऋतु, और संवत्सर आ काल व्यवहारकाल है ॥ २५ ॥

कालके किसी भी परिमाण (माप) के बिना बहुकाल और अल्पकालका भेद नहीं क सकता। तथा उसकी मर्यादा पुद्गल द्रव्यके बिना नहीं होती, इस कारण कालका पुद्गल द्रव्यसे उत्प होना कहा जाता है ॥ २६ ॥

जीवत्वयुक्त, ज्ञाता, उपयोगसहित, प्रभु, कर्त्ता, भोक्ता, देहके प्रमाण, निश्चयनयसे अमूर्त और कर्मावस्थामें मूर्त्त ये जीवके लक्षण हैं ॥ २७ ॥

कर्म-मलसे सर्व प्रकारसे मुक्त होनेसे, ऊर्ध्वलोकके अंतको प्राप्त होकर, वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी इन्द्रियसे पर अनंतसुखको प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

---

*मंद गतिसे चलनेवाले पुद्गल-परमाणुको जितनी देरमें अतिसूक्ष्म चाल हो, उसे समय कहते हैं। जितने समयमें नेत्रके पलक खुलें उसे निमेष कहते हैं। असंख्यात समयोंका एक निमेष होता है। पन्द्रह निमेषोंकी एक का होती है। बीस काष्ठाओंकी एक कला होती है। कुछ अधिक बीस कलाओंकी एक नाली अथवा घटिका होती है। दो घटिकाका एक मुहूर्त होता है। तीस मुहूर्तका एक दिन-रात होता है।—अनुवादक.